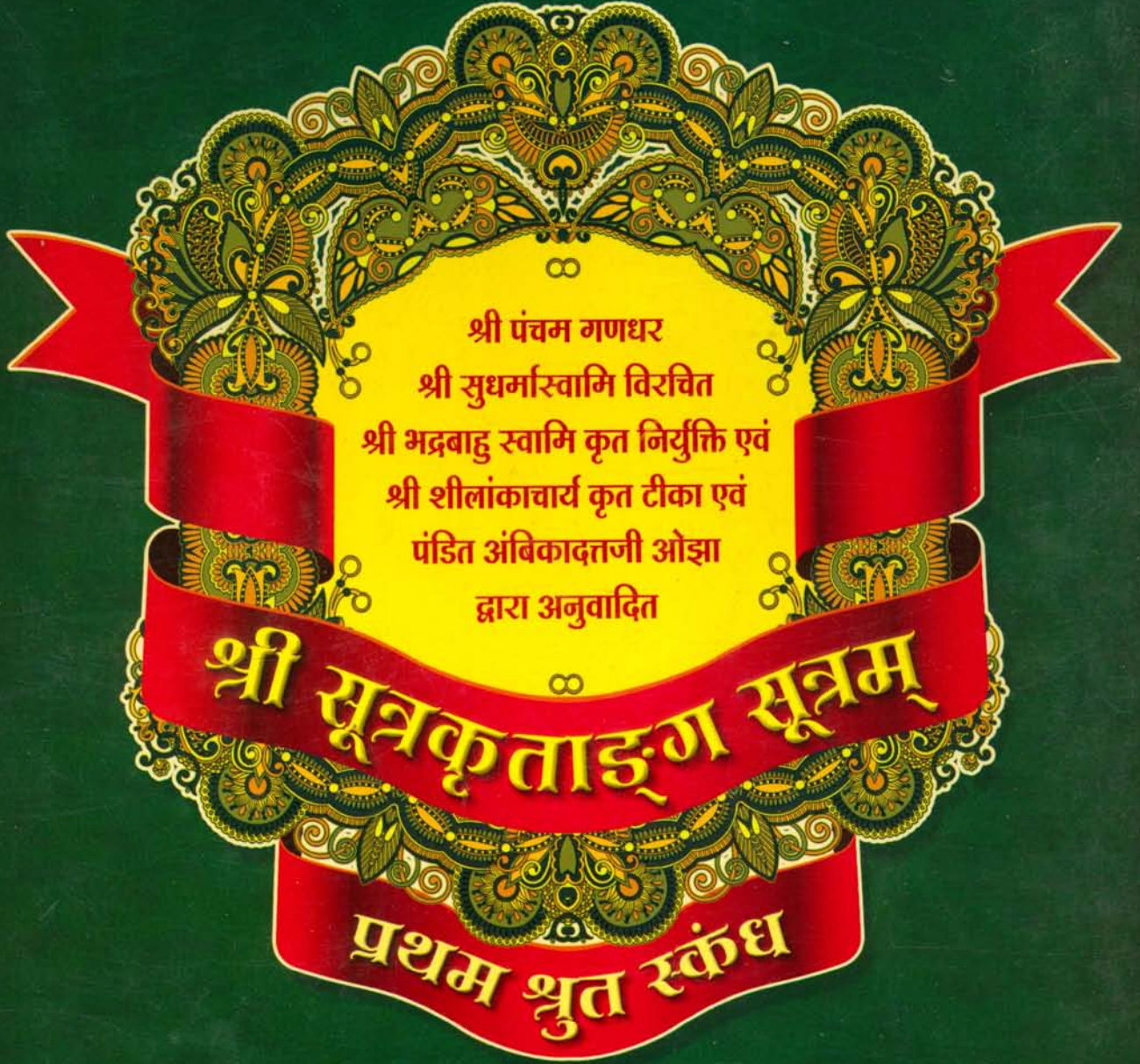




भाग : 2
अध्ययन 5 से 16

संपादक
मुनि जयानन्दविजयादि मुनिमंडल



सूतकृतम्

सूतम्
उत्पन्नमर्थरूपतया
तीर्थकृदभ्यस्ततः
कृतं
ग्रन्थरचनया गणधरैः

तीर्थकरो से
अर्थ रूप में
उत्पन्न होने से
एवं
गणधरों के द्वारा
सूत्र रूप में
उत्पन्न होने के कारण
सूतकृत
कहा जाता है।



श्री-गोडी-पार्श्वनाथाय नमः

श्री-महावीर-स्वामिने नमः

प्रभु-श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः

श्रीमच्छीलाङ्काचार्यकृतटीकासहितम् श्रीसूत्रकृताङ्गम् सूत्रम्

आ. श्री जवाहरलालजी म. के तत्त्वावधान में
पंडित अंबिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य द्वारा अनुवादित
प्रथम श्रुतस्कन्ध भाग : २ अध्ययन ५ से १६ तक
(संस्कृत छाया, अन्वयार्थ, भावार्थ और टीकार्थ सहित)

ॐ दिव्याशिष ॐ

श्री विद्याचन्द्रसूरीश्वराः • श्री रामचन्द्रविजयाः

ॐ पुनः संपादक ॐ

मुनिराज-श्री-जयानन्दविजयादि-मुनिमण्डलः

ॐ प्रकाशिका ॐ

गुरुश्रीरामचन्द्रप्रकाशनसमितिः-भीनमालः (राज.)

ॐ मुख्य संरक्षक ॐ

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्र सूरि जैन श्वे. ट्रस्ट,
कुंडुलवरी स्ट्रीट, विजयवाडा. (A.P.)

(२) मुनिराज-श्री-जयानन्द-विजयस्य निश्रायां २०६५ वर्षे चातुर्मासोपधानकारितनिमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती-गेरोदेवी-जेठमलजी-बालगोता-परिवार-मेंगलवा

(३) एकसदगृहस्थः-भीनमालः

संरक्षक

- (१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.
- (२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.
- (३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.
- (४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.
- (५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड, संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.
- (६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोंघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अड्डाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद-मुंबई.
- (७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेश बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्टी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं., तिरुचिरापली.
- (८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमलखभाई परिवार.
- (९) शा कांतिलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.
- (१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मंगलवा (जालोर)
- (११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र तुर परिवार गुडाबालोतान्, जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट, नेल्लूर-५२४ ००१. (A.P.)
- (१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२
- (१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्दूर (A.P.)
- (१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.
- (१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखीलकुमार, बेटा पोता परपोता शा छगनराजजी पेमाजी कोठारी, आहोर, अमेरिका : ४३४१, स्कैलेण्ड ड्रीव अटलान्टा जोर्जिया U.S.A.-३०३४२. फोन : ४०४-४३२-३०८६/६७८-५२१-११५०
- (१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.
- (१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री धानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी.
- (१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

- (१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्रा मार्केटींग, विजयवाडा.
- (२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.
- (२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि.-५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.
- (२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)
- (२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थ २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.
- (२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेश, दीक्षिल, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : Fybros Kundan Group, ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-९. Mengalwa, Chennai, Delhi, Mumbai.
- (२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.
- (२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२
- (२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.
- (२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेश, निलेश, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रीकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.
- (२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.
- (३०) एक सदगृहस्थ (खाचरौद)
- (३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.
- (३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट), मुंबई-६२.
- (३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली. जुगराज ओटमलजी ए ३०१/३०२, वास्तुपार्क, मलाड (वेस्ट), मुंबई-६४
- (३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्ट्स लिमिटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.
- (३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हितिक, आहोर. कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्प्लेक्स, विजयवाडा.
- (३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.
- (३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेरामलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

- (३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में संवत् २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतिलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.
- (३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.
- (४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००९.
- (४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दासपा, मुंबई.
- (४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेशकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स - २०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.
- (४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्दूर-२.
- (४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) - फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवीदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-९
- (४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.
- (४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.
- (४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं. १-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.
- (४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.
- (४९) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई-७९.
- (५०) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.
- (५१) श्री आहोर से आबू-देलवाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगलचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेगलोर-५३.
- (५२) एक सदगृहस्थ बाकरा (राज.)
- (५३) माइनोक्स मेटल प्रा. लि., (सायला), नं. ७, पी. सी. लेन, एस. पी. रोड क्रॉस, बेगलोर-२, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद.
- (५४) श्रीमती प्यारीबाई भेरमलजी जेठाजी श्रीश्रीश्रीमाल अग्नि गौत्र, गांव-सरत. बाकरा रोड में चातुर्मास एवं उपधान निमित्ते हस्ते संघवी भंवरलाल अमीचंद, अशोककुमार, दिनेशकुमार/फर्म अंबिका ग्रुप विजयवाडा (A.P.)
- (५५) स्व. पिताश्री हिराचंदजी, स्व. मातुश्री कुसुमबाई, स्व. जेठ भ्राताश्री पृथ्वीराजजी, श्री तेजराजजी आत्मश्रेयार्थ मुथा चुन्निलाल, चन्द्रकुमार, किशोरकुमार, पारसमल, प्रकाशकुमार, जितेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, विकासकुमार, कमलेश, राकेश, सन्नि, आशिष, नीलेश, अंकुश, पुनीत, अभिषेक, मोन्दु, नितिन, आतिश, निल, महावीर, जैनम, परम, तनमै, प्रनै, बेटा पोता, प्रपोता लडपोता हिराचंदजी, चमनाजी, दांतेवाडिया परिवार, मरुधर में आहोर (राज.). फर्म : हीरा नोवेल्टीस, फ्लॉवर स्ट्रीट, बल्लारी.
- (५६) मुमुक्षु दिनेशभाई हालचंद अदानी की दीक्षा के समय आई हुई राशी में से हस्ते हालचंदभाई वीरचंदभाई परिवार थराद, सुरत.
- (५७) श्रीमती सुआबाई ताराचंदजी वाणी गोता बागोड़ा. बी. ताराचंद अॅण्ड कंपनी, ए-१८, भारतनगर, ग्रान्ट रोड, मुंबई-४०० ००७.
- (५८) २०६९ में मु. जयानंद वि. की निश्रा में श्री बदामीबाई तेजराजजी आहोर, इन्द्रादेवी रमेशकुमारजी गुडा बालोतान

एवं मूलीबाई पूनमचंदजी साँथू तीनों ने पृथक्-पृथक् नव्याणु यात्रा करवायी, उस समय आयोजक एवं आराधकों की ओर से उद्यापन की राशी में से। पालीताना.

- (५९) शा जुगराज फूलचंदजी एवं सौ. कमलादेवी जुगराजजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोता के जीवित महोत्सव पद्मावती सुनाने के प्रसंग पर - कीर्तिकुमार, महेन्द्रकुमार, निरंजनकुमार, विनोदकुमार, अमीत, कल्पेश, परेश, मेहुल वेश आहोर. महावीर पेपर अण्ड जनरल स्टोर्स, २२-२-६, क्लोथ बाजार, गुन्दुर.
- (६०) शा जुगराज, छगनलाल, भंवरलाल, दरगचंद, घेवरचंद, धाणसा. मातुश्री सुखीबाई मिश्रीमलजी सालेचा. फर्म : श्री राजेन्द्रा होजीयरी सेन्टर, मामुल पेट, बेंगलोर-५३.

❀ सह संरक्षक ❀

- (१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एण्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४
- (२) शा ताराचंद भोनाजी आहोर मेहता नरेन्द्रकुमार एण्ड कं. पहला भोईवाडा लेन, मुंबई नं. २.
- (३) स्व. मातुश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.
- (४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अड्डाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थ नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज, सुन्दर फर्नीचर, ७९४, सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)
- (५) सुबोधभाई उत्तमलाल मेहता धानेरा निवासी, कलकत्ता.
- (६) पू. पिताजी ओटमलजी मातुश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपड़ा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेठ, गुन्दुर (A.P.)
- (७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातुश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं. १३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.
- (८) पू. पिताजी मनोहरमलजी के आत्मश्रेयार्थ मातुश्री पानीदेवी के उपधान आदि तपश्चर्या निमित्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार, श्रीश्रीश्रीमाल, गुडाल गोत्र नेथीजी परिवार आलासण. फर्म : M. K. Lights, ८९७, अविनाशी रोड, कोडम्बदूर-६४१ ०९८.
- (९) गांधि मुथा, स्व. पिताजी पुखराजजी मातुश्री पानीबाई के स्मरणार्थ हस्ते गोरमल, भागचन्द, नीलेश, महावीर, वीकेश, मीथुन, रीषभ, योनिक बेटा पोता पुखराजजी समनाजी गेनाजी सायला, वैभव ए टु झेड डोलार शोप वासवी महल रोड, चित्रदूर्गा.
- (१०) श्रीमती शांतिदेवी मोहनलालजी सोलंकी के द्वितीय वरसीतप के उपलक्ष में हस्ते मोहनलाल विकास, राकेश, धन्या बेटा पोता गणपतचंदजी सोलंकी जालोर, महेन्द्र ग्रुप, विजयवाडा (A.P.)
- (११) पू. पिताजी श्री मानमलजी भीमाजी छत्रिया वोरा की पुण्य स्मृति में हस्ते मातुश्री सुआदेवी. पुत्र मदनलाल, महेन्द्रकुमार, भरतकुमार. पौत्र नितिन, संयम, श्लोक, दर्शन सूरणा निवासी कोडम्बदूर.
- (१२) स्व. पू. पिताजी श्री पीरचंदजी एवं स्व. भाई श्री कांतिलालजी की स्मृति में माताजी पातीदेवी पीरचंदजी, पुत्र : हस्तीमल, महावीरकुमार, संदीप, प्रदीप, विक्रम, नीलेश, अभीषेक, अमीत, हार्दिक, मानू, तनीश, यश, पक्षाल, नीरव बेटा पोता परपोता पीरचंदजी केवलजी भंडारी-बागरा. पीरचंद महावीरकुमार-मैन बाजार, गुन्दुर.
- (१३) श्री सियाणा से बसद्वारा शत्रुंजय-शंखेश्वर छ रि पालित यात्रा संघ २०६५ हस्ते संघवी प्रतापचंद, मूलचन्द, दिनेशकुमार, हितेशकुमार, निखिल, पक्षाल, बेटा पोता पुखराजजी बाल गोता सियाणा. फर्म : जैन इन्टरनेशनल, ९५, गोवींदाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई.
- (१४) स्व. पू. पि. शांतिलाल चीमनलाल बलु मातुश्री मधुबेन शांतिलाल, अशोकभाई सुरेखाबेन आदी कुमार थराद, अशोकभाई शांतिलाल शाह. २०१, कोश मेश अपार्टमेन्ट, भाटीया स्कूल के सामने, साईबाबा नगर, बोरीवली (प.), मुंबई-४०० ०७२.



❀ द्रव्य सहायक ❀

**मु. श्री जयानंदविजयजी आदि ठाणा का
पालीताना में भीनमालधाम में
चातुर्मास एवं उपधान वि. सं. २०६९ में
श्री शांतीबाई बाबुलालजी अमीचंदजी बाफना परिवार
भीनमाल निवासी ने करवाया,
उस समय की ज्ञान खाते की आय में से।**



❀ प्रामिस्थान ❀

शा. देवीचंद छगनलालजी
सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने, माघ कॉलनी, भीनमाल-३४३ ०२९. (राज.) फोन : (०२९६९) २२० ३८७.

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी
साँथू-३४३ ०२६. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५४ २२९.

श्री विमलनाथ जैन पेढी
बाकरा गांव-३४३ ०२५. (राज.) फोन : (०२९७३) २५९ ९२२. मो.: ९४९३४ ६५०६८.

महाविदेह भीनमाल धाम
तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड, पालीताना-३६४ २७०. फोन : (०२८४८) २४३ ०९८.

श्री तीर्थेन्द्र सूरि स्मारक संघ ट्रस्ट
तीर्थेन्द्र नगर, बाकरा रोड-३४३ ०२५. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५९ ९४४.

श्री सिमंधर जिन राजेन्द्रसूरि मंदिर
शंखेश्वर मंदिर के सामने, शंखेश्वर, जिला पाटण.

विषयानुक्रमणिका



विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
विषयानुक्रमणिका.....	२-३	पञ्चमाध्ययनम्	
प्रस्तावना.....	४-१०	नरकाधिकार.....	२९३
सूत्र प्रस्तावना.....	११-३३	षष्ठमध्ययनम्	
प्रथमाध्यायनम्		श्रीवीरस्तुत्यधिकार.....	३३७
स्व-समयवक्तव्यता अधिकार.....	१	सप्तममध्ययनम्	
परसमयवक्तव्यता अधिकार.....	६	कुशीलपरिभाषाधिकार.....	३६३
चार्वाकमतताधिकार.....	७	अष्टममध्ययनम्	
आत्माद्वैतवादी अधिकार.....	१८	श्रीवीर्याधिकार.....	३९०
तज्जीवतच्छरीरवादी का अधिकार.....	२०	नवममध्ययनम्	
अकारकवाद का अधिकार.....	२४	भावधर्ममध्ययनं.....	४१६
तज्जीवतच्छरीरवादाकारकमतवादखंडनाधिकार.....	२५	दशममध्ययनम्	
आत्मषष्ठवाद का अधिकार.....	३०	श्रीसमाध्ययनम्.....	४४२
बौद्धमत का अधिकार.....	३३	एकादशमध्ययनम्	
पूर्वोक्तमतवादी अफलवादी है.....	४१	श्रीमार्गाध्ययनम्.....	४६६
नियतिवाद का अधिकार.....	४७	द्वादशमध्ययनम्	
अज्ञानवाद का अधिकार.....	५४	श्रीसमवसरणाध्ययनम्.....	४९६
क्रियावाद का अधिकार.....	७३	त्रयोदशमध्ययनम्	
आधाकर्म के उपभोगफल का अधिकार.....	७७	श्रीयाथातथ्याध्ययनम्.....	५४७
जगत्कर्तृत्व का अधिकार.....	८०	चतुर्दशमध्ययनम्	
कृतवादाधिकार.....	९१	श्रीग्रन्थाध्ययनम्.....	५७२
शैवादि का अधिकार.....	९४	पञ्चदशमध्ययनम्	
परतीर्थिक के परित्याग करने का कारण.....	९५	आदानीयाध्ययनम्.....	६००
परिग्रहारम्भ त्याग अधिकार.....	९७	षोडशमध्ययनम्	
द्वितीयाध्ययनम्		गाथाध्ययनम्.....	६२४
वेतालियशब्दस्यार्थवर्णनम्.....	११२	परीशिष्ट.....	६३५
हिताहितप्राप्तिपरिहारवर्णनाधिकार.....	११३		
मानोवर्जनीयाधिकार.....	१३३		
अनित्यताप्रतिपादकाधिकार.....	१६०		
तृतीयाध्ययनम्			
तृतीयाध्ययनस्य प्रस्तावना.....	१७९		
उपसर्गाधिकार.....	१८२		
चतुर्थाध्ययनम्			
स्त्रीपरिज्ञाध्ययनम्.....	२४४		

उद्देशकस्य पृष्ठः

प्रथमाध्ययने प्रथमोद्देशकः	०१
प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः	४७
प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः	७७
प्रथमाध्ययने चतुर्थोद्देशकः	९७
द्वितीयाध्ययने प्रथमोद्देशकः	११२
द्वितीयाध्ययने द्वितीयोद्देशकः	१३३
द्वितीयाध्ययने तृतीयोद्देशकः	१६०
तृतीयाध्ययने प्रथमोद्देशकः	१७९
तृतीयाध्ययने द्वितीयोद्देशकः	१९५
तृतीयाध्ययने तृतीयोद्देशकः	२०८
तृतीयाध्ययने चतुर्थोद्देशकः	२२५
चतुर्थाध्ययने प्रथमोद्देशकः	२४४
चतुर्थाध्ययने द्वितीयोद्देशकः	२७६
पञ्चमाध्ययने प्रथमोद्देशकः	२९३
पञ्चमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः	३२१

निर्युक्तिगाथानामनुक्रमणिका

गाथा नं. १-३२ प्रस्तावना	११-३३
	पेज नं.
गाथा नं. ३३	१०
गाथा नं. ३४-३५	२६
गाथा नं. ३६-३७	११२
गाथा नं. ३८-३९	११३
गाथा नं. ४०-४१	११४
गाथा नं. ४२	११५
गाथा नं. ४३-४४	१३३
गाथा नं. ४५-४८	१७९
गाथा नं. ४९-५०	१८०
गाथा नं. ५१-५२-५३	२३५
गाथा नं. ५४	२४४
गाथा नं. ५५	२४५
गाथा नं. ५६-५७	२४६
गाथा नं. ५८-५९	२४७
गाथा नं. ६०-६१	२४९
गाथा नं. ६२-६३-६४	२९३
गाथा नं. ६५-८२	२९५
गाथा नं. ८३-८४	३३७
गाथा नं. ८५	३३८
गाथा नं. ८६-८९	३६२
गाथा नं. ९०	३६३
गाथा नं. ९१-९५	३९०

गाथा नं. ९६	३९१
गाथा नं. ९७	३९२
गाथा नं. ९८-१०२	४१६
गाथा नं. १०३-१०६	४४२
गाथा नं. १०७-१११	४६६
गाथा नं. ११२-११५	४६७
गाथा नं. ११६-११८	४९६
गाथा नं. ११९-१२१	४९७
गाथा नं. १२२-१२६	५४७
गाथा नं. १२७-१३१	५७२
गाथा नं. १३२-१३६	६००
गाथा नं. १३७-१४१	६२५

॥ अथ पञ्चमं नरकविभक्त्यध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं चतुर्थमध्ययनं, साम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहाद्ये अध्ययने स्वसमयपरसमय-प्ररूपणाऽभिहिता, तदनन्तरं स्वसमये बोधो विधेय इत्येतद् द्वितीयेऽध्ययनेऽभिहितं, सम्बुद्धेन चानुकूलप्रतिकूल उपसर्गाः सम्यक् सोढव्या इत्येतत्तृतीयेऽध्ययने प्रतिपादितं तथा सम्बुद्धेनैव स्त्रीपरीषहश्च सम्यगेव सोढव्य इत्येतच्चतुर्थे-ऽध्ययने प्रतिपादितं, साम्प्रतमुपसर्गभीरोः स्त्रीवशगस्यावश्यं नरकपातो भवति तत्र च यादृक्षा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति, ता अनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यन्ते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि वक्तव्यानि, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारो निर्युक्तिकारेण प्रागेवाभिहितः, तद्यथा-‘उवसग्भीरुणो धीवसस्स नरएसु होज्ज उववाओ’ इत्यनेन, उद्देशार्थाधिकारस्तु निर्युक्तिकृता नाभिहितः, अध्ययनार्थाधिकारान्तर्गतत्वादिति। साम्प्रतं निक्षेपः, स च त्रिविधः, ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापक-निष्पन्नश्चेति, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु नरकविभक्तिरिति द्विपदं नाम, तत्र नरकपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-

चौथा अध्ययन कहा जा चुका अब पांचवाँ प्रारम्भ किया जाता है, इसका सम्बन्ध यह है- इस सूत्र के पहले अध्ययन में स्वसमय और पर समय की प्ररूपणा की गयी है, इसके पश्चात् स्वसमय में बोध प्राप्त करना चाहिए, यह दूसरे अध्ययन में कहा है। सम्यक् प्रकार से बोध पाये हुए पुरुष को अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को अच्छी तरह सहन करना चाहिए, यह तीसरे अध्ययन में कहा है तथा सम्यक् प्रकार से बोध पाये हुए पुरुष को स्त्री परीषह भी अच्छी तरह से सहन करना चाहिए, यह चौथे अध्ययन में कहा है। अब यह बताया जाता है कि जो पुरुष उपसर्गों से डरता है तथा स्त्रीवशीभूत है, वह अवश्य नरक में गिरता है और वहाँ (नरक में) जैसी वेदनायें होती हैं, वे इस अध्ययन के द्वारा बताई जाती हैं। इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार कहने चाहिए, उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार दो प्रकार का है, अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार। इनमें अध्ययनार्थाधिकार को निर्युक्तिकार ने पहले ही बता दिया है, जैसे कि- “जो पुरुष उपसर्गों से डरता है और स्त्रीवशी-भूत होता है, उसका अवश्य ही नरक में पात होता है।” परन्तु उद्देशार्थाधिकार को निर्युक्तिकार ने नहीं बताया है क्योंकि उद्देशार्थाधिकार अध्ययन के अर्थाधिकार के अन्तर्गत है। अब निक्षेप बताया जाता है- वह तीन प्रकार का है ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न। इनमें से ओघनिष्पन्न निक्षेप में यह सम्पूर्ण अध्ययन है और नामनिष्पन्न निक्षेप में इसका ‘नरक-विभक्ति’ यह दो पद का नाम है, अब नरक शब्द का निक्षेप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

गिरए छक्कं दव्वं गिरया उ इहेव जे भवे असुभा । खेतं गिरओगासो कालो गिरएसु चेव ठिती ॥६२॥ नि०।
भावे उ गिरयजीया कम्मदओ चेव गिरयपाओगो । सोऊणं गिरयदुक्खं तवचरणे होइ जइयव्वं ॥६३॥ नि०।

टीका - तत्र नरकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यनरक आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः ‘इहैव’ मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा ये केचनाशुभकर्मकारित्वादशुभाः सत्त्वाः कालकसौकरिकादय इति, यदिवा यानि कानिचिदशुभानि स्थानानि चारकादीनि याश्च नरकप्रतिरूपा वेदनास्ताः सर्वा द्रव्यनरका इत्यभिधीयन्ते, यदिवा कर्मद्रव्यनोर्कर्मद्रव्यभेदाद् द्रव्यनरको द्वेधा, तत्र नरकवेद्यानि यानि बद्धानि कर्माणि तानि चैकभविकस्य बद्धायुष्कस्याभिमुखनामगोत्रस्य चाश्रित्य द्रव्यनरको भवति, नोर्कर्मद्रव्यनरकस्त्विहैव येऽशुभा रूपरसगन्धवर्णशब्दस्पर्शा इति, क्षेत्रनरकस्तु ‘नरकावकाशः’, कालमहाकालरौरवमहारौरवाप्रतिष्ठानाभिधानादिनरकाणां चतुरशीतिलक्षसंख्यानां विशिष्टो भूभागः, कालनरकस्तु यत्र यावती स्थितिरिति, भावनरकस्तु ये जीवा नरकायुष्कमनुभवन्ति तथा नरकप्रायोग्यः कर्मोदय इति, एतदुक्तं भवति-

नरकान्तर्वर्तिनो जीवास्तथा नारकायुष्कोदयापादितासातावेदनीयादिकर्मोदयाश्चैतद् द्वितयमपि भावनरक इत्यभिधीयते इति, तदेवं 'श्रुत्वा' अवगम्य तीव्रमसह्यं 'नरकदुःखं क्रकचपाटनकुम्भीपाकादिकं परमाधार्मिकापादितं परस्परोदीरणाकृतं स्वाभाविकं च 'तपश्चरणे' संयमानुष्ठाने नरकपातपरिपन्थिनि स्वर्गापवर्गगमनैकहेतावात्महितमिच्छता 'प्रयतितव्यं' परित्यक्तान्यकर्तव्येन यत्नो विधेय इति ॥६२-६३॥ साम्प्रतं विभक्तिपदनिक्षेपार्थमाह -

णामंठवणादघिण खेत्ते काले तहेय भावे य । एसो उ विभक्तीण णिक्खेयो छव्विहो होइ ॥६४॥ नि०।

विभक्तेर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामविभक्तिर्यस्य कस्यचित्सचित्तादेर्द्रव्यस्य विभक्तिरिति नाम क्रियते, तद्यथा- स्वादयोऽष्टौ विभक्तयस्तिबादयश्च, स्थापनाविभक्तिस्तु यत्र ता एव प्रातिपदिकाद् धातोर्वा परेण स्थाप्यन्ते पुस्तकपत्रकादिन्यस्ता वा, द्रव्यविभक्तिर्जीवाजीवभेदाद् द्विधा, तत्रापि-जीवविभक्तिः सांसारिकेतरभेदाद् द्विधा, तत्राप्यसांसारिकजीवविभक्तिर्द्रव्यकालभेदात् द्वेधा, तत्र द्रव्यतस्तीर्थातीर्थसिद्धादिभेदात्पञ्चदशधा, कालतस्तु प्रथम समयसिद्धादिभेदादनेकधा, सांसारिकजीवविभक्तिरिन्द्रियजातिभवेदात्त्रिधा, तत्रेन्द्रियविभक्तिः-एकेन्द्रियविकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चधा, जातिविभक्तिः- पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रयभेदात् षोढा, भवविभक्तिर्नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभेदाच्चतुर्धा, अजीवद्रव्यविभक्तिस्तु रूप्यरूपिद्रव्यभेदाद् द्विधा, तत्र रूपिद्रव्यविभक्तिचतुर्धा, तद्यथा-स्कन्धाः स्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाः परमाणुपुद्गलाश्च, अरूपिद्रव्यविभक्तिर्दशधा, तद्यथा-धर्मास्तिकायो, धर्मास्तिकायस्य देशो, धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः, एवमधर्माकाशयोरपि प्रत्येकं त्रिभेदाद् द्रष्टव्या, अद्वासमयश्च दशम इति, क्षेत्रविभक्तिश्चतुर्धा, तद्यथा-स्थानं दिशं द्रव्यं स्वामित्वं चाश्रित्य, तत्र स्थानाश्रयणादूर्ध्वाधस्तिर्यग्विभागव्यवस्थितो लोको वैशाखस्थानस्थपुरुष इव कटिस्थकरयुगम इव^१ द्रष्टव्यः, तत्राप्यधोलोकविभक्ती रत्नप्रभाद्याः सप्त नरकपृथिव्यः, तत्रापि सीमन्तकादिनरकेन्द्रकावलिक-प्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिनरकस्वरूपनिरूपणं, तिर्यग्लोकविभक्तिस्तु जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्ड-कालोदसमुद्रेत्यादिद्विगुणद्विगुणवृद्ध्या द्वीपसागरस्वयम्भूरमणपर्यन्तस्वरूपनिरूपणं, उर्ध्वलोकविभक्तिः सौधर्माद्या उपर्युपरिव्यवस्थिता द्वादश देवलोकाः नव ग्रैवेयकानि पञ्च महाविमानानि, तत्रापि विमानेन्द्रकावलिकाप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रा-दिविमानस्वरूपनिरूपणमिति, दिगाश्रयणेन तु पूर्वस्या दिशि व्यवस्थितं क्षेत्रमेवमपरास्वपीति, द्रव्याश्रयणाच्छालिक्षेत्रादिकं गृह्यते, स्वाम्याश्रयणाच्च देवदत्तस्य क्षेत्रं यज्ञदत्तस्य वेति, यदिवा- क्षेत्रविभक्तिरार्यानार्यक्षेत्रभेदाद् द्विधा, तत्राप्यार्यक्षेत्रमर्धषड्विंशतिजनपदोपलक्षितं राजगृहमगधादिकं गृह्यते,

'रायगिह^२ मगह चंपा अंगा तह तामलित्ति वंगाय । कंचणपुरं कलिंगा वाणारसी^३ चेव कासी य ॥१॥

साकेय कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य । कंपिल्लं पंचाला अहिच्छता जंगला चेव ॥२॥

बारवई य सुरट्टा मिहिल विदेहा य वच्छ कोसंबी । नंदिपुरं संदिब्भा भदिलपुरमेव मलया य ॥३॥

वइराड मच्छ वरणा अच्छा तह मित्तियावइ दसण्णा । सुत्तीमई य चेदी वीयभयं सिंधुसोवीरा ॥४॥

महुरा य सूरसेणा पावा भंगी य मासपुरिवट्टा । सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं च लाढा य ॥५॥

सेयवियाविय णयरि केययअद्धं च आरियं भणियं । जत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं रामकिण्हाणं ॥६॥'

अनार्यक्षेत्रं धर्मसंज्ञारहितमनेकधा, तदुक्तम्-

“सग^४ जवण सबर बब्बर कायमुरुंडो दुगोणपक्कणया। अक्खागहूणरोमस पारसखसखासिया चेव ॥१॥

दुविलयलवोस^५ बोक्कस भिल्लंद^६ पुल्लिंद कोंच भमर रूया ।

कोंबोय^७ चीण चंचुय मालय दमिला कुलक्खा य ॥२॥

1. इति प्र० । 2. राजगृहं मगधे चम्पाङ्गे ताम्रलिसिर्वङ्गे काञ्चनपुरं कलिङ्गे वाणारसी काश्याम् ॥१॥ साकेतं कौशले गजपुरं च कुरुषु सौरिकं कुशालं च काम्पिल्यं पञ्चालायां अहिच्छत्रं जङ्गलायां चैव ॥२॥ द्वारवती सुराष्ट्रायां मिथिला विदेहेषु वत्से कौशाम्बी नन्दीपुरं साण्डिल्ये भद्रिलपुरं मलये ॥३॥ वैराटं वच्छे वरणे अच्छा मृत्तिकावती दशार्णे शुक्तिमती चेदिके वीतभयं सिन्धौ सौवीरे ॥४॥ मथुरा च शूरसेने पापायां भङ्गं मासा पुर्वा श्रावस्तिश्च कुणालायां कोटीवर्षं च लाटे च ॥५॥ बेताम्बिकापि च नगरी कैकेय्यर्द्धं चार्यं भाणितं यज्ञोत्पत्तिर्जिनानां चक्रिणां रामकृष्णानां ॥६॥

3. वाराणसी प्र० । 4. शकयवनशबरबर्बरकायमुरुंडुदुङ्गौडपक्कणिकाः आख्याकहुणरोमाः पारसखसखासिकाश्चैव ॥१॥

5. द्विबलबलौसबुक्कसाः भिलान्ध्रपुलिन्ध्रकौष्ठभ्रमररुकाः कौष्ठाश्च चीनचक्षुकमालवद्रमिलकुलाख्याश्च ॥१॥ 6. भिल्लन्ध्र प्र० । 7. कोंचा य प्र० ।

केकय^१ किराय हयमुह खरमुह गयतुरगमेढगमुहा^२ य ।

हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अणारिया बहवे ॥३॥

पावा^३ य चंडदंडा^४ अणारिया णिग्घिणिरणुकंपा^५ । धम्मोत्ति अक्खराइं जेसु ण णज्जंति सुविणेऽवि ॥४॥

कालविभक्तिस्तु अतीतानागतवर्तमानकालभेदात्त्रिधा, यदिवैकान्तसुषमादिकक्रमेणावसर्पिण्युत्सर्पिण्युपलक्षितं द्वादशारं कालचक्रं, अथवा समयावलियमुहुत्ता^६ दिवसमहोत्तपक्खमासा य । संवच्छरयुगपलिया सागर उत्सप्पि परियट्ठे ॥१॥^७ त्वेवमादिका कालविभक्तिरिति, भावविभक्तिस्तु जीवाजीवभावभेदाद्द्विधा, तत्र जीवभावविभक्तिः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकभेदात् षट्प्रकारा, तत्रौदयिको गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-सिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदक्रमेणैकविंशतिभेदभिन्नः, तथौपशमिकः सम्यक्त्वचारित्र्यभेदाद् द्विविधः, क्षायिकः सम्यक्त्वचारित्र्यज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदान्नवधा, क्षायोपशमिकस्तु ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः तथा सम्यक्त्वचारित्र्यसंयमासंयमभेदक्रमेणाष्टादशधेति, पारिणामिको जीवभव्याभव्यत्वादिरूपः, सान्निपातिकस्तु द्विकादिभेदात् षड्विंशतिभेदः, संभवी तु षड्विधोऽयमेव गतिभेदात्पञ्चदशधेति अजीवभावविभक्तिस्तु मूर्तानां वर्णगन्धरस-स्पर्शसंस्थानपरिणामः, अमूर्तानां गतिस्थित्यवगाहवर्तनादिक इति ॥६४॥ साम्प्रतं समस्तपदापेक्षया नरकविभक्तिरिति नरकाणां विभागो विभक्तिस्तामाह-

पुढवीफासं अण्णाणुक्कमं णिरयवालवहणं च । तिसु वेदंति अताणा अणुभागं चेव सेसासु ॥६५॥ नि०।

पृथिव्याः- शीतोष्णरूपायास्तीव्रवेदनोत्पादको यः स्पर्शः-सम्पर्कः पृथिवीसंस्पर्शस्तमनुभवन्ति, तमेव विशिनष्टि-अन्येन देवादिना उपक्रमितुम्-उपशमयितुं यो न शक्यते सोऽन्यानुपक्रमस्तम्, अपराचिकित्स्यमित्यर्थः, तमेवम्भूतमपरा-साध्यं पृथिवीस्पर्शं नारकाः समनुभवन्ति, उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य ^७रूपरसगन्धस्पर्शशब्दानप्येकान्तेनाशुभान्निरुपमान-नुभवन्ति, तथा नरकपालैः-पञ्चदशप्रकारैः परमाधार्मिकैः कृतं मुद्रासिकुन्तक्रकचकुम्भीपाकादिकं वधमनुभवन्त्याद्यासु 'तिसृषु' रत्नशर्करावालुकाख्यासु पृथिवीषु स्वकृतकर्मफलभुजो नारका 'अत्राणा' अशरणाः प्रभूतकालं यावदनुभवन्ति, 'शेषासु' चतसृषु पृथिवीषु पङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाख्यासु अनुभावमेव परमाधार्मिकनरकपालाभावेऽपि स्वत एव तन्कृत-वेदनायाः सकाशाद्यस्तीव्रतरोऽनुभावो विपाको वेदनासमुद्घातस्तमनुभवन्ति परस्परोदीरितदुःखाश्च भवन्तीति ॥६५॥ साम्प्रतं परमाधार्मिकानामाद्यासु तिसृषु पृथिवीषु वेदनोत्पादकान् स्वनामग्राहं दर्शयितुमाह -

अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबले वि य । रोद्धोयरुद्ध काले य, महाकालेति आवरे ॥६६॥ नि०।

असिपत्ते धणुं कुंभी, वालु वीयरणी वि य । खरस्सरे महाघोसे, एयं पण्णरसाहिया ॥६७॥ नि०।

गाथाद्वयं प्रकाटार्थम्, एवं ते चाम्बइत्यादयः परमाधार्मिका यादृक्षां वेदनामुत्पादयन्ति प्रायोऽन्वर्थसंज्ञत्वात्ता-दृशाभिधाना एव द्रष्टव्या इति, साम्प्रतं स्वाभिधानापेक्षया यो यां वेदनां परस्परोदीरणदुःखं चोत्पादयति तां दर्शयितुमाह-

धाडेंति य हाडेंति य हणंति विंधंति तह णिसुंभंति । मुंचंति अंबरतले अंबा खलु तत्थ णेरइया ॥६८॥ नि०।

ओहयहये य तहियं णिस्सन्ने कप्पणीहि कप्पंति । बिदलगच्चडुलगछिन्ने अंबरिसी तत्थ णेरइए ॥६९॥ नि०।

साडणपाडणतोदण ^८बंधणरज्जुल्लयप्पहारेहिं । सामा णेरइयाणं पयत्तयंती अपुण्णाणं ॥७०॥ नि०।

अंतगयफिप्फिसाणि य हिययं कालेज्ज फुप्फुसे वक्के । सबला णेरतियाणं कड्ढेंति तहिं अपुन्नाणं ॥७१॥ नि०।

१. कैकेयकिरातहयमुखखरमुखाः गजतुरगमेढगमुखाश्च हयकर्णा गजकर्णाः अन्ये च अनार्या बहवः ॥१॥ २. तह प्र० ।

३. पापाषण्डदण्डाः अनार्यानिर्धना निरनुकम्पाः धर्म इति अक्षराणि यैर्न ज्ञायते स्वप्नेऽपि ॥१॥ ४. रुद्धा प्र० । ५. निरणुतावी प्र० ।

६. समय आवलिका मुहुर्तः दिवसोऽहोरात्रं पक्षो मासश्च संवत्सरं युगं पत्यं सागर उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो पुद्गलपरावर्तः ॥१॥

७. गंध रस इति प्र० । ८. वोहण० टीका ।

असिसत्तिकोततोमरसूलतिसूलेसु सूडचियगासु । पोयंति रुदकम्मा उ णरगपाला तहिं रोद्धा	॥७२॥ नि०
भंजंति अंगमंगाणि ऊरुबाहुसिराणि करचरणे । कप्पेति कप्पणीहिं उवरुद्धा पाचकम्मरया	॥७३॥ नि०
मीरासु सुंठएसु य कंडूसु य पयंडएसु य पयंति । कुंभीसु य लोहिएसु य पयंति काला उ णेरति॥७४॥नि०	
कप्पंति कागिणीमंसगाणि छिंदंति सीहपुच्छाणि । ख्वावंति य णेरइए महकाला पायकम्मरए	॥७५॥ नि०
हत्थे पाए ऊरु बाहुसिरापायअंगमंगाणि । छिंदंति पगामं तू असि णेरइए निरयपाला	॥७६॥ नि०
‘कण्णोड्डणासकरचरणदसणट्टण १’कुग्गऊरुबाहुणं । छेयणभेयणसाडण असिपत्तधणूहि पाडंति	॥७७॥ नि०
कुम्भीसु य पयणेषु य लोहियसु य कंदुलोहिकुंभीसु । कुंभी य णरयपाला हणंति पाडं (यं) ति णरएसु॥७८॥नि०	
तडतडतडस्स भज्जंति भज्जणे कलंबुवालुगापट्टे । बालूगा णेरइया लोलंती अंबरतलंमि	॥७९॥ नि०
पूयरुहिरकेसट्टिवाहिणी कलकलंतजलसोया । वेयरणिणिरयपाला णेरइए ऊ पयाहंति	॥८०॥ नि०
कप्पेति करकएहिं तच्छिंति परोप्परं परसुएहिं । सिंबलितरुमारुहंती खरस्सरा तत्थ णेरइए	॥८१॥ नि०
भीए य पलायंते समंततो तत्थ ते णिरुंभंति । पसुणो जहा पसुवहे महधोसा तत्थ णेरइए	॥८२॥ नि०

तत्राम्बाभिधानाः परमाधार्मिकाः स्वभवनान्नरकावासं गत्वा क्रीडया नारकान् अत्राणान् सारमेयानिव शूलादिप्रहारै-
स्तुदन्तो ‘धाडेंति’ति प्रेरयन्ति- स्थानात् स्थानान्तरं प्रापयन्तीत्यर्थः, तथा ‘पहाडेंति’ति स्वेच्छयेतश्चेतश्चानाथं भ्रमयन्ति,
तथा अम्बरतले प्रक्षिप्य पुननिपतन्तं मुद्गरादिना घ्नन्ति, तथा शूलादिना विध्यन्ति, तथा ‘निसुंभंति’ति कृकाटिकायां
गृहीत्वा भूमौ पातयन्ति अधोमुखान्, तथोत्क्षिप्य अम्बरतले मुञ्चन्तीत्येवमादिकया विडम्बनया ‘तत्र’ नरकपृथिवीषु
नारकान् कदर्थयन्ति । किञ्चान्यत्-उप-सामीप्येन मुद्गरादिना हता उपहताः, पुनरप्युपहता एव खड्गादिना हता
उपहतहतास्तान्नारकान् ‘तस्यां’ नरकपृथिव्यां ‘निःसंज्ञकान्’ नष्टसंज्ञान् मूर्च्छितान्सतः कर्षणीभिः ‘कल्पयन्ति’ छिन्दन्तीतश्चेतश्च
पाटयन्ति, तथा ‘द्विदलचटुलकच्छिन्नानि’ति मध्यपाटितान् खण्डशच्छिन्नांश्च नारकांस्तत्र-नरकपृथिव्यामम्बर्षिनामानोऽसुराः
कुर्वन्तीति, तथा- ‘अपुण्यवतां’ तीव्रासातोदये वर्तमानानां नारकाणां श्यामाख्याः परमाधार्मिका एतच्चैतच्च प्रवर्तयन्ति,
तद्यथा- ‘शातनम्’ अङ्गोपाङ्गानां छेदनं, तथा ‘पातनं’ निष्कुटादधो वज्रभूमौ प्रक्षेपः, तथा ‘प्रतोदनं’ शूलादिना तोदनं,
‘व्यधनं’ (ग्रन्थाग्रम् ३७५०) सूच्यादिना नासिकादौ वेधस्तथा रज्ज्वादिना क्रूरकर्मकारिणं बध्नन्ति, तथा
तादृग्विधलताप्रहारैस्ताडयन्त्येवं दुःखोत्पादनं दारुणं शातनपातनवेधनबन्धनादिकं बहुविधं ‘प्रवर्तयन्ति’ व्यापारयन्तीति,
अपिच-तथा-सबलाख्या नरकपालास्तथाविधकर्मोदयसमुत्पन्नक्रीडापरिणामा अपुण्यभाजां नारकाणां यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति,
तद्यथा-अन्नगतानि यानि फिफिसानि-अन्नान्तर्वर्तीनि मांसविशेषरूपाणि तथा हृदयं पाटयन्ति तथा तद्गतं ‘कालेज्जं’ति
हृदयान्तर्वर्ति मांसखण्डं तथा ‘फुप्फुसे’ति उदरान्तर्वर्तीन्यन्नविशेषरूपाणि तथा ‘वल्कलान्’ वर्ध्नान् आकर्षयन्ति,
नानाविधैरुपायैरशरणानां तीव्रां वेदनामुत्पादयन्तीति । ५अपिच-तथा अन्वर्थाभिधाना रौद्राख्या नरकपाला रौद्रकर्मणो
नानाविधेष्वसिक्त्यादिषु प्रहरणेषु नारकान्शुभकर्मोदयवर्तिनः प्रोतयन्तीति । तथा- उपरुद्राख्याः परमाधार्मिका
नारकाणामङ्गप्रत्यङ्गानि शिरोबाहूरुकादीनि तथा करचरणांश्च ‘भञ्जन्ति मोटयन्ति पापकर्मणः कल्पनीभिः ‘कल्पयन्ति,
तन्नास्त्येव दुःखोत्पादनं यत्ते न कुर्वन्तीति । अपिच- तथा कालाख्या नरकपालासुरा ‘मीरासुः दीर्घचुल्लीषु तथा
शुण्ठकेषु तथा कन्दुकेषु प्रचण्डकेषु तीव्रतापेषु नारकान् पचन्ति, तथा ‘कुम्भीषु’ उष्ट्रिकाकृतिषु तथा ‘लोहिषु’
आयसकवल्लिषु नारकान् व्यवस्थाप्य जीवन्मत्स्यानिव पचन्ति । अपिच-महाकालाख्या नरकपालाः पापकर्मनिरता
नारकान्नानाविधैरुपायैः कदर्थयन्ति, तद्यथा- ‘काकिणीमांसकानि’ श्लक्ष्णमांसखण्डानि ‘कल्पयन्ति’ नारकान् कुर्वन्ति,
तथा ‘सीहपुच्छाणि’ति पृष्ठीवर्ध्नास्तांश्छिदन्ति, तथा ये प्राक् मांसाशिनो नारका आसन् तान् स्वमांसानि खादयन्तीति
अपिच-असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयवर्तिनो नारकानेवं कदर्थयन्ति, तद्यथा-हस्तपादोरुबाहुशिरःपार्श्वादीन्य-
ङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति ‘प्रकामम्’ अत्यर्थं खण्डयन्ति, तुशब्दोऽपरदुःखोत्पादनविशेषणार्थं इति । तथा-असिप्रधानाः

1. कंदुदु० प्र० । 2. पूओरु० प्र० । 3. कूष्माण्डवदायतं छित्त्वा यत्तिर्यक् छिद्यते वि० प्र० । 4. व्यधनं तथा । व्यथनं तथा । 5. किंच प्र० ।

पत्रधनुर्नामानो नरकपाला असिपत्रवनं बीभत्सं कृत्वा तत्र छायायिनः समागतान् नारकान् वराकान् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा 'कर्णोष्ठनासिकाकरचरणदशनस्तनस्फिगूरुबाहूनां छेदनभेदनशातनादीनि विकुर्वितवाताहतचलित-तरुपातितासिपत्रादिना कुर्वन्तीति, तदुक्तम्-

“छिन्नपादभुजस्कन्धाच्छिन्नकर्णोष्ठनासिकाः । भिन्नतालुशिरोमेण्ड्रा, भिन्नाक्षिहृदयोदराः ॥१॥”

किञ्चान्यत्- कुम्भिनामानो नरकपाला नारकात्रकेषु व्यवस्थितान् निघ्नन्ति, तथा पाचयन्ति, क्वेति दर्शयति- 'कुम्भीषु' उष्ट्रिकाकृतिषु तथा 'पचनेषु' कडिल्लकाकृतिषु तथा 'लौहीषु' आयसभाजनविशेषेषु कन्दुलोहिकुम्भीषु कन्दुकानामिव अयोमयीषु कुम्भीषु-कोष्ठिकाकृतिषु एवमादिभाजनविशेषेषु पाचयन्ति । तथा-वालुकाख्याः परमाधार्मिका नारकानत्राणांस्तप्तवालुकाभृतभाजने चणकानिव तडतडिति स्फुटतः भज्जन्ति भृज्जन्ति-पचन्ति, क्व ? इत्याह- कदम्बपुष्पाकृतिवालुका कदम्बवालुका तस्याः पृष्ठम्-उपरितलं तस्मिन् पातयित्वा अम्बरतले च लोलयन्तीति । किञ्चान्यत्- वैतरणीनामानो नरकपाला वैतरणीं नदीं विकुर्वन्ति, सा च पूयरुधिरकेशास्थिवाहिनी महाभयानका कलकलायमानजलश्रोता तस्यां च क्षारोष्णजलायामतीव बीभत्सदर्शनायां नारकान् प्रवाहयन्तीति । तथा- खरस्वरा-ख्यास्तु परमाधार्मिका नारकानेवं कदर्थयन्ति, तद्यथा- क्रकचपातैर्मध्यं मध्येन स्तम्भमिव सूत्रपातानुसारेण कल्पयन्ति-पाटयन्ति, तथा परशुभिश्च तानेव नारकान् 'परस्परम्' अन्योऽन्यं तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति, तथा 'शामलीं' वज्रमयभीषणकण्टकाकुलां खरस्वरै रारटतो नारकानारोहयन्ति पुनरारूढानाकर्षयन्तीति । अपिच-महाघोषाभिधाना भवनपत्यसुराधमविशेषाः परमाधार्मिका व्याधा इव परपीडोत्पादनेनैवातुलं हर्षमुद्वहन्तः क्रीडयानानाविधैरुपायैर्नारकान् कदर्थयन्ति, तांश्च भीतान् प्रपलायमानान् मृगानिव 'समन्ततः' सामस्येन 'तत्रैव' पीडोत्पादनस्थाने 'निरुम्हन्ति' प्रतिबन्धन्ति 'पशून्' बस्तादिकान् यथा पशुवधे समुपस्थिते नश्यतस्तद्वधकाः प्रतिबध्नन्त्येवं तत्र नरकावासे नारकानिति ॥६६-८२॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

॥ अब पांचवाँ नरक विमलव्यध्ययन प्रारम्भ किया जाता है ॥

टीकार्थ -नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से नरक शब्द के छः निक्षेप होते हैं, इनमें सरल होने के कारण नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्य नरक के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं- द्रव्य नरक आगम से और नोआगम से होने के कारण दो प्रकार का है । इनमें जो पुरुष नरक को जानता है परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता है, वह आगम से 'द्रव्यनरक' है । नो आगम से द्रव्यनरक, ज्ञ शरीर और भव्य शरीर से अतिरिक्त इसी लोक में मनुष्यभव अथवा तिर्यग् भव में अशुभ कर्म करने के कारण जो प्राणी अशुभ हैं, जैसे कालकशौकरिकादिक आदि वे द्रव्य नरक हैं । अथवा जो कोई चारक (जेलखाना) आदि बुरे स्थान है अथवा जो नरक के समान वेदनायें हैं, वे सब द्रव्य नरक कहलाते हैं । अथवा कर्मद्रव्य और नोकर्मद्रव्य भेद से द्रव्यनरक दो प्रकार का है । उनमें जो नरकवेदनीय कर्म बाँधे जा चुके हैं, वे एकभविक, बद्धायुष्क, और अभिमुखनामगोत्र के आश्रय से द्रव्यनरक है । नो कर्मद्रव्य नरक तो इसी लोक में अशुभ रूप, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द और स्पर्श हैं । क्षेत्र नरक नरकों का स्थान है, वह चौरासीलाख संख्यावाले काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान नाम वाले नरकों का विशिष्ट भूमि भाग है । काल नरक वह है, जहाँ जितनी स्थिति है । जो जीव नरक की आयु भोगते हैं, वे भाव नरक हैं । तथा नरक के योग्य कर्म के उदय को भाव नरक कहते हैं । आशय यह है कि- नरक में रहनेवाले जीव और नरक की आयु के उदय से उत्पन्न असाता वेदनीय आदि कर्म के उदयवाले जीव, ये दोनों ही 'भाव नरक' कहलाते हैं । इस प्रकार, परमअधार्मिकों द्वारा किया हुआ आरा से शरीर का दारण (चीरना) और कुम्भीपाक आदि का दुःख तथा परस्पर उदीरणा से उत्पन्न स्वाभाविक असह्य तीव्र नरक दुःख को सुनकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुष को नरक गमन से रोकनेवाला तथा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति का कारण स्वरूप संयम के अनुष्ठान में दूसरे कर्तव्यों को छोड़कर प्रयत्न करना चाहिए ॥६२-६३॥ अब विभक्ति पद का निक्षेप बताने के

लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से विभक्ति के छः निक्षेप होते हैं । इनमें जिस किसी सवित्त आदि द्रव्य का विभक्ति नाम रखते हैं, वह नाम विभक्ति है । जैसे कि- सु आदि आठ विभक्ति हैं तथा तिप् आदि भी विभक्ति हैं । जहाँ वे ही विभक्तियाँ धातु अथवा प्रातिपदिक के उत्तर स्थापन की जाती हैं, अथवा पुस्तक और पत्रों के ऊपर लिखी जाती हैं, वे स्थापना विभक्ति कही जाती हैं । जीव और अजीव भेद से द्रव्य विभक्ति (विभाग) दो प्रकार की है । इनमें भी जीव विभक्ति सांसारिक और असांसारिक भेद से दो प्रकार की है । इनमें भी असांसारिक जीव विभक्ति, द्रव्य और कालभेद से दो प्रकार की है, उसमें द्रव्यरूप से असांसारिक जीव विभक्ति, तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध आदि भेद से पन्द्रह प्रकार की है । काल से असांसारिक जीव विभक्ति, प्रथमसमयसिद्ध आदि भेद से अनेक प्रकार की है । सांसारिक जीव विभक्ति, इन्द्रिय, जाति और भव भेद से तीन प्रकार की है । उनमें इन्द्रिय विभक्ति, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेद से पाँच प्रकार की है । जाति विभक्ति पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस भेद से छ प्रकार की है, भव विभक्ति नारक, तिर्य्यञ्च, मनुष्य और अमर भेद से चार प्रकार की है । अजीव द्रव्य विभक्ति, रूपी और अरूपी द्रव्य के भेद से दो प्रकार की है । उनमें रूपी द्रव्य विभक्ति चार प्रकार की है, जैसे कि- स्कन्ध, स्कन्धदेश स्कन्धप्रदेश और परमाणुपुद्गल । अरूपी द्रव्य विभक्ति, दश प्रकार की है जैसे कि- धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश और प्रदेश इसी तरह अधर्म और आकाश के भी प्रत्येक के तीन, तीन भेद करने चाहिए तथा दशवर्ष अद्वासमय, इस प्रकार अरूपी द्रव्य की विभक्ति दश प्रकार की है । क्षेत्र विभक्ति चार प्रकार की होती है जैसे कि- स्थान, दिशा, द्रव्य और स्वामित्व । इनमें स्थान के हिसाब से ऊपर-नीचे और तिरछे विभाग में रहा हुआ यह लोक कमर पर दोनों हाथ रखे हुए नाट्यशाला में स्थित पुरुष के समान समझना चाहिए । एवं अधोलोक विभक्ति, रत्नप्रभा आदि सात नरक की भूमि समझनी चाहिए । उसमें भी सीमन्तक आदि बड़े नरकों के मध्य में रहे हुए फूलमाला की तरह गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण नरकों का स्वरूप जानना चाहिए । तिर्य्यग्लोक की विभक्ति, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधिसमुद्र, इत्यादि क्रमशः द्विगुण द्विगुण बड़े होने से द्वीप, सागर और स्वयम्भूरमण पर्यन्तों का स्वरूप जो बताया गया है वह समझना चाहिए । ऊपर-ऊपर रहनेवाले सौधर्मा आदि बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक और पाँच महाविमान ये ऊर्ध्वलोक की विभक्ति हैं । उनमें भी बड़े-बड़े विमानों के मध्य में स्थित फूलमाला की तरह गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण विमानों का स्वरूप जो शास्त्र में वर्णित है, वह जानना चाहिए । दिशा के आश्रय से पूर्वदिशा में स्थित क्षेत्र ही क्षेत्र की विभक्ति है, इसी तरह दूसरी दिशाओं में स्थित शालिक्षेत्र, क्षेत्र की विभक्ति हैं । द्रव्य के आश्रय से शालिक्षेत्र आदि का ग्रहण है । स्वामी के आश्रय से देवदत्त का क्षेत्र अथवा यज्ञदत्त का क्षेत्र इत्यादि क्षेत्र विभक्ति समझनी चाहिए । अथवा आर्य्य और अनार्य्य के भेद से क्षेत्र विभक्ति दो प्रकार की है । उनमें भी साठे पच्चीस देशों से उपलक्षित राजगृह और मगध आदि आर्य्यक्षेत्र हैं । मगध में राजगृह और अङ्ग में चम्पा, वङ्ग में ताम्रलिति, कलिङ्ग में काञ्चनपुर और काशी में वाराणसी । (१) कोशल में साकेत, कुरु में गजपुर, कुशार्त में सैरिक, पञ्चाल में काम्पिल्य, जङ्गला में अहिच्छत्र, सुराष्ट्र में द्वारवती, विदेह में मिथिला, वत्स में कौशाम्बी, साण्डिल्य में नन्दीपुर, मलय में भद्रिलपुर, वच्छ में वैराट, वरण में अच्छा, दशार्ण में भृगावती, चेदिक में शुक्तिमती, सिन्धु सौवीर में वीतभय, शूरसेन में मथुरा, [भंग देश में पावापुरी] पापा में भंगनगरी, पुरी में मासा, कुणाला में श्रावस्ति, लाटदेश में कोटीवर्ष, एवं केकय देश के अर्ध भाग में श्वेताम्बिका नगरी ये आर्य्यदेश हैं । इन्हीं देशों में जिनवरों की और चक्रवर्ती, रामकृष्ण की उत्पत्ति हुई है । धर्मज्ञान रहित अनार्य्य क्षेत्र अनेक प्रकार के हैं, जैसे कि- शक, यवन, शबर, बर्बर, काय, मुरुड, दुष्ट, गौड़ पक्कणिक, आख्याक, हुण, रोम, पारसख, सखासिका, द्विबल, चलौस, बुक्कस, भिल्ल, आन्ध्र, पुलिन्द्र क्रौञ्चभ्रमर, रुक, क्रौञ्च, चीन, चंचुक, मालव, द्रमिल, कुल, केकय, किरात, हयमुख, खरमुख, गजमुख, तुरगमुख, मेढमुख, हयकर्ण, गजकर्ण, तथा दूसरे बहुत से अनार्य्य देश हैं । उस देश के रहनेवाले लोग पापी, चण्डदण्डवाले अनार्य्य, घृणा रहित, अनुकम्पा रहित होते हैं, वे स्वप्न में भी धर्म के अक्षर को भी नहीं जानते हैं । काल विभक्ति, अतीत, अनागत और वर्तमान काल के भेद से तीन प्रकार की होती है । अथवा एकान्त सुषमादि क्रम से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी से युक्त बारह आरावाला कालचक्र काल विभक्ति है । अथवा

समय, आवलिका, मूर्हत्, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य, सागर, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी तथा पुद्गलपरावर्त इत्यादिक काल विभक्ति है। भाव विभक्ति, जीवभाव और अजीवभाव के भेद से दो प्रकार की है। इनमें जीवभाव विभक्ति, औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सन्निपातिक भेद से छः प्रकार की है। उक्त भाव विभक्तिओं में औदयिक भाव, गति, कषाय, लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान असंयत, असिद्ध, लेश्या, ये क्रमशः चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक और छः भेद से २१ प्रकार का है। तथा औपशमिक भाव, सम्यक्त्व और चारित्र्य भेद से दो प्रकार का है। क्षायिक भाव, सम्यक्त्व, चारित्र्य, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य्य भेद से नव प्रकार का है। क्षायोपशमिक भाव, ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और दान आदि लब्धियों क्रमशः चार, तीन, तीन और पाँच तथा सम्यक्त्व, चारित्र्य, और संयमासंयम भेद के क्रम से अठारह प्रकार का है। पारिणामिक भाव, जीवों का भव्यत्व और अभव्यत्व आदि रूप है। सान्निपातिक भाव, द्विक आदि भेद से छब्बीस प्रकार का है। परन्तु इनमें छः भेद ही संभव हैं। यही गतिभेद से पन्द्रह प्रकार का है। अजीव भाव की विभक्ति, मूर्तपदार्थों का वर्ण सुगन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान का परिणाम है तथा अमूर्त पदार्थ की गति स्थिति, अवगाहन और वर्तन आदिक है ॥६४॥ यहाँ समस्तपद नरक विभक्ति है, नरक के विभाग को नरक विभक्ति कहते हैं, उसका वर्णन निर्युक्तिकार करते हैं।

नरक के जीव, तीव्र वेदना को उत्पन्न करनेवाले शीत-उष्ण रूप पृथिवी के शीत और उष्ण स्पर्श का अनुभव करते हैं। उस स्पर्श की विशेषता बतलाते हैं— वह शीत और उष्णस्पर्श किसी देवता आदि से शान्त करने योग्य नहीं, किन्तु वह (चिकित्सा करने योग्य भी नहीं है) दूसरे से अचिकित्स्य है। इस प्रकार दूसरे से मिटाने के अयोग्य पृथिवी के स्पर्श को नरक के जीव अनुभव करते हैं, यह स्पर्श का अनुभव तो उपलक्षण है, इसलिए नारकी जीव एकान्त रूप से बुरे तथा जिसकी उपमा योग्य कोई पदार्थ नहीं ऐसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दों का अनुभव करते हैं। तथा नरकपाल जो पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक हैं। उनके द्वारा किये हुए मुद्गर, तलवार और कुन्त आदि का प्रहार तथा आरा के द्वारा चीरा जाना और कुम्भीपाक आदि के द्वारा वध का अनुभव करते हैं। पहले की रत्न, शर्करा और वालुका नामक तीन भूमियों में अपने किये हुए कर्मों का फल भोगनेवाले नरक के जीव रक्षक रहित होकर चिरकालतक यमपालों के द्वारा दुःख भोगते हैं। शेष पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा नामक चार भूमियों में परमाधार्मिक नरकपालों के बिना भी जीव अपने आप अपने किये हुए कर्म के फल स्वरूप तीव्र वेदना को भोगते हैं तथा परस्पर एक दूसरे पर ईर्ष्या करके दुःख देते हैं ॥६५॥ अब निर्युक्तिकार प्रथम तीन नरकों में जो परमाधार्मिक दुःख देते हैं, उनका नाम बताने के लिए कहते हैं।

दो गाथाओं का स्पष्ट अर्थ है। वे अम्ब इत्यादिक परमाधार्मिक, जैसी वेदना उत्पन्न करते हैं प्रायः अन्वर्थ संज्ञा (अर्थ के अनुसार नाम) होने के कारण उनका वैसा ही नाम जानना चाहिए। जो जैसी वेदना तथा परस्पर दुःख उत्पन्न करता है, उसे दिखाने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

उन नरकपालों में अम्ब नामवाले परमाधार्मिक अपने भवन से नरकावास में जाकर क्रीड़ापूर्वक शरण रहित नारक जीवों को कुत्ते की तरह शूल आदि के प्रहार से पीड़ित करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान में फेंक देते हैं, तथा अनाथ उन नारकीजीवों को इधर-उधर घूमाते हैं, तथा आकाश में फेंककर फिर गिरते हुए उस नारकी को मुद्गर आदि के द्वारा हनन करते हैं एवं शूल से वेध करते हैं तथा गला पकड़कर पृथिवी पर पटक देते हैं; और नीचे मुखवाले उनको ऊपर ऊठाकर आकाश तल में छोड़ देते हैं, इस प्रकार के दुःखों से नरकभूमि में नारकी जीवों को वे कष्ट देते हैं। पहले मुद्गर वगैरह से मारे हुए फिर तलवार आदि से हनन किये हुए ऐसे मूर्च्छित नारकी जीवों को नरक भूमि में वे परमाधार्मिक कर्षणी (छेदनेवाला अस्त्र विशेष) के द्वारा छेदन करते हैं तथा इधर-उधर चीरते हैं। इस प्रकार चीरते हुए वे नरकपाल नारकी जीवों को मूँग की दाल के समान कर देते हैं तथा बीच में चीरे हुए नारकी जीवों को फिर खण्ड-खण्ड करते हैं, यह दुःख अम्बर्षिनामक असुरकुमार नरक भूमि में देते हैं।

उन पुण्यहीन, तीव्र असाता वेदनीय के उदय में वर्तमान नारकी जीवों को श्याम नामवाले परमाधार्मिक, यह दुःख देते हैं, जैसे कि— अङ्ग और उपाङ्गों का छेदन तथा पर्वत पर से नीचे वज्रभूमि में पटकना, एवं शूल

आदि से वेध करना, तथा सूई आदि से नासिका छेदना, एवं रस्सी आदि से क्रूर कर्म करनेवाले जीवों को बाँधते हैं। तथा उस तरह लता के प्रहार से ताड़न करते हैं। इस प्रकार शातन, पातन, वेधन और बन्धन आदि बहुत प्रकार के दुःख पापियों को नरकपाल देते हैं।

तथा सबल नामवाले, नरकपाल, उस प्रकार के कर्म के उदय होने से नारकी जीवों को कष्ट देने में बहुत आनन्द मानते हैं, वे पापी नारकी जीवों को जो कष्ट देते हैं, सो दिखलाते हैं सबल नामवाले नरकपाल नारकी जीवों की अँतड़ी को काटकर उसमें रहनेवाला मांस विशेष रूप फेफसे को तथा हृदय को एवं हृदय में रहनेवाले कलेजे को चीरते हैं, तथा पेट में रहनेवाली अँतड़ी को एवं चमड़े को खींचते हैं। वे अनेक उपायों से शरणरहित नरक के जीवों को तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं।

एवं नाम के अनुसार पीड़ा देनेवाले, रौद्र (भयानक) कर्म करनेवाले रौद्र नामक नरकपाल, तलवार और शक्ति आदि के नाना प्रकार के शस्त्रों में अशुभ कर्म के उदय में वर्तमान नारकी जीवों को गूँथते हैं। तथा उपरुद्र नामवाले परमाधार्मिक, नारकी जीवों के शिर, भुजा, उरू, हाथ और चरण आदि अङ्ग प्रत्यङ्गों को तोड़ते हैं तथा कल्पनी यानी आरी से चीरते हैं, वस्तुतः ऐसा कोई भी दुःख नहीं है, जो वे पापी उत्पन्न नहीं करते हैं। तथा काल नामवाले नरकपाल दीर्घ चुल्ली, शुण्ठक, कन्दुक और प्रचण्डक नामवाले तीव्र तापयुक्त स्थानों में नारकी जीवों को पकाते हैं। तथा ऊंट की आकारवाली कुम्भी में एवं लोह की कड़ाही में नारकी जीवों को डालकर जीवित मच्छली की तरह पकाते हैं। एवं पापकर्म करने में रत महाकाल नामवाले नरकपाल, नाना प्रकार के उपायों से नारकी जीवों को पीड़ा देते हैं— जैसे कि - वे नारकी जीवों को काटकर कौड़ी के बराबर मांस का टुकड़ा स्वरूप बनाते हैं तथा पीठ की चमड़ी को काटते हैं तथा जो नारकी पहले मांसाहारी थे उनको उनका ही मांस खिलाते हैं। तथा असि नामवाले नरकपाल, अशुभ कर्म के उदय में वर्तमान नारकी जीवों को इस प्रकार पीड़ा देते हैं, जैसे कि— हाथ, पैर, उरू, बाहु, शिर और पार्श्व आदि अङ्ग प्रत्यङ्गों को अत्यन्त खण्ड-खण्ड करते हैं। यहाँ 'तु' शब्द दूसरे को विशेष रूप से दुःख उत्पन्न करने की बात बताता है। एवं जिनका प्रधान शस्त्र तलवार है, ऐसे पत्रधनुष् नामवाले नरकपाल असिपत्र वन को बीभत्स बनाकर वहाँ छाया के लिए आये हुए बिचारे नारकी जीवों को तलवार आदि के द्वारा काटते हैं। तथा कान, ओष्ठ, नाक, हाथ, पैर, दाँत, छाती, चूतड़, जङ्घा और भुजा का छेदन, भेदन और शातन आदि स्वयं पवन चलाकर तलवार के समान पत्तों के द्वारा करते हैं। कहा है कि— (छिन्न) अर्थात् पैर, भुजा, कन्धा, कान, नाक और ओष्ठ छेद डालते हैं तथा तालु, माथा, पुरुष का चिन्ह, आँख, हृदय और पेट फाड़ देते हैं तथा कुम्भी नामवाले नरकपाल, नरक में रहनेवाले नारकी जीवों को मारते हैं और पकाते हैं, कहाँ ? सो दिखलाते हैं - ऊंट के समान आकारवाली कुम्भी में तथा कड़ाही के समान आकारवाले लोह के पात्र विशेष में एवं गेंद के समान आकारवाली लोह की कुम्भी में तथा कोठी के समान आकारवाली कुम्भी में तथा इस तरह के दूसरे पात्रों में परमाधार्मिक नारकी जीवों को पकाते हैं तथा बालुका नामवाले परमाधार्मिक, रक्षक रहित नारकी जीवों को गर्म बालुका से पूर्ण पात्र में चने की तरह तड़तड़ शब्द सहित भूँजते हैं। वे किस पात्र में भूँजते हैं? सो बताते हैं— कदम्ब के फूल के समान तप्त होने से लाल जो बालुका है उसे 'कदम्बबालुका' कहते हैं, उस बालुका के ऊपर नारकी जीवों को रखकर आकाशतल में वे इधर-उधर फिराकर भूँजते हैं। तथा वैतरणी नामवाले नरकपाल वैतरणी नदी को विकृत कर देते हैं, उस वैतरणी नदी में पीव, रक्त, केश और हड्डियाँ बहती रहती हैं तथा वह बड़ी भयानक है, उसमें कलकल करती हुई जलधारा बहती है तथा उसका जल खारा और गर्म होता है और उसे देखने से घृणा उत्पन्न होती है, उस नदी में नारकी जीवों को परमाधार्मिक बहा देते हैं। तथा खरस्वर नामवाले परमाधार्मिक नारकी जीवों को इस प्रकार पीड़ा देते हैं। नारकी जीवों के शरीर को खम्भे की तरह सूते से मापकर मध्य भाग में आरा के द्वारा चीरते हैं, तथा उन्हीं नारकी जीवों को परस्पर कुठार के द्वारा कटवाते हैं, इस प्रकार उनके शरीर के अवयवों को छिलकर पतला करते हैं। एवं वज्र के बने हुए भीषण काँटावाले सेमर के वृक्ष पर चिल्लाते हुए नारकी जीवों को वे चढ़ाते हैं और चढ़े हुए

नारकी जीवों को खींच लेते हैं। तथा महाघोष नामवाले भवनपति अधम असुर विशेष परमाधार्मिक, दूसरे को पीड़ा उत्पन्न करके व्याध की तरह परम आनन्द को प्राप्त होते हैं, वे अपनी क्रीड़ा के लिए नाना प्रकार के उपायों से नारकी जीवों को पीड़ा देते हैं। वे नारकी जीव डरकर जब मृग की तरह इधर-उधर भागने लगते हैं तब वे उन्हें चारो तर्फ से घेरकर उसी पीड़ा के स्थान में रोक लेते हैं। जैसे पशुवध के समय इधर-उधर भागते हुए पशुओं को पशुवध करनेवाले रोक लेते हैं, इसी तरह वे परमाधार्मिक नारकी जीवों को नरक में रोक लेते हैं ॥६६-८२॥ नामनिक्षेप समाप्त हुआ। अब सूत्रानुगम में अस्त्रलित आदि गुण के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है -



पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं, कहां भितावा णरगा पुरत्था ? ।

अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं, कहां नु बाला नरयं उविति ?

॥१॥

छाया - पृष्टवान्हं केवलिनं महर्षिं, कथमभितापाः नरकाः पुरस्तात् ।

अजानतो मे मुने । बूहि जानन्, कथं नु बालाः नरकमुपयान्ति ॥

अन्वयार्थ - (अहं) मैंने (पुरत्था) पहले (केवलियं) केवलज्ञानी (महेसिं) महर्षि महावीर स्वामी से (पुच्छिस्स) पूछा था कि (णरगा कहां भितावा) नरक में कैसी पीड़ा होती है ? (मुणि जाणं) हे मुने ! आप इसे जानते हैं अतः (अजाणओ मे बूहि) न जाननेवाले मुझको कहिए (बाला) मूर्ख जीव (कहां नु) किस तरह (नरयं) नरक को (उविति) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी आदि से कहते हैं कि- मैंने केवलज्ञानी महर्षि महावीर स्वामी से पूर्व समय में यह पूछा था कि- नरक में कैसी पीड़ा भोगनी पड़ती है, हे भगवन् ! मैं इस बात को नहीं जानता हूँ किन्तु आप जानते हैं इसलिए आप मुझको यह बतलाइए तथा यह भी कहिए कि अज्ञानी जीव किस प्रकार नरक को प्राप्त होते हैं ।

टीका - जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्टः, तद्यथा- भगवन् ! किंभूता नरकाः ? कैर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूत्पादः? कीदृश्यो वा तत्रत्या वेदना ? इत्येवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह- यदेतद्भवताऽहं पृष्टस्तदेतद् 'केवलिनम्' अतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनं 'महर्षिम्' उग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुं श्रीमन्महावीर-वर्धमानस्वामिनं पुरस्तात्पूर्वं पृष्टवानहमस्मि, यथा 'कथं' किंभूता अभितापान्विता 'नरका' नरकावासा भवन्तीत्येतदजानतो 'मे' मम हे मुने ! 'जानन्' सर्वमेव केवलज्ञानेनावगच्छन् 'बूहि' कथय, 'कथं नु' केन प्रकारेण किमनुष्ठायिनो नुरिति वितर्के 'बाला' अज्ञा हिताहितप्राप्तिपरिहारविवेकरहितास्तेषु नरकेषूप-सामीप्येन तद्योग्यकर्मोपादानतया 'यान्ति' गच्छन्ति किंभूताश्च तत्र गतानां वेदनाः प्रादुष्यन्तीत्येतच्चाहं 'पृष्टवानि'ति ॥१॥ तथा -

टीकार्थ - जम्बूस्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा कि- हे भगवन् ! नरकभूमि कैसी है और किन कर्मों के अनुष्ठान से जीवों की उनमें उत्पत्ति होती है तथा नरक में कैसी पीड़ा भोगनी पड़ती है ? । इस प्रकार पूछे हुए श्री सुधर्मा स्वामी कहने लगे कि आपने जो पूछा है सो मैंने भी केवलज्ञानी अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थों को जाननेवाले, उग्र तपस्वी, अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करनेवाले, महर्षि श्री महावीर वर्धमान स्वामी से पहले पूछा था । मैंने पूछा था कि- "नरकभूमि कैसे दुःखों से युक्त होती है ।" मैं इस बात को नहीं जानता हूँ परन्तु हे मुनीश्वर ! आप केवलज्ञान से इस बात को जानते हैं, इसलिए मुझको बतलाइए तथा यह भी बताइए कि हित की प्राप्ति और अहित के त्याग के ज्ञान से रहित मूर्ख जीव कैसे कर्म करके नरक में जाते हैं तथा नरक में गये हुए प्राणियों को कैसी वेदनायें भोगनी पड़ती हैं । यह मैंने पूछा था ॥१॥



एवं मए पुट्ठे महाणुभावे, इणमोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने ।

पवेदइस्सं दुहमड्डुगं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था

॥२॥

छाया - एवं मया पृष्टो महाब्रवीत् काश्यप आशुप्रज्ञः ।

प्रवेदयिष्यामि दुःखमर्थदुर्गमादीनिकं दुष्कृतिकं पुरस्तात् ॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (मए) मेरे द्वारा (पृष्टे) पूछे हुए (महाणुभावे) बड़े माहात्म्यवाले (कासवे) काश्यपगोत्र में उत्पन्न (आसुप्रज्ञे) सब वस्तु में सदा उपयोग रखनेवाले भगवान् महावीर स्वामी ने (इणमोऽब्रवी) यह कहा कि (दुहमद्वदुग्ं) नरक दुःखदायी है तथा असर्वज्ञ पुरुषों से अज्ञेय है (आदीणियं) वह अत्यन्त दीन जीवों का निवास स्थान है (दुक्कडियं) उसमें पापी जीव निवास करते हैं (पुरत्या) यह आगे चलकर (पवेदइस्सं) हम बतायेंगे ।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी आदि से कहते हैं कि- इस प्रकार मेरे द्वारा पूछे हुए अतिशय माहात्म्य-सम्पन्न, सब वस्तुओं में सदा उपयोग रखनेवाले, काश्यपगोत्र में उत्पन्न भगवान् महावीर स्वामी ने कहा कि- नरक स्थान बड़ा ही दुःखदायी और असर्वज्ञ जीवों से अज्ञेय है, वह पापी और दीन जीवों का निवास स्थान है, यह मैं आगे चलकर बताऊँगा ।

टीका - 'एवम्' अनन्तरोक्तं, मया विनेयेनोपगम्य पृष्टो महंश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो-माहात्म्यं यस्य स तथा, प्रश्नोत्तरकालं च 'इदं' वक्ष्यमाणं, मो इति वाक्यालङ्कारे, केवलालोकेन परिज्ञाय मत्प्रश्ननिर्वचनम् 'अब्रवीत्' उक्तवान्, कोऽसौ ?- 'काश्यपो' वीरो वर्धमानस्वामी आशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात्, स चैवं मया पृष्टो भगवानिदमाह- यथा यदेतद्भवता पृष्टस्तदहं 'प्रवेदयिष्यामि' कथयिष्याम्यग्रतो दत्तावधानः शृण्विति, तदेवाह- 'दुःखम्' इति नरकं दुःखहेतुत्वात् असदनुष्ठानं यदिवा-नरकावास एव दुःखयतीति दुःखं अथवा-असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडात्मकं दुःखमिति, एतच्चार्थतः-परमार्थतो विचार्यमाणं 'दुर्गं' गहनं विषमं दुर्विज्ञेयं असर्वज्ञेन, 'तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावादित्य-भिप्रायः, यदिवा- 'दुहमद्वदुग्ं'ति दुःखमेवार्थो यस्मिन् दुःखनिमित्तो वा दुःखप्रयोजनो वा स दुःखार्थो-नरकः, स च दुर्गो-विषमो दुरुत्तरत्वात् तं प्रतिपादयिष्ये, पुनरपि तमेव विशिनष्टि-आ-समन्तादीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकः-अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रयस्तथा दुष्टं कृतं दुष्कृतम् असदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन्स दुष्कृतिकस्तं, 'पुरस्ताद्' अग्रतः प्रतिपादयिष्ये, पाठान्तरं व 'दुक्कडिणं'ति दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो-नारकास्तेषां सम्बन्धि चरितं 'पुरस्तात्' पूर्वस्मिन् जन्मनि नरकगतिगमनयोग्यं यत्कृतं तत्प्रतिपादयिष्य इति ॥२॥

टीकाार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि- मुझ शिष्य के द्वारा समीप में जाकर पूछे हुए चौतीस अतिशय स्वरूप माहात्म्यवाले भगवान् ने यह कहा- प्रश्न करने के पश्चात् भगवान् ने आगे कहे अनुसार उत्तर दिया । 'मो' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । भगवान् ने केवल-ज्ञान के द्वारा सब बातों को जानकर मेरे प्रश्न का उत्तर दिया था । भगवान् कौन हैं ? वह काश्यपगोत्रोत्पन्न वीर वर्धमान स्वामी हैं । वह आशुप्रज्ञ हैं क्योंकि वह सब वस्तुओं में सदा उपयोग रखते हैं । मेरे द्वारा पूछे हुए उन भगवान् ने यह कहा कि- तुमने जो पूछा है सो मैं आगे चलकर बताऊँगा तुम सावधान होकर सुनो । वही कहते हैं- नरकभूमि दुःख का कारण और बुरे कर्मों का फल होने के कारण दुःखरूप है अथवा नरकभूमि, जीवों को दुःख देती है, इसलिए वह दुःखरूप है अथवा असातावेदनीय कर्म के उदय होने से नरकभूमि तीव्रपीडास्वरूप है, इसलिए वह दुःखरूप है, वस्तुतः विचार करने पर यह नरकभूमि, असर्वज्ञजीव के द्वारा दुर्विज्ञेय है क्योंकि नरक को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है, यह आशय है । अथवा नरकभूमि, केवल दुःख देने के लिए है, इसलिए वह दुःखार्थ है और उस भूमि को पार करना कठिन है, इसलिए वह दुर्ग है, उस नरकभूमि को मैं बताऊँगा । फिर भी शास्त्रकार नरकभूमि की विशेषता बतलाते हैं- जिसमें चारों ओर दीन जीव निवास करते हैं, ऐसी नरकभूमि है अर्थात् वह दीन प्राणियों का निवास स्थान है तथा उसमें बुरे कर्म, पाप अथवा पाप का फल असातावेदनीय विद्यमान रहता है, इसलिए नरकभूमि को दुष्कृतिक कहते हैं, यह मैं आगे चलकर बताऊँगा । यहाँ "दुक्कडिणं" यह पाठान्तर भी पाया जाता है, इसका अर्थ यह है कि नरक में निवास करनेवाले पापी जीवों ने नरक में भोग ने योग्य जो पूर्व जन्म में कर्म किये हैं, वे भी मैं बताऊँगा ।

- यथाप्रतिज्ञातमाह -

- जैसी प्रतिज्ञा की वैसा कहते हैं-

जे केइ बाला इह जीवियट्टी, पावाई कम्माई करंति रुद्धा ।

ते घोररूपे तमिसंधयारे, तिब्बाभितावे नरए पडंति

॥३॥

छाया - ये केइपि बाला इह जीवितार्थिनः पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रौद्राः ।

ते घोररूपे तमिस्राब्धकारे, तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (रुद्धा) प्राणियों को भय उत्पन्न करनेवाले (जे केइ बाला) जो अज्ञानी जीव (जीवियट्टी) अपने जीवन के लिए (पावाई कम्माई करंति) हिंसादि पाप कर्म करते हैं (ते) वे (घोररूपे) घोररूपवाले (तमिसंधयारे) महान् अन्धकार से युक्त (तिब्बाभितावे) तथा तीव्र तापवाले (नरए) नरक में (पडंति) गिरते हैं ।

भावार्थ - प्राणियों को भय देनेवाले जो अज्ञानी जीव अपने जीवन की रक्षा के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा आदि पाप कर्म करते हैं, वे तीव्र ताप तथा घोर अन्धकार युक्त महा दुःखद नरक में गिरते हैं ।

टीका - ये केचन महारम्भपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधपिशितभक्षणादिके सावधानुष्ठाने प्रवृत्ताः 'बाला' अज्ञा रागद्वेषो-त्कटास्तिर्यग्मनुष्या 'इह' अस्मिन्संसारे असंयमजीवितार्थिनः पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' अनुष्ठानानि 'रौद्राः' प्राणिनां भयोत्पादकत्वेन भयानकाः हिंसानृतादीनि कर्माणि कुर्वन्ति, त एवम्भूतास्तीव्रपापोदयवर्तिनो 'घोररूपे' अत्यन्तभयानके 'तमिसंधयारे'ति बहलतमोऽन्धकारे यत्रात्मापि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनापि मन्दमन्दमुलूका इवाहि पश्यन्ति, तथा चागमः- "किण्हेलेसे णं भंते ! णेरइए किण्हेलेस्सं णेरइअं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणई ? केवइयं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! णो बहुययरं खेत्तं जाणइ णो बहुययरं खेत्तं पासइ, इत्तरियमेव खेत्तं जाणइ इत्तरियमेव खेत्तं पासइ" इत्यादि तथा तीव्रो-दुःसहः खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः-सन्तापो यस्मिन् स तीव्राभितापः तस्मिन् एवम्भूते नरके बहुवेदने अपरित्यक्तविषयाभिष्वङ्गाः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति, तथा चोक्तम्-

"²अच्छहियविसयसुहो पडइ अविज्झायसिहिसिहाणिवहे । संसारोदहिवलयामुहंमि ³दुक्खागरे निरए ॥१॥

⁴पायकंतोरत्थलमुहकुहुरुच्छलितरुहिरगंडूसे । ⁵करवत्तुक्कतदुहाविरिक्कविविईण्णदेहद्धे ॥२॥

⁶जंतंतरमिज्जंतुच्छलंतसंसद्धभरियदिसिविवरे । उज्जंतुप्फिडियसमुच्छलंतसीसद्धिसंघाए ॥३॥

⁷मुक्कंडकडाहुक्कंडतदुक्कयकयंतकम्मंते । शूलविमिञ्जुक्खित्तुद्धदेहणिट्टंतपळ्ळारे ॥४॥

⁸सद्धंधयारदुग्गंधबंधणायारदुद्धरकिलेसे । मिन्नकरचरणसंकररुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥५॥

⁹गिद्धमुहणिद्धउक्खित्तबंधणोमुद्धकंतिरकबंधे¹² । दढगहियतत्तसंडासयग्गविसमुक्खुडियजीहे ॥६॥

¹³तिक्खंकुसग्गकड्डियकंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे । निमिसंतरेपि दुल्लहसोक्खेऽवक्खेवदुक्खंमि ॥७॥

¹⁴इय भीसणंमि गिरए पडंति जे विविहसत्तवहनिरया । सच्चळ्ळया य नरा जयंमि कयपावसंघाया ॥८॥"

इत्यादि ॥३॥ किञ्चान्यत् -

1. कृष्णलेश्यो भदन्त ! नैरयिकः कृष्णलेश्यं नैरयिकं प्रणिधायावधिना सर्वतः समन्तात् समभिलोकयन् कियत्सेत्रं जानाति कियत्सेत्रं पश्यति ?, गौतम! नो बहुतरं क्षेत्रं जानाति नो बहुतरं क्षेत्रं पश्यति इत्वरमेव क्षेत्रं जानाति इत्वरमेव क्षेत्रं पश्यति । 2. अत्यक्तविषयसुखः पतति अविध्यातशिखि-शिखानिवहे संसारोदधिवलयामुखे दुःखाकरे निरये ॥१॥ 3. महे प्र० । 4. पादाक्रान्तोरस्थलमुखकुहरोच्छलितरुधिरगण्डूषे करपत्रोत्कृत्तद्विधीभाग-विदीर्णदेहार्ये ॥२॥ 5. न्यु० प्र० । 6. यन्त्रान्तर्भिद्यदुच्छलत्संशब्दभूतदिविवरे दहमानोत्स्फिटितोच्छीर्षस्थिसंघाते ॥३॥ 7. मुक्ताक्रन्दकटाहोत्कट्य-मानदुष्कृतकृतान्तकर्मन्ते शूलविमिञ्जोत्सोर्ध्वदेहनिष्ठप्राग्भारे ॥४॥ 8. शब्दान्धकारदुर्गन्धबन्धनागारदुर्धरक्लेशे । मिन्नकरचरणसंकररुधिरवसादु-र्गमप्रवाहे ॥५॥ 9. गुप्त्रमुखनिर्दयोत्सिप्तबन्धनोन्मूर्धक्रन्दत्कबन्धे । दृढगृहीततप्तसंदशकाग्रविषमोत्पादितजिह्वे ॥६॥ 10. ०बंधणे प्र० । 11. ०कंदिर० प्र० । 12. अधोमुखक्रन्दन् कबन्धो यत्र वि० प्र० । 13. तीक्ष्णाङ्कुशाग्रकर्षितकण्टकवृक्षाग्रजर्जरशरीरे । निमेषान्तरमपि दुर्लभसौख्येऽव्याक्षेपदुःखे ॥७॥ 14. इति भीषणे निरये ये विविधसत्त्ववधनिरताः । सत्यप्रष्टाश्च नरा जगति कृतपापसंघाताः ॥८॥

टीकार्थ - राग और द्वेष से भरे हुए जो मनुष्य और तिर्य्यञ्च, महारम्भी और महापरिग्रही हैं तथा पञ्चेन्द्रियों के घात और मांसभक्षण आदि सावद्य अनुष्ठान में प्रवृत्त हैं एवं असंयम जीवन की इच्छा से इस संसार में पाप को उत्पन्न करनेवाले कार्यों को करते हैं तथा प्राणियों को भय उत्पन्न करने के कारण जो भयानक होकर जीव हिंसा और मिथ्याभाषण आदि कर्म करते हैं, वे ऐसे प्राणी तीव्रपाप के उदय में वर्तमान होकर अत्यन्त भयानक एवं जहाँ अपने नेत्र से अपना शरीर भी नहीं देखा जा सकता है तथा अवधि ज्ञान के द्वारा भी दिन में उलूक पक्षी की तरह जहाँ थोड़ा थोड़ा देखा जाता है ऐसे भयंकर अन्धकार युक्त नरक में गिरते हैं। इस विषय में आगम का कहना भी यह है-

(किण्हेलेसेणं भंते) अर्थात् हे भदन्त ! कृष्णलेश्यावाला नारकी जीव कृष्णलेश्यावाले नारकी जीव को अवधिज्ञान के द्वारा चारों तर्फ देखता हुआ कितने क्षेत्रतक जानता है तथा कितने क्षेत्र तक देखता है ? (उ) हे गौतम ! बहुत क्षेत्र तक नहीं जानता तथा बहुत क्षेत्रतक नहीं देखता किन्तु थोड़े क्षेत्र तक जानता है और थोड़े ही क्षेत्र तक देखता है इत्यादि ।

तथा वह नरक तीव्र अर्थात् दुःसह यानी खैर के अङ्गारों की महा राशि से भी अनन्त गुण अधिक ताप से युक्त है, ऐसे बहुत वेदनावाले नरकों में विषय सुख का त्याग न करनेवाले गुरुकर्मों जीव पड़ते हैं और वे वहाँ नाना प्रकार की वेदनाओं को प्राप्त करते हैं । कहा है कि-

“अच्छद्भिय विसयसुहो” अर्थात् जो पुरुष विषय सुख को नहीं छोड़ता है, वह जिसमें जलती हुई आग की शिखा समूह विद्यमान है तथा जो संसार सागर का प्रधान दुःख का स्थान है, ऐसे नरक में गिरता है । जिस नरक में नारकी जीवों की छाती को परमाधार्मिक इस प्रकार पैर से कुचलते हैं कि वे मुख से रुधिर का गण्डूष फेंकते हैं तथा आरा के द्वारा चीरकर उनके शरीर दो भागों में विभक्त कर दिये जाते हैं । जिस नरक में भेदन किये जाते हुए प्राणियों के कोलाहल से सब दिशाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं, तथा जलते हुए नारकी जीवों की खोपड़ी और हड्डियाँ शब्द करती हुई उछलती हैं, जहाँ पीड़ा के कारण नारकी जीव अत्यन्त चिल्लाते हुए शब्द करते हैं तथा कड़ाहों में भुँनकर उनके पाप कर्म का फल दिया जाता है एवं शूल से वेधकर उनका शरीर ऊपर उठाया जाता है । जहाँ भयंकर शब्द होता है, भयङ्कर अन्धकार एवं उत्कट दुर्गन्ध जहाँ विद्यमान है तथा नारकी जीवों के बाँधने का घर और जहाँ असह्य क्लेश दिया जाता है तथा कटे हुए हाथ पैर से मिला हुआ जहाँ रक्त और चर्बी का दुर्गम प्रवाह है । जहाँ निर्दयता के साथ नारकी जीवों का शिर काटकर शिर अलग और धड़ अलग फेंक दिया जाता है तथा जलती हुई सैंडासी के द्वारा जहाँ नारकी जीवों की जीभ उखाड़ ली जाती है । जहाँ तीक्ष्णनोकवाले काँटेदार वृक्षों में नारकी जीवों का शरीर रगड़कर जर्जर कर दिया जाता है, इस प्रकार जहाँ निमेष मात्र भी प्राणियों को सुख प्राप्त नहीं होता किन्तु लगातार दुःख होता रहता है, ऐसे भयङ्कर नरकों में नाना प्रकार के प्राणियों का वध करनेवाले मिथ्यावादी एवं पापराशि को उत्पन्न करनेवाले पुरुष जाते हैं ॥३॥



तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आयसुहं पडुच्चा ।

जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि

॥४॥

छाया - तीव्रं त्रसान् स्थावरान् यो हिंसत्यात्मसुखं प्रतीत्य ।

यो लूषको भवत्यदत्तहारी, न शिक्षते सेवनीयस्य किञ्चित् ॥

अन्वयार्थ - (जे आयसुहं पडुच्चा) जो जीव अपने सुख के निमित्त (तसे थावरे य, पाणिणो तिव्वं हिंसती) त्रस और स्थावर प्राणी को तीव्रता के साथ हनन करता है (जे लूसए अदत्तहारी होइ) तथा जो प्राणियों का मर्दन करनेवाला और बिना दिये दूसरे की चीज लेनेवाला है (सेयवियस्स किंचि ण सिक्खती) तथा जो सेवन करने योग्य संयम का थोड़ा भी सेवन नहीं करता है ।

भावार्थ - जो जीव अपने सुख के, निमित्त त्रस और स्थावर प्राणियों का तीव्रता के साथ हनन करता है तथा प्राणियों का उपमर्दन और दूसरे की चीज को बिना दिये ग्रहण करता है, एवं जो सेवन करने योग्य संयम का थोड़ा भी पालन नहीं करता है ।

टीका - तथा 'तीव्रम्' अतिनिरनुकम्पं रौद्रपरिणामतया हिंसायां प्रवृत्तः, त्रस्यन्तीति त्रसाः- द्वीन्द्रियादयस्तान् तथा 'स्थावरांश्च' पृथिवीकायादीन् 'यः' कश्चिन्महामोहोदयवर्ती 'हिनस्ति' व्यापादयति 'आत्मसुखं प्रतीत्य' स्वशरीर-सुखकृते, नानाविधैरुपायैर्यः प्राणिनां 'लूषक' उपमर्दकारी भवति, तथा- अदत्तमपहर्तुं शीलमस्यासावदत्तहारी-परद्रव्यापहारकः तथा 'न शिक्षते' नाभ्यस्यति नादत्ते 'सेयवियस्स'ति सेवनीयस्यात्महितैषिणा सदनुष्ठेयस्य संयमस्य किञ्चिदिति, एतदुक्तम् भवति-पापोदयाद्विरतिपरिणामं काकमांसादेरपि मनागपि न विधत्त इति ॥४॥ तथा -

टीकार्थ - जो जीव महामोहनीय कर्म के उदय में वर्तमान होकर अपने सुख के लिए अतिनिर्दयता के साथ रौद्रपरिणाम से हिंसा में प्रवृत्त है तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी और पृथिवीकाय आदि स्थावर प्राणियों को हनन करता है तथा जो नाना प्रकार के उपायों से प्राणियों का उपमर्द (नाश) करता है एवं अदत्तहारी अर्थात् बिना दिये दूसरे का द्रव्य हरण करता है एवं अपने कल्याण के लिए सेवन करने योग्य तथा सज्जनों से सेवनीय संयम का थोड़ा भी सेवन नहीं करता है । आशय यह है कि पाप के उदय होने से जो काकमांस आदि से भी विरत नहीं होता है ॥४॥

पागल्भी पाणे बहुणं तिवाति, अणिव्वुडे घातमुवेति बाले ।

णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं

॥५॥

छाया - प्रागल्भी प्राणानां बहूनामतिपाती, अनिर्वृतो घातमुपेति बालः ।

व्यङ्ग निशां गच्छत्यन्तकाले, अधः शिरः कृत्वोपेति दुर्गम् ॥

अन्वयार्थ - (पागल्भी) जो पुरुष पाप करने में धीठ है (बहुणं पाणे तिवाति) तथा बहुत प्राणियों का घात करता है (अणिव्वुडे) एवं जो सदा क्रोधाग्नि से जलता रहता है (बाले) (अंतकाले) वह अज्ञानी जीव मरण काल में (णिहो) नीचे (णिसं) अन्धकार में (गच्छति) जाता है (अहोसिरं कट्टु) वह नीचे शिर कर के (दुग्गं उवेइ) कठिन पीड़ा स्थान को प्राप्त करता है ।

भावार्थ - जो जीव प्राणियों की हिंसा करने में बड़ा धीठ है और अतिधृष्टता के साथ बहुत प्राणियों की हिंसा करता है, जो सदा क्रोधाग्नि से जलता रहता है, वह अज्ञ जीव नरक को प्राप्त होता है । वह मरण काल में नीचे अन्धकार में प्रवेश करता है और नीचे शिर करके महापीड़ास्थान को प्राप्त करता है ।

टीका - 'प्रागल्भ्यं' धाष्टर्यं तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी, बहूनां प्राणिनां प्राणानतीव पातयितुं शीलमस्य स भवत्यतिपाती, एतदुक्तं भवति-अतिपात्यपि प्राणिनः प्राणानतिधाष्टर्याद्वदति यथा-वेदाभिहिता हिंसा हिंसैव न भवति, तथा राज्ञामयं धर्मो यदुत आखेटकेन विनोदक्रिया, यदिवा-

“न मांसमक्षणो दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥”

इत्यादि, तदेवं क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी 'अनिर्वृतः' कदाचिदप्यनुपशान्तः क्रोधाग्निना दह्यमानो यदिवा-लुब्धकमत्स्यादिवधकजीविकाप्रसक्तः सर्वदा 'वधपरिणामपरिणतोऽनुपशान्तो हन्यन्ते प्राणिनः स्वकृतकर्मवि-पाकेन यस्मिन् स घातो-नरकस्तमुप-सामीप्येनैति-याति, कः ?- 'बालः' अज्ञो रागद्वेषोदयवर्ती सः 'अन्तकाले' मरणकाले 'निहो'ति न्यगधस्तात् 'णिसंति अन्धकारम्, अधोऽन्धकारं गच्छतीत्यर्थः, तथा-स्वेन दुश्चरितेनाधःशिरः कृत्वा 'दुर्गं' विषमं यातनास्थानमुपेति, २अवाक्शिरा नरके पततीत्यर्थः ॥५॥

टीकार्थ - धीठाई को "प्रागल्भ्य" कहते हैं, जो पुरुष धीठ है, उसे 'प्रागल्भी' कहते हैं । बहुत प्राणियों का अत्यन्त घात करने का जिसका स्वभाव है, उसे "अतिपाती" कहते हैं । आशय यह है कि- जो पुरुष प्राणियों के प्राण का नाश करता हुआ भी धीठाई के कारण कहता है कि- वेद में विधान की हुई हिंसा, हिंसा नहीं है, तथा राजाओं का यह कर्म है कि- वे शिकार के द्वारा अपना चित्तविनोद करते हैं, अथवा

मांस खाने, मद्य पीने और मैथुन करने में दोष नहीं है, क्योंकि ये जीवों के स्वभाव सिद्ध हैं, परन्तु इनसे निवृत्त होने का महान् फल है ॥१॥

इत्यादि तथा जो क्रूर सिंह और कृष्ण सर्प के समान स्वभाव से ही प्राणियों का घात करता है तथा जो कभी शान्त नहीं होता है अथवा जो पशुओं का वध और मृत्यु का वध करके अपनी जीविका करता है तथा जिसका सदा वध करने का परिणाम बना रहता है और जो कभी भी शान्त नहीं होता, वह जीव जिसमें अपने किये हुए कर्म का फल भोगने के लिए प्राणिओं का घात किया जाता है, उस घात स्थान यानी नरक में जाता है। वह कौन है ? वह अज्ञानी है, वह राग और द्वेष के उदय में वर्तमान है । वह मरण काल में नीचे अन्धकार में जाता है। वह अपने किये पाप के कारण नीचे शिर करके भयङ्कर यातना स्थान को प्राप्त होता है, वह नीचे शिर करके नरक में पड़ता है, यह अर्थ है ॥५॥



- साम्प्रतं पुनरपि नरकान्तर्वर्तिनो नारका यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह -

- अब नरक में रहनेवाले प्राणी जो दुःख अनुभव करते हैं, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

हण छिंदह भिंदह णं दहेति, सदे सुणिता परहम्मियाणं ।

ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना, कंखंति कन्नाम दिसं वयामो !

॥६॥

छाया - जहि छिन्धि भिन्धि, दह इति शब्दान् श्रुत्वा परमाधार्मिकाणाम् ।

ते नारकाः भयभिन्नसङ्गाः काङ्क्षन्ति कां नाम दिशं व्रजामः ॥

अन्वयार्थ - (हण) मारो (छिंदह) छेदन करो (भिंदह) भेदन करो (दह) जलाओ (परहम्मियाणं) इस प्रकार परमाधार्मिकों का (सदे) शब्दों को (सुणिता) सुनकर (भयभिन्नसन्ना) भय से संज्ञाहीन (ते नारगाओ) वे नारकी जीव, (कंखंति) चाहते हैं कि- (कं नाम दिसं वयामो) हम किस दिशा में भाग जायें ।

भावार्थ - नारकी जीव, मारो, काटो, भेदन करो, जलाओ इत्यादि परमाधार्मिकों के शब्द सुनकर भय से संज्ञाहीन हो जाते हैं और वे चाहते हैं कि- हम किस दिशा में भाग जायें ।

टीका - तिर्यङ्मनुष्यभवात्सत्त्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन 'निर्लूनाण्डजसन्निधानि शरीराण्युत्पादयन्ति, पर्याप्ति-भावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकजनितान् शृण्वन्ति, तद्यथा- 'हत' मुद्गरादिना 'छिन्त' खड्गादिना 'भिन्त' शूलादिना 'दहत' मुर्मुरादिना, णमितिवाक्यालङ्कारे, तदेवम्भूतान् कर्णासुखान् शब्दान् भैरवान् श्रुत्वा ते तु नारका भयोद्भ्रान्तलोचना भयेन-भीत्या भिन्ना-नष्टा संज्ञा-अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते तथा नष्टसंज्ञाश्च 'कां दिशं व्रजामः' कुत्र गतानामस्माकमेवम्भूतस्यास्य महाघोरारवदारुणस्य दुःखस्य त्राणं स्यादित्येतत्काङ्क्षन्तीति ॥६॥

टीकार्थ - तिर्य्यच और मनुष्यभव छोड़कर नरक में उत्पन्न प्राणी अन्तर्मुहूर्त तक अण्डे से निकले हुए रोम और पक्ष रहित पक्षी की तरह शरीर उत्पन्न करते हैं । पीछे पर्याप्ति भाव को प्राप्त कर, वे अति भयानक परमाधार्मिकों का शब्द सुनते हैं, जैसे कि- "इसे मुद्गर आदि से मारो" "इसे तलवार से छेदन करो" "इसे शूल आदि के द्वारा वेध करो" "इसे मुर्मुर आदि के द्वारा जलाओ" 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । इस प्रकार कानों को दुःख देनेवाले अति भयानक शब्दों को सुनकर वे नारकी, भय से चञ्चलनेत्र तथा नष्ट चित्तवृत्ति होकर यह चाहते हैं कि- हम किस दिशा को चले जायें, अर्थात् कहाँ जाने से हम इस महाघोर दारुण दुःख से रक्षा पा सकेंगे ॥६॥



- ते च भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह -

- और वे भय से भ्रांत, दिशाओं में भागनेवाले जो अनुभव करते हैं, वह दर्शाने के लिए कहते हैं-

इंगालरासिं जलियं सजोतिं, तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता ।

ते डङ्गमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरड्ढितीया

॥७॥

छाया - अङ्गारराशिं ज्वलितं सज्योतिः तदुपमां भूमिमणुक्कमन्तः ।

ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति अरहस्वरास्तत्र चिरस्थितिकाः ॥

अन्वयार्थ - (जलियं) जलती हुई (इंगालरासिं) अङ्गार की राशि, (सजोतिं) तथा ज्योति सहित (तत्तोवमं) भूमि के सदृश (भूमिं) भूमि पर (अणुक्कमंता) चलते हुए (डङ्गमाणा) अत एव जलते हुए (ते) वे नारकी जीव (कलुणं) करुण (थणंति) शब्द करते हैं (अरहस्सरा) उनका शब्द प्रकट जानने में आता है (तत्थ चिरड्ढितीया) तथा वे चिरकाल तक नरक में निवास करते हैं ।

भावार्थ - जैसे जलती हुई अङ्गार की राशि बहुत तप्त होती है तथा जैसे ज्योति सहित पृथिवी बहुत गर्म होती है, इसी तरह अत्यन्त तपी हुई नरक की भूमि में चलते हुए नरक के जीव जलते हुए बड़े जोर से करुण रुदन करते हैं, वे वहाँ चिर काल तक निवास करते हैं ।

टीका - 'अङ्गारराशिं' खदिराङ्गरपुञ्जं 'ज्वलितं' ज्वालाकुलं तथा सह ज्योतिषा-उद्योतेन वर्तत इति सज्योतिर्भूमिः, तेनोपमा यस्याः सा तदुपमा तामङ्गारसन्निभां भूमिमाक्रमन्तस्ते नारका दन्दह्यमानाः 'करुणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तत्र बादरानेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना 'अरहस्वरा' प्रकटस्वरा महाशब्दाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन्नरकावासे चिरं-प्रभूतं कालं स्थितिः-अवस्थानं येषां ते तथा, तथाहि-उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीति ॥७॥

टीकार्थ - जैसे जलती हुई खैर के अङ्गारों की राशि होती है तथा जैसे ज्योति के सहित पृथिवी होती है, उसी की उपमा नरक की पृथिवी की है । उस अङ्गार राशि के तुल्य नरक की पृथिवी पर चलते हुए और उसमें जलते हुए नारकी जीव करुण रोदन करते हैं । नरक में बादर अग्नि नहीं होती है इसलिए शास्त्रकार ने नरक की पृथिवी को बादर अग्नि के सदृश कहा है । यह उपमा भी दिग्दर्शन मात्र समझना चाहिए, क्योंकि नरक के ताप की उपमा यहाँ की इस अग्नि से नहीं दी जा सकती है । महान् नगर के दाह से भी अधिक ताप से जलते हुए वे नारकी जीव, महा शब्द करते हैं । वे नरक में बहुत काल तक निवास करते हैं, वे उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम कालतक तथा जघन्य दश हजार वर्ष तक नरक में निवास करते हैं ॥७॥



- अपि च- सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीदमाह -

- और भी सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि -

जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा, गिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया ।

तरंति ते वेयरणीं भिदुग्गां, उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा

॥८॥

छाया - यदि ते श्रुता वैतरण्यभिदुर्गा निशितो यथा क्षुर इव तीक्ष्णस्रोताः ।

तरन्ति ते वैतरणीमभिदुर्गामिषुचोदिताः शक्तिसुहृन्व्यमानाः ॥

अन्वयार्थ - (खुर इव तिक्खसोया गिसिओ) तेज अस्तरे की तरह तेज धारावाली (अभिदुग्गा) अति दुर्गम (वेयरणी) वैतरणी नदी को (जइ ते सुया) शायद तुमने सुना होगा (ते) वे नारकी जीव (अभिदुग्गां वेयरणीं) अति दुर्गम वैतरणी को (तरंति) इस प्रकार तैरते हैं (उसुचोइया) जैसे टोंच मारकर प्रेरित किया हुआ (सत्तिसु हम्ममाणा) तथा भाला से भेदकर चलाया हुआ मनुष्य किसी विषम नदी में कूद पड़ता है ।

भावार्थ - अस्तरे के समान तेज धारावाली वैतरणी नदी को शायद तुमने सुना होगा । वह नदी बड़ी दुर्गम है । जैसे बाण से (लकड़ी के अग्र भाग में तीखा खिल्ला लगाकर उसके द्वारा टोंच मारकर बैल को चलाते हैं, वह बाण है) और भाला से भेदकर प्रेरित किया हुआ मनुष्य, लाचार होकर किसी भयङ्कर नदी में कूद पड़ता है, इसी तरह सताये जाते हुए नारकी जीव घबड़ाकर उस नदी में कूद पड़ते हैं ।

टीका - यथा भगवतेदमाख्यातं यदि 'ते' त्वया श्रुता-श्रवणपथमुपागता 'वैतरणी' नाम क्षारोष्णरुधिराकारजल-वाहिनी नदी, आभिमुख्येन दुर्गा अभिदुर्गा-दुःखोत्पादिका, तथा-निशितो यथा क्षुरस्तीक्ष्णो भवत्येवं तीक्ष्णानि-शरीरा-वयवानां कर्तकानि स्रोतांसि यस्याः सा तथा, ते च नारकास्तप्ताङ्गारसन्निभां भूमिं विहायोदकपिपासवोऽभितप्ताः सन्तस्तापापनोदायाभिषिषिक्षवो वा तां वैतरणीमभिदुर्गां तरन्ति, कथम्भूताः ? इषुणा-शरेण प्रतोदेनेव चोदिताः-प्रेरिताः शक्तिभिश्च हन्यमानास्तामेव भीमां वैतरणीं तरन्ति, तृतीयार्थे सप्तमी ॥८॥ किञ्च -

टीकार्थ - भगवान् ने जिसका कथन किया है, उस वैतरणी नामक नदी को शायद तुमने सुना होगा । उस वैतरणी नदी में खारा, गर्म और रक्त के समान जल बहता रहता है । जैसे तेज अस्तरे की धारा बड़ी तेज होती है, उसी तरह उसकी तेज धारा है । उस धारा के लगने से नारकी जीवों के अङ्ग कट जाते हैं, इस कारण वह नदी बड़ी दुर्गम है । उसमें बहते हुए प्राणियों को वह बहुत दुःख उत्पन्न करती है । तप्त अंगार के समान अति उष्ण नरक भूमि को छोड़कर अति तप्त और प्यासे हुए नारकी जीव अपने ताप को मिटाने के लिए तथा जल में स्नान करने की इच्छा से अति दुर्गम उस वैतरणी नदी में कूदकर तैरते हैं । वे नारकी कैसे हैं ? मानो बाणों (प्रतोद) से प्रेरित किये हुए हैं अथवा भाला से खोदकर चलाये गये हैं, अतः वे ऐसी भयङ्कर वैतरणी नदी में तैरते हैं । यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी हुई है ॥८॥

कीलेहिं विज्झन्ति असाहुकम्मा, नावं उर्विते सइविप्पहूणा ।

अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं दीहाहिं विद्धूण अहेकरन्ति

॥९॥

छाया - कीलेषु विध्यन्ति, असाधुकर्माणः नावमुपयतः स्मृतिविप्रहीनाः ।

अव्ये तु शूलैस्त्रिशूलैर्दीर्घैर्विद्ध्वाऽथः कुर्वन्ति ॥

अन्वयार्थ - (नावं उर्विते) नाव पर आते हुए नारकी जीवों के (असाहुकम्मा) परमाधार्मिक (कीलेहिं विज्झन्ति) कण्ठ में कील चुभोते हैं (सइविप्पहूणा) अतः वे नारकी जीव स्मृति रहित होकर किंकर्तव्यमूढ़ हो जाते हैं (अन्ने तु) तथा दूसरे नरकपाल (दीहाहिं) दीर्घ (सूलाहिं तिसूलियाहिं) शूल और त्रिशूल के द्वारा (विद्धूण अहेकरन्ति) नारकी जीवों को वेधकर नीचे डाल देते हैं ।

भावार्थ - वैतरणी नदी के दुःख से उद्विग्न नारकी जीव जब नाव पर चढ़ने के लिए आते हैं, तब उस नाव पर पहले से बैठे हुए परमाधार्मिक उन बिचारे नारकी जीवों के कण्ठ में कील चुभोते हैं, अतः वैतरणी के दुःख से जो पहले ही स्मृतिहीन हो चुके हैं, वे नारकी जीव इस दुःख से और अधिक स्मृतिहीन हो जाते हैं, वे उस समय अपने शरण का कोई मार्ग नहीं देख पाते हैं । कई नरकपाल अपने चित्त का विनोद करने के लिए नारकी जीवों को शूल और त्रिशूल से वेधकर नीचे पृथ्वी पर पटक देते हैं ।

टीका - तांश्च नारकानत्यन्तक्षारोष्णेन दुर्गन्धेन वैतरणीजलेनाभितप्तानायसकीलाकुलां नावमुपगच्छतः पूर्वारूढा 'असाधुकर्माणः' परमाधार्मिकाः 'कीलेषु' कण्ठेषु विध्यन्ति, ते च विध्यमानाः कलकलायमानेन सर्वस्रोतोऽनुयायिना वैतरणीजलेन नष्टसंज्ञा अपि सुतरां 'स्मृत्या विप्रहीणा' अपगतकर्तव्यविवेका भवन्ति, अन्ये पुनर्नरकपाला नारकैः क्रीडतस्तान्नाष्टांस्त्रिशूलिकाभिः शूलाभिः 'दीर्घिकाभिः' आयताभिर्विद्ध्वा अधोभूमौ कुर्वन्तीति ॥९॥ अपि च-

टीकार्थ - वैतरणी नदी के अत्यन्त खारे, गर्म तथा दुर्गन्ध जल से अति तप्त वे बिचारे नारकी जीव उस नदी में (परमाधार्मिकों के द्वारा चलाई जाती हुई) काँटेदार नावपर जब आने लगते हैं, तब उस नाव पर पहले

से चढ़े हुए परमाधार्मिक उन नारकी जीवों के गले में कीलें चुभोते हैं। वे नारकी जीव कल कल शब्द के साथ बहते हुए वैतरणी के जल से संज्ञाहीन होकर भी कण्ठवेध पाकर अत्यन्त स्मृति रहित हो जाते हैं। उन्हें अपने कर्तव्य का विवेक सर्वथा नहीं रहता है। तथा दूसरे नरकपाल, नारकी जीवों से क्रीड़ा करते हुए उन नष्ट संज्ञावाले बिचारे नारकी जीवों को दीर्घ शूल और त्रिशूल के द्वारा वेधकर नीचे पृथ्वी पर पटक देते हैं ॥९॥



केसिं च बंधितु गले सिलाओ, उदगंसि बोलंति महालयंसि ।

कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलंति पच्चंति अ तत्थ अत्रे

॥१०॥

छाया - केषां च बद्ध्वा गले शिलाः, उदके मज्जयन्ति महालये ।

कलम्बुकावालुकायां मुम्मुरे च लोलयन्ति पचन्ति च तत्राऽब्दे ॥

अन्वयार्थ - (केसिं च) किन्हीं नारकी जीवों के (गले) गले में (सिलाओ बंधितु) शिलायें बाँधकर (महालयंसि) अगाध (उदगंसि) जल में (बोलंति) डुबाते हैं। (अत्रे) तथा दूसरे परमाधार्मिक (कलंबुयावालुय मुम्मुरे य लोलंति पच्चंति) अति तप्त बालु में और मुर्मुर में इधर उधर फेरते हैं तथा पकाते हैं।

भावार्थ - नरकपाल किन्हीं नारकी जीवों के गले में शिला बांधकर अगाध जल में डुबाते हैं और दूसरे नरकपाल अतितप्त बालुका में और मुर्मुराग्नि में उन नारकी जीवों को इधर उधर फेरते हैं और पकाते हैं।

टीका - केषांचिन्नारकाणां परमाधार्मिका महतीं शिलां गले बद्ध्वा महत्युदके 'बोलंति'ति, निमज्जयन्ति, पुनस्ततः समाकृष्य वैतरणीनद्याः कलम्बुकावालुकायां मुर्मुराग्नौ च 'लोलयन्ति' अतितप्तवालुकायां चणकानिव समन्ततो घोलयन्ति, तथा अन्ये 'तत्र' नरकावासे स्वकर्मपाशावपाशितान्नरकान् सुण्ठके 'प्रोतकमांसपेशीवत् 'पचन्ति' भर्जयन्तीति ॥१०॥ तथा -

टीकाार्थ - परमाधार्मिक, किन्हीं नारकी जीवों के गले में बड़ी-बड़ी शिलायें बाँधकर अगाध जल में डुबाते हैं पश्चात् फिर उन्हें वहाँ से खींचकर वैतरणी नदी के कलम्बु के फूल के समान अति तप्त लाल बालुका में तथा मुर्मुराग्नि में इधर-उधर इस प्रकार फिराते हैं, जैसे चने को बालु में डालकर इधर उधर फेरते हैं। तथा दूसरे परमाधार्मिक, अपने कर्मरूपी जाल में फंसे हुए उन नारकी जीवों को शूल में वेधकर पकाये जाते हुए मांस की तरह पकाते हैं ॥१०॥



२आसूरियं नाम महाभितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं ।

उड्ढं अहेअं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाई

॥११॥

छाया - असूर्य्यं नाम महाभितापमब्धं तमं दुप्पतरं महान्तम् ।

ऊर्ध्वमथस्तिर्य्यग्दिशासु समाहितो यत्राग्निः प्रज्वलति ॥

अन्वयार्थ - (आसूरियं नाम) जिसमें सूर्य नहीं है (महाभितावं) और जो महान् ताप से युक्त है (अंधंतमं दुप्पतरं महंतं) तथा जो भयंकर अन्धकार से युक्त और दुःख से पार करने योग्य एवं महान् है (जत्थ) तथा जिसमें (उड्ढं) ऊपर (अहेअं) नीचे (तिरियं) तथा तिरछे (दिसासु) दिशाओं में (समाहिओ अगणी झियाई) प्रज्वलित अग्नि जलती रहती है।

भावार्थ - जिसमें सूर्य नहीं है तथा जो महान् तापवाला है, जो घना अन्धकार से पूर्ण दुःख से पार करने योग्य और महान् है, जहाँ ऊपर-नीचे तथा तिरछे अर्थात् सर्व दिशाओं में प्रज्वलित आग जलती है, ऐसी नरकों में पापी जीव जाते हैं।

टीका - न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सः असूर्यो-नरको बहलान्धकारः कुम्भिकाकृतिः सर्व एव वा नरकावासोऽसूर्य

इति व्यपदिश्यते, तमेवम्भूतं महाभितापम् अन्धतमसं 'दुष्प्रतरं' दुरुत्तरं 'महान्तं' विशालं नरकं महापापोदयाद् व्रजन्ति, तत्र च नरके ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वतः 'समाहितः' सम्यगाहितो व्यवस्थापितोऽग्निर्ज्वलतीति ^२पठ्यते च 'समूसिओ जत्थऽगणी झियार्इ' यत्र नरके सम्यगूर्ध्वं श्रितः-समुच्छितोऽग्निः प्रज्वलति तं तथाभूतं नरकं वराका व्रजन्ति इति॥११॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जिसमें सूर्य नहीं रहता ऐसा कुम्भिका के समान आकारवाला बहुत अन्धकार से युक्त एक असूर्य नामक नरक है। अथवा सभी नरकों को असूर्य कहते हैं। ऐसे महान् ताप से युक्त तथा घने अन्धकार से परिपूर्ण, दुःख से पार करने योग्य विशाल नरक में महान् पाप का उदय होने से पापी प्राणी जाते हैं। उस नरक में ऊपर-नीचे तथा तिरछे सभी दिशाओं में रखी हुई आग जलती रहती है। "समूसिओ" ऐसा पाठ भी है अर्थात् जिस नरक में बहुत ऊपर तक उठी हुई आग जलती रहती है, ऐसे नरक में बिचारे पापी प्राणी जाते हैं ॥११॥



जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो ।

सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं

॥१२॥

छाया - यस्मिन् गुहायां ज्वलनेऽतिवृत्तोऽविजानन् दह्यते, लुप्तप्रज्ञः ।

सदा च करुणं पुनर्धर्मस्थानं गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ॥

अन्वयार्थ - (जंसी) जिस नरक में (गुहाए जलणे) गुफा के आकार में स्थापित अग्नि में (अतिउट्टे) आवृत होकर अपने पाप को न जानता हुआ (लुत्तपण्णो) संज्ञाहीन प्राणी (डज्झइ) जलता रहता है। (सयाय) जो नरक सदा (कलुणं) करुणाप्रायः है (घम्मठाणं) तथा सम्पूर्ण ताप का स्थान है (गाढोवणीयं) जो पापी जीवों को बलात्कार से प्राप्त होता है (अतिदुक्खधम्मं) एवं अत्यन्त दुःख देना जिसका स्वभाव है।

भावार्थ - जिस नरक में गुफा के आकार में स्थापित की हुई आग में, पड़े हुए नारकी जीव, अपने पाप को विस्मृत और संज्ञाहीन होकर जलते हैं। नरकभूमि करुणाप्राय और ताप का स्थान है, वह अत्यन्त दुःख देनेवाली और पापकर्म से प्राप्त होती है।

टीका - 'यस्मिन्' नरकेऽतिगतोऽसुमान् 'गुहाया' मित्युष्टिकाकृतौ नरके प्रवेशितो 'ज्वलने' अग्नौ 'अतिवृत्तः' अतिगतो वेदनाभिभूतत्वात्स्वकृतं दुश्चरितमजानन् 'लुप्तप्रज्ञः' अपगतावधिविवेको दन्दह्यते, तथा 'सदा' सर्वकालं पुनः करुणप्रायं कृत्स्नं वा 'धर्मस्थानम्' उष्णस्थानं तापस्थानमित्यर्थः, 'गाढं'ति अत्यर्थम् 'उपनीतं' दौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत् स्थानं तत्ते व्रजन्ति, पुनरपि तदेव विशिनष्टि-अतिदुःखरूपो धर्मः-स्वभावो यस्मिन्निति, इदमुक्तं भवति-अक्षिनिमेष-मात्रमपि कालं न तत्र दुःखस्य विश्राम इति, तदुक्तम्-

“अच्छिणिमीलणमेत्तं णट्ठिं सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं । णिरए णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं॥१॥” ॥१२॥ अपिच-

टीकार्थ - जिस नरक में गया हुआ प्राणी, गुहा अर्थात् ऊंट के समान आकारवाली नरकभूमि में प्रविष्ट होकर आग में जलता हुआ वेदना से पीड़ित होकर अपने पाप को नहीं जानता है तथा अवधि के विवेक से रहित होकर अत्यन्त जलता रहता है। वह नरक सब काल में करुणाप्रायः है अथवा वह समस्त गर्मी का स्थान है। वह नरक पापकर्म करनेवाले प्राणियों को प्राप्त होती है। ऐसे स्थान में पापी जीव जाते हैं। फिर भी उसी स्थान की विशेषता बतलाते हैं, उस नरक का स्वभाव अत्यन्त दुःख देने का है, आशय यह है कि- नेत्र का निमेष मात्र काल तक भी वहाँ दुःख से विश्राम नहीं मिलता है। जैसा कि कहा है- “अच्छि” इत्यादि।

अथात् नेत्र के पलक मारने के काल मात्र भी नारकी जीवों को सुख नहीं होता है किन्तु निरन्तर नरक में पकते हुए उनको कष्ट ही भोगना पड़ता है ॥१२॥

1. जाज्वल० प्र० । 2. पच्यते प्र० । 3. अक्षिनिमीलनमात्रं नास्ति सुखं दुःखमेव प्रतिबद्धं निरये नैरयिकाणां अहर्निशं पच्यमानानाम् ॥१॥

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितविंति बालं ।

ते तत्थ चिद्धतंऽभितप्पमाणा मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता

॥१३॥

छाया - चतसृष्वङ्गीन् समारभ्य, यस्मिन् कूरकर्माणोऽभितापयन्ति बालम् ।

ते तत्र तिष्ठन्त्यभितप्यमाना मत्स्या इव जीवन्त उपज्योतिः प्राप्ताः ॥

अन्वयार्थ - (जहिं) जिस नरक भूमि में (कूरकम्मा) कूरकर्म करनेवाले परमाधार्मिक (चत्तारि) चारों दिशाओं में चार (अगणीओ) अग्नि (समारभित्ता) जलाकर (बालं) अज्ञानी नारकी जीव को (अभितविंति) तपाते हैं (ते) वे नारकी जीव, (जीवंतुवजोतिपत्ता मच्छा व) ज्योति अर्थात् अग्नि के पास प्राप्त जीती हुई मछली की तरह (अभितप्पमाणा) ताप पाते हुए (तत्थ) उसी जगह (चिद्धतं) स्थित रहते हैं ।

भावार्थ - उन नरकों में परमाधार्मिक, चारों दिशाओं में चार अग्निओं को जलाकर अज्ञानी जीवों को तपाते हैं। जैसे जीती हुई मछली आग में डाली, जाकर वहीं तपती हुई स्थित रहती है, इसी तरह वे बिचारे नारकी आग में जलते हुए वहीं स्थित रहते हैं ।

टीका - चतसृष्वपि दिक्षु चतुरोऽग्नीन् 'समारभ्य' प्रज्वाल्य 'यत्र' यस्मिन्नरकावासे 'कूरकर्माणो' नरकपाला अभिमुख्येनात्यर्थं तापयन्ति-भट्टित्रवत्पचन्ति 'बालम्' अज्ञं नारकं पूर्वकृतदुश्चरितं, ते तु नारकजीवा एवम् 'अभितप्यमानाः' कदर्थ्यमानाः स्वकर्मनिगडितास्तत्रैव प्रभूतं कालं महादुःखाकुले नरके तिष्ठन्ति, दृष्टान्तमाह- यथा जीवन्तो 'मत्स्या' मीना 'उपज्योतिः' अग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशत्वादन्त्यत्र गन्तुमसमर्थास्तत्रैव तिष्ठन्ति, एवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वादग्नावत्यन्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्ग्रहणमिति ॥१३॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जिस नरक स्थान में कूर कर्म करनेवाले नरकपाल चार दिशाओं में चार अग्निओं को जलाकर पूर्व जन्म में पाप किये हुए अज्ञानी नारकी जीवों को भट्टी की तरह अत्यन्त ताप देते हुए पकाते हैं, इस प्रकार पीड़ा पाते हुए वे नारकी जीव अपने कर्म पाश में बँधे हुए होने के कारण महादुःखद उसी नरक में चिर काल तक निवास करते हैं । इस विषय में दृष्टान्त देते हैं- जैसे जीती हुई मछली अग्नि के निकट प्राप्त होकर परवश होने के कारण अन्यत्र नहीं जा सकती किन्तु उसी जगह स्थित रहती है । इसी तरह नारकी जीव भी वहाँ स्थित रहते हैं । मछली ताप को नहीं सह सकती है, इसलिए आग में उसे महा दुःख होता है, इसीलिए यहाँ मछली का दृष्टान्त दिया है ॥१३॥



संतच्छणं नाम महाहितावं, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा ।

हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था

॥१४॥

छाया - संतक्षणं नाम महाहितावं ते नारका यत्र असाधुकर्माणः ।

हस्तैश्च पादैश्च बद्ध्वा फलकमिव तक्ष्णुवन्ति कुठारहस्ताः ॥

अन्वयार्थ - (महाहितावं) महान् ताप देनेवाला (संतक्षणं नाम) संतक्षण नामक एक नरक है (जत्थ) जिसमें (असाहुकम्मा) बुरा कर्म करनेवाले (कुहाडहत्था) तथा हाथ में कुठार लिये हुए (ते नारया) वे परमाधार्मिक (हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं) नारकी जीवों के हाथ पैर बाँधकर (फलगं व तच्छंति) काठ की तरह काटते हैं ।

भावार्थ - संतक्षण नामक एक नरक है । वह प्राणियों को महान् ताप देनेवाला है । उस नरक में कूर कर्म करनेवाले परमाधार्मिक अपने हाथ में कुठार लिये रहते हैं । वे नारकी जीवों को हाथ-पैर बाँधकर काठ की तरह कुठार के द्वारा काटते हैं ।

टीका - सम्-एकीभावेन तक्षणं सन्तक्षणं, नामशब्दः सम्भावनायां, यदेतत्संतक्षणं तत्सर्वेषां प्राणिनां 'महाहितावं' महादुःखोत्पादकमित्येवं सम्भाव्यते, यद्येवं ततः किमित्याह-ते 'नारका' नरकपाला 'यत्र' नरकावासे स्वभवनादागताः 'असाधुकर्माणः' कूरकर्माणो निरनुकम्पाः 'कुठारहस्ताः' परशुपाणयस्तान्नारकानत्राणान् हस्तैः पादैश्च

‘बद्ध्वा’ संयम्य ‘फलकमिव’ काष्ठशकलमिव ‘तक्षणुवन्ति’ छिन्दन्तीत्यर्थः ॥१४॥ अपि च -

टीकार्थ - जो एक भाव से प्राणियों को काटता है, उसे ‘संतक्षण’ कहते हैं। नाम शब्द सम्भावना अर्थ में आया है। यह जो संतक्षण नरक है, वह सब प्राणियों को महान् दुःख उत्पन्न करता है, यह संभव है। यदि ऐसा है तो क्या ? उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि- उस नरक में क्रूरकर्म करनेवाले दयारहित तथा हाथ में कुठार लिये हुए नरकपाल अपने स्थान से आकर रक्षक रहित उन नारकी जीवों को उनके हाथ, पैर बाँधकर काठ के समान कुठार के द्वारा छेदन करते हैं ॥१४॥



रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे, भिन्नुत्तमंगे वरिवत्तयन्ता ।

पर्यन्ति णं णेरइए फुरन्ते, सजीवमच्छे व अयोक्वल्ले

॥१५॥

छाया - रुहिरे पुनः वर्चः समुच्छ्रिताङ्गान् भिन्नोत्तमाङ्गान् परिवर्तयन्तः ।

पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः सजीवमत्स्यानिवायसकवल्याम् ॥

अन्वयार्थ - (पुणो) फिर नरकपाल (रुहिरे) नारकी जीवों के रक्त में (वच्चसमुस्सिअंगे) मल के द्वारा जिनका शरीर सूज गया है तथा (भिन्नुत्तमंगे) जिनका शिर चूर्ण कर दिया गया है (फुरन्ते) एवं जो पीड़ा के मारे छटपटा रहे है (णेरइए) ऐसे नारकी जीवों को (परिवर्तयन्तो) नीचे ऊपर उलाटते हुए (सजीवमच्छे व) जीवित मछली की तरह (अयोक्वल्ले) लोह की कड़ाही में (पर्यन्ति) पकाते हैं ।

भावार्थ - नरकपाल, नारकी जीवों का रक्त निकालकर उसे गर्म कड़ाह में डालकर उस रक्त में जीते हुए मछली की तरह दुःख से छटपटाते हुए नारकी जीवों को पकाते हैं। उन नारकी जीवों का शिर पहले नरकपालों के द्वारा चूर चूर कर दिया गया है तथा उनका शरीर मल के द्वारा सूजा हुआ है ।

टीका - ते परमाधार्मिकास्तान्नारकान्स्वकीये रुहिरे तप्तकवल्यां प्रक्षिप्ते पुनः पचन्ति, वर्चःप्रधानानि समुच्छ्रितान्यन्त्राण्यङ्गानि वा येषां ते तथा तान्, भिन्नं-चूर्णितम् उत्तमाङ्गं-शिरो येषां ते तथा तानिति, कथं पचन्तीत्याह-‘परिवर्तयन्तः’ उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः णमिति वाक्यालङ्कारे तान् ‘स्फुरत’ इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपतः सजीवमत्स्यानिवायसकवल्यामिति ॥१५॥ तथा-

टीकार्थ - वे परमाधार्मिक उन नारकी जीवों को उनका रक्त गर्म कड़ाह में डालकर पकाते हैं। उन नारकी जीवों की अंतडी अथवा अङ्ग मल से सूजे हुए हैं। तथा उनका शिर चूर चूर कर दिया गया है। वे किस तरह पकाते हैं ? सो कहते हैं- जो नारकी उत्तान पड़े हैं, उनको अवाङ्मुख और जो अवाङ्मुख हैं, उनको उत्तान करते हुए पकाते हैं। ‘णं’ शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। इस प्रकार पकाये जाते हुए नारकी जीव विकल होकर इधर-उधर अपने शरीर को फेंकते रहते हैं और नरकपाल जीती हुई मछली की तरह उन्हें लोह की कड़ाही में पकाते हैं ॥१५॥



नो चेव ते तत्थ मसीभवन्ति, ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए ।

तमाणुभागं अणुवेदयन्ता, दुक्खन्ति दुक्खी इह दुक्कडेणं

॥१६॥

छाया - नो चेव ते तत्र मसीभवन्ति, ण मिज्जन्ते तीव्राभिवेदयन्ता ।

तमाणुभागमणुवेदयन्तः दुःख्यन्ति दुःखिण इह दुष्कृतेन ॥

अन्वयार्थ - (तत्थ) उस नरक में (ते) वे नारकी जीव (नो मसीभवन्ति) जलकर भस्म नहीं हो जाते हैं (तिव्वभिवेयणाए) तथा नरक की तीव्र पीड़ा से (ण मिज्जती) मरते नहीं हैं। (तमाणुभागमणुवेदयन्ता) किन्तु नरक की उस पीड़ा को भोगते हुए वे वहीं रहते हैं (इह दुक्कडेणं) और इस लोक में किये हुए पाप के कारण वे (दुक्खी दुक्खन्ति) वहाँ दुःख पाते हैं ।

भावार्थ - नारकी जीव नरक की आग में जलकर भस्म नहीं होते हैं और नरक की तीव्र पीड़ा से मरते भी नहीं हैं किन्तु इस लोक में अपने किये हुए पाप के कारण नरक की पीड़ा भोगते हुए वहाँ दुःख पाते रहते हैं ।

टीका - ते च नारका एवं बहुशः पच्यमाना अपि 'नो' नैव 'तत्र' नरके पाके वा नरकानुभावे वा सति 'मषीभवन्ति' नैव भस्मसाद्भवन्ति, तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमत्स्यादिकमप्यस्ति यन्मीयते-उपमीयते, अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरानुभवन्तीत्यर्थः, यदिवा-तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वान्न प्रियन्त इति, प्रभूतमपि कालं यावत्तत्तादृशं शीतोष्णवेदनाजनितं तथा दहनच्छेदनभेदनतक्षणात्रिशूलारोपणकुम्भीपाकशाल्मल्यारोहणादिकं परमाधार्मिकजनितं परस्परोदीरणनिष्पादितं च 'अनुभागं' कर्मणां विपाकम् 'अनुवेदयन्तः' समनुवेदयन्तः समनुभवन्तस्तिष्ठन्ति, तथा स्वकृतेन 'दुष्कृतेन' हिंसादिनाऽष्टादशपापस्थानरूपेण सततोदीर्णदुःखेन दुःखिनो 'दुःखयन्ति' पीडयन्ते, नाक्षिनिमेषमपि कालं दुःखेन मुच्यन्त इति ॥१६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - वे नारकी जीव पूर्वोक्त रूप से बहुत बार पकाते हुए भी उस नरक में जलकर भस्म नहीं हो जाते तथा वे जैसी तीव्र वेदना को अनुभव करते हैं, उसकी उपमा आग में डाली हुई मछली आदि की वेदना से भी नहीं दी जा सकती है, अतः वे वर्णन करने के अयोग्य अति भयंकर वेदना को अति भयंकर करते हैं । अथवा तीव्र वेदना होने पर भी अपने किये हुए कर्मों का फल भोग शेष रहने के कारण वे नारकी जीव मरते नहीं हैं किन्तु बहुत काल तक पूर्व वर्णन के अनुसार शीत, उष्ण जनित पीड़ा को अनुभव करते हुए तथा परमाधार्मिकों के द्वारा उत्पन्न किये हुए दहन (जलाना) छेदन, भेदन, तक्षण (छीलना) त्रिशूल पर चढ़ाना, कुम्भी में पकाना, और शाल्मली वृक्ष पर चढ़ाना आदि एवं परस्पर एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न किये हुए अपने कर्मों का फल स्वरूप दुःखों को भोगते हुए वे वहीं रहते हैं । नरक में रहनेवाले जीव, अपने किये हुए हिंसा आदि अठारह स्थान रूप पापों के कारण निरन्तर उत्पन्न दुःख से दुखी होते रहते हैं, उन्हें नेत्र के पलक गिराने मात्र काल तक भी दुःख से मुक्ति नहीं मिलती है ॥१६॥

तर्हि च ते लोलणसंपगाढे, गाढं सुतप्तं अगणिं वयन्ति ।

न तत्थ सायं लहती भिदुग्गे, अरहियाभितावा तहवी तर्विति

॥१७॥

छाया - तस्मिंश्च ते लोलनसंप्रगाढे, गाढं सुतप्तमग्निं व्रजन्ति ।

न तत्र सातं लभन्तेऽभिदुर्गेऽरहिताभितापाब् तथापि तापयन्ति ॥

अन्वयार्थ - (लोलणसंपगाढे) नारकी जीवों के चलने से भरे हुए (तर्हि) उस नरक में (गाढ) अत्यन्त (सुतप्त) तपी हुई (अगणिं) अग्नि के पास (वयन्ति) वे नारकी जीव जाते हैं (अभिदुग्गे तत्थ) उस अतिदुर्ग अग्नि में (सायं न लहई) वे जीव सुख नहीं पाते हैं और (अरहियाभितावा) वे यद्यपि ताप से युक्त होते हैं (तहवि) तथापि (तर्विति) उन्हें नरकपाल तपाते हैं ।

भावार्थ - शीत से पीड़ित नारकी जीव अपनी शीत मिटाने के लिए नरक में जलती हुई आग के पास जाते हैं परन्तु वे बिचारे सुख नहीं पाते किन्तु उस भयङ्कर अग्नि में जलने लगते हैं । उन जलते हुए नारकी जीवों को परमाधार्मिक और अधिक जलाते हैं ।

टीका - 'तस्मिंश्च' महायातनास्थाने नरके तमेव विशिनष्टि-नारकाणां लोलनेन सम्यक् प्रगाढो-व्याप्तो भूतः स तथा तस्मिन्नरके अतिशीतार्ताः सन्तो 'गाढम्' अत्यर्थं सुष्ठु तप्तम् अग्निं व्रजन्ति, 'तत्रापि' अग्निस्थानेऽभिदुर्गे दह्यमानाः 'सातं' सुखं मनागपि न लभन्ते, 'अरहितो' निरन्तरोऽभितापो-महादाहो येषां ते अरहिताभितापाः तथापि तान्नारकांस्ते नरकपालास्तापयन्त्यत्यर्थं तप्ततैलाग्निना दहन्तीति ॥१७॥ अपि च-

टीकार्थ - नरक महान् पीड़ा का स्थान है, उसकी विशेषता बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि नरक नारकी जीवों के हलचल से भरा हुआ होता है, उसमें अत्यन्त शीत से पीड़ित नारकी जीव अपनी शीत दूर करने के लिए

अति प्रदीप्त अग्नि के पास जाते हैं, वह नरक की अग्नि बड़ी दाहक होती है, उसमें वे बिचारे जलने लगते हैं, अतः उनको वहाँ थोड़ा भी सुख नहीं मिलता है। उस अग्नि में वे निरन्तर जलते रहते हैं, इसलिए उन्हें यद्यपि महान् ताप होता है तथापि नरकपाल उन पर गरम तेल छिटककर और ज्यादा जलाते हैं ॥१७॥



से सुच्चई नगरवहे व सहे, दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ ! ।

उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेति

॥१८॥

छाया - अथ श्रूयते नगरवध इव शब्दः, दुःखोपनीतानि पदानि तत्र ।

उदीर्णकर्मण उदीर्णकर्माणः पुनः पुनस्ते सरभसं दुःखयन्ति ॥

अन्वयार्थ - (से) इसके पश्चात् (तत्थ) उस नरक में (नगरवहे व सहे) नगरवध के समान शब्द (सुच्चई) सुनाई पड़ते हैं (दुहोवणीयाणि पयाणि) तथा वहाँ करुणामय पद सुनाई पड़ते हैं। (उदिण्णकम्मा) मिथ्यात्व आदि के उदय में वर्तमान परमाधार्मिक (उदिण्णकम्माण) जिन का पापकर्म फल देने की दशा में आया है, ऐसे नारकी जीवों को (पुणो पुणो) बार-बार (सरहं) बड़े उत्साह के साथ (दुहेति) दुःख देते हैं।

भावार्थ - जैसे किसी नगर का नाश होते समय नगरवासी जनता का महान् शब्द होता है, उसी तरह उस नरक में महान् शब्द सुनाई देता है और शब्दों में करुणामय शब्द सुनाई पड़ते हैं। मिथ्यात्व आदि कर्मों के उदय में वर्तमान परमाधार्मिक जिनका पापकर्म फल देने की अवस्था में उपस्थित है, ऐसे नारकी जीवों को बड़े उत्साह के साथ बार-बार पीड़ा देते हैं।

टीका - से शब्दोऽथशब्दार्थे, 'अथ' अनन्तरं तेषां नारकाणां नरकपालै रौद्रेः कदर्थ्यमानानां भयानको हाहारव-प्रचुर आक्रन्दनशब्दो नगरवध इव 'श्रूयते' समाकर्ण्यते, दुःखेन पीडयोपनीतानि-उच्चारितानि करुणाप्रधानानि यानि पदानि हा मातस्तात ! कष्टमनाथोऽहं शरणागतस्तव त्रायस्व मामित्येवमादीनां पदानां 'तत्र' नरके शब्दः श्रूयते, उदीर्णम्- उदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां ते तथा तेषां तथा 'उदीर्णकर्माणो' नरकपाला मिथ्यात्वहास्यरत्यादीनामुदये वर्तमानाः 'पुनः पुनः' बहुशस्ते 'सरहं (दुहे)ति' सरभसं-सोत्साहं नारकान् 'दुःखयन्ति' अत्यन्तमसह्यं नानाविधैरुपायै-र्दुःखमसातवेदनीयमुत्पादयन्तीति ॥१८॥ तथा -

टीकार्थ - 'से' शब्द अथ शब्द के अर्थ में आया है। इसके पश्चात् भयङ्कर परमाधार्मिकों के द्वारा पीड़ित किये जाते हुए उन नारकी जीवों को हाहाकार से भरा हुआ भयानक रोदन शब्द नगर के वध के समान सुनाई पड़ता है। तथा उस नरक में दुःख के साथ उच्चारण किये हुए करुणा प्रधान पद सुनाई पड़ते हैं। जैसे कि- हे मातः हे तात ! मैं अनाथ हूँ। मैं तुम्हारा शरणागत हूँ, तू मेरी रक्षा करो इत्यादि पदों का शब्द उस नरक में सुनाई पड़ता है। जिनका कटु फल देनेवाला कर्म उदय को प्राप्त है ऐसे नारकी जीवों को मिथ्यात्व, हास्य, और रति आदि के उदय में वर्तमान नरकपाल, बार-बार उत्साह के साथ नाना प्रकार के उपायों से अत्यन्त असह्य दुःख देते हैं ॥१८॥



पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।

दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहि पुराकएहिं

॥१९॥

छाया - प्राणेः पापा वियोजयन्ति, तद् भवद्भ्यः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।

दण्डैस्तत्र स्मरयन्ति बालाः सर्वैः दण्डैः पुराकृतैः ॥

अन्वयार्थ - (पाव) पापी नरकपाल (पाणेहि विओजयंति) नारकी जीवों के अज्ञों को काटकर अलग-अलग कर देते हैं (तं) इसका कारण (भे) आपको (जहातहेणं) ठीक-ठीक (पवक्खामि) मैं बताता हूँ (बाला) अज्ञानी नरकपाल (दंडेहिं) नारकी जीवों को दण्ड देकर (सव्वेहिं पुराकएहिं) उनके पूर्वकृत सब पापों को (सरयंति) स्मरण कराते हैं।

भावार्थ - पापी नरकपाल, नारकी जीवों के अङ्गों को काटकर अलग-अलग कर देते हैं। इसका कारण मैं आपको बताता हूँ। वे उन प्राणियों के द्वारा पूर्वजन्म में दिये हुए दूसरे प्राणियों के दण्ड के अनुसार ही दण्ड देकर उन्हें उनके पूर्वकृत कर्म की याद दिलाते हैं।

टीका - 'णमिति' वाक्यालङ्कारे, 'प्राणैः' शरीरेन्द्रियादिभिस्ते 'पापाः' पापकर्माणो नरकपाला 'वियोजयन्ति' शरीरावयवानां पाटनादिभिः प्रकारैर्विकर्तनादवयवान् विश्लेषयन्ति, किमर्थमेवं ते कुर्वन्तीत्याह- 'तद्' दुःखकारणं 'भे' युष्माकं 'प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन' अवितथं प्रतिपादयामीति, दण्डयन्ति-पीडामुत्पादयन्तीति दण्डा-दुःखविशेषास्तैर्नारका-णामापादितैः 'बाला' निर्विवेका नरकपालाः पूर्वकृतं स्मारयन्ति, तद्यथा-तदा हृष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्योत्कृत्य प्राणिनां मांसं तथा पिबसि तद्रसं मद्यं च गच्छसि परदारान्, साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीषीत्येवं सर्वैः पुराकृतैः 'दण्डैः' दुःखविशेषैः स्मारयन्तस्तादृशभूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ॥१९॥
किञ्च -

टीकार्थ - 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। पाप करनेवाले नरकपाल नारकी जीवों के अङ्गों को काटकर अलग-अलग कर देते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? सो इसका कारण मैं सत्य-सत्य बताता हूँ। विवेक रहित नरकपाल नारकी जीवों को नाना प्रकार का दण्ड देकर उनके पूर्वकृत कर्मों को स्मरण कराते हैं, जैसे कि तू बड़े हर्ष के साथ प्राणियों का मांस काट-काटकर खाता था तथा उनका रस पीता था एवं मद्यपान तथा परस्त्री सेवन करता था, अब उन्हीं कर्मों का फल दुःख भोगता हुआ तू क्यों इस प्रकार चिल्ला रहा है? इस प्रकार नरकपाल नारकी जीवों के द्वारा पूर्व जन्म में किये हुए दूसरे प्राणियों के सभी दण्डों को स्मरण कराते हुए उनके समान ही दुःख देकर उन्हें पीड़ा देते हैं ॥१९॥

ते हम्ममाणा णरगे पडन्ति, पुत्रे दुरूवस्स महाभितावे ।

ते तत्थ चिड्ढन्ति दुरूवभक्खी तुट्ठन्ति कम्मोवगया किमीहिं

॥२०॥

छाया - ते हम्ममाणा नरके पतन्ति, पूर्णे दुरूपस्य महाभितापे ।

ते तत्र तिष्ठन्ति दुरूपभक्षिणः, तुट्यन्ते कर्मोपगताः कृमिभिः ॥

अन्वयार्थ - (हम्ममाणा ते) परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव (महाभितावे) महान् कष्ट देनेवाले (दुरूवस्स पुत्रे) विष्ठा और मूत्र से पूर्ण (नरए) दूसरे नरक में (पतन्ति) गिरते हैं (ते तत्थ) वे वहाँ (दुरूवभक्खी) विष्ठा, मूत्र आदि का भक्षण करते हुए (चिड्ढन्ति) चिर काल तक निवास करते हैं (कम्मोवगया) और कर्म के वशीभूत होकर (कीमीहिं) कीड़ों के द्वारा (तुट्ठन्ति) काटे जाते हैं।

भावार्थ - नरकपालों के द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव, उन नरक से निकलकर दूसरे ऐसे नरक में कूदकर गिरते हैं, जो विष्ठा और मूत्र से पूर्ण है तथा वे वहाँ विष्ठा मूत्र का भक्षण करते हुए चिर काल तक रहते हैं और वहाँ कीड़ों के द्वारा काटे जाते हैं।

टीका - 'ते' वराका नारका 'हन्यमानाः' ताड्यमाना नरकपालेभ्यो नष्टा अन्यस्मिन् घोरतरे 'नरके' नरकैकदेशे 'पतन्ति गच्छन्ति, किंभूते नरके? - 'पूर्णे' भूते दुष्टं रूपं यस्य तद्दूरूपं-विष्ठासृग्मांसादिकल्भलं तस्य भूते तथा 'महाभितापे' अतिसन्तापोपेते 'ते' नारकाः स्वकर्मावबद्धाः 'तत्र' एवम्भूते नरके 'दुरूपभक्षिणः' अशुच्यादिभक्षकाः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति, तथा 'कृमिभिः' नरकपालापादितैः परस्परकृतैश्च 'स्वकर्मोपगताः' स्वकर्मदौकिताः 'तुट्यन्ते' व्यथ्यन्ते इति । तथा चागमः-

"छट्ठीसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया २पहु महंताई लोहिकुंथुरूवाइ विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समेतुरंगेमाणा समेतुरंगेमाणा अणुघायमाणा अणुघायमाणा चिड्ढन्ति" ॥२०॥ किञ्चान्यत् -

1. षष्ठसप्तम्योः पृथ्व्योर्नैरयिका अतिमहान्ति रक्तकुन्धुरुपाणि विकुर्व्य अन्योन्यस्य कायं अनुहन्यमानास्तिष्ठन्ति ॥ 2. बहू प्र० ।

3. समचउरंगे प्र० ।

टीकार्थ - वे बिचारे नारकी जीव, नरकपालों के द्वारा मारे जाते हुए दूसरे अत्यन्त घोर नरक में (नरक के एक देश में) जाते हैं। वह नरक कैसा है ? वह विष्टा, रक्त, और माँस आदि अपवित्र पदार्थों से भरा है तथा अत्यन्त सन्ताप से युक्त है, ऐसे नरक में अपने कर्म पाश में बँधे हुए नारकी जीव, अशुचि आदि पदार्थों का भक्षण करते हुए चिर काल तक निवास करते हैं। तथा वे नरकपालों के द्वारा उत्पन्न किये हुए कीड़ों के द्वारा और आपस में एक दूसरे के द्वारा प्रेरित कीड़ों के द्वारा अपने कर्म वशीभूत होकर काटे जाते हैं। इस विषय में आगम कहता है कि-

“छट्टी” इत्यादि, अर्थात् नारकी जीव, छट्टी और सातवीं नरक भूमि में अत्यन्त बड़ा रक्त का कुन्थु (कीड़ा) रूप बनाकर परस्पर एक दूसरे के शरीर का हनन करते हैं ॥२०॥



सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।

अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति

॥२१॥

छाया - सदा कृत्स्नं पुनर्घर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ।

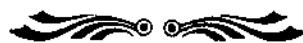
अब्दूषु प्रक्षिप्य विहृत्य देहं वेधेन शीर्षं तस्याभितापयन्ति ॥

अन्वयार्थ - (सया कसिणं पुण घम्मठाणं) नारकी जीवों के रहने का सम्पूर्ण स्थान सदा उष्ण प्रथम तृतीय नरक तक होता है (गाढोवणीयं) और वह स्थान (निधत्त निकाचित रूप कर्मों के द्वारा) नारकी जीवों को प्राप्त हुआ है। (अतिदुक्खधम्मं) अत्यन्त दुःख देना उस स्थान का धर्म है। (अंदूसु पक्खिप्प) नरकपाल नारकी जीवों के शरीर को बेड़ी में डालकर (देहं विहत्तु) तथा उनके मस्तक में (वेहेन) छिद्र करके (अभितावयंति) पीड़ित करते हैं।

भावार्थ - नारकी जीवों के रहने का स्थान तृतीय नरक तक सम्पूर्ण सदा गरम रहता है। वह स्थान निधत्त निकाचित आदि कर्मों के द्वारा नारकी जीवों ने प्राप्त किया है। उस स्थान का स्वभाव अत्यन्त दुःख देना है। उस स्थान में नारकी जीवों के शरीर को तोड़ मरोड़कर तथा उनको बेड़ी बन्धन में डाल एवं उनके शिर में छिद्र करके नरकपाल उन्हें पीड़ित करते हैं।

टीका - ‘सदा’ सर्वकालं ‘कृत्स्नं’ संपूर्ण पुनः तत्र नरके ‘घर्मप्रधानं’ उष्णप्रधानं स्थितिः-स्थानं नारकाणां भवति, तत्र हि प्रलयातिरिक्ताग्निना वातादीनामत्यन्तोष्णरूपत्वात्, तच्च दृढैः-निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिनारकाणाम् ‘उपनीतं’ ढौकितं, पुनरपि विशिनष्टि-अतीव दुःखम्-असातावेदनीयं धर्मः-स्वभावो यस्य तत्तथा तस्मिंश्चैवंविधे स्थाने स्थितोऽसुमान् ‘अब्दूषु’ निगडेषु देहं विहृत्य प्रक्षिप्य च तथा शिरश्च ‘से’ तस्य नारकस्य ‘वेधेन’ रन्ध्रोत्पादनेनाभितापयन्ति कीलकैश्च सर्वाण्यप्यङ्गानि वितत्य चर्मवत् कीलयन्ति इति ॥२१॥ अपि च-

टीकार्थ - नारकी जीवों के रहने का स्थान तृतीय नरक तक सदा उष्णप्रधान होता है। वहाँ प्रलयकाल की अग्नि से भी ज्यादा वायु आदि गर्म होते हैं, वह नरक का स्थान, निधत्त और निकाचित अवस्थावाले कर्मों के द्वारा नारकी जीवों को प्राप्त हुआ है। फिर भी नरक की विशेषता बतलाते हैं, वह नरक स्थान अत्यन्त दुःख यानी असाता वेदनीय स्वभाववाला है। ऐसे नरक स्थान में स्थित प्राणियों के देह को तोड़ मरोड़कर बेड़ी में डालकर उसके शिर में छिद्र करके नरकपाल पीड़ा देते हैं। तथा उस जीव के अङ्गों को फैलाकर उनमें इस प्रकार कील ठोकते हैं, जैसे चमड़े को फैलाकर उसमें कील ठोकते हैं ॥२१॥



छिंदन्ति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठेवि छिंदन्ति दुवेवि कण्णे ।

जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं, तिक्खाहिं सूलाहिऽभितावयंति

॥२२॥

छाया- छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नासिकामोष्ठौ च छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ ।

जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रां तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति ॥

अन्वयार्थ - (बालस्स) निर्विवेकी नारकी जीव की (नङ्गं) नासिका को नरकपाल (खुरेण) उस्तरे से (छिदति) काट लेते हैं । (उद्धेवि) तथा उनके ओष्ठ (दुवेवि कण्णे) और दोनों कान (छिदति) काट लेते हैं (विहत्थिमित्तं) तथा बीत्ताभर (जिब्बं) जीभ को (विणिक्कस्स) बाहर खींचकर (तिक्खाहि सूलाहिं) उसमें तीक्ष्ण शूल चूभोकर (अभितापयन्ति) ताप देते हैं ।

भावार्थ - नरकपाल, निर्विवेकी नारकी जीवों की नासिका, ओष्ठ और दोनों कान तीक्ष्ण उस्तरे से काट लेते हैं तथा उनकी जीभ को एक बीत्ता [बारह अंगुल] बाहर खींचकर उसमें तीक्ष्ण शूल चूभोकर पीड़ा देते हैं ।

टीका - ते परमाधार्मिकाः पूर्वदुश्चरितानि स्मारयित्वा 'बालस्य' अज्ञस्य-निर्विवेकस्य प्रायशः सर्वदा वेदनासमुद्-घोतोपगतस्य क्षुरप्रेण नासिकां छिन्दन्ति, तथौष्ठावपि द्वावपि कर्णौ छिन्दन्ति, तथा मद्यमांसरसाभिलिप्सोर्मृषाभाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिः 'अभितापयन्ति अपनयन्ति इति ॥२२॥ तथा -

टीकार्थ - वे परमाधार्मिक, पूर्व जन्म के पापों को स्मरण करा कर प्रायः सदा वेदना से युक्त निर्विवेकी नारकी जीव की नासिका को अस्तुरे से काट लेते हैं तथा उनके ओष्ठ और दोनों कान काट लेते हैं । तथा मद्य मांस और रस के लम्पट और मिथ्या भाषण करनेवाले जीव की जिह्वा को एक बीत्ता [बारह अंगुल] बाहर निकालकर उसे तीक्ष्ण शूल के द्वारा वेध करते हुए पीड़ा देते हैं ॥२२॥



ते तिप्पमाणा तलसंपुडंव, राईदियं तत्थ थणंति बाला ।

गलंति ते सोणिअपूयमंसं, पज्जोइया खारपइद्धियंगा

॥२३॥

छाया - ते तिप्पमाणास्तालसंपुटा इव रात्रिदिवं तत्र स्तमन्ति बालाः ।

गलन्ति ते शोणितपूयमांसं प्रघोतिताः क्षारप्रदिग्धाङ्गाः ॥

अन्वयार्थ - (तिप्पमाणा) जिनके अङ्गों से रक्त टपक रहा है, ऐसे (ते) वे नारकी (बाला) अज्ञानी (तलसंपुडंव) सूखे हुए ताल के पत्ते के समान (राईदियं) रात दिन (तत्थ) उस नरक में (थणंति) रोते रहते हैं (पज्जोइया) आग में जलाये जाते हुए (खारपइद्धियंगा) तथा अङ्गों में खार लगाये हुए (सोणिअपूयमंसं) रक्त, पीब और मांस (गलंति) अपने अङ्गों से गिराते रहते हैं ।

भावार्थ - वे अज्ञानी नारकी जीव अपने अङ्गों से रुधिर टपकाते हुए सूखे हुए तालपत्र के समान रात-दिन शब्द करते रहते हैं । तथा आग में जलाकर पीछे से अङ्गों में खार लगाये गये हुए वे नारकी जीव रक्त, पीब और मांस का स्राव करते रहते हैं ।

टीका - 'ते' छिन्ननासिकोष्ठजिह्वाः सन्तः शोणितं 'तिप्पमाणाः' क्षरन्तो यत्र-यस्मिन् प्रदेशे रात्रिदिनं गमयन्ति, तत्र 'बाला' अज्ञाः 'तालसम्पुटा इव' पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचया इव सदा 'स्तनन्ति' दीर्घविस्वरमाक्रन्दन्तस्तिष्ठन्ति तथा 'प्रघोतिता' वह्निना ज्वलिताः तथा क्षारेण प्रदिग्धाङ्गाः शोणितं पूयं मांसं चाहर्निशं गलन्तीति ॥२३॥ किञ्च-

टीकार्थ - जिनके नाक, ओष्ठ और जिह्वा काट लिये गये हैं, ऐसे वे नारकी जीव, रक्त का स्राव करते हुए जिस स्थान में रात-दिन व्यतीत करते हैं, वहाँ वे अज्ञानी पवन प्रेरित सूखे तालपत्र के समान सदा जोर-जोर से रोते रहते हैं । तथा वे आग में जलाये और अङ्गों में खार लगाये हुए रात-दिन अपने अङ्गों से रक्त पीब और मांस का स्राव करते रहते हैं ॥२३॥



जइ ते सुता लोहितपूअपाई, बालागणीतेअगुणा परेणं ।

कुंभी महंताहियपोरसीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा

॥२४॥

छाया - यदि ते श्रुता लोहितपूयपाचिनी बालाग्निना तेजोगुणा परेण ।

कुम्भीमहत्त्वधिकपौरुषीया समुच्छ्रिता लोहितपूयपूर्णा ॥

अन्वयार्थ - (लोहितपूयपाई) रक्त और पीब को पकानेवाली (बालाग्नी तेजोगुणा परेण) नवीन अग्नि के ताप के समान जिसका गुण है अर्थात् जो अत्यन्त तापयुक्त है (महता) बहुत बड़ी (अहियपौरुसीया) तथा पुरुष प्रमाण से अधिक प्रमाणवाली (लोहितपूयपुष्णा) रक्त और पीब से भरी हुई (समूषिता) ऊँची (कुम्भी जइ ते सुता) कुम्भी नामक नरक भूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी ।

भावार्थ - रक्त और पीब को पकानेवाली तथा नवीन अग्नि के तेज से युक्त होने के कारण अत्यन्त तापयुक्त एवं पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाणवाली, रक्त और पीब से भरी हुई कुम्भी नामक नरकभूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी ।

टीका - पुनरपि सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति यदि 'ते' त्वया 'श्रुता' - आकर्णिता लोहितं-रुधिरं पूयं-रुधिरमेव पक्वं ते द्वे अपि पक्तुं शीलं यस्यां सा लोहितपूयपाचिनी-कुम्भी, तामेव विशिनष्टि- 'बालः' अभिनवः प्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजः-अभितापः स एव गुणो यस्याः सा बालाग्नितेजोगुणा 'परेण' प्रकर्षेण तप्तेत्यर्थः, पुनरपि तस्या एव विशेषणं 'महती' बृहत्तरा अहियपौरुसीयेति पुरुषप्रमाणाधिका 'समुच्छ्रिता' उष्ट्रिकाकृतिरूर्ध्वं व्यवस्थिता लोहितेन पूयेन च पूर्णा, सैवम्भूता कुम्भी समन्ततोऽग्निना प्रज्वलिताऽतीव बीभत्सदर्शनेति ॥२४॥

टीकार्थ - फिर सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से भगवान् का वचन कहते हैं- रक्त और पीब इन दोनों को पकाना जिसका स्वभाव है ऐसी कुम्भी नामक नरक भूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी । उसी कुम्भी की विशेषता बताते हुए कहते हैं - नवीन अग्नि का जो तेज अर्थात् ताप है, वही उस कुम्भी का गुण है अर्थात् वह कुम्भी अत्यन्त ताप को धारण करती है । फिर भी उसी कुम्भी का विशेषण बतलाते हैं - वह कुम्भी बहुत बड़ी है । वह पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाणवाली है । वह ऊँट के समान आकारवाली ऊँची है । वह रक्त और पीब से भरी हुई है । ऐसी वह कुम्भी चारों तरफ आग से जलती हुई है और देखने में बड़ी घृणास्पद है ॥२४॥



- तासु च यत् क्रियते तद्दर्शयितुमाह -

- उन कुम्भियों में जो किया जाता है, वह दिखाने के लिए कहते हैं-

पक्खिप्प तासुं पययंति बाले, अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते ।

तण्हाइया ते तउतंबतत्तं, पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति

॥२५॥

छाया - प्रक्षिप्य तासु प्रपचन्ति बालान्, आर्त्तस्वरान् ताम् करुणं रसतः ।

तृष्णादितास्ते त्रपुताम्रतप्तं, पाय्यमाना आर्त्तस्वरं रसन्ति ॥

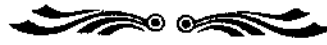
अन्वयार्थ - (तासु) रक्त और पीब से भरी हुई उस कुम्भी में (बाले) अज्ञानी (अट्टस्सरे) आर्त्तनाद करते हुए (कलुणं रसंते) और करुण रोदन करते हुए नारकी जीवों को (पक्खिप्प) डालकर (पययंति) नरकपाल पकाते हैं (तण्हाइया) प्यास से व्याकुल (ते) वे नारकी जीव नरकपालों के द्वारा (तउतंबतत्तं) गरम सीसा और तौबा (पज्जिज्जमाणा) पिलाये जाते हुए (अट्टतरं रसंति) आर्त्तस्वर से रोदन करते हैं ।

भावार्थ - परमाधार्मिक, आर्त्तनादपूर्वक करुणक्रन्दन करते हुए अज्ञानी नारकी जीवों को रक्त और पीब से भरी हुई कुम्भी में डालकर पकाते हैं तथा प्यासे हुए उन बिचारों को सीसा और तौबा गलाकर पिलाते हैं, इस कारण वे नारकी जीव और ज्यादा रोदन करते हैं ।

टीका - 'तासु' प्रत्यग्राग्निप्रदीप्तासु लोहितपूयशरीरावयवकिल्बिषपूर्णासु दुर्गन्धासु च 'बालान्' नारकांस्त्राणरहितान् आर्त्तस्वरान् करुणं-दीनं रसतः प्रक्षिप्य प्रपचन्ति, 'ते च' नारकास्तथा कदर्थ्यमाना विरसमाक्रन्दन्तस्तृडार्ताः सलिलं प्रार्थयन्तो मद्यं ते अतीव प्रियमासीदित्येवं स्मारयित्वा तप्तं त्रपु पाय्यन्ते, ते च तप्तं त्रपु पाय्यमाना आर्त्ततरं 'रसन्ति' रारटन्तीति ॥२५॥

टीकार्थ - नवीन अग्नि के तेज के समान जलती हुई तथा रक्त, पीब और शरीर के अवयव तथा अशुचि-

पदार्थों से भरी हुई दुर्गन्ध उस कुम्भी में रक्षक रहित तथा आर्त्तनाद पूर्वक करुण रोदन करते हुए अज्ञानी नारकी जीवों को डालकर नरकपाल पकाते हैं । वे नारकी जीव उस प्रकार पीड़ित किये जाते हुए बुरी तरह रोते हैं । वे प्यास से पीड़ित होकर जब पानी माँगते हैं तब नरकपाल यह स्मरण कराते हुए कि- “तुमको मद्य बहुत प्रिय था” तपाया हुआ सीसा और ताँबा पीलाते हैं, उन्हें पीते हुए वे बहुत जोर से आर्त्तनाद करते हैं ॥२५॥



- उद्देशकार्थोपसंहारार्थमाह -

- अब शास्त्रकार इस उद्देशक के अर्थ को समाप्त करते हुए कहते हैं -

अप्येण अप्यं इह वंचयित्ता, भवाहमे पुव्वं सतसहस्से ।

चिद्धन्ति तत्था बहुकूरकम्मा, जहा कडं कम्म तहासि भारे

॥२६॥

छाया - आत्मनाऽऽत्मानमिह वञ्चयित्वा भवाधमान् पूर्व शतसहस्रशः ।

तिष्ठन्ति तत्र बहुकूरकर्माणः, यथाकृतं कर्म तथाऽस्य भाराः ॥

अन्वयार्थ - (इह) इस मनुष्य भव में (अप्येण अप्यं वंचयित्ता) अपने आप ही अपने को वञ्चित करके (पुव्व सतसहस्से भवाहमे) तथा पूर्व जन्म में सैकड़ों और हजारों बार लुब्धक आदि अधम भव को प्राप्त करके (बहुकूरकम्मा तथा चिद्धन्ति) बहुकूर कर्मी जीव उस नरक में रहते हैं (जहा कडं कम्म तहा सि भारे) पूर्व जन्म में जैसा कर्म जिसने किया है, उसके अनुसार ही उसे पीड़ा प्राप्त होती है ।

भावार्थ - इस मनुष्य भव में थोड़े सुख के लोभ से अपने को जो वञ्चित करते हैं, वे सैकड़ों और हजारों बार लुब्धक आदि नीच योनियों का भव प्राप्त करके नरक में निवास करते हैं । जिसने पूर्वजन्म में जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उसे पीड़ा प्राप्त होती है ।

टीका - ‘अप्येण’ इत्यादि, ‘इह’ अस्मिन्मनुष्यभवे ‘आत्मना’ परवञ्चनप्रवृत्तेन स्वत एव परमार्थत आत्मानं वञ्चयित्वा ‘अल्पेन’ स्तोकेन परोपघातसुखेनात्मानं वञ्चयित्वा बहुशो भवानां मध्ये अधमा भवाधमाः-मत्स्यबन्धलुब्ध-कादीनां भवास्तान् पूर्वजन्मसु शतसहस्रशः समनुभूय तेषु भवेषु विषयोन्मुखतया सुकृतपराङ्मुखत्वेन चावाप्य महाघोरातिदारुणं नरकावासं ‘तत्र’ तस्मिन्मनुष्याः ‘कूरकर्माणः’ परस्परतो दुःखमुदीरयन्तः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति, अत्र कारणमाह- ‘यथा’ पूर्वजन्मसु यादृग्भूतेनाध्यवसायेन जघन्यजघन्यतरादिना कृतानि कर्माणि ‘तथा’ तेनैव प्रकारेण ‘से’ तस्य नारकजन्तोः ‘भारा’ वेदनाः प्रादुर्भवन्ति स्वतः परत उभयतो वेति, तथाहि- मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निना प्रताप्य भक्ष्यन्ते, तथा मांसरसपायिनो निजपूयरुधिराणि तप्तपूणि च पाय्यन्ते, तथा मत्स्यघातकलुब्धकादयस्तथैव छिद्यन्ते भिद्यन्ते यावन्मर्यन्त इति, तथाऽनृतभाषिणां तत्स्मारयित्वा जिह्वाश्चेच्छिद्यन्ते, (ग्रन्थाग्रम् ४०००) तथा पूर्वजन्मनि परकीयद्रव्यापहरिणामङ्गोपाङ्गान्यपह्रियन्ते तथा पारदारिकाणां वृषणच्छेदः शाल्मल्युपगूहनादि च ते कार्यन्ते एवं महापरिग्रहारम्भवतां क्रोधमानमायालोभिनां च जन्मान्तरस्वकृतक्रोधादिदुष्कृतस्मारणेन तादृग्विधमेव दुःखमुत्पाद्यते, इतिकृत्वा सुष्ठूच्यते यथा वृत्तं कर्म तादृग्भूत एव तेषां तत्कर्मविपाकापादितो भार इति ॥२६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - इस मनुष्यभवे में जो जीव दूसरे को वञ्चन करने में प्रवृत्त रहता है, वह वस्तुतः अपने आत्मा को ही वञ्चित करता है । वह दूसरे प्राणी का घातरूप अल्प सुख के लोभ से अपने आत्मा को वञ्चित करके बहुत भव करता हुआ सैकड़ों और हजारों बार मच्छली पकड़नेवाले मल्लाह आदि तथा मृगवध करनेवाले व्याध आदि अधम जाति में जन्म लेता है । उन जन्मों में वह विषयलम्पट तथा पुण्य से विमुख होकर महाघोर और अति दारुण नरकस्थान को प्राप्त करता है । नरक में रहनेवाले कूरकर्मी जीव परस्पर एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हुए चिरकाल तक निवास करते हैं । इसका कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं- जिस जीव ने पूर्व जन्म में जैसे अध्यवसाय से नीच और उससे भी नीच कर्म किये हैं, उसी प्रकार की वेदना उस जीव को प्राप्त होती है । वह वेदना अपने आप भी होती है तथा दूसरे के द्वारा भी होती है और दोनों से भी होती है । जो पूर्व जन्म में माँसाहारी थे, उनको उनका ही माँस आग में पकाकर खिलाया जाता है तथा जो पूर्वजन्म में माँस का रस पीते

थे, उनको उनका ही पीब और रक्त पिलाया जाता है अथवा उन्हें गलाया हुआ सीसा पिलाया जाता है । तथा पूर्वजन्म के मत्स्यघाती और लुब्धक आदि जैसे वे मच्छली और मृग आदि का घात करते थे, उसी तरह काटे जाते हैं और मारे जाते हैं। तथा जो मिथ्याभाषण करते थे, उन्हें मिथ्याभाषण का स्मरण कराकर उनकी जिह्वा काट ली जाती है । जो पूर्वजन्म में दूसरे का द्रव्य हरण करते थे, उनके अङ्ग और उपाङ्ग काट लिये जाते हैं, जो परस्त्री का सेवन करते थे, उनका अण्डकोश काट लिया जाता है तथा उन्हें शाल्मलि वृक्ष का आलिङ्गन कराया जाता है । इसी तरह जो महारम्भी और महापरिग्रही एवं क्रोध, मान, माया से युक्त और महापरिग्रही थे, उनको उनके जन्मान्तर के क्रोध आदि को स्मरण कराकर उसी तरह का दुःख दिया जाता है, अतः शास्त्रकार ने यह ठीक ही कहा है कि- जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उसे दुःख की प्राप्ति होती है ॥२६॥



समज्जिगित्ता कलुसं अणज्जा, इड्ढेहि कंतेहि य विप्पहूणा ।

ते दुब्धिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति । त्ति बेमि ॥२७॥

त्तिबेमि ॥ इति निरयविभक्तिं पठमो उद्देशो समप्तो ॥ (गाथाग्रं ३३६)

छाया - समर्ज्य कलुषमनाव्या इष्टैः काव्यैश्च विप्रहीनाः ।

ते दुरभिगन्धे कृत्स्नेऽस्पर्शे कर्मोपगताः कुणिमे आवसन्तीति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ - (अणज्जा) अनार्य्य पुरुष (कलुसं समज्जिगित्ता) पाप उपार्जन करके (इड्ढेहि कंतेहि य विप्पहूणा) इष्ट और प्रिय से रहित होकर (दुब्धिगंधे) दुर्गन्ध से भरे (कसिणे य फासे) अशुभ स्पर्शवाले (कुणिमे) मांस रुधिरादिपूर्ण नरक में (कम्मोवगा) कर्मवशीभूत होकर (आवसंति) निवास करते हैं ।

भावार्थ - अनार्य्य पुरुष पाप उपार्जन करके इष्ट और प्रिय से रहित दुर्गन्ध भरे अशुभ स्पर्शवाले मांस रुधिरादि पूर्ण नरक में कर्म वशीभूत होकर निवास करते हैं ।

टीका - अनार्या अनार्यकर्मकारित्वाद्धिसानृतस्तेयादिभिराश्रवद्वारैः 'कलुषं' पापं 'समर्ज्य' अशुभकर्मोपचयं कृत्वा 'ते' क्रूरकर्माणो 'दुरभिगन्धे' नरके आवसन्तीति संतुङ्कः, किम्भूताः ?- 'इष्टैः' शब्दाभिर्विषयैः 'कमनीयैः' कान्तैर्विविधं प्रकर्षेण हीना विप्रमुक्ता नरके वसन्ति, यदिवा-यदर्थं कलुषं समर्जयन्ति तैर्मातापुत्रकलत्रादिभिः कान्तैश्च विषयैर्विप्रमुक्ता एकाकिनस्ते 'दुरभिगन्धे' कुथितकलेवरातिशायिनि नरके 'कृत्स्ने' संपूर्णेऽत्यन्ताशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनीये-ऽशुभकर्मोपगताः 'कुणिमे' त्ति मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिफिसकश्मलाकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दबधिरितिदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे आ-समन्तादुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्यस्यां वा नरकपृथिव्यां यावदायुस्तावद् 'वसन्ति' तिष्ठन्ति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२७॥ इति नरकविभक्तेः प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥

टीकाथ - अनार्य्य पुरुष अनार्य्य कर्म का सेवन करनेवाले हैं, इसलिए वे हिंसा, झूठ और चोरी आदि आश्रवों का सेवन करके अशुभ कर्म की वृद्धि करते हैं, ऐसा करके वे क्रूर कर्मी जीव, दुर्गन्ध युक्त नरक में निवास करते हैं, वे नारकी जीव कैसे हैं ? सो बताते हैं - वे, इष्ट शब्दादि विषय तथा प्रिय पदार्थों से हीन होकर नरक में निवास करते हैं । अथवा वे जीव, जिस माता, पिता, पुत्र और स्त्री के लिए पाप का उपार्जन करते हैं, उनसे रहित होकर अकेले सड़े हुए मूर्दे से भी ज्यादा बदबूदार तथा जिसका स्पर्श अत्यन्त उद्वेग जनक है । तथा जो मांस, चर्बी, रक्त, पीब, फेफसे आदि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ अत्यन्त घृणास्पद है एवं हाहाकार के शब्द से जो दिशाओं को बहरा बनानेवाला है, ऐसे अति नीच नरक में उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम काल की आयु से निवास करते हैं । इति शब्द समाप्ति अर्थ में है । ब्रवीमि पूर्ववत् ॥२७॥

यह नरक विभक्ति का प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।



अथ पञ्चमाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः प्रारम्भ्यते ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय समारम्भ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके यैः कर्मभिर्जन्तवो नरकेषूत्पद्यन्ते यादृगवस्थाश्च भवन्त्येतत्प्रतिपादितम्, इहापि विशिष्टतरं तदेव प्रतिपाद्यते, इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्यो-द्देशकस्य सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

अब पांचवें अध्ययन का दूसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है- प्रथम उद्देशक कहा जा चुका अब दूसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है । इसका सम्बन्ध यह है, पहले उद्देशक में प्राणिवर्ग जिन कर्मों के अनुष्ठान से नरक में उत्पन्न होते हैं और वहाँ उनकी जो दशा होती है, सो कहा गया है, अब इस उद्देशक में भी वही बात विशेषरूप से बताई जाती है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस उद्देशक के सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है -

अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।

बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदंति कम्माइं पुरेकडाइं

॥१॥

छाया - अथापरं शाश्वतदुःखधर्मं, तं भवतां प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।

बाला यथा दुष्कृतकर्मकारिणो, वेदयन्ति कर्माणि पुराकृतानि ॥

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् (सासयदुक्खधम्मं) निरन्तर दुःख देना जिसका धर्म है ऐसे (अवरं) दूसरे (तं) नरक के विषय में (भे) आपको (जहातहेणं) ठीक-ठीक (पवक्खामि) मैं कहूँगा (जहा) जिस प्रकार (दुक्कडकम्मकारी) पापकर्म करनेवाले (बाला) अज्ञानी जीव (पुरेकडाइं कम्माइं वेदंति) पूर्वजन्म में किये हुए अपने कर्मों का फल भोगते हैं ।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्य वर्ग से कहते हैं कि अब मैं निरन्तर दुःख देनेवाले दूसरे नरक के विषय में आपको ठीक-ठीक उपदेश करूँगा । पापकर्म करनेवाले प्राणिगण जिस प्रकार अपने पाप का फल भोगते हैं सो बताऊँगा ।

टीका - 'अथ' इत्यानन्तर्ये 'अपरम्' इत्युक्तादन्यद्वक्ष्यामीत्युत्तरेण सम्बन्धः, शश्वद्वतीति शाश्वतं-यावदायुस्तच्च तददुःखं च शाश्वतदुःखं तद्धर्मः-स्वभावो यस्मिन् यस्य वा नरकस्य स तथा तम्, एवम्भूतं नित्यदुःखस्वभावमक्षिनिमेषमपि कालमविद्यमानसुखलेशं 'याथातथ्येन' यथा व्यवस्थितं तथैव कथयामि, नात्रोपचारोऽर्थवादो वा विद्यत इत्यर्थः, 'बालाः' परमार्थमजानाना विषयसुखलिप्सवः साम्प्रतेक्षिणः कर्मविपाकमनपेक्षमाणा 'यथा' येन प्रकारेण दुष्टं कृतं दुष्कृतं तदेव कर्म-अनुष्ठानं तेन वा दुष्कृतेन कर्म-ज्ञानावरणादिकं तददुष्कृतकर्म तत्कर्तुं शीलं येषां ते दुष्कृतकर्मकारिणः त एवम्भूताः 'पुराकृतानि' जन्मान्तरार्जितानि कर्माणि यथा वेदयन्ति तथा कथयिष्यामीति ॥१॥

टीकार्थ - अथ शब्द आनन्तर्य अर्थात् इसके पश्चात् इस अर्थ में आया है । जो बातें पहले बतायी जा चुकी हैं, उनसे दूसरी बातें अब मैं बताऊँगा, यह आगे से सम्बन्ध मिला लेना चाहिए । जो शश्वत् अर्थात् आयु रहने तक होता है, उसे शाश्वत दुःखधर्म कहते हैं । जो आयुभर दुःख देता है, ऐसा जिसका स्वभाव है, ऐसे नरक को शाश्वत दुःखधर्म कहते हैं । वह नरक सदा प्राणियों को दुःख देता रहता है, उसमें एक पलभर भी सुख का लेश भी नहीं मिलता है । ऐसे नरक को, जैसा वह है वैसा ही कहूँगा । किसी प्रकार का आरोप अथवा घटा बढ़ाकर नहीं, जो पुरुष बाल अर्थात् परमार्थ को नहीं देखते हैं तथा कर्म के फल का विचार नहीं करके पापकर्म करते हैं अथवा बुरे अनुष्ठान के द्वारा ज्ञानावरणीयादि कर्मों का सेवन करते हैं, वे पापी जीव, पूर्व जन्मोपार्जित दुःख का फल जिस प्रकार नरक में भोगते हैं, उसी प्रकार मैं कहूँगा ॥१॥

- यथाप्रतिज्ञातमाह -

- पूर्व गाथा में जो प्रतिज्ञा की गयी है, उसके अनुसार वर्णन करते हैं -

हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं ।

गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं, वद्धं थिरं पिड्डतो उद्धरंति

॥२॥

छाया - हस्तेषु पादेषु च बद्ध्वा, उदरं विकर्तयन्ति क्षुरप्रासिभिः ।

गृहित्वा बालस्य विहतं देहं वर्धं स्थिरं पिष्ठत उद्धरन्ति ॥

अन्वयार्थ - (हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं) परमाधार्मिक नारकी जीवों के हाथ पैर बाँधकर (खुरासिएहिं) उस्तेरा और तलवार के द्वारा (उदरं विकर्तंति) उनका पेट फाड़ देते हैं (बालस्स) तथा अज्ञानी नारकी जीव की (विहत्तु देहं) लाठी आदि के प्रहार से अनेक प्रकार से ताड़न की हुई देह को (गिण्हित्तु) ग्रहण करके (वद्धं) चमड़े को (थिरं) बलात्कारपूर्वक (पिड्डतो) पीठ से (उद्धरंति) खींच लेते हैं ।

भावार्थ - परमाधार्मिक, नारकी जीवों के हाथ, पैर बाँधकर उस्तेरा और तलवार आदि से उनका पेट फाड़ देते हैं । तथा अज्ञानी नारकी जीव की देह को लाठी आदि के प्रहार से चूर-चूर करके फिर उसे पकड़कर उसके पीठ की चमड़ी उखाड़ लेते हैं ।

टीका - परमाधार्मिकास्तथाविधकर्मोदयात् क्रीडायमानाः तान्नारकान् हस्तेषु पादेषु बद्धोदरं 'क्षुरप्रासिभिः' नानाविधैरायुधविशेषैः 'विकर्तयन्ति' विदारयन्ति, तथा परस्य बालस्येवाकिञ्चित्करत्वाद्बालस्य लकुटादिभिर्विविधं 'हतं' पीडितं देहं गृहीत्वा 'वर्धं' चर्मशकलं 'स्थिरं' बलवत् 'पिष्ठतः' पृष्ठिदेशे 'उद्धरन्ति' विकर्तयन्त्येवमग्रतः पार्श्वतश्चेति ॥२॥ अपि च-

टीकार्थ - उस प्रकार के कर्म के उदय होने से दूसरे को दुःख देने में हर्षित होनेवाले परमाधार्मिक उन नारकी जीवों के हाथ, पैर बाँधकर तीक्ष्ण उस्तेरा और तलवार आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों से उनका पेट फाड़ देते हैं । तथा जो बालक के समान कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसे दूसरे नारकी जीवों के शरीर को लाठी आदि के द्वारा विविध प्रकार से हनन करके पश्चात् उसे पकड़कर बलात्कार से उसके पीठ का चमड़ा खींच लेते हैं । इसी तरह पार्श्व भाग तथा अग्रभाग का चमड़ा भी खींच लेते हैं ॥२॥



बाहू पकत्तंति^१ य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति ।

रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिडे

॥३॥

छाया - बाहून् प्रकर्तयन्ति समूलस्तस्य, स्थूलं विकाशं मुखे आदहन्ति ।

रहंसि युक्तं स्मारयन्ति बालमारुष्य विध्यन्ति तुदेण पृष्ठे ॥

अन्वयार्थ - (से बाहू) नरकपाल, नारकी जीव की भुजा को (मूलतो) जड़ से (पकत्तंति) काट लेते हैं (मुहे वियासं) तथा उनका मुख फाड़कर (थूलं) जलते हुए लोह के बड़े-बड़े गोले डालकर (आडहंति) जलाते हैं (रहंसि) तथा एकान्त में (जुत्तं) उनके जन्मान्तर के कर्म को (सरयंति) स्मरण कराते हैं (आरुस्स) तथा बिना कारण ही कोप करके (तुदेण) चाबुक से (पिडे) पीठ में (विज्झंति) ताड़न करते हैं ।

भावार्थ - नरकपाल, नारकी जीव की भुजा को जड़ से काट लेते हैं तथा उनका मुख फाड़कर उसमें तप्तलोह का गोला डालकर जलाते हैं । एवं एकान्त में ले जाकर उनके पूर्वकृत कर्म को याद कराते हैं तथा बिना कारण कोप करके चाबुक से उनकी पीठ पर मारते हैं ।

टीका - 'से' तस्य नारकस्य तिसृषु नरकपृथिवीषु परमाधार्मिका अपरनारकाश्च अधस्तनचतसृषु चापरनारका एव मूलत आरभ्य बाहून् 'प्रकर्तयन्ति' छिन्दन्ति तथा 'मुखे' विकाशं कृत्वा 'स्थूलं' बृहत्तमायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आ-

१. पकर्षन्ति समू० प्र० ।

समन्ताद्दहन्ति । तथा 'रहसि' एकाकिनं 'युक्तम्' उपपन्नं युक्तियुक्तं स्वकृतवेदनानुरूपं तत्कृतजन्मान्तरानुष्ठानं तं 'बालम्' अज्ञं नारकं स्मारयन्ति, तद्यथा- तसत्रपुपानावसरे मद्यपस्त्वमासीस्तथा स्वमांसभक्षणावसरे पिशिताशी त्वमासीरित्येवं दुःखानुरूपमनुष्ठानं स्मारयन्तः कदर्थयन्ति, तथा-निष्कारणमेव 'आरूढ्य' कोपं कृत्वा प्रतोदादिना पृष्ठदेशे तं नारकं परवशं विध्यन्तीति ॥३॥ तथा -

टीकार्थ - तीन नरक भूमियों में परमाधार्मिक और दूसरे नारकी जीव तथा नीचे की चार नरक भूमियों में रहनेवाले दूसरे नारकी जीव नारकी जीवों की भुजा को जड़ से काट लेते हैं, तथा मुख फाड़कर उसमें तप्त लोह का बड़ा गोला डालकर जलाते हैं, तथा एकान्त में उन नारकीओं को ले जाकर अपने द्वारा दी जाती हुई वेदना के अनुरूप उनके द्वारा किये हुए दूसरे जन्मों के कर्मों को उन अज्ञानी नारकीओं को स्मरण कराते हैं । जैसे कि- गरम सीसा पीलाते समय वे कहते हैं कि- तुम खूब मद्य पीते थे, तथा उनके शरीर के मांस को खिलाते समय कहते हैं कि तुम खूब मांस खाते थे, इस प्रकार दुःख के अनुरूप उनके कर्म को स्मरण कराते हुए उनको पीड़ा देते हैं । तथा बिना कारण ही क्रोध करके चाबुक आदि के द्वारा परवश नारकी जीव को वे पीठ में ताड़न करते हैं ॥३॥



अयं व तत्तं जलियं सजोइ, तऊवमं भूमिमणुक्कमंता ।

ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता

॥४॥

छाया - अय इव ज्वलितां सज्योतिस्तदुपमां भूमिमणुक्कामन्तः ।

ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति इषुचोदितास्तप्युगेषु युक्ताः ॥

अन्वयार्थ - (अयं) तप्त लोह के गोले के समान (सजोइ) ज्योति सहित (जलियं) जलती हुई (तत्तं) तप्त भूमि की (तऊवमं) उपमा योग्य (भूमि) भूमि में (अणुक्कमंता) चलते हुए (ते) वे नारकी जीव (डज्झमाणा) जलते हुए (कलुणं थणंति) करुण रुदन करते हैं (उसुचोइया) तथा प्रतोद से मारकर प्रेरित किये हुए (तत्तजुगेसु जुत्ता) तथा तप्त जुए में जोड़े हुए वे करुण रुदन करते हैं ।

भावार्थ - तप्त लोह के गोले के समान जलती हुई ज्योति सहित भूमि में चलते हुए नारकी जीव जलते हुए करुण क्रन्दन करते हैं तथा बैल की तरह प्रतोद मारकर प्रेरित किये हुए और तप्त जुए में जोड़े हुए वे नारकी जीव रुदन करते हैं ।

टीका - तप्तायोगोलकसन्निभां ज्वलितज्योतिर्भूतां तदेवंरूपां तदुपमां वा भूमिम् 'अनुक्रामन्तः' तां ज्वलितां भूमिं गच्छन्तस्ते दह्यमानाः 'करुणं' दीनं-विस्वरं 'स्तनन्ति' रारटन्ति तथा तपेषु युगेषु युक्ता गलिबलीवर्दा इव इषुणा प्रतोदादिरूपेण विध्यमानाः स्तनन्तीति ॥४॥ अन्यच्च -

टीकार्थ - जलते हुए लोह के गोले के समान जलती हुई ज्योति स्वरूप पृथिवी के समान पृथिवी में चलते हुए नारकी जीव जलते हुए दीन स्वर से रुदन करते हैं तथा गरम जुए में जोते हुए और बैल की तरह चाबुक आदि से मारकर चलने के लिए प्रेरित किये हुए रुदन करते हैं ॥४॥



बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं व तत्तं ।

जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसेव दंडेहिं पुराकरंति

॥५॥

छाया - बालाः बलाद् भूमिमणुक्काम्यमाणाः पिच्छिलां लोहपथमिव तप्तात् ।

यस्मिन् अभिदुर्गे प्रपद्यमानाः प्रेष्यामिव दण्डैः पुरः कुर्वन्ति ॥

अन्वयार्थ - (बाला) अज्ञानी नारकी जीव (लोहपहं व तत्तं) जलता हुआ लोहमय मार्ग के समान तपी हुई (पविज्जलं) तथा रक्त और पीब के द्वारा पिच्छिल (भूमि) भूमि पर (बला) बलात्कार से परमाधार्मिकों के द्वारा (अणुक्कमंता) चलाये जाते हुए बुरी तरह चिल्लाते हैं (जंसी अभिदुग्गंसि) नारकी जीव कुम्भी अथवा शाल्मलि आदि जिस कठिन स्थान पर (पवज्जमाणा) परमाधार्मिकों के द्वारा चलने के लिए प्रेरित किये हुए जब ठीक नहीं चलते हैं (पेसेव दंडेहिं पुरा करंति) तब कुपित होकर परमाधार्मिक दण्ड के द्वारा बैल की तरह उन्हें आगे चलाते हैं ।

भावार्थ - परमाधार्मिक निर्विवेकी नारकी जीवों को लोहमय मार्ग के समान तप्त भूमि पर बलात्कार से चलाते हैं तथा रुधिर और पीब से पिच्छिल (कीचड़वाली) भूमि पर भी उनको चलने के लिए बाध्य करते हैं। जिस कठिन स्थान में जाते हुए नारकी जीव रुकते हैं, उस स्थान में बैल की तरह दण्ड आदि से मारकर उन्हें वे ले जाते हैं।

टीका - 'बाला' निर्विवेकिनः प्रज्वलितलोहपथमिव तप्तां भुवं 'पविज्जलं'ति रुधिरपूयादिना पिच्छिलां बलाद-निच्छन्तः 'अनुक्रम्यमाणाः' प्रेर्यमाणा विरसमारसन्ति, तथा 'यस्मिन्' अभिदुर्गे कुम्भीशाल्मल्यादौ प्रपद्यमाना नरकपाल-चोदिता न सम्यग्गच्छन्ति, ततस्ते कुपिताः परमाधार्मिकाः 'प्रेष्यानिव' कर्मकरानिव बलीवर्दवद्वा दण्डैर्हत्वा प्रतोदनेन प्रतुद्य 'पुरतः' अग्रतः कुर्वन्ति, न ते स्वेच्छया गन्तुं स्थातुं वा लभन्त इति ॥५॥ किञ्च -

टीकार्थ - नरकपाल, निर्विवेकी नारकी जीवों को जलाते हुए लोहमय मार्ग के समान उष्ण तथा रक्त और पीब की अधिकता के कारण पंक्ति ल भूमि पर उनकी इच्छा न होने पर भी बलात्कार से चलाते हैं। नारकी जीव उक्त भूमि पर चलते हुए बुरी तरह शब्द करते हैं। अति विषम कुम्भी और शाल्मलि आदि जिस नरक में परमाधार्मिक जाने के लिए उनको प्रेरित करते हैं, उस भूमि में जो अच्छी तरह नहीं चलते हैं, उन पर क्रोधित होकर वे नोकर की तरह अथवा बैल की तरह डंडा या चाबुक से मारकर आगे चलाते हैं। वे नारकी जीव अपनी इच्छा से न तो कहीं जाने पाते हैं, न रहने पाते हैं ॥५॥



ते संपगाढसि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मन्ति भिपातिणीहिं ।

सन्तावणी नाम चिरद्वितीया, संतप्पती जत्थ असाहुकम्मा

॥६॥

छाया - ते सम्प्रगाढं प्रपद्यमानाः शिलाभिर्हव्यन्ते भिपातिनीभिः ।

सन्तापणी नाम चिरस्थितिका सन्तप्यते यत्रासाधुकर्मा ॥

अन्वयार्थ - (ते) वे नारकी जीव (संपगाढसि) बहुत वेदनायुक्त असह्य नरक में (पवज्जमाणा) गये हुए (भिपातिणीहिं) सम्मुख गिरनेवाली (सिलाहि) शिलाओं के द्वारा (हम्मन्ति) मारे जाते हैं (सन्तावणी नाम) सन्तापनी यानी कुम्भी नामक नरक (चिरद्वितीया) चिरकाल तक स्थितिवाला है (जत्थ) जिसमें (असाहुकम्मा) पाप कर्म करनेवाला जीव (सन्तप्पती) ताप भोगता है ।

भावार्थ - तीव्र वेदनायुक्त नरक में पड़े हुए नारकी जीव सामने से गिरती हुई शिलाओं से मारे जाते हैं। कुम्भी नामक नरक में गये हुए प्राणियों की स्थिति बहुत काल की होती है। पापी उसमें चिरकाल तक ताप भोगते हैं।

टीका - 'ते' नारकाः 'सम्प्रगाढ' मिति बहुवेदनमसह्यं नरकं मार्गं वा प्रपद्यमाना गन्तुं स्थातुं वा तत्राशक्नुवन्तो-ऽभिमुखपातिनीभिः शिलाभिरसुरैर्हन्यन्ते, तथा सन्तापयतीति सन्तापनी-कुम्भी सा च चिरस्थितिका तद्गतोऽसुमान् प्रभूतं कालं यावदतिवेदनाग्रस्त आस्ते यत्र च 'सन्तप्यते' पीडयतेऽत्यर्थम् 'असाधुकर्मा' जन्मान्तरकृताशुभानुष्ठान इति ॥६॥ तथा -

टीकार्थ - वे नारकी जीव बहुत वेदनावाले असह्य नरक अथवा मार्ग में गये हुए वहाँ से हट जाने तथा रहने में असमर्थ होते हुए असुरों के द्वारा सामने से आनेवाली शिलाओं के द्वारा मारे जाते हैं। जो प्राणियों को चारों तरफ से ताप देती है, उसे सन्तापनी कहते हैं, वह कुम्भी नरक है, उसकी स्थिति चिरकाल की है अर्थात् उस कुम्भी नरक में गया हुआ प्राणी चिरकाल तक अत्यन्त वेदना भोगता रहता है तथा पूर्वजन्म में पाप किया हुआ प्राणी उस कुम्भी में जाकर अत्यन्त ताप भोगता है ॥६॥



कंदूसु पक्खिप्प पयन्ति बालं, ततोवि दद्धा पुण उप्पयन्ति ।

ते उड्डकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जन्ति सणप्फएहिं

॥७॥

छाया - कन्दुसु प्रक्षिप्य पचन्ति बालं, ततोऽपि दग्धाः पुनरुत्पतन्ति ।

ते ऊर्ध्वकारैः प्रखाद्यमाना अपरैः खाद्यन्ते सनखपदैः ॥

अन्वयार्थ - (बालं) निर्विवेकी नारकी जीव को (कंदूसु) गेंद के समान आकारवाले नरक में (पक्षिष्वप) डालकर (पयंति) परमाधार्मिक पकाते हैं (दग्धा) जलते हुए वे नारकी जीव (ततोऽपि) वहाँ से (पुन उप्पयंति) फिर ऊपर उड़ते हैं (ते) वे नारकी जीव (उड्डकाएहिं) द्रोण काक के द्वारा खाये जाते हैं (अवरेहिं सणप्फएहिं) तथा दूसरे सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा भी खाये जाते हैं ।

भावार्थ - नरकपाल, निर्विवेकी नारकी जीव को गेंद के समान आकारवाली कुम्भी में डालकर पकाते हैं, फिर वे वहाँ से धुने जाते हुए चने की तरह उड़कर ऊपर जाते हैं, वहाँ वे द्रोण काक द्वारा खाये जाते हैं जब वे दूसरी ओर जाते हैं तब सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा खाये जाते हैं ।

टीका - तं 'बालं' वराकं नारकं कन्दुषु प्रक्षिप्य नरकपालाः पचन्ति, ततः पाकस्थानात् ते दह्यमानाश्चणका इव भृज्यमाना ऊर्ध्वं पतन्त्युत्पतन्ति, ते च ऊर्ध्वमुत्पतिताः 'उड्डकाएहिं'ति द्रोणैः कार्कैर्वैक्रियैः 'प्रखाद्यमाना' भक्ष्यमाणा अन्यतो नष्टाः सन्तोऽपरैः 'सणप्फएहिं'ति सिंहव्याघ्रादिभिः 'खाद्यन्ते' भक्ष्यन्ते इति ॥७॥ किञ्च -

टीकार्थ - नरकपाल, निर्विवेकी बिचारे नारकी जीव को गेंद के समान आकारवाले नरक में डालकर पकाते हैं । वहाँ चने की तरह पकते हुए वे जीव वहाँ से ऊपर उड़कर जाते हैं । ऊपर उड़कर गये हुए वे प्राणी वैक्रिय द्रोण काक के द्वारा खाये जाते हैं और वहाँ से दूसरी ओर गये हुए वे वैक्रिय सिंह, व्याघ्र आदि नखवाले जानवरों से खाये जाते हैं ॥७॥



समूसियं नाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति ।

अहोसिरं कट्ठु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहिं समोसर्वेति

॥८॥

छाया - समुच्छ्रितं नाम विधूमस्थानं, यत् शोकतप्ताः करुणं स्तनन्ति ।

अथः शिरः कृत्वा विकर्त्यायोवत् शस्त्रैः खण्डशः खण्डयन्ति ॥

अन्वयार्थ - (समूसियं नाम विधूमठाणं) ऊँची चिता के समान धूम रहित अग्नि का एक स्थान है (जं) जिस स्थान को प्राप्त करके (सोयतत्ता) शोकतप्त नारकी जीव (कलुणं थणंति) करुण रुदन करते हैं (अहो सिरं कट्ठु) नरकपाल नारकी जीव के सिर को नीचा करके (विगत्तिऊणं) तथा उसकी देह को काटकर (अयं व सत्थेहिं) लोह के शस्त्र से (समोसर्वेति) खण्ड खण्ड काट डालते हैं ।

भावार्थ - ऊँची चिता के समान निर्धूम अग्नि का एक स्थान है । वहाँ गये हुए नारकी जीव शोक से तप्त होकर करुण रुदन करते हैं । परमाधार्मिक, उन जीवों का सिर नीचे करके उनका सिर काट डालते हैं तथा लोह के शस्त्रों से उनकी देह को खण्ड-खण्ड कर देते हैं ।

टीका - सम्यगुच्छ्रितं-चित्तिकाकृति, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यन्ते एवंविधानि नरकेषु यातनास्थानानि, विधूमस्य-अग्नेः स्थानं विधूमस्थानं यत्प्राप्य शोकवितप्ताः 'करुणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्तीति, तथा अथःशिरः कृत्वा देहं च विकर्त्यायोवत् 'शस्त्रैः' तच्छेदनादिभिः 'समोसर्वेति'ति खण्डशः खण्डयन्ति ॥८॥ अपि च-

टीकार्थ - चिता के समान एक धूम रहित अग्नि का स्थान है, यहाँ नाम शब्द संभावना अर्थ में आया है । नरक में ऐसा पीड़ा का स्थान होना सम्भव है, यह नाम शब्द बतलाता है । उस स्थान को प्राप्त नारकी जीव शोक से तप्त होकर करुण रुदन करते हैं । तथा नरकपाल उनका सिर नीचा करके और देह को लोह के शस्त्रों से काटकर खण्ड-खण्ड कर देते हैं ॥८॥



समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं ।

संजीवणी नाम चिरड्ढितीया, जंसी पया हम्मइ पावचेया

॥९॥

छाया - समुच्छ्रितास्तत्र विशूणिताङ्गाः पक्षिभिः खाद्यन्तेऽयोमुखैः ।

संजीवनी नाम चिरस्थितिका, यस्यां प्रजाः हव्यन्ते पापचेतसः ॥

अन्वयार्थ - (तत्र) उस नरक में (समुसिया) अधोमुख करके लटकाये हुए (विसूणियंगा) तथा शरीर का चमड़ा उखाड़ लिये हुए नारकी जीव, (अजोमुहेहिं) लोह के मुखवाले (पक्षीहिं) पक्षियों के द्वारा (खज्जति) खाये जाते हैं (संजीवनी नाम चिरद्वितीया) नरक की भूमि संजीवनी कहलाती है क्योंकि मरण कष्ट पाकर भी प्राणी उसमें मरते नहीं हैं तथा उसकी आयु बहुत होती है (जसी) जिस नरक में (पावचेया) पापी (पया) प्रजा (हम्मइ) मारी जाती है ।

भावार्थ - उस नरक में अधोमुख करके लटकाये हुए तथा शरीर का चमड़ा उखाड़ लिये हुए प्राणी लोह मुखवाले पक्षियों के द्वारा खाये जाते हैं । नरक की भूमि संजीवनी कहलाती है, क्योंकि मरण के समान कष्ट पाकर भी प्राणी आयु शेष रहने पर मरते नहीं हैं तथा उस नरक में गये हुए प्राणियों की आयु भी बहुत होती है । पापी जीव उस नरक में मारे जाते हैं ।

टीका - 'तत्र' नरके स्तम्भादौ ऊर्ध्वबाहवोऽधःशिरसो वा श्वपाकैर्बस्तवल्लम्बिता सन्तः 'विसूणियंगा'ति उत्कृताङ्गा अपगतत्वचः पक्षिभिः 'अयोमुखैः' वज्रचञ्चुभिः काकगृध्रादिभिर्भक्ष्यन्ते, तदेवं ते नारका नरकपालापादितैः परस्परकृतैः स्वाभाविकैर्वा छिन्ना भिन्नाः क्वथिता मूर्च्छिताः सन्तो वेदनासमुद्घातगता अपि सन्तो न म्रियन्ते, अतो व्यपदिश्यते सञ्जीवनीवत् सञ्जीवनी-जीवितदात्री नरकभूमिः, न तत्र गतः खण्डशश्छिन्नोऽपि म्रियते स्वायुषि सतीति, सा च चिर-स्थितिकोत्कृष्टतत्त्वयस्त्रिंशत् यावत्सागरोपमाणि, यस्यां च प्राप्ताः प्रजायन्त इति प्रजाः-प्राणिनः पापचेतसो हन्यन्ते मुद्गरादिभिः, नरकानुभावाच्च मुमूर्षवोऽप्यत्यन्तपिष्टा अपि न म्रियन्ते, अपितु पारदवन्मिलन्तीति ॥९॥ अपि च-

टीकार्थ - उस नरक में खंभा आदि में ऊपर भुजा और नीचे मस्तक करके चाण्डालों के द्वारा मृत शरीर की तरह लटकाये हुए तथा चमड़ा उखाड़े हुए नारकी जीव, वज्र के चोंचवाले काक और गीघ आदि पक्षियों से खाये जाते हैं । इस प्रकार वे नारकी जीव, नरकपालों के द्वारा अथवा परस्पर एक दूसरों के द्वारा छेदन भेदन किये हुए तथा उबाले हुए मूर्च्छित होकर वेदना की अधिकता का अनुभव करते हुए भी मरते नहीं हैं, इसीलिए नरक भूमि संजीवनी औषध के समान जीवन देनेवाली कही जाती है क्योंकि नरक में गया हुआ प्राणी खण्ड-खण्ड किया हुआ भी आयु शेष रहने पर मरता नहीं है । नरक की आयु उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम काल की कही है इसलिए वह चिरकाल की स्थितिवाली है । जिस नरक में गये हुए पापी प्राणी मुद्गर आदि के द्वारा मारे जाते हैं । नरक की पीड़ा से विकल होकर वे मरना चाहते हुए भी तथा अत्यन्त पीसे हुए भी मरते नहीं हैं किन्तु पारा के समान मिल जाते हैं ॥९॥

तिक्खाहिं सूलाहि निवारयन्ति, वसोगयं सावयवं व लब्धुं ।
ते सूलविद्धा कलुणं थणन्ति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥१०॥

छाया - तीक्ष्णाभिः शूलाभिर्निपातयन्ति वशंगतं वापदमिव लब्धम् ।

ते शूलविद्धाः करुणं स्तनन्ति, एकान्तदुःखाः द्विधा ग्लानाः ॥

अन्वयार्थ - (वसोगयं) वश में आये हुए (सावयवं व) जङ्गली जानवर के समान (लब्धुं) मिले हुए नारकी जीव को नरकपाल (तिक्खाहिं) तीखे शूलों से (निवारयन्ति) मारते हैं (सूलविद्धा) शूल से वेध किये हुए (दुहओ) भीतर और बाहर दोनों ओर से (गिलाणा) ग्लान (एगंतदुक्खं) एकान्त दुःखवाले नारकी जीव (कलुणं थणन्ति) करुण रुदन करते हैं ।

भावार्थ - वश में आये हुए जङ्गली जानवर के समान नारकी जीव को पाकर परमाधार्मिक तीक्ष्ण शूल से वेध करते हैं, भीतर और बाहर आनन्द रहित एकान्त दुःखी नारकी जीव, करुण क्रन्दन करते हैं ।

टीका - पूर्वदुष्कृतकारिणं तीक्ष्णाभिरयोमयीभिः शूलाभिः नरकपाला नारकमतिपातयन्ति, किमिव ?-वश-मुपगतं श्वापदमिव कालपृष्ठसूकरादिकं स्वातन्त्र्येण लब्ध्वा कदर्थयन्ति, ते नारकाः शूलादिभिर्विद्धा अपि न प्रियन्ते, केवलं 'करुणं' दीनं स्तनन्ति, न च तेषां कश्चित्प्राणायालं तथैकान्तेन 'उभयतः' अन्तर्बहिश्च 'ग्लाना' अपगतप्रमोदाः सदा दुःखमनुभवन्तीति ॥१०॥ तथा -

टीकार्थ - पूर्व जन्म में पाप किये हुए नारकी जीव को नरकपाल तीखे लोह के शूलों से वेध करते हैं। किसकी तरह ? वश में आये हुए मृग तथा सुअर आदि की तरह, स्वन्त्रता से पाकर उन्हें पीड़ा देते हैं। शूल आदि के द्वारा वेध किये हुए भी नारकी जीव मरते नहीं हैं किन्तु करुण क्रन्दन करते हैं। उन नारकी जीवों की रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं है। वे नारकी जीव भीतर और बाहर दोनों ओर से हर्ष रहित होकर सदा दुःख अनुभव करते हैं ॥१०॥



सया जलं नाम निहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्टो ।

चिड्ढिति बद्धा बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरड्ढितीया

॥११॥

छाया - सदा ज्वलन्नाम निहं महत्, यस्मिन् ज्वलन्नाग्निरकाष्ठः ।

तिष्ठन्ति बद्धाः बहुकूरकर्माणः अरहस्वराः केऽपि चिरस्थितिकाः ॥

अन्वयार्थ - (सया) सब समय (जलं) जलता हुआ (महंतं) महान् (निहं) एक प्राणियों का घातस्थान है (जंसी) जिसमें (अकट्टो अगणी) बिना काष्ठ की आग (जलंतो) जलती रहती है। (बहु कूरकम्मा) जिन्होंने पूर्व जन्म में बहुत कूर कर्म किये हैं (चिरड्ढितीया) तथा जो उस नरक में चिरकाल तक निवास करनेवाले हैं (बद्धा) वे उस नरक में बँधे हुए (अरहस्सरा) तथा चिल्लाते हुए (चिड्ढिति) रहते हैं।

भावार्थ - एक ऐसा प्राणियों का घात स्थान है, जो सदा जलता रहता है और जिसमें बिना काष्ठ की आग निरन्तर जलती रहती है, उस नरक में पापी प्राणी बँधे दिये जाते हैं, वे अपने पाप का फल भोगने के लिए चिरकाल तक निवास करते हैं और वेदना के मारे निरन्तर रोते रहते हैं।

टीका - 'सदा' सर्वकालं 'ज्वलत्' देदीप्यमानमुष्णरूपत्वात् स्थानमस्ति, निहन्यन्ते प्राणिनः कर्मवशात् यस्मिन् तन्निहम्-आघातस्थानं तच्च 'महद्' विस्तीर्णं यत्राकाष्ठोऽग्निर्ज्वलन्नास्ते, तत्रैवम्भूते स्थाने भवान्तरे बहुकूरकृत-कर्माणस्तद्विपाकापादितेन पापेन बद्धास्तिष्ठन्तीति, किम्भूताः ? - 'अरहस्वरा' बृहदाक्रन्दशब्दाः 'चिरस्थितिकाः' प्रभूतकालस्थितय इति ॥११॥ तथा -

टीकार्थ - जो उष्णरूप होने के कारण सदा जलता रहता है, ऐसा एक स्थान है। कर्म वशीभूत प्राणी जिसमें मारे जाते हैं, उसे निह कहते हैं, वह प्राणियों का घातस्थान है। वह स्थान बहुत विस्तारवाला है। उसमें बिना काष्ठ की आग जलती रहती है। ऐसे उस स्थान में पूर्वजन्म में जिन्होंने अत्यन्त क्रूरकर्म किये हैं, वे प्राणी अपने पाप का फल भोगने के लिए बँधे हुए निवास करते हैं। वे प्राणी कैसे हैं ? जोर जोर से रोते रहते हैं और चिरकाल तक वहाँ निवास करते हैं ॥११॥



चिया महंतीउ समारभित्ता, छुब्भन्ति ते तं कलुणं रसंतं ।

आवट्ठती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे

॥१२॥

छाया - चिताः महतीः समारभ्य, क्षिपन्ति ते तं करुणं रसन्तम् ।

आवर्तते तत्रासाधुकर्मा, सर्पिर्यथा पतितं ज्योतिर्मध्ये ॥

1. ०ममितापयन्ति प्र० । 2. लालपृष्ठो मृगभेदे (हैमः) ।

अन्वयार्थ - (ते) वे परमाधार्मिक (महंतीज) बड़ी (चिया) चिता (समारभिता) बनाकर उसमें (कलुषं रसं) करुण रुदन करते हुए नारकी जीव को (छुम्बन्ति) फेंक देते हैं (तत्थ) उसमें (असाहुकम्मा) पापी जीव (आवट्टती) द्रवीभूत हो जाते हैं (जहा) जैसे (जोइमज्जे) आग में (पडियं) पड़ा हुआ (सप्पी) घृत द्रव (पिघल) हो जाता है ।

भावार्थ - परमाधार्मिक बड़ी चिता बनाकर उसमें करुण रुदन करते हुए नारकी जीव को फेंक देते हैं, उसमें पापी जीव गलकर पानी हो जाते हैं, जैसे आग में पड़ा हुआ घृत द्रव हो जाता है ।

टीका - महंतीश्चिताः समारभ्य नरकपालाः 'तं' नारकं विरसं 'करुणं' दीनमारसन्तं तत्र क्षिपन्ति, स चासाधु-कर्मा 'तत्र' तस्यां चितायां गतः सन् 'आवर्तते' विलीयते, यथा- 'सर्पिः' घृतं ज्योतिर्मध्ये पतितं द्रवीभवत्येवमसावपि विलीयते, न च तथापि भवानुभावात्प्राणैर्विमुच्यते ॥१२॥

टीकार्थ - नरकपाल, विशाल चिता बनाकर करुण रुदन करते हुए नारकी जीव को उसमें डाल देते हैं, वह पापी उस चिता में जाकर द्रव हो जाता है । जैसे आग में डाला हुआ घृत द्रव हो जाता है, इसी तरह वह भी द्रव हो जाता है, परन्तु नरक भव के प्रताप से वह प्राण रहित नहीं होता है ॥१२॥



- अयमपरो नरकयातनाप्रकार इत्याह -

- यह दूसरा नरक की यातना का प्रकार कहा जाता है -

सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ।

हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुव्व डंडेहिं समारभन्ति

॥१३॥

छाया - सदा कृत्स्नं पुनर्धर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ।

हस्तैश्च पादैश्च बद्ध्वा शत्रुमिव दण्डैः समारभन्ते ॥

अन्वयार्थ - (सदा) सदा-सर्व-काल (कसिणं) सम्पूर्ण (घम्मठाणं) एक गर्मस्थान है (गाढोवणीयं) निधत्त निकाचित आदि कर्मों से जो प्राप्त होता है (अइदुक्खधम्मं) अत्यन्त दुःख देना जिसका स्वभाव है (तत्थ) उस नरक में (हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं) हाथ और पैर बाँधकर (सत्तुव्व) शत्रु की तरह (डंडेहिं) दण्डों के द्वारा नरकपाल (समारभन्ति) ताड़न करते हैं ।

भावार्थ - निरन्तर जलनेवाला एक गर्मस्थान है, वह निधत्त, निकाचित आदि अवस्थावाले कर्मों से प्राणियों को प्राप्त होता है तथा वह स्वभाव से ही अत्यन्त दुःख देनेवाला है, उस स्थान में नारकी जीव को हाथ पैर बाँधकर शत्रु की तरह नरकपाल डंडों से ताड़न करते हैं ।

टीका - 'सदा' सर्वकालं 'कृत्स्नं' सम्पूर्ण पुनरपरं 'धर्मस्थानं' उष्णस्थानं दृढैर्निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिः 'उपनीतं' ढौकितमतीव दुःखरूपो धर्मः-स्वभावो यस्मिंस्तदतिदुःखधर्मं तदेवम्भूते यातनास्थाने तमत्राणं नारकं हस्तेषु पादेषु च बद्ध्वा तत्र प्रक्षिपन्ति, तथा तदवस्थमेव शत्रुमिव दण्डैः 'समारभन्ते' ताडयन्ति ॥१३॥ किञ्च-

टीकार्थ - हमेशः सर्व भाग में उष्ण एक दुसरा गर्म स्थान है । जो दृढ़ अर्थात् निधत्त निकाचित अवस्थावाले कर्मों से होता है तथा जो स्वभाव से ही अत्यन्त दुःख देनेवाला है, ऐसे यातना स्थान में त्राण रहित नारकी जीव को हाथ पैर बाँधकर नरकपाल डाल देते हैं और वहाँ उस दशा में पड़े हुए उनको शत्रु की तरह डंडों से मारते हैं ॥१३॥



भजन्ति बालस्स वहेण पुट्ठी, सीसंपि भिंदन्ति अओघणेहिं ।

ते भिन्नदेहा फलगं व तच्छा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयन्ति

॥१४॥

छाया - भजन्ति बालस्य व्यथेन पृष्ठं, शीर्षमपि भिन्दन्त्ययोधनेन ।

ते भिन्नदेहाः फलकमिव तष्टास्तप्त्राभिराराभिर्विनियोज्यन्ते ॥

अन्वयार्थ - (बालस्स पुष्टी) निर्विवेकी नारकी जीव की पीठ (वहेन) लाठी से मारकर (भंजंति) तोड़ देते हैं (अजोधणेहिं) तथा लोहे के घन से (सीसं पि) उनका सिर भी (भिदंति) तोड़ देते हैं (भिन्नदेहा) जिनके अङ्ग चूर्ण कर दिये गये हैं। ऐसे (ते) वे नारकी जीव, (तत्ताहि आराहिं) तप्त आरा के द्वारा (फलगंव तच्छा) काष्ठ के फलक के समान चीरकर पतले किये हुए (गियोजयंति) गर्म शीसा पीने के लिए प्रवृत्त किये जाते हैं।

भावार्थ - नरकपाल लाठी से मारकर नारकी जीवों की पीठ तोड़ देते हैं तथा लोहे के घन से मारकर उनका शिर चूर-चूर कर देते हैं। इसी तरह उनकी देह को चूर-चूर करके उन्हें तप्त आरा से काष्ठ की तरह चीर देते हैं, फिर उनको गर्म शीसा पीने के लिए बाध्य करते हैं।

टीका - 'बालस्य' वराकस्य नारकस्य व्यथयतीति व्यथो-लकुटादिप्रहारस्तेन पृष्ठं 'भञ्जयन्ति' मोटयन्ति तथा शिरोऽप्ययोमयेन घनेन 'भिन्दन्ति' चूर्णयन्ति, अपिशब्दादन्यान्यप्यङ्गोपाङ्गानि 'द्रुघणघातैश्चूर्णयन्ति' 'ते' नारका 'भिन्नदेहाः' चूर्णिताङ्गोपाङ्गाः फलकमिवोभाभ्यां पार्श्वभ्यां क्रकचादिना 'अवतष्टाः' तनूकृताः सन्तस्तप्त्राभिराराभिः प्रतुद्यमानास्तप्तपुपानादिके कर्मणि 'विनियोज्यन्ते' व्यापार्यन्त इति ॥१४॥ किञ्च -

टीकार्थ - नरकपाल बिचारे नारकी जीव की पीठ पीड़ा देनेवाले लाठी आदि के प्रहार से मारकर तोड़ देते हैं। तथा लोह के घन से मारकर उनका सिर चूर-चूर कर देते हैं। अपि शब्द से दूसरे भी उनके अङ्ग तथा उपाङ्गों को घन से मारकर चूर-चूर कर देते हैं। इस प्रकार जिनके अङ्ग और उपाङ्ग चूर-चूर कर दिये गये हैं ऐसे नारकी जीव शरीर के दोनों भागों में आरा के द्वारा चीरकर पतले किये जाते हैं फिर गर्म आरा से पीड़ित किये जाते हुए वे शीसा पीने आदि कार्यों में प्रवृत्त किये जाते हैं।



अभिजुंजिया रुद्ध असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवहं वहंति ।

एगं दूरुहित्तु दुवे ततो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से

॥१५॥

छाया - अभियोज्य रौद्रमसाधुकर्मणः, इषुचोदिताम् हस्तिवहं वाहयन्ति ।

एकं समारोह्य द्वौ त्रीन् वा, आरुष्य विध्यन्ति मर्माणि तस्य ॥

अन्वयार्थ - (असाहुकम्मा) पापी नारकी जीवों को (रुद्ध अभिजुंजिया) उनके जीव हिंसादि कार्य को स्मरण कराकर (उसुचोइया) तथा बाण के प्रहार से प्रेरित करके (हत्थिवहं वहंति) उनसे हाथी की तरह भार वहन कराते हैं (एगं दुवे ततो वा दूरुहित्तु) तथा एक, दो, या तीन जीवों को उनकी पीठ पर चढ़ाकर उनको चलाते हैं और (आरुस्स) क्रोध करके (से) उनके (ककाणओ) मर्म स्थान को (विज्झंति) वेध करते हैं।

भावार्थ - नरकपाल पापी नारकी जीवों के पूर्वकृत पाप को स्मरण कराकर, बाण के प्रहार से मारकर, हाथी के समान भार ढोने के लिए उनको प्रवृत्त करते हैं। उनकी पीठ पर एक, दो, तीन नारकियों को बैठाकर चलने के लिए प्रेरित करते हैं तथा क्रोधित होकर उनके मर्म स्थान में प्रहार करते हैं।

टीका - रौद्रकर्मण्यपरनारकहननादिके 'अभियुज्य' व्यापार्य यदिवा-जन्मान्तरकृतं 'रौद्रं' सत्त्वोपघातकार्यम् 'अभियुज्य' स्मारयित्वा असाधूनि-अशोभनानि जन्मान्तरकृतानि कर्माणि-अनुष्ठानानि येषां ते तथा तान् 'इषुचोदिताम्' शराभिघातप्रेरितान् हस्तिवाहं वाहयन्ति नरकपालाः, यथा हस्ती वाह्यते समारुह्य एवं तमपि वाहयन्ति, यदिवा-यथा हस्ती महान्तं भारं वहत्येवं तमपि नारकं वाहयन्ति, उपलक्षणार्थत्वादस्योष्ट्रवाहं वाहयन्तीत्याद्यप्यायोज्यं, कथं वाहयन्तीति दर्शयति-तस्य नारकस्योपर्येकं द्वौ त्रीन् वा 'समारुह्य' समारोप्य ततस्तं वाहयन्ति, अतिभारारोपणेना-वहन्तम् 'आरुष्य' क्रोधं कृत्वा प्रतोदादिना 'विध्यन्ति' तुदन्ति, 'से' तस्य नारकस्य 'ककाणओ'ति मर्माणि विध्यन्ती-त्यर्थः ॥१५॥ अपि च -

टीकार्थ - नरकपाल नारकी जीवों को दूसरे नारकी जीवों के हनन करने आदि कर्मों में लगाकर अथवा पूर्वजन्म में उनके द्वारा किये हुए प्राणियों के घात आदि कार्यों को स्मरण कराकर जन्मान्तर में अशुभ कर्म किये हुए नारकी जीवों को बाणों से मारकर हाथी की तरह भार वहन कराते हैं । जैसे हाथी पर चढ़कर उससे भार वहन कराते हैं, इसी तरह उस नारकी से भी सवारी ढोने का काम लेते हैं । अथवा जैसे हाथी भारी भार वहन करता है, इसी तरह उस नारकी से भी भारी भार वहन कराते हैं । हाथी की तरह भार वहन करना जो यहाँ कहा है, वह उपलक्षण मात्र है, इसलिए ऊँट की तरह भार वहन करना भी समझ लेना चाहिए । नरकपाल नारकी जीवों से किस प्रकार भार वहन कराते हैं, सो शास्त्रकार दिखाते हैं, उस नारकी के ऊपर एक, दो या तीन व्यक्तियों को बैठाकर उनको उससे वहन कराते हैं । अत्यन्त भार होने के कारण जब वे वहन नहीं करते हैं, तब क्रोधित होकर चाबुक आदि के द्वारा उनको मारते हैं तथा उनके मर्मस्थान का वेध करते हैं ॥१५॥



१बाला बला भूमिमणुक्कमन्ता, पविज्जलं कंटइलं महन्तं ।

विवद्धतप्पेहिं विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्टबलिं करिन्ति

॥१६॥

छाया - बालाः बलाद् भूमिमणुक्काम्यमाणाः पिच्छिलां कण्टकिलां महतीम् ।

विवद्धतर्पान् विषण्णचित्ताब् समीरिताः कोट्टबलिं कुर्वन्ति ॥

अन्वयार्थ - (बाला) बालक के समान पराधीन बिचारे नारकी जीव, नरकपालों के द्वारा (बला) बलात्कार से (पविज्जलं) कीचड़ से भरी हुई (कंटइलं) और कौटों से पूर्ण (महन्तं) विस्तृत (भूमि) पृथिवी पर (अणुक्कमन्ता) चलाये जाते हैं (समीरिया) पाप कर्म से प्रेरित नरकपाल (विवद्धतप्पेहिं विवण्णचित्ते) अनेक प्रकार से बाँधे हुए तथा मूर्च्छित दूसरे नारकी जीवों को (कोट्टबलिं करिन्ति) खण्डशः काटकाटकर इधर उधर फेंक देते हैं ।

भावार्थ - पाप से प्रेरित नरकपाल, बालक के समान पराधीन बिचारे नारकी जीव को कीचड़ से भरी तथा कौटों से पूर्ण विस्तृत पृथिवी पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं । तथा दूसरे नारकी जीवों को अनेक प्रकार से बाँधकर मूर्च्छित उन बिचारों को खण्ड-खण्ड काटकर इधर-उधर फेंक देते हैं ।

टीका - बाला इव बालाः परतन्त्राः, पिच्छिलां रुधिरादिना तथा कण्टकाकुलां भूमिमणुक्कामन्तो मन्दगतयो बलात्प्रेर्यन्ते, तथा अन्यान् 'विषण्णचित्तान्' मूर्च्छितांस्तर्पकाकारान् 'विविधम्' अनेकधा बद्ध्वा ते नरकपालाः 'समीरिताः' पापेन कर्मणा चोदितास्तात्राकारान् 'कुट्टयित्वा' खण्डशः कृत्वा 'बलिं करिन्ति'ति नगरबलिवदितश्चेतश्च क्षिपन्तीत्यर्थः, यदि वा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति ॥१६॥ किञ्च -

टीकार्थ - बालक के समान पराधीन नारकी जीव, रुधिर आदि से पिच्छिल तथा कण्टकाकीर्ण पृथिवी पर चलते हुए मन्दगति से चलने पर बलात्कार से तेज चलाये जाते हैं । तथा दूसरे मूर्च्छित नारकी जीव को अनेक प्रकार से बाँधकर पाप कर्म से प्रेरित नरकपाल खण्ड-खण्ड काटकर नगरबलि के समान इधर-उधर फेंक देते हैं अथवा उन्हें नगर की बलि करते हैं ॥१६॥



वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमन्तलिक्खे ।

हम्मन्ति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साणं मुहुत्तगाणं

॥१७॥

छाया - वैक्रियो नाम महाभिताप एकायतः पर्वतोऽन्तरिक्षे ।

हव्यन्ते तत्स्थाः बहुकूरकमाणः परं सहस्राणां मुहूर्तकाणाम् ॥

अन्वयार्थ - (महाभितावे) महान् ताप से युक्त (अन्तलिक्खे) आकाश में (वेतालिए) वैक्रिय (एगायते) एक शिला के द्वारा बनाया

१. बलिं कुर्वन्ति इत्येतच्च क्षिपन्तीत्यर्थः, यदिवा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति, कुर्वन्ति नगरबलिं प्र० ।

हुआ लम्बा (पर्वत) एक पर्वत है (तथा) उस पर्वत पर रहनेवाले (बहुकूरकम्मा) बहुत क्रूर कर्म किये हुए नारकी जीव(सहस्राण मुहुत्तगाणं परं हम्मन्ति)हजारों मुहुत्तों से अधिक काल तक मारे जाते हैं ।

भावार्थ - महान् ताप देनेवाले आकाश में परमाधार्मिकों के द्वारा बनाया हुआ अति विस्तृत एक शिला का एक पर्वत है, उस पर रहनेवाले नारकी जीव, हजारों मुहुत्तों से अधिक काल तक परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हैं ।

टीका - नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यते एतन्नरकेषु यथाऽन्तरिक्षे 'महाभितापे' महादुःखैककार्ये एकशिला-घटितो दीर्घः 'वेयालिए'ति वैक्रियः परमाधार्मिकनिष्पादितः पर्वतः तत्र तमोरूपत्वान्नरकाणामतो हस्तस्पर्शिकया समारुहन्तो नारका 'हन्यन्ते' पीडयन्ते, बहूनि कूराणि जन्मान्तरोपात्तानि कर्माणि येषां ते तथा, सहस्रसंख्यानां मुहुत्तानां परं-प्रकृष्टं कालं, सहस्रशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात्प्रभूतं कालं हन्यन्त इति यावत् ॥१७॥ तथा -

टीकार्थ - नाम शब्द सम्भावना अर्थ में आया है । वह यह बताता है कि यह बात हो सकती है जैसे कि महान् ताप से युक्त अर्थात् महान् दुःख देना जिनका प्रधान कार्य है ऐसे आकाश में एक शिला के द्वारा बनाया हुआ, दीर्घ, परमाधार्मिकों से रचित एक पर्वत है, वह पर्वत अन्धकाररूप है, इसलिए हाथ के स्पर्श से उस पर चढ़ते हुए पूर्व जन्म में पाप किये हुए नारकी जीव, हजार मुहुत्तों से अधिक काल तक परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हैं । यहाँ सहस्र शब्द उपलक्षण है, इसलिए चिरकाल तक वे मारे जाते हैं, यह समझना चाहिए ॥१७॥



संवाहिया दुष्कडिणो थणंति, अहो य राओ परितप्पमाणा ।

एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ

॥१८॥

छाया - संवाधिताः दुष्कृतिभःस्तनन्ति, अहि च रात्रौ परितप्यमानाः ।

एकाज्जकूटे नरके महति कूटेण तत्थाः विषमे हतास्तु ॥

अन्वयार्थ - (संवाधिया) निरन्तर पीड़ित किये जाते हुए (दुष्कडिणो) पापी जीव (अहो य राओ परितप्पमाणा) दिन और रात ताप भोगते हुए (थणंति) रुदन करते हैं (एगंतकूडे) एकान्त दुःख का स्थान (महंते) विस्तृत (विसमे) कठिन (नरए) नरक में पड़े हुए प्राणी (कूडेण) गले में फाँसी डालकर (हता उ) मारे जाते हुए केवल रुदन करते हैं ।

भावार्थ - निरन्तर पीड़ित किये जाते हुए पापी जीव रात-दिन रोते रहते हैं । जिसमें एकान्त दुःख है तथा जो अति विस्तृत और कठिन है, ऐसे नरक में पड़े हुए प्राणी गले में फाँसी डालकर मारे जाते हुए केवल रुदन करते हैं ।

टीका - सम्-एकीभावेन बाधिताः पीडिता दुष्कृतं-पापं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो महापापाः 'अहो' अहनि तथा रात्रौ च 'परितप्यमाना' अतिदुःखेन पीडयमानाः सन्तः करुणं-दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तथैकान्तेन 'कूटानि' दुःखोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् स तथा तस्मिन् एवम्भूते नरके 'महति' विस्तीर्णे पतिताः प्राणिनः तेन च कूटेन गलयन्त्रपाशादिना पाषाणसमूहलक्षणेन वा 'तत्र' तस्मिन्विषमे हताः तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् स्तनन्त्येव केवलमिति ॥१८॥ अपिच-

टीकार्थ - एकरूप से पीड़ित किये जाते हुए महापापी जीव, रात-दिन दुःख से पीड़ित होकर करुण रुदन करते रहते हैं ! जिसमें एकान्तरूप से दुःख की उत्पत्ति का स्थान है ऐसे विस्तृत नरक में पड़े हुए प्राणी गले में फाँसी डालकर अथवा पत्थरों के समूह से उस विषम स्थान में मारे जाते हुए केवल रुदन ही किया करते हैं। यहाँ तु शब्द अवधारणार्थक है ॥१८॥



भजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुगारे ते मुसले गहेतुं ।

ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमद्धगा धरणितले पडंति

॥१९॥

छाया - भञ्जन्ति पूरारस्यः सरोषं, समुद्रराणि मुसलानि गृहीत्वा ।

ते भिन्नदेहाः रुधिरं वमन्तोऽधोमुखाः धरणीतले पतन्ति ॥

अन्वयार्थ - (समुगरे मुसले गहेतुं) मुद्गर और मुसल हाथ में लेकर नरकपाल (पुष्पमरी) पहले के शत्रु के समान (सरोसं) क्रोध के सहित (भञ्जति) नारकी जीवों के अङ्गों को तोड़ देते हैं (भिन्नदेहा) जिनकी देह टूट गयी है ऐसे नारकी जीव (रुधिरं वमन्ता) रक्त वमन कराते हुए (अधोमुखा) अधोमुख होकर (धरणीतले) पृथिवी तल में (पडन्ति) गिर जाते हैं ।

भावार्थ - परमाधार्मिक पहले के शत्रु के समान हाथ में मुद्गर और मुसल लेकर उनके प्रहार से नारकी जीवों के शरीर को चूर-चूर कर देते हैं । गाढ़ प्रहार पाये हुए और मुख से रुधिर का वमन करते हुए नारकी जीव, अधोमुख होकर पृथिवी पर गिर जाते हैं ।

टीका - 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे पूर्वमय इवारयो जन्मान्तरवैरिण इव परमाधार्मिका यदिवा-जन्मान्तरापकारिणो नारका अपरेषामङ्गानि 'सरोषं' सकोपं समुद्रराणि मुसलानि गृहीत्वा 'भञ्जन्ति' गाढप्रहारैरामर्दयन्ति, ते च नारका-स्त्राणरहिताः शस्त्रप्रहारैर्भिन्नदेहा रुधिरमुद्रमन्तोऽधोमुखा धरणीतले पतन्तीति ॥१९॥ किञ्च-

टीकार्थ - 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । दूसरे जन्म के वैरी के समान परमाधार्मिक, अथवा दूसरे जन्म के अपकारी नारकी जीव दूसरे नारकी जीवों के अङ्गों को क्रोध सहित मुद्गर और मुसल लेकर गाढ़ प्रहार से तोड़ देते हैं । रक्षक रहित वे नारकी जीव, शस्त्र के प्रहार से चूर्णित शरीर होकर रुधिर वमन करते हुए अधोमुख पृथिवी पर गिर जाते हैं ॥१९॥



अणासिया नाम महासियाला, पागब्भिणो तत्थ सयायकोवा ।

खज्जन्ति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरगा संकलियाहि बद्धा

॥२०॥

छाया - अणशिता नाम महाशृगालाः प्रगब्भिणस्तत्र सदा सकोपाः ।

खाद्यन्ते तत्र बहुकूरकर्माणः अदूरगाः शृङ्खलैर्बद्धाः ॥

अन्वयार्थ - (तत्थ) उस नरक में (सयायकोवा) सदा क्रोधित (अणासिया) सुधातुर (पागब्भिणो) ढीठ (महासियाला) बड़े बड़े गीदड़ रहते हैं । वे गीदड़ (बहुकूरकम्मा) जन्मान्तर में पाप किये हुए (संकलियाहि बद्धा) तथा जंजीर में बंधे हुए (अदूरगा) निकट में स्थित उन नारकी जीवों को (खज्जन्ति) खाते हैं ।

भावार्थ - उस नरक में हमेशा क्रोधित बड़े ढीठ विशाल शरीरवाले [वैक्रिय] भूखे गीदड़ रहते हैं । वे जंजीर में बंधे हुए तथा निकट में स्थित पापी जीवों को खाते हैं ।

टीका - महादेहप्रमाणा महान्तः शृगाला नरकपालविकुर्विता 'अणशिता' बुभुक्षिताः, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यत एतन्नरकेषु, 'अतिप्रगल्भिता' अतिघृष्टा रौद्ररूपा निर्भयाः तेषु नरकेषु सम्भवति 'सदावकोपा' नित्यकुपिताः तैरेवम्भूतैः शृगालादिभिस्तत्र व्यवस्थिता जन्मान्तरकृतबहुकूरकर्माणः शृङ्खलादिभिर्बद्धा अयोमयनिगडिता 'अदूरगाः' परस्परसमीपवर्तिनो 'भक्ष्यन्ते' खण्डशः 'खाद्यन्त इति ॥२०॥ अपि च-

टीकार्थ - नरकपालों के द्वारा बनाये हुए विशाल शरीरवाले भूखे बड़े ढीठ रौद्ररूप निर्भय गीदड़ उस नरक में होते हैं । नाम शब्द संभावना अर्थ में आया है, यह नरक में संभव है, यह वह बताता है । वे गीदड़ हमेशा क्रोधित रहते हैं । उन गीदड़ों के द्वारा उस नरक में रहनेवाले एक दूसरे के समीपवर्ती, तथा लोह की जंजीर में बंधे हुए पूर्व जन्म के पापी जीव, खाये जाते हैं ॥२०॥



सयाजला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जलं लोहविलीणतत्ता ।

जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगायऽताणुक्कमणं करेति

॥२१॥

छाया - सदाजला नाम नद्यभिदुर्गा, पिच्छिला लोहविलीनतप्ता ।

यस्यामभिदुर्गायां प्रपद्यमाना एका अत्राणाः उत्क्रमणं कुर्वन्ति ॥

अन्वयार्थ - (सदाजला नाम) सदाजला नामक (भिदुग्गा) बड़ी विषम (नदी) एक नदी है (पविज्जलं) उसका जल क्षार पीब (रस्सी) और रक्त से मलिन रहता है अथवा वह बड़ी पिच्छिल है (लोहविलीनतप्ता) तथा वह आग से गले हुए लोह के द्रव के समान अति उष्ण जलवाली है (अभिदुग्गंसि) अति विषम (जंसी पवज्जमाणा) जिस नदी में गये हुए नारकी जीव (एगायतानुक्रमणं करेति) अकेले रक्षक रहित तैरते हैं ।

भावार्थ - सदाजला नामक एक नरक की नदी है, उसमें जल हमेशा रहता है इसलिए वह सदाजला कहलाती है। वह नदी बड़ी कष्टदायिनी है । उसका जल क्षार, पीब (रस्सी) और रक्त से सदा मलिन रहता है और वह आग से गले हुए लोह के द्रव के समान अति उष्ण जल को धारण करती है । उस नदी में बिचारे नारकी जीव रक्षक रहित अकेले तैरते हैं ।

टीका - सदा-सर्वकालं जलम्-उदकं यस्यां सा तथा सदाजलाभिधाना वा 'नदी' सरिद् 'अभिदुर्गा' अतिविषमा प्रकर्षेण विविधमत्युष्णं क्षारपूयरूधिराविलं जलं यस्यां सा प्रविजला यदिवा 'पविज्जले'ति रूधिराविलत्वात् पिच्छिला, विस्तीर्णगम्भीरजला वा अथवा प्रदीप्तजला वा, एतदेव दर्शयति-अग्निना तप्तं सत् 'विलीनं' द्रवतां गतं यल्लोहम्-अयस्तद्वत्तसा, अतितापविलीनलोहसदृशजलेत्यर्थः, यस्यां च सदाजलायाम् अभिदुर्गायां नद्यां प्रपद्यमाना नारकाः 'एगाय'ति एकाकिनोऽत्राणा 'अनुक्रमणं' तस्यां गमनं प्लवनं कुर्वन्तीति ॥ २१ ॥

टीकार्थ - जिसमें सब समय जल भरा रहता है, उसे 'सदाजला' कहते हैं, अथवा जिसका सदाजला नाम है, ऐसी नरक की एक नदी है, वह बड़ी विषम अर्थात् कष्टदायिनी है, उसका जल अत्यन्त उष्ण और क्षार, पीब तथा रक्त से मलिन रहता है, अथवा रक्त से भरी हुई होने के कारण वह बड़ी पिच्छिल चिकनी है, अथवा वह विस्तृत एवं गंभीर जलवाली है। अथवा वह प्रदीप्तजला यानी अत्युष्ण जलवाली है । यही शास्त्रकार दिखलाते हैं- आग से तपाहुआ अत एव द्रव को प्राप्त जो लोह उसके समान तापवाली वह नदी है अर्थात् अत्यन्त ताप से तपकर गले हुए लोह के समान उसका जल गर्म रहता है । ऐसी सदाजला नामक अति विषम नदी में पड़े हुए नारकी जीव अकेले रक्षक रहित तैरते हैं ॥२१॥



- साम्प्रतमुद्देशकार्यमुपसंहरन् पुनरपि नारकाणां दुःखविशेषं दर्शयितुमाह-

- अब शास्त्रकार उद्देशक को समाप्त करते हुए फिर भी नारकी जीवों के दुःख बताने के लिए कहते हैं-

एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठतीयं ।

ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं

॥२२॥

छाया - एते स्पर्शाः स्पृशन्ति बालं निरन्तरं तत्र चिरस्थितिकम् ।

न हन्यमानस्य तु भवति त्राणम्, एकः स्वयं पर्यनुभवति दुःखम् ॥

अन्वयार्थ - (तत्थ) उस नरक में (चिरट्ठतीयं) चिरकालतक निवास करनेवाले (बालं) अज्ञानी नारकी जीव को (एयाइं) पूर्वोक्त ये (फासाइं) स्पर्श यानी दुःख (निरन्तरं) सदा (फुसंति) पीड़ित करते हैं (हम्ममाणस्स उ) पूर्वोक्त दुःखों से मारे जाते हुए नारकी जीव का (ताणं ण होइ) त्राण नहीं होता (एगो सयं दुक्खं पच्चणुहोइ) वह अकेले उक्त दुःखों को भोगता है ।

भावार्थ - पहले के दो उद्देशों में जिन कठिन दुःखों का वर्णन किया है, वे सब दुःख निरन्तर अज्ञानी नारकी जीव को होते रहते हैं । उस नारकी जीव की आयु भी लम्बी होती है और उस दुःख से उसकी रक्षा भी नहीं हो सकती है। वह अकेले उक्त दुःखों को भोगता है, उसकी सहायता कोई नहीं कर सकता ।

टीका - 'एते' अनन्तरोद्देशकद्वयाभिहिताः 'स्पर्शाः' दुःखविशेषाः परमाधार्मिकजनिताः परस्परापादिताः

स्वाभाविका वेति अतिकटवो रूपरसगंधस्पर्शशब्दाः अत्यन्तदुःसहा बालमिव 'बालम्' अशरणं 'स्पृशन्ति' दुःखयन्ति 'निरन्तरम्' अविश्रामं 'अच्छिनिमीलय'मित्यादिपूर्ववत् 'तत्र' तेषु नरकेषु चिरं-प्रभूतं कालं स्थितिर्यस्य बालस्यासौ चिरस्थितिकस्तं, तथाहि- रत्नप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमं, तथा द्वितीयायां शर्कराप्रभायां त्रीणि, तथा वालुकायां सप्त, पङ्कायां दश, धूमप्रभायां सप्तदश तमःप्रभायां द्वाविंशतिर्महातमःप्रभायां सप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिरिति, तत्र च गतस्य कर्मवशापादितोत्कृष्टस्थितिकस्य परैर्हन्यमानस्य स्वकृतकर्मफलभुजो न किञ्चित्त्राणं भवति, तथाहि- किल सीतेन्द्रेण लक्ष्मणस्य नरकदुःखमनुभवतस्तत्राणोद्यतेनापि न त्राणं कृतमिति श्रुतिः, तदेवमेकः- असहायो यदर्थं तत्पापं समर्जितं तै रहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति, न कश्चिद्दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः, तथा चोक्तम्-

“मया परिजन्तव्यार्थं, कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्तै फलभोगिनः ॥११॥”

इत्यादि ॥ २२ ॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - पहले के दो उद्देशों में जिनका वर्णन किया है, वे दुःखविशेष, परमाधार्मिकों के द्वारा किये हुए अथवा परस्पर के द्वारा किये हुए अथवा स्वभाव से उत्पन्न हुए जो अति कटु हैं, ऐसे अति दुःसह रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द शरण रहित नारकी जीव को सदा पीड़ित करते रहते हैं, पलक गिराने मात्र काल तक भी उनको दुःख से छुट्टी नहीं मिलती है । वे नारकी जीव चिरकाल तक उस नरक में निवास करते हैं क्योंकि रत्नप्रभा नामक पृथिवी में उत्कृष्ट एक सागरोपम काल तक स्थिति है और दूसरी शर्कराप्रभा में उत्कृष्ट तीन सागरोपम काल की स्थिति है, वालुका में सात, पङ्कप्रभा में दश, धूमप्रभा में सत्रह, तमःप्रभा में बाईस, एवं महातमःप्रभा सातवीं, पृथिवी में तैंतीस सागरोपम काल की उत्कृष्ट स्थिति है । इन पृथिवीओं में गये हुए और कर्म के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति पाये हुए तथा दूसरे के द्वारा मारे जाते हुए, अपने किये हुए कर्म का फल भोगनेवाले नारकी जीव की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता क्योंकि नरक के दुःख भोगते हुए लक्ष्मण को उस दुःख से रक्षा करने के लिए उद्यत होकर भी सीतेन्द्र रक्षा नहीं कर सके, ऐसा सुना जाता है । इस प्रकार वह प्राणी अकेला अर्थात् जिन लोगों के लिए उसने पाप का उपार्जन किया था, उनसे रहित होकर अपने कर्म का फल स्वरूप दुःख भोगता है कोई भी उसके दुःख में भाग नहीं लेता है । कहा है कि-

मैंने अपने परिवार के लिए अत्यन्त दारुण कर्म किया, उस कर्म के बदले मैं अकेला दुःख भोग रहा हूँ परन्तु उसका फल भोगनेवाले मुझको छोड़कर चले गये, इत्यादि ॥२२॥

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए

एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं

॥२३॥

छाया - यद् यादृशं पूर्वमकार्षीत्कर्म, तदेवागच्छति सम्पराये ।

एकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा, वेदयन्ति दुःखिणस्तमन्तदुःखम् ॥

अन्वयार्थ - (जं) जो (जारिसं) जैसा (पुव्वं) पूर्वजन्म में (कम्मं) कर्म (अकासी) किया है (तमेव) वही (संपराए) संसार में (आगच्छति) आता है (एगंतदुक्खं भवं) अज्जणित्ता) जिसमें एकान्त दुःख होता है, ऐसे भव को प्राप्त करके (दुक्खी) एकान्तदुःखी जीव (अणंत दुक्खं तं वेदंति) अनंत दुःखस्वरूप नरक भोगते हैं ।

भावार्थ - जिस जीव ने जैसा कर्म किया है, वही उसके दूसरे भव में प्राप्त होता है । जिसने एकान्त दुःखरूप नरक भव का कर्म किया है, वह अनन्त दुःख रूप उस नरक को भोगता है ।

टीका - 'यत्' कर्म 'यादृशं' यदनुभावं यादृक्स्थितिकं वा कर्म 'पूर्वं' जन्मान्तरे 'अकार्षीत्' कृतवांस्तत्तादृगेव जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थित्यनुभावभेदं 'सम्पराये' संसारे तथा- तेनैव प्रकारेणानुगच्छति, एतदुक्तं भवति-तीव्रमन्दमध्य-मैर्बन्धाध्यवसायस्थानैर्यादृशैर्यद्वद्धं तत्तादृगेव तीव्रमन्दमध्यमेव विपाकम्-उदयमागच्छतीति, एकान्तेन- अवश्यं सुखलेश-

रहितं दुःखमेव यस्मिन्नरकादिके भवे स तथा तमेकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा' नरकभवोपादानभूतानि कर्माण्युपादायैकान्त-
दुःखिनस्तत्-पूर्वनिर्दिष्टं दुःखम्-असातवेदनीयरूपमनन्तम्-अनन्योपशमनीयमप्रतिकारं 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥२३॥

टीकार्थ - प्राणियों ने पूर्वजन्म में जैसी स्थितिवाला तथा जैसा प्रभाववाला जो कर्म किया है, वह वैसा ही अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिवाला एवं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रभाववाला उसी तरह संसार में प्राणियों को प्राप्त होता है। भाव यह है कि- तीव्र, मन्द और मध्यम जैसे बन्ध के अध्यवसायों से जो कर्म बांधा गया है, वह तीव्र मन्द और मध्यम ही विपाक उत्पन्न करता हुआ उदय को प्राप्त होता है। जिस प्राणि ने सुख के लेश से भी रहित एकान्त रूप से जिसमें दुःख ही होता है, ऐसे नरक भव के कारण स्वरूप कर्मों का अनुष्ठान किया है, वे एकान्त दुःखी होकर पूर्वोक्त असाता वेदनीय रूप दुःख जो अनन्त और किसीसे भी शान्त करने योग्य नहीं तथा प्रतीकार रहित है, उसे भोगते हैं। ॥२३॥



- पुनरप्युपसंहारव्याजेनोपदेशमाह -

- फिर भी शास्त्रकार इस उद्देशक की समाप्ति के व्याज से उपदेश देते हैं-

एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए ।

एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे

॥२४॥

छाया - एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरो, न हिंस्यात्कश्चन सर्वलोके ।

एकान्तदृष्टिरपरिग्रहस्तु, बुध्येत लोकस्य वशं न गच्छेत् ॥

अन्वयार्थ - (धीरे) विद्वान् पुरुष (एताणि णरगाणि) इन नरकों को (सोच्चा) सुनकर (सव्वलोए) सब लोक में (किंचण) किसी प्राणी की (न हिंसए) हिंसा न करे (एगंतदिट्ठी) किन्तु जीवादि तत्त्वों में अच्छी तरह विधास रखता हुआ (अपरिग्रहे उ) परिग्रह रहित होकर (लोयस्स बुज्झिज्ज) अशुभ कर्म करनेवाले और उनका फल भोगनेवाले जीवों को समझे अथवा कषायों को जाने (वसं न गच्छे) उनके वश में न जाय।

भावार्थ - विद्वान् पुरुष इन नरकों को सुनकर सब लोक में किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। किन्तु जीवादि तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा रखता हुआ परिग्रह रहित होकर कषायों का स्वरूप जाने और कभी भी उनके वश में न हो।

टीका - 'एतान्' पूर्वोक्तान्नरकान् तास्थ्यात्तद्व्यपदेश इतिकृत्वा नरकदुःखविशेषान् 'श्रुत्वा' निशम्य धीः-- बुद्धिस्तया राजत इति धीरो--बुद्धिमान् प्राज्ञः, एतन्कुर्यादिति दर्शयति--सर्वस्मिन्नपि--त्रसस्थावरभेदभिन्ने 'लोके' प्राणिगणे न कमपि प्राणिनं 'हिंस्यात्' न व्यापादयेत्, तथैकान्तेन निश्चला जीवादितत्त्वेषु दृष्टिः--सम्यग्दर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टिः निष्प्रकम्पसम्यक्त्व इत्यर्थः, तथा न विद्यते परिसमन्तात्सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासौ अपरिग्रहः, तुशब्दादाद्यन्तोपादानाद्वा मृषावादादात्तादानमैथुनवर्जनमपि द्रष्टव्यं, तथा 'लोकम्' अशुभकर्मकारिणं तद्विपाकफलभुजं वा यदिवा--कषायलोकं तत्स्वरूपतो 'बुध्येत' जानीयात्, न तु तस्य लोकस्य वशं गच्छेदिति ॥२४॥

टीकार्थ - जिनका वर्णन पहले किया गया है, ऐसे इन नरकों को अर्थात् नरक में होनेवाले दुःखों को सुनकर (यहां नरक के दुःखों को नरक पद से कहा है क्योंकि जो जिसमें रहता है, वह उस स्थान के वाचक शब्द से भी कहा जाता है) बुद्धि से सुशोभित बुद्धिमान् पुरुष यह कार्य करे। वह कार्य शास्त्रकार दिखलाते हैं- त्रस और स्थावर भेदवाले समस्त प्राणिरूप लोक में किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। तथा जीवादि तत्त्वों में निश्चल दृष्टि रखता हुआ अर्थात् अविचल सम्यक्त्व को धारण करता हुआ एवं जिसे लोग सुख के लिए चारों ओर से ग्रहण करते हैं ऐसे परिग्रह को वर्जित करता हुआ तथा तु शब्द से अथवा आदि और अन्त के ग्रहण से मृषावाद, अदत्तादान और मैथुन को भी त्यागता हुआ पुरुष, अशुभ कर्म करनेवाले अथवा अशुभ कर्म का फल भोगनेवाले जीवों को अथवा कषायों को स्वरूपतः जानकर उनके वश में न जाय ॥२४॥



- एतदनन्तरोक्तं दुःखविशेषमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह -

- जो दुःख विशेष पहले कहे गये हैं, वे दूसरी जगह भी होते हैं, यह बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-
एवं तिरिक्खे मणुयासु (म)रेसुं, चतुरंतऽणंतं तयणुव्विवागं ।

स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कंखेज्ज कालं धुयमायरेज्ज ॥२५॥ त्ति बेमि

। इति श्रीनरयविभक्तीनाम पञ्चमाध्ययनं समत्तं ॥ (गाथाग्रं० ३६१)

छाया - एवं तिर्य्यक्षु, मनुजासुरेसु, चतुरन्तमणन्तं तदनुविपाकम् ।

स सर्वमेतदिति विदित्वा काङ्क्षेत कालं धुयमाचरेदिति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ - (एवं) इसी तरह (तिरिक्खे मणुयासुरेसुं) तिर्य्यक्ष, मनुष्य और देवताओं में भी (चतुरंतऽणंतं) चतुर्गतिक और अनन्त संसार तथा (तयणुव्विवागं) उनके अनुरूप विपाक को जाने (स) बुद्धिमान् पुरुष (एयं) इन (सव्वं) सब बातों को (वेदइत्ता) जानकर (कालं कंखेज्ज) अपने मरण काल की प्रतीक्षा करे और (धुयमायरेज्ज) संयम का पालन करे ।

भावार्थ - जैसे पापी पुरुष की नरकगति कही है, इसी तरह तिर्य्यक्, मनुष्य और देवगति भी जाननी चाहिए। इन चार गतियों से युक्त संसार अनन्त और कर्मानुरूप फल देनेवाला है । अतः बुद्धिमान् पुरुष इसे जानकर मरण पर्यन्त संयम का पालन करे ।

टीका - 'एवम्' इत्यादि, एवमशुभकर्मकारिणामसुमतां तिर्य्यङ्मनुष्यामरेष्वपि 'चतुरन्तं' चतुर्गतिकम् 'अनन्तम्' अपर्यवसानं तदनुरूपं विपाकं 'स' बुद्धिमान् सर्वमेतदिति पूर्वोक्तया नीत्या 'विदित्वा' ज्ञात्वा 'धुवं' संयममाचरन् 'कालं' मृत्युकालमाकाङ्क्षेत्, एतदुक्तं भवति- चतुर्गतिकसंसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखमेव केवलं यतोऽतो ध्रुवो-मोक्षः संयमो वा तदनुष्ठानरतो यावज्जीवं मृत्युकालं प्रतीक्षेतेति, इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२५॥

॥ नरकविभक्त्यध्ययनं पञ्चमं परिसमाप्तमिति ॥

टीकार्थ - अशुभ कर्म करनेवाले प्राणियों को तिर्य्यञ्च, मनुष्य और अमर भव में भी चतुर्गतिक तथा अनन्त और उसके अनुरूप विपाक प्राप्त होता है, इन सब बातों को पूर्वोक्त रीति से बुद्धिमान् पुरुष जानकर संयम का आचरण करता हुआ मृत्यु काल की प्रतीक्षा करे, भाव यह है कि चतुर्गतिक संसार में पड़े हुए जीवों को केवल दुःख ही मिलता है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष मरण पर्यन्त मोक्ष या संयम के अनुष्ठान में तत्पर रहे । इति शब्द समाप्ति अर्थ का द्योतक है । ब्रवीमि पूर्वोक्त है ।

यह नरक विभक्त नामक पाँचवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।



अथ श्रीवीरस्तुत्याख्यं षष्ठमध्ययनं प्रारम्भ्यते ॥

उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अत्रानन्तराध्ययने नरकविभक्तिः प्रतिपादिता, सा च श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनाऽभिहितेत्यतस्तस्यैवानेन गुणकीर्तनद्वारेण चरितं प्रतिपाद्यते, शास्त्रगुरुत्वेन शास्त्रस्य गरीयस्त्वमिति कृत्वा, इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो महावीरगुणगणोत्कीर्तनरूपः। निक्षेपस्तु द्विधा—ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नश्च, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु महावीरस्तवः, तत्र महच्छब्दस्य वीर इत्येतस्य च स्तवस्य च प्रत्येकं निक्षेपो विधेयः, तत्रापि 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इतिकृत्वा पूर्वं महच्छब्दो निरूप्यते, तत्रास्त्ययं महच्छब्दो बहुत्वे, यथा—महाजन इति, अस्ति बृहत्त्वे, यथा—महाघोषः, अस्त्यत्यर्थे, यथा—महाभयमिति, अस्ति प्राधान्ये यथा—महापुरुष इति, तत्रेह प्राधान्ये वर्तमानो गृहीत इत्येतन्निर्युक्तिकारो दर्शयितुमाह—

अब श्रीवीर स्तुति नामक छद्वा अध्ययन आरम्भ किया जाता है। पञ्चम अध्ययन कहा जा चुका अब छद्वा आरम्भ किया जाता है। इसका सम्बन्ध यह है— पूर्व अध्ययन में नरकों का विभाग बताया गया है, वह विभाग श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामी ने कहा है इसलिए गुणकीर्तन के द्वारा इस अध्ययन में उन्हींका चरित्र बताया जाता है, क्योंकि शिक्षक के महत्त्व से ही शास्त्र का महत्त्व होता है। इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार हैं, उनमें उपक्रम में श्रीमहावीर स्वामी का गुण कथनरूप अधिकार है। निक्षेप दो प्रकार का है— ओघनिष्पन्न और नामनिष्पन्न। ओघनिष्पन्न निक्षेप में यह सम्पूर्ण अध्ययन है और नामनिष्पन्न में "महावीरस्तव" यह नाम है। यहाँ महत्, वीर, और स्तव इन तीनों में प्रत्येक का निक्षेप करना चाहिए। उसमें भी जिस क्रम से शब्दों का कथन है, उसी क्रम से उनका विभाग भी बताना चाहिए। इसलिए पहले महत् शब्द का निरूपण किया जाता है। महत् शब्द बहुत्व अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे कि— महाजन शब्द में महत् शब्द बहुत्व अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तथा बृहत्त्व यानी बड़ा अर्थ में भी महत् शब्द का प्रयोग होता है, जैसे कि— महाघोष शब्द में बड़ा अर्थ में महत् शब्द का प्रयोग हुआ है। एवं अत्यन्त अर्थ में महत् शब्द का प्रयोग होता है जैसे कि— महाभयम् में। यहाँ अत्यन्त अर्थ में महत् शब्द प्रयुक्त हुआ है। तथा प्राधान्य अर्थ में महत् शब्द का प्रयोग होता है जैसे कि— महापुरुष शब्द में प्रधान अर्थ में महत् शब्द का प्रयोग हुआ है। इनमें यहां प्रधानार्थक महत् शब्द का ग्रहण है, यह दिखाने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

पाहन्ने महसद्दो दब्बे खेत्ते य कालभावे य । वीरस्स उ णिक्खेयो चउक्कओ होइ णायव्वो ॥८३॥ नि०।

टीका - तत्र महावीरस्तव इत्यत्र यो महच्छब्दः स प्राधान्ये वर्तमानो गृहीतः, 'तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा प्राधान्यं, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यप्राधान्यं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधैव, तत्र द्विपदेषु तीर्थकरचक्रवर्त्यादिकं चतुष्पदेषु हस्त्यश्वादिकमपदेषु प्रधानं कल्पवृक्षादिकं, यदिवा—इहैव ये प्रत्यक्षा रूपरसगन्धस्पर्शरुक्कृष्टाः पौण्डरीकादयः पदार्थाः, अचित्तेषु वैडूर्यादयो नानाप्रभावा मणयो मिश्रेषु तीर्थकरो विभूषित इति, क्षेत्रतः प्रधाना सिद्धिर्धर्मचरणाश्रयणान्महाविदेहं, चोपभोगाङ्गीकरणेन तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रं, कालतः प्रधानं त्वेकान्तसुषमादि, यो वा कालविशेषो धर्माचरणप्रतिपत्तियोग्य इति, भावप्रधानं तु क्षायिको भावः तीर्थकरशरीरापेक्षयौदयिको वा, तत्रेह द्वयेनाप्यधिकार इति।

वीरस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यवीरो द्रव्यार्थसङ्गमादावद्भुतकर्मकारितया शूरो यदिवा—यत्किञ्चित् वीर्यवद् द्रव्यं तत् द्रव्यवीरे अन्तर्भवति, तद्यथा—तीर्थकृदनन्तबलवीर्यो

लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुमलं तथा मन्दरं दण्डं कृत्वा रत्नप्रभां पृथिवीं छत्रवद्बिभृयात्, तथा चक्रवर्तिनोऽपि बलं दोसोला बत्तीसा', इत्यादि, तथा विषादीनां मोहनादिसामर्थ्यमिति, क्षेत्रवीरस्तु यो यस्मिन् क्षेत्रेऽद्भुतकर्मकारी वीरो वा यत्र व्यावर्ण्यते, एवं कालेऽप्यायोज्यं, भाववीरो यस्य क्रोधमानमायालोभैः परीषहादिभिश्चात्मा न जितः, तथा चोक्तम्-

“कोहं माणं च मायं च, लोभं पंचेदियाणि य। दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥१॥

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जयं जिणे। एक्कं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥२॥ तथा-
एक्को परिभमउ जए वियडं जिणकेसरी सलीलाए। कंदप्पदुट्टदाढो मयणो विञ्जारिओ जेणं ॥३॥”

तदेवं वर्धमानस्वाम्येव परीषहोपसर्गेरनुकूलप्रतिकूलैरपराजितोऽद्भुतकर्मकारित्वेन गुणनिष्पन्नत्वात् भावतो महावीर इति भण्यते, यदिवा-द्रव्यवीरो व्यतिरिक्त एकभविकादिः, क्षेत्रवीरो यत्र तिष्ठत्यसौ व्यावर्ण्यते वा, कालतोऽप्येवमेव, भाववीरो नोआगमतो वीरनामगोत्राणि कर्माण्यनुभवन्, स च वीरवर्धमानस्वाम्येवेति ॥८३॥ स्तवनिक्षेपार्थमाह-

शुद्धिक्खेवो चउहा आगंतुअभूसणेहिं दव्यथुती । भावे संताण गुणाण कित्ता जे जहिं भणिया ॥८४॥ नि०

‘स्तुतेः’ स्तवस्य नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यस्तवस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो यः कटककेयूरस्रक्चन्दनादिभिः सचित्ताचित्तद्रव्यैः क्रियत इति, भावस्तवस्तु ‘सद्भूतानां’ विद्यमानानां गुणानां ये यत्र भवन्ति तत्कीर्तनमिति ॥८४॥

साम्प्रतं आद्यसूत्रसंस्पर्शद्वारेण सकलाध्ययनसम्बन्धप्रतिपादिकां गाथां निर्युक्तिकृदाह-

पुच्छिसु जंबुणामो अज्ज सुहम्मा तओ कहेसी य । एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाहि ॥८५॥ नि०

जम्बूस्वामी आर्यसुधर्मस्वामिनं श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् पृष्ठवान्, अतोऽसावपि भगवान् सुधर्मस्वाम्येवगुणविशिष्टो महावीर इति कथितवान्, एवं चासौ भगवान् संसारस्य ‘जयम्’ अभिभवमाह, ततो यूयमपि यथा भगवान् संसारं जितवान् तथैव यत्नं विधत्तेति ॥८५॥

टीकार्थ - ‘महावीरस्तव’ शब्द में प्रधानार्थक महत् शब्द का ग्रहण है । वह प्रधानता, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से छः प्रकार की होती है । नाम और स्थापना सरल हैं, इसलिए उन्हें छोड़कर द्रव्यप्रधानता बताई जाती है- द्रव्यप्रधानता, ज्ञशरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त सचित्त, अचित्त और मिश्रभेद से तीन प्रकार की होती है । सचित्त भी द्विपद, चतुष्पद और अपद भेद से तीन ही प्रकार का है । द्विपदों में तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि प्रधान हैं तथा चतुष्पदों में हाथी और घोड़ा आदि एवं अपदों में कल्पवृक्ष आदि प्रधान हैं, अथवा इसी लोक में जो रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श से उत्कृष्ट हैं, ऐसे प्रत्यक्ष पुण्डरीक (कमल) आदि पदार्थ अपदों में प्रधान हैं । अचित्त पदार्थों में नाना प्रकार के प्रभाववाले वैडूर्य आदि मणि प्रधान हैं । मिश्रों में विभूषित तीर्थंकर प्रधान हैं । क्षेत्र से प्रधान सिद्धक्षेत्र है तथा धर्माचरण के आश्रय से प्रधान महाविदेह क्षेत्र है एवं उपभोग के आश्रय से प्रधान देवकुरु आदि क्षेत्र हैं । काल से प्रधान एकान्त सुषमादि काल है अथवा जो काल धर्माचरण के लिए उपयुक्त है, वह काल से प्रधान है । भावों में प्रधान क्षायिकभाव है अथवा तीर्थंकर के शरीर की अपेक्षा से औदयिक भाव प्रधान है । इनमें यहां दोनों का ही अधिकार है ।

वीर शब्द का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावभेद से चार प्रकार का निक्षेप है । इनमें, ज्ञशरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यवीर वह है, जो द्रव्य के लिए युद्ध आदि में अद्भुतकर्म करनेवाला शूर है । अथवा जो कोई वीर्यवान् द्रव्य है, वह द्रव्यशरीर में अन्तर्भूत होता है, जैसे कि- तीर्थंकर अनन्त बल और वीर्य से युक्त हैं । वह लोक को गेंद के समान अलोक में फेंक सकते हैं तथा मन्दर पर्वत को दण्ड बनाकर उस पर रत्नप्रभा पृथिवी को छत्र के समान धारण कर सकते हैं तथा चक्रवर्ती का बल भी “दोसोला बत्तीसा” इत्यादि कहा है ? तथा

1. क्रोधो मानस माया च लोभश्च पद्मेन्द्रियाणि च दुर्जयं चैवात्मनः सर्वमात्मनि जिते जितं ॥१॥ यः सहस्रं सहस्राणां सङ्ग्रामे दुर्जयं जयेत् । एकं जयेदात्मान एष तस्य परमो जयः ॥२॥ एकः परिभ्राम्यतु जगति विकटं जिनकेसरी स्वलीलया । कन्दर्पदुष्टदंष्ट्रः मदनो विदारितो येन ॥३॥

विष आदि का मोहन^१ करने का सामर्थ्य है। क्षेत्रवीर वह है जो जिस क्षेत्र में अद्भुत कर्म करता है या वीर कहकर वर्णन किया जाता है। इसी तरह काल में भी जानना चाहिए। भाववीर वह है जिसकी आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ और परीषह आदि के द्वारा जीती नहीं गयी है।

कहा है कि— क्रोध, मान, माया, लोभ और पांच इन्द्रिय दुर्जय हैं इसलिए आत्मा को जीत लेने पर सब जीत लिये जाते हैं। जो पुरुष युद्ध में हजार हजार दुर्जय दुश्मनों को जीतता है, वह यदि एक आत्मा को जीत लेवे तो यह उसका भारी जय है। इस जगत् में एक जिनसिंह ही विकट चाल से भ्रमण करता है? जिन्होंने अपनी लीला से कामरूप तीक्ष्ण दाढ़वाले मदन (काम) को चीर डाला है।

इस प्रकार परीषह और अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्गों से नहीं जीते हुए तथा अद्भुत कर्म करने के कारण भगवान् महावीर स्वामी ही गुणों के कारण भाव से महावीर कहे जाते हैं। अथवा व्यतिरिक्त एकभक्तिक आदि द्रव्य वीर हैं। क्षेत्र वीर वह है जो जिस क्षेत्र में रहता है अथवा जिस क्षेत्र में उसका वर्णन किया जाता है। काल से भी इसी तरह जानना चाहिए। भाव से वीर वह है जो नोआगम से वीर नाम-गोत्र कर्मों का अनुभव करता है, वह वीर वर्धमान स्वामी ही हैं ॥८३॥ अब निर्युक्तिकार स्तव का निक्षेप करने के लिए कहते हैं—

स्तव के नाम आदि चार निक्षेप होते हैं, इनमें नाम और स्थापना पूर्ववत् जानने चाहिए। द्रव्यस्तव ज्ञ शरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त वह है, जो कटक, केयूर, फूलमाला, और चन्दन आदि सचित्त और अचित्त द्रव्यों के द्वारा किया जाता है। भावस्तव वह है, जो विद्यमान गुणों का अर्थात् जिसमें जो गुण विद्यमान हैं, उसका कीर्तन किया जाता है ॥८४॥ अब प्रथम सूत्र में स्पर्श करते हुए समस्त अध्ययन का सम्बन्ध बतानेवाली गाथा को निर्युक्तिकार कहते हैं—

जम्बू स्वामी ने आर्य सुधर्मा स्वामी से श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामी के गुणों को पूछा अतः श्री सुधर्मा स्वामी ने भी 'श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामी ऐसे गुणों से युक्त थे' यह कहा तथा उस भगवान् महावीर स्वामी ने संसार का जय इस प्रकार बताया है, इसलिए आप लोग भी जैसे भगवान् ने संसार का विजय किया था, इसी तरह यत्न करें, यह श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्यों के प्रति कहा ॥८५॥



— साम्प्रतं निक्षेपानन्तरं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

— अब निक्षेप के पश्चात् सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य ।

से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहु समिक्खयाए

॥१॥

छाया - अप्राक्षुः श्रमणाः ब्राह्मणाश्च, अगारिणो ये परतीर्थिकाश्च ।

स क एकान्तहितं धर्ममाह, अणीदृशं साधुसमीक्षया ।

अन्वयार्थ (समणा य माहणा) श्रमण और ब्राह्मण (अगारिणो) क्षत्रिय आदि (परतित्थिआ य) और परतिथी शाक्य आदि ने (पुच्छिस्सु) पूछा कि—(से केइ) वह कौन है? जिसने (णेगंतहियं) एकान्त हित (अणेलिसं) अनुपम (धम्म) धर्म (साहु समिक्खयाए) अच्छी तरह विचारकर (आहु) कहा है।

भावार्थ - श्रमण, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तथा परतीर्थियों ने पूछा कि— एकान्तरूप से कल्याण करनेवाले अनुपम धर्म को जिसने सोच विचारकर कहा है, वह कौन है? ।

टीका - अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः, तद्यथा— तीर्थकरोपदिष्टेन मार्गेण ध्रुवमाचरन् मृत्युकालमुपेक्षेत्युक्तं, तत्र किम्भूतोऽसौ तीर्थकृत् येनोपदिष्टो मार्ग इत्येतत् पृष्ठवन्तः 'श्रमणा' यतय इत्यादि, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु बुद्ध्येत

1. रुचिकर (कोष ज्ञान सागर)

यदुक्तं प्रागिति, एतच्च यदुत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचनं वक्ष्यते तच्च बुद्ध्येतेति, अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या प्रतन्यते, सा चेयम्- अनन्तरोक्तां बहुविधां नरकविभक्तिं श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः केनेयं प्रतिपादितेत्येतत् सुधर्मस्वामिनम् 'अप्राक्षुः' पृष्ठवन्तः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यदिवा जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमेवाह^१- यथा केनैवंभूतो धर्मः संसारोत्तारणसमर्थः प्रतिपादित इत्येतद्ब्रह्मो मां पृष्ठवन्तः, तद्यथा-'श्रमणा' निर्ग्रन्थादयः^२ तथा 'ब्राह्मणा' ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः तथा 'अगारिणः' क्षत्रियादयो ये च शाक्यादयः परतीर्थिकास्ते सर्वेऽपि पृष्ठवन्तः, किं तदिति दर्शयति- स को योऽसावेनं धर्मं दुर्गतिप्रसृतजन्तुधारकमेकान्तहितम् 'आह' उक्तवान् 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशम् अतुलमित्यर्थः, तथा- साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा- यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तिस्तथा, यदिवा- साधुसमीक्षया- समतयोक्तवानिति ॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र का अनन्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है- पूर्व सूत्र में कहा है कि तीर्थंकर के द्वारा बताये हुए मार्ग से संयम का पालन करते हुए बुद्धिमान् पुरुष को मृत्युकाल की प्रतीक्षा करनी चाहिए, अतः यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि- वह तीर्थंकर कैसे हैं जिनने मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया है ? यह श्रमण, यति आदि ने पूछा । परम्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है- प्रथम सूत्र में कहा है कि जीव को बोध प्राप्त करना चाहिए, सो आगे चलकर जो प्रश्न का उत्तर दिया जायगा, वह जानना चाहिए । इस सम्बन्ध से आये हुए इस सूत्र की संहिता आदि के क्रम से व्याख्या की जाती है, वह व्याख्या यह है- पहले जो बहुत प्रकार की नरक विभक्ति बताई गई है, उसे सुनकर संसार से घबराये हुए पुरुषों ने श्रीसुधर्मा स्वामी से यह पूछा कि- "यह नरक विभक्ति किसने कही है" 'ण' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है अथवा जम्बूस्वामी श्री सुधर्मा स्वामी से कहते हैं कि- संसार से पार करने में समर्थ ऐसे धर्म को किसने कहा ? यह बहुत पुरुषों ने मेरे से पूछा है ? जैसे कि- श्रमण अर्थात् निर्ग्रन्थ आदि तथा ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि के अनुष्ठान में तत्पर रहनेवाले एवं अगारी अर्थात् क्षत्रिय आदि तथा शाक्य आदि परतीर्थी इन सब ने मेरे से पूछा है । क्या पूछा है ? सो दर्शाते हैं- वह पुरुष कौन है ? जिसने दुर्गति में पड़ते हुए जीव को धारण करने में समर्थ एकान्त हित अनन्य सदृश अर्थात् अनुपम धर्म को पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को निश्चय कर के अथवा समभाव से कहा है ? ॥१॥



- तथा तस्यैव ज्ञानादिगुणावगतये प्रश्नमाह-

- उन्हीं भगवान् महावीर स्वामी के गुणों के ज्ञान के लिए प्रश्न करते हुए कहते हैं कि-

कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नायसुतस्स आसी ?।

जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं

॥२॥

छाया - कथं च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य, शीलं कथं ज्ञातपुत्रस्य आसीत्
जाणासि भिक्षो । याथातथ्येन, यथाश्रुतं बूहि यथा निशान्तम् ।

अन्वयार्थ - (से नायपुत्तस्स) उस ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी का (णाणं) ज्ञान (कहं) कैसा था (कह दंसणं) तथा उनका दर्शन कैसा था (सीलं कहं आसी) तथा उनका शील यानी यम, नियम का आचरण कैसा था ? (भिक्खु) हे साधो ! (जहातहेणं जाणासि) तुम ठीक ठीक यह जानते हो इसलिए (अहासुतं) जैसा तुमने सुना है (जहा णिसंतं) और जैसा निश्चय किया है (बूहि) सो हमें बताओ ।

भावार्थ - ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी के ज्ञान, दर्शन और चारित्र कैसे थे ? हे भिक्षो ! आप यह जानते हैं, इसलिए जैसा आपने सुना, देखा या निश्चय किया है, सो हमें बताइए ।

टीका - 'कथं' केन प्रकारेण भगवान् ज्ञानमवाप्तवान् ?, किम्भूतं वा तस्य भगवतो ज्ञानं- विशेषावबोधकं?, किम्भूतं 'से' तस्य 'दर्शनं' सामान्यार्थपरिच्छेदकं ? 'शीलं च' यमनियमरूपं कीदृक् ? ज्ञाताः- क्षत्रियास्तेषां 'पुत्रो' भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तस्य 'आसीद्' अभूदिति, यदेतन्मया पृष्ठं तत् 'भिक्षो' ! सुधर्मस्वामिन् याथातथ्येन त्वं

‘जानीषे’ सम्यगवगच्छसि ‘णम्’ इति वाक्यालङ्कारे तदेतत्सर्वं यथाश्रुतं त्वया श्रुत्वा च यथा ‘निशान्त’ मित्यवधारितं यथा दृष्टं तथा सर्वं ‘ब्रूहि’ आचक्ष्वेति ॥२॥

टीकार्थ - भगवान् महावीर स्वामी ने किस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया था ? अथवा भगवान् का ज्ञान यानी विशेष अर्थ को प्रकाशित करनेवाला बोध कैसा था ? तथा सामान्य अर्थ का निश्चय करनेवाला उनका दर्शन कैसा था ? तथा यम, नियम रूप उनका शील कैसा था ? ज्ञात यानी क्षत्रिय के पुत्र भगवान् महावीर स्वामी के ये सब कैसे थे ? हे सुधर्मास्वामिन् ! मैंने जो पूछा है सो सब तुम अच्छी तरह जानते हो, ‘णं’ शब्द वाक्यालङ्कार में आया है, इसलिए जैसा तुमने सुना है और सुनकर जो निश्चय किया है तथा जैसा देखा है सो सब मुझको बताइए ॥२॥



- स एवं पृष्ठः सुधर्मस्वामी श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् कथयितुमाह-

- इस प्रकार प्रश्न किये हुए श्रीसुधर्मास्वामी श्रीमन्महावीरस्वामी के गुणों को कहना आरम्भ करते हैं-

खेयन्नए से कुसलासुपुत्रे (ले महेसी), अणंतनाणी य अणंतदंसी ।

जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि

॥३॥

छाया - खेदज्ञः स कुशल आशुप्रज्ञ, अनन्तज्ञानी चानन्तदर्शी ।

यशस्विनश्चक्षुष्ये स्थितस्य, जानासि धर्मं च धृतिं च प्रेक्षस्व ॥

अन्वयार्थ - (से खेयन्नए) भगवान् महावीरस्वामी, संसार के प्राणियों का दुःख जानते थे (कुसलासुपुत्रे) वह आठ प्रकार के कर्मों का छेदन करनेवाले और आशुप्रज्ञ अर्थात् सदा सर्वत्र उपयोग रखनेवाले थे (अणंतनाणी य अणंतदंसी) वे अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे (जसंसिणो) कीर्तिवाले तथा (चक्खुपहे ठियस्स) जगत् के लोचनमार्ग में स्थित भगवान् के (धम्मं) धर्म-स्वभाव को या श्रुतचारित्र धर्म को (जाणाहि) तुम जानो (धिइं च पेहि) और उनकी धीरता को विचारो ?

भावार्थ - श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से कहते हैं कि- भगवान् महावीर स्वामी संसार के प्राणियों का दुःख जानते थे, वे आठ प्रकार के कर्मों का नाश करनेवाले और सदा सर्वत्र उपयोग रखनेवाले थे, वे अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे, ऐसे यशस्वी तथा भवस्थकेवली अवस्था में जगत् के लोचन मार्ग में स्थित उन भगवान् के धर्म को तुम जानो और धीरता को विचारो ।

टीका - सः भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतः खेदं-संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात्, यदिवा ‘क्षेत्रज्ञो’ यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति, अथवा-क्षेत्रम्-आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः, तथा भावकुशान्-अष्टविधकर्मरूपान् लुनाति-छिनत्तीति कुशलः प्राणिनां कर्मोच्छिन्नये निपुण इत्यर्थः, आशु-शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावाशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगाद्, न छद्मस्थ इव विचिन्त्य जानातीति भावः, महर्षिरिती क्वचित्पाठः, महंश्चासावृषिश्च महर्षिः अत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादतुल-परीषहोपसर्गसहनाच्चेति, तथा अनन्तम्-अविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं-विशेषग्राहकं यस्यासावनन्तज्ञानी, एवं सामान्यार्थपरिच्छेदकत्वेनानन्तदर्शी, तदेवम्भूतस्य भगवतो यशो नृसुरासुरातिशाय्यतुलं विद्यते यस्य स यशस्वी तस्य, लोकस्य ‘चक्षुःपथे’ लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावेन चक्षुर्भूतस्य वा ‘जानीहि’ अवगच्छ ‘धर्मं’ संसारोद्धरणस्वभावं, तत्प्रणीतं वा श्रुतचारित्राख्यं, तथा तस्यैव भगवतस्तथोपसर्गितस्यापि निष्प्रकम्पां चारित्राचलनस्वभावां ‘धृतिं’ संयमे रतिं तत्प्रणीतां वा ‘प्रेक्षस्व’ सम्यक्कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यदिवा-तैरेव श्रमणादिभिः सुधर्मस्वाम्यभिहितो यथा त्वं तस्य भगवतो यशस्विनश्चक्षुष्ये व्यवस्थितस्य धर्मं धृतिं च जानीषे ततोऽस्माकं ‘पेहि’ति कथयेति ॥३॥

टीकार्थ - चौतीस अतिशयों के धारक वे भगवान् महावीर स्वामी संसार में रहनेवाले प्राणियों के कर्म का

फल स्वरूप दुःख को जानते थे, क्योंकि वे उनके दुःख को मिटाने में समर्थ उपदेश करते थे। अथवा भगवान् क्षेत्रज्ञ थे क्योंकि वे आत्मा के यथार्थ स्वरूप जानने के कारण आत्मज्ञ थे। अथवा क्षेत्र नाम आकाश का है, उसे भगवान् जानते थे अर्थात् वे लोक और अलोक के स्वरूप को जानते थे। जो आठ प्रकार के कर्मरूपी भावकुशों का छेदन करता है, उसे कुशल कहते हैं। भगवान् प्राणियों के कर्म का छेदन करने में निपुण होने के कारण कुशल थे। जिसकी बुद्धि शीघ्र है उसे आशुप्रज्ञ कहते हैं। भगवान् आशुप्रज्ञ थे, क्योंकि वे सदा सर्वत्र उपयोग रखते थे, वे छद्मस्थ की तरह सोचकर नहीं जानते थे, यह भाव है। कहीं 'महर्षिः' यह पाठ मिलता है। भगवान् अत्यन्त उग्र तपस्या करने से तथा अतुल परीषह और उपसर्गों को सहन करने से महर्षि थे। जिनका विशेष ग्राहक ज्ञान नाश रहित है अथवा अनन्त पदार्थों का निश्चय करनेवाला है, उन्हें अनन्तज्ञानी कहते हैं, भगवान् अनन्तज्ञानी थे। एवं सामान्य अर्थ का निश्चय करने के कारण भगवान् अनन्तदर्शी थे। भगवान् का यश मनुष्य, देवता और असुरों से बढ़कर था, इसलिए वह यशस्वी थे तथा भवस्थ केवली अवस्था में वे जगत् के नेत्रमार्ग में स्थित थे, अथवा जगत् के सामने सूक्ष्म, और व्यवहित पदार्थों को प्रकट करने के कारण वे जगत् के नेत्र स्वरूप थे, ऐसे भगवान् के धर्म को यानि संसार से उद्धार करने के स्वभाव को अथवा उनके द्वारा कहे हुए श्रुत और चारित्र धर्म को तुम जानो। तथा उपसर्गों के द्वारा पीड़ित किये जाने पर भी कम्प रहित चारित्र से अविचल स्वभावरूप उनकी धृति यानी संयम में प्रीति को देखो, उसे कुशाग्र बुद्धि के द्वारा विचारो। अथवा उन्हीं श्रमण आदि ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा कि यशस्वी और जगत् के नेत्रपथ में स्थित भगवान् के धर्म और धीरता को आप जानते हैं, इसलिए आप हमें यह सब कहे ॥३॥



- साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तद्गुणान् कथयितुमाह-

- अब श्रीसुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर स्वामी के गुणों का वर्णन आरम्भ करते हैं-

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा ।

से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवे व धम्मं समियं उदाहु

॥४॥

छाया - ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यङ्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणिः ।

स नित्यानित्याभ्यां प्रसमीक्ष्य प्रज्ञः, दीप इव धर्मं समितमुदाह ॥

अन्वयार्थ - (उड्ढं) ऊपर (अहेयं) नीचे (तिरियं) तिरछे (दिसासु) दिशाओं में (तसा य जे थावरा जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं, उन्हें (णिच्चणिच्चेहि) नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का (समिक्ख) जानकर (से पन्ने) उस केवलज्ञानी भगवान् ने (दीवे व धम्मं) दीपक के समान सम्यग् धर्म का कथन किया था ।

भावार्थ - केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने ऊपर, नीचे और तिरछे रहनेवाले त्रस और स्थावर प्राणियों को नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार का जानकर दीपक के समान पदार्थ को प्रकाशित करनेवाले धर्म का कथन किया है ।

टीका - ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यङ्क्षु सर्वत्रैव चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसास्तेजोवायुरू-पविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् त्रिधा, तथा ये च 'स्थावराः' पृथिव्यम्बुवनस्पतिभेदात् त्रिविधाः, एत उच्छवासादयः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिन इति, अनेन च शाक्यादिमतनिरासेन पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमावेदितं भवति, स भगवांस्तान् प्राणिनः प्रकर्षेण केवलज्ञानित्वात् जानातीति प्रज्ञः [ग्रन्थाग्रम् ४२५०] स एव प्राज्ञो, नित्यानित्याभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाश्रयणात् 'समीक्ष्य' केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञाय प्रज्ञापनायोग्यानाहेत्युत्तरेण सम्बन्धः, तथा स प्राणिनां पदार्थाविर्भावनेन दीपवत् दीपः यदिवा- संसारार्णवपतितानां सदुपदेशप्रदानत आश्वासहेतुत्वात् द्वीप इव द्वीपः, स एवम्भूतः संसारोत्तारणसमर्थ 'धर्म' श्रुतचारित्राख्यं सम्यग् इतं-गतं सदनुष्ठानतया रागद्वेषरहितत्वेन समतया वा, तथा चोक्तम्- "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" इत्यादि, समं वा-धर्मम् उत- प्राबल्येन आह- उक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थं न पूजासत्कारार्थमिति ॥४॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - ऊपर नीचे और तिखिच्छा चौदह रज्जु स्वरूप इस लोक में, रहनेवाले जो तेजो रूप और वायुरूप विकलेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय भेदवाले तीन प्रकार के त्रस प्राणी हैं तथा पृथिवी, जल और वनस्पति भेद से जो तीन प्रकार के स्थावर प्राणी हैं। इनके उच्छ्वास आदि प्राण होते हैं इसलिए वे प्राणी हैं। इस कथन के द्वारा शाक्य आदि मर्तों का खण्डन करके पृथिवी आदि एकेन्द्रियों को भी जीव कहा है। इन प्राणियों को वह भगवान् केवलज्ञानी होने के कारण जानते हैं, अत एव भगवान् प्रज्ञ है। जो प्रज्ञ है, उसी को प्राज्ञ कहते हैं। भगवान् केवलज्ञान के द्वारा द्रव्यार्थ और पर्यायार्थ का आश्रय लेकर समस्त पदार्थों को जानकर समझाने योग्य प्राणियों के प्रति धर्म का कथन किया है, यह उत्तर ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। तथा वह भगवान् प्राणियों को पदार्थ का स्वरूप प्रकट करने से दीपक के समान हैं, इसलिए वह दीपक हैं। अथवा भगवान् संसारसागर में पड़े हुए प्राणियों को सदुपदेश देने से उनके विश्राम का कारण होने से द्वीप के समान हैं, इसलिए वह द्वीप हैं। ऐसे भगवान् ने संसार से पार करने में समर्थ श्रुत और चारित्र धर्म को कहा है। भगवान् ने उक्त धर्म को उत्तम अनुष्ठान युक्त होकर अथवा रागद्वेष रहित होकर अथवा समभाव के साथ कहा है। अत एव कहा है कि (जहाँ) जैसे धनवान् को धर्म का उपदेश करे इसी तरह दरिद्र को भी। भगवान् ने प्राणियों पर कृपा करके उक्त धर्म का कथन किया है, पूजा सत्कार के लिए नहीं ॥४॥



से सव्वदंसी अभिभूयनाणी, गिरामगंधे धिइमं ठितप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंधा अतीते अभए अणाऊ

॥५॥

छाया - स सर्वदर्शी अभिभूयनाणी, गिरामगन्धो धृतिमांस्थितात्मा ।

अनुत्तरः सर्वजगत्सु विद्वान् ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥

अन्वयार्थ - (से) वे महावीर स्वामी (सव्वदंसी) समस्त पदार्थों को देखनेवाले (अभिभूयनाणी) केवलज्ञानी (गिरामगंधे) मूल और उत्तरगुण से विशुद्ध चारित्र का पालन करनेवाले (धिइमं) धृति युक्त (ठितप्पा) और आत्मस्वरूप में स्थित थे (सव्वजगंसि) सम्पूर्ण जगत् में वह (अणुत्तरे विज्जं) सबसे उत्तम विद्वान् थे (गंधा अतीते अभए अणाऊ) तथा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से रहित निर्भय और आयु रहित थे ।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी समस्त पदार्थों को देखनेवाले केवलज्ञानी थे। वह मूल और उत्तर गुणों से विशुद्ध चारित्र का पालन करनेवाले बड़े धीर और आत्मस्वरूप में स्थित थे। भगवान् समस्त जगत् में सर्वोत्तम विद्वान् और बाह्य तथा आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित निर्भय एवं आयुरहित थे ।

टीका - 'स' भगवान् सर्व- जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्य स सर्वदर्शी, तथा अभिभूय' पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी, अनेन चापरतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितं भवति, 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' इति कृत्वा तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह- निर्गतः- अपगत आमः- अविशोधिकोट्याख्यः तथा गन्धो-विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रिक्रियां कृतवानित्यर्थः, तथाऽसह्यपरीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि निष्प्रकम्पतया चारित्रे धृतिमान्, तथा स्थितो-व्यवस्थितोऽशेष-कर्मविगमादात्मस्वरूपे आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा, एतच्च ज्ञानक्रिययोः फलद्वारेण विशेषणं, तथा- 'नास्योत्तरं- प्रधानं सर्वस्मिन्नपि जगति विद्यते (यः) स तथा, विद्वानिति सकलपदार्थानां करतलामलकन्यायेन वेत्ता, तथा बाह्यग्रन्थात् सचित्तादिभेदादान्तराच्च कर्मरूपाद् 'अतीतो' अतिक्रान्तो ग्रन्थातीतो- निर्ग्रन्थ इत्यर्थः, तथा न विद्यते सप्तप्रकारमपि भयं यस्यासावभयः समस्तभयरहित इत्यर्थः, तथा न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यनायुः, दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तेरसंभवादिति ॥५॥ अपि च-

टीकार्थ - वे भगवान् महावीर स्वामी सर्वदर्शी हैं अर्थात् स्वभाव से ही चराचर जगत् को सामान्य रूप से देखनेवाले थे। तथा मति आदि चार ज्ञानों का पराजय करके जो रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं, उससे भगवान्

1. तस्य परमाप्रेडितमित्यादिवदवयववाचित्वेन षष्ठी ।

युक्त थे। यहाँ भगवान् को केवलज्ञानी कहकर शास्त्रकार दूसरे धर्मवालों के प्रणेता से महावीर स्वामी की विशिष्टता बतलाते हैं। ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष होता है इसलिए शास्त्रकार पहले भगवान् का ज्ञान दिखाकर अब उनकी क्रिया दिखाने के लिए कहते हैं— जिससे विशुद्धकोटि और अविशुद्ध कोटिरूप दोनों प्रकार के गन्ध-दोष-हट गये हैं, उसे निरामगन्ध कहते हैं, भगवान् निरामगन्ध थे अर्थात् उन्होंने मूल और उत्तरगुणों से शुद्ध चारित्र क्रिया का पालन किया था तथा असह्य परीषह और उपसर्गों की पीड़ा प्राप्त होने पर भी कम्प रहित होकर चारित्र में वे दृढ़ थे। एवं समस्त कर्मों के हट जाने से भगवान् आत्मस्वरूप में स्थित थे। आत्मस्वरूप में स्थित होना ज्ञान और क्रिया के फलद्वारा भगवान् का विशेषण है। समस्त जगत् में भगवान् से बढ़कर कोई विद्वान् नहीं था, वह हस्तामलक यानी हाथ में स्थित आँवले की तरह जगत् के समस्त पदार्थों को जाननेवाले थे। तथा भगवान् सचित्तादिरूप बाह्यग्रन्थ और कर्मरूप आन्धन्तर ग्रन्थ से हटे हुए निर्ग्रन्थ थे। भगवान् को सात प्रकार के भय नहीं थे, इसलिए वे समस्त भयों से रहित थे। भगवान् को (वर्तमान आयु से भिन्न) चारों प्रकार की आयु नहीं थी क्योंकि कर्मरूपी बीज के जल जाने से फिर उनकी उत्पत्ति असंभव है ॥५॥

से भूइपण्णे अणिएअचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।

अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे

॥६॥

छाया - स भूतिप्रज्ञोऽनियताचारी, ओघन्तरो धीर अणन्तचक्षुः ।

अणुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशयति ॥

अन्वयार्थ - (से) वह भगवान् महावीर स्वामी, (भूइपण्णे) अनन्तज्ञानी (अणिए अचारी) और अनियताचारी अर्थात् इच्छानुसार विचरनेवाले (ओहंतरे) संसार सागर को पार करनेवाले (धीरे) बड़े बुद्धिमान् (अणंतचक्खू) केवलज्ञानी (सूरिए वा) जैसे सूर्य (अणुत्तरं) सबसे ज्यादा (तप्पति) तपता है, इसी तरह भगवान् सबसे ज्यादा ज्ञानी थे (वइरोयणिंदे व तमं पगासे) जैसे अग्नि अन्धकार को दूर करके प्रकाश करती है, इसी तरह भगवान् अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते थे।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी अनन्तज्ञानी इच्छानुसार विचरनेवाले, संसार सागर को पार करनेवाले, परीषह और उपसर्गों को सहन करनेवाले केवलज्ञानी थे। जैसे सबसे ज्यादा सूर्य तपता है, इसी तरह भगवान् सबसे ज्यादा ज्ञानवंत थे, अग्नि अन्धकार को दूर करके प्रकाश करती है, इसी तरह भगवान् अज्ञान को दूर कर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते थे।

टीका - भूतशब्दो वृद्धौ मङ्गले रक्षायां च वर्तते, तत्र 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धप्रज्ञः अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, तथा- भूतिप्रज्ञो 'जगद्रक्षाभूतप्रज्ञः एवं सर्वमङ्गलभूतप्रज्ञः' इति, तथा 'अनियतम्' अप्रतिबद्धं परिहायोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी तथौघं- संसारसमुद्रं तरितुं शीलमस्य स तथा, तथा धीः- बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा धीरः, तथा अनन्तं- ज्ञेयानन्ततया नित्यतया वा चक्षुरिव चक्षुः- केवलज्ञानं यस्यानन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्षुः, तथा यथा- सूर्यः 'अणुत्तरं' सर्वाधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति, तथा 'वैरोचनः' अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रो यथाऽसौ तमोऽपनीय प्रकाशयति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानतमोऽपनीय यथावस्थितपदार्थप्रकाशनं करोति ॥६॥ किञ्च-

टीकार्थ - भूति शब्द का वृद्धि मङ्गल और रक्षा अर्थों में प्रयोग होता है। भगवान् महावीर स्वामी भूतिप्रज्ञ थे, अर्थात् वे बड़े हुए ज्ञानवाले यानी अनन्तज्ञानी थे। तथा वे जगत् की रक्षा करनेवाली प्रज्ञा से युक्त थे, एवं वे सबके मङ्गल रूप प्रज्ञावाले थे। तथा भगवान् अनियताचारी थे अर्थात् उनकी गति का कोई प्रतिबन्ध (रोक) न होने के कारण वे अनियत स्थान पर विचरनेवाले थे। भगवान् संसार रूपी ओघ को पार करनेवाले थे और वे बुद्धि से सुशोभित थे अथवा वे परीषह और उपसर्गों से नहीं डिगाये जाने योग्य धीर थे। भगवान् अनन्तचक्षु थे अर्थात् ज्ञेय पदार्थों की अनन्तता के कारण अथवा ज्ञान की नित्यता के कारण केवलज्ञान उनका नेत्र के समान

था, अथवा भगवान् समस्त लोक के प्रति पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकाश करते थे, इसलिए वे अनन्तचक्षु थे। जैसे सूर्य सबसे ज्यादा तपता है, उससे अधिक कोई नहीं तपता है, इसी तरह भगवान् भी ज्ञान में सब से उत्तम थे। जैसे प्रज्वलित होने के कारण इन्द्र स्वरूप अग्नि अन्धकार को निवृत्त कर प्रकाश फैलाती है, इसी तरह भगवान् भी अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते थे ॥६॥

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, जेया मुणी कासव आसुपत्ते ।

इंदेव देवाण महानुभावे, सहस्सणेता दिवि णं विसिद्धे

॥७॥

छाया - अणुत्तरं धर्ममिणं जिनाणां, नेता मुनिः काश्यप आशुप्रज्ञः ।

इन्द्र इव देवानां महानुभावः सहस्रनेता दिवि विशिष्टः ॥

अन्वयार्थ - (आसुपत्ते) शीघ्रबुद्धिवाले (कासव) काश्यपगोत्री (मुणी) मुनि श्री वर्धमान स्वामी (जिणाणं) ऋषभ आदि जिनवरों के (इणं) इस (अणुत्तरं) सब से प्रधान (धम्मं) धर्म के (जेया) नेता हैं (दिवि) जैसे स्वर्ग लोक में (सहस्सदेवाण) हजारों देवताओं का (इंदेव) इन्द्र नेता (महानुभावे विसिद्धे) और अधिक प्रभावशाली हैं, इसी तरह भगवान् सब जगत् में सर्व श्रेष्ठ प्रभावशाली हैं ।

भावार्थ - शीघ्र बुद्धिवाले काश्यपगोत्री मुनि श्री वर्धमान स्वामी ऋषभादि जिनवरों के उत्तम धर्म के नेता हैं । जैसे स्वर्गलोक में सब देवताओं में इन्द्र श्रेष्ठ हैं, इसी तरह भगवान् इस सर्व जगत् में सब से श्रेष्ठ हैं ।

टीका - नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरस्तमिममनुत्तरं धर्मं 'जिनानाम्' ऋषभादितीर्थकृतां सम्बन्धिनमयं 'मुनिः' श्रीमान् वर्धमानाख्यः 'काश्यपः' गोत्रेण 'आशुप्रज्ञः' केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञानो 'नेता' प्रणेतेति, ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठे' (पा० २-३-६९) त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्धर्ममित्यत्र कर्मणि द्वितीयैव, यथा चेन्द्रो 'दिवि' स्वर्गे देवसहस्राणां 'महानुभावो' महाप्रभाववान् 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे तथा 'नेता' प्रणायको 'विशिष्टो रूपबलवर्णादिभिः' प्रधानः एवं भगवानपि सर्वेभ्यो विशिष्टः प्रणायको महानुभावश्चेति ॥७॥ अपि च-

टीकार्थ - जिससे ज्यादा कोई धर्म नहीं है, उस सर्वोत्तम ऋषभादि तीर्थङ्करसम्बन्धी धर्म के, केवलज्ञानी काश्यपगोत्री श्रीमान् वर्धमान स्वामी नेता हैं । यहाँ 'नेता' शब्द में ताच्छील्यार्थक तृन् प्रत्यय हुआ है, इसलिए उसके योग में 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यादि सूत्र के द्वारा षष्ठी के प्रतिषेध होने से 'धर्मम्' इस पद में कर्मणि द्वितीया ही हुई । जैसे स्वर्गलोक में इन्द्र हजारों देवताओं में महाप्रभावशाली हैं ('णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है) तथा सबके नेता हैं एवं रूप, बल और वर्ण आदि में सबसे प्रधान हैं, इसी तरह भगवान् भी सबसे विशिष्ट, सबके नायक और सबसे अधिक प्रभावशाली हैं ॥७॥

से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वावि अणंतपारे ।

अणाइले ^१वा अकसाइ मुक्के, सक्केव देवाहिवई जुईमं

॥८॥

छाया - स प्रहायाऽक्षयः सागर इव, महोदधिरिवानन्तपारः ।

अनाविलो वा अकसायिमुक्तः, शक्र इव देवाधिपतिर्धृतिमान् ॥

अन्वयार्थ - (से) वे भगवान् महावीर स्वामी (सागरे वा) समुद्र के समान (पन्नया) प्रज्ञा से (अक्खय) अक्षय हैं (महोदही वावि अणंतपारे) अथवा वह स्वयम्भूरमण समुद्र के समान अपार प्रज्ञावाले हैं (अणाइले) जैसे उस समुद्र का जल निर्मल है, उसी तरह भगवान् की प्रज्ञा निर्मल है (अकसाइ मुक्के) भगवान् कषायों से रहित और मुक्त हैं (सक्केव) भगवान्, इन्द्र की तरह (देवाहिवई) देवताओं के अधिपति हैं (जुईमं) तथा तेजस्वी हैं ।

भावार्थ - भगवान् समुद्र के समान अक्षय प्रज्ञावाले हैं । उनकी प्रज्ञा का स्वयम्भूरमण समुद्र के समान पार नहीं

है। जैसे स्वयम्भूरमण का जल निर्मल है, इसी तरह भगवान् की प्रज्ञा निर्मल है। भगवान् कषायों से रहित तथा मुक्त हैं। भगवान् इन्द्र के समान देवताओं के अधिपति तथा बड़े तेजस्वी हैं।

टीका - असौ भगवान् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा तथा 'अक्षयः' न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतीक्षीयते प्रतिहन्यते वा, तस्य हि बुद्धिः केवलज्ञानाख्या, सा च 'साद्यपर्यवसाना कालतो द्रव्यक्षेत्रभावैरप्यनन्ता, सर्वसाम्येन दृष्टान्ताभावाद्, एकदेशेन त्वाह- यथा 'सागर' इति, अस्य चाविशिष्टत्वात् विशेषणमाह- 'महोदधिरिव' स्वयम्भूरमण इवानन्तपारः यथाऽसौ विस्तीर्णो गम्भीरजलोऽक्षोभ्यश्च, एवं तस्यापि भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञा स्वयम्भूरमणानन्तगुणा गम्भीराऽक्षोभ्या च, यथा च असौ सागरः 'अनाविलः' अकलुषजलः, एवं भगवानपि तथाविधकर्मलेशाभावादकलुषज्ञान इति, तथा- कषाया विद्यन्ते यस्यासौ कषायी, न कषायी अकषायी, तथा ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनाद्वियुक्तो मुक्तः, भिक्षुरिति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः- सत्यपि निःशेषान्तरायक्षये सर्वलोकपूज्यत्वे च तथापि भिक्षामात्रजीवित्वात् भिक्षुरेवासौ, नाक्षीणमहान-सादिलब्धिमुपजीवतीति, तथा शक्र इव देवाधिपतिः 'द्युतिमान्' दीप्तिमानिति ॥८॥ किञ्च-

टीकार्थ - जिसके द्वारा पदार्थों को जानते हैं, उसे 'प्रज्ञा' कहते हैं। वे भगवान् महावीर स्वामी प्रज्ञा के द्वारा अक्षय हैं। जो पदार्थ जानने योग्य हैं, उसमें भगवान् की बुद्धि क्षय को नहीं प्राप्त होती है तथा वह किसी के द्वारा रोकी भी नहीं जा सकती। भगवान् की बुद्धि का नाम केवलज्ञान है। वह केवल ज्ञान, काल से आदि सहित और अन्तरहित है तथा द्रव्य, क्षेत्र और भाव से भी अनन्त है। सम्पूर्ण तुल्यता का दृष्टान्त नहीं मिलता है, इसलिए शास्त्रकार एक देश से दृष्टान्त बताते हैं- जैसे समुद्र अक्षय जलवाला है, इसी तरह भगवान् अक्षय ज्ञानवाले हैं। समुद्र शब्द सामान्य समुद्र का वाचक है, इसलिए उसका विशेषण बताते हैं- जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र अपार, विस्तृत, गम्भीर जलवाला और क्षोभ करने के अयोग्य है, इसी तरह भगवान् की प्रज्ञा भी विस्तृत तथा उस समुद्र से भी अनन्त गुण गम्भीर और क्षोभ करने के अयोग्य है। जैसे स्वयम्भूरमण का जल निर्मल है, इसी तरह भगवान् का ज्ञान भी कर्म का लेश न होने के कारण निर्मल है। जिसमें कषाय होते हैं, उसे कषायी कहते हैं परन्तु भगवान् कषाय रहित थे, इसलिए वे अकषायी थे। भगवान् के ज्ञानावरणीय आदि कर्मबन्धन नष्ट हो चुके थे, इसलिए वे मुक्त थे, कहीं 'भिक्षू' यह पाठ पाया जाता है। उसका अर्थ यह है कि- यद्यपि भगवान् के सब अन्तराय नष्ट हो गये थे तथा वह समस्त जगत् के पूज्य भी थे तथापि भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन निर्वाह करते थे, वे अक्षीणमहानसादि लब्धि का उपयोग नहीं करते थे, तथा भगवान् इन्द्र की तरह देवताओं के अधिपति और तेजस्वी थे ॥८॥



'से' वीरिणं पडिपुत्रवीरिणं, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।

सुरालए^२वासिमुदाकरे से, विरायए णेगगुणोववेए

॥९॥

छाया - स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यः सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः ।

सुरालयो वासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ॥

अन्वयार्थ - (से) वे भगवान् महावीर स्वामी (वीरिणं) वीर्य से (पडिपुत्रवीरिणं) पूर्णवीर्य (सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे) तथा सब पर्वतों में सुमेरु के समान सबसे श्रेष्ठ हैं (वासिमुदाकरे सुरालए) निवास करनेवालों को हर्ष उत्पन्न करनेवाला स्वर्ग के समान (से) वे (णेगगुणोववेए विरायए) अनेक गुणों से विराजमान हैं।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी पूर्णवीर्य और पर्वतों में सुमेरु के समान सब प्राणियों में श्रेष्ठ हैं। वे देवताओं को हर्ष उत्पन्न करनेवाले स्वर्ग की तरह सब गुणों से सुशोभित हैं।

टीका - 'स' भगवान् 'वीर्येण' औरसेन बलेन धृतिसंहननादिभिश्च वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः, तथा 'सुदर्शनो' मेरुर्जम्बूद्वीपनाभिभूतः स यथा नगानां-पर्वतानां सर्वेषां श्रेष्ठः-प्रधानः तथा भगवानपि वीर्येणान्यैश्च गुणैः सर्वश्रेष्ठ इति, तथा यथा 'सुरालयः' स्वर्गस्तन्निवासिनां 'मुदाकरो' हर्षजनकः प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्श-

1. स्थित्यपेक्षया ज्ञेयापेक्षया तु द्रव्यादिवदनाद्यनन्तकालगोचरैव । 2. वादि० प्र० ।

प्रभावादिभिर्गुणैरुपेतो 'विराजते' शोभते, एवं भगवानप्यनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति, यदिवा- यथा त्रिदशालयो मुदाकरोऽनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति एवमसावपि मेरुरिति ॥९॥

टीकार्थ - वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से औरस (छाती के) बल तथा धृति और संहनन आदि बलों से भगवान् परिपूर्ण हैं । तथा जम्बूद्वीप का नाभित्वरूप सुमेरु पर्वत जैसे समस्त पर्वतों में श्रेष्ठ है, इसी तरह भगवान् वीर्य तथा अन्यगुणों में सबसे श्रेष्ठ हैं । जैसे अपने ऊपर निवास करनेवाले देवताओं को हर्ष उत्पन्न करनेवाला स्वर्ग, प्रशस्त वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और प्रभाव आदि गुणों से सुशोभित है, इसी तरह भगवान् भी अनेक गुणों से सुशोभित हैं । अथवा जैसे स्वर्ग, सुख देनेवाला है और अनेक गुणों से सुशोभित है इसी तरह वह सुमेरु भी है ॥९॥



- पुनरपि दृष्टान्तभूतमेरुवर्णनायाह-

- फिर भी दृष्टान्तभूत सुमेरु पर्वत का वर्णन शास्त्रकार करते हैं-

सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते ।

से जोयणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ट सहस्समेगं

॥१०॥

छाया - शतं सहस्राणां तु योजनानां, त्रिकण्डकः पण्डकवेजयन्तः ।

स योजने नयनवतिसहस्राणि, ऊर्ध्वमुच्छ्रितोऽथः सहस्रमेकम् ॥

अन्वयार्थ - (सहस्साण जोयणाणं सयं उ) वह सुमेरु पर्वत सौ हजार योजन ऊँचा है (तिकंडगे) उसके विभाग तीन है (पंडगवेजयंते) उस पर्वत पर सब से ऊपर स्थित पाण्डुक वन पताका की तरह शोभा पाता है (से) वह सुमेरु पर्वत (जोयणे णवणवते सहस्से उद्धुस्सितो) निनानवे हजार योजन ऊपर उठा है (हेट्ट सहस्समेगं) तथा एक हजार योजन भूमि में गड़ा है ।

भावार्थ - वह सुमेरु पर्वत सौ हजार योजन का है । उसके विभाग तीन हैं तथा उस पर सबसे ऊँचा स्थित पाण्डुक वन पताका के समान शोभा पाता है । वह निनानवे हजार योजन ऊँचा और एक हजार योजन भूमि में गड़ा है ।

टीका - स मेरुर्योजनसहस्राणां शतमुच्चैस्त्वेन, तथा त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकण्डः, तद्यथा- भौमं जाम्बूनदं वैदूर्यमिति, पुनरप्यसावेव विशेष्यते- 'पण्डकवैजयन्त' इति, पण्डकवनं शिरसि व्यवस्थितं वैजयन्तीकल्पं- पताकाभूतं यस्य स तथा, तथाऽसावूर्ध्वमुच्छ्रितो नवनवतोर्योजनसहस्राण्यधोऽपि सहस्रमेकमवगाढ इति ॥१०॥ तथा-

टीकार्थ - वह सुमेरु पर्वत सौ हजार योजन ऊँचा है तथा उसके विभाग तीन हैं, जैसे कि- भूमिमय, सुवर्णमय और वैदूर्यमय । फिर सुमेरु का विशेषण बतलाते हैं- उस सुमेरु पर्वत से शिर पर स्थित पाण्डुक वन उसकी पताका के समान शोभा पाता है । वह पर्वत निनानवे हजार योजन ऊपर उठा है तथा एक हजार योजन नीचे गड़ा है ॥१०॥



पुट्टे णभे चिड्डइ भूमिवट्टिए, जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।

से हेमवन्ने बहुनंदणे य, जंसी रतिं वेदयंती महिंदा

॥११॥

छाया - स्पृष्टो नभस्तिष्ठति भूमिवर्ती, यं सूर्या अणुपरिवर्त्तयन्ति

स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेंद्राः ।

अन्वयार्थ - (से) वह सुमेरु पर्वत (णभे पुट्टे) आकाश को स्पर्श किया हुआ (भूमिवट्टिए चिड्डइ) पृथिवीपर स्थित है (जं) जिसकी (सूरिया) आदित्य लोग (अणुपरिवट्टयंति) परिक्रमा देते हैं (हेमवन्ने) वह सोनहरी रत्नवाला (बहुनंदणे य) और बहुत नन्दन वनों से युक्त है, (जंसी) जिस पर (महिंदा) महेन्द्र लोग (रतिं वेदयंती) आनन्द अनुभव करते हैं ।

भावार्थ - वह सुमेरु पर्वत आकाश को स्पर्श करता हुआ और पृथिवी में घुसा हुआ स्थित है । आदित्य गण

उसकी परिक्रमा करते रहते हैं। वह सुनहरी रङ्गवाला और बहुत नन्दन वनों से युक्त है, उस पर महेन्द्र लोग आनन्द अनुभव करते हैं।

टीका - 'नभसि' 'स्पृष्टो' लग्नो नभो व्याप्य तिष्ठति तथा भूमिं चावगाह्य स्थित इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकसंस्पर्शी, तथा 'यं' मेरुं 'सूर्यो' आदित्या ज्योतिष्का 'अनुपरिवर्त्तयन्ति' यस्य पार्श्वतो भ्रमन्तीत्यर्थः, तथाऽसौ 'हेमवर्णो' निष्टप्तजाम्बूनदाभः, तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः, तथाहि-भूमौ भद्रशालवनं, ततः पञ्च योजनशतान्यारुह्य मेखलायां नन्दनं, ततो द्विषष्टियोजनसहस्राणि पञ्चशताधिकान्यतिक्रम्य सौमनसं, ततः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य शिखरे पण्डकवनमिति, तदेवमसौ चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो विचित्रक्रीडास्थानसमन्वितः, यस्मिन् महेन्द्रा अप्यागत्य त्रिदशालयाद्रमणीयतरगुणेन 'रति' रमणक्रीडां 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥११॥ अपि च-

टीकार्थ - वह मेरु पर्वत आकाश को स्पर्श करता हुआ तथा पृथिवी को अवगाहन करके स्थित है। वह, ऊपर नीचे और तिरछे रहनेवाले लोक को स्पर्श करनेवाला है। तथा आदित्य यानी ग्रह नक्षत्रादि उस पर्वत के किनारे भ्रमण करते हैं। वह तपा हुआ सोने के समान पीत वर्णवाला है एवं उसके ऊपर चार नन्दनवन हैं। जैसे कि भूमिमय विभाग में भद्रशाल वन है, उसके उपर मेखला प्रदेश में नन्दनवन है, उससे उपर पाँचसो बासठ हजार चढ़कर फिर पाँच सौ योजन चढ़कर सौमनस वन है, उससे ऊपर छत्तीस हजार योजन चढ़कर शिखर के ऊपर पाण्डुक वन है। इस प्रकार वह पर्वत चार नन्दन वनों से युक्त विचित्र क्रीडा का स्थान है। महेन्द्र लोग देवगण इन्द्रादि के साथ आकर स्वर्ग से भी अधिक रमणीय गुणों से युक्त होने के कारण उस पर्वत पर आनन्द अनुभव करते हैं ॥११॥



से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमड्डवन्ने ।

अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरिवरे से जलिए व भोमे

॥१२॥

छाया - स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते काञ्चनमृष्टवर्णः ।

अणुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गो, गिरिवरोऽसौ ज्वलित इव भौमः ॥

अन्वयार्थ - (से पव्वए) वह पर्वत (सद्दमहप्पगासे) अनेक नामों से अति प्रसिद्ध है (कंचणमड्डवन्ने) तथा वह सोने की तरह शुद्ध वर्णवाला (विरायती) सुशोभित है (अणुत्तरे) वह सब पर्वतों में श्रेष्ठ है (गिरिसुयपव्वदुग्गे) वह सभी पर्वतों में उपपर्वतों के द्वारा दुर्गम है (से गिरिवरे) वह पर्वतश्रेष्ठ (भोमे व जलिए) मणि और औषधियों से प्रकाशित भूप्रदेश की तरह प्रकाश करता है।

भावार्थ - वह सुमेरु पर्वत जगत् में अनेक नामों से प्रसिद्ध है। उसका रङ्ग सोने के समान शुद्ध है, उससे बढ़कर जगत् में दूसरा पर्वत नहीं है, वह उपपर्वतों के द्वारा दुर्गम है, वह मणि तथा औषधियों से प्रकाशित भूमि प्रदेश-की तरह प्रकाश करता है।

टीका - सः- मेर्वाख्योऽयं पर्वतो मन्दरो मेरुः सुदर्शनः सुरगिरिरित्येवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः- प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशो 'विराजते' शोभते, काञ्चनस्येव 'मृष्ट' श्लक्ष्णः शुद्धो वा वर्णो यस्य स तथा, एवं न विद्यते उत्तरः- प्रधानो यस्यासावनुत्तरः, तथा गिरिषु च मध्ये पर्वभिः- मेखलादिभिर्दृष्टापर्वतैर्वा 'दुर्गो' विषमः सामान्यजन्तुनां दुरारोहो 'गिरिवरः' पर्वतप्रधानः, तथाऽसौ मणिभिरौषधिभिश्च देदीप्यमानतया 'भौम इव' भूदेश इव ज्वलित इति ॥१२॥ किञ्च-

टीकार्थ - वह सुमेरु पर्वत, मन्दर, मेरु, सुदर्शन और सुरगिरि आदि अनेक शब्दों से जगत् में प्रसिद्ध है। उसका वर्ण सोने की तरह चिक्कण अथवा शुद्ध है। उस पर्वत से बढ़कर दूसरा पर्वत जगत् में नहीं है। वह मेखला आदि से अथवा उपपर्वतों के कारण सभी पर्वतों में दुर्गम है, उस पर्वत पर सामान्य जन्तुओं का चढ़ना बड़ा कठिन है। वह पर्वतश्रेष्ठ मणि और औषधियों से प्रकाशित होने के कारण पृथ्वी देश की तरह प्रकाश करता है ॥१२॥

महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली

॥१३॥

छाया - मह्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः प्रहायते सूर्यशुद्धलेश्यः ।

एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः मनोरमो द्योतयत्यर्चिमाली ॥

अन्वयार्थ - (णगिंदे) वह पर्वतराज (महीइ मज्झंमि) पृथिवी के मध्य में (ठिते) स्थित है (सूरियसुद्धलेसे) वह सूर्य के समान शुद्ध कान्तिवाला (पन्नायते) प्रतीत होता है (एवं) इसी तरह (सिरिए उ) वह अपनी शोभा से (भूरिवन्ने) अनेक वर्णवाला (मणोरमे) और मनोहर है (अच्चिमाली) वह सूर्य की तरह (जोयइ) सब दिशाओं को प्रकाश करता है ।

भावार्थ - वह पर्वतराज, पृथिवी के मध्यभाग में स्थित है, वह सूर्य के समान कान्तिवाला है, वह अनेक वर्णवाला और मनोहर है । वह सूर्य के समान सब दिशाओं को प्रकाश करता है ।

टीका - 'मह्यां' रत्नप्रभापृथिव्यां मध्यदेशे जम्बूद्वीपस्तस्यापि बहुमध्यदेशे सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादन-माल्यवन्तर्दष्टापर्वतचतुष्टयोपशोभितः, समभूभागे दशसहस्रविस्तीर्णः, शिरसि सहस्रमेकमधस्तादपि दश सहस्राणि, नवतियोजनानि योजनैकादशभागैर्दशभिरधिकानि विस्तीर्णः, चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूडोपशोभितो 'नगेन्द्रः' पर्वतप्रधानो मेरुः प्रकर्षेण लोके ज्ञायते, 'सूर्यवच्छुद्धलेश्यः' - आदित्यसमानतेजाः, 'एवम्' अनन्तरोक्तप्रकारया श्रिया तुशब्दाद्विशिष्टतरया सः - मेरुः 'भूरिवर्णः' अनेकवर्णो अनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात् मनः - अन्तःकरणं रमयतीति मनोरमः 'अर्चिमालीव' आदित्य इव स्वतेजसा द्योतयति दशापि दिशः प्रकाशयतीति ॥१३॥

टीकाार्थ - रत्नप्रभा पृथिवी के मध्य भाग में जम्बूद्वीप है । उसके बराबर मध्यभाग में सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान् इन चार दंष्ट्रा पर्वतों से सुशोभित, समभूभाग में दश हजार योजन विस्तारवाला शिरपर एक हजार योजन विस्तारवाला, फिर नीचे दश हजार योजन विस्तारवाला, एवं प्रत्येक नब्बे योजन पर एक योजन के ग्यारहवें भाग कम विस्तारवाला, बाकी के योजन के दश भाग विस्तारवाला (अर्थात् ज्यों ज्यों ऊंचा चढ़े त्यों त्यों कम विस्तारवाला होता जाय) ऐसा मेरु पर्वत है । उसके शिर पर ४० योजन की ऊँची चोटी है । तथा पर्वतों में प्रधान मेरु पर्वत की सूर्य के समान शुद्ध लेश्या अर्थात् सूर्य की तरह प्रकाश है । ऊपर बतायी हुई विशिष्ट शोभा से वह पर्वत अनेक रत्नों से शोभित होने के कारण अनेक वर्णवाला है । वह मन को प्रसन्न करनेवाला तथा सूर्य की तरह अपने तेज से दश दिशाओं को प्रकाशित करता है ॥१३॥



- साम्प्रतं मेरुदृष्टान्तोपक्षेपेण दार्ष्टान्तिकं दर्शयति-

- मेरु का दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बताते हैं ।

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जातीजसोदंसणनाणसीले

॥१४॥

छाया - सुदर्शनस्येव यशो गिरेः प्रोच्यते महतः पर्वतस्य ।

एतदुपमः श्रमणो ह्यातपुत्रः जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥

अन्वयार्थ - (महतो पव्वयस्स) महान् पर्वत (सुदंसणस्स गिरिस्स) सुदर्शन गिरि का (जसो) यश (पवुच्चई) पूर्वोक्त प्रकार से कहा जाता है । (समणे नायपुत्ते एतोवमे) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की उपमा इसी पर्वत से दी जाती है (जातीजसोदंसणनाणसीले) भगवान् जाति, यश, दर्शन ज्ञान और शील में सबसे श्रेष्ठ है ।

भावार्थ - पर्वतों में मेरु पर्वत का यश पूर्वोक्त प्रकार से बताया जाता है । भगवान् महावीर स्वामी की उपमा इसी पर्वत से दी जाती है । जैसे सुमेरु अपने गुणों के द्वारा सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, इसी तरह भगवान् जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील में सबसे प्रधान हैं ।

टीका - एतदनन्तरोक्तं 'यशः' कीर्तनं सुदर्शनस्य मेरुगिरेः महापर्वतस्य प्रोच्यते, साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते-एषा-अनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः, कोऽसौ ?- श्राम्यतीति श्रमणस्तपोनिष्ठसदेहो ज्ञाताः- क्षत्रियास्तेषां पुत्रः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामीत्यर्थः, स च जात्या सर्वजातिमद्भ्यो यशसा अशेषयशस्विभ्यो दर्शनज्ञानाभ्यां सकलदर्शनज्ञानिभ्यः शीलेन समस्तशीलवद्भ्यः श्रेष्ठः- प्रधानः, अक्षरघटना तु जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने ¹अर्शआदित्वादचप्रत्ययविधानेन विधेयेति ॥१४॥

टीका - पहले वर्णन किये अनुसार पर्वत श्रेष्ठ सुदर्शन सुमेरु गिरि का यश बताया जाता है, अब वही यश भगवान् महावीर स्वामी में जोड़ते हुए शास्त्रकार कहते हैं- पूर्वोक्त सुमेरु पर्वत की उपमा भगवान् को है- वह भगवान् कौन हैं ? जो तपस्या में श्रम करनेवाले हैं अर्थात् तप से अपने शरीर को जितना तप्त किया है तथा जो ज्ञात नामक क्षत्रियों के पुत्र हैं, ऐसे श्रीमन्महावीरस्वामी मेरु के तुल्य हैं । वह जाति में सब जातिवालों से श्रेष्ठ हैं तथा यश में समस्त यशस्वियों से उत्तम हैं एवं ज्ञान तथा दर्शन में समस्त दर्शन और ज्ञानवालों में प्रधान हैं, एवं शील में वह समस्त शीलवानों में उत्तम हैं । अक्षर योजना इस प्रकार करनी चाहिए । जाति आदि पदार्थों में द्वन्द्व समास करके अर्श आदित्वात् अच् प्रत्यय करके जात्यादि पद का साधुत्व करना चाहिए ॥१४॥

- पुनरपि दृष्टान्तद्वारेणैव भगवतो व्यावर्णनमाह-

- और भी दृष्टान्त के द्वारा ही भगवान् का स्वरूप दर्शाने के लिए कहते हैं-

गिरीवरे वा निसहाऽऽययाणं, रुचक इव सेष्टे वलयायताणं ।

तओवमे से जगभूइपत्रे, मुणीण मज्जे तमुदाहु पत्रे

॥१५॥

छाया - गिरिवर इव निषध आययानां, रुचक इव श्रेष्ठः वलयायतानाम्

तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ।

अन्वयार्थ - (आययाणं गिरिवरे निसहा वा) जैसे लम्बे पर्वतों में निषध प्रधान है तथा (वलयायताणं रुचक इव सेष्टे) वर्तुल पर्वतों में जैसे रुचक पर्वतश्रेष्ठ है (जगभूइपत्रे) जगत् में सबसे अधिक बुद्धिमान् भगवान् महावीर स्वामी की (तओवमे) वही उपमा है (पत्रे) बुद्धिमान् पुरुष (मुणीण मज्जे तमुदाहु) मुनियों के मध्य में भगवान् को श्रेष्ठ कहते हैं ।

भावार्थ - जैसे लम्बे पर्वतों में निषध पर्वत श्रेष्ठ है तथा वर्तुल पर्वतों में रुचक पर्वत उत्तम है, इसी तरह संसार के सभी मुनियों में अद्वितीय बुद्धिमान् भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ है, यह बुद्धिमान् पुरुष बतलाते हैं ।

टीका - यथा 'निषधो' गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपे अन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण 'श्रेष्ठः' प्रधानः तथा- वलयायतानां मध्ये रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन यथा प्रधानः, स हि रुचकद्वीपान्तर्वर्ती मानुषोत्तरपर्वत इव वृत्तायतः² सङ्ख्येययोजनानि परिक्षेपेणेति, तथा स भगवानपि तदुपमः यथा तावायतवृत्ताभ्यां श्रेष्ठौ एवं भगवानपि जगति-संसारे भूतिप्रज्ञः- प्रभूतज्ञानः प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः तथा अपरमुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः एवं तत्स्वरूपविदः 'उदाहुः' उदाहृतवन्त उक्तवन्त इत्यर्थः ॥१५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जैसे जम्बूद्वीप में अथवा दूसरे द्वीपों में सभी लम्बे पर्वतों में निषध पर्वत श्रेष्ठ है तथा वर्तुलाकार पर्वतों में जैसे रुचक पर्वत सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह रुचकद्वीप के अन्दर रहनेवाला मानुषोत्तर पर्वत के समान वर्तुल और दीर्घ है तथा उसका विस्तार संख्येय योजन है । इसी तरह भगवान् भी हैं अर्थात् जैसे वे दो पर्वत लम्बाई और वर्तुलाकार में सबसे प्रधान हैं इसी तरह भगवान् भी संसार में सब बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं तथा वह सभी मुनियों में श्रेष्ठ हैं, यह उनका स्वरूप जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं ॥१५॥

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं ज्ञाणवरं झियाई ।

सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतवदातसुक्कं

॥ १६ ॥

छाया - अणुत्तरं धर्ममुदीरयित्वाऽणुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।

सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, शंखेन्दुवदेकान्तावदातशुक्लम् ॥

अन्वयार्थ - (अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता) भगवान् महावीर स्वामी सर्वोत्तम धर्म बताकर (अणुत्तरं ज्ञाणवरं झियाई) सर्वोत्तम ध्यान ध्याते थे (सुसुक्कसुक्कं) भगवान् का ध्यान अत्यन्त शुक्लवस्तु के समान शुक्ल था (अपगंडसुक्कं) तथा वह दोषवर्जित शुक्ल था (संखिंदुएगंतवदातसुक्कं) वह शंख तथा चन्द्रमा के समान एकान्त शुक्ल था ।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी, सर्वोत्तम धर्म बताकर सर्वोत्तम ध्यान ध्याते थे । उनका ध्यान अत्यन्त शुक्ल वस्तु के समान दोष वर्जित शुक्ल था तथा शंख और चन्द्रमा के समान शुद्ध था ।

टीका - नास्योत्तरः- प्रधानोऽन्यो धर्मो विद्यते इत्यनुत्तरः तमेवम्भूतं धर्मम् 'उत्' प्राबल्येन 'ईरयित्वा' कथयित्वा प्रकाशय 'अनुत्तरं' प्रधानं 'ध्यानवरं' ध्यानश्रेष्ठं ध्यायति, तथाहि- उत्पन्नज्ञानो भगवान् योगनिरोधकाले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाताख्यं तथा निरुद्धयोगश्चतुर्थं शुक्लध्यानभेदं व्युपरतक्रियम- निवृत्ताख्यं ध्यायति, एतदेव दर्शयति-सुष्ठु शुक्लवत्शुक्लं ध्यानं तथा अपगतं गण्डम्- अपद्रव्यं यस्य तदपगण्डं निर्दोषार्जुनसुवर्णवत् शुक्लं यदिवा-अपगण्डम्-उदकफेनं तत्तुल्यमिति भावः । तथा शङ्खेन्दुवदेकान्तावदातं-शुभ्रं-शुक्लं-शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्यायतीति ॥१६॥ अपिच-

टीकाार्थ - जिससे श्रेष्ठ दूसरा धर्म नहीं है, उसे अनुत्तर कहते हैं, ऐसे धर्म को अच्छी तरह प्रकाश करके भगवान् उत्तम ध्यान ध्याते थे । भगवान् को जब ज्ञान उत्पन्न हो गया तब वह योग निरोध काल में सूक्ष्म काययोग को रोकते हुए शुक्ल ध्यान का तृतीय भेद जो सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपात कहा जाता है, उसे ध्याते थे और जब वे निरुद्ध योग हुए तब चौथा शुक्ल ध्यान का भेद जो व्युपरतक्रिय और अनिवृत्त कहलाता है, उसे ध्याते थे । यही शास्त्रकार दिखलाते हैं- जो ध्यान अत्यन्त शुक्ल की तरह शुक्ल है तथा जिससे दोष हट गया है अर्थात् जो निर्दोष अर्जुन सुवर्ण के समान शुक्ल है अथवा जल के फेन को अपगण्ड कहते हैं, उसके समान जो शुक्ल है तथा शंख और चन्द्रमा के समान जो एकान्त शुक्ल है, ऐसे शुक्ल ध्यान के दो भेदों का भगवान् ध्यान करते थे ॥१६॥



अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।

सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण

॥ १७ ॥

छाया - अणुत्तराख्यां परमां महर्षिरशेषकर्माणि विशोध्य ।

सिद्धिं गतः सादिमानन्तप्रज्ञो, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥

अन्वयार्थ - (महेसी) महर्षि भगवान् महावीर स्वामी (नाणेण सीलेण य दंसणेण) ज्ञान, चारित्र और दर्शन के द्वारा (असेसकम्मं) समस्त कर्मों को (विसोहइत्ता) शोधन करके (अणुत्तरग्गं) सर्वोत्तम (परमं सिद्धिं गते) परम सिद्धि को प्राप्त हुए (साइमणंतपत्ते) जिस सिद्धि की आदि है परन्तु अन्त नहीं है ।

भावार्थ - महर्षि भगवान् महावीर स्वामी ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रभाव से ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मों का क्षय करके सर्वोत्तम उस सिद्धि को प्राप्त हुए, जिसका आदि है परन्तु अन्त नहीं है ।

टीका - तथाऽसौ भगवान् शैलेश्यवस्थापादितशुक्लध्यानचतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिगतिं पञ्चमीं प्राप्तः, सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि- अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वाद्गया च लोकाग्रव्यवस्थितत्वाद्दनुत्तराग्या तां 'परमां' प्रधानां 'महर्षिः' असावत्यन्तोग्रतपोविशेषनिष्ठसदेहत्वाद् अशेषं कर्म-ज्ञानावरणादिकं 'विशोध्य' अपनीय च विशिष्टेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन च क्षायिकेण सिद्धिगतिं प्राप्त इति मीलनीयम् ॥१७॥

टीकार्थ - तथा वह भगवान् महावीर स्वामी शैलेशी अवस्था से उत्पन्न शुक्ल ध्यान के चौथे भेद को ध्याकर पश्चात् जिसका आदि है परन्तु अन्त नहीं है, ऐसी पाँचवी सिद्धिगति को प्राप्त हुए । उस सिद्धिगति का विशेषण बताते हैं- वह सिद्धि, सबसे उत्तम है तथा सर्व लोक के अग्र भाग में स्थित होने के कारण वह अग्र्या है, उस परम गति को भगवान् प्राप्त हुए । भगवान् अत्यन्त उग्र तपस्या से अपने शरीर को तपाकर तथा ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मों को विशिष्ट अर्थात् क्षायिक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के द्वारा क्षण कर सिद्धि को प्राप्त हुए ॥१७॥



- पुनरपि दृष्टान्तद्वारेण भगवतः स्तुतिमाह-

- फिर दृष्टान्त देकर भगवान् की शास्त्रकार स्तुति करते हैं-

रुक्खेसु णाते जह सामली वा, जस्सि रतिं वेययती सुवन्ना ।

वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने

॥१८॥

छाया - वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः ।

वनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥

अन्वयार्थ - (जह) जैसे (रुक्खेसु) वृक्षों में (णाते) जगत्प्रसिद्ध (सामली) सेमर वृक्ष है (जस्सि) जिसपर (सुवन्ना) सुपर्णलोग (रतिं वेययती) आनन्द अनुभव करते हैं (वणेसु वा णंदणं सेट्ठं आहु) तथा जैसे वनों में सबसे श्रेष्ठ नन्दन वन को कहते हैं (नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने) इसी तरह ज्ञान और चारित्र के द्वारा उत्तमज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी को श्रेष्ठ कहते हैं ।

भावार्थ - जैसे वृक्षों में सुवर्ण नामक देवताओं का क्रीडास्थान शाल्मली वृक्ष श्रेष्ठ है, तथा वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ है, इसी तरह ज्ञान और चारित्र में भगवान् महावीर स्वामी सबसे श्रेष्ठ हैं ।

टीका - वृक्षेषु मध्ये यथा 'ज्ञातः' प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, स च भवनपतिक्रीडास्थानं, 'यत्र' व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य 'सुपर्णा' भवनपतिविशेषा 'रतिं' रमणक्रीडां 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, वनेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानं एवं भगवानपि 'ज्ञानेन' केवलालाख्येन समस्तपदार्थाविर्भावकेन 'शीलेन' च चारित्रेण-यथाख्यातेन 'श्रेष्ठः' प्रधानः 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धज्ञानो भगवानिति ॥१८॥ अपि च-

टीकार्थ - जैसे वृक्षों के मध्य में देवकुरु में स्थित प्रसिद्ध शाल्मली वृक्ष श्रेष्ठ है, जो भवनपतियों का क्रीडास्थान है, जिस पर दूसरे स्थानों से आकर सुपर्ण अर्थात् भवनपति विशेष आनन्द अनुभव करते हैं तथा वनों के मध्य में जैसे देवताओं का क्रीडास्थान नन्दन वन प्रधान है, इसी तरह भगवान् भी समस्त पदार्थों को प्रकट करनेवाले केवलज्ञान और यथाख्यात चारित्र के द्वारा सबसे प्रधान हैं । वह भूतिप्रज्ञ अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं ॥१८॥



थणियं व सद्धान् अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महानुभावे ।

गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु

॥१९॥

छाया - स्तनितमिव शब्दानामनुत्तरस्तु चन्द्रइव ताराणां महानुभावः

गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठमेवं मुनीनामप्रतिज्ञमाहुः ।

अन्वयार्थ - (सद्धान्) शब्दों में (थणियं व) मेघगर्जन (अणुत्तरे) जैसे प्रधान है (ताराण) और ताराओं में (महानुभावे चंदो) जैसे महानुभाव चन्द्रमा श्रेष्ठ है (गंधेसु वा चंदणं सेट्ठं आहु) तथा गन्धवालों में जैसे चन्दन श्रेष्ठ है (एवं) इसी तरह (मुणीणं मुनिओं में (अपडिन्नमाहु) कामना रहित भगवान् महावीर स्वामी को श्रेष्ठ कहते हैं ।

भावार्थ - जैसे सब शब्दों में मेघ का गर्जन प्रधान है और सब ताराओं में चन्द्रमा प्रधान है तथा गन्धवालों में जैसे चन्दन प्रधान है, इसी तरह सब मुनिओं में कामना रहित भगवान् महावीर स्वामी प्रधान हैं ।

टीका - यथा शब्दानां मध्ये 'स्तनितं' मेघगर्जितं तद् 'अनुत्तरं' प्रधानं, तुशब्दो विशेषणार्थः समुच्चयार्थो वा, 'तारकाणां च' नक्षत्राणां मध्ये यथा चन्द्रो महानुभावः सकलजननिर्वृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः, 'गन्धेषु' इति गुणगुणिनोरभेदान्मतुबलोपाद्वा गन्धवत्सु मध्ये यथा 'चन्दनं' गोशीर्षकाख्यं मलयजं वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः, एवं 'मुनीनां' महर्षीणां मध्ये भगवन्तं नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशंसिनी विद्यते इत्यप्रतिज्ञस्तमेवम्भूतं श्रेष्ठमाहुरिति ॥१९॥ अपिच-

टीकार्थ - सब शब्दों में जैसे मेघ गर्जन प्रधान है (तु शब्द विशेषणार्थक या समुच्चयार्थक है) तथा नक्षत्रों के मध्य में जैसे कान्ति के द्वारा सबको आनन्द देनेवाले महानुभाव चन्द्रमा प्रधान हैं तथा गन्ध (गुण गुणी के अभेद से) अर्थात् गन्धवाले पदार्थों में जैसे गोशीर्ष अथवा मलय चन्दन श्रेष्ठ है, इसी तरह मुनियों के मध्य में इस लोक तथा परलोक के सुख की कामना नहीं करनेवाले भगवान् महावीर स्वामी को विद्वान् लोग श्रेष्ठ कहते हैं ॥१९॥



जहा सयंभू उदहीण सेट्टे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्टे ।

खोओदए वा रस वैजयन्ते, तवोवहाणे मुणिवैजयन्ते

॥२०॥

छाया - यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नगेषु वा धरणेन्द्रं श्रेष्ठमाहु ।

इक्षुरसोदको वा रसवैजयन्तः, तपउपधाने मुनि वैजयन्तः ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (उदहीण) समुद्रों में (सयंभू सेट्टे) स्वयम्भूरमण समुद्र श्रेष्ठ है (नागेसु) तथा नागों में (धरणिंद सेट्टे आहु) धरणेन्द्र को जैसे श्रेष्ठ कहते हैं, (खोओदए वा रस वैजयन्ते) एवं इक्षुरसोदक समुद्र जैसे सब रसवालों में प्रधान है (तवोवहाणे मुणिवैजयन्ते) इसी तरह तप के द्वारा मुनिश्री भगवान् महावीर स्वामी सबसे प्रधान हैं ।

भावार्थ - जैसे सब समुद्रों में स्वयम्भूरमण समुद्र प्रधान है तथा जैसे नागों में धरणेन्द्र सर्वोत्तम हैं एवं जैसे सब रसवालों में इक्षुरसोदक समुद्र श्रेष्ठ है, इसी तरह सब तपस्वियों में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं ।

टीका - स्वयं भवन्तीति स्वयम्भूवो-देवाः ते तत्रागत्य रमन्तीति स्वयम्भूरमणः तदेवम् 'उदधीनां' समुद्राणां मध्ये यथा स्वयम्भूरमणः समुद्रः समस्तद्वीपसागरपर्यन्तवर्ती 'श्रेष्ठः' प्रधानः, 'नागेषु च' भवनपतिविशेषेषु 'धरणेन्द्रं' धरणं यथा श्रेष्ठमाहुः, तथा 'खोओदए' इति इक्षुरस इवोदकं यस्य स इक्षुरसोदकः स यथा रसमाश्रित्य 'वैजयन्तः' प्रधानः स्वगुणैरपरसमुद्राणां पताकेवोपरि व्यवस्थितः एवं 'तपउपधानेन' विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकाला-वस्थामिति 'मुनिः' भगवान् 'वैजयन्तः' प्रधानः, समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीवोपरि व्यवस्थित इति ॥२०॥

टीकार्थ - जो अपने आप उत्पन्न होते हैं, वे स्वयम्भू कहलाते हैं । देवताओं को स्वयम्भू कहते हैं । वे देवता वहां आकर क्रीड़ा करते हैं, इसलिए उसे स्वयम्भूरमण कहते हैं । समस्त द्वीप और समुद्रों के अन्त में वर्तमान वह स्वयम्भूरमण समुद्र जैसे सब समुद्रों में श्रेष्ठ है तथा नागों में अर्थात् भवनपतिविशेषों में जैसे धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहते हैं एवं ईश्वर के रस के समान जिसका जल मधुर है वह इक्षुरसोदक समुद्र जैसे समस्त रसवालों में प्रधान है क्योंकि वह अपने माधुर्यगुणों से सब समुद्रों की पताका के समान स्थित है, इसी तरह जगत् के तीनों काल की अवस्था को जाननेवाले भगवान् महावीर स्वामी विशिष्ट तपस्या के द्वारा समस्त लोक की पताका के समान सबके ऊपर स्थित हैं ॥२०॥



हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।

पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते

॥२१॥

छाया - हस्तिष्वेरावणमाहुर्जातं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा ।

पक्षिषु वा गरुडो वेणुदेवो, निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥

अन्वयार्थ - (हथिसु) हाथियों में (गाए) जगत्प्रसिद्ध (ऐरावणमाहु) ऐरावण हाथी को प्रधान कहते हैं (मिगाणं सीहो) तथा मृगों में सिंह प्रधान है (सलिलाण गंगा) एवं जलों में गङ्गा प्रधान है (पक्षीसु वा गरुले वेणुदेवो) पक्षियों में वेणुदेव गरुड़ प्रधान है (निव्वाणवादीणिह नायपुत्ते) और मोक्षवादियों में ज्ञात पुत्र भगवान् महावीर स्वामी प्रधान हैं ।

भावार्थ - हाथियों में ऐरावण, मृगों में सिंह, नदियों में गङ्गा, और पक्षियों में जैसे वेणुदेव गरुड़ श्रेष्ठ हैं इसी तरह मोक्षवादियों में भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं ।

टीका - 'हस्तिषु' करिवरेषु मध्ये यथा 'ऐरावणं' शक्रवाहनं 'ज्ञातं' प्रसिद्धं दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः 'मृगाणां' च श्वापदानां मध्ये यथा 'सिंहः' केशरी प्रधानः, तथा भरतक्षेत्रापेक्षया 'सलिलानां' मध्ये यथा गङ्गासलिलं प्रधानभावमनुभवति, 'पक्षिषु' मध्ये यथा गरुत्मान् वेणुदेवापरनामा प्राधान्येन व्यवस्थित एवं निर्वाणं-सिद्धिक्षेत्राख्यं कर्मच्युतिलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा तेषां मध्ये ज्ञाताः-^१ क्षत्रियास्तेषां पुत्रः-^१ अपत्यं ज्ञातपुत्रः- श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामी स प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणार्थवादित्वादित्यर्थः ॥२१॥ अपि च

टीकार्थ - प्रधान वस्तुओं को जाननेवाले बुद्धिमान पुरुष हाथियों में जगत् प्रसिद्ध या दृष्टान्त स्वरूप इन्द्र के वाहन ऐरावण नामक हाथी को सबसे प्रधान कहते हैं । तथा पशुओं के मध्य में जैसे केशरी सिंह प्रधान है तथा भरत क्षेत्र की अपेक्षा से जैसे सब जलों में गङ्गाजल प्रधान है एवं पक्षियों में जैसे वेणुदेव नामक गरुड़ प्रधान हैं, इसी तरह निर्वाणवादियों में भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं । निर्वाण, सिद्धि क्षेत्र को कहते हैं अथवा कर्मक्षय का नाम निर्वाण है । उसके स्वरूप और उपाय के द्वारा उसकी प्राप्ति जो बताते हैं, उन्हें निर्वाणवादी कहते हैं । उन निर्वाणवादियों के मध्य में ज्ञात नामक क्षत्रियों के पुत्र श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामी प्रधान हैं, क्योंकि निर्वाण के यथार्थ स्वरूप को वे बताते हैं, यह अर्थ है ॥२१॥



जोहेसु गाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।

खत्तीण सेट्टे जह दंतवक्के, इसीण सेट्टे तह वद्धमाणे

॥२२॥

छाया - योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेनः, पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः ।

क्षत्रियाणां श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्यः, ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्धमानः ॥

अन्वयार्थ - (जह) जैसे (गाए) जगत्प्रसिद्ध (वीससेणे) विश्वसेन (जोहेसु सेट्टे) योद्धाओं में श्रेष्ठ है (जह) तथा जैसे (पुप्फेषु) फूलों में (अरविंदमाहु) अरविन्द (कमल) को श्रेष्ठ कहते हैं (जह) तथा जैसे (खत्तीण दंतवक्के सेट्टे) क्षत्रियों में दान्तवाक्य श्रेष्ठ है (तह) इसी तरह (इसीण) ऋषियों में (वद्धमाणे सेट्टे) वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ है ।

भावार्थ - जैसे योद्धाओं में विश्वसेन प्रधान है तथा फूलों में जैसे अरविन्द (कमल) प्रधान है एवं क्षत्रियों में जैसे दान्तवाक्य प्रधान है इसी तरह ऋषियों में वर्धमान स्वामी प्रधान है ।

टीका - योधेषु मध्ये 'ज्ञातो' विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा-हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः- चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानः, पुष्पेषु च मध्ये यथा अरविन्दं प्रधानमाहुः, तथा क्षतात् त्रायन्त इति क्षत्रियाः तेषां मध्ये दान्ता-उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः= चक्रवर्ती यथाऽसौ श्रेष्ठः। तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याधुना भगवन्तं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ॥२२॥ तथा-

टीकार्थ - हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल इन चार अङ्गोंवाले बल के सहित जिसकी सेना है, वह जगत्प्रसिद्ध अथवा दृष्टान्तभूत चक्रवर्ती सब योद्धाओं में प्रधान है तथा फूलों में कमल को श्रेष्ठ कहते हैं एवं शत्रुभय से जो प्राणियों की रक्षा करता है उन क्षत्रियों के मध्य में जिसके वाक्य से ही शत्रु शान्त हो जाते थे ऐसे दान्तवाक्य चक्रवर्ती प्रधान है । (इस प्रकार बहुत उत्तम दृष्टान्तों को बताकर अब दार्ष्टान्त स्वरूप भगवान् का नाम लेकर

शास्त्रकार बतलाते हैं) इसी तरह ऋषियों में श्रीमान् वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ हैं ॥२२॥



दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्च्वेसु वा अणवज्जं वयंति ।

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते

॥२३॥

छाया - दाणाणां श्रेष्ठमभयप्रदानं, सत्येषु वाऽणवज्जं वदन्ति ।

तपस्सुवोत्तमं ब्रह्मचर्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥

अन्वयार्थ - (दाणाण) दानों में (अभयप्पयाणं सेट्ठं) अभयदान श्रेष्ठ है (सच्च्वेसु) और सत्य में (अणवज्जं) जिसमें किसी को पीड़ा न हो वह सत्य श्रेष्ठ है (तवेसु) तप में (बंभचेरं उत्तमं) ब्रह्मचर्य उत्तम है (समणे नायपुत्ते लोगुत्तमे) और लोक में उत्तम श्रमण ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी हैं ।

भावार्थ - दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्य में वह सत्य श्रेष्ठ है, जिससे किसी को पीड़ा न हो तथा तप में ब्रह्मचर्य उत्तम है एवं लोक में ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी उत्तम हैं ।

टीका - तथा स्वपरानुग्रहार्थमर्थिनि दीयत इति दानमनेकधा, तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्वादभय-प्रदानं श्रेष्ठं तदुक्तम्-

“दीयते क्षियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा । धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति ॥१॥”

इति, गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो बुद्धौ सुखेनारोहतीत्यतः अभयप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थं कथानकमिदं- वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो नाम राजा, स च कदाचिच्चतुर्वर्धूसमेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति, तेन कदाचिच्चौरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिसञ्च प्रहृतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः, दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टं-किमनेनाकारीति !, तासामेकेन राजपुरुषेणाऽऽवेदितं यथा- परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति, तत एकया राजा विज्ञप्तो यथा- यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयतां येनाहमस्योपकरोमि किञ्चित्, राज्ञाऽपि प्रतिपन्नं, ततस्तथा स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणालङ्कृतो दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः, पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनारशतसहस्रव्ययेन लालितः, ततस्तृतीयया तृतीयमहो दीनारकोटिव्ययेन सत्कारितः, चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणाद्रक्षितः अभयप्रदानेन, ततोऽसावन्याभिर्हसिता नास्य त्वया किञ्चिद्दत्तमिति, तदेवं तासां परस्परबहुपकारविषये विवादे, राज्ञाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्टो- यथा केन तव बहुपकृतमिति, तेनाप्यभाणि यथा- न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं व्यजायीति, अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानमवैमीति, अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थितम् । तथा सत्येषु च वाक्येषु यद् ‘अनवद्यम्’ अपापं परपीडानुत्पादकं तत् श्रेष्ठं वदन्ति, न पुनः परपीडोत्पादकं सत्यं, सद्भ्यो हितं सत्यमितिकृत्वा, तथा चोक्तम्-

“लोकेऽपि श्रूयते वादो, यथा सत्येन कौशिकः । पतितो वधयुक्तेन, नरके तीव्रवेदने ॥१॥”

अन्यच्च-

“तदेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा । वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरोत्ति नो वदे ॥१॥”

तपस्सु मध्ये यथैवोत्तमं नवविधब्रह्मगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति तथा सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा-सर्वातिशायिन्या शक्त्या क्षायिकज्ञानदर्शनाभ्यां शीलेन च ‘ज्ञातपुत्रो’ भगवान् श्रमणः प्रधान इति ॥२३॥ किञ्च-

टीकार्थ - अपने तथा दूसरे के अनुग्रह के लिए जो याचक को दिया जाता है वह दान कहलाता है । वह अनेक प्रकार का होता है, उन दानों में जीवन की इच्छा रखनेवाले प्राणियों के रक्षा का कारण होने से अभयदान श्रेष्ठ है । कहा है-

(दियते) अर्थात् मरते हुए प्राणी को करोड़ों का धन दिया जाय और दूसरी ओर जीवन दिया जाय तो वह

करोड़ों धन को न लेकर जीवन को ही लेगा, क्योंकि सभी प्राणी जीवन चाहते हैं ।

बाल, स्त्रि आदि लोगों की बुद्धि में दृष्टान्त देकर कही हुई बात झट चढ़ जाती है, इसलिए अभयदान की प्रधानता को बताने के लिए यह कथा कही जाती है-

वसन्तपुर नगर में अरिदमन नाम के राजा रहते थे, वे अपनी चार रानियों के साथ झरोखे के पास क्रीडा कर रहे थे, उस समय उन्होंने एक चोर को देखा । उस चोर के गले में लाल कनैर की माला पहिनाई गयी थी और उसने लाल वस्त्र पहन रखा था । तथा शरीर पर लाल चन्दन के लपेटे थे । उसके पीछे-पीछे उसके वध की सूचना देनेवाला ढिंढोरा पीटा जा रहा था । तथा उसे चाण्डाल लोग राजमार्ग से ले जा रहे थे । उस चोर को स्त्रियों के साथ राजा ने देखा । रानियों ने उसे देखकर पूछा कि इसने क्या अपराध किया है ? । तब एक सिपाही ने रानियों से कहा कि इसने दूसरे के द्रव्य का हरण करके राजा की आज्ञा से विरुद्ध कार्य किया है । यह सुनकर एक रानी ने राजा से कहा कि आपने जो पहले मुझ को वर देने की प्रतिज्ञा की थी सो आज दीजिए जिससे मैं इस बिचारे चोर का कुछ उपकार कर सकूँ । राजा ने वर देना स्वीकार किया इसके पश्चात् उस रानी ने उस चोर को स्नान कराकर उत्तम अलङ्कारों से सुशोभित करके हजार मोहरों के व्यय से एक दिन शब्दादि पाँच विषयों का भोग दिया । इसके पश्चात् दूसरी रानी ने भी दूसरे दिन एक लाख मोहरें खर्च करके उसे सब प्रकार के भोग दिये । तीसरी ने तीसरे दिन एक कोटी मोहरें खर्च करके उसे सब प्रकार के आनन्द दिये । चौथी रानी ने राजा की अनुमति लेकर उसे अभयदान देकर मरण से बचाया । तब तीन रानियाँ चौथी रानी की हँसी करने लगी, वे कहने लगी कि यह बड़ी कृपण है, इसने इस बिचारे को कुछ नहीं दिया । चौथी कहने लगी कि मैंने तुम सब से ज्यादा इसका उपकार किया है । इस प्रकार उन रानियों में उस चोर का किसने ज्यादा उपकार किया है । इस विषय में विवाद होने लगा । इसमें राजा ने उस चोर को ही बुलाकर पूछा कि- "तुम्हारा ज्यादा उपकार किसने किया है"? यह सुनकर चोर ने कहा कि- मैं मरण भय से बहुत भयभीत था, इसलिए स्नान आदि सुख को मैं नहीं जान सका परन्तु जब मेरे कान में यह अवाज आई कि मैंने मरण से रक्षा पायी है तो मेरे आनन्द की सीमा न रही, अब मैं अपने को फिर से जन्मा हुआ मानता हूँ । अतः सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है यह बात सिद्ध हुई । तथा सत्य वाक्यों में जो वाक्य दूसरे को पीड़ा उत्पन्न नहीं करते हैं, उसे श्रेष्ठ कहते हैं, परन्तु जिससे दूसरे को पीड़ा होती है वह सत्य नहीं है, क्योंकि जो सज्जनों का हितकारी है, उसे सत्य कहते हैं । कहा है कि-

(लोकेऽपि) अर्थात् जगत् में यह बात सुनी जाती है कि कौशिक मुनि वध युक्त सत्य बोलकर तीव्र वेदनावाले नरक में पड़े थे । तथा

(तहेव) अर्थात् काणे को काणा, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर नहीं कहना चाहिए।

तथा तप में नौ प्रकार की गुप्ति युक्त ब्रह्मचर्य प्रधान है । इसी तरह सब लोक से उत्तम रूप सम्पत्ति, तथा सबसे उत्कृष्ट शक्ति और क्षायिक ज्ञान, दर्शन एवं शील के द्वारा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी प्रधान हैं ॥२३॥



ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा ।

निवाणसेट्ठा जहा सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी

॥२४॥

छाया - स्थितीनां श्रेष्ठाः लवसप्तमा वा. सभा सुधर्मा व सभाणां श्रेष्ठा ।

निर्वाणश्रेष्ठा यथा सर्वे धर्माः, न ज्ञातपुत्रात् परोऽस्ति ज्ञानी ॥

अन्वयार्थ (ठिईण) जैसे स्थितिवालों में (लवसत्तमा सेट्ठा) पाँच अनुत्तर विमानवासी देवता श्रेष्ठ हैं तथा (सुहम्मा व सभा) जैसे सुधर्मा सभा (सभाण सेट्ठा) सब सभाओं में श्रेष्ठ हैं (जहा सव्वधम्मा निवाणसेट्ठा) तथा सब धर्मों में जैसे निर्वाण (मोक्ष) श्रेष्ठ है (ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी) इसी तरह ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी से कोई श्रेष्ठ ज्ञानी नहीं है ।

भावार्थ - जैसे सब स्थितिवालों में पाँच अनुत्तर विमानवासी देवता श्रेष्ठ हैं तथा जैसे सब सभाओं में सुधर्मा सभा श्रेष्ठ है एवं सब धर्मों में जैसे निर्वाण (मोक्ष) श्रेष्ठ है, इसी तरह सब ज्ञानियों में भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं ।

टीका - स्थितिमतां मध्ये यथा 'लवसत्तमाः' पञ्चानुत्तरविमानवासिनो देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानः, यदि किल तेषां सप्त लवा आयुष्यकमभविष्यत्ततः सिद्धिगमनमभविष्यदित्यतो लवसत्तमास्तेऽभिधीयन्ते, 'सभानां च' पर्षदां च मध्ये यथा सौधर्माधिपपर्षच्छ्रेष्ठा बहुभिः क्रीडास्थानैरुपेतत्वात्तथा यथा सर्वेऽपि धर्मा 'निर्वाणश्रेष्ठाः' मोक्षप्रधाना भवन्ति, कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं ब्रुवते यतः, एवं 'ज्ञातपुत्रात्' वीरवर्धमानस्वामिनः सर्वज्ञात् सकाशात् 'परं' प्रधानं अन्यद्विज्ञानं नास्ति, सर्वथैव भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिकज्ञानो भवतीति भावः ॥२४॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - सब स्थितिवालों में जैसे लवसत्तम अर्थात् पाँच अनुत्तर विमानवासी देवता उत्कृष्ट स्थितिवाले प्रधान हैं । क्योंकि मनुष्य भव में धर्माचरण करते करते सात लव उनकी आयु अधिक होती तो वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जाते इसलिए वे लव सत्तम कहे जाते हैं । तथा सभाओं में जैसे इन्द्र की सभा सुधर्मा श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें अनेक क्रीड़ा के स्थान बने हैं तथा सब धर्मों में जैसे मोक्ष प्रधान है क्योंकि कुप्रावचनिक भी अपने दर्शन का फल मोक्ष ही बतलाते हैं । इसी तरह सर्वज्ञ श्री भगवान् महावीर स्वामी से बढ़कर दूसरा कोई ज्ञानी नहीं है अतः भगवान् सभी दूसरे ज्ञानियों से सर्वथा श्रेष्ठ हैं । यह भाव है ॥२४॥



पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहिं कुव्वति आसुपन्ने ।

तरिउं समुहं व महाभवोघं, अभयंकरे वीर अणंतचक्खू

॥२५॥

छाया - पृथ्व्युपमो धुणाति विगतगृद्धिः, न सन्निधिं करोत्याशुप्रज्ञः ।

तरीत्या समुद्रमिव महा भवौघमभयङ्करो वीराऽनन्तचक्षुः ॥

अन्वयार्थ - (पुढोवमे) भगवान् महावीर स्वामी पृथिवी के समान सब प्राणियों के आधार हैं (धुणइ) तथा वे आठ प्रकार के कर्ममलों को दूर करनेवाले हैं । (विगयगेही) भगवान् बाढ़ा और आभ्यन्तर वस्तुओं में गृद्धि रहित हैं । (आसुपन्ने) वह शीघ्र बुद्धिवाले हैं (न सण्णिहिं कुव्वति) वह धन, धान्यादि तथा क्रोधादि का सम्पर्क नहीं करते हैं । (समुहं व) समुद्र के समान (महाभवोघं) महान् संसार को (तरिउं) पार करके भगवान् मोक्ष को प्राप्त हैं । (अभयंकरे वीर अणंतचक्खू) भगवान् प्राणियों को अभय करनेवाले कर्मों को क्षपण करनेवाले और अनन्तज्ञानी हैं ।

भावार्थ - भगवान् पृथिवी की तरह समस्त प्राणियों के आधार हैं । वे आठ प्रकार के कर्मों को दूर करनेवाले और गृद्धि रहित हैं । भगवान् तात्कालिक बुद्धिवाले और क्रोधादि के सम्पर्क से रहित हैं । भगवान् समुद्र की तरह अनन्त संसार को पार करके मोक्ष को प्राप्त हैं । भगवान् प्राणियों को अभय करनेवाले तथा अष्टविध कर्मों का क्षपण करनेवाले एवं अनन्त ज्ञानी हैं ।

टीका - स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेशदानाद्वा सत्त्वाधार इति, यदिवा-यथा पृथ्वी सर्वसहा एवं भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहत इति, तथा 'धुनाति' अपनयत्यष्टप्रकारं कर्मेति शेषः, तथा-'विगता' प्रलीना सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु 'गृद्धिः' गाढ्यमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः, तथा सन्निधानं सन्निधिः, स च द्रव्यसन्निधिः धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदरूपः भावसन्निधिस्तु माया क्रोधादयो वा सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि संनिधिं न करोति भगवान्, तथा 'आशुप्रज्ञः' सर्वत्र सदोपयोगात् न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते, स एवम्भूतः तरित्वा समुद्रमिवापारं 'महाभवौघं' चतुर्गतिकं संसारसागरं बहुव्यसनाकुलं सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान्, पुनरपि तमेव विशिनष्टि- 'अभयं' प्राणिनां प्राण रक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यभयङ्करः, तथाऽष्टप्रकारं कर्म विशेषेणेरयति-प्रेरयतीति वीरः, तथा 'अनन्तम्' अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद्वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः- केवलज्ञानं यस्य स तथेति ॥२५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जैसे पृथिवी सब जीवों का आधार है, इसी तरह भगवान् महावीर स्वामी सबको अभय देने से और उत्तम उपदेश देने से सब जीवों के आधार हैं। अथवा जैसे पृथिवी सब सहन करती है, इसी तरह भगवान् सब परीषह और उपसर्गों को अच्छी तरह सहन करते हैं। भगवान् आठ प्रकार के कर्मों को दूर करते हैं। भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में गृद्धि (अभिलाष) रहित हैं, सन्निधान यानी निकटता को सन्निधि कहते हैं। धन, धान्य और द्विपद चतुष्पदों के सम्पर्क को द्रव्यसन्निधि कहते हैं और माया क्रोध आदि अथवा सामान्य रूप से सब कषायों के सम्पर्क को भावसन्निधि कहते हैं, भगवान् इन दोनों प्रकार की सन्निधि नहीं करते हैं। वह आशुप्रज्ञ है, क्योंकि सर्वत्र सदा वे उपयोग रखते हैं। वे छद्मस्थों की तरह मन से सोचकर पदार्थ का निश्चय नहीं करते हैं। उन भगवान् ने बहुत दुःखों से परिपूर्ण चार गतिवाले संसार सागर को पार कर सबसे उत्तम मोक्ष पद को प्राप्त किया था। फिर उस भगवान् का विशेषण बतलाते हैं- भगवान् प्राणियों को रक्षारूप अभय स्वयं देते थे और सदुपदेश देकर दूसरे से अभय दिलाते थे, इसलिए भगवान् अभयङ्कर हैं। तथा भगवान् आठ प्रकार के कर्मों को विशेष रूप से दूर करते हैं, इसलिए वे वीर हैं। तथा जिसका अन्त नहीं है अर्थात् जो नित्य है अथवा ज्ञेय वस्तु के अनन्त होने से जो अनन्त है, ऐसा केवलज्ञान जिनका नेत्र के समान है, वे भगवान् महावीर स्वामी अनन्तचक्षु हैं ॥२५॥



कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।

एआणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेइ

॥२६॥

छाया - क्रोधस्य मानस्य तथैव मायां, लोभस्तुर्थज्ञाध्यात्मदोषान् ।

एतान् वान्त्वाऽऽरहम्हर्षिर्न करोति पापं न कारयति ।

अन्वयार्थ - (अरहा महेसी) अरिहंत महर्षि श्रीमहावीर स्वामी (कोहं च माणं च तहेव मायं) क्रोध, मान और माया (चउत्थं लोभं) तथा चौथा लोभ (एआणि अज्झत्थदोसा वंता) इन अपने अन्दर के अध्यात्म दोषों को त्यागकर (ण पाव कुव्वई ण कारवेइ) न पाप करते हैं और न कराते हैं ।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी महर्षि हैं, वे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को जीतकर न स्वयं पाप करते हैं और न दूसरे से कराते हैं ।

टीका - निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवती'ति न्यायात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कषायाः कारणमत एतान् अध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान् 'वान्त्वा' परित्यज्य असौ भगवान् 'अर्हन्' तीर्थकृत् जातः, तथा महर्षिः, एवं परमार्थतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भवन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः 'पापं' सावद्यमनुष्ठानं करोति नाप्यन्यैः कारयतीति ॥२६॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - कारण के नाश से कार्य का नाश होता है, यह न्याय है, इसलिए संसार की स्थिति के कारण जो क्रोध आदि कषाय अध्यात्म दोष कहलाते हैं, इन चारों कषायों को त्याग कर भगवान् तीर्थङ्कर तथा महर्षि हुए थे, वस्तुतः महर्षि पन तभी होता है, जब ये अध्यात्मदोष यानी चार कषाय जीत लिये जाते हैं अन्यथा नहीं। तथा वह भगवान् स्वतः पाप भी यानी सावद्य अनुष्ठान नहीं करते हैं और दूसरे से भी नहीं कराते हैं ॥२६॥



किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं ।

से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवड्डिए संजमदीहरायं

॥२७॥

छाया - क्रियाक्रिये वैनयिकानुवादमहाभिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।

स सर्ववादमिति वेदयित्वा, उपस्थितः संजमदीर्घरात्रम् ॥

अन्वयार्थ - (किरियाकिरियं) क्रियावादी, अक्रियावादी (वेणइयाणुवायं) तथा विनयवादी के कथन को (अण्णाणियाणं ठणं पडियच्च) तथा अज्ञानवादियों के पक्ष को जानकर (से इति सव्ववायं वेयइत्ता) इस प्रकार वे सब वादियों के मन्तव्य को समझकर (संजमदीहरायं) जीवन भर के लिए संयम में (उवडिण्) स्थित हुए ।

भावार्थ - क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी तथा अज्ञानवादी इन सभी मतवादियों के मतों को जानकर भगवान् यावज्जीवन संयम में स्थित रहे थे ।

टीका - तथा स भगवान् क्रियावादिनामक्रियावादिनां वैनयिकानामज्ञानिकानां च 'स्थानं' पक्षमभ्युपगतमित्यर्थः, यदिवा-स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानं-दुर्गतिगमनादिकं 'प्रतीत्य' परिच्छिद्य सम्यगवबुध्येत्यर्थः, एतेषां च स्वरूपमुत्तरत्र न्यक्षेण व्याख्यास्यामः, लेशतस्त्विदं-क्रियैव परलोकसाधनायालमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तेषां हि दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमः, अक्रियवादिनस्तु ज्ञानवादिनः तेषां हि यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्षः, तथा चोक्तम्-

“पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी वापि, सिद्ध्यते नात्र संशयः ॥१॥”

तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिताः, तथाऽज्ञानमेवैहिकामुष्मिकायालमित्येवमज्ञानिका व्यवस्थिताः, इत्येवंरूपं तेषामभ्युपगमं परिच्छिद्य स्वतः सम्यगवगम्य सम्यगवबोधेन, तथा स एव वीरवर्धमानस्वामी सर्वमन्यमपि बौद्धादिकं यं कञ्चन वादमपरान् सत्त्वान् यथावस्थिततत्त्वो-पदेशेन 'वेदयित्वा' परिज्ञाप्योपस्थितः सम्यगुत्थानेन संयमे व्यवस्थितो न तु यथा अन्ये, तदुक्तम्-

“यथा परेषां कथका विदग्धाः, शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः ।

शिष्यैरनुज्ञामलिनीपचारैर्वक्तृत्वदोषारुत्वयि ते न सन्ति ॥१॥”

इति 'दीर्घरात्रम्' इति यावज्जीवं संयमोत्थानेनोत्थित इति ॥२७॥ अपिच-

टीकार्थ - भगवान् महावीर स्वामी ने क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादियों के मतों को जानकर अथवा वे सभी मतवादी दुर्गति में जाते हैं । यह जानकर यावज्जीव संयम पालन किया था । इन मतवादीयों का स्वरूप आगे चलकर स्पष्टरूप से बतलायेंगे तो भी कुछ यहाँ बताते हैं- क्रिया ही परलोक की सिद्धि के लिए पर्याप्त है, ऐसा जो कहते हैं । उनको क्रियावादी कहते हैं । इन क्रियावादियों का सिद्धान्त है कि- क्रियारूप दीक्षा से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । अक्रियावादी ज्ञानवादी हैं, इनके मत में वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने से ही मोक्ष हो जाता है । जैसे कि इनकी उक्ति है-

(पञ्चविंशति) अर्थात् पचीस तत्त्वों को जाननेवाला पुरुष चाहे किसी भी आश्रम में रहे तथा वह जटी हो, मुण्डी हो या शिखाधारी हो, मुक्ति को प्राप्त करता है इसमें संशय नहीं है । तथा

गोशालक मतवाले विनय से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, वे विनय से विचरते हैं, इसलिए वे वैनयिक कहे जाते हैं । तथा अज्ञान से ही इस लोक और परलोक की सिद्धि होती है । यह अज्ञानवादियों की मान्यता है । इस प्रकार उक्त सभी मतवादियों के मतों को अच्छी तरह समझकर तथा दूसरे बौद्ध आदि मतों को भी जानकर भगवान् महावीर स्वामी प्राणियों को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपदेश देते हुए संयम में स्थित रहे, वे दूसरे मतवादियों की तरह नहीं थे, सो कहा है- (वीतराग प्रभु की स्तुति करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि) हे प्रभो! दूसरे धर्मवाले आचार्यों में जो वक्तृत्व दोष अर्थात् बोलने के दोष हैं, वे आप में नहीं हैं क्योंकि दूसरे लोग उपदेश देने में बड़ेकुशल हैं । अत एव उन्होंने शास्त्र रचकर भी लघुता को प्राप्त किया है, कारण यह है कि उनके शिष्य तथा वे, जो दूसरे पुरुषों को उपदेश करते हैं, उसके अनुसार स्वयं आचरण नहीं करते हैं परन्तु आपने यावज्जीवन के लिए संयम धारण किया था अर्थात् आप जैसा कहते थे, वैसा आचरण करते थे ॥२७॥



से वारिया इत्थी सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयड्डयाए ।

लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥२८॥

छाया - स वारयित्वा स्त्रियां सरात्रिभक्तानुपधानवान् दुःखक्षयार्थम् ।

लोकं विदित्वाऽऽरं परं सर्वं प्रभुर्वारितवान् सर्ववारम् ॥

अन्वयार्थ - (से पभू) वे प्रभू महावीर स्वामी (सराइभक्तं इत्थी वारिया) रात्रि भोजन ओर स्त्री को वर्जित करके (दुःखक्षयद्वयाए उवहाणवं) दुःख के क्षय के लिए तपस्या में प्रवृत्त थे । (आरं परं च लोगं विदित्ता) इसलोक तथा परलोक को जानकर (सव्ववारं सव्वं वारिय) भगवान् ने सब प्रकार के पापों को छोड़ दिया था ।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी ने अपने अष्टविध कर्मों का क्षपण करने के लिए स्त्री भोग और रात्रि भोजन छोड़ दिया था । तथा सदा तप में प्रवृत्त रहते हुए इसलोक तथा परलोक के स्वरूप को जानकर सब प्रकार के पापों को सर्वथा त्याग दिया था ।

टीका - स भगवान् वारयित्वा-प्रतिषिध्य किं तदित्याह- 'स्त्रियम्' इति स्त्रीपरिभोगं मैथुनमित्यर्थः, सह रात्रिभक्तेन वर्तत इति सरात्रिभक्तं, उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यदपि प्राणातिपातनिषेधादिकं द्रष्टव्यं, तथा उपधानं-तपस्तद्विद्यते यस्यासौ उपधानवान्-तपोनिष्ठसदेहः, किमर्थमिति दर्शयति-दुःखयतीति दुःखम् अष्टप्रकारं कर्म तस्य क्षयः- अपगमस्तदर्थः, किञ्च-लोकं विदित्वा 'आरम्' इहलोकाख्यं 'परं' परलोकाख्यं यदि वा- आरं- मनुष्यलोकं पारमिति नारकादिकं स्वरूपस्तत्प्राप्तिहेतुतश्च विदित्वा सर्वमेतत् 'प्रभुः' भगवान् 'सर्ववारं' बहुशो निवारितवान्, एतदुक्तं भवति-प्राणातिपातनिषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च स्थापितवान्, न हि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः, तदुक्तम्-

“ब्रुवाणोऽपि न्याय्यं स्ववचनविरुद्धं व्यवहरन्, पराज्ज्ञानं कश्चिदमयितुमदान्तः स्वयमिति ।

भवाङ्घ्रिस्थित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावदमयितुमदान्तं व्यवसितः ॥१॥”

इति, तथा-

“तित्थयरो 'चउणाणी' सुरमहिओ सिज्झियव्वयवधूयंमि ।

अणिगूहियबलविरओ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥१॥ इत्यादि ” ॥२८॥

टीकार्थ - भगवान् महावीर स्वामी ने स्त्री भोग तथा रात्रि भोजन त्याग दिया था । यह उपलक्षण मात्र है इसलिए भगवान् ने दूसरे पापों को अर्थात् प्राणातिपात आदि को भी छोड़ा था । भगवान् ने तप से अपने शरीर को तपा दिया था । ऐसा उन्होंने क्यों किया था ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं- जो प्राणियों को दुःख देता है उसे दुःख कहते हैं, वह आठ प्रकार का कर्म है, उस कर्म को क्षय करने के लिए भगवान् ने यह किया था । तथा भगवान् ने इस लोक और परलोक को जानकर अथवा मनुष्य लोक तथा नरक आदि के स्वरूप को और उनकी प्राप्ति के कारण को जानकर उक्त सभी पापों को सर्वथा छोड़ दीया था । आशय यह है की भगवान् ने स्वयं प्राणातिपात आदि पापों का त्यागकर दूसरों को भी इसी धर्म में स्थापित किया था । जो पुरुष स्वयं धर्म में स्थित नहीं है वह दूसरे को धर्म में स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है, यही बात इस पद्य में कही है-

(ब्रुवाणो) अर्थात् जो मनुष्य कहता तो न्यायसङ्गत है परन्तु अपने कथन से विपरीत आचरण करता है, वह स्वयं अजितेन्द्रिय होकर दूसरे को जितेन्द्रिय नहीं बना सकता है, इसलिए हे भगवान् ! आप इस बात को जानकर तथा समस्त जगत् के स्वरूप को निश्चित करके पहले अपने आत्मा को ही दमन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे । तथा

चार ज्ञान के धनी देवताओं के पूजनीय श्रीतीर्थङ्कर भगवान् मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपने बल वीर्य का पूर्ण उपयोग करते हुए समस्त बल के साथ प्रयत्न करते थे ॥२८॥



1. तीर्थङ्करभटुर्ज्ञानी सुरमहितः सेषयितव्ये ध्रुवे, अनिगूहितबलवीर्यः सर्वस्थानोद्यच्छति ॥१॥

- साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तीर्थकरगुणानाख्याय स्वशिष्यानाह-

- श्रीसुधर्मा स्वामी तीर्थङ्कर के गुणों को बताकर अब अपने शिष्यों से कहते हैं कि
सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्टपदोवसुद्धं ।

तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ,इंदा व देवाहिव आगमिस्संति । त्ति बेमि ॥२९॥

गाथाग्रं० (३९०) इति श्री वीरत्थुतीनाम छट्टमज्झयणं समत्तं ॥

छाया - श्रुत्वा च धर्ममहर्द्धाषितं, समाहितमर्थपदोशुद्धम् ।

तं श्रद्धाणाञ्च जना अनायुष इन्द्र इय देवाधिपा आगमिष्यन्तीति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ - (अरहंतभासियं) श्रीअरिहंतदेव के द्वारा भाषित (समाहित) युक्ति युक्त (अट्टपदोवसुद्धं) अर्थ और पदों से शुद्ध (धम्मं सोच्चा) धर्म को सुनकर (तं सद्दहाणा) उसमें श्रद्धा रखनेवाले (जणा अणाऊ) जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं (इंदा व देवाहिव आगमिस्संति) अथवा वे इन्द्र की तरह देवताओं के स्वामी होते हैं ।

भावार्थ - अरिहन्त देव के द्वारा कहे हुए युक्तिसङ्गत तथा शुद्ध अर्थ और पदवाले इस धर्म को सुनकर जो जीव इसमें श्रद्धा करते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं अथवा इन्द्र की तरह देवताओं के अधिपति होते हैं ।

टीका - 'सोच्चा य' इत्यादि, श्रुत्वा च दुर्गतिधारणाद्धर्म-श्रुतचारित्राख्यमहर्द्धिर्भाषितं- सम्यगाख्यातमर्थपदानि-युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धम्- अवदातं सद्युक्तिकं सद्धेतुकं वा यदिवा अर्थैः- अधिधेयैः पदैश्च- वाचकैः शब्दैः उप-सामीप्येन शुद्धं-निर्दोषं, तमेवम्भूतमहर्द्धिर्भाषितं धर्मं श्रद्धाणाः, तथाऽनुतिष्ठन्तो 'जना' लोका 'अनायुषः' अपगतायुःकर्माणः सन्तः सिद्धाः, सायुषश्चेन्द्राद्या देवाधिपा आगमिष्यन्तीति । इतिशब्दः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२९॥ इति वीरस्तवाख्यं षष्ठमध्ययनं परिसमाप्तमिति ॥

टीकार्थ - दुर्गति में पड़ने से बचाने के कारण जो धर्म कहा जाता है, वह श्रुत और चारित्र रूप धर्म तीर्थङ्कर के द्वारा कहा हुआ है तथा वह युक्ति और हेतु से शुद्ध है अर्थात् वह उत्तम युक्ति और उत्तम हेतु से सङ्गत है अथवा वह अर्थ यानी अधिधेय तथा पद यानी वाचक शब्दों से दोष रहित है । ऐसे जिनभाषित धर्म में जो जीव श्रद्धा रखते हैं तथा आचरण करते हैं, वे आयुः कर्म से रहित हों तो सिद्धि को प्राप्त करते हैं और आयु के सहित हो, तो इन्द्र आदि देवाधिपति होते हैं । इति शब्द समाप्ति का द्योतक है । ब्रवीमि, पूर्ववत् है ।

यह वीरस्तव नामक छट्टा अध्ययन समाप्त हुआ ।



॥ अथ सप्तममध्ययनं प्रारम्भ्यते ॥

उक्तं षष्ठमध्ययनं, साम्प्रतं सप्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने महावीरस्य गुणोत्कीर्तनतः सुशीलपरिभाषा कृता, तदनन्तरं तद्विपर्यस्ताः कुशीलाः परिभाष्यन्ते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्णनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा- कुशीलाः- परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्या अशीलाश्च गृहस्थाः परि-समन्तात् भाष्यन्ते-प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनतश्च निरूप्यन्त इति तथा तद्विपर्ययेण क्वचित्सुशीलाश्चेति, निक्षेपस्त्रिधा- ओघनामसूत्रालापकभेदात्, तत्रौघनिष्पन्ननिक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने कुशील-परिभाषेति, एतदधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह-

छट्ठा अध्ययन कहा जा चुका, अब सातवाँ आरम्भ किया जाता है, इसका सम्बन्ध यह है- इसके पूर्व अध्ययन में भगवान् महावीर स्वामी के गुणों को बताकर सुशील पुरुष की परिभाषा बतायी गयी है। इसके पश्चात् सुशील से विपरीत कुशील पुरुष की परिभाषा इस अध्ययन के द्वारा बतायी जाती है। इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के चार अनुयोगद्वारों का वर्णन करना चाहिए। उसमें उपक्रम में अर्थाधिकार यह है, परतीर्थी कुशील हैं तथा स्वयूथिक पार्श्वस्थ आदि भी कुशील हैं एवं शील रहित गृहस्थ भी कुशील हैं, इन लोगों के अनुष्ठान और फल तथा उनके दुर्गतिगमन का वर्णन इस अध्ययन में पूर्णरूपेण किया है, एवं इनसे विपरीत सुशील पुरुष का भी कहीं कहीं वर्णन किया है। निक्षेप तीन प्रकार का है- ओघ, नाम और सूत्रालापक। इनमें ओघ निक्षेप में यह समस्त अध्ययन का कुशील परिभाषा नाम है, इस विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं-

सीले चउक्क दव्वे पाउरणाभरणभोजणादीसु । भावे उ ओहसीलं अभिक्खमासेवणा चेव ॥८६॥ नि०।

टीका - 'शीले' शीलविषये निक्षेपे क्रियमाणे 'चतुष्क' मिति नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादानादृत्य 'द्रव्यम्' इति द्रव्यशीलं प्रावरणाभरणभोजनादिषु द्रष्टव्यं, अस्यायमर्थः- यो हि फलनिरपेक्षस्तत्स्वभावादेव क्रियासु प्रवर्तते स तच्छीलः, तत्रेह प्रावरणशील इति प्रावरणप्रयोजनाभावेऽपि ताच्छील्यान्नित्यं प्रावरणस्वभावः प्रावरणे वा दत्तावधानः, एवमाभरणभोजनादिष्वपि द्रष्टव्यमिति, यो वा यस्य द्रव्यस्य चेतनाचेतनादेः स्वभावस्तद् द्रव्यशीलमित्युच्यते, भावशीलं तु द्विधा- ओघशीलमाभीक्ष्ण्यसेवनाशीलं चेति ॥८६॥ तत्रौघशीलं व्याचिख्यासुराह-

ओहे सीलं विरती विरयाविरई य अविरती असीलं । धम्मे णाणतवादी अपसत्थ अहम्मकोवादी ॥८७॥ नि०।

तत्रौघः- सामान्यं सामान्येन सावद्ययोगविरतो विरताविरतो वा शीलवान् भण्यते, तद्विपर्यस्तोऽशीलवानिति, आभीक्ष्ण्यसेवायां तु अनवरतसेवनायां तु शीलमिदं, तद्यथा- 'धर्मे' धर्मविषये प्रशस्तं शीलं यदुतानवरतापूर्वज्ञानार्जनं विशिष्टतपःकरणं वा, आदिग्रहणादनवरताभिग्रहग्रहणादिकं परिगृह्यते, अप्रशस्तभावशीलं त्वधर्मप्रवृत्तिर्बाह्या आन्तरा तु क्रोधादिषु प्रवृत्तिः, आदिग्रहणात् शेषकषायाश्चौर्याभ्याख्यानकलहादयः परिगृह्यन्त इति ॥८७॥ साम्प्रतं कुशीलपरिभाषाख्य-स्याध्ययनस्यान्वर्थतां दर्शयितुमाह-

परिभासिषा कुसीला य एत्थ जावन्ति अविरता केई । सुत्ति पसंसा सुद्धो कुत्ति दुगुंठा अपरिसुद्धो ॥८८॥ नि०।

परि-समन्तात् भाषिताः- प्रतिपादिताः 'कुशीलाः' कुत्सितशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च च शब्दात् यावन्तः केचनाविरता अस्मिन्नित्यत इदमध्ययनं कुशीलपरिभाषेत्युच्यते, किमिति कुशीला अशुद्धा गृह्यन्ते इत्याह- सुरित्ययं निपातः प्रशंसायां शुद्धविषये वर्तते, तद्यथा- सौराज्यमित्यादि, तथा कुरित्ययमपि निपातो जुगुप्सायामशुद्धविषये वर्तते, कुतीर्थं कुग्राम इत्यादि ॥८८॥ यदि कुत्सितशीलाः कुशीलाः, कथं तर्हि ? परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च तथाविधा भवन्तीत्याह-

अफासुयपडिसेविय णामं भुज्जो य सीलवादी य । फासुं वयंति सीलं अफासुया मो अभुजंता ॥८९॥ नि०।

अस्त्ययं शीलशब्दस्तत्स्वाभाव्ये, तथाहि-यः फलनिरपेक्षः क्रियास्वाभरणादिषु प्रवर्तते स चेह द्रव्यशीलत्वेन प्रदर्शितः, अस्त्युपशमप्रधाने चारित्र्ये, तथाहि- तत्प्रधानः शीलवानयं तपस्वीति, तद्विपर्ययेण दुःशील इति, स चेह भावशीलग्रहणेनोपात्त इति, इह च यतीनां ध्यानाध्ययनादिकं मुक्त्वा धर्माधारशरीरतत्पालनाहारव्यापारं च मुक्त्वा नापरः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीत्यतस्तदाश्रयणेनैव सुशीलत्वं दुःशीलत्वं च चिन्त्यते, तत्र कुतीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा अप्रासुकं-सचित्तं प्रतिसेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी, नाम शब्दः सम्भावनायां 'भूयः' पुनर्धाष्ट्याच्छीलवन्तमात्मानं वदितुं शीलं यस्य स शीलवादी, किमित्येवं? - यतः 'प्रासुकम्' अचेतनं शीलं वदन्ति, इदमुक्तं भवति-यः प्रासुकमुद्रमादिदोष-रहितमाहारं भुङ्क्ते तं शीलवन्तं वदन्ति तज्ज्ञाः, तथाहि-यतयो प्रासुकमुद्रमादिदोषदुष्टमेवाहारमभुञ्जानाः शीलवन्तो भण्यन्ते, नेतर इति स्थितं, मोशब्दस्य निपातत्वेनावधारणार्थत्वादिति ॥८९॥ अप्रासुकभोजित्वेन कुशीलत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह-

जह णाम गोयमा चंडीदेवगा वारिभद्रगा चेव । जे अग्निहोतवादी जलसोयं जे य इच्छंति ॥९०॥ नि०।

यथेति दृष्टान्तोपक्षेपार्थं, नामशब्दो वाक्यालङ्कारे, 'गौतमा' इति गोव्रतिका गृहीतशिक्षं लघुकायं वृषभमुपादाय धान्याद्यर्थं प्रतिगृहमटन्ति, तथा 'चंडीदेवगा' इति चक्रधरप्रायाः एवं 'वारिभद्रगा' अब्भक्षा शैवालाशिनो नित्यं स्नानपादादिधावनाभिरता वा तथा ये चान्ये 'अग्निहोत्रवादिनः' अग्निहोत्रादेव स्वर्गगमनमिच्छन्ति ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्रासुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति, चशब्दात् ये च स्वयूध्याः पार्श्वस्थादय उद्रमाद्यशुद्धमाहारं भुञ्जते तेऽपि कुशीला इति ॥९०॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्ने निक्षेपे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदं-

टीकार्थ - शील के विषय में नाम आदि चार निक्षेप हैं । इनमें नाम और स्थापना को सुगम होने के कारण छोड़कर द्रव्यशील बतलाये हैं- वस्त्र और भोजन आदि के विषय में द्रव्य शील का उदाहरण समझना चाहिए । इसका आशय यह है- जो मनुष्य फल की अपेक्षा न करके स्वभाव से ही क्रिया में प्रवृत्त होता है वह तच्छील कहलाता है। जिस वस्त्र के धारण करने की आवश्यकता जिस समय नहीं है, उस वस्त्र को भी जो स्वाभाव से सदा धारण किया रहता है अथवा उस वस्त्र में सदा चित्त दिया रहता है, वह पुरुष प्रावरणशील कहलाता है । इसी तरह भूषण और भोजन के विषय में भी समझना चाहिए । अथवा चेतन और अचेतन जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उसे द्रव्यशील कहते हैं । भावशील दो प्रकार का है- ओघशील और आभीक्ष्ण्यसेवनाशील । इनमें ओघशील की व्याख्या करने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

सामान्य को ओघ कहते हैं, जो पुरुष सामान्यतः सावद्य योगों से निवृत्त है अथवा जो विरताविरत है, उसे शीलवान् कहते हैं, जो इससे विपरीत है, वह अशीलवान् है । आभीक्ष्ण्य सेवा अर्थात् निरन्तर सेवा करने में शील यह है- धर्म के विषय में प्रशस्त शील यह है कि निरन्तर अपूर्वज्ञान का उपार्जन करते रहना अथवा विशिष्ट तप करना । आदि शब्द से निरन्तर अभिग्रह ग्रहण करना समझना चाहिए । अप्रशस्त भावशील, अधर्म में प्रवृत्ति है, वह बाह्य है । आन्तर अप्रशस्त भावशील क्रोधादि में प्रवृत्ति है । आदि शब्द से शेष कषाय, चोरी परनिन्दा और कलह आदि का ग्रहण है । अब, कुशील परिभाषाध्ययन अर्थानुगत है, यह दिखाने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं...

बुरे शीलवाले परतीर्थी और पार्श्वस्थ आदि तथा च शब्द से जितने अविरत हैं, वे सभी इस अध्ययन में बताये गये हैं, इसलिए इस अध्ययन का नाम कुशीलपरिभाषाध्ययन है । कहते हैं कि- कुशील शब्द से अशुद्ध पुरुषों का ग्रहण क्यों होता है ? (समाधान यह है कि) 'सु' यह निपात निन्दा अर्थ में शुद्ध विषय में आता है, जैसे कि सौराज्यम् इत्यादि । इसी तरह 'कु' यह निपात निन्दा अर्थ में अशुद्ध विषय में आता है जैसे- कुतीर्थ, कुग्राम इत्यादि । कहते हैं कि यदि असत् शीलवाले कुशील हैं तो परतीर्थी और पार्श्वस्थ आदि कुशील किस प्रकार हैं ? इसका समाधान देने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

वस्तु के स्वभाव अर्थ में शील शब्द का प्रयोग होता है । जो पुरुष फल की अपेक्षा न करके आभरण

आदि क्रिया में प्रवृत्त रहता है, उसे यहां द्रव्यशील कहकर दिखाया है। उपशमप्रधान चारित्र्य अर्थ में भी शील शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि जो पुरुष उपशम प्रधान है, उसके लिए कहते हैं कि 'यह तपस्वी शीलवान् है'। तथा जो इससे विपरीत है, उसे दुःशील कहते हैं। वह शील यहां भावरूप लिया गया है। इसलोक में ध्यान, अध्ययन को छोड़कर तथा धर्म के आधारस्वरूप अपने शरीर के पालन के लिए आहार के व्यापार को छोड़कर साधुओं का कोई व्यापार नहीं है, इसलिए इन्हीं का आश्रय लेकर सुशील और दुःशील का विचार किया जाता है। कुतीर्थी और पार्श्वस्थ आदि सचित्त वस्तु का सेवन करते हैं, इसलिए वे 'अप्रासुकप्रतिसेवी' हैं। नाम शब्द सम्भावना अर्थ में आया है। फिर भी वे घृष्टता के साथ अपने को शीलवान् कहते हैं। वे क्यों शीलवान् नहीं हैं? इसलिए नहीं हैं कि विद्वान् पुरुष अचित्त सेवन को शील कहते हैं, आशय यह है कि जो प्रासुक और उद्गमादि दोष रहित आहार खाते हैं, उन्हीं को विद्वान् शीलवान् कहते हैं, यही कारण है कि अप्रासुक और उद्गम आदि दोष सहित आहार को न खानेवाले साधु शीलवान् कहे जाते हैं, दूसरे नहीं, क्योंकि 'मो' शब्द निपात होने से अवधारणार्थक है। अप्रासुक आहार खाना कुशीलपना है, यह बताने के लिए निर्युक्तकार दृष्टान्त देते हैं-

यथा शब्द दृष्टान्त अर्थ में आया है नाम शब्द वाक्यालङ्कार में है। जो लोग गोव्रतिक हैं अर्थात् जो शिक्षा पाये हुए छोटे बैल को लेकर अन्न आदि के लिए घर घर घूमते हैं, तथा चण्डी की उपासना करनेवाले जो हाथ में चक्र धारण करते हैं, तथा वारिभद्रक, जो जल पीकर रहते हैं अथवा शैवाल खाकर रहते हैं और सदा स्नान और पैर धोना आदि में रत रहते हैं, तथा अग्निहोत्रवादी, जो अग्निहोत्र से ही स्वर्ग की प्राप्ति कहते हैं तथा दूसरे भागवत जो जलशौच की इच्छा करते हैं, वे सभी अप्रासुक आहार खाने के कारण कुशील हैं। च शब्द से पार्श्वस्थ आदि स्वयूधिक उद्गम आदि दोषों से युक्त अशुद्ध आहार खाते हैं, अतः वे भी कुशील हैं। नाम निक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रालापक निक्षेप में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है-



पुढवी य आऊ अगणीय य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा ।

जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा

॥१॥

एयाइं कायाइं पवेदिताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।

एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति

॥२॥

छाया - पृथिवी चापद्माद्विष्ट वायुः, तृणवृक्षबीजाश्च त्रसाश्च प्राणाः ।

येऽण्डजा ये च जरायुजाः प्राणाः, संसेदजा ये रसजाभिधायाः ॥

छाया - एते कायाः प्रवेदिता, एतेषु जानीहि प्रत्युपेक्षस्व सातम् ।

एतैः कायेर्ये आत्मदण्डा एतेषु च विपर्यासमुपयावन्ति ॥

अन्वयार्थ - (पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ) पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु (तण रुक्ख बीया स तसा य पाणा) तृण, वृक्ष, बीज और त्रस प्राणी (जे अंडया) तथा जो अण्डज (जराउ पाणा) जरायुज प्राणी हैं, (संसेयया जे रसयाभिहाणा) तथा जो स्वेदज और रस से उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं (एयाइं कायाइं पवेदिताइं) इन सभी को सर्वज्ञ ने जीव का पिण्ड कहा है (एतेसु सायं जाणे) इन पृथिवी आदि में सुख की इच्छा जानो (पडिलेह) और उसे सूक्ष्म रीति से विचारो। (एतेण काएण य आयदंडे) जो उक्तप्राणियों का नाश करके अपने आत्मा को दण्ड देते हैं वे (एतेसु या विप्परियासुविंति) इन्हीं प्राणियों में जन्म धारण करते हैं।

भावार्थ - पृथिवी, जल, तेज, वायु, तृण वृक्ष, बीज और त्रस तथा अण्डज (पक्षी आदि) जरायुज (मनुष्य गाय आदि) स्वेदज और रसज (दही आदि से उत्पन्न होनेवाले) इनको सर्वज्ञ पुरुषों ने जीव का शरीर कहा है, इसलिए इनमें सुख की इच्छा रहती है, यह जानना चाहिए। जो जीव इन शरीरवाले प्राणियों का नाश करके पाप सञ्चय करते हैं, वे बार बार इन्हीं प्राणियों में जन्म धारण करते हैं।

टीका - 'पृथिवी' पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, स चायं भेदः- पृथिवीकायिकाः

सूक्ष्मा बादराक्ष, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विधा, एवमष्कायिका अपि तथाऽग्निकायिका वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः, वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयति- 'तृणानि' कुशादीनि 'वृक्षाश्च' अश्वत्थादयो 'बीजानि' शाल्यादीनि एवं वल्लीगुल्मादयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः, त्रस्यन्तीति 'त्रसा' द्वीन्द्रियादयः 'प्राणा' प्राणिनः ये चाण्डाज्जाता अण्डजाः- शकुनिसरीसृपादयः 'ये च जरायुजा' जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः, तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूकामत्कुणकृम्यादयः 'ये च रसजाभिधाना' दधिसौवीरकादिषु रूतपक्ष्मसन्निभा इति ॥१॥

टीका - नानाभेदभिन्नं जीवसंघातं प्रदर्शयानुना तदुपघाते दोषं प्रदर्शयितुमाह- 'एते' पृथिव्यादयः 'काया' जीवनिकाया भगवद्भिः 'प्रवेदिताः' कथिताः, छान्दसत्वात्तृपुंसकलिङ्गता, 'एतेषु' च पूर्वं प्रतिपादितेषु पृथिवीकायादिषु प्राणिषु 'सातं' सुखं जानीहि, एतदुक्तं भवति-सर्वेऽपि सत्त्वाः सातैषिणो दुःखद्विषश्चेति ज्ञात्वा 'प्रत्युपेक्षस्व' कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यथैभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते, एतत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः, अथवैभिरेव कायैर्ये 'आयतदण्डा' दीर्घदण्डाः, एतदुक्तं भवति- एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति- पीडयन्तीति, तेषां यद्धवति तद्दर्शयति-ते एतेष्वेव-पृथिव्यादिकायेषु विविधम्-अनेकप्रकारं परि-समन्ताद् आशु-क्षिप्रमुप-सामीप्येन यान्ति-व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः, यदिवा-विपर्यासो-व्यत्ययः, सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते तत्समारम्भेण च दुःखमेवावाप्यते न सुखमिति. यदिवा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्या क्रियां कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति ॥२॥

टीकार्थ - पृथिवी अर्थात् पृथिवीकाय के जीव यहां चकार स्वगत भेद को सूचक करता है, वह भेद यह है। पृथिवीकाय के प्राणी सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के हैं और वे प्रत्येक पर्याप्त तथा अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के हैं। इसी तरह जलकाय, अग्निकाय, और वायुकाय के जीवों को भी जानना चाहिए। वनस्पतिकाय के जीवों को भेद करके शास्त्रकार दिखालाते हैं- तृण अर्थात् कुश आदि और वृक्ष अर्थात् अश्वत्थ (पीपल) आदि, बीज अर्थात् शालि आदि, इसी तरह लता और झाड़ी आदि भी वनस्पति के भेद जानने चाहिए। जो भय पाते हैं, वे द्वीन्द्रिय आदि प्राणी, एवं अण्डे से उत्पन्न, पक्षी और सर्प आदि, तथा जरायुज यानी जो जम्बाल से वेष्टित उत्पन्न होनेवाले गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और मनुष्य आदि, एवं स्वेद से उत्पन्न होनेवाले खटमल और कृमि आदि, तथा रसजा जो दही और काँजी आदि से उत्पन्न सूक्ष्म पक्ष्मवाले जीव होते हैं, वे सब प्राणी हैं ॥१॥

टीकार्थ - अनेक भेदवाले जीवसमूह को दिखाकर अब शास्त्रकार उनके उपघात में दोष दिखाने के लिए कहते हैं- इन पृथिवीकाय आदि को तीर्थङ्करों ने जीवसमूह कहा है (छान्दस होने के कारण यहां नपुंसकलिङ्गता हुई है)। इन पूर्वोक्त पृथिवीकाय आदि जीवों में सुख की इच्छा जाननी चाहिए। आशय यह है कि- ये सभी प्राणी सुख की इच्छा करते हैं और दुःख से द्वेष करते हैं, यह जानकर सूक्ष्मबुद्धि से विचार करो कि इन प्राणियों को पीड़ा देने से अपनी आत्मा दण्ड की भागी बनती है अर्थात् इनमें आरम्भ करने से आत्मा को कष्ट भोगना पड़ता है। अथवा-इन प्राणियों को जो चिर काल तक दण्ड देते हैं, उनकी जो दशा होती है, वह शास्त्रकार दिखलाते हैं-पूर्वोक्त पृथिवीकाय आदि जीवों को पीड़ा देनेवाले जीव, इन पृथिवीकाय आदि योनियों में ही बार-बार जन्म लेते हैं। अथवा प्राणी वर्ग सुख की प्राप्ति के लिए जीवों का आरम्भ करते हैं परन्तु उस आरम्भ से दुःख ही प्राप्त होता है, सुख नहीं मिलता। अथवा कुतीर्थी मोक्ष के लिए इन प्राणियों के द्वारा जो क्रिया करते हैं, उससे उनको संसार की ही प्राप्ति होती है ॥२॥



- यथा चासावायतदण्डो मोक्षार्थी तान् कायान् समारभ्य तद्विपर्ययात् संसारमाप्नोति तथा दर्शयति-

- उक्त प्राणियों को दण्ड देकर मोक्ष की इच्छा रखनेवाले पुरुष जीवों को दण्ड देकर मोक्ष से विपरीत जिस प्रकार संसार को ही प्राप्त करते हैं, सो शास्त्रकार दिखलाते हैं.....

जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।

से जातिं जातिं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले

॥३॥

छाया - जातिपथमनुपरिवर्तमानस्रसस्थावरेषु विनिधातमेति ।

स जातिं जातिं बहुकूरकर्मा, यत् करोति म्रियते तेन बालः ॥

अन्वयार्थ - (जाईपहं) एकेन्द्रिय आदि जातियों में (अनुपरिवर्तमाने) जन्मता और मरता हुआ (से) वह जीव (तसथावरेहिं) त्रस और स्थावर जीवों में उत्पन्न होकर (विनिधायमेति) नाश को प्राप्त होता है । (जातिं जातिं बहुकूरकम्मे) बार बार जन्म लेकर बहुत कूर कर्म करने वाला वह (बाल) अज्ञानी जीव (जं कुव्वती) जो कर्म करता है (तेण मिज्जति) उसी से मृत्यु को प्राप्त होता है ।

भावार्थ - एकेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त प्राणियों को दण्ड देनेवाला जीव बार-बार उन्हीं एकेन्द्रिय आदि योनियों में जन्मता और मरता है । वह त्रस और स्थावरों में उत्पन्न होकर नाश को प्राप्त होता है । वह बार-बार जन्म लेकर कूर कर्म करता हुआ जो कर्म करता है, उसीसे मृत्यु को प्राप्त होता है ।

टीका - जातीनाम्-एकेन्द्रियादीनां पन्था जातिपथः, यदिवा-जातिः- उत्पत्तिर्वधो-मरणं जातिश्च वधश्च जातिवधं तद् 'अनुपरिवर्तमानः' एकेन्द्रियादिषु पर्यटन् जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवन् 'त्रसेषु' तेजोवायुद्वीन्द्रियादिषु 'स्थावरेषु' च पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु समुत्पन्नः सन् कायदण्डविपाकजेन कर्मणा बहुशो विनिधातं विनाशमेति अवाप्नोति स आयात दण्डोऽसुमान् 'जातिं जातिम्' उत्पत्तिमुत्पत्तिमवाप्य बहूनि क्रूराणि-दारुणान्यनुष्ठानानि यस्य स भवति बहुकूरकर्मा, स एवम्भूतो निर्विवेकः सदसद्विवेकशून्यत्वात् बाल इव बालो यस्यामेकेन्द्रियादिकायां जातौ यत्प्राण्युपमर्दकारि कर्म कुरुते स तेनैव कर्मणा 'मीयते' म्रियते पूर्यते यदिवा 'मीड् हिंसायां' मीयते हिंस्यते अथवा-बहु-कूरकमेति चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्येवं तेनैव कर्मणा मीयते-परिच्छिद्यत इति ॥३॥

टीकार्थ - एकेन्द्रिय आदि जातियों के मार्ग को 'जातिपथ' कहते हैं । अथवा उत्पत्ति को जाति कहते हैं और मरण को 'वध' कहते हैं, इन दोनों के समूह को 'जातिवध' कहते हैं । उसमें परिभ्रमण करता हुआ जीव, अर्थात् एकेन्द्रिय आदि जातियों में भ्रमण करता हुआ अथवा बार-बार जन्म और मरण का अनुभव करता हुआ वह जीव, तेज, वायु और द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणियों में तथा पृथिवी, जल और वनस्पति आदि स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होकर जीवों के दण्डरूपी कर्म के विपाक से बार-बार नाश को प्राप्त होता है । प्राणियों को अत्यन्त दण्ड देनेवाला तथा बार-बार जन्म पाकर उनमें बहुत कूर कर्म करनेवाला वह जीव सद् और असत् के विवेक से हीन होने के कारण बालक के समान अज्ञानी है, वह जिस एकेन्द्रिय आदि जाति में प्राणियों का विनाशक जो कर्म करता है, उसी कर्म से वह मर जाता है अथवा वह उसी कर्म से मारा जाता है अथवा वह बहुत कूर कर्म करनेवाला पुरुष "यह चोर है, यह परस्त्रीलम्पट है" इत्यादि रूप से उसी कर्म के द्वारा लोक में बताया जाता है ॥३॥



- क्व पुनरसौ तैः कर्मभिर्मियते इति दर्शयति-

- कुशील पुरुष अपने कर्मों से कहाँ कष्ट पाता है ? यह शास्त्रकार दिखलाते हैं,

अस्मिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।

संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि

॥४॥

छाया - अस्मिंश्च लोकेऽथवा परस्तात्, शताग्रशो वा तथाऽन्यथा वा ।

संसारमापन्नाः परं परं ते, बध्नन्ति वेदयन्ति च दुर्नीतानि ॥

अन्वयार्थ - (अस्मिं च लोए) इसलोक में (अदुवा परत्था) अथवा परलोक में वे कर्म अपना फल देते हैं । (सयग्गसो वा तह अन्नहा वा) वे एक जन्म में अथवा सैकड़ों जन्मों में फल देते हैं । जिस प्रकार वे कर्म किये गये हैं, उसी तरह अपना फल देते हैं अथवा दूसरी तरह भी देते हैं । (संसारमावन्न ते) संसार में भ्रमण करते हुए वे कुशील जीव, (परं परं) बड़े से बड़े दुःख भोगते हैं । (बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि) वे आर्तध्यान करके फिर कर्म बाँधते हैं और अपने पाप कर्म का फल भोगते हैं ।

भावार्थ - कोई कर्म, इसी जन्म में अपना फल कर्ता को देता है और कोई दूसरे जन्म में देता है । कोई एक ही जन्म में देता है और कोई सैकड़ों जन्मों में देता है । कोई कर्म जिस तरह किया गया है, उसी तरह फल देता है और कोई दूसरी तरह से देता है । कुशील पुरुष सदा संसार में भ्रमण करते रहते हैं और वे एक कर्म का फल दुःख भोगते हुए फिर आर्तध्यान करके दूसरा कर्म बाँधते हैं । वे अपने पाप का फल सदा भोगते रहते हैं ।

टीका - यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं ददति, अथवा परस्मिन् जन्मनि नरकादौ तस्य कर्म विपाकं ददति, एकस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं तीव्रं ददति 'शताग्रशो वे'ति बहुषु जन्मसु, येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरन्ति तथैवोदीर्यते तथा- 'अन्यथा वेति, इदमुक्तं भवति-किञ्चित्कर्म तद्वै एव विपाकं ददाति किञ्चित्च जन्मान्तरे, यथा- मृगपुत्रस्य दुःखविपाकाख्ये विपाकश्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति, दीर्घकालस्थितिकं त्वपरजन्मान्तरितं वेद्यते, येन प्रकारेण सकृत्तथैवानेकशो वा, यदिवाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रशो वा शिरच्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं चानुभूयत इति, तदेवं ते कुशीला आयतदण्डाश्चतुर्गतिकसंसारमापन्ना अरहदृष्टीयन्त्रन्यायेन संसारं पर्यटन्तः 'परं परं' प्रकृष्टं प्रकृष्टं दुःखमनुभवन्ति, जन्मान्तरकृतं कर्मानुभवन्तश्चैकमार्तध्यानोपहता अपरं बध्नन्ति वेदयन्ति च, दुष्टं नीतानि दुर्नीतानि-दुष्कृतानि, न हि स्वकृतस्य कर्मणो विनाशोऽस्तीतिभावः, तदुक्तम्-

“मा होहि रे विस्रब्धो जीवा! तुमं विमणदुग्मणो दीणो ।

गह्वं चिन्तिष्य फिट्ठं तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥१॥

२जइ पविससि पायालं अडविं व दन्तिं गुहं समुदं वा ।

पुत्त्वकयाउ न चुक्कसि अप्पाणं घायसे जइवि ॥२॥” ॥४॥

टीका - जो कर्म शीघ्र फल देनेवाले हैं, वे इसी जन्म में अपने कर्ता को फल देते हैं । अथवा दूसरे जन्म में नरक आदि में वे अपना फल देते हैं । वे कर्म एक ही जन्म में अपना तीव्र विपाक उत्पन्न करते हैं अथवा बहुत जन्मों में उत्पन्न करते हैं । प्राणी जिस प्रकार अशुभ कर्म करता है, उसी तरह वह कर्म फल देता है अथवा और तरह से भी देता है । आशय यह है कि-कोई कर्म उसी भव में अपना विपाक देता है और कोई दूसरे जन्म में देता है, जैसे कि-दुःख विपाक नामक विपाक श्रुताङ्ग श्रुतस्कन्ध में मृगापुत्र के विषय में कहा है। तथा जिसकी दीर्घकाल की स्थिति है, वह कर्म दूसरे जन्म में अपना फल देता है । एवं जिस प्रकार वह कर्म किया गया है, उसी प्रकार वह अपने कर्ता को एकबार या अनेक बार फल देता है अथवा वह दूसरी तरह से एकबार अथवा हजारों बार शिर का छेदन तथा हाथ पैर आदि का छेदनरूप फल कर्ता को देता है । इसी प्रकार प्राणियों को बहुत दण्ड देनेवाले वे कुशील जीव, चतुर्गतिक संसार में पड़े हुए अरहट यन्त्र की तरह बार-बार संसार में भ्रमण करते रहते हैं और बड़े से बड़े दुःख भोगते हैं । पूर्व जन्म के एक कर्म का फल भोगते हुए वे आर्तध्यान करके फिर दूसरा कर्म बाँधते हैं और अपने पापकर्म का फल भोगते हैं । अपने किये हुए कर्म का फल भोगे बिना नाश नहीं होता है । यह भाव है, अत एव कहा है कि-

(मा होहि) अर्थात् हे जीव! तुम उदास, दीन, तथा दुःखितचित्त मत बनो क्योंकि जो दुःख तुमने पहले पैदा किया है, वह चिन्ता करने से मिट नहीं सकता है । चाहे तुम पाताल में प्रवेश करो अथवा किसी जङ्गल में जाओ या पहाड़ की गुफा में छिप जाओ अथवा अपने आत्मा का ही घात कर डालो परन्तु पूर्वजन्म के कर्म से तुम बच नहीं सकते ॥४॥



- एवं तावदोघतः कुशीलाः प्रतिपादिताः, तदधुना पाषण्डिकानधिकृत्याह-

- इसी प्रकार सामान्य रूप से कुशील पुरुष कहे गये हैं अब शास्त्रकार पाषण्डियों के विषय में कहते हैं-

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा ।

1. मा भव रे विषण्णो जीव ! त्वं विमना दुर्म्मा दीनः। नैव चिन्तितेन स्फेटते तद्दुक्खं यत्पुरा रचितं ॥१॥

2. यदि प्रविशसि पातालं अटवीं वा दरीं गुहां समुद्रं वा । पूर्वकृतान्नैव प्रश्यसि आत्मानं घातयसि यद्यपि ॥

अहाहु से लोए कुशीलधम्मे, भूताइं जे हिंसति आयसाते

॥५॥

छाया - यो मातरं वा पितरश्च हित्वा, श्रमणाव्रतेऽग्निं समारभेत ।

अथाहुः स कुशीलधर्मा भूतानि यो हिंस्वत्यात्मसाते ॥

अन्वयार्थ - (जे) जो पुरुष (मायरं वा पियरं च हिच्चा) माता और पिता को छोड़कर (समणव्वए) श्रमण व्रत ग्रहण करके (अगणिं समारभिज्जा) अग्निकाय का आरम्भ करते हैं तथा (जे आयसाते) जो अपने सुख के लिए (भूताइं हिंसति) प्राणियों की हिंसा करते हैं (से लोए कुशीलधम्मे) वे लोग कुशील धर्मवाले हैं (अहाहु) यह सर्वज्ञ पुरुषों ने कहा है ॥

भावार्थ - जो लोग माता पिता को छोड़कर श्रमणव्रत को धारण करके अग्निकाय का आरम्भ करते हैं तथा जो अपने सुख के लिए भूतों की हिंसा करते हैं, वे कुशील धर्मवाले हैं, यह सर्वज्ञ पुरुषों ने कहा है ।

टीका - ये केचनाविदितपरमार्था धर्मार्थमुत्थिता मातरं पितरं च त्यक्त्वा, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वात् तदुपादानमन्यथा भ्रातृपुत्रादिकमपि त्यक्त्वेति द्रष्टव्यं, श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगम्याग्निकायं समारभन्ते, पचनपाचनादिप्रकारेण कृतकारितानुमत्यौद्देशिकादिपरिभोगाच्चाग्निकायसमारम्भं कुर्युरित्यर्थः, अथेति, वाक्योपन्यासार्थः, 'आहु' रिति तीर्थकृद्गणधरादय एवमुक्तवन्तः- यथा सोऽयं पाषण्डिको लोको गृहस्थलोको वाऽग्निकायसमारम्भात् कुशीलः- कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा, अयं किम्भूत इति दर्शयति- अभूवन भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि-प्राणिनस्तान्यात्मसुखार्थं 'हिंस्ति' व्यापादयति, तथाहि-पञ्चाग्निपसा निष्टसदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च क्रियया पाषण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति, तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ॥५॥

टीका - जो जीव परमार्थ को नहीं जानते हैं तथा धर्माचारण करने के लिए प्रवृत्त होकर एवं माता-पिता को छोड़कर माता पिता को छोड़ना कठिन है, इसीलिए यहां माता पिता को छोड़ना कहा है, नहीं तो भाइ पुत्र आदि को भी छोड़ना यहां समझना चाहिए हम श्रमण व्रत में स्थित हैं, ऐसा स्वीकार करके अग्निकाय का आरम्भ करते हैं अर्थात् वे पचन और पाचन आदि के द्वारा अग्निकाय का आरम्भ करते हैं, वे पाषण्डीलोग अथवा गृहस्थलोग अग्निकाय के आरम्भ करने से कुशील है, जिसके धर्म का स्वभाव कुत्सित है, उसे कुशीलधर्मा कहते हैं । यह तीर्थङ्कर तथा गणधर आदि ने कहा है । ये कुशील कैसे हैं ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं- जो हो चुके हैं और होते हैं तथा जो होंगे उन्हें भूत कहते हैं । भूत, प्राणियों का नाम है, उन प्राणियों का अपने सुख के लिए जो घात करते हैं, वे कुशील हैं । पाषण्डी लोग पञ्चाग्नि के सेवनरूप तपस्या से अपने शरीर को तपाते हैं तथा अग्निहोम आदि क्रिया से स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा करते हैं, तथा लौकिक पुरुष पाचन आदि के द्वारा अग्निकाय का आरम्भ करके सुख की इच्छा करते हैं, ये सब कुशील हैं ॥५॥



- अग्निकायसमारम्भे च यथा प्राणातिपातो भवति तथा दर्शयितुमाह-

- अग्निकाय के आरम्भ करने से जिस प्रकार प्राणातिपात होता है, सो दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

उज्जालओ पाण निवातएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा ।

तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा

॥६॥

छाया - उज्ज्वालकः प्राणान् निपातयेत्, निर्वापकोऽग्निं निपातयेत् ।

तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं न पण्डितोऽग्निं समारभेत् ॥

अन्वयार्थ - (उज्जालओ) आग जलानेवाला पुरुष (पाण निवातएज्जा) प्राणियों का घात करता है (निव्वावओ) और आग बुझानेवाला पुरुष (अगणि निवायवेज्जा) अग्निकाय के जीव का घात करता है । (तम्हाउ) इसलिए (मेहावि) बुद्धिमान् (पंडिए) पण्डित पुरुष (धम्मं समिक्ख) धर्म को देखकर (अगणि ण समारभिज्जा) अग्निकाय का आरम्भ न करे ।

भावार्थ - आग जलानेवाला पुरुष जीवों का घात करता है और आग बुझानेवाला पुरुष अग्निकाय के जीवों का

घात करता है, इसलिए बुद्धिमान् पण्डित पुरुष अग्निकाय का आरम्भ न करे ।

टीका - तपनतापनप्रकाशादिहेतुं काष्ठादिसमारम्भेण योऽग्निकायं समारभते सोऽग्निकायमपरांश्च पृथिव्या-
द्याश्रितान् स्थावरांस्त्रसांश्च प्राणिनो निपातयेत्, त्रिभ्यो वा मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलेन्द्रियेभ्यो वा पातयेन्निपातयेत्
(त्रिपातयेत्), तथाऽग्निकायमुदकादिना 'निर्वापयन्' विध्यापयंस्तदाश्रितानन्यांश्च प्राणिनो निपातयेत्त्रिपात्येद्वा तत्रोज्ज्वा-
लकनिर्वापकयोर्योऽग्निकायमुज्ज्वलयति स बहुनामन्यकायानां समारम्भकः, तथा चागमः- "दो भंते ! पुरिसा
अन्नमन्नेण सद्धिं अग्निकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अग्निकायं उज्जालेइ एगे णं पुरिसे अग्निकायं
निव्वावेइ, तेसिं भंते ! पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए ?, गोयमा! तत्थ णं
जे से पुरिसे अग्निकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतराणं पुढविकायं समारभति, एवं आउकायं वाउकायं वणस्सइकायं
तसकायं अप्पतराणं अग्निकायं समारभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अग्निकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतराणं
पुढविकायं समारभइ जाव अप्पतराणं तसकायं समारभइ बहुतराणं अग्निकायं समारभइ, से एतेणं अट्ठेणं गोयमा!
एवं वुच्चइ"॥ अपि चोक्तम्- "भूयाणं एसमाघाओ, हव्ववाओ ण संसओ" इत्यादि । यस्मादेवं तस्मान् 'मेधावी'
सदसद्विवेकज्ञः सश्रुतिकः समीक्ष्य धर्मं पापाङ्गीनः पण्डितो नाग्निकायं समारभते, स एव च परमार्थतः पण्डितो
योऽग्निकायसमारम्भकृतात् पापान्निवर्तत इति ॥६॥

टीकार्थ - तपन, तापन और प्रकाश आदि के कारणरूप अग्नि को जो काठ आदि डालकर जलाता है, वह
अग्निकायके जीव को तथा दूसरे पृथिवी आदि के आश्रित स्थावर और त्रस प्राणियों का घात करता है । अथवा
वह पुरुष प्राणियों को मन, वचन और काय से अथवा आयु, बल और इन्द्रियों से विनाश करता है । तथा जो
पुरुष पानी आदि के द्वारा अग्निकाय को बुझाता है, वह अग्निकाय के जीव को तथा दूसरे अग्नि के आश्रित जीवों
का नाश करता है । जो आग जलाता है और जो आग बुझाता है, इन दोनों में आग जलानेवाला बहुत दूसरे काय
के जीवों का विनाश करता है । इस विषय में यह आगम है-

(दो भंते!) गौतम स्वामी पूछते हैं कि "हे भगवन्! दो पुरुष अग्निकाय का आरम्भ करते हैं, एक तो
आग जलाता है और दूसरा बुझाता है, इन दोनों में अधिक कर्म किसको लगता है और अल्प कर्म किसको लगता
है ?। इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गौतम! जो पुरुष आग जलाता है, वह
पृथिवीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय का बहुत आरम्भ करता है और अग्निकाय का अल्प
आरम्भ करता है परन्तु जो अग्निकाय को बुझाता है, वह पृथिवीकाय जलकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा
त्रसकाय के जीवों का अल्प आरम्भ करता है परन्तु अग्निकाय के जीव का बहुत आरम्भ करता है, इसलिए हे
गौतम! मैं यह कहता हूँ"। फिर भी कहा है कि-

(भूयाणं) अर्थात् अग्नि का आरम्भ जीवों का नाशक है, इसमें संशय नहीं है । अतः सत् और असत् का
विवेक रखनेवाले विद्वान्, पुरुष, धर्म का विचारकर अग्निकाय का आरम्भ नहीं करते हैं । जो पाप से निवृत्त है,
वे ही पण्डित हैं । वस्तुतः वे ही पण्डित हैं जो अग्निकाय के आरम्भरूप पाप से निवृत्त हैं ॥६॥



- कथमग्निकायसमारम्भेणापरप्राणिवधो भवतीत्याशङ्क्याह-

- अग्निकाय का आरम्भ करने से कैसे दूसरे प्राणियों का घात होता है ? यह आशङ्का करके शास्त्रकार
समाधान देते हैं-

पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति ।

संसेयया कट्टसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभंते

॥७॥

छाया - पृथिव्यपि जीवा आपोऽपि जीवाः प्राणाश्च सम्पातिमाः सम्पतन्ति ।

1. भूतानामेष आघातो हव्यवाहो न संशयः ॥

संस्वेदजाः काष्ठसमाश्रिताश्चेतान् दहेदग्निं समारभमाणः ॥

अन्वयार्थ - (पुढवीवि जीवा) पृथिवी भी जीव है (आपोऽपि जीवा) जल भी जीव है (संपादम पाणा संपयति) तथा सम्पातिम जीव यानी पतङ्ग आदि आग में पड़कर मरते हैं (संसेयया) स्वेद से उत्पन्न प्राणी (कट्टसमस्सिया) तथा काठ में रहनेवाले जीव, (अगणि समारभते एते दहे) अग्निकाय का आरम्भ करनेवाला पुरुष इन जीवों को जलाता है ।

भावार्थ - जो जीव अग्नि जलाता है, वह पृथिवीकाय के जीव को, पतङ्ग आदि को, स्वेदज प्राणी को तथा काठ में रहनेवाले जीवों को जलाता है ।

टीका - न केवलं पृथिव्याश्रिता द्वीन्द्रियादयो जीवा यापि च पृथ्वी-मृल्लक्षणा असावपि जीवा, तथा आपश्च-द्रवलक्षणा जीवास्तदाश्रिताश्च प्राणाः 'सम्पातिमाः' शलभादयस्तत्र सम्पतन्ति, तथा 'संस्वेदजाः' करीषादिष्विन्धनेषु घुणपिपीलिकाकृम्यादयः काष्ठाद्याश्रिताश्च ये ये केचन 'एतान्' स्थावरजङ्गमान् प्राणिनः स दहेद् योऽग्निकायं समारभेत, ततोऽग्निकायसमारम्भो महादोषायेति ॥७॥

टीकार्थ - पृथिवी के आश्रित द्वीन्द्रिय आदि ही जीव नहीं हैं किन्तु मिट्टीरूप जो पृथिवी है, वह भी जीव है तथा द्रवलक्षणवाला जल भी जीव है तथा जल के आश्रित प्राणी भी जीव हैं, एवं आग जलाने पर पतङ्ग आदि उड़कर उसमें गिरते हैं एवं कण्डा (छाणा) आदि इन्धनों में उत्पन्न जीव, घूण और कीड़ी आदि तथा काठ में रहनेवाले प्राणी, इन सब जीवों को वह पुरुष जलाता है, जो अग्निकाय का आरम्भ करता है, अतः अग्निकाय का आरम्भ महान दोष के लिए है ॥७॥



- एवं तावदग्निकायसमारम्भकास्तापसाः तथा पाकादनिवृत्ताः शाक्यादयश्चापदिष्टाः, साम्प्रतं ते चान्ये वनस्पतिसमारम्भादनिवृत्ताः परामृश्यन्ते इत्याह-

- इस प्रकार अग्निकाय का आरंभ करनेवाले तापस तथा पाक से अनिवृत्त शाक्यादि कहे, अब और अन्य जो वनस्पति आरंभ से अनिवृत्त हैं, उनका विचार किया जाता है-

हरियाणि भूताणि विलम्बगाणि, आहार देहा य पुढो सियाई ।

जे छिंदती आयसुहं पडुच्च, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती

॥८॥

छाया - हरिताणि भूताणि विलम्बकाणि, आहारदेहाय पृथक् स्थितानि ।

यच्छिन्नत्वात्मसुखं प्रतीत्य, प्रागल्भ्यात् प्राणानां बहुनामतिपाती ॥

अन्वयार्थ - (हरियाणि) हरी दूब और अङ्कुर आदि भी (भूताणि) जीव हैं । (विलम्बगाणि) वे भी जीव का आकार धारण करते हैं । (पुढो सियाई) ये मूल स्कन्ध शाखा और पत्र आदि में अलग अलग रहते हैं । (जे आयसुखं पडुच्च) जो पुरुष अपने सुख के लिए (आहार देहा य) और आहार करने तथा शरीर की पुष्टि के लिए (छिंदती) इनका छेदन करता है (पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती) वह धृष्ट पुरुष बहुत प्राणियों का नाश करता है ।

भावार्थ - हरी दूब तथा अङ्कुर आदि भी जीव हैं और वे जीव वृक्षों के मूल शाखा पत्र आदि में अलग अलग रहते हैं । इन जीवों को जो अपने सुख के लिए छेदन करता है, वह बहुत प्राणियों का विनाश करता है ।

टीका - 'हरितानि' दुर्वाङ्कुरादीन्येतान्यप्याहारादेर्वृद्धिदर्शनात् 'भूतानि' जीवाः तथा 'विलम्बकानीति' जीवाकारं यान्ति विलम्बन्ति-धारयन्ति, तथाहि- कललार्बुदमांसपेशीगर्भप्रसवबालकुमारयुवमध्यस्थविरावस्थातो मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातान्यभिनवानि संजातरसानि यौवनवन्ति परिपक्वानि जीर्णानि परिशुष्काणि मृतानि तथा वृक्षा अप्यङ्कुरावस्थायां जाता इत्युपदिश्यन्ते मूलस्कन्धशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः परिवर्धमाना युवानः पोता इत्युपदिश्यन्त इत्यादि शेषास्वप्यवस्थास्वायोज्यं, तदेवं हरितादीन्यपि जीवाकारं विलम्बयन्ति, तत एतानि मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पादिषु स्थानेषु 'पृथक्' प्रत्येकं 'श्रितानि' व्यवस्थितानि, न तु मूलादिषु सर्वेष्वपि समुदितेषु एक एव जीवः, एतानि च भूतानि

सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदभिन्नानि वनस्पतिकायाश्रितान्याहारार्थं देहोपचयार्थं देहक्षतसंरोहणार्थं वाऽऽत्मसुखं 'प्रतीत्य' आश्रित्य यच्छिनत्ति स 'प्रागल्भ्यात्' धाष्टर्यावष्टम्भाद्बहूनां प्राणिनामतिपाती भवति, तदतिपाताच्च निरनुक्रोशतया न धर्मो नाप्यात्मसुखमित्युक्तं भवति ॥८॥ किञ्च-

टीकार्थ - दूब और अङ्कुर आदि हरे पदार्थ भी जीव हैं, क्योंकि आहार आदि से इनकी वृद्धि देखी जाती है तथा ये जीव के आकार को धारण करते हैं। जैसे कलल, अर्बुद, मांसपेशी, गर्भ, प्रसव, बाल, कुमार, युवा, मध्यम, और स्थविर अवस्थाओं के कारण मनुष्य होता है, इसी तरह हरे शाली आदि भी जात(उत्पन्न) अभिनव(नया) संजातरस (जिसमें रस उत्पन्न हो गया है)। युवा, पकाहुआ और सूखाहुआ, एवं मरण इत्यादि अवस्थाओं को धारण करते हैं। तथा वृक्ष भी अङ्कुरावस्था में 'यह उत्पन्न हुआ है' इस प्रकार बताये जाते हैं, पश्चात् वे जब मूल, स्कन्ध, शाखा और प्रशाखा आदि से बढ़ने लगते हैं, तब युवा अथवा पोत कहे जाते हैं। इसी तरह उसकी शेष अवस्थायें भी जान लेनी चाहिए। इस प्रकार हरी दूब आदि भी जीवाकार को धारण करते हैं। तथा वे जीव वृक्षों के मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र और पुष्प आदि स्थानों में अलग अलग प्रत्येक में रहते हैं। मूल से लेकर पत्ता पर्यन्त समस्त वृक्ष में एक ही जीव नहीं किन्तु अनेक हैं। वनस्पतिकाय में रहनेवाले ये जीव संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेदवाले हैं, इन जीवों को आहार के लिए अथवा देह की वृद्धि के लिए अथवा देह के क्षत (घाव) को मिटाने के लिए अथवा अपने सुख के लिए जो छेदन करता है, वह धृष्टता करके बहुत जीवों का विनाश करता है। इन जीवों के विनाश करने से दया न होने कारण न तो धर्म होता है न आत्मा को सुख ही मिलता है।



जातिं च वुद्धिं च विणाशयन्ते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे ।

अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते

॥९॥

छाया - जातिश्च, वृद्धिश्च विनाशयन् बीजाव्यसंयत आत्मदण्डः ।

अथाहुः स लोके अनार्यधर्मा, बीजाणि यो हिंस्वत्यात्मसाते ॥

अन्वयार्थ - (जे अस्संजय) जो असंयमी पुरुष (आयसाते) अपने सुख के लिए (बीयाइ हिंसति) बीज का नाश करता है, वह (जातिं च वुद्धिं च विणाशयन्ते) अङ्कुर की उत्पत्ति तथा वृद्धि का विनाश करता है (आयदंडे) वस्तुतः वह उक्त पाप के द्वारा अपने आत्मा को दण्ड का भागी बनाता है (लोए से अणज्जधम्मे अहाहु) तीर्थङ्करों ने उसे इस लोक में अनार्य धर्मवाला कहा है।

भावार्थ - जो पुरुष अपने सुख के लिए बीज का नाश करता है वह उस बीज के द्वारा होनेवाले अङ्कुर तथा शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि वृद्धि का भी नाश करता है। वस्तुतः वह पुरुष उक्त पाप के द्वारा अपने आत्मा को दण्ड का भागी बनाता है। तीर्थङ्करों ने ऐसे पुरुष को अनार्य धर्मवाला कहा है।

टीका - 'जातिम्' उत्पत्तिं तथा अङ्कुरपत्रमूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन् बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि छिनत्तीति, 'असंयतः' गृहस्थः प्रव्रजितो वा तत्कर्मकारी गृहस्थ एव, स च हरितच्छेदविधाय्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः, स हि परमार्थतः परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति, अथ शब्दो वाक्यालङ्कारे 'आहुः' एवमुक्तवन्तः, किमुक्तवन्त इति दर्शयति-यो हरितादिच्छेदको निरनुक्रोशः 'सः' अस्मिन् लोके 'अनार्यधर्मा' क्रूरकर्मकारी भवतीत्यर्थः, स च क एवम्भूतो यो धर्मोपदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् वनस्पतिकायं हिंस्ति स पाषण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति सम्बन्धः ॥९॥

टीकार्थ - जो पुरुष हरी वनस्पति का छेदन करता है, वह उसके द्वारा होनेवाली दूसरी वनस्पति की उत्पत्ति तथा अङ्कुर, पत्र, मूल, स्कन्ध, शाखा और प्रशाखा भेद से उसकी वृद्धि का विनाश करता हुआ, उसके बीज और फल का विनाश करता है। वह साधु नहीं परन्तु गृहस्थ है। चाहे प्रव्रज्याधारी भी यह कर्म करता हो तो वह गृहस्थ ही है, हरी वनस्पति का छेदन करने वाला वह पुरुष अपने आत्मा को दण्ड देनेवाला है। वह दूसरे

प्राणी का नाश करके परमार्थतः अपने आत्मा का ही घात करता है । “अथ” शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। उस पुरुष के विषय में तीर्थङ्कर आदि ने यह कहा है । क्या कहा है ? यह शास्त्रकार दिखलाते हैं- जो निर्दय पुरुष हरी वनस्पति का छेदन करता है, वह इस लोक में अनार्य धर्मवाला अर्थात् क्रूर कर्म करने वाला है । वह कौन है ? जो पुरुष धर्म का नाम लेकर अथवा अपने सुख के लिए बीज का नाश करता है, बीज का नाश उपलक्षण है इसलिए जो वनस्पति काय का नाश करता है, वह चाहे पाषण्डी हो या दूसरा हो वह अनार्य धर्मवाला है, यह आशय है ॥९॥



- साम्प्रतं हरितच्छेदकर्मविपाकमाह-

- अब हरी वनस्पति के छेदन का फल शास्त्रकार बतलाते हैं-

गम्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा ।

जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, (पाठांतरे पोरुसा य) चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

छाया - गर्भे म्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च, नराः परे पञ्चशिखाः कुमाराः ।

युवानो मध्यमाः स्थविराश्च, त्यजन्ति त आयुः क्षये प्रलीनाः ॥

अन्वयार्थ - (गम्भाइ मिज्जंति) हरी वनस्पति का छेदन करनेवाला जीव गर्भ में ही मर जाता है । (बुया बुयाणा) तथा कोई साफ बोलने की अवस्था में और कोई न बोलने की अवस्था में ही मर जाते हैं (परे णरा) तथा दूसरे पुरुष (पंचसिहा कुमारा) पांच शिखावाले कुमार अवस्था में ही मर जाते हैं (जुवाणगा मज्झिम थेरगा य) और कोई युवा होकर तथा कोई आधी उमर का होकर एवं कोई वृद्ध होकर मर जाते हैं (आउखए पलीणा ते चयंति) इस प्रकार बीज आदि का नाश करनेवाले प्राणी सभी अवस्थाओं में आयुक्षीण होने पर अपने शरीर को छोड़ देते हैं ।

भावार्थ - हरी वनस्पति आदि का छेदन करनेवाले पुरुष पाप के कारण कोई गर्भावस्था में ही मर जाते हैं, कोई स्पष्ट बोलने की अवस्था में तथा कोई बोलने की अवस्था आने के पहले ही मर जाते हैं । एवं कोई कुमार अवस्था में, कोई युवा होकर, कोई आधी उमर का होकर, कोई वृद्ध होकर मर जाते हैं, आशय यह है कि वे हर एक अवस्था में अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

टीका - इह वनस्पतिकायोपमर्दकाः बहुषु जन्मसु गर्भादिकास्ववस्थासु कललार्बुदमांसपेशीरूपासु म्रियन्ते, तथा ‘ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च’ व्यक्तवाचोऽव्यक्तवाचश्च तथा परे नराः पञ्चशिखाः कुमाराः सन्तो म्रियन्ते, तथा युवानो मध्यमवयसः स्थविराश्च क्वचित्पाठो ‘मज्झिमपोरुसा य’ तत्र ‘मध्यमा’ मध्यमवयसः ‘पोरुसा य’ ति पुरुषाणां चरमावस्थां प्राप्ता अत्यन्तवृद्धा एवेतियावत्, तदेवं सर्वास्वप्यवस्थासु बीजादीनामुपमर्दकाः स्वायुषः क्षये प्रलीनाः सन्तो देहं त्यजन्तीति, एवमपरस्थावरजङ्गमोपमर्दकारिणामप्यनियतायुष्कत्वमायोजनीयम् ॥१०॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - वनस्पतिकाय का विनाश करनेवाले जीव, बहुत जन्म तक कलल, अर्बुद, और मांस पेशीरूप गर्भादि अवस्था में ही मर जाते हैं, तथा कोई साफ बोलते हुए तथा दूसरे पांच शिखावाले कुमार होकर मर जाते हैं । तथा कोई जवान होकर, कोई मध्य आयु का होकर एवं कोई वृद्ध होकर मर जाते हैं । कहीं “मज्झिम पोरुसाया” यह पाठ है । इस पाठ का अर्थ यह है कि हरी वनस्पति का छेदन करनेवाला कोई पुरुष मध्यम अवस्थावाला होकर और कोई पुरुष की अन्तिम अवस्था पाकर अर्थात् अत्यन्त वृद्ध होकर मरते हैं । इस प्रकार हरी वनस्पति का छेदन करनेवाला जीव, सभी अवस्थाओं में अकाल में आयुक्षीण होने पर अपनी देह को छोड़ देते हैं । इसी तरह जो लोग दूसरे स्थावर और जङ्गम प्राणियों का घात करते हैं, उनकी आयु का भी अनिश्चित होना जान लेना चाहिए ॥१०॥



संबुज्झहा जंतवो ! माणुसत्तं, दड्ढं भयं बालिसेणं अलंभो ।

एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ

॥११॥

छाया - संबुध्यध्वं जन्तवो । मनुष्यत्वं, दृष्ट्वा भयं बालिशेनालाभः

एकान्तदुःखो ज्वरित इव लोकः स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति ॥

अन्वयार्थ - (जंतवो !) हे जीवो ! (माणुसत्तं) मनुष्य भव की दुर्लभता को (संबुज्झहा) समझो (भयं दट्टु) एवं नरक तथा तिर्य्यञ्च-योनि के भय को देखकर (बालिसेणं अलंभो) एवं विवेकहीन पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ बोध प्राप्त करो (लोए) यह लोक (जरिए व) ज्वर से पीड़ित की तरह (एगंतदुक्खे) एकान्त दुःखी है (सकम्मुणा विप्परियासुवेइ) तथा यह अपने कर्म से सुख चाहता हुआ दुःख प्राप्त करता है।

भावार्थ - हे जीवों ! तुम बोध प्राप्त करो, मनुष्य भव मिलना दुर्लभ है । तथा नरक और तिर्य्यञ्च में होने वाले दुःखों को देखो, विवेकहीन जीव को बोध नहीं प्राप्त होता है । यह संसार ज्वर से पीड़ित की तरह एकान्त दुःखी है और सुख के लिए पाप करके यह दुःख भोगता है ।

टीका - हे ! 'जन्तवः' प्राणिनः ! सम्बुध्यध्वं यूयं, नहि कुशील पाषण्डिकलोकस्त्राणाय भवति, धर्मं च सुदुर्लभत्वेन सम्बुध्यध्वं, तथा चोक्तम्-

“माणुस्सखेत्तज्जाई कुलरुवारोग्गमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धा संजमी य लोमांमि दुलहाई ॥१॥”

तदेवमकृतधर्माणां मनुष्यत्वमतिदुर्लभमित्यवगम्य तथा जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्य्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा तथा- 'बालिशेन' अज्ञेन सदसद्विवेकस्यालम्भ इत्येतच्चावगम्य तथा निश्चयनयमवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव 'लोकः' संसारप्राणिगणः, तथा चोक्तम्-

“जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो ॥१॥”

तथा-

“तण्हाइयस्स पाणं कूरो छुहियस्स भुज्जए तिच्ची ।
दुक्खसयसंपउत्तं जरियमिव जगं कलयलेइ ॥१॥” इति ।

अत्र चैवम्भूते लोके अनार्यकर्मकारी स्वकर्मणा 'विपर्यासमुपैति' सुखार्थी प्राण्युपमई कुर्वन् दुःखं प्राप्नोति, यदि वा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति ॥११॥

टीकार्थ - हे प्राणियों ! तुम बोध प्राप्त करो । कुशील और पाषण्डी लोग तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते हैं तथा धर्म की प्राप्ति भी दुर्लभ है, यह जानो । कहा है कि-

(माणुस्स) अर्थात् मनुष्य भव, उत्तम क्षेत्र, जाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण, श्रद्धा और संयम ये लोक में दुर्लभ हैं ।

इस प्रकार जिन्होंने धर्माचरण नहीं किया है, उनको मनुष्यभव मिलना अति दुर्लभ है, इस बात को जानकर एवं जन्म, वृद्धता, मरण और रोग, शोक आदि तथा नरक और तिर्य्यञ्च योनि में होनेवाले तीव्र दुःख के भय को देखकर, एवं मूर्ख जीव को उत्तम विवेक नहीं मिलता है, यह समझकर बोध प्राप्त करो । तथा यह भी समझो कि निश्चयनय के अनुसार यह समस्त संसार ही ज्वर से पीड़ित की तरह एकान्त दुःखी है । कहा है कि

इस जगत में जन्म, दुःख, जरादुःख, रोग दुःख और मरण दुःख हैं, इसलिए यह संसार दुःखरूप है, इस में प्राणिगण क्लेश भोगते हैं ।

प्यासे हुए जीव की जल पीने से तथा भूखे मनुष्य की भोजन से ही तृप्ति होती है परन्तु इनके अभाव में वह जैसे छट पटाता है, इसी तरह यह जगत सैकड़ों दुःखों से युक्त ज्वर से पीड़ित की तरह तड़फड़ा रहा है ।

1. मानुष्यं क्षेत्रं जातिः कुलं रूपं आरोग्यं आयुः बुद्धिः श्रवणमवग्रहः श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि ॥१॥ 2. कर्मोदयसंपादितसुखादिपरिणामानां तन्मते दुःखस्वरूपत्वात् ॥१॥ 3. जन्म दुःखं जरा दुःखं रोगाश्च मरणं च अहो दुःख एव संसारः यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥२॥ 4. तृष्णादितस्य पानं कूरः क्षुधितस्य भुक्तौ तृप्तिः दुःखशतसम्प्रयुक्तं ज्वरितमिव जगत्कलति ॥३॥

इस लोक में अनार्य्य कर्म करनेवाला पुरुष अपने कर्म से दुःख को प्राप्त करता है । वह सुख के लिए प्राणियों का घात करके दुःख पाता है और मोक्ष के लिए जीव घात करके संसार भ्रमण करता है ॥११॥



- उक्तः कुशीलविपाकोऽधुना तद्दर्शनान्यभिधीयन्ते-

- कुशील पुरुषों को जो फल मिलता है, वह कहा गया, अब उनके दर्शन बताये जाते हैं-

इहेग मूढा पवयन्ति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं ।

एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयन्ति मोक्खं

॥१२॥

छाया - इहेके मूढाः प्रवदन्ति मोक्ष-आहारसम्पज्जणवर्जनेन ।

एके च शीतोदकसेवनेन, हुतेनैके प्रवदन्ति मोक्षम् ॥

अन्वयार्थ - (इह) इस जगत् में अथवा इस मोक्ष के विषय में (एगे) कोई (मूढा) मूर्ख (आहार संपज्जणवज्जणेणं मोक्खं पवयन्ति) नमक खाना छोड़ देने से मोक्ष होना बतलाते हैं । (एगे य) और कोई (सीओदगसेवणेणं) शीतल जल के सेवन से मोक्ष कहते हैं (एगे) एवं कोई (हुएण मोक्खं पवयन्ति) होम करने से मोक्ष बतलाते हैं ।

भावार्थ - इस लोक में कोई मूर्ख नमक खाना छोड़ देने से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं और कोई शीतल जल के सेवन से मोक्ष कहते हैं एवं कोई होम करने से मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं ।

टीका - 'इहे'ति मनुष्यलोके मोक्षगमनाधिकारे वा, एके केचन 'मूढा' अज्ञानाऽऽच्छादितमतयः परैश्च मोहिताः प्रकर्षेण वदन्ति प्रवदन्ति-प्रतिपादयन्ति, किं तत् ?- 'मोक्षं' मोक्षावाप्तिं, केनेति दर्शयति-आह्रियत इत्याहार-ओदनादि-स्तस्य सम्पद्रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहारसम्पज्जननं- लवणं, तेनाऽऽहारस्य रसपुष्टिः क्रियते, तस्य वर्जनं तेनाऽऽहारसम्पज्जननवर्जनेन-लवणवर्जनेन मोक्षं वदन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारसंपचयवज्जणेण' आहारेण सह लवणपञ्चकमाहारसपञ्चकं लवणपञ्चकं चेदं, तद्यथा-सैन्धवं सौवर्चलं बिडं रौमं सामुद्रं चेति, लवणेन हि सर्वरसानामभि-व्यक्तिर्भवति, तथा चोक्तम्-

“लवणविहूणा य रसा चक्खुविहूणा य इंदियग्गामा ।

धम्मो दयाय रहिओ सौक्खं संतोसरहियं नो ॥१॥”

तथा 'लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेघ्याना'मिति. तदेवम्भूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति, तत्त्यागाच्च मोक्षावाप्तिरित्येवं केचन मूढाः प्रतिपादयन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारसो पंचकवज्जणेणं' आहारत इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति, तद्यथा- लसुणं पलाण्डुः करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति । तथैके 'वारिभद्रकादयो' भागवतविशेषाः शीतोदकसेवनेन^१ सचित्तापकायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति, उपपत्तिं च ते अभिदधति-यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि, वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तरापि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते, तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति, ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधाधृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति शेषास्त्वभ्युदयायेति, युक्तिं चात्र ते आहुः यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ॥१२॥

टीकार्थ - इस मनुष्य लोक में अथवा मोक्ष के प्रकरण में, अज्ञान से ढकी हुई बुद्धिवाले तथा दूसरे के द्वारा मोह में डाले हुए कोई मूर्ख यह कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति नमक खाना छोड़ देने से होती है । जो खाया जाता है, उसे आहार कहते हैं । भात आदि को आहार कहते हैं । उसके रस की पुष्टि जिसके द्वारा होती है, उसे "आहारसंपज्जन" कहते हैं । वह नमक है, क्योंकि उसी से आहार के रस की पुष्टि होती है । उस नमक को छोड़ देने से कोई मोक्ष बताते हैं । यहां "आहारसंपचयवज्जणेण" यह पाठान्तर है । इसका अर्थ यह है कि आहार के साथ पांच प्रकार के नमक को छोड़ देने से मोक्ष की प्राप्ति होती है । वे पांच प्रकार के नमक ये हैं- (सैन्धवम्)

१. लवणविहीनाश्च रसाश्चक्षुर्विहीनाश्चेन्द्रियग्रामाः । धर्मो दयया रहितः सौख्यं सन्तोषरहितं न ॥१॥ २. कादेरेवेति प्र० ।

“सैन्धव, सौवर्चल, बिड, रौम, सामुद्र” सब रसों की नमक से ही अभिव्यक्ति (प्रकाश) होती है। कहा है कि—
 “लवण विहूणा” अर्थात् बिना नमक का रस और बिना नेत्र के इन्द्रियगण तथा दयारहित धर्म और सन्तोष रहित सुख नहीं हैं।

तथा रसों में नमक, स्नेहों में तेल और पवित्र वस्तुओं में घृत सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः नमक के छोड़ देने से रसमात्र का त्याग हो जाता है और रसमात्र के त्याग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा कोई मूढ़ पुरुष कहते हैं। यहां “आहारओ पंचक वज्जणेण” यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ यह है कि पाँच वस्तुओं का आहार छोड़ देने से मोक्ष होता है, ऐसा कोई मूर्ख कहते हैं। यहां (आहारओ) इस पद में ल्यब् लोपे कर्मणि पञ्चमी हुइ है। वे पाँच वस्तु ये हैं— लसुन, प्याज, उँटनी का दूध, गोमांस, और मद्य। इन पाँच वस्तुओं का त्याग करने से मोक्ष मिलता है। ऐसा कोई मूर्ख बतलाते हैं। एवं वारिभद्रक आदि भगवान् विशेष सचित्त जलकाय के भोग से मोक्ष बतलाते हैं। इस विषय में वे यह युक्ति बतलाते हैं— वे कहते हैं कि जल जैसे बाहर के मल को दूर करता है, इसी तरह अन्दर के मल को भी धो देता है। वस्त्र आदि की शुद्धि जल से होती है, इसलिए बाहर के मल के धोने की शक्ति जल में देखी जाने से वे लोग अन्दर की शुद्धि भी जल से ही मानते हैं। तथा कोई तापस और ब्राह्मण आदि होम करने से मोक्ष बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जो पुरुष स्वर्गादि फल की इच्छा न करके समिधा और घृत आदि हव्य विशेष के द्वारा अग्नि की तृप्ति करते हैं, वे मोक्ष के लिए अग्निहोत्र करते हैं। उन्हें स्वर्ग प्राप्ति आदि अभ्युदय प्राप्त होता है। इस विषय में वे युक्ति यह देते हैं— अग्नि, सोने के मल को जलाती है, इसलिए अग्नि में मल को जलाने की शक्ति देखने से, वह आत्मा के आन्तरिक पाप को भी जलाती है यह निश्चित है ॥१२॥



— तेषामसम्बद्धप्रलापिनामुत्तरदानायाह—

— पूर्वोक्ति प्रकार से असंबद्ध प्रलाप करने वाले अन्यतीर्थियों को उत्तर देने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं

ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति

॥१३॥

छाया - प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्षः, क्षारस्य लवणस्यानशनेन ।

ते मद्यमांसं लशुनञ्च भुक्त्वाऽव्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥

अन्वयार्थ - (पाओसिणाणादिसु) प्रभात काल के स्नान आदि से (मोक्खो) मोक्ष (णत्थि) नहीं होता है (खारस्स लोणस्स अणासएणं) तथा नमक न खाने से भी मोक्ष नहीं होता है (ते) वे अन्यतीर्थी (मज्जमांसं लसुणं च भोच्चा) मद्य, मांस और लशुन खाकर (अन्नत्थ) मोक्ष से अन्य स्थान अर्थात् संसार में (वासं परिकल्पयन्ति) निवास करते हैं।

भावार्थ - प्रभातकाल के स्नान आदि से मोक्ष नहीं होता है तथा नमक न खाने से भी मोक्ष नहीं होता है वे अन्यतीर्थी मद्य, मांस और लशुन खाकर संसार में भ्रमण करते हैं।

टीका - प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्ष' इति प्रत्यूषजलावगाहनेन निःशीलानां मोक्षो न भवति, आदिग्रहणात् हस्तपादादिप्रक्षालनं गृह्यते, तथाहि—उदकपरिभोगेन तदाश्रितजीवानामुपमर्दः समुपजायते, न च जीवोपमर्दान्मोक्षा-वासिरिति, न चैकान्तेनोदकं बाह्यमलस्याप्यपनयने समर्थम्, अथापि स्यात्तथाप्यान्तरं मलं न शोधयति, भावशुद्ध्या तच्छुद्धेः, अथ भावरहितस्यापि तच्छुद्धिः स्यात् ततो मत्स्यबन्धादीनामपि जलाभिषेकेण मुक्त्यवाप्तिः स्यात्, तथा—
 'क्षारस्य' पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्य 'अनशनेन' अपरिभोगेन मोक्षो नास्ति, तथाहि—लवणपरिभोगरहितानां मोक्षो भवतीत्ययुक्तिकमेतत्, न चायमेकान्तो लवणमेव रसपृष्टिजनकमिति, क्षीरशर्करादिभिर्व्यभिचारात्, अपिचासौ प्रष्टव्यः—
 किं द्रव्यतो लवणवर्जनेन मोक्षावाप्तिः उत भावतः ?, यदि द्रव्यतस्ततो लवणरहितदेशे सर्वेषां मोक्षः स्यात्, न चैवं दृष्टमिष्टं वा, अथ भावतस्ततो भाव एव प्रधानं किं लवणवर्जनेनेति, तथा 'ते' मूढा मद्यमांसं लशुनादिकं च भुक्त्वा

1. पारिभाषिकलवणमात्रप्रतिपत्तिनिरासाय क्षारेति, अत एवपञ्चप्रकारस्यापीति वृत्तिः । 2. चणकादिषु क्षारादिमत्त्वाल्लवणेति । 3. अन्येषामपि भावाशुद्ध्यापादकानां वर्जनीयत्वात्, मद्यमांसादिभोजित्वं वक्ष्यत्वग्रे ।

‘अन्यत्र’ मोक्षादन्यत्र संसारे वासम्- अवस्थानं तथाविधानुष्ठानसद्भावात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपमोक्षमार्गस्याननुष्ठानाच्च
‘परिकल्पयन्ति’ समन्तानिष्पादयन्तीति ॥१३॥

टीकार्थ - जो पुरुष शील रहित हैं, उनको प्रातः काल के स्नान आदि से मोक्ष नहीं मिलता है । आदि शब्द से हाथ पैर, धोना आदि का ग्रहण है । जल के भोग करने से जल के जीवों का घात होता है, परन्तु जीवघात से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है तथा जल बाह्य मल को दूर करने में एकान्त रूप से समर्थ भी नहीं है, यदि कथञ्चित् हो, तो भी वह अन्दर के मल को दूर करने में समर्थ नहीं है । अन्दर की शुद्धि, भाव की शुद्धि से ही होती है । यदि भाव रहित जीव की भी जल से अन्दर की शुद्धि हो, तो मछली मार कर जीविका करनेवाले मल्लाह आदि को भी जलस्नान से मुक्ति होनी चाहिए । तथा पाँच प्रकार के नमक के त्याग से भी मुक्ति नहीं मिलती है । नमक नहीं खाने से मोक्ष मिलता है, यह कथन युक्ति रहित है । एक मात्र नमक ही रस का पुष्टि जनक है, यह भी एकान्त नहीं है, क्योंकि दूध और सक्कर आदि भी रस के पोषक हैं । तथा उक्त वादी से यह पूछना चाहिए कि द्रव्य से नमक का त्याग करने से मोक्ष मिलता है अथवा भाव से ? यदि द्रव्य से कहो, तो जिस देश में नमक नहीं होता है, उस देश के सभी लोगों को मोक्ष मिल जाना चाहिए । परन्तु यह देखा नहीं जाता है और ऐसा इष्ट भी नहीं है । यदि भाव से कहो, तब तो भाव ही प्रधान है फिर नमक छोड़ने की क्या आवश्यकता है ? तथा वे मूर्ख मद्य, मांस, और लशुन आदि खाकर संसार में निवास करते हैं क्योंकि उनका अनुष्ठान संसार में निवास के योग्य ही होता है तथा वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्ष मार्ग का अनुष्ठान भी नहीं करते हैं । अतः वे मोक्ष से दूसरी जगह संसार में अपना निवास बनाते हैं ॥१३॥



- साम्प्रतं विशेषेण परिजिहीर्षुराह-

- अब शास्त्रकार विशेषरूप से जल स्पर्श से मुक्तिवाद का खण्डन करने के लिए कहते हैं-

उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति, सायं च पायं उदगं फुसन्ता ।

उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिस्सु पाणा बहवे दगंसि

॥१४॥

छाया - उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति, सायञ्च प्रातरुदकं स्पृशन्तः ।

उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः, सिध्येरुः प्राणाः बहव उदके ॥

अन्वयार्थ - (सायं पायं च उदगं फुसन्ता) सायंकाल और प्रातःकाल में जल का स्पर्श करते हुए (जे उदगेण सिद्धिमुदाहरन्ति) जो जल स्नान से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं (वे मिथ्यावादी हैं) (उदगस्स फासेण सिया) जल के स्पर्श से यदि मुक्ति मिले, तो (दगंसि बहवे पाणा सिज्झिस्सु) जल में रहनेवाले बहुत से जलचर मोक्ष को प्राप्त करें ।

भावार्थ - सायंकाल और प्रातःकाल जल स्पर्श करते हुए जो लोग जलस्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, वे झूठे हैं । यदि जलस्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति हो, तो जल में रहनेवाले जानवरों को भी मोक्ष मिलना चाहिए ।

टीका - तथा ये केचन मूढा ‘उदकेन’ शीतवारिणा ‘सिद्धिं’ परलोकम् ‘उदाहरन्ति’ प्रतिपादयन्ति-‘सायम्’ अपराह्णे विकाले वा ‘प्रातश्च’ प्रत्युषसि च आद्यन्तग्रहणात् मध्याह्ने च तदेवं सन्ध्यात्रयेऽप्युदकं स्पृशन्तः स्नानादिकां क्रियां जलेन कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति, एतच्चासम्यग्, यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिनः सिद्धयेयुरिति, यदपि तैरुच्यते- बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाणं न घटते, यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येवमभिमतमप्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति, ततश्च पुण्यस्यापनयनादिष्टविघातकृद्भिरुद्धः स्यात्, किञ्च-यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव, तथा चोक्तम्-

“स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, न ते स्नान्ति दमे रताः ॥१॥”

अपिच-

“नोदकविलाहनाग्री हि, स्नात इत्याभिधीयते । स स्नातो यो व्रतस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥१॥”

॥१४॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो मूर्ख शीतल जल के स्नान आदि से मुक्ति बतलाते हैं और कहते हैं कि अपराह्न में (दोपहर के बाद) अथवा विकाल में तथा प्रातःकाल में एवं आदि और अन्त के ग्रहण से मध्याह्नकाल में, इस प्रकार तीनों संध्याओं में शीतल जल के द्वारा स्नान आदि क्रिया करनेवाले प्राणी मोक्ष गति को प्राप्त करते हैं, सो वे ठीक नहीं कहते हैं, यदि जल के स्पर्शमात्र से मुक्ति मिले तो जल के आश्रय से रहनेवाले मछुएँ (मछली मारनेवाले) जो बड़े क्रूर कर्म करते हैं तथा निर्दय हैं, वे भी मोक्ष को प्राप्त कर लें । तथा वे जो यह कहते हैं कि- बाहर के मल को दूर करने का सामर्थ्य जल में देखा जाता है, सो भी विचार करने पर ठीक नहीं प्रतीत होता है क्योंकि जल जैसे बुरे मल को धो देता है, इसी तरह वह प्रिय अङ्गराग, कुङ्कुम आदि को भी धो डालता है, अतः जल के द्वारा पाप की तरह पुण्य भी धुल जाने से वह इष्ट का विधातक अपना विरोधी होगा हितकारक नहीं ? वस्तुतः ब्रह्मचारी साधु को जल स्नान दोष उत्पन्न करता है, अत एव कहा है कि-

(स्नानम्) अर्थात् स्नान मद और दर्प उत्पन्न करता है तथा वह प्रधान काम का मुख्य कारण है, इसलिए जो पुरुष इन्द्रियों के दमन में रत हैं, वे काम का त्याग करके स्नान नहीं करते हैं । तथा यह भी कहा है कि-

जलसे भीगा हुआ शरीरवाला पुरुष स्नान किया हुआ नहीं कहा जाता ? किन्तु जो पुरुष व्रतों से स्नान किया हुआ है, वह स्नान किया हुआ कहा जाता है, क्योंकि वह पुरुष बाहर और भीतर दोनों ही प्रकार से शुद्ध है ॥१४॥



मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्ठा (ट्टा) दगरक्खसा य ।

अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति

॥१५॥

छाया - मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च, मद्गवश्चोष्ट्रा उदकराक्षसाश्च ।

अस्थानमेतत्कुशला वदन्त्युदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति ॥

अन्वयार्थ - (मच्छा य, कुम्मा य, सिरीसिवा य) मत्स्य, कच्छप, सरीसृप, मद्गव (जलमृग) (उट्ठा दगरक्खसा य) तथा ऊँट नामक जलचर और जल राक्षस (ये सबसे पहले मुक्ति प्राप्त करें, यदि जलस्पर्श से मुक्ति होती हो तो) (उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति) अतः जो जलस्पर्श से मुक्ति की प्राप्ति बताते हैं (अट्ठाणमेयं कुसला वयंति) उनका कथन अयुक्त है, यह मोक्ष का तत्त्व जानने वाले पुरुष कहते हैं।

भावार्थ - यदि जलस्पर्श से मुक्ति की प्राप्ति हो, तो मच्छली, कच्छप, सरीसृप तथा जल में रहनेवाले दूसरे जलचर सबसे पहले मोक्ष प्राप्त करें, परन्तु यह नहीं होता । इसलिए जो जलसपर्श से मोक्ष बताते हैं, उनका कथन अयुक्त है, यह मोक्ष का तत्त्व जाननेवाले पुरुष कहते हैं ।

टीका - यदि जलसम्पर्कात्सिद्धिः स्यात् ततो ये सततमुदकावगाहिनो मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च तथा मद्गवः तथोष्ट्रा-जलचरविशेषाः तथोदकराक्षसा-जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषा एते प्रथमं सिद्धयेयुः, न चैतद् दृष्टमिदं वा, ततश्च ये उदकेन सिद्धिमुदाहरन्त्येतद् 'अस्थानम्' अयुक्तम्-असाम्प्रतं 'कुशला' निपुणा मोक्षमार्गाभिज्ञा वदन्ति ॥१५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - यदि जल के संपर्क से मुक्ति की प्राप्ति हो, तो जो निरन्तर जल में अवगाहन किये रहते हैं, वे मछली, कछुवे, सरीसृप, जलमृग तथा ऊँट नामवाले जलचर एवं जल मनुष्य के समान आकार वाले जल राक्षस नामक जलचर विशेष सबसे पहले मोक्ष प्राप्त करें, परन्तु यह नहीं देखा जाता तथा यह इष्ट भी नहीं है, इसलिए जो जलस्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं, उनका कथन अयुक्त है, यह मोक्ष मार्ग का रहस्य जाननेवाले निपुण पुरुष कहते हैं ॥१५॥



उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।

अंधं व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा

॥१६॥

छाया - उदकं यदि कर्ममलं हरेदेवं शुभमिच्छामात्रमेव ।

अन्वयज्ञ नेतारमनुसृत्य प्राणिनश्चैवं विनिष्कृतिं मब्दाः ॥

अन्वयार्थ - (उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा) जल यदि कर्म मल को हरे तो (एवं) इसी तरह (सुहं) वह पुण्य को भी हर लेगा (इच्छामित्तमेव) इसलिए जल कर्म मल को हरता है, यह कहना इच्छा मात्र है । (मंदा) मूर्ख जीव, (अंधं णेयारमणुस्सरित्ता) अन्ये नेता के पीछे चलकर (पाणाणि चेवं विणिहंति) जल स्नान आदि के द्वारा प्राणियों की हिंसा करते हैं ।

भावार्थ - जल यदि पाप को हरे तो वह पुण्य को भी क्यों नहीं हर लेगा ? अतः जलस्पर्श से मोक्ष मानना मनोरथ मात्र है । वस्तुतः मूर्ख जीव, अज्ञानी नेता के पीछे चलते हुए जल स्नान आदि के द्वारा प्राणियों का घात करते हैं ।

टीका - यद्युदकं कर्ममलमपहरेदेवं शुभमपि पुण्यमपहरेत्, अथ पुण्यं नापहरेदेवं कर्ममलमपि नापहरेत्, अत इच्छामात्रमेवैतद्युच्यते-जलं कर्मापहारीति, एवमपि व्यवस्थिते ये स्नानादिकाः क्रियाः स्मार्तमार्गमनुसरन्तः कुर्वन्ति ते यथा जात्यन्धा अपरं जात्यन्धमेव नेतारमनुसृत्य गच्छन्तः कुपथश्रितयो भवन्ति नाभिप्रेतं स्थानमवाप्नुवन्ति एवं स्मार्तमार्गानुसारिणो जलशौचपरायणा 'मन्दा' अज्ञाः कर्तव्याकर्तव्यविवेकविकलाः प्राणिन एव तन्मयान् तदाश्रितांश्च पूतरकादीन् 'विनिष्कृतिं' व्यापादयन्ति, अवश्यं जलक्रियया प्राणव्यपरोपणस्य सम्भवादिति ॥१६॥ अपिच-

टीकार्थ - दूसरी बात यह है कि-जल यदि कर्म मल को हरे, तो वह पुण्य को भी हर लेगा । यदि वह पुण्य को नहीं हरे तो वह पाप को भी नहीं हर सकता है । अतः जल, कर्म को हरण करता है, यह कथन इच्छा मात्र है । वस्तुतः जलस्नान, कर्म को दूर नहीं करता है, यह निश्चित होने पर भी स्मृति मार्ग के अनुयायी जो लोग स्नान आदि क्रियायें करते हैं (वे कुमार्ग का सेवन करते हैं) जैसे जन्मान्ध पुरुष दूसरे जन्मान्ध के पीछे चलता हुआ कुमार्ग में जाता है, वह अपने इष्ट स्थान को नहीं पहुँचता । इसी तरह जलशौच में रत रहनेवाले स्मृति मार्ग के अनुयायी मूर्ख हैं, वे कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से रहित हैं, वे जल स्नान के द्वारा जल काय के जीवों का तथा जल के आश्रित जीवों का घात करते हैं, जल स्नान आदि क्रिया से अवश्य प्राणियों का घात होता है ॥१६॥

पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तू जइ तं हरिज्जा ।

सिज्झिसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु

॥१७॥

छाया - पापानि कर्माणि प्रकुर्वतोहि, शीतोदकं तु यदि तद्धरेत् ।

सिद्धयेयुरेके दकसत्त्वघातिनो, मृषा वदन्तो जलसिद्धिमाहुः ॥

अन्वयार्थ - (पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि) यदि पाप कर्म करनेवाले पुरुष के (तं) उस पाप को (सिओदगं तू हरिज्जा) शीतल जल का स्नान दूर कर दे तो (एगे दगसत्तघाती सिज्झिसु) जल के जीवों को घात करनेवाले मछुवे आदि भी मुक्ति का लाभ करें (मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु) इसलिए जो जलस्नान से मुक्ति की प्राप्ति बतलाते हैं, वे झूठे हैं ।

भावार्थ - पापी पुरुष के पाप को यदि जल हरण करे तो जलजन्तुओं को मारनेवाले मछुवे भी मुक्ति को प्राप्त करें । अतः जलस्नान से मुक्ति बतानेवाले झूठे हैं ।

टीका - 'पापानि' पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' प्राण्युपमर्दकारीणि कुर्वतोऽमुमतो यत्कर्मोपचीयते तत्कर्म यद्युदकमपहरेत् यद्येवं स्यात् तर्हि हिः यस्मादर्थे यस्मात्प्राण्युपमर्देन कर्मोपादीयते जलावगाहनाच्चापगच्छति तस्मादुदक-सत्त्वघातिनः पापभूयिष्ठा अप्येवं सिद्धयेयुः, न चैतदुदृष्टमिष्टं वा, तस्माद्ये जलावगाहनात्सिद्धिमाहुः ते मृषा वदन्ति ॥१७॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जिससे पाप की उत्पत्ति होती है ऐसे जीवहिंसा आदि कर्म करनेवाले प्राणि को जो पापकर्म का उपचय होता है उसको यदि जल हर लेवे अर्थात् ऐसा यदि होता हो तो (हि शब्द यस्मात् अर्थ में है) प्राणियों के घात से पाप होता है और जल में अवगाहन करने से वह छूट जाता है यह बात सिद्ध होती है। ऐसी दशा में जलचर प्राणियों का घात करनेवाले अत्यन्त पापी मछुवे आदि भी मोक्ष को प्राप्त करलें परन्तु यह देखा नहीं जाता है तथा इष्ट भी नहीं है अतः जो जल में अवगाहन करने से सिद्धि बतलाते हैं, वे मिथ्यावादी हैं ॥१७॥



हुतेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति, सायं च पायं अगणिं फुसन्ता ।

एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसन्ताण कुकम्मिणां पि

॥१८॥

छाया - हुतेण ये सिद्धिमुदाहरन्ति, सायञ्च प्रातरग्निं स्पृशन्तः ।

एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥

अन्वयार्थ - (सायं च पायं अगणिं फुसन्ता) सायं काल और प्रातः काल अग्नि का स्पर्श करते हुए (जे) जो लोग (हुतेण सिद्धिमुदाहरन्ति) होम करने से मुक्ति की प्राप्ति बतलाते हैं (वे भी झूठे हैं) एवं (सिया सिद्धि) यदि अग्नि के स्पर्श से सिद्धि मिले तो (अगणिं फुसन्ताण कुकम्मिणां पि हवेज्ज) अग्नि का स्पर्श करनेवाले कुकर्मियों को भी मोक्ष मिल जाय ।

भावार्थ - प्रातः काल और सायं काल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग अग्नि में होम करने से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, वे भी मिथ्यावादी हैं । यदि इस तरह मोक्ष मिले तो अग्निस्पर्श करनेवाले कुकर्मियों को भी मोक्ष मिल जाना चाहिए ।

टीका - 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यस्माद्वाक्यात् 'ये' केचन मूढा 'हुतेन' अग्नौ हव्यप्रक्षेपेण 'सिद्धिं' सुगतिगमनादिकां स्वर्गावाप्तिलक्षणाम् 'उदाहरन्ति' प्रतिपादयन्ति, कथम्भूताः? - 'सायम्' अपराह्णे विकाले वा 'प्रातश्च' प्रत्युषसि अग्निं 'स्पृशन्तः' यथेष्टैर्हव्यैरग्निं तर्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिलषन्ति, आहुश्चैवं ते यथा- अग्निकार्यात्स्यादेव सिद्धिरिति, तत्र च यद्येवमग्निस्पर्शेन सिद्धिर्भवेत् ततस्तस्मादग्निं संस्पृशतां 'कुकर्मिणाम्' अङ्गारदाहककुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात्, यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तरा सुहृदः प्रत्येक्ष्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्ये भस्मापादनमग्निहोत्रिकादीनामपि भस्मसात्करणमिति नातिरिच्यते कुकर्मिभ्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मेति, यदप्युच्यते- "अग्निमुखा वै देवाः एतदपि युक्तिविकलत्वात् वाङ्मात्रमेव, विष्ठादिभक्षणेन चाग्नेस्तेषां बहुतरदोषोत्पत्तेरिति ॥१८॥

टीकार्थ - "स्वर्ग की कामनावाले पुरुष को अग्निहोत्र करना चाहिए" इस वाक्य के कारण जो मूर्ख जीव, अग्नि में होम करने से स्वर्ग की प्राप्ति रूप सिद्धि यानी सुगतिगमन बतलाते हैं । (वे मिथ्यावादी हैं) वे कैसे हैं? वे दोपहर के बाद अथवा सायंकाल में तथा प्रातः काल में इच्छानुसार हविष् के द्वारा अग्नि की तृप्ति करते हुए उस कर्म से इच्छानुसार गति चाहते हैं । वे कहते हैं कि अग्निकार्य करने से अवश्य सिद्धि मिलती है । परन्तु यदि अग्नि के स्पर्श से मुक्ति मिले तो आग जलाकर कोयला बनानेवाले, तथा कुम्हार और लुहार आदि कुकर्मियों को भी सिद्धि मिलनी चाहिए । अग्निस्पर्श से सिद्धि बतानेवाले जो लोग मन्त्र से पवित्र अग्नि के स्पर्श से सिद्धि का वर्णन करते हैं, यह उनके मूर्ख मित्र ही मान सकते हैं क्योंकि कुकूर्मी जीवों के द्वारा डाली हुई चीज को जैसे अग्नि भस्म करती है, उसी तरह अग्निहोत्री के द्वारा डाली हुई चीज को भी भस्म ही करती है, इसलिए कुकूर्मी की अपेक्षा अग्निहोत्री के अग्निकार्य में कोई विशेषता नहीं है । तथा वे जो यह कहते हैं कि देवताओं का मुख अग्नि है, यह भी युक्ति रहित होने के कारण कथनमात्र है । अग्नि तो विष्ठा को भी जलाती है । अतः ऐसा मानने से बहुत दोषों की उत्पत्ति होगी ॥१८॥



- उक्तानि पृथक् कुशीलदर्शनानि, अयमपरस्तेषां सामान्योपालम्भ इत्याह-

- कुशील दर्शनों का वर्णन पृथक् किया । दूसरों को सामान्य उपालम्भ के लिए कहते हैं-

अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धि, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा ।

भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जं गहायं तसथावरेहिं

॥१९॥

छाया - अपरीक्ष्य दृष्टं नैवेयं सिद्धिरेष्यन्ति ते घातमबुध्यमानाः ।

भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं, विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरेः ॥

अन्वयार्थ - (अपरिक्ख दिट्ठं) जलावगाहन और अग्निहोत्र आदि से सिद्धि माननेवाले लोगों ने परीक्षा के बिना ही इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है (ण हु एव सिद्धि) इस प्रकार सिद्धि नहीं मिलती है (अबुज्झमाणा ते घायं एहिंति) वस्तुतत्त्व को न समझने वाले वे लोग संसार को प्राप्त करेंगे (विज्जं गहायं) ज्ञान को ग्रहण करके (पडिलेह) और विचारकर (तस थावरेहिं भूएहिं) त्रस और स्थावर प्राणियों में (सातं) सुख की इच्छा (जाणं) जानो ।

भावार्थ - जो अग्निहोत्र से अथवा जलावगाहन से सिद्धि लाभ कहते हैं, वे परीक्षा करके नहीं देखते हैं, वस्तुतः इन कर्मों से सिद्धि नहीं मिलती है । अतः उक्त मन्तव्यवाले विवेक रहित हैं, वे इन कर्मों के द्वारा संसार को प्राप्त करेंगे? अतः ज्ञान प्राप्त करके त्रस और स्थावर जीवों में सुख की इच्छा जानकर उनका घात नहीं करना चाहिए ।

टीका - यैर्मुमुक्षुभिरुदकसम्पर्केणाग्निहोत्रेण वा सिद्धिरभिहिता तैः 'अपरीक्ष्य दृष्टमेतत्' युक्तिविकलमभिहितमेतत्, किमिति ? यतो 'न हु' नैव 'एवम्' अनेन प्रकारेण जलावगाहनेन अग्निहोत्रेण वा प्राण्युपमर्दकारिणा सिद्धिरिति, ते च परमार्थमबुद्ध्यमानाः प्राण्युपघातेन पापमेव धर्मबुद्ध्या कुर्वन्तो घात्यन्ते-व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः स घातः- संसारस्तमेष्यन्ति, अप्कायतेजःकायसमारम्भेण हि त्रसस्थावराणां प्राणिनामवश्यं भावी विनाशस्तद्विनाशे च संसार एव न सिद्धिरित्यभिप्रायः, यत एवं ततो 'विद्वान्' सदसद्विवेकी यथावस्थिततत्त्वं गृहीत्वा त्रसस्थावरैर्भूतैः- जन्तुभिः कथं साम्प्रतं-सुखमवाप्यत इत्येतत् प्रत्युपेक्ष्य जानीहि-अबबुद्ध्यस्व, एतदुक्तं भवति- सर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दुःखद्विषो, न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति, यदिवा- 'विज्ज गहाय' ति विद्यां ज्ञानं गृहीत्वा विवेकमुपादाय त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभिः करणभूतैः 'सातं' सुखं 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य 'जानीहि' अवगच्छेति, यत उक्तम्-

“पढमं नाणं तयो दया, एवं चिट्ठइ सत्त्व संजए । अज्झाणी किं काही, किंवा णाही छेयपावगं ॥१॥”

इत्यादि ॥१९॥

टीकार्थ - मोक्ष की कामनावाले होकर जो लोग जलावगाहन तथा अग्निहोत्री के द्वारा सिद्धि की प्राप्ति बतलाते हैं, वे उस अपने युक्ति रहित मन्तव्य पर ध्यान नहीं देते हैं । क्योंकि जलावगाहन और अग्निहोत्र करने से जीवों का घात होता है, अतः इस जीवोपघातक क्रिया से मोक्ष मिलना सम्भव नहीं है । वस्तुतः वे वस्तुतत्त्व को नहीं जानते हैं, इसलिए वे धर्म समझकर प्राणियों का घात करते हुए पाप ही करते हैं । इस पाप कर्म के सेवन करने से वे घात को ही प्राप्त होंगे । जिसमें प्राणिवर्ग नाना प्रकार से मारे जाते हैं, उसे घात कहते हैं, वह घात संसार है, वे उसी को प्राप्त करेंगे (मोक्ष को नहीं) क्योंकि जलकाय और अग्निकाय के आरम्भ से त्रस और स्थावर प्राणियों का अवश्य नाश होता है और उनके नाश से संसार ही प्राप्त होगा, सिद्धि नहीं मिलेगी, यह शास्त्रकार का आशय है । प्राणियों के घात से संसार ही मिलता है, मुक्ति नहीं मिलती है, इसलिए सत् और असत् के विवेकी विद्वान् पुरुष को यही विचारना चाहिए कि- त्रस और स्थावर प्राणियों के घात से जीव को सुख कैसे मिल सकता है? भाव यह है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से द्वेष करते हैं, उन सुख की कामनावाले प्राणियों को कष्ट देने से कदापि सुख नहीं मिल सकता है । अथवा ज्ञान प्राप्त करके पुरुष को यह जानना चाहिए कि त्रस और स्थावर प्राणियों के द्वारा ही सुख मिलता है (अर्थात् इनको जानकर इनकी रक्षा करने से ही सुख मिलता है) अत एव शास्त्र में कहा है कि-

पहले ज्ञान प्राप्त किया जाता है, तत्पश्चात् दया की जाती है । अज्ञानी पुरुष क्या कर सकता है ? और वह पुण्य तथा पाप के रहस्य को क्या जान सकता है ? ॥१९॥

१. प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतेषु अज्ञानी किं करिष्यति किं वा ज्ञास्यति छेकपापकं ॥

- ये पुनः प्राण्युपमर्देन सातमभिलषन्तीत्यशीलाः कुशीलाश्च ते संसारे एवंविधा अवस्था अनुभवन्तीत्याह-
- प्राणियों के घात से जो सुख पाने की इच्छा करते हैं, वे अशील और कुशील हैं। वे संसार में जैसी अवस्था प्राप्त करते हैं सो शास्त्रकार कहते हैं-

थणंति लुप्पन्ति तस्सन्ति कम्मी, पुढो जगा परिसंख्याय भिक्खू ।

तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते, दड्ढुं तसे या पडिसंहरेज्जा

॥२०॥

छाया - स्तनन्ति लुप्यन्ते त्रस्यन्ति कर्मिणः, पृथक् जन्तवः परिसंख्याय भिक्षुः ।

तस्माद् विद्वान् विरत आत्मगुप्तो, दृष्ट्वा त्रसान् प्रतिहरेत् ॥

अन्वयार्थ - (कम्मी जगा) पाप कर्म करनेवाले प्राणी अलग अलग (थणंति) रोदन करते हैं (लुप्पन्ति) तलवार आदि के द्वारा छेदन किये जाते हैं (तस्सन्ति) डरते हैं (तम्हा) इसलिए (विऊ भिक्खू) विद्वान् मुनि (विरतो) पाप से निवृत्त (आयगुत्ते) तथा आत्मा की रक्षा करनेवाला बने (तसे या दड्ढुं) वह त्रस और स्थावर प्राणी को देखकर (पडिसंहरेज्जा) उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाय ।

भावार्थ - पापी प्राणी नरक आदि में दुःख भोगते हैं, यह जानकर विद्वान् मुनि पाप से निवृत्त होकर अपने आत्मा की रक्षा करे । वह त्रस और स्थावर प्राणियों के घात की क्रिया न करे ।

टीका - तेजःकायसमारम्भिणो भूतसमारम्भेण सुखमभिलषन्तो नरकादिगतिं गतास्तीव्रदुःखैः पीडयमाना असह्यवेदनाघ्रातमानसा अशरणाः 'स्तनन्तिः' रुदन्ति केवलं करुणमाक्रन्दन्तीतियावत् तथा 'लुप्पन्ती'ति छिद्यन्ते खड्गादिभिरेवं च कदर्थ्यमानाः 'त्रस्यन्ति' प्रपलायन्ते, कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः- सपापा इत्यर्थः, तथा पृथक् 'जगा' इति जन्तव इति, एवं 'परिसंख्याय' ज्ञात्वा भिक्षणशीलो 'भिक्षुः' साधुरित्यर्थः, यस्मात्प्राण्युपमर्दकारिणः संसारान्तर्गता विलुप्यन्ते तस्मात् 'विद्वान्' पण्डितो विरतः पापानुष्ठानादात्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो मनो-वाक्कायगुप्त इत्यर्थः, दृष्ट्वा च त्रसान् चशब्दात्स्थावरान्श्च 'दृष्ट्वा' परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां 'प्रतिहरेत्' निवर्तयेदिति ॥२०॥

टीकार्थ - जो लोग अग्रिकाय का आरम्भ करते हैं और भूत के आरम्भ से सुख पाने की इच्छा करते हैं, वे नरक आदि गतियों में जाकर त्रीव दुःखों से पीड़ित किये जाते हैं । वे असह्य वेदना से सन्तप्तमन तथा शरण रहित होकर केवल करुण रोदन करते हैं तथा तलवार आदि से छेदन किये जाते हैं । इस प्रकार तलवार आदि के द्वारा छेदन किये जाते हुए वे प्राणी डरकर भागते हैं । जो पापकर्म करते हैं, वे कर्मी कहलाते हैं । पाप सहित पुरुषों को कर्मी कहते हैं । इन पापी जीवों की पृथक्-पृथक् यह दशा होती है । प्राणियों का घात करनेवाले जीव, संसार में पड़े-पड़े क्लेश भोगते हैं, यह जानकर भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करनेवाला, पण्डित तथा पाप करने से निवृत्त एवं मन, वचन और काय को गुप्त करनेवाले साधु त्रस और च शब्द से स्थावर प्राणियों को जानकर उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाय ॥२०॥



- साम्प्रतं स्वयूथ्याः कुशीला अभिधीयन्त इत्याह-

- अब अपने यूथवाले कुशील बताये जाते हैं-

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जे सिणाई ।

जे धोवती भूसयतीव वत्थं, अहाहु से णागणियस्स दूरे

॥२१॥

छाया - यो धर्मलब्धं विनिधाय भुङ्क्ते, विकटेन संहृत्य च यः स्नाति ।

यो धावति भूषयति च वस्त्रम् अथाहुः स नाख्यस्य दूरे ॥

अन्वयार्थ - (जे) जो साधु नामधारी (धम्मलद्धं) धर्म से मिले हुए अर्थात् उद्देशक, क्रीत आदि दोषों से रहित आहार को (विणिहाय) छोड़कर (भुंजे) उत्तम भोजन खाता है (वियडेण) तथा अचित्त जल से भी (साहट्टु) अन्नो को संकोच कर के भी (जे सिणाई) जो स्नान करता

है (जे) तथा जो (धोवती) अपने वस्त्र या पैर आदि को धोता है (भूसयती वत्थं) तथा शोभा के लिए बड़े वस्त्र को छोटा या छोटे को बड़ा करता है (अहाहु) तीर्थंकर तथा गणधरों ने कहा है कि (से) नागणियस्स दूरे) वह संयम से दूर है ।

भावार्थ - जो साधु नामधारी दोष रहित आहार को छोड़कर दूसरा स्वादिष्ट भोजन खाता है तथा अचित्त जल से अचित्त स्थान में अङ्गों को संकोच कर के भी स्नान करता है तथा जो शोभा के लिए अपने पैर तथा वस्त्र आदि को धोता है एवं जो शृङ्गार के लिए अपने पैर तथा वस्त्र आदि को धोता है एवं जो शृङ्गार के लिए छोटे वस्त्र को बड़ा और बड़े को छोटा करता है, वह संयम से दूर है, ऐसा तीर्थंकर और गणधरों ने कहा है ।

टीका - 'ये' केचन शीतलविहारिणो धर्मेण-मुधिकया लब्धं धर्मलब्धं उद्देशकक्रीतकृतादिदोषरहितमित्यर्थः, तदेवम्भूतमप्याहारजातं 'विनिधाय' व्यवस्थाप्य सन्निधिं कृत्वा भुञ्जन्ते तथा ये 'विकटेन' प्रासुकोदकेनापि सङ्कोच्याङ्गानि प्रासुक एव प्रदेशे देशसर्वस्नानं कुर्वन्ति, यो वस्त्रं 'धावति' प्रक्षालयति तथा 'लूषयति' शोभार्थं दीर्घमुत्पाटयित्वा ह्रस्वं करोति ह्रस्वं वा सन्धाय दीर्घं करोति एवं लूषयति, तदेवं स्वार्थं परार्थं वा यो वस्त्रं लूषयति, अथासौ 'णागणियस्स' त्ति निर्ग्रन्थभावस्य संयमानुष्ठानस्य दूरे वर्तते, न तस्य संयमो भवतीत्येवं तीर्थंकरगणधरादय आहुरिति ॥२१॥

टीकार्थ - जो शीतल विहारी पुरुष धर्म से प्राप्त अर्थात् उद्देशिक, तथा क्रीत आदि दोषों से रहित आहार को छोड़कर दूसरा सदोष आहार खाते हैं तथा प्रासुक जल से भी अपने अङ्गों को संकोच करके प्रासुक भूमि में भी देश से या सम्पूर्ण से स्नान करते हैं, तथा जो अपने वस्त्रों को धोते हैं एवं जो शोभा के लिए बड़े वस्त्र को काटकर छोटा और छोटे का जोड़कर बड़ा बनाते हैं । इस प्रकार जो अपने लिये या दूसरे के लिए वस्त्र को छोटा या बड़ा करते हैं । वे साधु पने से अर्थात् संयम के अनुष्ठान से दूर हैं, उनको संयम नहीं है, यह तीर्थंकर तथा गणधर आदि ने कहा है ॥२१॥



- उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूताः शीलवन्तः प्रतिपाद्यन्त इत्येतदाह-

- कुशील कहे जा चूके, अब उनसे विपरीत सुशील कहे जाते हैं-

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे, वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं ।

से बीयकंदाइ अभुंजमाणे, विरते सिणाणाइसु इत्थियासु

॥२२॥

छाया - कर्म परिन्नायोदके धीरो विकटेन जीवेच्चादिमोक्षम् ।

स बीजकब्दान् अभुञ्जानो विरतः स्नानादिषु स्त्रीषु ॥

अन्वयार्थ - (धीरे) धीर पुरुष, (दगंसि) जल स्नान में (कम्मं परिन्नाय) कर्मबन्ध जानकर (आदि मोक्खं) संसार से मोक्ष पर्यन्त (वियडेण) प्रासुक जल के द्वारा (जीविज्ज) जीवन धारण करे (से) वह साधु (बीयकंदाइ अभुंजमाणे) बीजकन्द आदि का भोजन न करता हुआ (सिणाणाइसु इत्थियासु) स्नान आदि तथा स्त्री आदि से (विरते) अलग रहें ।

भावार्थ - बुद्धिमान पुरुष, जल स्नान से कर्म बन्ध जानकर मुक्तिपर्यन्त प्रासुक जल से जीवन धारण करे, वह बीजकाय तथा कन्द आदि का भोजन न करे एवं स्नान तथा मैथुन सेवन से दूर रहे ।

टीका - धिया राजते इति धीरो-बुद्धिमान् 'उदगंसि' त्ति उदकसमारम्भे सति कर्मबन्धो भवति, एवं परिज्ञाय किं कुर्यादित्याह-'विकटेन' प्रासुकोदकेन सौवीरादिना 'जीव्यात्' प्राणसंधारणं कुर्यात्, चशब्दात् अन्येनाप्याहारेण प्रासुकेनैव प्राणवृत्तिं कुर्यात्, आदिः-संसारस्तस्मान्मोक्ष आदिमोक्षः (तं) संसारविमुक्तिं यावदिति, धर्मकारणानां वाऽऽदिभूतं शरीरं तद्विमुक्तिं यावत् यावज्जीवमित्यर्थः, किं चासौ साधुबीजकन्दादीन् अभुञ्जानः, आदिग्रहणात् मूलपत्रफलानि गृह्यन्ते, एतान्यप्यपरिणतानि परिहरन् विरतो भवति, कुत इति दर्शयति-स्नानाभ्यङ्गोद्वर्तनादिषु क्रियासु निष्प्रतिकर्मशरीरतयाऽन्यासु च चिकित्सादिक्रियासु न वर्तते, तथा स्त्रीषु च विरतः, बस्तिनिरोधग्रहणात् अन्येऽप्याश्रवा गृह्यन्ते, यश्चैवम्भूतः सर्वेभ्योऽप्याश्रवद्वारेभ्यो विरतो नासौ कुशीलदोषैर्युज्यते तदयोगाच्च न संसारे बन्धमीति, ततश्च

न दुःखितः स्तनति नापि नानाविधैरपायैर्विलुप्यत इति ॥२२॥

टीकार्थ - जो बुद्धि से शोभा पाता है, उसे धीर कहते हैं। धीर, बुद्धिमान को कहते हैं, वह पुरुष जल के आरम्भ से कर्मबन्ध होता है, यह जानकर क्या करे ? सो शास्त्रकार बताते हैं, वह पुरुष प्रासुक, सौवीरक आदि जल से अपना प्राण धारण करे तथा च शब्द से दूसरे प्रासुक ही आहार से अपने प्राण की रक्षा करे। संसार को आदि कहते हैं, उससे मोक्ष होना 'आदि मोक्ष' कहलाता है। वह जब तक न हो, साधु प्रासुक वस्तु के सेवन से ही अपने प्राण धारण करे। अथवा धर्म के कारणरूप इस शरीर का मोक्ष (पात) जब तक न हो अर्थात् जीवनभर साधु प्रासुक वस्तु के द्वारा ही अपना निर्वाह करे। वह साधु बीज और कन्द आदि का आहार भी न करे। यहां आदि शब्द से मूल, पत्र और फलों का ग्रहण है। जो मूल, पत्र और फल प्रासुक नहीं है, उनको भी विरत पुरुष त्याग देते हैं, विरत पुरुष ऐसा क्यों करते हैं ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं-विरत पुरुष स्नान, तैलादि के द्वारा अङ्गमर्दन तथा पिट्टी आदि का शरीर में लेप करना इत्यादि क्रियाओं से दूर रहकर, शरीर का परिशोधन नहीं करते हैं तथा दूसरी चिकित्सा आदि क्रियाये भी नहीं कराते हैं तथा वे स्त्री से भी विरत रहते हैं, यहां वस्ति के निरोध के ग्रहण से दूसरे आश्रय भी गृहीत होते हैं। जो पुरुष ऐसा है, वह समस्त आश्रय द्वारों से विरत है, वह पुरुष कुशील के दोषों से लिप्त नहीं होता है और उनसे लिप्त न होने से वह संसार में बार बार भ्रमण नहीं करता है, इस कारण वह दुःखित होकर रोता नहीं है तथा नाना प्रकार के दुःखों से वह पीड़ित भी नहीं किया जाता है।



- पुनरपि कुशीलानेवाधिकृत्याह-

- फिर से कुशीलों का वर्णन करते हैं-

जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च ।

कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे

॥२३॥

छाया - यो मातरञ्च पितरञ्च हित्वाऽगारं तथा पुत्रपशून् धनञ्च ।

कुलाणि यो धावति स्वादुकानि, अथाहुः स श्रामण्यस्य दूरे ॥

अन्वयार्थ - (जे मायरं च पियरं) जो माता पिता को (तहा अगारं पुत्तपसुं धणं च हिच्चा) तथा घर, पुत्र, पशु और धन को छोड़कर (साउगाइं कुलाइं धावइ) स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में दौड़ता है (से सामणियस्स दूरे अहाहु) वह श्रमण भाव से दूर है, यह तीर्थंकरों ने कहा है।

भावार्थ - जो पुरुष माता, पिता, घर, पुत्र, पशु और धन को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करके भी स्वादिष्ट भोजन से लोभ से स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में दौड़ता है, वह साधुपने से दूर है, यह तीर्थंकरों ने कहा है।

टीका - ये केचनापरिणतसम्यग्धर्माणस्त्यक्त्वा मातरं च पितरं च, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वादुपादानं, अतो भ्रातृदुहित्रादिकमपि त्यक्त्वेत्येतदपि द्रष्टव्यं, तथा 'अगारं' गृहं 'पुत्रम्' अपत्यं 'पशुं' हस्त्यश्वरथगोमहिष्यादिकं धनं च त्यक्त्वा सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय- पञ्चमहाव्रतभारस्य स्कन्धं दत्त्वा पुनर्हीनसत्त्वतया रससातादिगौरवगृद्धो यः 'कुलानि' गृहाणि 'स्वादुकानि' स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' गच्छति, अथासौ श्रामणस्य 'श्रमणभावस्य दूरे वर्तते एवमाहुस्तीर्थंकरगणधरादय इति ॥२३॥

टीकार्थ - जिनका धर्म अभी परिपक्व नहीं है, वे माता-पिता को (माता-पिता को छोड़ना कठिन है इसलिए यहां इन का ही ग्रहण है, वस्तुतः भाई और पुत्री आदि को भी समझना चाहिए।) छोड़कर तथा पुत्र और हाथी, घोड़ा, रथ, गाय, बैस आदि पशु एवं धन को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करके संयमरूपी भार में अपना कन्धा लगाता है, वह यदि शक्तिहीन होकर तथा रसलोलुप बनकर स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में स्वादिष्ट भोजन के लिए दौड़ा करता है, तो वह भी साधुपने से दूर है, यह तीर्थंकर और गणधर आदि ने कहा है ॥२३॥

- एतदेव विशेषेण दर्शयितुमाह- (ग्रन्थाग्रम् ४७५०)

- जो स्वादिष्ट भोजन के लोभ से स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में भिक्षार्थ जाया करते हैं, वे साधु नहीं हैं, इसी बात को विशेषरूप से दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

कुलाई जे धावइ साउगाई, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ।

अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ

॥२४॥

छाया - कुलानि यो धावति स्वादुकाणि, आख्याति धर्ममुदराणुगृद्धः ।

अथाहुः स आचार्याणां शतांशे, य आलापयेदशनस्य हेतोः ॥

अन्वयार्थ - (उदराणुगिद्धे) पेट पालने में तत्पर (जे) जो पुरुष (साउगाई कुलाई धावइ) स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में जाते हैं (धम्मं आघाति) तथा वहां जाकर धर्म कथन करते हैं (से आयरियाण सयंसे) वे आचार्य या आर्य के शतांश भी नहीं हैं (जे असणस हेऊ लावएज्जा) तथा जो भोजन के लोभ से अपना गुण वर्णन कराते हैं, वे भी आर्यों के शतांश भी नहीं हैं ।

भावार्थ - जो पेट स्वादिष्ट भोजन के लोभ से स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में भिक्षार्थ जाया करते हैं और वहां जाकर धर्मकथा सुनाते हैं तथा जो भोजन के लिए अपना गुण वर्णन कराते हैं, वे आचार्यों के शतांश भी नहीं हैं, यह तीर्थङ्करों ने कहा है ।

टीका - यः कुलानि स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' इयति तथा गत्वा धर्ममाख्याति भिक्षार्थं वा प्रविष्टो यद्यस्मै रोचते कथानकसम्बन्धं तत्तस्याख्याति, किम्भूत इति दर्शयति-उदरेऽनुगृद्ध उदराणुगृद्धः- उदरभरणव्यग्रस्तुन्दपरिमृज इत्यर्थः, इदमुक्तं भवति-यो ह्युदरगृद्ध आहारादिनिमित्तं दानश्रद्धकाख्यानि कुलानि गत्वाऽऽख्यायिकाः कथयति स कुशील इति, अथासावाचार्यगुणानामार्यगुणानां वा शतांशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्रांशादेरप्यधो वर्तते इति यो ह्यन्नस्य हेतुं-भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणानपरेण 'आलापयेत्' भाणयेत्, असावप्यार्यगुणानां सहस्रांशे वर्तते किमङ्ग पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसा विदधातीति ॥२४॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो साधु नामधारी स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में (स्वादु भोजन के लिए) जाता रहता है और जाकर वहां धर्मकथा कहता है, अथवा जो जिसको रुचिकर है, वह कथा उसको कहता है, वह कैसा है ? सो शास्त्रकार दिखाते हैं-वह 'उदराणुगृद्ध है' अर्थात् वह अपने पेट भरण में आसक्त है । आशय यह है कि- जो पेट भरने में आसक्त पुरुष आहार आदि के निमित्त दान में श्रद्धा रखनेवाले घरों में जाकर धर्मकथा कहता है, वह कुशील है । वह पुरुष आचार्य अथवा आर्य पुरुष के शतांश में भी नहीं है । यहां शत का ग्रहण उपलक्षण है, इसलिए वह सहस्र अंश से भी नीच है । तथा जो भोजन के लिए दूसरे के द्वारा अपना गुण वर्णन कराता है, वह भी आचार्य अथवा आर्य पुरुष के सहस्रांश में भी नहीं है फिर जो अपना गुण अपने ही मुख से कहता है, उसका तो कहना ही क्या है ? ॥२४॥

णिव्वम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे ।

नीवारगिद्धेव महावराहे, अदूरए एहिइ घातमेव

॥२५॥

छाया - निष्क्रम्य दीनः परभोजने, मुख्यमाङ्गलिक उदराणुगृद्धः ।

नीवारगृद्ध इव महावराह अदूर एष्यति घातमेव ॥

अन्वयार्थ - (णिव्वम्म) जो पुरुष घर से निकल कर (परभोयणंमि दीणे) दूसरे के (वहां) भोजन के लिए दीन बनकर (मुहमंगलीए) भाट की तरह दूसरे की प्रशंसा करता है (नीवार गिद्धेव महावराहे) वह चावल के दानों में आसक्त महान् सुअर की तरह (उदराणुगिद्धे) उदर पोषण में आसक्त है (अदूरए) वह शीघ्र ही (घातमेव) नाश को ही (एहिइ) प्राप्त होगा ।

भावार्थ - जो पुरुष अपना घर तथा धनधान्य आदि छोड़कर दूसरे के वहां भोजन के लिए दीन होकर भाट की

तरह दूसरे की प्रशंसा करता है, वह चावल के दानों में आसक्त बड़े सुअर की तरह पेट भरने में आसक्त है, वह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा ।

टीका - यो ह्यात्मीयं धनधान्यहिरण्यादिकं त्यक्त्वा निष्क्रान्तो निष्क्रम्य च 'परभोजने' पराहारविषये 'दीनो' दैन्यमुपगतो जिह्नेन्द्रियवशात्तो बन्धिवत् 'मुखमाङ्गलिको' भवति मुखेन मङ्गलानि-प्रशंसावाक्यानि ईदृशस्तादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति, उक्तं च-

१११॥ "सो ऐसो जरुस गुणा वियरंतनिवारिया दसदिसासु ।

इहरा कहासु सुच्चसि पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥११॥"

इत्येवमौदर्यं प्रति गृह्यः अध्युपपन्नः, किमिव ?- 'निवारः' सूकरादिमृगभक्ष्यविशेषस्तस्मिन् गृह्य-आसक्तमना गृहीत्वा च स्वयूथं 'महावराहो' महाकायः सूकरः स चाहारमात्रगृह्योऽतिसंकटे प्रविष्टः सन् 'अदूर एव' शीघ्रमेव 'घातं' विनाशम् 'एष्यति' प्राप्स्यति, एवकारोऽवधारणे, अवश्यं तस्य विनाश एव नापरा गतिरस्तीति, एवमसावपि कुशील आहारमात्रगृह्यः संसारोदरे पौनःपुन्येन विनाशमेवैति ॥२५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो अपना धनधान्य आदि छोड़कर निकल गया है, और निकलकर दूसरे के वहां आहार के विषय में दीन होता है तथा जिह्वा के वशीभूत होकर भाट की तरह दूसरे की प्रशंसा करता है अर्थात् आप ऐसे हैं, आप वैसे हैं, इत्यादि प्रशंसा की बातें कहता है, जैसे कि-

"वही आप हैं जिसके गुण दश दिशाओं में फेले हैं, पहले मैं कथा में सुनता था परन्तु आज प्रत्यक्ष आप को देखता हूँ" ।

वह पुरुष पेट भरने में आसक्त है, किसके समान ? सुअर आदि प्राणी के भोजन को नीवार कहते हैं, उसमें आसक्त, विशाल शरीरवाला सुअर अपने यूथ को लेकर जैसे आसक्त होता है और आसक्त होकर भारी संकट में पड़ता है, वह जैसे शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है । एवकार अवधारणार्थक है, अतः अवश्य उसका नाश होता है, दूसरी गति नहीं होती है । इसी तरह पेट भरने में आसक्त वह कुशील भी बार-बार संसार में नाश को प्राप्त होता है ॥२५॥



अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।

पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए

॥२६॥

छाया - अन्नस्य पाणस्येहलौकिकस्यानुप्रियं भाषते सेवमाणः ।

पार्श्वस्थाताद्यैव कुशीलतां च निःसारो भवति यथा पुलाकः ॥

अन्वयार्थ - (अन्नस्स पाणस्स) अन्न तथा पान (इहलोइयस्स) अथवा वस्त्र आदि इस लोक के पदार्थ के निमित्त (सेवमाणे) सेवक की तरह जो पुरुष (अणुप्पियं भासति) प्रिय भाषण करता है (पासत्थयं चेव कुसीलयं च) वह पार्श्वस्थ भाव को तथा कुशील भाव को प्राप्त होता है (जहा पुलाए) और वह भूस्सा के समान सार रहित हो जाता है ।

भावार्थ - जो पुरुष अन्न, पान तथा वस्त्र आदि के लोभ से दाता पुरुष को रुचिकर बातें कहता है, वह पार्श्वस्थ तथा कुशील है और वह भूस्सा के समान संयमरूपी सार से रहित है ।

टीका - स कुशीलोऽन्नस्य पानस्य वा कृतेऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते अनुप्रियं भाषते' यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनुपश्चाद्भाषते अनुभाषते, प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः, तमेव दातारमनुसेवमान आहारमात्रगृह्यः सर्वमेतत्करोतीत्यर्थः, स चैवम्भूतः सदाचारभ्रष्टः पार्श्वस्थभावमेव व्रजति कुशीलतां च गच्छति, तथा निर्गतः- अपगतः सारः-चारित्र्याख्यो यस्य स निःसारः, यदिवा-निर्गतः सारो निःसारः स विद्यते यस्यासौ निःसारवान्, पुलाक इव निष्कणो भवति यथा-एवमसौ संयमानुष्ठानं निःसारीकरोति, एवंभूतश्चासौ लिङ्गमात्रावशेषो बहूनां

1. स एष यस्य गुणाः विचरन्त्यनिवारिता दशदिशासु इतरथा कथासु श्रूयते प्रत्यक्षं अद्य दृष्टोऽसि ॥१॥

स्वयूथ्यानां तिरस्कारपदवीमवाप्नोति, परलोके च निकृष्टानि यातनास्थानान्यवाप्नोति ॥२६॥

टीकार्थ - वह पुरुष, कुशील है, जो अन्न, पान तथा अन्य वस्त्र आदि ऐहलौकिक पदार्थ के लिए प्रिय भाषण करता है। जैसे राजा का सेवक या उसकी हॉ में हॉ मिलानेवाले पुरुष राजा के वचन का अनुवाद करते हैं, उसी तरह वह दाता को प्रसन्न रखने के लिए उसकी हॉ में हॉ मिलाता है। वह अपने पेट में आसक्त होकर यह सब करता है। आचार भ्रष्ट पुरुष पार्श्वस्थ भाव को प्राप्त होता है और कुशीलपने को धारण करता है। वह पुरुष चारित्ररूपी सार से हीन होने के कारण निःसार है। जैसे भूस्सा अन्न के दाने से रहित होता है, उसी तरह वह पुरुष भी अपने संयम को निःसार कर डालता है। ऐसा पुरुष केवल साधु के लिङ्ग मात्र को धारण करता है परन्तु चारित्र को नहीं धारण करता है। अतः वह स्वयूथिक साधुओं के अपमान का पात्र होता है और परलोके में निकृष्ट यातनास्थान को प्राप्त करता है ॥२६॥



- उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूतान् सुशीलान् प्रतिपादयितुमाह-

- कुशील पुरुषों का स्वरूप कहा जा चुका अब उनके प्रतिपक्ष भूत सुशील पुरुषों का वर्णन करते हैं-

अण्णातपिण्डेणऽहियासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणं, सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं

॥२७॥

छाया - अण्णातपिण्डेणादिसहेत्, न पूजणं तपसाऽऽवहेत् ।

शब्दः रूपे रसजनं, सर्वेभ्यः कामेभ्यो विणीय गृद्धिम् ॥

अन्वयार्थ - (अण्णातपिण्डेणऽहियासएज्जा) साधु अण्णातपिण्ड के द्वारा अपना निर्वाह करे (तवसा पूयणं णो आवहेज्जा) और तपस्या के द्वारा पूजा की इच्छा न करे (सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणं) तथा शब्द और रूप में आसक्त न होता हुआ (सव्वेहि कामेहि गेहिं विणीय) सब विषय कामनाओं से आसक्ति हटाकर संयम का पालन करे ।

भावार्थ - साधु अण्णात पिण्ड के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करे । तपस्या के द्वारा पूजा की इच्छा न करे । एवं शब्द, रूप और सब प्रकार के विषय भोगों से निवृत्त होकर शुद्ध संयम का पालन करे ।

टीका - अण्णातश्चासौ पिण्डश्चाण्णातपिण्डः अन्तप्रान्त इत्यर्थः, अण्णातेभ्यो वा-पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽण्णातपिण्डो-ऽण्णातोऽण्णवृत्त्या लब्धस्तेनात्मानम् 'अधिसहेत्' वर्तयेत्-पालयेत्, एतदुक्तं भवति-अन्तप्रान्तेन लब्धेनालब्धेन वा न दैन्यं कुर्यात्, नाप्युत्कृष्टेन लब्धेन मदं विदध्यात्, नापि तपसा पूजनसत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कार-निमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः, यदिवा पूजा-सत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थित्वेन वा महतापि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात्, तदुक्तम्-

“परं लोकाधिकं धाम, तपःश्रुतमिति द्वयम् । तदेवार्थित्वनिर्मुक्तसारं तृणलवायते ॥१॥”

यथा च रसेषु गृद्धिं न कुर्यात्, एवं शब्दादिष्वपीति दर्शयति- 'शब्दैः' वेणुवीणादिभिराक्षिप्तः संस्तेषु 'असज्जन्' आसक्तिमकुर्वन् कर्कशेषु च द्वेषमगच्छन् तथा रूपैरपि मनोज्ञेतरैः रागद्वेषमकुर्वन् एवं सर्वैरपि 'कामैः' इच्छामदनरूपैः सर्वेभ्यो वा कामेभ्यो गृद्धिं 'विणीय' अपनीय संयममनुपालयेदिति, सर्वथा मनोज्ञेतेषु विषयेषु रागद्वेषं न कुर्यात्, तथा चोक्तम्-

“सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगाएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१॥

रूवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसयमुवगाएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥२॥

गंधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगाएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥३॥

भक्ष्येसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुवगाएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥४॥

फालेसु य भद्दयपावएसु, फालविसयमुवगाएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥५॥”

1. शब्देषु च भद्रकपापकेषु श्रोत्रविषयमुपगतेषु तुष्टेन वा रुष्टेन वा श्रमणेन सदा न भवितव्यं । 2. रूपेषु चक्षुः । 3. गंधेषु घ्राणं । 4. भक्ष्येषु रसना । 5. स्पर्शेषु स्पर्शनं ।

टीकार्थ - अज्ञात अर्थात् नहीं जाना हुआ पिण्ड यानी अन्न-पानी आहार अथवा पहले के और पीछे के परिचय के बिना के गृहस्थों के घरों से लिया हुआ आहार अज्ञात पिण्ड है। उस पिण्ड के द्वारा साधु को अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए। इसका मतलब यह है कि अन्त प्रान्त आहार मिले अथवा न मिले तो साधु को दीन न होना चाहिए। इसी तरह श्रेष्ठ आहार मिलने से मद नहीं करना चाहिए। तथा साधु तप करके पूजा सत्कार की इच्छा न करे। वह पूजा और सत्कार के लिए तप न करे। तथा पूजा सत्कार के निमित्त से अथवा उस तरह की किसी दूसरी वस्तु की इच्छा करके महान साधु मोक्ष के कारण रूप तप को निःसार न करे। वही कहा है-

“परं लोकाधिकम्” अर्थात् परलोक में श्रेष्ठ स्थान दिलानेवाले तप और श्रुत ये दो ही वस्तु हैं। इनसे, संसारिक पदार्थ की इच्छा करने पर इनका सार निकल जाने से ये तृण के टुकड़े की तरह निःसार हो जाते हैं।

तथा साधु रस में गृद्धि न करे इसी तरह शब्दादिक विषयों में भी आसक्त न हो यह शास्त्रकार दिखाते हैं- वीणा और वेणु आदि के शब्दों को मधुर जानकर उनमें साधु आसक्त न हो, तथा कर्कश वचनों में द्वेष न करे। इसी तरह सुन्दर अथवा विरूप रूपों में राग द्वेष न करे। इसी तरह समस्त काम विकारों में गृद्धि छोड़कर संयम पालन करना चाहिए। तथा सर्वथा सुन्दर अथवा खराब विषयों में राग द्वेष न करना चाहिए। वही कहा है-

(सद्देसु य) अर्थात् शब्द सुन्दर हो या खराब हो वह कान से सुनने में आवे तो साधु उसमें प्रसन्न अथवा अप्रसन्न न हो ॥१॥ रूप सुन्दर या खराब आँख के सामने आवे तो साधु कभी भी प्रसन्न या अप्रसन्न न हो ॥२॥ गन्ध, अच्छा या बुरा नाक में आवे तो साधु कभी भी प्रसन्न या अप्रसन्न न हो ॥३॥ भोजन स्वादिष्ट या खराब मुख के सामने आवे तो साधु प्रसन्न या अप्रसन्न न हो ॥४॥ स्पर्श भला या बुरा शरीर को स्पर्श करे तो साधु प्रसन्न या अप्रसन्न कभी न हो ॥२७॥



- यथा चेन्द्रियनिरोधो विधेय एवमपरसङ्गनिरोधोऽपि कार्य इति दर्शयति-

- साधु जिस प्रकार दूसरे इन्द्रियों का निरोध करे इसी तरह दूसरे सम्बन्धों का भी निरोध करे यह शास्त्रकार दिखलाते हैं-

सव्वाइं संग्गाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तित्तिक्खमाणे ।

अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा

॥२८॥

छाया - सर्वान् सङ्गान्तीत्यधीरः, सर्वाणि दुःखानि तित्तिक्षमाणः ।

अखिलोऽगृद्धोऽनियतचारी, अभयहरो भिक्षुरणाविलात्मा ॥

अन्वयार्थ - (धीरे भिक्खु) बुद्धिमान् साधु (सव्वाइं संग्गाइं अइच्च) सब सम्बन्धों को छोड़कर (सव्वाइं दुक्खाइं तित्तिक्खमाणे) सब दुःखों को सहन करता हुआ (अखिले अगिद्धे अणिएयचारी) ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पूर्ण तथा विषय भोग में आसक्त न होता हुआ एवं अप्रतिबद्धविहारी (अभयंकरे) प्राणियों को अभय देनेवाला (अणाविलप्पा) तथा विषय कषायों से अनाकुल आत्मावाला होकर अच्छी रीति से संयम का पालन करता है ।

भावार्थ - बुद्धिमान् साधु सब सम्बन्धों को छोड़कर सब प्रकार के दुःखों को सहन करता हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पूर्ण होता है तथा वह किसी भी विषय में आसक्त न होता हुआ अप्रतिबद्धविहारी होता है। एवं वह प्राणियों को अभय देता हुआ विषय और कषायों से अनाकुल आत्मावाला होकर योग्य रीति से संयम का पालन करता है ।

टीका - सर्वान् 'सङ्गान्' संबन्धान् आन्तरान् स्नेहलक्षणान् बाह्यांश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणान् 'अतीत्य' त्यक्त्वा 'धीरो' विवेकी सर्वाणि 'दुःखानि' शारीरमानसानि त्यक्त्वा परीषहोपसर्गजनितानि 'तित्तिक्षमाणः' अधिसहन् अखिलो ज्ञान दर्शनचारित्रैः संपूर्णः तथा कामेष्वगृद्धस्तथा 'अनियतचारी' अप्रतिबद्धविहारी तथा जीवानामभयंकरो भिक्षुः-साधुः एवम् 'अणाविलो' विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा संयममनुवर्तत इति ॥२८॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - सब सम्बन्ध अर्थात् अन्दर का सम्बन्ध जो स्नेह है और बाहर का सम्बन्ध जो द्रव्यपरिग्रह है।

इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों को छोड़कर, धीर यानी विवेकी पुरुष, शरीर और मन के दुःखों को छोड़कर तथा परिषह और उपसर्गों से उत्पन्न दुःखों को सहता हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से सम्पूर्ण बनता है। तथा वह काम वासनाओं में आसक्त न होता हुआ अप्रतिबद्धविहारी होता है। तथा सब जीवों को अभय देता हुआ, वह साधु विषय और कषायों से आकुल आत्मा वाला न होता हुआ योग्य रीति से संयम का पालन करता है ॥२८॥



भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ।

दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगमसीसे व परं दमेज्जा

॥२९॥

छाया - भारस्स यात्रायै मुनिर्भुञ्जीत, काङ्क्षेत् पापस्य विवेकं भिक्षुः ।

दुःखेन स्पृष्टो धूतमाददीत, सङ्ग्रामशीर्षं हव परं दमयेत् ॥

अन्वयार्थ - (मुनि भारस्स जाता) साधु पाँच महाव्रत की रक्षा के लिए (भुंजएज्जा) भोजन खावे। (भिक्खू पावस्स विवेग कंखेज्ज) भिक्षु अपने पाप को त्यागने की इच्छा करे (दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा) तथा दुःख से स्पर्श पाता हुआ संयम अथवा मोक्ष में ध्यान रखे (संगमसीसे व परं दमेज्जा) युद्धभूमि में सुभट पुरुष जैसे शत्रु वीर को दमन करता है, इसी तरह साधु कर्मरूपी शत्रुओं को दमन करे।

भावार्थ - मुनि संयम निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करे तथा अपने पूर्व पाप को दूर करने की इच्छा करे। जब साधु पर परीषह और उपसर्गों का कष्ट पड़े तब वह मोक्ष या संयम में ध्यान रखे। जैसे सुभट पुरुष युद्धभूमि में शत्रु को दमन करता है, उसी तरह वह कर्मरूपी शत्रुओं को दमन करे।

टीका - संयमभारस्य यात्रार्थ-पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थ 'मुनिः' कालत्रयवेत्ता 'भुञ्जीत' आहारग्रहणं कुर्वीत, तथा 'पापस्य' कर्मणः पूर्वाचरितस्य 'विवेकं' पृथग्भावं विनाशमाकाङ्क्षेत् 'भिक्षुः' साधुरिति, तथा-दुःखयतीति दुःखं-परीषहोपसर्गजनिता पीडा तेन 'स्पृष्टो' व्याप्तः सन् 'धूतं' संयमं मोक्षं वा 'आददीत' गृह्णीयात्, यथा सुभटः कश्चित् सङ्ग्रामशिरसि शत्रुभिरभिद्रुतः 'परं' शत्रुं दमयति एवं परं- कर्मशत्रुं परीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि दमयेदिति ॥२९॥ अपि च-

टीकार्थ - तीनों काल को जाननेवाला मुनि पाँच महाव्रतरूपी भार के निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करे तथा अपने पूर्व पाप के नाश की इच्छा करे। जो दुःख देता है, उसे दुःख कहते हैं, वह परीषह तथा उपसर्गों से उत्पन्न पीड़ा है, उस पीड़ा से स्पर्श पाया हुआ साधु संयम अथवा मोक्ष में ध्यान रखे। जैसे कोई सुभट पुरुष युद्धभूमि में शत्रुवीरों के द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ, शत्रुवीरों को दमन करता है, इसी तरह साधु परीषह और उपसर्गों से पीड़ित किया जाता हुआ भी कर्मरूपी शत्रुओं का दमन करे ॥२९॥



अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखति अंतकस्स ।

णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं । त्ति बेमि

॥३०॥

इति कुशीलपरिभासियं सत्तममज्झयणं समत्तं ॥ (गाथाग्रं०४०२)

छाया - अपि हव्यमानः फलकावतट्ठी, समागमं काङ्क्षत्यन्तकस्य ।

निधूय कर्म ण प्रपन्नमुपैति, अक्षक्षय इव शकटमिति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ (अवि हम्ममाणे) साधु परीषह और उपसर्गों के द्वारा पीड़ा पाता हुआ भी उसे सहन करे (फलगावतट्ठी) जैसे काठ की पाटिया दोनों तरफ से छीली जाती हुई राग, द्वेष नहीं करती है, उसी तरह साधु बाह्य और आभ्यन्तर तप से कष्ट पाता हुआ भी राग द्वेष न करे (अंतकस्स समागमं कंखति) किन्तु मृत्यु के आने की प्रतीक्षा करे (णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ) इस प्रकार कर्म को दूर कर साधु जन्म मरण और रोग शोक आदि को प्राप्त नहीं करता है (अक्खक्खए वा सगडं त्ति बेमि) जैसे अन्न (धुरा) के टुट जाने से गाड़ी आगे नहीं चलती है, यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - परीषह और उपसर्गों के द्वारा पीड़ित होता हुआ साधु दोनों तरह से छिली जाती हुई काठ की पाटिया की तरह रागद्वेष न करे किन्तु मृत्यु की प्रतीक्षा करे । इस प्रकार अपने कर्म को क्षय करके साधु संसार को प्राप्त नहीं करता जैसे धुरा टूट जाने से गाड़ी नहीं चलती है ।

टीका - परीषहोपसर्गैर्हन्यमानोऽपि-पीडयमानोऽपि सम्यक् सहते, किमिव ?- फलकवदकृष्टः यथाफल-कमुभाभ्यामपि पार्श्वभ्यां तष्टं-घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तद्विष्टं वा संभवत्येवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहस्तनुः- दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्च, अन्तकस्य-मृत्योः 'समागमं' प्राप्तिम् 'आकाङ्क्षति' अभिलषति, एवं चाष्टप्रकारं कर्म 'निर्धूय' अपनीय न पुनः 'प्रपञ्चं' जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः-संसारस्तं 'नोपैति' न याति, दृष्टान्तमाह- यथा अक्षस्य 'क्षये' विनाशे सति 'शकटं' गन्त्र्यादिकं समविषमपथरूपं प्रपञ्चमुपष्टम्भकारणाभावात्नोपयाति, एवमसावपि साधुरष्टप्रकारस्य कर्मणः क्षये संसारप्रपञ्चं नोपयातीति, गतोऽनुगमो, नयाः पूर्ववद्, इति शब्दः परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३०॥ समाप्तं च कुशीलपरिभाषाख्यं सप्तममध्ययनं ॥

टीकार्थ - परीषह और उपसर्गों के द्वारा पीड़ा पाता हुआ भी साधु कष्ट को अच्छी तरह सहन करता है। किसकी तरह ? जैसे काठ की पाटिया दोनों बाजु से छिली जाती हुई पतली होती है और वह रागद्वेष नहीं करती है, इसी तरह वह साधु भी बाहर और भीतर की तपस्या से शरीर को खूब तपाने से शरीर को दुर्बल कर के भी रागद्वेष नहीं करता है, किन्तु मृत्यु के आने की प्रतीक्षा करता है । इस प्रकार वह साधु अपने आठ प्रकार के कर्मों को दूर करके फिर जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक आदि अनेक प्रकार के प्रपञ्च नट के समान जिसमें होते हैं, ऐसे संसार को नहीं प्राप्त करता है । इस विषय में दृष्टान्त बताते हैं- जैसे अक्ष (धुरा) के टूट जाने पर गाड़ी आदि, समान या विषम मार्ग में आधार न होने से नहीं चलते, इसी तरह वह साधु भी आठ प्रकार के कर्मों के क्षय हो जाने से संसाररूपी प्रपञ्च को प्राप्त नहीं होता है । अनुगम समाप्त हुआ । नय पूर्ववत् है इति शब्द समाप्ति अर्थ में आया है । ब्रवीमि पूर्ववत् है ॥३०॥

॥ इति कुशीलपरिभाषानामक सप्तम अध्ययन समाप्त हुआ ॥



॥ अथ अष्टमं श्रीवीर्याध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं सप्तममध्ययनं, साम्प्रतमष्टममारभ्यते- अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने कुशीलास्तत्प्रतिपक्षभूताश्च सुशीलाः प्रतिपादिताः, तेषां च कुशीलत्वं सुशीलत्वं च संयमवीर्यान्तरायोदयात्तत्क्षयोपशमाच्च भवतीत्यतो वीर्यप्रतिपादनायेदमध्ययनमुपदिश्यते, तदनेन संबंधेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि वक्तव्यानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-बालबालपण्डितपण्डितवीर्यभेदात् त्रिविधमपि वीर्यं परिज्ञाय पण्डितवीर्यं यतितव्यमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे वीर्याध्ययनं, वीर्यनिक्षेपाय निर्युक्तिकृदाह-

सातवौ अध्ययनं कहा गया, अब आठवौ आरम्भ किया जाता है। इसका सातवें अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है-सातवें अध्ययन में कुशील (दुराचारी पतित) साधु कहे गये हैं, तथा उनसे विपरीत सुशील (सदाचारी, उत्तम) साधु भी बताये गये हैं। इन दोनों प्रकार के साधुओं का क्रमशः कुशीलपना और सुशीलपना, संयमवीर्यान्तराय (संयम पालने में विघ्नरूप) कर्म के उदय से तथा क्षयोपशम से होता है। अर्थात् संयमवीर्यान्तराय कर्म के उदय से कुशीलपना होता है और उसके क्षयोपशम से सुशीलपना होता है। अतः वीर्य्य (शक्ति) बताने के लिए यह अध्ययन कहा जाता है। इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार कहने चाहिए। उसमें भी उपक्रम में रहा हुआ अर्थाधिकार (विषय) यह है-बाल (अविवेकी) बाल पण्डित (यथाशक्ति सदाचारी) पण्डित (सम्पूर्ण संयमपालनेवाला उत्तम) इन तीनों प्रकार के वीर्य्य वालों के प्रत्येक का वीर्य्य (आत्मबल) जानकर पण्डित वीर्य्य में साधु को प्रयत्न करना चाहिए। यह विषय का उपक्रम (शुरूआत) है। निक्षेप में इस अध्ययन का नाम वीर्य्य है। अब वीर्य्य का निक्षेप निर्युक्तिकार बताते हैं-

विरिणं छक्कं दव्यं सच्चित्ताचित्तमीसगं चैव । दुपयचउप्पयअपयं एयं तिविहं तु सच्चित्तं ॥९१॥ नि०।

टीका - वीर्य्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यवीर्य्यं द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा वीर्य्यं, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात्त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां अर्हच्चक्रवर्तिबलदेवादीनां यद्वीर्य्यं स्त्रीरत्नस्य वा यस्य वा यद्वीर्य्यं तदिह द्रव्यवीर्य्यत्वेन ग्राह्यं, तथा चतुष्पदानामश्वहस्तिरत्नादीनां सिंहव्याघ्रशरभादीनां वा परस्य वा यद्वोढव्ये धावने वा वीर्य्यं तदिति, तथाऽपदानां गोशीर्षचन्दनप्रभृतीनां शीतोष्णकालयोरुष्णशीतवीर्य्यपरिणाम इति ॥९१॥ अचित्तवीर्य्यप्रतिपादनायाह-

अच्चित्तं पुण विरियं आहारावरणप्रहरणादीसु । जह ओसहीण भणियं विरियं रसवीरियविचागो ॥९२॥ नि०।
आवरणे कययादी चक्कादीयं च पहरणे होति । खित्तंमि जंमि खेत्ते कालं जं जंमि कालंमि ॥९३॥ नि०।

अचित्तद्रव्यवीर्य्यं त्वाहारावरणप्रहरणेषु यद्वीर्य्यं तदुच्यते, तत्राऽऽहारवीर्य्यं 'सद्यः प्राणकरा हृद्या, घृतपूर्णाः कफापहाः' इत्यादि, ओषधीनां च शल्योद्धरणसंरोहणविषापहारमेधाकरणादिकं रसवीर्य्यं, विपाकवीर्य्यं च यदुक्तं चिकित्साशास्त्रादौ तदिह ग्राह्यमिति, तथा योनिप्राभृतकान्नानाविधं द्रव्यवीर्य्यं द्रष्टव्यमिति, तथा-आवरणे कवचादीनां, प्रहरणे चक्रादीनां यद्ववति वीर्य्यं तदुच्यत इति। अधुना क्षेत्रकालवीर्य्यं गाथापश्चार्धेन दर्शयति-क्षेत्रवीर्य्यं तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रमाश्रित्य सर्वाण्यपि द्रव्याणि तदन्तर्गतान्युत्कृष्टवीर्य्यवन्ति भवन्ति, यद्वा दुर्गादिकं क्षेत्रमाश्रित्य कस्यचिद्वीर्य्योऽप्यसौ भवति, यस्मिन्वा क्षेत्रे वीर्य्यं व्याख्यायते तत्क्षेत्रवीर्य्यमिति, एवं कालवीर्य्यमप्येकान्तसुषमादावायोज्यमिति, तथा चोक्तम् "वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयस्य हैमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥९१॥"

तथा-

"ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनन्देऽम्बरे, तुल्यां शर्करया शरदमलया शुण्ठ्या तुषाराममे ।

पिप्पल्या शिथिले वसन्तसमये क्षीदेण संयोजितां, पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः
॥१॥९२-९३॥”

भाववीर्यप्रतिपादनायाह-

भायो जीवस्स सवीरियस्स विरियंमि लद्धिउणेगविहा । ओरस्सिंदिय अज्झप्पिएसु बहुसो बहुविहीयं ॥९४॥ नि०।
मणवइकाया आणापाणू संभव तहा य संभव्ये । सोत्तादीणं सदादिएसु विसएसु गहणं च ॥९५॥ नि०।

‘सवीर्यस्य वीर्यशक्त्युपेतस्य जीवस्य ‘वीर्ये’ वीर्यविषये अनेकविधा लब्धिः, तामेव गाथापश्चार्धेन दर्शयति, तद्यथा-उरसि भवमौरस्यं शरीरबलमित्यर्थः, तथेन्द्रियबलमाध्यात्मिकं बलं बहुशो बहुविधं द्रष्टव्यमिति । एतदेव दर्शयितुमाह-आन्तरेण व्यापारेण गृहीत्वा पुद्गलान् मनोयोग्यान् मनस्त्वेन परिणमयति, भाषायोग्यान् भाषात्वेन परिणमयति, काययोग्यान् कायत्वेन, आनापानयोग्यान् तद्भावेनेति, तथा मनोवाक्कायादीनां तद्भावपरिणतानां यद्वीर्यं-सामर्थ्यं तद्विद्विधं-सम्भवे सम्भाव्येच, सम्भवे तावत्तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकानां च सुराणामतीव पटूनि मनोद्रव्याणि भवन्ति, तथाहि-तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकसुरमनःपर्यायज्ञानिप्रश्रव्याकरणस्य द्रव्यमनसैव करणात् अनुत्तरोपपातिकसुराणां च सर्वव्यापारस्यैव मनसा निष्पादनादिति, सम्भाव्ये तु यो हि यमर्थं पटुमतिना प्रोच्यमानं न शक्नोति साम्प्रतं परिणमयितुं सम्भाव्यते त्वेष परिकर्षमाणः शक्यत्यमुमर्थं परिणमयितुमिति, वाग्वीर्यमपि द्विविधं-सम्भवे सम्भाव्ये च, तत्र सम्भवे तीर्थकृतां योजननिर्हारिणी वाक् सर्वस्वस्वभाषानुगता च तथाऽन्येषामपि क्षीरमध्वास्त्रवादिलब्धिमतां वाचः सौभाग्यमिति, तथा हंसकोकिलादीनां सम्भवति, स्वरमाधुर्यं, सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते श्यामायाः स्त्रिया गानमाधुर्यं, तथा चोक्तम्- “सामा गायति महुरं काली गायति खरं च रुक्खं चे” त्यादि, तथा सम्भावयामः- एनं श्रावकदारकम् अकृतमुखसंस्कारमप्यक्षरेषु यथावदभिलसव्येष्विति, तथा सम्भावयामः शुकसारिकादीनां वाचो मानुषभाषापरिणामः, कायवीर्यमप्यौरस्यं यद्यस्य बलं, तदपि द्विविधं-सम्भवे सम्भाव्ये च, संभवे यथा चक्रवर्तिबलदेववासुदेवादीनां यद्बाहुबलादि कायबलं, तद्यथा-कोटिशिला त्रिपृष्ठेन वामकरतलेनोद्धृता, यदिवा-‘सोलस रायसहस्सा’ इत्यादि यावदपरिमितबला जिनवरेन्द्रा इति, सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते तीर्थकरो लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुं तथा मेरुं दण्डवद्गृहीत्वा वसुधां छत्रकवद्धर्तुमिति, तथा सम्भाव्यते अन्यतरसुराधिपो जम्बूद्वीपं वामहस्तेन छत्रकवद्धर्तुमयत्नेनैव च मन्दरमिति, तथा सम्भाव्यते अयं दारकः परिवर्धमानः शिलामेनामुद्धर्तुं हस्तिनं दमयितुमश्वं वाहयितुमित्यादि, इन्द्रियबलमपि श्रोत्रेन्द्रियादि स्वविषयग्रहणसमर्थं पञ्चधा एकैकं, द्विविधं-सम्भवे सम्भाव्ये च, सम्भवे यथा श्रोत्रस्य द्वादश योजनानि विषयः, एवं शेषाणामपि यो यस्य विषय इति, सम्भाव्ये तु यस्य कस्यचिदनुपहतेन्द्रियस्य श्रान्तस्य क्रुद्धस्य पिपासितस्य परिग्लानस्य वा अर्थग्रहणासमर्थमपि इन्द्रियं सद्यथोक्त-दोषोपशमे तु सति संभाव्यते विषयग्रहणायेति ॥९४-९५॥ साम्प्रतमाध्यात्मिकं वीर्यं दर्शयितुमाह-उज्जमथितिधीरत्तं सोडीरत्तं खमा य गंभीरं । उवओगजोगतवसंजमादिपं होइ अज्झप्पो ॥९६॥ नि०।

आत्मन्यधीत्यध्यात्मं तत्र भवमाध्यात्मिकम्-आन्तरशक्तिजनितं सात्त्विकमित्यर्थः, तच्चानेकधा-तत्रोद्यमो ज्ञानतपोऽनुष्ठानादिभूत्साहः, एतदपि यथायोगं सम्भवे सम्भाव्ये च योजनीयमिति, धृतिः संयमे स्थैर्यं चित्तसमाधान-मिति(यावत्), धीरत्वं परीषहोपसर्गाक्षोभ्यता, शौण्डीर्यं त्यागसम्पन्नता, षट्खण्डमपि भरतं त्यजतश्चक्रवर्तिनो न मनः कम्पते, यदिवाऽऽपद्यविषण्णता, यदिवा विषमेऽपि कर्तव्ये समुपस्थिते पराभियोगमकुर्वन् मयैवैतत्कर्तव्यमित्येवं हर्षायमाणोऽविषण्णो विधत्त इति, क्षमावीर्यं तु परैराक्रुश्यमानोऽपि मनागपि मनसा न क्षोभमुपयाति, भावयति (च तत्त्वं,) तच्चेदम्-

“आकुष्ठेन मतिमता तत्त्वार्थमावेक्षणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः ? स्यादनृतं किं नु कोपेन ? ॥१॥”

तथा

“अक्रोशहणमारणधम्मल्लंक्षाण बालसुलभाणं । लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावं(लाभं) मि ॥१॥”

गाम्भीर्यवीर्यं नाम परीषहोपसर्गैरघृष्यत्वं, यदिवा यत् मनसश्चमत्कारकारिण्यपि स्वानुष्ठाने अनौद्धत्यं, उक्तम्-च-

1. आक्रोशहननमारणधर्मप्रशानां बालसुलभानां लाभं मन्यते धीरो यथोत्तराणामभावे ॥१॥

“चल्लुच्छलोइ^२ जं होइ ऊणयं रिक्तयं कणकणोइ । भरियाई ण खुब्भंती सुपुत्तिसविज्जाणमंडाई ॥१॥”

उपयोगवीर्यं साकारानाकारभेदात् द्विविधं, तत्र साकारोपयोगोऽष्टधाऽनाकारश्चतुर्धा तेन चोपयुक्तः स्वविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्य परिच्छेदं विधत्त इति, तथा योगवीर्यं त्रिविधं मनोवाक्कायभेदात्, तत्र मनोवीर्यमकुशलमनोनिरोधः कुशलमनसश्च प्रवर्तनम्, मनसो वा एकत्वीभावकरणं, मनोवीर्येण हि निर्ग्रन्थसंयताः प्रवृद्धपरिणामा अवस्थितपरिणामाश्च भवन्तीति, वाग्वीर्येण तु भाषमाणोऽपुनरुक्तं निरवद्यं च भाषते, कायवीर्यं तु यस्तु समाहितपाणिपादः कूर्मवदवतिष्ठत इति, तपोवीर्यं द्वादशप्रकारं तपो यद्बलादग्लायन् विधत्त इति, एवं सप्तदशविधे संयमे एकत्वाद्यध्यवसितस्य यद्बलात्प्रवृत्तिस्तत्संयमवीर्यं, कथमहमतिचारं संयमे न प्राप्नुयामित्यध्यवसायिनः प्रवृत्तिरित्येवमाद्यध्यात्मवीर्यमित्यादि च भाववीर्यमिति, वीर्यप्रवादपूर्वे चानन्तवीर्यं प्रतिपादितं, किमिति ?, यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या, तद्यथा-

“सत्त्व^४गणैर्णं जा होज्ज वालुया गणणमागया सन्ती । ततो बहुयतरागो एगरस्स अत्थो पुव्वरस्स ॥१॥
सत्त्वसमुद्धानं जलं जइपत्थमियं हविज्जं संकलियं । एत्तो बहुयतरागो अत्थो एगरस्स पुव्वरस्स ॥२॥”

तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति ॥९६॥ सर्वमप्येतद्वीर्यं त्रिधेति प्रतिपादयितुमाह-
सर्वपिपि तं त्रिविहं पंडिय बालविरियं च मीसं च । अहावाचि होति दुविहं अगारअणगारियं चेव ॥९७॥नि०

सर्वमप्येतद्भाववीर्यं पण्डितबालमिश्रभेदात् त्रिविधं, तत्रानगाराणां पण्डितवीर्यं, बालपण्डितवीर्यं त्वगाराणां गृहस्थानामिति, तत्र यतीनां पण्डितवीर्यं सादिसपर्यवसितं, सर्वविरतिप्रतिपत्तिकाले सादिता सिद्धावस्थायां तदभावात्सान्तं, बालपण्डितवीर्यं तु देशविरतिसिद्धावकाले सादि सर्वविरतिसिद्धावे तदभ्रंशे वा सपर्यवसानं, बालवीर्यं त्वविरतिलक्षणमेवाभव्या-
नामनाद्यपर्यवसितं भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितं, सादिसपर्यवसितं तु विरतिभ्रंशात् सादिता पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्ता-
दुत्कुष्ठतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तात् विरतिसिद्धावात् सान्तेति, साद्यपर्यवसितस्य तृतीयभङ्गकस्य त्वसम्भव एव, यदिवा-
पण्डितवीर्यं सर्वविरतिलक्षणं, विरतिरपि चारित्रमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमलक्षणात् त्रिविधैव, अतो वीर्यमपि त्रिधैव भवति ॥९७॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनु सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सुत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदं-

टीकार्थ - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से वीर्य के छः निक्षेप हैं । इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं । द्रव्यवीर्य, आगम और नोआगम से, दो प्रकार का है । इनमें जो पुरुष वीर्य को जानता है परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता है, वह आगम से द्रव्यवीर्य है । नोआगम से द्रव्यवीर्य, जलशरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त सचित्त, अचित्त और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है । सचित्त भी द्विपद, चतुष्पद और अपद भेद से तीन प्रकार का है । इनमें द्विपदों में अरिहन्त, चक्रवर्ती और बलदेव आदि का जो वीर्य है तथा जिस स्त्रीरत्न का जो वीर्य है, सो यहां द्रव्य वीर्य समझना चाहिए । तथा चतुष्पदों में उत्तम घोड़ा, उत्तम हाथी अथवा सिंह, व्याघ्र, और शरभ आदि का बल है, वह द्रव्यवीर्य जानना चाहिए । तथा अपदों में गोशीर्ष चन्दन के वीर्य को द्रव्यवीर्य जानना चाहिए । गोशीर्ष चन्दन के लेप करने से शीतकाल में शीत और ग्रीष्मकाल में गर्मी दूर होती है । अतः उसका वीर्य अपदद्रव्यवीर्य है ॥९१॥ अब निर्युक्तिकार अचित्त वस्तुओं का वीर्य बताने के लिए कहते हैं-

आहार, आवरण (जो लड़ाई में शरीर की रक्षा करता है) और हथियार का जो वीर्य (शक्ति) है वह अचित्तद्रव्य वीर्य है । इनमें आहार का वीर्य यह है-(सद्यः) अर्थात् घेवर (एक प्रकार की मिठाई) खाने से शीघ्र इन्द्रियों में तेजी आती है तथा हृदय प्रसन्न होता है और कफ का रोग दूर होता है, इत्यादि आहार का वीर्य जानना चाहिए । एवं औषधियों का जो शरीर में गड़े हुए कटि आदि को निकालने और घाव भरने तथा विष को हरण करने एवं बुद्धि की वृद्धि का वीर्य (शक्ति) है, रसवीर्य है । विपाकवीर्य, जो चिकित्सा शास्त्र में कहा है, सो यहाँ लेना चाहिए । एवं योनिप्राभृत नामक ग्रन्थ के द्वारा पृथक्-पृथक् द्रव्यवीर्य समझ लेना चाहिए । रक्षण में

1. छल्लुच्छलइ प्र० । 2. उद्गीरति यद्वक्त्यूनकं रिक्तकं कणकणति भूतानि न क्षुभ्यन्ते सुपुरुषविज्ञानभाण्डानि ॥१॥

3. सर्वासां नदीनां यावन्त्यो भवेयुर्वालुका गणनमागताः सत्यः ततो बहुतरोऽर्थं एकस्य पूर्वस्य ॥१॥

4. सर्वसमुद्राणां जलं यतिप्रमितं तत् भवेत्संकलितं ततो० ॥२॥

कवच आदि की शक्ति, तथा हथियार में चक्र आदि की जो शक्ति है, वह क्रमशः आवरणवीर्य और प्रहरणवीर्य रूप अचित्तद्रव्य का वीर्य है। अब निर्युक्तिकार गाथा के उत्तरार्ध के द्वारा क्षेत्र और काल का वीर्य बतलाते हैं— जिस क्षेत्र की जो शक्ति है, वह उसका क्षेत्रवीर्य है। जैसे देवकुरु आदि क्षेत्र में सभी पदार्थ उस क्षेत्र के प्रभाव से उत्तम वीर्यवाले होते हैं, अतः वह क्षेत्रवीर्य है। अथवा किला वगैरह स्थान के आश्रय से किसी पुरुष का उत्साह बढ़ता है, इसलिए वह क्षेत्रवीर्य है। अथवा जिस क्षेत्र में वीर्य की व्याख्या की जाती है, वह क्षेत्रवीर्य है। इसी तरह एकान्त सुषम नामवाला पहला आरा आदि कालवीर्य है। तथा कालवीर्य के विषय में वैद्यक शास्त्र में कहा है—

“वर्षासु” अर्थात् वर्षाकाल में नमक, शरद् में जल, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आँवले का रस, वसन्त में घृत और ग्रीष्म में गुड़ अमृत के समान हैं ॥१॥

(ग्रीष्मे) अर्थात् हरित की (हरड़) ग्रीष्म ऋतु में बराबर गुड़ के साथ, तथा मेघ से गाढ़ हुआ आकाशवाली वर्षाऋतु में सैन्धव (सेंधा नमक) के साथ, एवं शरद् ऋतु में शक्कर के साथ तथा हेमन्त ऋतु में सोंठ के साथ, एवं शिशिर ऋतु में पिप्पल के साथ तथा वसन्त ऋतु में मधु के साथ खाने से जैसे पुरुषों के समस्त रोग दूर हो जाते हैं, इसी प्रकार तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जायें ॥२॥१२-१३॥

अब भाववीर्य बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

वीर्य शक्तिवाले जीव की वीर्य सम्बन्धी अनेक लब्धियाँ हैं। वे गाथा के उत्तरार्ध द्वारा बताई जाती हैं। छाती का वीर्य, शरीरबल है तथा इन्द्रियों का बल, आध्यात्मिक बल है। वह बहुविध होता है, यही शास्त्रकार दिखलाते हैं—मन, अन्दर के व्यापार से मन के योग्य पुद्गलों को एकट्ठा करके मन के रूप में, भाषा के योग्य पुद्गलों को भाषारूप में एवं काय के योग्य पुद्गलों को काय के रूप में तथा श्वास और उच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को श्वास और उच्छ्वास के रूप में परिणत करता है। मन, वचन, और काय के योग्य पुद्गल, जो मन, वचन और कायरूप में परिणत हुए हैं, उनके वीर्य (शक्ति) के दो भेद हैं—संभव और सम्भाव्य। संभव का उदाहरण यह है, तीर्थङ्कर तथा अनुत्तर विमान के देवों का मन बहुत निर्मल शक्तिवाला होता है। अनुत्तर विमान के देव, अवधि ज्ञानवाले होते हैं, वे मन के द्वारा जो प्रश्न करते हैं, उसका उत्तर तीर्थङ्कर द्रव्य मन से ही देते हैं, क्योंकि अनुत्तर विमान के देव सभी कार्य मन से ही करते हैं। सम्भाव्य का उदाहरण यह है, जो जीव, बुद्धिमान के द्वारा कही हुई बात को इस समय नहीं समझ सकता है, परन्तु भविष्य में अभ्यास के द्वारा समझ लेगा उसका वीर्य सम्भाव्यवीर्य है। वाग्वीर्य के दो भेद होते हैं, संभव और सम्भाव्य। इनमें संभव में तीर्थङ्करों की वाणी है, वह एक योजन तक फैलनेवाली है और अपनी अपनी भाषा में सब जीव उसे समझ लेते हैं। तथा कोई पुण्यशाली पुरुषों की वाणी दूध और मधु के समान मिठी होती है, यह वचन का सौभाग्य समझना चाहिए। तथा हंस और कोकिल का स्वर मधुर होता है। सम्भाव्य में श्यामा स्त्री का गान मधुर है, जैसा कि कहा है—

(सामा) अर्थात् दो स्त्रियों में एक का नाम श्यामा है वह मधुर स्वर से गाती है और काली नाम की स्त्री कठोर और अप्रिय गाती है। एवं हम आशा करते हैं कि “यह श्रावक का पुत्र पढ़े बिना ही उचित बोलने योग्य अक्षरों को बोलेगा” तथा हम आशा करते हैं कि मैना और तोता को यदि मनुष्य के संसर्ग में रखा जाय तो वे मनुष्य की भाषा सीख लेंगे (ये सम्भाव्य, वाग्वीर्य के उदाहरण हैं)

इसी तरह छाती का बल, जो जिसका है, वह भी संभव और सम्भाव्य भेद से दो प्रकार का है। संभव में चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव का जो बाहुबल है, वह संभव कायबल समझना चाहिए। क्योंकि त्रिपृष्ठ वासुदेव ने बाएँ हाथ की हथेली से करोंडो मन की कोटि शिला उठा ली थी। अथवा सोलह हजार राजाओं की सेना जिस जंजीर को खींचती है, उसको वे अकेले अपने सामने खींच लेते हैं इत्यादि। तथा तीर्थङ्कर अतुलबलवाले होते हैं (ये सब संभवकायबल के उदाहरण हैं) सम्भाव्य में, तीर्थङ्कर, लोक को अलोक में गेंद की तरह फेंक सकते हैं तथा वे मेरु पर्वत को डंडे की तरह और पृथिवी को उसके ऊपर छत्ते की तरह रख सकते हैं। तथा कोई इन्द्र, जम्बूद्वीप को बाएँ हाथ से छत्र की तरह तथा मन्दर पर्वत को डंडे की तरह सहज ही उठा सकता

है। तथा आशा की जाती है कि यह लडका बड़ा होने पर इस मोटी शिला को उठा लेगा तथा हाथी को दबा देगा और घोड़ेपर चढ़कर उसे दौड़ायेगा इत्यादि।

अब इन्द्रियों का वीर्य बतलाते हैं—कान आदि इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हैं और वे पाँच प्रकार की हैं, उनमें प्रत्येक संभव और सम्भाव्य भेद से दो प्रकार की हैं। उनमें सम्भव में, जैसे कान का विषय बारह योजन तक है। इसी तरह शेष चार इन्द्रियों का भी जिसका जो विषय है वह जानना चाहिए। सम्भाव्य में, जैसे जिस मनुष्य की इन्द्रिय नष्ट नहीं है, परन्तु वह थका हुआ है अथवा क्रोधित है या प्यासा हुआ है अथवा रोग आदि से ग्लान है, उस समय उसकी कोई इन्द्रिय अपने विषय के ग्रहण करने में समर्थ नहीं है परन्तु इन दोषों के शान्त हो जाने पर वे अपने विषयों को ग्रहण करेंगी यह अनुमान किया जाता है ॥९४-९५॥

अब आध्यात्मिक बल दिखाने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं— जो आत्मा में है, उसे अध्यात्म कहते हैं और जो उसमें होता है, उसे आध्यात्मिक कहते हैं अर्थात् अन्दर की शक्ति से उत्पन्न जो सात्विक वस्तु है, वह आध्यात्मिक कहलाती है। वह अनेक प्रकार की है। उसमें (१) उद्यम अर्थात् ज्ञान उपार्जन करने में और तपस्या करने में जो अन्दर का उत्साह है, वह पहला आध्यात्मिक बल है। इसका भी संभव और सम्भाव्य भेद यथायोग्य जोड़ लेना चाहिए। (जो अभी उद्यम करता है, उसका उत्साह संभव और जो पीछे उद्यम करेगा उसका सम्भाव्य समझना चाहिए) (२) धृति संयम में स्थिरता है अर्थात् चित्त को ठीकाने रखना है। (३) धीरत्व के कारण जीव परीषह और उपसर्गों से चलायमान नहीं होता है। (४) शौण्डीर्य— त्याग के उच्चकोटि की भावना को शौण्डीर्य कहते हैं, जैसे भरत महाराज का मन, चक्रवर्ती के छःखण्ड का राज्य छोड़ने पर भी कम्पित नहीं हुआ था। अथवा दुःख में खेद नहीं करना शौण्डीर्य है, अथवा कठिन कार्य करने का समय आजाने पर दूसरे की आशा को छोड़कर यह हमारा ही कर्तव्य है, यह मानकर खुश होते हुए उस काम को पूरा करना शौण्डीर्य है। (५) क्षमावीर्य— दूसरा गाली आदि दे तो भी मन में क्षोभ न करना किन्तु यह विचारना चाहिए जैसे कि—

कोई गाली आदि देवे तो बुद्धिमान को तत्त्व अर्थ के विचार में बुद्धि का उपयोग करना चाहिए, यदि वस्तुतः अपना दोष हो तो क्यों क्रोध करना चाहिए ? तथा दोष न हो तो वह अपने पर लागू नहीं होता, फिर क्रोध क्यों करना चाहिए ? तथा

गाली देना, हनन करना, जान से मारना, तथा धर्मभ्रष्ट करना ये सब मूर्ख जीवों को सुलभ है (ये मूर्खों के कार्य हैं) परन्तु धीर पुरुष इनमें आगे आगे का कार्य न करने से अधिक अधिक लाभ मानते हैं।

(६) परीषह तथा उपसर्गों से नहीं दबना गाम्भीर्य है। अथवा दूसरे के मन में चमत्कार पैदा करनेवाला उत्कुष्ट अनुष्ठान किया हो तो अहंकार न लाना गाम्भीर्य है। कहा है कि—

(चुल्लच्छल्लेइ) अर्थात् जिस घड़े को पूरा भरा नहीं होता है, वही घड़ा शब्द करता है तथा जो घूघूरू खाली होता है, वही छम छम बजता है परन्तु भरा घड़ा और भरा घूघूरू शब्द नहीं करता है इसी तरह थोड़े ज्ञानवाले अहङ्कार करते हैं, परन्तु ज्ञानरूपी रत्नों से भरे हुए उत्तम पुरुष घमण्ड नहीं करते हैं।

(७) उपयोग—साकार और अनाकार भेद से उपयोग दो प्रकार का है। उसमें साकार उपयोग आठ प्रकार का है और अनाकार उपयोग चार प्रकार का है, इनके द्वारा, उपयोग रखनेवाला पुरुष, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप अपने विषय का निश्चय करता है अर्थात् समझता है। (८) योगवीर्य—मन, वचन और काय के भेद से योगवीर्य तीन प्रकार का है। उनमें अकुशल मन को रोकना अर्थात् बुरे कार्य में मन को न जाने देना, तथा सत्कर्म में उसे प्रवृत्त करना अथवा मन को एकाग्र करना, मनोवीर्य है। उत्तम साधु मनोवीर्य के प्रभाव से निर्मल परिणामवाले तथा धर्म में स्थिर परिणामवाले होते हैं। वचनवीर्य के प्रभाव से साधु पुरुष इस प्रकार सम्हाल कर बोलते हैं कि उनके वचन में पुनरुक्ति (फिर फिर वही बात आना) दोष नहीं आता तथा निरवद्य भाषा बोलते हैं। कायवीर्य के प्रभाव से साधु पुरुष अपने हाथ पैर को स्थिर रखकर कछुवे की तरह बैठते हैं। तपोवीर्य बारह प्रकार का है, उसके प्रभाव से साधु उत्साह के साथ तप करते हैं और उसमें खेद नहीं करते हैं। एवं सत्रह प्रकार के संयम में, “मैं अकेला हूँ” ऐसी एकत्व भावना करता हुआ साधु जो बलपूर्वक संयम का पालन करता है और यह भाव

रखता है कि “मैं किसी प्रकार अपने संयम में अतिचार न लगने दूँ” सो यह संयमवीर्य्य है । ये पूर्वोक्त सभी अध्यात्मवीर्य्य अर्थात् भाववीर्य्य हैं । (प्रश्न) वीर्य्य प्रवाद पूर्व में अनन्त प्रकार के वीर्य्य बताये गये हैं, सो किस रीति से ? इसका समाधान यह है कि अनन्त अर्थवाला पूर्व होता है और उसमें वीर्य्य का प्रतिपादन किया गया है । अनन्त अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—

(सव्वणइणं) समस्त नदियों की रेती की गणना की जाय और जितनी रेती हों उनसे भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होता है । (आशय यह है कि पूर्व में व्यवहार किये हुए शब्द इतने गम्भीर होते हैं कि उनसे बहुत अर्थ निकलते हैं) तथा समस्त समुद्रों का जल यदि हथेली में एकठा करके गिना जाय तो उस से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होगा ।

इस प्रकार पूर्व में अनन्त अर्थ है और वीर्य्य पूर्व का अर्थ है, इसलिए वीर्य्य भी अनन्त है, यह समझना चाहिए ॥९६॥

ये सभी वीर्य्य तीन प्रकार के हैं यह निर्युक्तिकार बताते हैं—

ऊपर बताये हुए सभी वीर्य्य, पण्डित, बाल, और मिश्र भेद से तीन प्रकार के हैं । इनमें उत्तम साधुओं का पण्डितवीर्य्य है । बालपण्डितवीर्य्य गृहस्थों का है । इनमें साधुओं का पण्डितवीर्य्य यानी निर्मल साधुता, सादि और सान्त है क्योंकि जिस समय वे चारित्र ग्रहण करते हैं, उस समय वह आरम्भ होता है और जब वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जाते हैं, उस समय धर्मानुष्ठान समाप्त हो जाने से वह सान्त कहलाता है । बालपण्डित वीर्य्य भी सादि और सान्त होता है क्योंकि जिस समय गृहस्थ देश विरति स्वीकार करता है अर्थात् वह यथाशक्ति ब्रह्मचर्य्य आदि का पालन करना आरम्भ करता है, उस समय वह आरम्भ होता है और जब वह साधुता ग्रहण करता है अथवा व्रतभङ्ग करता है तब उसका वह वीर्य्य नष्ट हो जाता है, इसलिए वह सादि और सान्त है । अविरति अर्थात् देश से भी ब्रह्मचर्य्य आदि पालन न करना बालवीर्य्य है, वह अभव्य जीवों का अनादि और अनन्त है तथा भव्य जीवों का अनादि और सान्त है । यदि विरति को लेकर उसका भङ्ग करे तो इस अपेक्षा से अविरति सादि है और फिर जघन्य अन्तर्मुहुर्त में चारित्र ग्रहण करे तथा उत्कृष्ट अपार्थ पुद्गलपरावर्त्तकाल में फिर चारित्र का उदय हो तो वह अविरति सान्त है । इस प्रकार अविरति सादि और सान्त है । सादि और अनन्त बालवीर्य्य असम्भव है । पण्डितवीर्य्य सर्वविरतिरूप है । वह विरति, चारित्रमोहनीय कर्म के, क्षय, क्षयोपशम से और उपशम से होने के कारण तीन प्रकार का है ॥९७॥ इसलिए वीर्य्य भी तीन प्रकार का ही है, नामनिक्षेप कहा गया । अब सुत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है—



दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियंति पवुच्चई ।

किं नु वीरस्य वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई ?

॥१॥

छाया — द्विधा वेदं स्वाख्यातं वीर्य्यमिति प्रोच्यते । किं नु वीरस्य वीरत्वं कथञ्चेदं प्रोच्यते ॥

अन्वयार्थ — (वेयं वीरियंति पवुच्चई) यह जो वीर्य्य कहा जाता है (दुहा सुयक्खायं) इसे तीर्थङ्करों ने दो प्रकार का कहा है (वीरस्य वीरत्तं किं नु) वीर पुरुष की वीरता क्या है ? (कहं चेयं पवुच्चई) किस कारण वह वीर कहा जाता है ?।

भावार्थ — तीर्थङ्कर और गणधरों ने वीर्य्य के दो भेद कहे हैं । अब प्रश्न होता है कि वीर पुरुष की वीरता क्या है ? और वह क्यों वीर कहा जाता है ?।

टीका — द्वे विधे-प्रकारावस्येति द्विविधं-द्विप्रकारं, प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इदमो यदनन्तरं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते वीर्य्यं तद्विभेदं सुष्वाख्यातं स्वाख्यातं तीर्थकरादिभिः, वा वाक्यालङ्कारे, तत्र ‘ईर गतिप्रेरणयोः’ विशेषेण ईरयति-प्रेरयति अहितं येन तद्वीर्य्यं जीवस्य शक्तिविशेष इत्यर्थः, तत्र, किं नु ‘वीरस्य’ सुभटस्य वीरत्वं ?, केन वा कारणेनासौ वीर इत्यभिधीयते, नुशब्दो वितर्कवाची, एतद्वितर्कयति-किं तद्वीर्य्यं ?, वीरस्य वा किं तद्वीरत्वमिति ॥१॥

टीकार्थ - जिसके दो भेद हैं, उसे द्विविध कहते हैं। इदम् शब्द प्रत्यक्ष और समीपवर्ती वस्तु का वाचक है, इसलिए जो आगे स्पष्ट रूप से कहा जाता है, वह वीर्य्य दो प्रकार का तीर्थङ्कर और गणधर आदि से कहा गया है। 'वा' शब्द वाक्य की शोभा के लिए आया है। इसलिए इसका कोई अर्थ नहीं है। विपूर्वक "ईर गति प्रेरणयोः" धातु से वीर्य्य शब्द बना है अतः जो विशेष रूप से अहित को दूर करता है, उसे वीर्य्य कहते हैं। वह जीव की शक्ति विशेष है। यहां यह प्रश्न होता है कि सुभट पुरुष की वीरता क्या है? तथा वह किस कारण से वीर कहा जाता है? 'नु' शब्द वितर्क वाचक है। यहां यह वितर्क (प्रश्न) करते हैं कि वह वीर्य्य क्या है? और वीर पुरुष की वीरता क्या है? ॥१॥



तत्र भेदद्वारेण वीर्य्यस्वरूपमाचिख्यासुराह-

अब शास्त्रकार भेदपूर्वक वीर्य्य के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए कहते हैं-

कम्ममेगे पवेदेति, अकम्मं वावि सुव्वया ।

एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दीसंति मच्चिया

॥२॥

छाया - कर्मके प्रवेदयन्त्वकर्मणि वाऽपि सुव्रताः । आभ्यां द्वाभ्यां स्थावाभ्यां, याभ्यां दृश्यन्ते मर्त्याः ॥

अन्वयार्थ - (एगे कम्मं पवेदेति) कोई कर्म को वीर्य्य कहते हैं। (सुव्वया अकम्मं वाऽपि) और हे सुव्रतों! कोई अकर्म को वीर्य्य कहते हैं (मच्चिया) मर्त्यलोक के प्राणी (एतेहिं दोहिं ठाणेहिं दीसंति) इन्हीं दो भेदों में देखे जाते हैं।

भावार्थ - श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे सुव्रतों! कोई कर्म को वीर्य्य कहते हैं और दूसरे अकर्म को वीर्य्य कहते हैं, इस प्रकार वीर्य्य के दो भेद हैं। इन्हीं दो भेदों में मर्त्यलोक के सब प्राणी देखे जाते हैं।

टीका - कर्म-क्रियानुष्ठानमित्येतदेके वीर्य्यमिति प्रवेदयन्ति, यदिवा-कर्माष्टप्रकारं कारणे कार्योपचारात् तदेव वीर्य्यमिति प्रवेदयन्ति, तथाहि-औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मेत्युपदिश्यते, औदयिकोऽपि च भावः कर्मोदयनिष्पन्न एव बालवीर्य्यं, द्वितीयभेदस्त्वयं-न विद्यते कर्मास्येत्यकर्मा-वीर्यान्तरायक्षयजनितं जीवस्य सहजं वीर्यमित्यर्थः, चशब्दात् चारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमजनितं च, हे सुव्रता ! एवम्भूतं पण्डितवीर्यं जानीत यूयं । आभ्यामेव द्वाभ्यां स्थानाभ्यां सकर्मकाकर्मकापादितबालपण्डितवीर्याभ्यां व्यवस्थितं वीर्यमित्युच्यते, यकाभ्यां च ययोर्वा व्यवस्थिता मर्त्येषु भवा मर्त्याः 'दिस्संत' इति दृश्यन्तेऽपदिश्यन्ते वा, तथाहि-नानाविधासु क्रियासु प्रवर्तमानमुत्साहबलसंपन्नं मर्त्यं दृष्ट्वा वीर्यवानयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते, तथा तदावारककर्मणः क्षयादनन्तबलयुक्तोऽयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते दृश्यते चेति ॥२॥

टीकार्थ - क्रिया का अनुष्ठान करना कर्म है, इसी को कोई वीर्य्य कहते हैं। अथवा कारण में कार्य का उपचार करके आठ प्रकार के कर्मों को ही वीर्य्य कहते हैं। क्योंकि जो औदयिक भाव से उत्पन्न होता है, उसे कर्म कहते हैं और औदयिक भाव कर्म के उदय से ही उत्पन्न होकर बालवीर्य्य कहलाता है। वीर्य्य का दूसरा भेद यह है-जिसमें कर्म नहीं है, उसे अकर्मा कहते हैं, वह वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न जीव का स्वाभाविक वीर्य्य है, तथा 'च' शब्द से चारित्र मोहनीय के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न निर्मल चारित्र को वीर्य्य कहते हैं। हे सुव्रतों! ऐसे वीर्य्य को आप पण्डितवीर्य्य जानें। ये जो सकर्मक और अकर्मक नाम के दो वीर्य्य के भेद बताये गये हैं, इन्हीं के द्वारा बालवीर्य्य और पण्डितवीर्य्य की व्यवस्था हुई है अतः उक्त दो भेदवाला वीर्य्य कहा जाता है। मर्त्यलोक के समस्त प्राणी इन्हीं दो भेदों में बंटे हुए देखे जाते हैं या कहे जाते हैं। क्योंकि भली या बुरी नाना प्रकार की क्रियाओं में उत्साह तथा बल के साथ लगे हुए मनुष्य को देखकर लोग कहते हैं कि "यह पुरुष वीर्य्य से सम्पन्न है। तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षय होने से मनुष्य को लोग कहते हैं कि "यह अनन्त बल से युक्त मनुष्य है" ॥२॥



१. वीर्य्यत्रयेऽस्यैवोदयनिष्पन्नत्वात्, शेषं त्वन्यथेत्युत्तरभेदे ।

- इह बालवीर्यं कारणे कार्योपचारात्कर्मैव वीर्यत्वेनाभिहितं, साम्प्रतं कारणे कार्योपचारादेव प्रमादं कर्मत्वेनापदिशन्नाह-
- यहां शास्त्रकार ने कारण में कार्य का उपचार करके कर्म को ही बालवीर्य कहा है, अब कारण में कार्य का उपचार करके ही प्रमाद को कर्मरूप से बताते हैं-

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।

तब्भावादेसओ वावि, बालं पण्डियमेव वा

॥३॥

छाया - प्रमादं कर्ममाहुरप्रमादं तथाऽपरम् । तद्वायादेशतो वाऽपि बालं पण्डितमेव वा ॥

अन्वयार्थ - (पमायं कम्ममाहंसु) तीर्थकरो ने प्रमाद को कर्म कहा है (तहा अप्पमायं अवरं) तथा अप्रमाद को अकर्म कहा है (तब्भावादेसओ वावि) इन दोनों की सत्ता से ही (बालं पण्डियमेव वा) बालवीर्य या पण्डितवीर्य होता है ।

भावार्थ - तीर्थकरो ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है । अतः प्रमाद के होने से बालवीर्य और अप्रमाद के होने से पण्डितवीर्य होता है ।

टीका - प्रमाद्यन्ति-सदनुष्ठानरहिता भवन्ति प्राणिनो येन स प्रमादो-मद्यादिः, तथा चोक्तम्-

“मज्ज^१ विस्सयकक्षाया णिद्वा विगहा य पंचमी भणिया । एस पमायपमाओ णिदिट्ठो वीयरामोहिं ॥१॥”

तमेवम्भूतं प्रमादं कर्मोपादानभूतं कर्म ‘आहुः’ उक्तवन्तस्तीर्थकरादयः. अप्रमादं च तथाऽपरमकर्मकमाहुरिति, एतदुक्तं भवति-प्रमादोपहतस्य कर्म बध्यते, सकर्मणश्च यत्क्रियानुष्ठानं तद्बालवीर्यं, तथाऽप्रमत्तस्य कर्माभावो भवति, एवंविधस्य च पण्डितवीर्यं भवति, एतच्च बालवीर्यं पण्डितवीर्यमिति वा प्रमादवतः सकर्मणो बालवीर्यमप्रमत्तस्याकर्मणः पण्डितवीर्यमित्येवमायोज्यं, ‘तब्भावादेसओ वावी’ ति तस्य-बालवीर्यस्य कर्मणश्च पण्डितवीर्यस्य वा भावः-सत्ता स तद्वावस्तेनाऽऽदेशो-व्यपदेशः ततः, तद्यथा-बालवीर्यमभव्यानामनादि-अपर्यवसितं भव्यानामनादिसपर्यवसितं वा सादिसपर्य-वसितं वेति, पण्डितवीर्यं तु सादिसपर्यवसितमेवेति ॥३॥

टीकार्थ - प्राणि वर्ग जिसके द्वारा उत्तम अनुष्ठान से रहित होते हैं, वह प्रमाद है, वह मद्य आदि है, जैसा कि कहा है-

(मज्जं) अर्थात् मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और चारित्र को दूषित करनेवाली कथायें [विकथा] ये पांच प्रमाद जिनवरों ने कहे हैं ।

तीर्थङ्करों ने कर्म के कारणरूप इन पांच प्रमादों को कर्म कहा है, और अप्रमाद को अकर्म कहा है । प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहने का परमार्थ कहा है कि प्रमाद के कारण भान रहित होकर जीव कर्म बाँधता है । उस कर्म सहित जीव का जो क्रियानुष्ठान है, वह बालवीर्य है । तथा प्रमाद रहित पुरुष के कर्तव्य में कर्म का अभाव है, अतः उस पुरुष का कार्य, पण्डितवीर्य है । इस प्रकार जो पुरुष प्रमादी और सकर्मा है, उसका बालवीर्य समझना चाहिए और जो अप्रमादी और अकर्मा है, उसका पण्डितवीर्य जानना चाहिए। इन दोनों वीर्यों की सत्ता से अर्थात् बालवीर्य और पण्डितवीर्य के होने से बाल और पण्डित यह व्यवहार होता है । इनमें अभव्य जीवों का बालवीर्य अनादि और अनन्त होता है और भव्य जीवों को अनादि होकर सान्त होता है तथा सादि और सान्त भी होता है परन्तु पण्डितवीर्य सादि और सान्त ही होता है ॥३॥



- तत्र प्रमादोपहतस्य सकर्मणो यद्बालवीर्यं तद्दर्शयितुमाह-

- प्रमाद से मूढ़, सकर्मी यानी पापी पुरुष का जो बालवीर्य (अधमकृत्य) है, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं ।

1. मद्यं विषया कषाया विकथा निद्रा च पंचमी भणिता (एते पंच प्रमादा निर्दिष्टा) एष प्रमादप्रमादो निर्दिष्टो वीतरागेः ॥१॥

एगे मंते अहिज्जन्ति, पाणभूयविहेडिणो

॥४॥

छाया - शास्त्रमेके तु शिक्षन्ते, ऽतिपाताय प्राणिनाम् । एके मन्त्रानधीयते प्राणभूतविहेडकां ॥

अन्वयार्थ - (एगे पाणिणं अतिवायाय) कोई प्राणियों का वध करने के लिए (सत्थं) तलवार आदि शस्त्र अथवा धनुर्वेदादि (सिक्खंता) सीखते हैं (एगे पाणभूयविहेडिणो) तथा कोई प्राणी और भूतों को मारनेवाले (मंते अहिज्जन्ति) मन्त्रों को पढ़ते हैं ।

भावार्थ - कोई बालजीव, प्राणियों का नाश करने के लिए शस्त्र तथा धनुर्वेदादि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और कोई प्राणियों का विनाशक मन्त्रों का अध्ययन करते हैं ।

टीका - शस्त्रं-खड्गादिप्रहरणं शास्त्रं वा धनुर्वेदायुर्वेदिकं प्राण्युपमर्दकारि तत् सुष्ठु सातगौरवगृह्णा 'एके' केचन 'शिक्षन्ते' उद्यमेन गृह्णन्ति, तच्च शिक्षितं सत् 'प्राणिनां' जन्तुनां विनाशाय भवति, तथाहि-तत्रोपदिश्यते एवंविधमालीढ-प्रत्यालीढादिभिर्जीवे व्यापादयितव्ये स्थानं विधेयं, तदुक्तम्-

“मुष्टिनाऽऽच्छादयेत्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत् । हतं लक्ष्यं विजानीयाद्यदि मूर्धा न कम्पते ॥१॥”

तथा एवं लावकरसः क्षयिणे देयोऽभयारिष्टाख्यो मद्यविशेषश्चेति, तथा एवं चौरादेः शूलारोपणादिको दण्डो विधेयः तथा चाणक्याभिप्रायेण परो वञ्चयितव्योऽर्थोपादानार्थं तथा कामशास्त्रादिकं चोद्यमेनाशुभाध्यवसायिनोऽधीयते, तदेवं शस्त्रस्य धनुर्वेदादेः शास्त्रस्य वा यदभ्यसनं तत्सर्वं, बालवीर्यं, किञ्च एके केचन पापोदयात् मन्त्रानभिचार-काना(ते)थर्वणानश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधादियागार्थमधीयते, किम्भूतानिति दर्शयति-‘प्राणा’ द्वीन्द्रियादयः ‘भूतानि’ पृथिव्यादीनि तेषां ‘विविधम्’ अनेकप्रकारं ‘हेठकान्’ बाधकान् ऋक्संस्थानीयान् मन्त्रान् पठन्तीति, तथा चोक्तम्-

“षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्व्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥१॥”

इत्यादि ॥४॥

टीका - सुख और गौरव में आसक्त कोई पुरुष प्राणियों के विनाश करनेवाले तलवार आदि शस्त्रों तथा धनुर्वेद आदि शास्त्रों को उत्साह के साथ सीखते हैं । अन्त में सीखी हुई वह विद्या, प्राणियों के घात के लिए होती है । क्योंकि उक्त विद्या में यह शिक्षा दी जाती है कि- जीव को मारने के लिए इस प्रकार आलीढ और प्रत्यालीढ होकर ठहरना चाहिए । जैसा कि कहा है-

“जिसे मारना हो उसको मुट्ठी से ढँक देवे और मुट्ठी के ऊपर अपनी दृष्टि रखे, इस प्रकार बाण छोड़ने पर यदि अपना शिर न हिले तो लक्ष्य को विंधा हुआ जानना चाहिए ।”

तथा वैद्यक शास्त्र में इस प्रकार कहा है कि- लावक पक्षी का रस क्षय रोगवाले को देना चाहिए तथा अभय अरिष्ठ जो एक प्रकार का मद्य है, वह उसे देना चाहिए । तथा दण्डनीति में कहा है कि- चोर को इस प्रकार शूलीपर चढ़ाना चाहिए । एवं चाणक्य के शास्त्र में इस प्रकार कहा कि- धन लेने के लिए दूसरे को ठगना चाहिए। अतः इन शास्त्रों को तथा कामशास्त्र को अशुभ विचारवाले पुरुष पढ़ते हैं । इस प्रकार शस्त्र और धनुर्वेद आदि शास्त्रों का अभ्यास बालवीर्य जानना चाहिए । तथा कोई पुरुष पाप के उदय से प्राणियों के घातक अथर्ववेद के मन्त्रों को अश्वमेध, पुरुषमेध, और सर्वमेध यज्ञों के निमित्त पढ़ते हैं । वे मन्त्र कैसे हैं ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं-द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा पृथिवी आदि भूतों को अनेक प्रकार से कष्ट देनेवाले ऋग्वेद के मन्त्रों को अशुभ विचारवाले पढ़ते हैं । इनके विषय में कहा है कि-

(षट्शतानि) अर्थात् अश्वमेध यज्ञ के वचनानुसार बीच के दिन में तीन कम छः सौ पशु मारने के लिए तैयार रखना चाहिए ॥४॥



- अधुना 'सत्थ' मित्येतत्सूत्रपदं सूत्रस्पर्शिकया निर्युक्तिकारः स्पष्टयितुमाह-

- अब निर्युक्तिकार शस्त्र शब्द को स्पर्श करनेवाली गाथा के द्वारा सूत्र के शस्त्रपद को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं-

सत्थं असिमादयं विज्जामंते य देयकम्मकयं । पत्थिययारुणअग्गेय याऊ तह मीसगं चेव ॥९८॥ नि०।

शस्त्रं-प्रहरणं तच्च असिः- खड्गस्तदादिकं तथा विद्याधिष्ठितं, मन्त्राधिष्ठितं देवकर्मकृतं दिव्यक्रियानिष्पादितं तच्च पञ्चविधं, तद्यथा-पार्थिवं वारुणमाग्नेयं वायव्यं तथैव द्वादिमिश्रं चेति ॥९८॥ किञ्चान्यत्-

हथियार को शस्त्र कहते हैं, वह तलवार आदि, तथा विद्याधिष्ठितं, मन्त्राधिष्ठितं, देवकर्मकृत, और दिव्यक्रिया से उत्पन्न किया हुआ होता है । वह पांच प्रकार का है जैसे कि- पार्थिव, वारुण, आग्नेय, वायव्य तथा दो आदि से मिश्रित ।



माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे ।

हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो

॥५॥

छाया - मायिनः कृत्वा मायाश्च, कामभोगान् समारम्भन्ते । हन्तारच्छेत्तारः प्रकर्त्तयितार आत्मसातानुगामिनः ॥

अन्वयार्थ - (माइणो माया कट्टु) माया करनेवाले पुरुष माया यानी छल कपट करके (कामभोग समारभे) काम भोग का सेवन करते हैं (आयसायाणुगामिणो) तथा अपने सुख की इच्छा करनेवाले वे, (हंता छेत्ता पगब्भित्ता) प्राणियों का हनन, छेदन और कर्त्तन (चीरना) करते हैं।

भावार्थ - कपटी जीव कपट के द्वारा दूसरे का धनादि हरकर विषय सेवन करते हैं तथा अपने सुख की इच्छा करनेवाले वे, प्राणियों का हनन, छेदन और कर्त्तन करते हैं ।

टीका - 'माया' परवञ्चनादि(त्वि)का बुद्धिः सा विद्यते येषां ते मायाविनस्त एवम्भूता मायाः-परवञ्चनानि कृत्वा एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादेव क्रोधिनी मानिनी लोभिनीः सन्तः 'कामान्' इच्छारूपान् तथा भोगांश्च शब्दादिविषयरूपान् 'समारम्भन्ते' सेवन्ते पाठान्तरं वा 'आरम्भाय तिवट्टइ' त्रिभिः मनोवाक्कायैरारम्भार्थं वर्त्तते, बहून् जीवान् व्यापादयन् बध्नन् अपध्वंसयन् आज्ञापयन् भोगार्थी वित्तोपार्जनार्थं प्रवर्त्तत इत्यर्थः, तदेवम् 'आत्मसातानुगामिनः' स्वसुखलिप्सवो दुःखद्विषो विषयेषु गृद्धाः कषायकलुषितान्तरात्मानः सन्त एवम्भूता भवन्ति, तद्यथा-'हन्तारः' प्राणिव्यापादयितारस्तथा छेत्तारः कर्णनासिकादेस्तथा प्रकर्त्तयितारः पृष्ठोदरादेरिति ॥५॥

टीकार्थ - दूसरे को ठगने की बुद्धि माया कही जाती है । वह बुद्धि जिस जीव में होती है, उसको मायावी कहते हैं । इस प्रकार माया के द्वारा दूसरे को ठगकर मायावी पुरुष विषय का सेवन करते हैं । एक के ग्रहण से उसके जातिवाले सभी का ग्रहण होता है, इसलिए क्रोधी, मानी, और लोभी जीव शब्दादि विषयों का सेवन करते हैं । यह अर्थ भी जानना चाहिए । यहां "आरम्भाय तिवट्टइ" यह पाठान्तर भी मिलता है । इसका अर्थ यह है- वह भोगार्थी पुरुष, मन, वचन, और काय से आरम्भ में वर्तमान रहता है । वह बहुत जीवों को मारता है, बाँधता है, नाश करता है तथा आज्ञापालन कराता है, इस प्रकार वह धन उपार्जन के लिए तत्पर रहता है । इस प्रकार अपने सुख की इच्छा करनेवाले और दुःख से द्वेष रखनेवाले, विषय भोग में आसक्त, कषायों से मलिन हृदयवाले पुरुष इस प्रकार पाप करते हैं, जैसे कि- वे प्राणियों का घात करते हैं, तथा उनके कान और नाक आदि काटते हैं एवं उनके पेट और पीठ आदि काटते हैं ॥५॥



- तदेतत्कथमित्याह-

- यह सब किस प्रकार करते हैं, सो शास्त्रकार बतलाते हैं-

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।

आरओ परओ वावि, दुहावि य असंजया

॥६॥

छाया - मणसा वचसा चेव, कायेन चैवान्तशः । आरतः परतोवाऽपि चासंयताः ॥

अन्वयार्थ - (असंजया) असंयमी पुरुष, (मणसा वयसा चेव कायसा चेव) मन, वचन और काय से (अंतसो) एवं काय की शक्ति न होने

पर मन से (आरओ परओ वावि) इस लोक और परलोक दोनों के लिए (दुहावि) करने और कराने दोनों प्रकार से जीवों का घात करते हैं।

भावार्थ - असंयमी पुरुष मन, वचन और काय से तथा काय की शक्ति न होने पर मन वचन से इस लोक और परलोक दोनों के लिए स्वयं प्राणियों का घात करते हैं और दूसरे के द्वारा भी कराते हैं।

टीका - तदेतत्प्राण्युपमर्दनं मनसा वाचा कायेन कृतकारितानुमतिभिश्च 'अन्तशः' कायेनाशक्तोऽपि तन्दुलमत्स्यवन्मनसैव पापानुष्ठानानुमत्या कर्म बध्नातीति, तथा आरतः परतश्चेति लौकिकी वाचोयुक्तिरित्येवं पर्यालोच्यमाना ऐहिकामुष्मिकयोः 'द्विधापि' स्वयंकरणेन परकरणेन चासंयता-जीवोपघातकारिण इत्यर्थः ॥६॥

टीकार्थ - असंयमी पुरुष मन, वचन और शरीर से तथा करने, कराने और अनुमोदन करने से प्राणियों का घात करते हैं। वे शरीर की शक्ति न होने पर भी तन्दुल मत्स्य की तरह मन से ही पाप करके कर्म बाँधते हैं। तथा लौकिक शास्त्रों की यह युक्ति है, यह विचार कर इस लोक और परलोक के लिए स्वयं जीवघात करते हैं और दूसरे से भी कराते हैं ॥६॥



- साम्प्रतं जीवोपघातविपाकदर्शनार्थमाह-

- जीवहिंसा करने का फल बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती ।

पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो

॥७॥

छाया - वेराणि करोति वैरी, ततो वैरे रज्ज्यते । पापोपगा आरम्भाः, दुःखस्पर्शा अन्तशः ॥

अन्वयार्थ - (वेरी वेराइं कुव्वई) जीव घात करनेवाला पुरुष, अनेक जन्म के लिए जीवों के साथ वैर करता है (तओ वेरेहिं रज्जती) फिर वह नया वैर करता है (आरंभा य पावोवगा) जीवहिंसा पाप उत्पन्न करती है (अंतसो दुक्खफासा) और अन्त में दुःख देती है।

भावार्थ - जीव हिंसा करनेवाला पुरुष उस जीव के साथ अनेक जन्म के लिए वैर बांधता है क्योंकि दूसरे जन्म में वह जीव इसे मारता है और तीसरे जन्म में यह उसे मारता है, इस प्रकार इनकी परस्पर वैर की परम्परा चलती रहती है। तथा जीवहिंसा पाप उत्पन्न करती है। और इसका विपाक दुःख भोगना होता है।

टीका - वैरमस्यास्तीति वैरी, स जीवोपमर्दकारी जन्मशतानुबन्धीनि वैराणि करोति, ततोऽपि च वैरादपरै-र्वैरैरनुरज्ज्यते-संबध्यते, वैरपरम्परानुषङ्गी भवतीत्यर्थः, किमिति ?, यतः पापं उप-सामीप्येन गच्छन्तीति पापोपगाः, क एते?- 'आरम्भाः' सावधानुष्ठानरूपाः 'अन्तशो' विपाककाले दुःखं स्पृशन्तीति दुःखस्पर्शा-असातोदयविपाकिनो भवन्तीति ॥७॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो वैरवाला है, उसे वैरी कहते हैं। वह जीवों का घात करनेवाला पुरुष, सैकड़ों जन्मों तक चलनेवाला वैर उत्पन्न करता है। उस एक वैर के कारण फिर वह अनेको वैरों से पकड़ा जाता है, अर्थात् वह वैर परम्परा का पात्र होता है क्योंकि सावधानुष्ठान, पाप के साथ चलते हैं और वे विपाक काल में दुःख उत्पन्न करते हैं अर्थात् इनका विपाक असातावेदनीय का उदय होता है ॥७॥



संपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो ।

रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं

॥८॥

छाया - सम्परायं णियच्छन्त्यात्मदुष्कृतकारिणः । रागद्वेषाश्रिता बालाः, पापं कुर्वन्ति ते बहु ॥

अन्वयार्थ - (अत्तदुक्कडकारिणो) स्वयं पाप करनेवाला जीव, (संपरायं णियच्छंति) साम्प्रतयिक कर्म बांधते हैं (रागदोसस्सिया ते बाला बहु पावं कुव्वंति) तथा राग और द्वेष के आश्रय से वे अज्ञानी जीव बहुत पाप करते हैं।

भावार्थ - स्वयं पाप करनेवाले जीव, साम्परायिक कर्म बाँधते हैं । तथा रागद्वेष के स्थानभूत वे अज्ञानी बहुत पाप करते हैं-

टीका - 'सम्परायं णियच्छंती' त्यादि, द्विविधं कर्म-ईर्यापथं साम्परायिकं च, तत्र सम्पराया-बादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परायिकं तत् जीवोपमर्दकत्वेन वैरानुषङ्गितया 'आत्मदुष्कृतकारिणः' स्वपापविधायिनः सन्तो 'नियच्छन्ति' बध्नन्ति, तानेव विशिनष्टि-'रागद्वेषाश्रिताः' कषायकलुषितान्तरात्मानः सदसद्विवेकविकलत्वात् बाला इव बालाः, ते चैवम्भूताः 'पापम्' असद्वेद्यं 'बहु' अनन्तं 'कुर्वन्ति' विदधति ॥८॥

टीकार्थ - कर्म दो प्रकार के हैं- ईर्यापथ और साम्परायिक । सम्परायनाम बादरकषाय का है (वह बहुत क्रोध वगैरह है) उससे दुष्ट कृत्य होता है तथा जीवों की हिंसा होती है और कर्म बाँधा जाता है । स्वयं पाप करके जीव, इस कर्म को बाँधता है । उन पाप करनेवाले पुरुषों का विशेषण बताते हैं- राग और द्वेष के आश्रय, तथा कषाय से मलिन आत्मावाले पुरुष सद् और असत् के विवेक से हीन होने के कारण बालक के समान अज्ञानी हैं, वे मूर्ख जीव बहुत पाप करते हैं ।



- एवं बालवीर्यं प्रदर्शयौपसंजिघृक्षुराह-

- इस प्रकार बालवीर्य का वर्णन करके अब उसकी समाप्ति करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेदितं ।

इत्तो अकम्मविरियं, पण्डियाणं सुणेह मे

॥९॥

छाया - एतत् सकर्मवीर्यं, बालाणाम्बुत्तु पवेदितम् । अतोऽकर्मवीर्यं पण्डिताणां शृणुत मे ॥

अन्वयार्थ - (एयं) यह (बालाणं तु) अज्ञानियों का (सकम्मवीरियं) सकर्मवीर्य (पवेदितं) कहा गया है (इत्तो) अब यहां से (पण्डियाणं) उत्तम साधुओं का (अकम्मवीरियं) अकर्मवीर्य (मे) मेरे से (सुणेह) सुनो ।

भावार्थ - यह अज्ञानियों का सकर्मवीर्य कहा गया है, अब यहां से पण्डितों का अकर्मवीर्य मेरे से सुनो ।

टीका - 'एतत्' यत् प्राक् प्रदर्शितं, तद्यथा-प्राणिनामतिपातार्थं शस्त्रं, शास्त्रं वा केचन शिक्षन्ते, तथा परे विद्यामन्त्रान् प्राणिबाधकानधीयते, तथाऽन्ये मायाविनो नानाप्रकारां मायां कृत्वा कामभोगार्थमारम्भान् कुर्वते, केचन पुनरपरे वैरिणस्तत्कुर्वन्ति येन वैरैरनुबध्यन्ते (ते) तथाहि-जमदग्निना स्वभार्याऽकार्यव्यतिकारे कृतवीर्यो विनाशितः, तत्पुत्रेण तु कार्तवीर्येण पुनर्जमदग्निः, जमदग्निसुतेन परशुरामेण सप्त वारान् निःक्षत्रा पृथिवी कृता, पुनः कार्तवीर्यसुतेन तु सुभूमेन त्रिःसप्तकृत्वो ब्राह्मणा व्यापादिताः, तथा चोक्तम्-

“अपकारसमेन कर्मणा न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् ।

अधिकां कुरु वै(तेऽ)रियातनां द्विषतां जातमशेषमुद्धरेत् ॥९॥”

तदेवं कषायवशगाः प्राणिनस्तत्कुर्वन्ति येन पुत्रपौत्रादिष्वपि वैरानुबन्धो भवति, तदेतत्सकर्मणां बालानां वीर्यं तुशब्दात्प्रमादवतां च प्रकर्षेण वेदितं प्रवेदितं प्रतिपादितमितियावत्, अत ऊर्ध्वमकर्मणां-पण्डितानां यद्वीर्यं तन्मे-मम कथयतः शृणुत यूयमिति ॥९॥

टीकार्थ - यह जो पहले कहा गया है कि प्राणियों का घात करने के लिए कोई शस्त्र और कोई शास्त्र सीखते हैं तथा दूसरे, प्राणियों को पीड़ा देनेवाली विद्या और मन्त्रों का अध्ययन करते हैं, एवं कितने कपटी नाना प्रकार के कपट करके कामभोग के लिए आरम्भ करते हैं तथा कितने ही ऐसा कर्म करते हैं कि वे वैर की परम्परा बाँधते हैं, जैसे कि-जमदग्नि ने उनकी स्त्री के साथ अनुचित व्यवहार करने के कारण कृतवीर्य को जान से मार डाला था और इस वैर के कारणकृतवीर्य के पुत्र कार्तवीर्य ने जमदग्नि को मार डाला फिर जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने सातवार पृथिवी को क्षत्रिय रहित कर दिया, फिर कार्तवीर्य के पुत्र सुभूम ने ईक्कीस बार ब्राह्मणों का विनाश किया था । कहा है कि-

(अपकारसमेन) अपकार का बराबर बदला लेने से शक्तिमान् मनुष्य की तृप्ति नहीं होती है, अतः शत्रु को अधिक पीड़ा देनी चाहिए, यहाँ तक कि-जितने दुश्मन हैं, सभी को उखाड़ डालना चाहिए (जिससे कोई फिर सम्मुख न आवे)

इस प्रकार कषाय के वशीभूत पुरुष ऐसा चिंतन कर ऐसे कार्य्य करते हैं, जिससे बेटे और पोते आदि में भी वैर चलता रहता है। सो इस प्रकार सकर्मी (पाप) अज्ञानियों का तथा 'च' शब्द से प्रमादी पुरुषों का वीर्य्य (बहादुरी) कहा गया है। अब यहां से पण्डितों का वीर्य्य मैं बताता हूं सो तुम सुनो ॥१॥



- यथाप्रतिज्ञातमेवाह-

- अब शास्त्रकार अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कहते हैं-

दद्विए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे ।

पणोल्लं पावकं कम्मं सल्लं कंतति अंतसो

॥१०॥

छाया - द्रव्यो बन्धनाब्धुक्तः, सर्वतश्छिन्नबन्धनः । प्रणुद्य पापकं कर्म, शल्यं कृन्तत्यन्तः ॥

अन्यवार्थ - (दद्विए) मुक्ति जाने योग्य पुरुष (बंधणुम्मुक्के) बन्धन से मुक्त (सव्वओ छिन्नबंधणे) तथा सब प्रकार से बन्धन को नष्ट किया हुआ (पावकं कम्मं पणोल्लं) पापकर्म को छोड़कर (अंतसो सल्लं कंतति) अपने समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है ।

भावार्थ - मुक्ति जाने योग्य पुरुष सब प्रकार के बन्धनों को काटकर एवं पापकर्म को दूर करके अपने आठ प्रकार के कर्मों को काट डालता है ।

टीका - 'द्रव्यो' भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात् रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थः, यदिवा वीतराग इव वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः, तथा चोक्तम्-

“किं सक्का वीतुं जे सरागधम्ममि कोई अकसायी । संतेवि जो कसाए निगिण्हइ सोऽपि तत्तुल्लो ॥१॥”

स च किम्भूतो भवतीति दर्शयति बन्धनात्-कषायात्मकान्मुक्तो बन्धनोन्मुक्तः, बन्धनत्वं तु कषायाणां कर्मस्थिति-हेतुत्वात्, तथा चोक्तम्- 'बंधडिई' 'कसायवसा' कषायवशात् इति, यदिवा बन्धनोन्मुक्त इव बन्धनोन्मुक्तः, तथाऽपरः 'सर्वतः' सर्वप्रकारेण सूक्ष्मबादरूपं 'छिन्नम्' अपनीतं 'बन्धनं' कषायात्मकं येन स छिन्नबन्धनः, तथा 'प्रणुद्य' प्रेर्य 'पापं' कर्म कारणभूतान्वाऽऽश्रवानपनीय शल्यवच्छल्यं-शेषकं कर्म तत् कृन्तति-अपनयति अन्तःशो-निरवशेषतो विघटयति, पाठान्तरं वा 'सल्लं कंतइ अप्पणो'ति शल्यभूतं यदष्टप्रकारं कर्म तदात्मनः सम्बन्धि कृन्तति-छिनत्तीत्यर्थः ॥१०॥

टीकार्थ - मुक्ति जाने योग्य भव्य पुरुष को 'द्रव्य' कहते हैं क्योंकि 'द्रव्यं च भव्ये' यह पाणिनि का सूत्र है । (भव्य अर्थ में द्रव्य पद का प्रयोग होता है, यह इसका अर्थ है) अथवा रागद्वेष रहित होने के कारण जो पुरुष द्रव्यभूत यानी कषाय रहित है, वह द्रव्य है अथवा जो पुरुष वीतराग के समान अल्प कषायवाला है उसे द्रव्य कहते हैं, जैसा कि कहा है-

(किं सक्का) अर्थात् सराग धर्म में रहनेवाला (छट्टा सातवाँगुणस्थानवाला) कोई पुरुष कषाय रहित है क्या यह कहा जा सकता है ? उत्तर हाँ, कषाय होने पर भी जो पुरुष उनको उदय में आने से दबा देता है, वह भी वीतराग के समान ही है ।

वह पुरुष कैसा होता है ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं, वह पुरुष, कषायरूप बन्धन से मुक्त (छुटा हुआ) है, क्योंकि कषाय होनेपर ही कर्म का स्थितिकाल बँधता है इसलिए कषाय ही बन्धन है । जैसा कि कहा है "बंधडिई कसायवसा" अर्थात् बन्धन की स्थिति कषाय के वश है । अथवा वह पुरुष बन्धन से छूटे हुए पुरुष के समान होने के कारण बन्धन से मुक्त है । तथा वह, दूसरे सूक्ष्म और बादरूप कषायों को छेदन करने के कारण छिन्नबन्धन

1. किं शक्या वक्तुं यत्सारागधर्मे कोऽप्यकषायः । सतोऽपि यः कषायात्रिगुह्यति सोऽपि तत्तुल्यः ॥१॥ 2. बन्धस्थिति कषायवशात् ॥

है। तथा वह, पापों को दूर करके उनके मूल कारण आश्रवों को हटाकर लगे हुए काँटे की तरह बाकी रहे हुए कर्मों को (जो आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं) निःशेष उखाड़ फेंकता है। यहां “सल्लं कंतइ अप्पणो” यह पाठान्तर है। इसका अर्थ यह है कि वह पुरुष लगे हुए काँटे की तरह अपने आत्मा के आठ प्रकार के कर्मों का छेदन करता है ॥१०॥



- यदुपादाय शल्यमपनयति तद्दर्शयितुमाह-

- वह पुरुष जिसके आश्रय से शल्यरूप कर्मों का छेदन करता है, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए ।

भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा

॥११॥

छाया - नेतारं स्वाख्यातमुपादाय समीहते । भूयो भूयो दुःखावासमशुभत्वं तथा तथा ॥

अन्यवार्थ - (नेयाउयं सुयक्खायं) सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र को तीर्थङ्करों ने मोक्ष का नेता (मोक्ष देनेवाला) कहा है (उवादाय समीहए) विद्वान् पुरुष, उसे ग्रहणकर मोक्ष के लिए उद्योग करते हैं (भुज्जो भुज्जो दुहावासं) बाल वीर्य बार-बार दुःख देता है (तहा तहा असुहत्तं) बालवीर्यवाला पुरुष ज्यों ज्यों दुःख भोगता है, त्यों त्यों उसके अशुभ विचार ही बढ़ते हैं ।

भावार्थ - सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र मोक्ष को प्राप्त करानेवाले हैं, यह तीर्थङ्करों ने कहा है, इसलिए बुद्धिमान पुरुष इन्हें ग्रहण कर मोक्ष की चेष्टा करते हैं । बालवीर्य, जीव को बार-बार दुःख देता है और ज्यों ज्यों बालवीर्यवाला जीव दुःख भोगता है, त्यों त्यों उसके अशुभ विचार बढ़ते जाते हैं ।

टीका - नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन्, स चात्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः श्रुतचारित्र-रूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलत्वान् गृह्यते, तं मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थंकरादिभिराख्यातं स्वाख्यातं तम् ‘उपादाय’ गृहीत्वा ‘सम्यग्’ मोक्षाय ईहते-चेष्टते ध्यानाध्ययनादावुद्यमं विधत्ते, धर्मध्यानारोहणालम्बनायाह-‘भूयो भूयः’ पौनःपुन्येन यद्बालवीर्यं तदतीतानागतानन्तभवग्रहणेषु (ग्र० ५०००) दुःखमावासयतीति दुःखावासं वर्तते, यथा यथा च बालवीर्यवान् नरकादिषु दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाध्यवसायित्वादशुभमेव प्रवर्धते इत्येवं संसारस्वरूपमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मध्यानं प्रवर्तत इति ॥११॥

टीकार्थ - जो अच्छे रास्ते से ले जाता है, उसे नेता या नायक कहते हैं (यहां ‘नेता’ पद में ताच्छीलिक तृन् प्रत्यय हुआ है) वह नेता यहाँ सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग है अथवा श्रुत और चारित्ररूप धर्म का यहाँ नेता पद से ग्रहण होता है क्योंकि वह जीव को मोक्ष में ले जाता है । उस मार्ग को तीर्थङ्करों ने मोक्ष का नेता कहा है । अतः बुद्धिमान् पुरुष उसे ग्रहण करके ध्यान और अध्ययन आदि में प्रयत्न करते हैं। अब शास्त्रकार जीव को धर्मध्यान पर चढ़ने के लिए कहते हैं (बुद्धिमान् पुरुष यह सोचे कि) बालवीर्य अतीत और अनागत अनन्त भवों में बार-बार दुःखावास है अर्थात् बालवीर्यवाला ज्यों-ज्यों नरक आदि दुःख स्थानों में भटकता फिरता है, त्यों-त्यों उसका अशुभ अध्यवसाय होने से अशुभ कर्म ही बढ़ता है । इस प्रकार जो पुरुष संसार का दुःखमय स्वरूप विचारता है, उसका धर्मध्यान में चित्त जमता है, उसे ही धर्म ध्यान कहते हैं ॥११॥



- साम्प्रतमनित्यभावनामधिकृत्याह-

- अब शास्त्रकार अनित्य भावना के विषय में कहते हैं-

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।

अणियते ^१अयं वासे, णायएहि सुहीहि य

॥१२॥

१. अनिइए य संवासे इति पाठो व्याख्याकृतः, एवं च चकारावित्यादेर्नासंगतिर्व्याख्यापाठस्य ।

छाया - स्थानिनो विविधस्थानानि त्यक्ष्यन्ति न संशयः । अनित्योऽयं वासः, ज्ञातिभिः सुहृद्भिः ॥

अन्वयार्थ - (ठाणी) उच्च पद पर बैठे हुए सभी (विविधठाणाणि चइस्संति न संसओ) अपने-अपने स्थानों को छोड़ देंगे इसमें सन्देह नहीं है (णाइएहि सुहीहिय) तथा ज्ञाति और मित्रों के साथ (अयं वासे) जो संवास है, वह भी (अणियते) अनित्य है ।

भावार्थ - स्थानों के अधिपति लोग एक दिन अवश्य अपने स्थानों को छोड़ देंगे तथा ज्ञाति और मित्रों के साथ संवास भी अनित्य है ।

टीका - स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः, तद्यथा-देवलोके इन्द्रस्तत्सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पार्षद्यादीनि, मनुष्येष्वपि चक्रवर्तिबलदेववासुदेवमहामण्डलिकादीनि, तिर्यक्ष्वपि यानि कानिचिदिष्टानि भोग-भूम्यादौ स्थानानि तानि सर्वाण्यपि विविधानि-नानाप्रकाराण्युत्तमाधममध्यमानि ते स्थानिनस्त्यक्ष्यन्ति, नात्र संशयो विधेय इति, तथा चोक्तम्-

“अशाश्वतानि स्थानानि सर्वाणि दिवि चेह च । देवासुरमुनुष्याणामृद्ध्यथ सुखानि च ॥१॥”

तथाऽयं ‘ज्ञातिभिः’ बन्धुभिः सार्धं सहायैश्च मित्रैः सुहृद्भिः संवासः सोऽनित्योऽशाश्वत इति, तथा चोक्तम्-

“सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः, सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः ।

सुचिरमपि सुपुष्टं याति नाशं शरीरं, सुचिरमपि विचिन्त्यो धर्म एकः सहायः ॥१॥”

इति, चकारौ धनधान्यद्विपदचतुष्पदशरीराद्यनित्यत्वभावनार्थं (यं) अशरणाद्यशेषभावनार्थं चानुक्तसमुच्चयार्थ-मुपात्ताविति ॥१२॥ अपिच-

टीकार्थ - जो स्थान (उच्चपद) वाले हैं, उनको स्थानी कहते हैं, जैसे देवलोक में इन्द्र तथा उनके सामानिक तैत्तिष पार्षद्य आदि, स्थानी हैं । इसी तरह मनुष्यों में, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, और महामण्डलिक (बड़ा राजा) आदि स्थानी अर्थात् उच्चपद वाले हैं । इसी तरह तिर्यक्षों में भी जानना चाहिए । इस भोगभूमि आदि में जो कोई स्थान हैं, वे सभी नाना प्रकार के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट हैं, उन स्थानों को उनके स्वामी एक दिन छोड़ देंगे इसमें कोई संशय नहीं है । जैसाकि कहा है-

(अशाश्वतानि) अर्थात् जितने उच्च पद स्वर्गलोक अथवा इस लोक में हैं, वे सभी अशाश्वत यानी थोड़े काल के लिए हैं, इसी तरह देवता, असुर और मनुष्यों की ऋद्धि तथा सुख भी थोड़े काल के हैं (अतः अहङ्कार या ममता न करनी चाहिए)

तथा ज्ञाति यानी कुटुम्बवर्ग और प्रेमी मित्रों के साथ जो संवास है, वह भी अनित्य है । जैसा कि कहा है-

(सुचिरं) बहुत काल तक बान्धवों के साथ रहकर अन्त में सदा के लिए वियोग होता है । बहुत काल तक भोगों को भोगकर भी तृप्ति नहीं होती है, बहुत काल तक शरीर को पोषण किया है, तो भी वह नाश को प्राप्त होता है परन्तु यदि अच्छी तरह धर्म की चिन्ता की हो तो वही एक इस लोक तथा परलोक में सहायता करता है ।

इस गाथा में दो ‘च’ शब्द आये हैं, उनका अभिप्राय यह है कि-धन, धान्य, द्विपद और चतुष्पद तथा शरीर वगैरह में अनित्यता की भावना करनी चाहिए, तथा अशरण आदि बारह भावनार्यें करनी चाहिए । एवं जो बात कहने से बाकी रह गयी है, उसको भी जान लेने के लिए दो च शब्द आये हैं (जैसे कि-धन, धान्य तुम को छोड़कर चले जायेंगे अथवा तुम उन्हें छोड़कर चले जाओगे इसलिए ममत्व छोड़ो तथा उनके लिए अन्याय न करो) ॥१२॥



एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।

आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं (५००)

॥१३॥

छाया - एवमादाय मेधावी, आत्मनो गृद्धिमुद्धरेत् । आर्यमुपसंपद्येत्, सर्वधर्मैरकोपितम् ॥

अन्वयार्थ - (मेधावी) बुद्धिमान्, पुरुष, (एवमादाय) यह विचारकर (अपणो गिद्धिमुद्धरे) अपनी ममत्व बुद्धि को हटा दे, तथा (सबधम्ममकोवियं) सभी कुतीर्थिक धर्मों से दूषित नहीं किये हुए (आरियं उवसंपज्जे) इस आर्य धर्म को ग्रहण करे ।

भावार्थ - सभी उच्चपद अनित्य हैं, यह जानकर विवेकी पुरुष अपनी ममता को उखाड़ देंगे तथा सब कुतीर्थिक धर्मों से अदूषित इस आर्य धर्म को (श्रुत और चारित्र को) ग्रहण करे ।

टीका - अनित्यानि सर्वाण्यपि स्थानानीत्येवम् 'आदाय' अवधार्य 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वा आत्मनः सम्बन्धिनी 'गृद्धि' गाद्धर्यं ममत्वम् 'उद्धरेद्' अपनयेत्, ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं ममत्वं क्वचिदपि न कुर्यात्, तथा आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो-मोक्षमार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, आर्याणां वा-तीर्थकृदादीनामयमार्यो-मार्गस्तम् 'उपसम्पद्येत्' अधितिष्ठेत् समाश्रयेदिति, किम्भूतं मार्गमित्याह-सर्वैः कुतीर्थिकधर्मैः 'अकोपितो' अदूषितः स्वमहिम्नैव दूषयितुमशक्यत्वात् प्रतिष्ठां गतः (तं), यदिवा-सर्वधर्मैः-स्वभावैरनुष्ठानरूपैरगोपितं-कुत्सितकर्त्तव्याभावात् प्रकटमित्यर्थः ॥१३॥

टीकार्थ - मर्यादा में रहनेवाला अथवा भले बुरे का विवेक रखनेवाला पुरुष, सभी स्थान अनित्य हैं, यह विचारकर अपनी ममता को त्याग देवे । वह कभी भी ममता न करे कि "यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ" । तथा जो त्यागने योग्य सभी अधर्मों से दूर रहता है, उसे आर्य धर्म कहते हैं, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग है अथवा तीर्थङ्कर आदि आर्य पुरुषों का जो मार्ग है, उसे आर्य कहते हैं, उसे बुद्धिमान पुरुष ग्रहण करें, वह मार्ग कैसा है ? सो शास्त्रकार बताते हैं-वह मार्ग सभी कुतीर्थिक धर्मों से दूषित करने योग्य नहीं है, क्योंकि वह धर्म अपनी महिमा से ही निन्दा के अयोग्य और उत्तमता को प्राप्त है अथवा वह धर्म, सभी धार्मिक क्रियाओं से अगोपित है अर्थात् कोई भी बुरी क्रिया न होने से वह प्रकट है ॥१३॥

-सुधर्मपरिज्ञानं च यथा भवति तद्दर्शयितुमाह-

-मनुष्य को उत्तम धर्म का ज्ञान जिस प्रकार होता है, उसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

सह संमइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा ।

समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खायपावए

॥१४॥

छाया - सह सम्मत्त्या ज्ञात्वा, धर्मसारं श्रुत्वा वा । समुपस्थितस्त्वनगारः प्रत्याख्यातपापकः ॥

अन्वयार्थ - (सह संमइए) अच्छी बुद्धि के द्वारा (सुणेत्तु वा) अथवा सुनकर (धम्मसारं) धर्म के सच्चे स्वरूप को (णच्चा) जानकर (समुवट्ठिए अणगारे) आत्मा की उन्नति करने में तत्पर साधु, (पच्चक्खायपावए) पाप का प्रत्यख्यान करके निर्मल आत्मावाला होता है ।

भावार्थ - निर्मल बुद्धि के द्वारा अथवा गुरु आदि से सुनकर, धर्म के सत्य स्वरूप को जानकर, ज्ञान आदि गुणों के उपार्जन में प्रवृत्त साधु पाप को छोड़कर निर्मल आत्मावाला होता है ।

टीका - धर्मस्य सारः-परमार्थो धर्मसारस्तं 'ज्ञात्वा' अवबुध्य, कथमिति दर्शयति-सह सन्-मत्या स्वमत्या वा-विशिष्टाभिनिबोधकज्ञानेन श्रुतज्ञानेनावधिज्ञानेन वा, स्वपरावबोधकत्वात् ज्ञानस्य, तेन सह, धर्मस्य सारं ज्ञात्वेत्यर्थः, अन्येभ्यो वा-तीर्थकरणगणधराचार्यादिभ्यः ३इलापुत्रवत् श्रुत्वा चिलातपुत्रवद्वा धर्मसारमुपगच्छति, धर्मस्य वा सारं-चारित्रं तत्प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्तौ च पूर्वोपात्तकर्मक्षयार्थं पण्डितवीर्यसम्पन्नो रागादिबन्धनविमुक्तो बालवीर्यरहित उत्तरोत्तरगुणसम्पत्तये समुपस्थितोऽनगारः प्रवर्धमानपरिणामः प्रत्याख्यातं-निराकृतं पापकं-सावधानुष्ठानरूपं येनासौ प्रत्याख्यानपापको भवतीति ॥१४॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - धर्म का सार यानी परमार्थ (सच्चे स्वरूप) को जानकर, (प्र.) किस प्रकार ? (उ.) वह बताते

हैं, उत्तम बुद्धि के द्वारा, अथवा अपनी विशेष बुद्धि के द्वारा, या श्रुत ज्ञान के द्वारा, अथवा अवधिज्ञान के द्वारा (ज्ञान अपने और दूसरे के स्वरूप का बोधक है) धर्म के सार को जानकर यह अर्थ है। अथवा तीर्थङ्कर, गणधर और आचार्य आदि से इलापुत्र की तरह, अथवा दूसरे से सुनकर चिलाती पुत्र की तरह धर्म का सार जानता है अथवा धर्म के साररूप चारित्र को प्राप्त करता है। चारित्र को प्राप्त करके पहले बाँधे हुए कर्मों का क्षय करने के लिए पण्डित वीर्य से युक्त होकर तथा रागादि बन्धनों से मुक्त और बाल वीर्य रहित साधु उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि के लिए बढ़ते परिणामवाला पाप का प्रत्याख्यान करके निर्मल होता है ॥१४॥



जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।

तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए

॥१५॥

छाया - यं कश्चिदुपक्रमं जानीयादायुःक्षेमस्थात्मनः । तस्यैवान्तरा क्षिप्रं शिक्षां शिक्षेत् पण्डितः ॥

अन्वयार्थ - (पंडिए) विद्वान् पुरुष (अप्पणो आउक्खेमस्स) अपनी आयु का (जं किंचुवक्कमं जाणे) घात यदि जाने तो (तस्सेव अंतरा) उसके अन्दर ही (खिप्पं) शीघ्र (सिक्खं) संलेखनारूप शिक्षा (सिक्खेज्ज) ग्रहण करे ।

भावार्थ - विद्वान् पुरुष किसी प्रकार अपनी आयु का क्षयकाल यदि जाने तो उसके पहले ही संलेखनारूप शिक्षा को ग्रहण करे ।

टीका - उपक्रम्यते-संवर्त्यते क्षयमुपनीयते आयुर्येन स उपक्रमस्तं यं कश्चन जानीयात्, कस्य ?- 'आयुःक्षेमस्य' स्वायुष इति, इदमुक्तं भवति-स्वायुष्कस्य येन केनचित्प्रकारेणोपक्रमो भावी यस्मिन् वा काले तत्परिज्ञाय तस्योपक्रमस्य कालस्य वा अन्तराले क्षिप्रमेवानाकुलो जीवितानाशंसी 'पण्डितो' विवेकी संलेखनारूपां शिक्षां भक्तपरिज्ञेज्जितमरणादिकां वा शिक्षेत्, तत्र ग्रहणशिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायाऽऽसेवनाशिक्षया त्वासेवेतेति ॥१५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जिससे आयु क्षय को प्राप्त होता है, उसे उपक्रम कहते हैं। यदि साधु किसी प्रकार अपनी आयु का उपक्रम (विनाश कारण) जाने अर्थात् वह, अपनी आयु का जिस प्रकार नाश होनेवाला है अथवा जिस काल में क्षय होनेवाला है, उसे जानकर उस काल के पहले ही आकुलता छोड़कर तथा जीने की इच्छा से रहित होकर संलेखनारूप शिक्षा को अथवा भक्तपरिज्ञा (अन्न अथवा अन्नपानी दोनों का त्याग) और इज्जितमरण (मर्यादित जगह में रहकर अन्नपानी का त्याग करना आदि परन्तु शरीर की सेवा कराना) आदि शिक्षा को ग्रहण करे। उसमें ग्रहण शिक्षा के द्वारा मरण विधि को ठीक-ठीक जानकर आसेवना शिक्षा से उसका सेवन करे ॥१५॥



जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे ।

एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे

॥१६॥

छाया - यथा कूर्मः स्वाङ्गानि, स्वके देहे समाहरेत् । एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥

अन्वयार्थ - (जहा कुम्मे सअंगाई सए देहे समाहरे) जैसे कछुवा अपने देह को सीकोड़ लेता है (एवं मेधावी) इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष, (पावाइं) पापों को (अज्झप्पेण समाहरे) धर्म ध्यान आदि की भावना से संकुचित कर दे ।

भावार्थ - जैसे कछुवा अपने अङ्गों को अपनी देह में संकुचित कर लेता है, इसी तरह विद्वान् पुरुष धर्म ध्यान की भावना से अपने पापों को संकुचित कर दे ।

टीका - 'यथे' त्युदाहरणप्रदर्शनार्थः यथा 'कूर्मः' कच्छपः स्वान्यङ्गानि-शिरोधरादीनि स्वके देहे 'समाहरेद्' गोपयेद्-अव्यापाराणि कुर्याद् 'एवम्' अनयैव प्रक्रियया 'मेधावी' मर्यादावान् सदसद्विवेकी वा 'पापानि' पापरूपाण्यनुष्ठानानि 'अध्यात्मना' सम्यग्धर्मध्यानादिभावनया 'समाहरेत्' उपसंहरेत्, मरणकाले चोपस्थिते सम्यक् संलेखनया संलिखितकायः

पण्डितमरणेनात्मानं समाहरेदिति ॥१६॥ संहरणप्रकारमाह-

टीकार्थ - यथा शब्द उदाहरण बताने के लिए है । जैसे कछुवा, अपनी, गर्दन आदि अङ्गों को अपने शरीर में छिपा लेता है अर्थात् उनको व्यापार रहित कर देता है, इसी तरह मर्यादा में रहनेवाला भले और बुरे का विचार करनेवाला पुरुष, पापरूप अनुष्ठानों को सम्यग् धर्म ध्यान की भावना से त्याग देवे तथा मरण काल आने पर संलेखना के द्वारा शरीर को शुद्ध करके पण्डित मरण से अपना शरीर छोड़े ॥१६॥



साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेंदियाणि य ।

पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं

॥१७॥

छाया - संहरेद्धस्तपादश्च, मनः पञ्चेन्द्रियाणि च । पापकञ्च परिणामं, भाषादोषञ्च तादृशम् ॥

अन्वयार्थ - (हत्थपाए य साहरे) साधु अपने हाथ पैर को संकुचित (स्थिर) रखे । (मणं पंचेंदियाणि य) और मन तथा पाँच इन्द्रियों को भी उनके विषयों से निवृत्त रखे (पावकं परीणामं तारिसं भासादोसं च) तथा पापरूप परिणाम और पापमय भाषादोष को भी वर्जित करे ।

भावार्थ - साधु अपने हाथ पैर को स्थिर रखे, जिससे उनके द्वारा किसी जीव को दुःख न हो, तथा मन के द्वारा बुरा संकल्प और पाँच इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष, तथा पाप परिणाम और पापमय भाषादोष को वर्जित करे ।

टीका - पादपोषगमने इङ्गिनीमरणे भक्तपरिज्ञायां शेषकाले वा कूर्मवद्धस्तौ पादौ च 'संहरेद्' व्यापारात्रिवर्त्तयेत्, तथा 'मनः' अन्तःकरणं तच्चाकुशलव्यापारेभ्यो निवर्त्तयेत्, तथा-शब्दादिविषयेभ्योऽनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतया श्रोत्रेन्द्रियादीनि पञ्चापीन्द्रियाणि च शब्दः समुच्चये तथा पापकं परिणाममैहिकामुष्मिकाशंसारूपं संहरेदित्येवं भाषादोषं च 'तादृशं' पापरूपं संहरेत्^१, मनोवाक्कायगुप्तः सन् दुर्लभं सत्संयममवाप्य पण्डितमरणं वाऽशेषकर्मक्षयार्थं सम्यगनुपालयेदिति ॥१७॥

टीकार्थ - पादप उपगमन अर्थात् कटे हुए वृक्ष की तरह निश्चेष्ट रहकर सेवा और अन्न पानी का त्यागरूप अनशन में तथा इङ्गित मरण अर्थात् मर्यादित क्षेत्र में रहकर सेवा कराना परन्तु अन्न पानी का त्यागरूप अनशन में या दूसरे समय में साधु अपने हाथ पैर को कछुवे की तरह संकुचित करे अर्थात् उनके द्वारा प्राणियों को दुःख देनेवाला व्यापार न करे तथा मन को अकुशल व्यापारों (बुरे संकल्पों) से निवारण करे, एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल शब्द आदि विषयों में रागद्वेष छोड़कर इन्द्रियों को संकुचित करे । (च शब्द समुच्चय अर्थ में है) तथा इसलोक परलोक में सुख प्राप्ति की कामनारूप पापमय परिणाम को तथा पापमय भाषा दोष को साधु वर्जित करे । साधु मन, वचन और काय से गुप्त रहता हुआ दुर्लभ सत् संयम को पाकर समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए पण्डित मरण की प्रतीक्षा करे ॥१७॥



- तं च संयमे पराक्रममाणं कश्चित् पूजासत्कारादिना निमन्त्रयेत्, तत्रात्मोत्कर्षो न कार्य इति दर्शयितुमाह-

- संयम में खूब उद्योग करते हुए उस उत्तम साधु को देखकर यदि कोई (बड़ा आदमी) पूजा सत्कार वगैरह से निमन्त्रण करे तो साधु को अहङ्कार न करना चाहिए यह शास्त्रकार बतलाते हैं-

अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए ।

सातागारवणिहुए, उवसंते णिहे चरे

॥१८॥

छाया - अणुं मानञ्च मायाञ्च, तत्परिज्ञाय पण्डितः । सातागौरवणिभृत उपशान्तोऽनिहतश्चरेत् ॥

अन्वयार्थ - (अणु माणं च मायं च) साधु अल्प भी मान और माया न करे (तं पडिन्नाय) मान और माया का बुरा फल जानकर (पंडिए) विद्वान् पुरुष (सातागारवणिहुए) सुखशीलता से रहित (उवसंते) तथा शान्त (अणिहे) और माया रहित होकर (चरे) विचरे ।

१. उपसंहरेत् प्र० ।

भावार्थ - साधु अल्प भी मान और माया न करे । मान और माया का फल बुरा है । इस बात को जानकर पण्डित पुरुष, सुख भोग की तृष्णा न करे एवं क्रोधादि को छोड़कर शान्त और माया रहित होकर विचरे ।

टीका - चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेन 'अणुरपि' स्तोकोऽपि 'मान' अहङ्कारो न विधेयः, किमुत महान् ?, यदिवोत्तममरणोपस्थितेनोग्रतपोनिष्ठसदेहेन वा अहोऽहमित्येवंरूपः स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः, तथा पण्डुरार्ययेव स्तोकाऽपि माया न विधेया, किमुत महती ?, इत्येवं क्रोधलोभावपि न विधेयाविति, एवं द्विविधयापि परिज्ञया कषायांस्तद्विपाकांश्च परिज्ञाय तेभ्यो निवृत्तिं कुर्यादिति, पाठान्तरं वा 'अइमाणं च मायं च, तं परिणाय पंडिए' अतीव मानोऽतिमानः सुभूमादीनामिव तं दुःखावहमित्येवं ज्ञात्वा परिहरेत्, इदमुक्तं भवति-यद्यपि सरागस्य कदाचिन्मानोदयः स्यात्तथाप्युदय-प्राप्तस्य विफलीकरणं कुर्यादित्येवं मायायामप्यायोज्यं, पाठान्तरं वा 'सुयं मे इहमेगेसिं, एयं वीरस्य वीरियं' येन बलेन सङ्ग्रामशिरसि महति सुभटसंकटे परानीकं विजयते तत्परमार्थतो वीर्यं न भवति, अपि तु येन कामक्रोधादीन् विजयते तद्वीरस्य-महापुरुषस्य वीर्यम् 'इहैव' अस्मिन्नेव संसारे मनुष्यजन्मनि वैकेषां तीर्थकरादीनां सम्बन्धि वाक्यं मया श्रुतं, पाठान्तरं वा 'आयतद्वं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं' आयतो-मोक्षोऽपर्यवसितावस्थानत्वात् स चासावर्थश्च तदर्थो वा-तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः स आयतार्थस्तं सुहृदादाय-गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधादिजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्यमिति, यदुक्तमासीत् 'किं नु वीरस्स वीरत्व'मिति तद्यथा भवति तथा व्याख्यातं, किञ्चान्यत्-सातागौरवं नाम सुखशीलता तत्र निभूतः-तदर्थमनुद्युक्त इत्यर्थः, तथा क्रोधाग्निजयादुपशान्तः-शीतीभूतः शब्दादिविषयेभ्योऽप्यनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतयोपशान्तो जितेन्द्रियत्वात्तेभ्यो निवृत्त इति, तथा निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा-माया न विद्यते सा यस्यासावनिहो मायाप्रपञ्चरहित इत्यर्थः, तथा मानरहितो लोभवर्जित इत्यपि द्रष्टव्यं, स चैवम्भूतः संयमानुष्ठानं 'चरेत्' कुर्यादिति, तदेवं मरणकालेऽन्यदा वा पण्डितवीर्यवान् महाव्रतेषूद्यतः स्यात् । तत्रापि प्राणातिपातविरतिरेव गरीयसीतिकृत्वा तत्प्रतिपादनार्थमाह-

“उद्धमहे तिरियं वा जे पाणा तसथावरा । सत्त्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥३॥”

अयं च श्लोको न सूत्रादर्शेषु दृष्टः, टीकायां तु दृष्ट इति कृत्वा लिखितः, उत्तानार्थश्चेति ॥१८॥ किञ्च-

टीकार्थ - चक्रवर्ती आदि यदि साधु की सत्कार आदि से पूजा करे तो साधु अल्प भी अहङ्कार न करे फिर बहुत अहङ्कार की तो बात ही क्या है । अथवा मैं उत्तम मरण में उपस्थित हूँ तथा उग्र तप से कैसा तप शरीर हूँ, इस प्रकार थोड़ा भी गर्व साधु न करे । तथा पाण्डु आर्या के समान साधु थोड़ी भी माया न करे फिर बड़ी माया का तो कहना ही क्या है ?। इसी तरह क्रोध और लोभ भी न करे । इस प्रकार ज्ञपरिज्ञा (जानना) और प्रत्याख्यान परिज्ञा (वर्तना) रूप दोनों परिज्ञाओं से कषाय तथा उनके फल को जानकर उनका त्याग करे। यहां “अइमाणं च मायं च तं परिणाय पंडिए” यह पाठान्तर पाया जाता है । इसका अर्थ यह है कि मतिमान् पुरुष, अत्यन्त मान सुभूम की तरह दुःखदायी है, यह जानकर छोड़ देवे । आशय यह है कि सराग संयम में कदाचित् मान का उदय हो तो तुरन्त उसे विफल कर देवे अर्थात् दबा देवे इसी तरह माया आदि को भी दबा देवे । अथवा “सुयं मे इहमेगेसिं, एयं वीरस्स वीरियं” यह पाठान्तर यहां पाया जाता है । इसका अर्थ यह है कि युद्ध के अग्र भाग में बड़े बड़े सुभट पुरुषों के संकट में जिस बल के द्वारा शत्रु की सेना जीती जाती है वस्तुतः वह वीर्य नहीं है किन्तु जिसके द्वारा काम, क्रोध आदि जीते जाते हैं, वही पुरुष का सच्चा वीर्य है, यह मैंने इस संसार में अथवा मनुष्य भव में तीर्थङ्कर वगैरह उत्तम पुरुषों का वाक्य सुना है । अथवा “आयतद्वं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं” आयत, मोक्ष का नाम है क्योंकि उसके निवास का अन्त नहीं है, उस मोक्षरूप अर्थ को अथवा उस मोक्ष को देनेवाला सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग को आयतार्थ कहते हैं, उसे अच्छी रीति से ग्रहण करके जो पुरुष धीरता के बल से काम क्रोधादि को जीतने के लिए पराक्रम दिखाता है, वही उस वीर का वास्तविक वीर्य है । पहले जो प्रश्न किया था कि “वीर पुरुष की वीरता क्या है ?” उसका उत्तर इसके द्वारा दिया गया तथा इन्द्रियों के सुख भोग में तृष्णा करने को साता गौरव कहते हैं, साधु उसके लिए उद्योग न करे। तथा क्रोध

रूपी अग्नि को जीतकर साधु शीतल हो जाय अर्थात् अनुकूल या प्रतिकूल शब्दादि विषय यदि साधु के सामने आवें तो वह उनमें राग-द्वेष न करता हुआ जितेन्द्रिय होने के कारण उनसे निवृत्त रहे । एवं जिससे प्राणी वर्ग संसार में मारे जाते हैं, उसे 'निहा' कहते हैं, वह माया है । साधु उस माया के प्रपञ्च से अलग रहे। इसी तरह साधु मान और लोभ से भी पृथक् रहे, यह जानना चाहिए । इस प्रकार से साधु संयम का अनुष्ठान करे । मरण समय में अथवा अन्य समय में साधु पण्डित वीर्य्य से युक्त होकर महाव्रतों के पालन में तत्पर रहे। इन पांच महाव्रतों में प्राणातिपात से विरति ही बड़ी है, इसलिए इसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं कि "उद्धमहे" इत्यादि। यह श्लोक सूत्रादर्शों में नहीं पाया जाता है परन्तु टीका में मिलता है, इसलिए यहां लिख दिया है । इसका अर्थ स्पष्ट है ॥१८॥



पाणे य णाइवाएज्जा, अदित्रं पि य णादए ।

सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ

॥१९॥

छाया - प्राणास्य नातिपातयेत्, अदत्तं पि च नाददीत । सादिकं न मृषा ब्रूयादेष धर्मो वश्यस्य ॥

अन्वयार्थ - (पाणे य णाइवाएज्जा) प्राणियों का घात न करे (अदित्रं पि य णादए) न दी हुई चीज न लेवे (सादियं मुसं ण बूया) माया करके मिथ्या न बोले (वुसीमओ एस धम्मे) जितेन्द्रिय पुरुष का यही धर्म है ।

भावार्थ - प्राणियों की हिंसा न करे तथा न दी हुई चीज न लेवे एवं कपट के साथ झूठ न बोले, जितेन्द्रिय पुरुष का यही धर्म है ।

टीका - प्राणप्रियाणां प्राणिनां प्राणान्नातिपातयेत्, तथा परेणादत्तं दन्तशोधनमात्रमपि 'नाददीत' न गृह्णीयात्, तथा-सहादिना-मायया वर्तत इति सादिकं-समायं मृषावादं न ब्रूयात्, तथाहि-परवञ्चनार्थं मृषावादोऽधिक्रियते, स च न मायामन्तरेण भवतीत्यतो मृषावादस्य माया आदिभूता वर्तते, इदमुक्तं भवति-यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिह्रियते, यस्तु संयमगुप्त्यर्थं "न मया मृगा उपलब्धा" इत्यादिकः स न दोषायेति, एष यः प्राक् निर्दिष्टो धर्मः-श्रुत-चारित्राख्यः स्वभावो वा 'वुसीमउ'ति छान्दसत्वात्, निर्देशार्थस्त्वयं-वस्तुनि ज्ञानादीनि तद्वतो ज्ञानादिमत इत्यर्थः, यदिवा-वुसीमउति वश्यस्य-आत्मवशगस्य-वश्येन्द्रियस्येत्यर्थः ॥१९॥ अपि च-

टीकार्थ - साधु, प्राण जिनको प्रिय है, ऐसे प्राणियों की हिंसा न करे तथा दूसरे से दिये बिना दन्तशोधन भी न लेवे एवं कपट के साथ झूठ न बोले, क्योंकि दूसरे को ठगने के लिए झूठ बोला जाता है, इसलिए वह कपट के बिना नहीं हो सकता है, इसलिए झूठ का मूल कारण कपट ही है । आशय यह है कि दूसरे को ठगने के लिए जो झूठ, कपट के साथ बोला जाता है, उसी का निषेध शास्त्रकार यहां करते हैं, परन्तु संयम की रक्षा के निमित्त जो झूठ बोला जाता है, उसका निषेध नहीं करते हैं, जैसे कि-शिकारी के पूछने पर "मैंने मृग को नहीं देखा है" यह कथन झूठ होने पर भी दोष के लिए नहीं होता है । ज्ञानादि से युक्त अथवा जितेन्द्रिय पुरुष का पहले कहा हुआ जो श्रुत और चारित्र है, वही धर्म है अथवा स्वभाव है । (वुसीमउ) यह छान्दस है ॥१९॥



अतिक्रमंति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।

सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे

॥२०॥

छाया - अतिक्रमन्तु वाचा, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् । सर्वतः संवृतो दाब्ध आदानं सुसमाहरेत् ॥

अन्वयार्थ - (अतिक्रमंति) किसी जीव को पीड़ा देने की (वायाए) वाणी से (मणसा वि) अथवा मन से भी (न पत्थए) इच्छा न करे (सव्वओ संवुडे) किन्तु बाहर और भीतर दोनों ओर से गुप्त रहे (दंते आयाणं सुसमाहरे) तथा इन्द्रियों का दमन करता हुआ साधु अच्छी तरह संयम का पालन करे ।

भावार्थ - वाणी या मन से किसी जीव को पीड़ा देने की इच्छा न करे किन्तु बाहर और भीतर से गुप्त और इन्द्रियों का दमन करता हुआ साधु अच्छी रीति से संयम का पालन करे ।

टीका - प्राणिनामतिक्रमं-पीडात्मकं महाव्रतातिक्रमं वा मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा इत्येवम्भूतमतिक्रमं वाचा मनसाऽपि च न प्रार्थयेत्, एतद्द्वयनिषेधे च कायातिक्रमो दूरत एव निषिद्धो भवति, तदेवं मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेनातिक्रमं न कुर्यात्, तथा सर्वतः-सबाह्याभ्यन्तरतः संवृतो-गुप्तः तथा इन्द्रियदमेन तपसा वा दान्तः सन् मोक्षस्य 'आदानम्' उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुषुद्युक्तः सम्यग्विज्ञोतसिकारहितः 'आहरेत्' आददीत-गृहीयादित्यर्थः ॥२०॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - प्राणियों को अतिक्रम अर्थात् पीड़ा देना अथवा पञ्च महाव्रत का उल्लङ्घन अथवा मन में अहङ्कार लाकर दूसरे का तिरस्कार करना इन कार्य्यों को साधु वाणी से अथवा मन से न करे । इन दोनों के द्वारा अतिक्रम का निषेध करने से शरीर के द्वारा अतिक्रम करने का निषेध दूर से ही हो गया । इस प्रकार मन, वचन और काया से करना, कराना और अनुमोदन, इन नौ भेदों से जीव हिंसा आदि पाप न करे । तथा सब प्रकार से यानी बाहर और भीतर से गुप्त और इन्द्रियों का दमन अथवा तप से दान्त रहता हुआ साधु मोक्ष देनेवाले सम्यग् दर्शन आदि को तत्परता के साथ मन की बुरी वासनाओं को छोड़कर ग्रहण करे ॥२०॥



कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं ।

सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया

॥२१॥

छाया - कृतश्च क्रियमाणश्च, आगमिष्यच्च पापकम् । सर्वं तज्ज्ञानुजानन्त्यात्मगुप्ताः जितेन्द्रियाः ॥

अन्वयार्थ - (आयगुत्ता जिइंदिया) गुप्तात्मा, जितेन्द्रिय पुरुष, (कडं च कज्जमाणं च आगमिस्सं च पावगं) किया हुआ, किया जाता हुआ अथवा किया जानेवाला जो पाप है (सव्वं तं णाणुजाणंति) उन सभी का अनुमोदन नहीं करते हैं ।

भावार्थ - अपने आत्मा को पाप से गुप्त रखने वाले जितेन्द्रिय पुरुष किसी के द्वारा किये हुए तथा किये जाते हुए और भविष्य में किये जाने वाले पाप का अनुमोदन नहीं करते हैं ।

टीका - साधूद्देशेन यदपरैरनार्यकल्पैः कृतमनुष्ठितं पापकं कर्म तथा वर्तमाने च काले क्रियमाणं तथाऽऽगामिनि च काले यत्करिष्यते तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः 'नानुजानन्ति' नानुमोदन्ते, तदुपभोगपरिहारेणेति भावः, यदप्यात्मार्थं पापकं कर्म परैः कृतं क्रियते करिष्यते वा, तद्यथा-शत्रोः शिरश्छिन्नं छिद्यते छेत्स्यते वा तथा चौरो हतो हन्यते हनिष्यते वा इत्यादिकं परानुष्ठानं 'नानुजानन्ति' न च बहु मन्यन्ते, तथा यदि परः कश्चिदशुद्धेनाहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपि नानुमन्यन्त इति, क एवम्भूता भवन्तीति दर्शयति-आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा, जितानि-वशी-कृतानि इन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा, एवम्भूताः पापकर्म नानुजानन्तीति स्थितम् ॥२१॥ अन्यच्च-

टीकार्थ - साधुओं के लिए दूसरे अनार्य के समान पुरुषों ने जो पाप किया है तथा वर्तमान समय में जो करते हैं और भविष्य में जो करेंगे, उन सबों का मन, वचन और काय से साधु अनुमोदन नहीं करते हैं । अर्थात् वे स्वयं उस पापमय वस्तु को भोगते नहीं हैं । तथा दूसरों ने अपने स्वार्थ के लिए जो पाप किया है तथा करते हैं और करेंगे, जैसे कि 'शत्रु का शिर काट डाला, काट रहा है अथवा काट डालेगा, एवं चोर को मार डाला अथवा मार रहा है या मार डालेगा' इत्यादि दूसरों के अनुष्ठानों को साधु अच्छा नहीं मानते हैं । तथा दूसरा अशुद्ध आहार बनाकर यदि साधु को निमन्त्रित करे तो साधु उसको स्वीकार न करे । ऐसे पुरुष कौन हैं? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं अकुशल मन, वचन और काय को रोक कर जिसने अपने आत्मा को निर्मल रखा है तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों को जिसने वश किया है, ऐसे पुरुष उक्त पाप कर्मों का अनुमोदन नहीं करते हैं ॥२१॥

जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।

असुद्धं तेसि परक्कतं, सफलं होइ सव्वसो

॥२२॥

छाया - ये चाबुद्धा महाभागा वीरा असम्यक्त्वदर्शिनः । अशुद्धं तेषां पराक्रान्तं, सफलं भवति सर्वशः ॥

अन्वयार्थ - (जे याबुद्धा) जो पुरुष धर्म के रहस्य को नहीं जानते हैं (महाभागा) किन्तु जगत् में पूजनीय माने जाते हैं (वीरा असमत्तदंसिणो) शत्रु की सेना को जीतनेवाले हैं एवं (असमत्तदंसिणो) सम्यग्दर्शन से रहित हैं (तेसि परक्कतं असुद्धं) उनका तप, दान आदि में उद्योग अशुद्ध है (सव्वसो सफलं होइ) और वह कर्मबन्धन के लिए होता है ।

भावार्थ - जो पुरुष लोक पूज्य तथा बड़े वीर हैं, वे यदि धर्म के रहस्य को न जानने वाले मिथ्या दृष्टि हैं तो उनका किया हुआ सभी तप, दान आदि अशुद्ध है, और वह कर्मबन्धन को उत्पन्न करता है ।

टीका - ये केचन 'अनुद्धा' धर्म प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुष्कतर्कादिपरिज्ञानेन जातावलेपाः पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुतत्त्वानवबोधादबुद्धा इत्युक्तं, न च व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति, तथा चोक्तम्-

“शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि, नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।

नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति ॥१॥”

यदिवाऽबुद्धा इव बालवीर्यवन्तः, तथा ^१महान्तश्च ते भागाश्च महाभागाः, भागशब्दः पूजावचनः ततश्च महापूज्या इत्यर्थः, लोकविश्रुता इति, तथा 'वीराः' परानीकभेदिनः सुभटा इति, इदमुक्तं भवति-पण्डिता अपि त्यागादिभिर्गुणैर्लोकपूज्या अपि तथा सुभटवादं वहन्तोऽपि सम्यक्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन भवन्तीति दर्शयति-न सम्यगसम्यक् तद्भावो-ऽसम्यक्त्वं तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्ट्य इत्यर्थः, तेषां च बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमकृतं तदशुद्धं अविशुद्धिकारि प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वात् सनिदानत्वाद्देति कुवैद्यचिकित्सा-वद्विपरीतानुबन्धीति, तच्च तेषां पराक्रान्तं सह फलेन-कर्मबन्धेन वर्तत इति सफलं 'सर्वश' इति सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायैवेति ॥२२॥

टीकार्थ - जो पुरुष धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं जानते हैं किन्तु व्याकरण के शुद्ध तर्कों को जानकर बड़े अहङ्कारी और अपने को पण्डित मानते हैं, वे परमार्थ वस्तु को (वस्तु के सच्चे स्वरूप को) न जानने के कारण अबुद्ध (अज्ञानी) कहे गये हैं । सम्यक्त्व के बिना केवल व्याकरण के ज्ञान से वस्तु का सत्यस्वरूप नहीं जाना जाता है । जैसा कि कहा है-

(शास्त्रावगाह) अर्थात् “शास्त्र में अवगाहन (प्रवेश) और उसकी व्याख्या करने में तत्पर भी अज्ञानी पुरुष वस्तु के सच्चे स्वरूप को नहीं जानते हैं (क्योंकि वह अनुभव से जाना जाता है) जैसे नाना प्रकार के रसवाले पदार्थों में डाली जाती हुई भी दर्वी (चम्मच) रस का स्वाद नहीं जानती है ।”

अथवा बालवीर्य वाले पुरुष को अबुद्ध कहते हैं । तथा जो महाभाग्यशाली यानी पूजनीय है, वह लोकप्रसिद्ध पुरुष महाभाग है । भाग शब्द पूजा अर्थ का वाचक है । एवं जो शत्रु की सेना का भेदन करनेवाला है, वह सुभट है । आशय यह है कि कोई पुरुष पण्डित तथा त्याग आदि गुणों से लोक में पूजनीय और सुभट होते हुए भी वस्तु के सच्चे स्वरूप को नहीं जानते हैं, यह शास्त्रकार दिखाते हैं । जो ठीक नहीं है- उसे असम्यक् कहते हैं, उस असम्यक् के स्वरूप को असम्यक्त्व कहते हैं (अर्थात् जो ठीक नहीं है किन्तु विपरीत है, उसे असम्यक्त्व मिथ्याज्ञान) कहते हैं । उसे जो देखता है, वह पुरुष असम्यक्त्वदर्शी है यानी जो मिथ्यादृष्टि है वह असम्यक्त्वदर्शी है । उन मिथ्यादृष्टि पुरुषों का तप, दान, अध्ययन, यम और नियम आदि में जो उद्यम के साथ प्रयत्न है, वह सब अशुद्ध यानी कर्मबन्ध को उत्पन्न करता है क्योंकि वह उन मिथ्यादृष्टियों के भाव से दूषित है (अर्थात् वे मन में संसारी सुख की इच्छा रखते हैं) तथा वह निदान के (फल कामना के) सहित है । जैसे कुवैद्य की चिकित्सा

1. महान्तश्चेति नागाध । महान्तश्च ते नागाध प्र० । 2. मुद्यमः कृतस्त० ।

से रोग का नाश नहीं होता है किन्तु रोग की वृद्धि होती है, उसी तरह उन मूर्खों की क्रिया से संसार की वृद्धि ही होती है द्वास नहीं होता है। अतः उक्त मिथ्यादृष्टियों का पराक्रम कर्मबन्धन सहित है। वे जो तप का अनुष्ठान आदि क्रियायें करते हैं, वे सभी कर्मबन्ध के लिए ही होती हैं ॥२२॥



साम्प्रतं पण्डितवीर्यिणोऽधिकृत्याह-

अब शास्त्रकार पण्डितवीर्यवालों के विषय में कहते हैं-

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा समत्तदंसिणो ।

शुद्धं तेसि परक्कतं, अफलं होइ सव्वसो

॥२३॥

छाया - ये च बुद्धा महाभागा वीरा सम्यक्त्वदर्शिणः । शुद्धं तेषां पराक्रान्तं, अफलं भवति सर्वशः ॥

अन्वयार्थ - (जे य) जो लोग (बुद्धा) पदार्थ के सच्चे स्वरूप को जाननेवाले (महाभागा) बड़े पूजनीय (वीरा) कर्म को विदारण करने में निपुण (संमत्तदंसिणो) तथा सम्यग्दृष्टि हैं (तेसि परक्कतं) उनका उद्योग (शुद्ध) निर्मल (सव्वसो अफलं होइ) और सब अफल यानी कर्म बंध के लिए नहीं होता है ।

भावार्थ - जो वस्तुतत्त्व को जाननेवाले महापूजनीय एवं कर्म को विदारण करने में समर्थ सम्यग्दृष्टि हैं, उनका तप आदि अनुष्ठान शुद्ध तथा कर्म बंध के लिए नहीं होता है ।

टीका - ये केचन स्वयम्बुद्धास्तीर्थकराद्यास्तच्छिष्या वा बुद्धबोधिता गणधरादयो 'महाभागा' महापूजाभाजो 'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो ज्ञानादिभिर्वा गुणैर्विराजन्त इति वीराः, तथा 'सम्यक्त्वदर्शिणः' परमार्थतत्त्ववेदिनस्तेषां भगवतां यत्पराक्रान्तं-तपोऽध्ययनयमनियमादावनुष्ठितं तच्छुद्धम्-अवदातं निरुपरोधं सातगौरवशल्यकषायादिदोषाकलङ्कितं, कर्मबन्धं प्रति अफलं भवति- तन्निरनुबन्धनिर्जरार्थमेव भवतीत्यर्थः, तथाहि- सम्यग्दृष्टीनां सर्वमपि संयमतपःप्रधानमनुष्ठानं भवति, संयमस्य चानाश्रवरूपत्वात् तपसश्च निर्जराफलत्वादिति, तथा च पठ्यते- "संयमे अणणहयफले तवे वोदाणफले" इति ॥२३॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो पुरुष अपने आप बोध पाये हुए तीर्थङ्कर आदि हैं तथा उनके शिष्य अथवा बुद्धबोधित गणधर आदि हैं, जो महापूजनीय और कर्म को विदारण करने में समर्थ हैं अथवा ज्ञानादिगुणों से शोभापानेवाले, वस्तु के सच्चे स्वरूप को देखनेवाले हैं, उन महात्मा पुरुषों का तप, अध्ययन, यम और नियम आदि अनुष्ठान शुद्ध हैं अर्थात् वह सुख की इच्छा और क्रोधादिरूप शल्य, तथा कषाय आदि दोषों से कलङ्कित नहीं हैं, इसलिए वह कर्मबन्ध के प्रति निष्फल होता है अर्थात् वह संसार भ्रमण रहित केवल निर्जरा के लिए होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टियों का सभी अनुष्ठान संयम और तपःप्रधान होता है, उसमें संयम से आश्रव का निरोध होता है और तप से निर्जरा होती है। अत एव शास्त्र का पाठ है कि "संयमे" अर्थात् संयम से आश्रव रूकता है और तप से निर्जरा होती है ॥२३॥



तेसिपि तवो ण सुद्धो, निक्खन्ता जे महाकुला ।

जन्नेवऽन्ने वियाणांति, न सिलोगं पवेज्जए

॥२४॥

छाया - तेषामपि तपो न शुद्धं, मिष्क्रान्ता ये महाकुलाः । यद्वैवाऽन्ये विजानन्ति, न श्लोकं प्रवेदयेत् ॥

अन्वयार्थ - (तेसिपि तवो ण सुद्धं) उनका तप भी शुद्ध नहीं है (जे महाकुला निक्खन्ता) जो महाकुलवाले प्रब्रज्या लेकर पूजा सत्कार के लिए तप करते हैं (जन्नेवऽन्ने वियाणांति) इसलिए दान में श्रद्धा रखनेवाले दूसरे लोग जिस को जाने नहीं (इस प्रकार आत्मार्या को तप करना चाहिए) (न सिलोगं पवेज्जए) तथा अपनी प्रशंसा भी तपस्वी को न करनी चाहिए ।

भावार्थ - जो लोग बड़े कुल में उत्पन्न होकर अपने तप की प्रशंसा करते हैं अथवा पूजा सत्कार पाने के लिए

तप करते हैं, उनका भी तप अशुद्ध है, अतः साधु अपने तप को इस प्रकार गुप्त रखे जिससे दान में श्रद्धा रखनेवाले लोग न जानें । तथा साधु अपने मुख से अपनी प्रशंसा भी न करे ।

टीका - महत्कुलम्-इक्ष्वाकादिकं येषां ते महाकुला लोकविश्रुताः शौर्यादिभिर्गुणैर्विस्तीर्णयशसस्तेषामपि पूजासत्काराद्यर्थमुत्कीर्त्तनेन वा यत्तपस्तदशुद्धं भवति, यच्च क्रियमाणमपि तपो नैवान्ये दानश्रद्धादयो जानन्ति तत्तथाभूतमात्मार्येणा विधेयम्, अतो नैवात्मश्लाघां 'प्रवेदयेत्' प्रकाशयेत्, तद्यथा अहमुत्तमकुलीन इथ्यो वाऽऽसं साम्प्रतं पुनस्तपोनिष्ठसदेह इति, एवं स्वयमाविष्करणेन न स्वकीयमनुष्ठानं फल्गुतामापादयेदिति ॥२४॥ अपि च-

टीकार्थ - जिनका इक्ष्वाकु वगैरह बड़ा कुल है तथा शूरता आदि के द्वारा जिनका यश जगत् में फैला हुआ है, उनका तप भी यदि पूजा और सत्कार पाने की कामना से किया गया हो किंवा उसकी प्रशंसा वे करें तो वह अशुद्ध हो जाता है । अतः आत्मार्यी पुरुष को चाहिए कि उसके तप को, दान में श्रद्धा रखनेवाले पुरुष न जान सकें, ऐसा प्रयत्न करे । तथा वह अपनी प्रशंसा भी न करे कि "मैं उत्तम कुल में उत्पन्न, अथवा धनवान् था और अब तप से अपने शरीर को तपानेवाला तपस्वी हूँ" इस प्रकार अपने आप प्रकट करके अपने अनुष्ठान को निःसार न बनावे ॥२४॥



अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।

खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए

॥२५॥

छाया - अल्पपिण्डाशी पाणाशी, अल्पं भाषेत सुव्रतः । क्षान्तोऽभिनिर्वृतो दान्तो वीतगृद्धिः सदा यतेत ॥

अन्वयार्थ - (अप्पपिंडासी) साधु उदर निर्वाह के लिए थोड़ा आहार करे (पाणासि) उसी के अनुसार थोड़ा जल पीवे (सुव्वए) सुव्रत पुरुष (अप्पं भासेज्ज) थोड़ा बोले (खंते अभिनिव्वुडे,) एवं क्षमाशील, लोभादि रहित (दंते वीतगिद्धी सदा जए) जितेन्द्रिय और विषय भोग में आसक्ति रहित होकर सदा संयम का अनुष्ठान करे ।

भावार्थ - साधु उदर निर्वाहमात्र के लिए थोड़ा भोजन करे एवं थोड़ा जल पीवे । थोड़ा बोले तथा क्षमाशील और लोभादि रहित, जितेन्द्रिय एवं विषय भोग में अनासक्त रहता हुआ सदा संयम का अनुष्ठान करे ।

टीका - अल्पं-स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्यासावल्पपिण्डाशी यत्किञ्चनाशीति भावः, एवं पानेऽप्यायोज्यं, तथा चागमः-

“हे^१ जं व तं व आसीय जत्थ व तत्थ व सुहोवगायनिद्धो ।

जेण व तेण (व) संतुद्ध वीर ! मुणिओऽस्सि ते अप्पा ॥१॥”

तथा “अड्कुक्कुडिअंडगमेत्तप्पमाणे कवले आहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालसकवलेहिं अवड्ढोमोयरिया, सोलसहिं दुभागे पत्ते, चउवीसं ओमोदरिया, तीसं पमाणपत्ते, बत्तीसं कवला संपुण्णाहारे” इति, अत एकैककवलहान्यादिनोदरता विधेया, एवं पाने उपकरणे चोनोदरतां विदध्यादिति, तथा चोक्तम्-

“थोवाहारो थोवमणिओ अ जो होइ थोवनिद्धो अ । थोवोवहिउवकरणो तरुत्त हु देवावि पणमंति ॥१॥”

तथा 'सुव्रतः' साधुः 'अल्पं' परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः, भावावमौदर्यमधिकृत्याह-भावतः क्रोधाद्युपशमात् 'क्षान्तः' क्षान्तिप्रधानः तथा 'अभिनिर्वृतो' लोभादिजयान्निरातुरः, तथा इन्द्रियनोइन्द्रियदमनात् 'दान्तो' जितेन्द्रियः, तथा चोक्तम्-

“कषाया यत्थ नोच्छिन्ना, यत्थ नात्मवथां मनः । इन्द्रियाणि न गुप्पानि, प्रवज्जा तरुत्त जीवनम् ॥१॥”

1. यद्वा तद्वा अशित्वा यत्र तत्र वा सुखोपगतनिद्रः येन तेन वा सन्तुष्टः (असि) हे वीर ! ज्ञातोऽस्ति त्वयात्मा ॥१॥

2. अड्कुक्कुट्यण्डकप्रमाणान्कवलानाहारयन्नल्पाहारो द्वादशकवलैरपार्धावमोदरिका षोडशभिर्द्विभागा प्राप्ता चतुर्विंशत्या अवमोदरिका त्रिंशता कवलैः प्रमाणप्राप्तः द्वात्रिंशत्कवलाः सम्पूर्णाहार इति ॥ 3. स्तोत्रहारः स्तोकभणितः स्तोकनिद्राश्च यो भवति । स्तोत्रोपधिकोपकरणस्तस्मै च देवा अपि प्रणमन्ति ॥१॥

एवं विगता गृद्धिर्विषयेषु यस्य स विगतगृद्धिः— आशंसादोषरहितः 'सदा' सर्वकालं संयमानुष्ठाने 'यतेत' यत्नं कुर्यादिति ॥२५॥ अपि च—

टीकार्थ - साधु स्वभाव से ही अल्पपिण्ड खानेवाला अर्थात् थोड़ा भोजन करनेवाला तथा थोड़ा जल पीनेवाला होकर रहे । अत एव आगम कहता है कि "हे जंबू" इत्यादि । अर्थात् हे वीर! तुमको जो कुछ मिलता है, उसे खाकर तुम जिस किसी स्थान पर सुख से सोते हो, तथा जो कुछ मिलता है, उसी में सन्तोष रखकर विचरते हो । अतः तुमने अपने आत्मा को पहचान लिया है ।

तथा (अट्ट....) अर्थात् जो मूर्खों के अण्डे के बराबर आठ कवल आहार करता है, वह अल्पाहार करनेवाला है । जो बारह कवल आहार करता है, वह अपार्थ (आधे से कम) ऊनोदरी करता है । सोलह कवल आहार करना थोड़ी ऊनोदरी है । तीस कवल आहार प्रमाण आहार है । और बत्तीस कवल आहार सम्पूर्ण आहार है ।

अतः साधु को एक-एक कवल घटाने का अभ्यास करके ऊनोदरी करनी चाहिए । इसी तरह पान और दूसरे उपकरणों में भी ऊनोदरी करनी चाहिए । कहा है कि

"थोवाहारो" अर्थात् जो थोड़ा खाता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी निद्रा लेता है, थोड़ी उपधि और थोड़ा उपकरण रखता है । उसको देवता भी नमस्कार करते हैं ।

तथा सुन्दर व्रतवाला साधु थोड़ा और हितकारक वचन बोले, वह हमेशः विकथा (चारित्र्य भ्रष्ट करनेवाली बात) से रहित हो । अब शास्त्रकार भाव ऊनोदरी के विषय में कहते हैं, साधु भाव से क्रोध आदि शान्त हो जाने से क्षमाप्रधान हो तथा लोभ आदि को जीतकर आतुरता रहित हो, तथा इन्द्रिय और मन को दमन करके दान्त (जितेन्द्रिय) हो । अत एव कहा है कि

(कषाया) अर्थात् जिसने कषायों का छेदन नहीं किया तथा जिसका मन अपने वश में नहीं है । उसकी दीक्षा केवल उदर पोषण के लिए है ।

अतः साधु विषयासक्ति को छोड़कर सदा संयम का अनुष्ठान करे ॥२५॥



ज्ञाणजोगं समाहट्ट, कायं विउसेज्ज सव्वसो ।

तितिक्ष्वं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि त्ति बेमि ॥

॥२६॥

इति श्रीवीरियनाममट्टममज्झयणं समत्तं [गाथाग्रं ४४६]

छाया - ध्यानयोगं समाहृत्य, कायं व्युत्सृजेत्सर्वशः ।

तितिक्षां परमां ज्ञात्वाऽऽमोक्षाय परिव्रजेदिति ॥ ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ - (ज्ञाणजोगं समाहट्ट) साधु ध्यान योग को ग्रहण करके (सव्वसो कायं विउसेज्ज) सब प्रकार से शरीर को बुरे व्यापारों से रोके (तितिक्ष्वं परमं णच्चा) परिषह तथा उपसर्ग के सहन को सबसे उत्तम समझकर (आमोक्खाए परिव्वएज्जासि त्तिबेमि) मोक्ष की प्राप्ति पर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ - साधु ध्यान योग को ग्रहण करके सभी बुरे व्यापारों से शरीर तथा मन, वचन को रोक देवे । एवं परीषह और उपसर्ग के सहन को अच्छा जानकर मोक्ष की प्राप्ति पर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे ।

टीका - 'ज्ञाणजोगम्' इत्यादि, ध्यानं-चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्काय-व्यापारस्तं ध्यानयोगं 'समाहृत्य' सम्यगुपादाय 'कायं' देहमकुशलयोगप्रवृत्तं 'व्युत्सृजेत्' परित्यजेत् 'सर्वतः' सर्वेणापि प्रकारेण, हस्तपादादिकमपि परपीडाकारि न व्यापारयेत्, तथा 'तितिक्षां' क्षान्तिं परीषहोपसर्गसहनरूपां 'परमां' प्रधानां ज्ञात्वा 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयं यावत् 'परिव्रजेरि' ति संयमानुष्ठानं कुर्यात्स्त्वमिति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२६॥ समाप्तं चाष्टमं श्रीवीर्याख्यमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ - चित्त को बुरे विषयों से रोकना अर्थात् धर्मध्यान आदि को ध्यान कहते हैं । उसमें मन, वचन, और काय के विशिष्ट व्यापार को ध्यान योग कहते हैं । उस ध्यान योग को अच्छी रीति से ग्रहण करके अकुशल योग में (बुरे कार्य में) जाते हुए शरीर को रोको । तथा सब प्रकार से अपने हाथ पैर आदि को भी दूसरे को पीड़ा देनेवाले व्यापारों में न जाने दो । एवं परीषह और उपसर्ग को सबसे उत्तम समझकर समस्त कर्मों का क्षय पर्यन्त संयम का अनुष्ठान करो, यह मैं कहता हूँ

इति शब्द समाप्ति अर्थ में है, ब्रवीमि पूर्ववत् है ॥२६॥

यह अष्टम श्रीवीर्यनामक अध्ययन समाप्त हुआ ।



॥ अथ नवमं अध्ययनं प्रारभ्यते ॥

अष्टमानन्तरं नवमं समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने बालपण्डितभेदेन द्विरूपं वीर्यं प्रतिपादितं, अत्रापि तदेव पण्डितवीर्यं धर्मं प्रति यदुद्यमं विधत्ते अतो धर्मः प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेन धर्माध्ययन-मायातं, अस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि प्राग्वत् व्यावर्णनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—धर्मोऽत्र प्रतिपाद्यत इति तमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

अष्टम अध्ययन कहने के पश्चात् अब नवम अध्ययन आरम्भ किया जाता है । इसका पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है । पूर्व अध्ययन में बाल और पण्डित भेद से दो प्रकार के वीर्य कहे गये हैं । उनमें पण्डित वीर्य वही है, जो धर्म के लिए उद्यम करता है, अतः इस अध्ययन में धर्म का कथन किया जाता है। इस सम्बन्ध से यह धर्माध्ययन आया है । इसके भी उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार पूर्ववत् कहने चाहिए, उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार यह है, इस अध्ययन में धर्म का वर्णन किया जाता है । उस धर्म के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं—
धम्मो पुब्बुद्धिदो भावधम्मणे एत्थ अहिगारो । एसेव होइ धम्मो एसेव समाहिमग्गोति ॥९९॥ नि०।

टीका - दुर्गतिगमनधरणलक्षणो धर्मः प्राक् दशवैकालिकश्रुतस्कन्धषष्ठाध्ययने धर्मार्थकामाख्ये उद्दिष्टः—प्रतिपादितः, इह तु भावधर्मेणाधिकारः, एष एव च भावधर्मः परमार्थतो धर्मो भवति, अमुमेवार्थमुत्तरयोरप्यध्ययनयोरतिदिशत्राह—
एष एव च भावसमाधिर्भावमार्गश्च भवतीत्यवगन्तव्यमिति, यदिवैष एव च भावधर्मः एष एव च भावसमाधिरेष एव च तथा भावमार्गो भवति, न तेषां परमार्थतः कश्चिद्भेदः, तथाहि—धर्मः श्रुतचारित्राख्यः क्षान्त्यादिलक्षणो वा दशप्रकारो भवेत्, भावसमाधिरेषेवंभूत एव, तथाहि—सम्यग्वाधानम्—आरोपणं गुणानां क्षान्त्यादीनामिति समाधिः, तदेवं मुक्तिमार्गोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो भावधर्मतया व्याख्यानयितव्य इति ॥९९॥ साम्प्रतमतिदिष्टस्यापि स्थानाशून्यार्थं धर्मस्य नामादिनिक्षेपं दर्शयितुमाह—

णामंठयणाधम्मो दब्बधम्मो य भावधम्मो य । सच्चित्ताचित्तमीसगगिहत्थदाणे दवियधम्मो ॥१००॥ नि०।

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा धर्मस्य निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यधर्मः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, तत्रापि सचित्तस्य जीवच्छरीरस्योपयोगलक्षणो 'धर्मः' स्वभावः, एवमचित्तानामपि धर्मास्तिकायादीनां यो यस्य स्वभावः स तस्य धर्म इति, तथाहि—

“गइलक्खणओ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो । मायणं सच्चदब्बाणं, नहं अवगाहलक्खणं ॥१०१॥”

पुद्गलास्तिकायोऽपि ग्रहणलक्षण इति, मिश्रद्रव्याणां च क्षीरोदकादीनां यो यस्य स्वभावः स तद्धर्मतयाऽवगन्तव्य इति, गृहस्थानां च यः कुलनगरग्रामादिधर्मो गृहस्थेभ्यो गृहस्थानां वा यो दानधर्मः स द्रव्यधर्मोऽवगन्तव्य इति, तथा चोक्तम्—

“अहं पाणं च वट्ठं च, आलयः शयनासनम् । शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् ॥१०२॥”

भावधर्मस्वरूपनिरूपणायाह—

लोइयलोउत्तरिओ दुविहो पुण होति भावधम्मो उ । दुयिहोवि दुयिहतिचिहो पंचविहो होति णायव्वो ॥१०३॥ नि०।

भावधर्मो नोआगमतो द्विविधः, तद्यथा—लौकिको लोकोत्तरश्च, तत्र लौकिको द्विविधः— गृहस्थानां पाखण्डिकानां च, लोकोत्तरस्त्रिविधः—ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात्, तत्राप्याभिनिबोधादिकं ज्ञानं पञ्चधा, दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायो—पशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधं, चारित्रमपि सामायिकादिभेदात् पञ्चधैव । गाथाऽक्षराणि त्वेवं नेयानि तद्यथा भावधर्मो लौकिकलोकोत्तरभेदाद्द्विविधः, द्विविधोऽपि चायं यथासङ्ख्येन द्विविधस्त्रिविधः, तत्रैव लौकिको गृहस्थपाखण्डिकभेदात् द्विविधः, लोकोत्तरोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् त्रिविधः, ज्ञानादीनि प्रत्येकं त्रीण्यपि पञ्चधैवेति ॥१०३॥ तत्र ज्ञानदर्शनचारित्रवतां साधूनां यो धर्मस्तं दर्शयितुमाह—

पासत्थोसण्णकुशीलसंथवो ण किर वट्ठनी काउं । सूयगडे अज्झयणे धम्मं नि काइतं एयं ॥१०४॥ नि०।

साधुगुणानां पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः तथा संयमानुष्ठानेऽवसीदन्तीत्यवसन्नाः तथा कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीलाः एतैः पार्श्वस्थादिभिः सह संस्तवः-परिचयः सहसंवासरूपो न किल यतीनां वर्तते कर्तुम्, अतः सूत्रकृतेऽङ्गे धर्माख्येऽध्ययने एतत् 'निकाचितं' नियमितमिति ॥१०२॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्-

टीकार्थ - जो जीव को दुर्गति में जाने से बचाता है, उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म, पहले दशवैकालिक सूत्र के धर्मार्थ- काम नामक छठे अध्ययन में बतलाया गया है। यहां भावधर्म का अधिकार है, क्योंकि भाव धर्म ही वस्तुतः धर्म है। यही बात आगे दो अध्ययनों में अर्थात् दशम तथा ग्यारहवें अध्ययन में भी बतायी जानेवाली है। यह धर्म ही भावसमाधि और भावमार्ग है, यह जानना चाहिए। अथवा यही भावधर्म है और यही भाव समाधि है तथा यही भाव मार्ग है, परमार्थतः इनमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि धर्म श्रुत और चारित्र नामक है अथवा वह, क्षान्ति आदि दश भेदवाला है और भावसमाधि भी एतद्रूपही है, क्योंकि क्षान्ति आदि गुणों को अच्छी रीति से अपने में स्थापन करना समाधि है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मुक्तिमार्ग को भावधर्म कहना चाहिए ॥९९॥ इस प्रकार थोड़े में बताकर भी यहां स्थान खाली न रहे, इसलिए धर्म का नाम आदि निक्षेप निर्युक्तिकार बताते हैं-

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, ये चार धर्म के निक्षेप हैं। इनमें नाम और स्थापना को छोड़कर (द्रव्य और भाव निक्षेप बताये जाते हैं) ज़शरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यधर्म सचित्त, अचित्त और मिश्र तीन प्रकार का है। इनमें सचित्त यानी जीते हुए शरीर का उपयोगरूप धर्म यानी स्वभाव है। तथा अचित्त धर्मास्तिकाय आदि का भी जो जिसका स्वभाव है, वह उसका धर्म है, क्योंकि वस्तुमात्र को अदृश्यरूप से चलने में सहायता देना, धर्मास्तिकाय का स्वभाव है एवं अधर्मास्तिकाय का स्वभाव वस्तु को ठहराने में सहायता करना है तथा समस्त द्रव्यों को अवगाहन देना आकाश का स्वभाव है। पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव भी ग्रहणरूप है। मिश्रद्रव्य जो दूध और जल आदि हैं उनका भी जो जिसका स्वभाव है, वह उनका धर्म जानना चाहिए। गृहस्थों का, जो कुछ, नगर, और ग्राम आदि में बँधा हुआ नियम है, वह धर्म (फर्ज) है अथवा गृहस्थ जो गृहस्थों को दान देते हैं, वह उनका द्रव्यधर्म समझना चाहिए। जैसा कि कहा है-

(अन्नं पानं) अर्थात् भूखे को अन्न, प्यासे को पानी, नंगे को वस्त्र, दुःखी को स्थान, एवं सोने और बैठने का आसन देना, रोगी की सेवा करना, नमस्कार करना, और सन्तुष्ट रहना, ये नव प्रकार के पुण्य कहे गये हैं ॥१००॥

अब निर्युक्तिकार भाव धर्म का स्वरूप बताने के लिए कहते हैं- भावधर्म, नोआगम से दो प्रकार का है, एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार का है, एक गृहस्थों का और दूसरा पाषण्डियों का। लोकोत्तर धर्म ज्ञान, दर्शन और चारित्र भेद से तीन प्रकार का है। इनमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, और केवल भेद से ज्ञान पांच प्रकार का है। तथा औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक, और क्षायिक भेद से दर्शन भी पांच प्रकार का है। एवं सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात भेद से चारित्र भी पांच प्रकार का है। गाथा के अक्षरों का अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए, जैसेकि-भाव धर्म, लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का है। इनमें लौकिक धर्म दो प्रकार का और लोकोत्तर धर्म तीन प्रकार का समझना चाहिए। लौकिकधर्म गृहस्थ और पाषण्डिक भेद से दो प्रकार का है और लोकोत्तर धर्म ज्ञान, दर्शन और चारित्र भेद से तीन प्रकार का है। इनमें ज्ञान आदि तीन प्रत्येक पांच पांच प्रकार के हैं ॥१०१॥ अब निर्युक्तिकार ज्ञान दर्शन और चारित्रवाले साधुओं का जो धर्म है, उसे दिखाने के लिए कहते हैं-

साधु के गुणों से जो दूर रहते हैं, वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं। तथा संयम की क्रिया करने में जो ढिलाई करते हैं, वे अवसन्न कहे जाते हैं। तथा खराब आचारवाले कुशील कहलाते हैं, इन लोगों के साथ साधुओं को परिचय नहीं करना चाहिए। इसलिए सूत्रकृताङ्ग सूत्र के इस धर्माध्ययन में यही बात बतायी गयी है ॥१०२॥ नाम निक्षेप कहा गया। अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए। वह सूत्र यह है-

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मतीमता ? ।

अंजु धम्मं जहातच्चं, जिणाणं तं सुणेह मे

॥१॥

छाया - कतरो धर्म आख्यातः, माहणेन मतिमता । ऋजुं धर्मं यथातथ्यं, जिन्नाणां तं शृणुत मे ॥

अन्वयार्थ - (मतीमता) केवलज्ञानी (माहणेण) जीवों को न मारने का उपदेश देनेवाले भगवान् महावीर स्वामी ने (कयरे धम्मे अक्खाए) कौन सा धर्म बताया है ? । (जिणाणं) जिनवरों के (तं अंजु धम्मं) उस सरल धर्म को (जहातच्चं) ठीक ठीक (मे सुणेह) मेरे से सुनो ।

भावार्थ - केवलज्ञानी तथा जीवों को न मारने का उपदेश करनेवाले भगवान् महावीर स्वामी ने कौन सा धर्म कहा है ? यह जम्बूस्वामी आदि का प्रश्न सुनकर श्रीसुधर्मा स्वामी कहते हैं कि जिनवरों के सरल उस धर्म को मेरे से सुनो ।

टीका - जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह-तद्यथा-‘कतरः’ किम्भूतो दुर्गतिगमनधरणलक्षणो धर्मः ‘आख्यातः’ प्रतिपादितो ‘माहणेण’ति मा जन्तून् व्यापादयेत्येवं विनेयेषु वाक्प्रवृत्तिर्यस्यासौ ‘माहनो’ भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन ?, तमेव विशिनष्टि-मनुते-अवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यथा सा केवलज्ञानाख्या मतिः सा अस्यास्तीति मतिमान् तेन-उत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता, इति पृष्ठे सुधर्मस्वाम्याह-रागद्वेषजितो जिनास्तेषां सम्बन्धिनं धर्मं ‘अंजुम्’ इति ‘ऋजुं’ मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रं तथा-‘जहातच्चं मे’ इति यथावस्थितं मम कथयतः शृणुत यूयं, न तु यथाऽन्यैस्तीर्थिकैर्दम्भप्रधानो धर्मोऽभिहितस्तथा भगवताऽपीति, पाठान्तरं वा ‘जणगा तं सुणेह मे’ जायन्त इति जना-लोकास्त एव जनकास्तेषामामन्त्रणं हे जनकाः ! तं धर्मं शृणुत यूयमिति ॥१॥

टीकाथ - जम्बूस्वामी, सुधर्मास्वामी से कहते हैं कि प्राणियों को मत मारो इस प्रकार शिष्यों को उपदेश देनेवाले भगवान् महावीर स्वामी ने प्राणियों को दुर्गति में जाने से बचानेवाला कौन सा धर्म कहा है ? वह महावीर-स्वामी कैसे हैं ? सो विशेषण के द्वारा बतलाते हैं-जिसके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल सहित इन तीनों लोकों को जानता है, उसको केवलज्ञान रूपी मति कहते हैं, वह केवलज्ञान जिनको उत्पन्न हो गया था, ऐसे भगवान् महावीर स्वामी थे । यह प्रश्न करने पर श्रीसुधर्मा स्वामी कहते हैं कि जिन ने रागद्वेष को जित लिया है, उन्हें जिन कहते हैं । उनका धर्म माया के प्रपञ्च से रहित होने के कारण सीधा है, वह धर्म मैं आप से ठीक ठीक कहता हूँ, आप उसे सुनें । जैसे दूसरे धर्मवाले तीर्थप्ररूपकों ने मायाप्रधान धर्म कहा है, वैसा भगवान् ने नहीं कहा है । यहां “जाणगा तं सुणेह मे” यह पाठान्तर पाया जाता है । इसका अर्थ यह है-जो जन्मधारण करते हैं, उन्हें जन कहते हैं और जनों को ही जनक कहते हैं, उनका सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि-हे जीवों! उस धर्म को आप लोग सुनें ॥१॥



- अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सूक्तो भवतीत्यतो यथोद्दिष्टधर्मप्रतिपक्षभूतोऽधर्मस्तदाश्रितांस्तावदर्शयितुमाह-

- अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा कहा हुआ अर्थ ठीक कहा हुआ माना जाता है, इसलिए पहले जो धर्म कहा गया है, उसका प्रतिपक्ष अधर्म है, उस अधर्म का आश्रय करनेवाले प्राणियों को दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा ।

एसिया वेसिया सुद्धा, जे य आरंभणिसिया

॥२॥

परिगहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई ।

आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा

॥३॥

छाया - ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः, चाण्डाला अथ बोक्कसाः । एषिका, वैशिकाः शूदाः, ये चारम्भनिश्रिताः ॥

छाया - परिग्रहनिविष्टाणां, वैरं तेषां प्रवर्धते । आरम्भसम्भृताः कामा, न ते दुःखविमोचकाः ॥

अन्वयार्थ - (माहणा, खत्तिया, वेस्सा) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (चंडाला अदु बोक्कसा) चाण्डाल तथा बोक्कस (एसिया वेसिया सुदा) एषिक, वैशिक, और शूद्र (जे य आरंभणिस्सिया) और जो आरम्भ में आसक्त रहनेवाले प्राणी हैं (परिग्रहनिविष्टाणां तेषां वैरं पवड्डइ) परिग्रह में आसक्त रहनेवाले इन प्राणियों का दूसरे प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है (आरंभसंभिया कामा) वे विषयलोलुप जीव, आरम्भ से भरे हुए हैं (ते न दुःखविमोचका) अतः वे दुःखरूप आठ प्रकार के कर्मों को छोड़नेवाले नहीं हैं ।

भावार्थ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, बोक्कस, एषिक, वैशिक, शूद्र तथा जो प्राणी आरम्भ में आसक्त रहते हैं, उन परिग्रही जीवों का दूसरे जीवों के साथ अनन्त काल के लिए वैर ही बढ़ता है, आरम्भ से भरे हुए, विषय लोलुप वे जीव, दुःख देनेवाले आठ प्रकार के कर्मों को त्यागने वाले नहीं हैं ।

टीका - ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथा चाण्डालाः अथ बोक्कसा-अवान्तरजातीयाः, तद्यथा-ब्राह्मणेन शूद्रां जातो निषादो ब्राह्मणेनैव वैश्याया जातोऽम्बष्ठः तथा निषादेनाम्बष्ठ्यां जातो बोक्कसः, तथा एषितुं शीलमेषामिति एषिका-मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषन्ति, तथा कन्दमूलफलादिकं च, तथा ये चान्ये पाखण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेषन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते, तथा 'वैशिका' वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः, तथा 'शूद्राः' कृषीवलादयः आभीरजातीयाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्त इति दर्शयति-ये चान्ये वर्णापसदा नानारूपसावद्य 'आरम्भ(म्भे)निश्रिता' यन्त्रपीडननिर्लाञ्छनकर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिणः तेषां सर्वेषामेव जीवापकारिणां वैरमेव प्रवर्धत इत्युत्तरश्लोके क्रियेति ॥२॥ किञ्च -

टीका - परि-समन्तात् गृह्यत इति परिग्रहो-द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यसुवर्णादिषु ममीकारस्तत्र 'निविष्टानाम्' अध्युपपन्नानां गाढ्यं गतानां 'पापम्' असातवेदनीयादिकं 'तेषां' प्रागुक्तानामारम्भनिश्रितानां परिग्रहे निविष्टानां प्रकर्षेण 'वर्द्धते' वृद्धिमुपयाति जन्मान्तरशतेष्वपि दुर्मोचं भवति, क्वचित्पाठः 'वैरं तेषां पवड्डइ'ति तत्र येन यस्य यथा प्राणिन उपमर्दः क्रियते स तथैव संसारान्तर्वर्ती शतशो दुःखभाग् भवतीति, जमदग्निकृतवीर्यादीनामिव पुत्रपौत्रानुगं वैरं प्रवर्द्धत इति भावः, किमित्येवं ?, यतस्ते कामेषु प्रवृत्ताः, कामाश्चारम्भैः सम्यग् भृताः संभृता-आरम्भ-पुष्टा आरम्भाश्च जीवोपमर्दकारिणः अतो न ते कामसम्भृता आरम्भनिश्रिताः परिग्रहे निविष्टाः दुःखयतीति दुःखम्-अष्टप्रकारं कर्म तद्विमोचका भवन्ति-तस्यापनेतारो न भवन्तीत्यर्थः ॥३॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चाण्डाल तथा बोक्कस, (वर्णसंकर जातिविशेष को 'बोक्कस' कहते हैं। ब्राह्मण से शूद्री में उत्पन्न, निषाद कहा जाता है और ब्राह्मण से ही वैश्या स्त्री में उत्पन्न 'अम्बष्ठ' कहलाता है । एवं निषाद से अम्बष्ठ जाति की स्त्री में उत्पन्न बोक्कस कहलाता है) तथा मांस के लिए जो मृग को तथा हाथी को ढुँढते फिरते हैं, वे व्याध तथा हस्तितापस 'एषिक' कहलाते हैं । अथवा जो अपने आहार के लिए कन्द मूल आदि ढुँढते फिरते हैं अथवा जो दूसरे पाषण्डी लोग नानाप्रकार के उपायों से भोजन या विषयसाधन ढुँढते फिरते हैं, वे सब एषिक कहे जाते हैं । तथा वैशिक यानी कलाओं से जीविका करनेवाले, मायाप्रधान वैश्य तथा शूद्र, यानी खेती करनेवाले, अहीर जाति के लोग अथवा नाम लेकर अलग-अलग कितने बताये जायें ? इसलिए शास्त्रकार सामान्यरूप से सबका परिचय कराने के लिए कहते हैं कि नाना प्रकार के आरम्भों में आसक्त रहनेवाले अर्थात् यन्त्रपीडन, निर्लाञ्छन, और कोयला बनाना आदि क्रियाओं से जीवों का उपमर्दन करनेवाले जो प्राणी हैं वे सब जीवों का घात करनेवाले हैं, इसलिए जीवों के साथ उनका वैर ही बढ़ता है, (यह उत्तर श्लोक में क्रियापद है) ॥२॥

टीकार्थ - जो चारो तर्फ से ग्रहण किया जाता है, उसे परिग्रह कहते हैं, वह द्विपद, चतुष्पद, धनधान्य और हिरण्य तथा सुवर्ण आदि में ममता करता है, जो प्राणी उक्त परिग्रह में आसक्त रहते हैं एवं आरम्भ में आसक्त रहनेवाले जो पूर्वगाथा में कहे हुए प्राणी हैं, इन लोगों का पाप यानी असातावेदनीय कर्म की अत्यन्त वृद्धि होती है, वे सैकड़ों जन्मों में भी इन कर्मों का नाश नहीं कर सकते हैं । कहीं (वैरं तेषां पवड्डइ) यह पाठ है, इसका अर्थ यह है कि जो जिस तरह जिस प्राणी का घात करता है, वह उसी तरह संसार में सैकड़ों बार दुःख भोगता है । जमदग्नि और कृतवीर्य की तरह पुत्र और पौत्रों तक चलनेवाला उनका वैर बढ़ता है । (प्रश्न) क्यों ऐसा होता

है ? (उत्तर) वे विषयलोलुप जीव आरम्भ से पुष्ट हैं और आरम्भ जीवों का घातक होता है, इसलिए आरम्भ से भरे हुए वे परिग्रही जीव, दुःख देनेवाले आठ प्रकार के कर्मों को दूर करनेवाले नहीं हैं ॥३॥



आधायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो ।

अन्ने हरन्ति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं किच्चती

॥४॥

छाया - आघातकृत्यमाघातुं, ज्ञातयो विषयैषिणः । अब्ये हरन्ति तद् वित्तं, कर्मी कर्मभिः कृत्यते ॥

अन्वयार्थ - (विसएसिणो नाइओ) सांसारिक सुख की इच्छा करनेवाले ज्ञातिवर्ग (आधायकिच्च माहेउं) दाह संस्कार आदि करके (तं वित्तं हरन्ति) मरे हुए प्राणी के द्रव्य को ले लेते हैं (कम्मी कम्मेहिं किच्चती) परन्तु उस द्रव्य को एकट्ठा करने के लिए पाप कर्म किया हुआ वह पुरुष अकेले अपने कर्म का फल दुःख भोगता है ।

भावार्थ - ज्ञातिवर्ग धन के लोभी होते हैं, वे दाह संस्कार आदि मरण क्रिया करने के पश्चात् उस मृतव्यक्ति का धन हर लेते हैं । परन्तु पाप कर्म करके धनसञ्चय किया हुआ वह मृतव्यक्ति अकेले अपने पाप का फल भोगता है ।

टीका - आहन्यन्ते-अपनीयन्ते विनाश्यन्ते प्राणिनां दश प्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो-मरणं तस्मै तत्र वा कृतम्-अग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यं तदाधातुम्-आधाय कृत्वा पश्चात् 'ज्ञातयः' स्वजनाः पुत्रकलत्रभ्रातृव्यादयः, किम्भूताः ?-विषयानन्वेष्टुं शीलं येषां तेऽन्येऽपि विषयैषिणः सन्तस्तस्य दुःखार्जितं 'वित्तं' द्रव्यजातम् 'अपहरन्ति' स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम्-

“ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यैर्दारैश्च परिरक्षितैः । क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् ! हृष्टारुष्टा हृलङ्कृताः ॥१॥”

स तु द्रव्यार्जनपरायणः सावधानुष्ठानवान् कर्मवान् पापी स्वकृतैः कर्मभिः संसारे 'कृत्यते' छिद्यते पीडयत इति यावत् ॥४॥

टीकार्थ - प्राणियों के दश प्रकार के प्राण जिसमें मारे जाते हैं, उसे आघात कहते हैं । वह मरण है, उसके होने के पश्चात् जो अग्निसंस्कार, जलाञ्जलिदान, और पितृपिण्ड आदि दिये जाते हैं, उन्हें आघातकृत्य कहते हैं, उस आघातकृत्य को करके विषय को ढूँढनेवाले उसके पुत्र, स्त्री, और भतीजे वगैरह स्वजनवर्ग, दुःख से कमाये हुए उसके द्रव्य को हर लेते हैं । जैसा कि कहा है

(ततस्तेनार्जितैः) अर्थात् कोई गुरु किसी राजा को ज्ञान देता हुआ कहता है कि हे राजन् । जिसने द्रव्यसंग्रह किया है और सुन्दर स्त्रियाँ ब्याह रखी हैं, उसके मरने के पश्चात् दूसरे लोग मालिक बनकर प्रसन्न होकर तथा जेवर पहिनकर उनके साथ मौज उड़ाते हैं ।

परन्तु सावद्य कर्म के द्वारा द्रव्य का अर्जन किया हुआ वह मृत पापकर्मी पुरुष अपने किये हुए पापकर्म से संसार में पीड़ित किया जाता है ॥४॥



- स्वजनाश्च तद्द्रव्योपजीविनस्तत्त्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह -

- स्वजन जो उसके द्वारा उपार्जित धन से जीवन यापन करनेवाले, उसकी रक्षा के लिए नहीं होते । उसे बताने के लिए कहते हैं-

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।

नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा

॥५॥

छाया - माता, पिता, स्नुषा, भ्राता, भाव्या पुत्राश्चौरसाः । नालं ते तव त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥

अन्वयार्थ - (सकम्मुणा) अपने पाप कर्म से (लुप्पंतस्स) संसार में पीड़ित होते हुए (तव) तुम्हारी (ताणाय) रक्षा करने के लिए माता, पिता पुत्रवधू, भाई, स्त्री और औरसपुत्र कोई भी समर्थ नहीं होते हैं ।

भावार्थ - अपने पाप का फल दुःख भोगते हुए प्राणी को, माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, स्त्री और औरस पुत्र आदि कोई भी नहीं बचा सकते हैं ।

टीका - 'माता' जननी 'पिता' जनकः 'स्नुषा' पुत्रवधूः 'भ्राता' सहोदरः तथा 'भार्या' कलत्रं पुत्राश्चौरसाः-स्वनिष्पादिता एते सर्वेऽपि मात्रादयो ये चान्ये श्वरशुरादयस्ते तव संसारचक्रवाले स्वकर्मभिर्विलुप्यमानस्य त्राणाय 'नालं' न समर्था भवन्तीति, इहापि तावन्नैते त्राणाय किमुतामुत्रेति, दृष्टान्तश्चात्र कालसौकरिकसुतः सुलसनामा अभयकुमारस्य सखा, तेन महासत्त्वेन स्वजनाभ्यर्थितेनापि न प्राणिष्वपकृतम्, अपि त्वात्मन्येवेति ॥५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जन्म देनेवाले माता, पिता, पुत्र की स्त्री, सहोदर भाई, अपनी स्त्री तथा अपने बेटे ये सभी लोग, तथा दूसरे श्वशुर आदि, कोई भी अपने कर्म से संसार में पीड़ित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं । वे, जब कि इसी लोक के दुःख से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते हैं, तब परलोक में रक्षा करने की क्या आशा है? इस विषय में यह दृष्टान्त है कालसौकरिक (कसाई) का बेटा सुलस नाम का था । उसकी अभयकुमार के साथ मैत्री थी, उसके परिवार वर्ग ने प्राणियों का वध करने के लिए उससे खूब प्रार्थना की परन्तु उस महापराक्रमी पुरुष ने प्राणियों का कुछ भी अपकार नहीं किया, किन्तु अपने ही हाथ में कुल्हाड़ी मारकर कहा कि आप लोग मेरी इस पीड़ा को ले लो, उन्होंने कहा हम यह नहीं ले सकते, तब सुलस ने कहा जब यह पीड़ा नहीं ले सकते हैं तब परलोक में पाप का फल भोगते समय आप हमारी क्या सहायता कर सकते हैं ? अतः "मैं यह पाप नहीं करूंगा" यह कहकर उसने जीवहिंसा नहीं की थी ॥५॥



एयमद्वं सपेहाए, परमद्वानुगामियं । निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं ॥६॥

छाया - एतदर्थं स प्रेक्ष्य, परमार्थानुगामिकम् । निर्ममो निरहङ्कारः, चरेद् भिक्षुर्जिणाहितम् ॥

अन्वयार्थ - (स) वह साधु, (एयमद्वं पेहाए) अपने किये हुए पाप से दुःख भोगते हुए प्राणी की ये कोई रक्षा नहीं कर सकते हैं, इस बात का विचारकर तथा (परमद्वानुगामियं) संयम या मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सोचकर (निम्ममो) ममता रहित (निरहंकारो) अहङ्कार रहित होकर (जिणाहियं चरे) जिनभाषित धर्म का आचरण करे ।

भावार्थ - अपने किये हुए कर्मों से सांसारिक दुःख भोगते हुए प्राणी की रक्षा करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है तथा मोक्ष या संयम का कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है । इन बातों को जानकर साधु ममता और अहङ्कार रहित होकर जिनभाषित धर्म का अनुष्ठान करे ।

टीका - धर्मरहितानां स्वकृतकर्मविलुप्यमानानामैहिकामुष्मिकयोर्न कश्चित्त्राणायेति एनं पूर्वोक्तमर्थं स प्रेक्षापूर्वकारी 'प्रत्युपेक्ष्य' विचार्यावगम्य च परमः-प्रधानभूतो (ऽर्थो) मोक्षः संयमो वा तमनुगच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामिकः-सम्यग्दर्शनादिस्तं च प्रत्युपेक्ष्य, क्त्वाप्रत्ययान्तस्य पूर्वकालवाचितया क्रियान्तरसव्यपेक्षत्वात् तदाह-निर्गतं ममत्वं बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः तथा निर्गतोऽहङ्कारः-अभिमानः पूर्वैश्वर्यजात्यादिमद-जनितस्तथा तपःस्वाध्यायलाभादिजनितो वा यस्मादसौ निरहङ्कारो-रागद्वेषरहित इत्यर्थः, स एवम्भूतो भिक्षुर्जिनैराहितः-प्रतिपादितोऽनुष्ठितो वा यो मार्गो जिनानां वा सम्बन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं 'चरेद्' अनुतिष्ठेदिति ॥६॥ अपि च-

टीकार्थ - अपने किये हुए पाप कर्म से दुःख भोगते हुए धर्महीन प्राणी को इसलोक या परलोक में कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है, यह पहले कहा जा चुका है । बुद्धिमान् पुरुष इस बात को जानकर तथा परम अर्थ जो मोक्ष या संयम है, उनका कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, इस बात का भी विचारकर (क्त्वा प्रत्ययान्त पूर्वकालिक अर्थ का बोधक होता है, इसलिए वह दूसरी क्रिया की अपेक्षा रखता है, अतः शास्त्रकार उसे बताते हैं) बाहरी पदार्थ और भीतर की वस्तुओं में साधु ममता न करे । एवं साधु, पहले के ऐश्वर्य, और जातिमद से उत्पन्न, तथा तपस्या, स्वाध्याय और लाभ आदि से उत्पन्न अहङ्कार भी न करे, किन्तु वह राग द्वेष रहित होकर रहे । इस प्रकार रहता हुआ साधु, तीर्थङ्करों के द्वारा कहा हुआ अथवा आचरण किया हुआ अथवा जिन सम्बन्धी जो मार्ग है, उसका आचरण करे ॥६॥

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्रहं ।

चिच्चा ण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए

॥७॥

छाया - त्यक्त्वा वित्तं पुत्रांश्च, ज्ञातींश्च परिग्रहम् । त्यक्त्वाऽन्तगं शोकं, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (वित्तं च पुत्ते य) धन और पुत्रों को (णाइओ य परिग्रहं) तथा ज्ञाति वर्ग और परिग्रह को (चिच्चा) त्यागकर (अंतगं सोयं च चिच्चा) तथा भीतर के ताप को छोड़कर (निरवेक्खो परिव्वए) मनुष्य निरपेक्ष होकर संयम का अनुष्ठान करे ।

भावार्थ - धन, पुत्र, ज्ञाति, परिग्रह और आन्तरिक शोक को छोड़कर मनुष्य संयम का पालन करे ।

टीका - संसारस्वभावपरिज्ञानपरिकर्मितमतिविदितवेद्यः सम्यक् 'त्यक्त्वा' परित्यज्य किं तद् ?- 'वित्तं' द्रव्यजातं पुत्रांश्च त्यक्त्वा, पुत्रेष्वधिकः स्नेहो भवतीति पुत्रग्रहणं, तथा 'ज्ञातीन्' स्वजनांश्च त्यक्त्वा तथा 'परिग्रहं' चान्तरममत्वरूपं णकारो वाक्यालङ्कारे अन्तं गच्छतीत्यन्तगो दुष्परित्यज इत्यर्थः अन्तको वा विनाशकारीत्यर्थः आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मग आन्तर इत्यर्थः तं तथाभूतं 'शोकं' संतापं 'त्यक्त्वा' परित्यज्य, श्रोतो वा- मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायात्मकं कर्माश्रवद्वारभूतं परित्यज्य पाठान्तरं वा- 'चिच्चा णऽन्तगं सोयं' अन्तं गच्छतीत्यन्तगं न अन्तगमनन्तगं श्रोतः शोकं वा परित्यज्य 'निरपेक्षः' पुत्रदारधनधान्यहिरण्यादिकमनपेक्षाणः सन् आमोक्षाय परि-समन्तात् संयमानुष्ठाने 'व्रजेत्' परिव्रजेदिति, तथा चोक्तम्-

“^१छलिया अवयक्खंता निरावयक्खा गया अविग्घेणं” । तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्वं ॥१॥

“^२भोगे अवयक्खंता पडंति संसारसागरे घोरे । भोगेहि निरावयक्खा तरंति संसारकन्तारं ॥२॥”

इति ॥७॥

टीकार्थ - संसार के स्वभाव को जानने से शुद्ध बुद्धिवाला तथा जानने योग्य पदार्थ को जाननेवाला पुरुष अच्छी तरह से छोड़कर, (प्रश्न) क्या छोड़कर ? (उत्तर) द्रव्यसमूह को तथा पुत्रों को छोड़कर (पुत्रों में अधिक स्नेह होता है, इसलिए पुत्र का ग्रहण किया है) तथा ज्ञातियों को छोड़कर एवं अन्दर के ममत्वरूप परिग्रह को छोड़कर (ण शब्द वाक्यालङ्कार में आया है) एवं जो दुःख से छोड़ा जाता है अथवा जो विनाश करनेवाला है अथवा जो आत्मा के भीतर रहता है, उस सन्ताप को छोड़कर अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय स्वरूप जो कर्म के आश्रवद्वार है, उन्हें छोड़कर अथवा (चिच्चाणऽन्तगं सोयं) इस पाठान्तर के अनुसार जिसका अन्त कभी नहीं होता है, उस श्रोत या शोक को छोड़कर साधु पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, और हिरण्य आदि की अपेक्षा नहीं करता हुआ मोक्ष की प्राप्ति के लिए संयम का अनुष्ठान करे । अत एव कहा है कि

(छलिया) अर्थात् जिन्होंने परिग्रह आदि में ममता रखी वे ठगे गये परन्तु जो निरपेक्ष रहे वे निर्विघ्न संसार सागर को तर गये अतः प्रवचन के सिद्धान्त को जाननेवाला पुरुष निरपेक्ष होकर रहे ॥७॥

(भोगे) भोगों की अपेक्षा रखनेवाले व्यक्ति घोर संसार सागर में पड़ते हैं । भोगों से निरपेक्ष जीव संसार रूपी अटवी को पार कर सकते हैं ।



- स एवं प्रव्रजितः सुव्रतावस्थितात्माऽहिंसादिषु व्रतेषु प्रयतेत, तत्राहिंसाप्रसिद्धयर्थमाह- 'पुढवी उ' इत्यादि श्लोकद्वयं,

- इस प्रकार दीक्षा लिया हुआ वह साधु सुन्दर व्रत में स्थिर होकर अहिंसा आदि महाव्रतों में प्रयत्न करो उसमें अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए शास्त्रकार "पुढवी" इत्यादि दो श्लोक कहते हैं

पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्खसबीयगा ।

अंडया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया

॥८॥

१. छलिता अपेक्षमाणा निरपेक्षमाणा गता अविघ्नेन तस्मात्प्रवचनसारे (ज्ञाते) निरपेक्षेण भवितव्यम् ॥१॥

२. भोगानपेक्षमाणाः पतन्ति संसारसागरे घोरे । भोगेषु निरपेक्षास्तरन्ति संसारकान्तारं ॥१॥

छाया - पृथिवीत्वर्गिवायुस्तृणवृक्षाः सबीजकाः । अण्डजाः पोतजरायुजाः, रससंस्वेदोद्विज्जाः ॥

अन्वयार्थ - (पुढवी, अगणी, वाऊ तणरुक्ख सबीयगा) पृथिवी, अग्नि, वायु, वृक्ष और बीज (अंडया पोयजराऊ) अण्डज पोत तथा जरायुज (रससंसेयउब्भिया) रसज, स्वेदज और उद्विज्ज (ये सब जीव हैं)

भावार्थ - पृथिवी, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष, बीज, अण्डज, पोत, जरायुज, रसज, स्वेदज, और उद्विज्ज ये सब जीव हैं ।

टीका - तत्र पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तिकापर्याप्तकभेदभिन्नाः तथाऽपूकायिका अग्निकायिका वायुकायिका-श्चैवम्भूता एव, वनस्पतिकायिकान् लेशतः सभेदानाह-'तृणानि' 'कुशवच्चकादीनि, 'वृक्षाः' चूताशोकादिकाः, सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजाः, बीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि, एते एकेन्द्रियाः पञ्चापि कायाः षष्ठत्रसकायनिरूपणायाह-अण्डाज्जाता अण्डजाः-शकुनिगृहकोकिलसरीसृपादयः, तथा पोता एव जाताः पोतजा-हस्तिशरभादयः, तथा जरायुजा ये जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः, तथा रसात्-दधिसौवीरकादेर्जाता रसजास्तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा-यूकामत्कुणादयः, 'उद्विज्जाः' खञ्जरीटकदर्दुरादय इति, अज्ञातभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनोपन्यास इति ॥८॥

टीकार्थ - पृथिवीकाय के जीव, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से पृथक्-पृथक् हैं, इसी तरह जलकाय के जीव, अग्निकाय के जीव और वायुकाय के जीव भी पृथिवीकाय के जीव के समान ही भेदवाले हैं। अब शास्त्रकार संक्षेप से वनस्पतिकाय के जीवों का भेद बताते हैं-कुश और वच्चक आदि तृण तथा आम और अशोक आदि वृक्ष, तथा शालि, गेहूं और यव आदि बीज, ये पाँच ही जीवकाय एकेन्द्रिय हैं । अब शास्त्रकार छट्ठा त्रसकाय का निरूपण करने के लिए कहते हैं-अण्डे से उत्पन्न होनेवाले शकुनि, गृहकोकिल, और सरीसृप आदि प्राणी अण्डज हैं । तथा बच्चे के रूप में पैदा होनेवाले हाथी और शरभ आदि पोतज हैं । एवं जम्बाल से वेष्टित होकर उत्पन्न होनेवाले गाय और मनुष्य आदि जरायुज हैं, तथा दही और सौवीर आदि से उत्पन्न होनेवाले प्राणी रसज हैं एवं स्वेद से उत्पन्न होनेवाले यूक और खटमल आदि प्राणी स्वेदज हैं, तथा खञ्जरीट टिड्डी और मेढ़क आदि प्राणी उद्विज्ज हैं । इनका भेद जाने बिना इनकी रक्षा दुःख से होगी, इसलिये यहां भेद करके बताया है ॥८॥



एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।

मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही

॥९॥

छाया - एतैः षड्भिः कायैस्तद् विद्वान् परिजाणीयात् । मणसा कायवाक्येन नारम्भी न परिग्गही ॥

अन्वयार्थ - (विज्जं) विद्वान् पुरुष (एतेहिं छहिं काएहिं) इन छही कार्यों का आरम्भ न करे किन्तु (तं परिजाणिया) इन्हें जीव जाने (मणसाकायवक्केणं) और मन, वचन तथा काय से (णारम्भी न परिग्गही) आरम्भ और परिग्रह न करे ।

भावार्थ - विद्वान् पुरुष पूर्वोक्त इन छही कार्यों को जीव समझकर मन, वचन और काय से इनका आरम्भ और परिग्रह न करे ।

टीका - 'एभिः' पूर्वोक्तैः षड्भिरपि 'कायैः' त्रसस्थावररूपैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तिकापर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारम्भी नापि परिग्रही स्यादिति सम्बन्धः, तदेतद् 'विद्वान्' सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्ज्जी-वोपमर्दकारिणमारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥९॥

टीकार्थ - ये पूर्वोक्त छः काय के जीव, जो त्रस और स्थावररूप तथा सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, और अपर्याप्त भेदवाले हैं, इनका आरम्भ न करे और परिग्रह भी न करे यह सम्बन्ध है । विद्वान् पुरुष ज्ञपरिज्ञा से इन्हें जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से मन, वचन और काय के द्वारा जीवों का घात करनेवाले आरम्भ और परिग्रह को वर्जित करे ॥९॥



- शेषव्रतान्यधिकृत्याह-

- अब शास्त्रकार शेष व्रतों के विषय में कहते हैं-

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया ।

सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया

॥१०॥

छाया - मृषावादं मैथुनशावग्रहज्ञायाचितम् । शस्त्राण्यादानानि लोके, तद्विद्वान् परिजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (मुसावायं) झूठ बोलना, (बहिद्धं च) मैथुन सेवन करना, (उग्गहं) परिग्रह करना (अजाइया) तथा अदत्तादात लेना (लोगंसि सत्थादाणाइं) ये सब लोक में शस्त्र के समान और कर्मबन्ध के कारण है (विज्जं तं परिजाणिया) विद्वान् ज्ञपरिज्ञा से इन्हें जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे ।

भावार्थ - झूठ बोलना, मैथुन सेवन करना, परिग्रह ग्रहण करना, और अदत्तादान लेना ये सब लोक में शस्त्र के समान और कर्मबन्ध के कारण हैं इसलिए विद्वान् मुनि इन्हें ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे ।

टीका - मृषा असद्भूतो वादो मृषावादस्तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् तथा 'बहिद्धं'ति मैथुनं 'अवग्रहं' परिग्रहमयाचितम्-अदत्तादानं, [ग्रं० ५२५०] यदिवा बहिद्धमिति-मैथुनपरिग्रहौ अवग्रहमयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतं, एतानि च मृषावादादीनि प्राण्युपतापकारित्वात् शस्त्राणीव शस्त्राणि वर्तन्ते । तथाऽऽदीयते-गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मैभिरिति (आदानानि) कर्मोपादानकारणान्यस्मिन् लोके, तदेतसर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१०॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - झूठ बोलने को 'मृषावाद' कहते हैं, उसको विद्वान् मुनि प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे । तथा मैथुन को 'बहिद्ध' कहते हैं, और परिग्रह को 'अवग्रह' कहते हैं एवं अदत्तादान को अयाचित कहते हैं अथवा बहिद्ध पद से मैथुन और परिग्रह दोनों लिये जाते हैं और अवग्रह तथा अयाचित पद से अदत्तादान लिया जाता है। ये पूर्वोक्त मृषावाद आदि प्राणियों को पीड़ा देने के कारण शस्त्र के समान हैं तथा आठ प्रकार के कर्मबन्ध के कारण हैं । अतः विद्वान् पुरुष इन बातों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे ॥१०॥



- पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्यपादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति दर्शयति-

- जिस पुरुष में कषाय है, उसका पञ्च महाव्रत धारण करना व्यर्थ है, इसलिए पञ्च महाव्रत को सफल करने के लिए कषाय को रोकना चाहिए । यह शास्त्रकार दिखलाते हैं-

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि या ।

धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया

॥११॥

छाया - पलिकुञ्चनञ्च भजनञ्च, स्थण्डिलोच्छ्रयणाणि च । धूण्यादानानि लोके, तद्विद्वान् परिजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (पलिउंचणं च) माया (भयणं च) और लोभ, (थंडिल्लुस्सयणाणि य) क्रोध और मान को (धूण) त्याग करो (लोगंसि आदाणाइं) क्योंकि ये सब लोक में कर्मबन्ध के कारण है (विज्जं तं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन्हें जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - माया, लोभ, क्रोध और मान, संसार में कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिए विद्वान् मुनि इनका त्याग करे।

टीका - परि-समन्तात् कुञ्च्यन्ते-वक्रतामापाद्यन्ते क्रिया येन मायानुष्ठानेन तत्पलिकुञ्चनं मायेति भण्यते, तथा भज्यते सर्वत्रात्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो-लोभस्तं, तथा यदुदयेन ह्यात्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति स स्थण्डिलः-क्रोधः, यस्मिंश्च सत्यध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाध्मातः पुरुष उत्तानीभवति स उच्छ्रयो-मानः, छान्दसत्वात्त्रुसकलिङ्गता, जात्यादिमदस्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्यापि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनं, चकाराः स्वगतभेदसंसूचनार्थाः समुच्चयार्था वा, धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया, तद्यथा-पलिकुञ्चनं-मायां धूनय धूनीहि वा, तथा भजनं-लोभं, तथा स्थण्डिलं-क्रोधं,

तथा उच्छ्रायं-मानं, विचित्रत्वात् सूत्रस्य क्रमोल्लङ्घनेन निर्देशो न दोषायेति, यदिवा-रागस्य दुस्त्यजत्वात् लोभस्य च मायापूर्वकत्वादित्यादावेव मायालोभयोरुपन्यास इति, कषायपरित्यागे विधेये पुनरपरं कारणमाह-एतानि पलिकुञ्चनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्तन्ते, तदेतद्विद्वान् जपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥११॥

टीकार्थ - जिससे मनुष्य की क्रिया पूर्णरूप से टेढ़ी हो जाती है, उसे 'पलिकुञ्चन' कहते हैं। वह माया है। जिससे आत्मा सर्वत्र झूक जाता है, उसे 'भजन' कहते हैं। वह लोभ है। जिसके उदय से आत्मा सत् और असत् के विवेक से हीन होकर स्थण्डिल के समान हो जाता है, वह स्थण्डिल कहलाता है, वह क्रोध है। तथा जिसके होने से जीव उत्तान हो जाता है, उसे उच्छ्राय कहते हैं, वह जाति आदि के द्वारा उत्पन्न मान है। मान शब्द वस्तुतः पुंलिङ्ग है तथापि छन्द होने के कारण यहां नपुंसक लिङ्ग हुआ है। जाति आदि मद के स्थान बहुत होते हैं, इसलिए यहां बहुवचन हुआ है। चकार स्वगत भेद को सूचित करने के लिए है अथवा वह समुच्चयार्थक है। यहां धूनय (त्यागकरो) इस क्रिया का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। जैसेकि (हे शिष्य !) तुम माया को छोड़ो, लोभ को छोड़ो इत्यादि। यहां माया, लोभ, क्रोध, और मान इस प्रकार जो क्रम का उल्लंघन करके कषायों का निर्देश किया है, सो सूत्र की विचित्रता के कारण दोष नहीं है। अथवा राग दुस्त्यज होता है और लोभ मायापूर्वक ही होता है, इसलिए पहले ही माया और लोभ का निर्देश किया है। कषायों के त्याग में शास्त्रकार दूसरा कारण भी बताते हैं-ये माया आदि लोक में कर्म-बन्ध के कारण हैं, अतः इसे जानकर विद्वान् पुरुष इनका त्याग करे ॥११॥



- पुनरप्युत्तरगुणानधिकृत्याह-

- पुनः शास्त्रकार उत्तरगुणों के विषय में कहते हैं-

धोयणं रयणं चेव, बत्थीकम्मं विरेयणं ।

वमणंजण पलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया

॥१२॥

छाया - धावणं रञ्जनञ्चैव, बस्तिकर्म विरेचनम् । वमणाञ्जनं पलिमन्थं, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अन्वयार्थ - (धोयणं) हाथ, पैर तथा वस्त्र आदि धोना (रयणं) तथा उनको रंगना (बत्थीकम्मं विरेयणं) बस्तिकर्म करना और विरेचन (वमणंजण) दवा लेकर वमन करना तथा आँखों में अञ्जन लगाना (पलिमंथं) इत्यादि संयम को नष्ट करनेवाले कार्यों को (विज्जं परिजाणिया) विद्वान् पुरुष जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - हाथ, पैर धोना, और उनको रंगना एवं बस्तिकर्म, विरेचन, वमन और नेत्र में अञ्जन लगाना ये सब संयम को नष्ट करनेवाले हैं, इसलिए विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ।

टीका - धावनं-प्रक्षालनं हस्तपादवस्त्रादे, रञ्जनमपि तस्यैव, चकारः, समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणे, तथा बस्तिकर्म-अनुवासनारूपं तथा 'विरेचनं' निरूहात्मकमधोविरेको वा वमनम्-ऊर्ध्वविरेकस्तथाऽञ्जनं नयनयोः, इत्येवमादिकमन्यदपि शरीरसंस्कारादिकं यत् 'संयमपलिमन्थकारि' संयमोपघातरूपं तदेतद्विद्वान् स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत ॥१२॥ अपि च-

टीकार्थ - हाथ, पैर और वस्त्र आदि को धोना और उनको रंगना, (चकार समुच्चयार्थक है) (एवकार अवधारणार्थक है) बस्तिकर्म अर्थात् एनिमा लेना इत्यादि, तथा जुलाब लेना एवं दवा लेकर वमन करना, और आँख में अञ्जन लगाना इन सभी को तथा दूसरे भी शरीर संस्कार आदि जो संयम के विघातक हैं, उनके स्वरूप और फल को जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे ॥१२॥



1. निरूहो निश्चिते तर्के बस्तिभेदे इति हेमः ।

गन्धमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तथा ।

परिगृह्णित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया

॥१३॥

छाया - गन्धमाल्यस्नानाणि, दन्तप्रक्षालनं तथा । परिग्रहस्त्रीकर्माणि तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥

अन्वयार्थ - (गन्धमल्लसिणाणं च) शरीर में गन्ध लगाना तथा फूलमाला पहिनना एवं स्नान करना (तथा दंतपक्खालणं) तथा दांतों को धोना (परिगृह्णित्थिकम्मं च) परिग्रह रखना, स्त्रीभोग करना तथा हस्तकर्म करना (तं विज्जं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इनको पाप का कारण जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - गन्ध, फूलमाला, स्नान, दांतों को धोना, परिग्रह रखना, स्त्रीसेवन करना, हस्तकर्म करना, इनको पाप का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे ।

टीका - 'गन्धाः' कोष्ठपुटादयः 'माल्यं' जात्यादिकं 'स्नानं च' शरीरप्रक्षालनं देशतः सर्वतश्च, तथा 'दन्तप्रक्षालनं' कदम्बकाष्ठादिना तथा 'परिग्रहः' सचित्तादेः स्वीकरणं तथा स्त्रियो-दिव्यमानुषतैश्चयः तथा 'कर्म' हस्तकर्म सावधानुष्ठानं वा तदेतत्सर्वं कर्मोपादानतया संसारकारणत्वेन परिज्ञाय विद्वान् परित्यजेदिति ॥१३॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - कोष्ठपुट आदि गन्ध (आजकल इत्तर सेन्ट वगैरह) चमेली आदि फूलों की माला तथा स्नान यानी शरीर के थोड़े भाग को या सर्व शरीर को धोना, तथा कदम्ब आदि की लकड़ी से दांत धोना, एवं सचित्त आदि पदार्थों का परिग्रह करना तथा देवता, मनुष्य या तिर्यञ्च जाति की स्त्रियों से मैथुन करना, एवं हस्तकर्म करना अथवा और जो सावद्य अनुष्ठान हैं, उनको कर्मबन्ध तथा संसार का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे ॥१३॥



उद्देशियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं ।

पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया

॥१४॥

छाया - उद्देशिकं क्रीतक्रीतं, पामित्यं चैवाहृतम् । पूयमनेषणीयञ्च, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अन्वयार्थ - (उद्देशियं) साधु को देने के लिए जो आहार आदि तैयार किया गया है (कीयगडं) तथा साधु के लिए जो खरीद किया गया है (पामिच्चं) एवं साधु को देने के लिए जो दूसरे से उधार लिया गया है (आहडं) तथा साधु को देने के लिए जो गृहस्थों के द्वारा लाया हुआ है (पूयं) जो आधाकर्म आहार से मिला हुआ है (अणेसणिज्जं) तथा जो आहार आदि दोष से युक्त अशुद्ध है (विज्जं तं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन सभी को संसार का कारण जानकर निःस्पृह होकर त्याग करे ।

भावार्थ - साधु को दान देने के लिए जो आहार वगैरह तैयार किया गया है तथा जो मोल लिया गया है एवं गृहस्थ ने साधु को देने के लिए जो आहार आदि लाया है तथा जो आधाकर्म आहार से मिश्रित है । इस प्रकार जो आहार आदि किसी भी कारण से दोष युक्त है, उसको संसार का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे ।

टीका - साध्वाद्युद्देशेन यद्दानाय व्यवस्थाप्यते तदुद्देशिकं, तथा 'क्रीतं' क्रयस्तेन क्रीतं- गृहीतं क्रीतक्रीतं 'पामिच्चं' ति साध्वर्थमन्यत उद्यतकं यद्गृह्यते तत्तदुच्यते, चकारः समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणार्थः, साध्वर्थं यद्गृहस्थेनानीयते तदाहृतं, तथा 'पूयं'मिति आधाकर्मावयवसम्पृक्तं शुद्धमप्याहारजातं पूति भवति, किं बहुनोक्तेन ?, यत् केनचिदोषेणानेषणीयम्- अशुद्धं तत्सर्वं विद्वान् परिज्ञाय संसारकारणतया निःस्पृहः सन् प्रत्याचक्षीतेति ॥१४॥ किञ्च-

टीकार्थ - साधु आदि को देने के लिए जो आहार रखा जाता है, उसको उद्देशिक कहते हैं । खरीदे हुए आहार आदि को क्रीत कहते हैं । एवं साधु को देने के लिए जो आहार दूसरे से उधार लिया गया है, उसको 'पामित्य' कहते हैं । (चकार समुच्चयार्थक है, एवकार अवधारणार्थक है) तथा साधु को देने के लिए गृहस्थ के द्वारा जो आहार लाया गया है, वह 'आहृत' कहा जाता है तथा आधाकर्म आहार के एक कण से युक्त होने पर शुद्ध भी आहार अशुद्ध हो जाता है, इसलिए ऐसे आहार को 'पूत' कहते हैं, और कहां तक कहें, किसी भी दोष से जो आहार दूषित हो गया है, उसको संसार का कारण समझकर निःस्पृह विद्वान् मुनि त्याग करे ॥१४॥

आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं ।

उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया

॥१५॥

छाया - आशूणमक्षिरागं च, गृद्धुपघातकर्मकम्, उच्छोलणं च कल्कं च, तद्विद्वान् परिजाणीयात्- ॥१५॥

अन्वयार्थ - (आसूणिमक्खिरागं च) रसायन आदि खाकर बलवान् होना, तथा नेत्र में शोभा के लिए अञ्जन लगाना (गिद्धुवघायकम्मगं) तथा शब्दादि विषयों में आसक्त होना एवं जिस कर्म से जीवों का घात होता है, उसे करना, (उच्छोलणं च कक्कं च) अयत्नपूर्वक शीत पानी से हाथ पैर वगैरह धोना तथा शरीर में पिट्टी लगाना (तं विज्जं परिजाणिया) इन सभी को विद्वान् मुनि संसार भ्रमण का कारण जानकर त्याग करे।

भावार्थ - रसायन आदि का सेवन करके बलवान् बनना तथा शोभा के लिए आंख में अंजन लगाना, तथा शब्दादि विषयों में आसक्त होना, एवं जिससे जीवों का घात हो वह कर्म करना जैसे कि शीत पानी से अयत्नपूर्वक हाथ पैर आदि धोना तथा शरीर में पीट्टी लगाना, इन बातों को संसार का कारण जानकर साधु त्याग करे ।

टीका - येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ-समन्तात् शूनीभवति- बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते, यदिवा आसूणि स्ति-श्लाघा यतः श्लाघया क्रियमाणया आ-समन्तात् शूनवच्छूनो लघुप्रकृतिः कश्चिद्वर्षाध्मातत्वात् स्तब्धो भवति, तथा अक्ष्णां 'रागो' रञ्जनं सौवीरादिकमञ्जनमिति यावत्, एवं रसेषु शब्दादिषु विषयेषु वा 'गृद्धि' गाद्धर्यं तात्पर्यमासेवा, तथोपघातकर्म-अपरापकारक्रिया येन केनचित्कर्मणा परेषां जन्तूनामुपघातो भवति तदुपघातकर्मैत्युच्यते, तदेव लेशतो दर्शयति-'उच्छोलनं'ति अयतनया शीतोदकादिना हस्तपादादिप्रक्षालनं तथा 'कल्कं' लोघ्रादिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्धर्तनकं तदेतत्सर्वं कर्मबन्धनायेत्येवं 'विद्वान्' पण्डितो ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१५॥ अपि च-

टीकार्थ - घृत पीना, अथवा रसायन का सेवन आदि जिस आहार विशेष के कारण मनुष्य बलवान् बनता है, उसको 'आशूनी' कहते हैं । अथवा आशूनी प्रशंसा को कहते हैं, क्योंकि तुच्छ प्रकृतिवाले जीव अपनी प्रशंसा को करते हैं, क्योंकि तुच्छ प्रकृतिवाले जीव अपनी प्रशंसा सुनकर घमण्ड से फूल जाते हैं । तथा शोभा के लिए आंख में सौवीरक आदि का अञ्जन लगाना, इसी तरह रसों में अथवा शब्दादि विषयों में आसक्त होना, एवं जिस क्रिया से प्राणियों का घात होता है, उसे उपघात कर्म कहते हैं, वह दूसरे का अपकार करना है, उस कर्म को करना, इसी बात को शास्त्रकार संक्षेप से बताते हैं । अयत्नपूर्वक शीत पानी (या उबाले हुए अचित्त जल से) से हाथ पैर आदि धोना, तथा लोघ्र आदि द्रव्यों की पिट्टी बनाकर, उसका शरीर में लेप करना, ये सब कार्य कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिए विद्वान् मुनि इन्हें जानकर त्याग करे ॥१५॥



संप्रसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य ।

सागरियं च पिण्डं च, तं विज्जं परिजाणिया

॥१६॥

छाया - सम्प्रसारी कृतक्रियः प्रश्नायतनानि च । सागारिकं च पिण्डं च, तद्विद्वान् परिजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (संप्रसारी) असंयतों के साथ साधु संसार की बातें न करे (कयकिरिए) तथा असंयम के अनुष्ठान की प्रशंसा न करे (पसिणायतणाणि य) तथा ज्योतिष के प्रश्नों का उत्तर न दे (सागारियं च पिण्डं च) शय्यातर पिण्ड न ले (तं विज्जं परिजाणिया) साधु इन बातों को संसार का कारण जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - असंयतों के साथ सांसारिक वार्तालाप करना तथा असंयम के अनुष्ठान की प्रशंसा करना, एवं ज्योतिष के प्रश्नों का उत्तर देना तथा शय्यातर का पिण्ड लेना, इन बातों को संसारभ्रमण का कारण जानकर साधु त्याग करे ।

टीका - असंयतैः सार्धं सम्प्रसारणं-पर्यालोचनं परिहरेदिति वाक्यशेषः, एवमसंयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशदानं, तथा 'कयकिरिओ' नाम कृता शोभना गृहकरणादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयमानुष्ठानप्रशंसनं, तथा प्रश्नस्य-आदर्शप्रश्नादेः 'आयतनम्' आविष्करणं कथनं यथाविवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि, यदिवा-प्रश्नायतनानि लौकिकानां परस्परव्यवहारे

मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणायतनानि-निर्णयनानीति, तथा 'सागारिकः' शय्यातरस्तस्य पिण्डम्-आहारं, यदिवा-सागारिकपिण्डमिति सूतकगृहपिण्डं जुगुप्सितं वर्णापसदपिण्डं वा, चशब्दः समुच्चये, तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१६॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - असंयत पुरुषों के साथ सांसारिक बातों का विचार करना साधु छोड़ देवे । इसी तरह वह असंयम के अनुष्ठान का उपदेश न करे । एवं जिसने अपने मकान आदि की शोभा की है, उसके उस असंयमरूप अनुष्ठान की साधु प्रशंसा न करे । तथा साधु ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर न देवे । अथवा लौकिक पुरुषों का परस्पर के व्यवहार में उनके मिथ्याशास्त्र के विषय में संशय होने पर अथवा उनके द्वारा प्रश्न किये जाने पर साधु उस शास्त्र की यथार्थ बातें बताकर निर्णय न करे । तथा शय्यातर का पिण्ड, अथवा सूतकवाले घर का पिण्ड, अथवा नीच के घर का पिण्ड, साधु न ले । उक्त बातों को साधु ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे ॥१६॥



अष्टावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए ।

हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया

॥१७॥

छाया - अष्टापदं न शिक्षेत्, वेधातीतं च नो वदेत् । हस्तकर्म विवादं च, तद्विद्वान् परिजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (अष्टावयं न सिक्खिज्जा) साधु जुआ खेलने का अभ्यास न करे (वेहाईयं च नो वए) तथा जो बात धर्म से विरुद्ध है, वह न बोले (हत्थकम्म विवायं च) तथा हस्तकर्म और विवाद न करे (तं विज्जं परिजाणिया) साधु इन बातों को संसार भ्रमण का कारण जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - साधु जुआ खेलने का अभ्यास न करे तथा अधर्मप्रधान वाक्य न बोले । एवं वह हस्तकर्म तथा विवाद न करे । इन बातों को संसार भ्रमण का कारण जानकर विद्वान् पुरुष त्याग करे ।

टीका - अर्थेति इत्यर्थो-धनधान्यहिरण्यादिकः पद्यते-गम्यते येनार्थस्तत्पदं शास्त्रं अर्थार्थं चाणाक्यादिकमर्थशास्त्रं तत्र 'शिक्षेत्' नाभ्यस्येत् नाप्यपरं प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदिवा-'अष्टापदं' द्यूतक्रीडाविशेषस्तं न शिक्षेत्, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति, तथा 'वेधो' धर्मानुवेधस्तस्मादतीतं सद्धर्मानुवेधातीतम्-अधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् यदिवा-वेध इति वस्त्रवेधो द्यूतविशेषस्तद्रूपं वचनमपि नो वदेद् आस्तां तावत्क्रीडनमिति, हस्तकर्म प्रतीतं, यदिवा 'हस्तकर्म' हस्तक्रिया परस्परं हस्तव्यापारप्रधानः कलहस्तं, तथा विरुद्धवादं विवादं शुष्कवादमित्यर्थः, चः समुच्चये, तदेतत्सर्वं संसारभ्रमणकारणं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥१७॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो उपार्जन किया जाता है, उसे अर्थ कहते हैं, वह धन, धान्य और हिरण्य आदि है, वह जिसके द्वारा प्राप्त होता है, उसको अर्थपद कहते हैं । अथवा धन उपार्जन के लिए जो शास्त्र है, उसको अर्थपद कहते हैं । वह चाणक्य आदि का बनाया हुआ अर्थशास्त्र है । साधु उस शास्त्र का अभ्यास न करे । तथा प्राणियों के घात की शिक्षा देनेवाले जो दूसरे शास्त्र हैं, उनका भी अभ्यास न करे । अथवा अष्टापद नाम जुआ खेलने का है, उसको साधु न सीखे तथा पहले सीखे हुए जुआ का अनुशीलन भी न करे । तथा धर्म के उल्लङ्घन को 'वेध' कहते हैं । जिससे धर्म का उल्लङ्घन हो ऐसा अधर्मप्रधान वाक्य साधु न बोले । अथवा वेध यानी वस्त्रवेध, वह जुआ की एक जाति है, उसका वचन भी साधु न बोले फिर खेलने की तो बात ही क्या है ? । तथा हस्तकर्म प्रसिद्ध है अथवा परस्पर हाथ से मारामारी करना तथा शुष्कवाद करना, (च शब्द समुच्चयार्थक है) इन बातों को साधु संसार भ्रमण का कारण जानकर त्याग करे ॥१७॥



पाणहाओ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं ।

परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया

॥१८॥

छाया - उपानहौ च छत्रञ्च, नालिकं बालव्यजनम् । परिक्रियाद्याऽन्योऽन्यं, तद्विद्वान् परिजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (पाणहाओ य छत्रं य) जुता पहनना छत्रा लगाना (नालीयं बालवीयणं) जुआ खेलना पंखा से पवन करना, (अन्नमन्नं परिक्रियं) तथा परस्पर की क्रिया (तं विज्जं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इनको कर्म बन्धन का कारण जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - जुता पहनना, छत्रा लगाना, जुआ खेलना, पंखे से पवन करना, तथा जिसमें कर्मबन्ध हो ऐसी परस्पर की क्रिया, इनको कर्मबन्ध का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे ।

टीका - उपानहौ-काष्ठपादुके च तथा आतपादिनिवारणाय छत्रं तथा 'नालिका' द्यूतक्रीडाविशेषस्तथा बालैः मयूरपिच्छैर्वा व्यजनकं तथा परेषां सम्बन्धिनीं क्रियामन्योऽन्यं-परस्परतोऽन्यनिष्पाद्यामन्यः करोत्यपरनिष्पाद्यां चापर इति, चः समुच्चये, तदेतत्सर्वं 'विद्वान्' पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१८॥ तथा-

टीकार्थ - उपानह यानी लकड़ी का खड़ाऊं पहनना, तथा धूप की रक्षा के लिए छत्रा लगाना, एवं नालिका यानी एक प्रकार का जुआ खेलना, तथा मोर की पांख आदि का बना हुआ पंखा, एवं परस्पर की क्रिया जिसमें कर्मबन्ध होता है, इन सभी को संसार भ्रमण का कारण जानकर साधु त्याग करे ॥१८॥

उच्चारं पासवणं, हरिणसु ण करे मुणी ।

वियडेण वावि साहट्टु, णावमज्जे(यमेज्जा) कयाइवि

॥१९॥

छाया - उच्चारं प्रस्रवणं हरितेषु न कुर्याब्बुद्धिः । विकटेन वाऽपि संहृत्य, नाचमेत कदाचिदपि ॥

अन्वयार्थ - (मुणी उच्चारं पासवणं हरिणसु ण करे) साधु हरी वनस्पतिवाले स्थान में टट्टी या पेशाब न करे (साहट्टु) बीज आदि को हटाकर (वियडेण वावि) अचित्त जल से भी (कयाइवि) कदापि (णावमज्जे) आचमन न करे ।

भावार्थ - साधु हरी वनस्पतिवाले स्थान पर टट्टी या पेशाब न करे एवं बीज आदि हटाकर अचित्त जल से भी आचमन न करे ।

टीका - उच्चारप्रस्रवणादिकां क्रियां हरितेषूपरि बीजेषु वा अस्थण्डिले वा 'मुनिः' साधुर्न कुर्यात्, तथा 'विकटेन' विगतजीवेनाप्युदकेन 'संहृत्य' अपनीयं बीजानि हरितानि वा 'नाचमेत' न निर्लेपनं कुर्यात्, किमुताविकटे-नेतिभावः ॥१९॥ किञ्च-

टीकार्थ - विद्वान् मुनि, हरी वनस्पति के ऊपर तथा बीज के ऊपर अथवा अयोग्य स्थान में टट्टी या पेशाब न करे । तथा बीज या हरी वनस्पति को हटाकर अचित्त जल से भी आचमन न करे फिर सचित्त जल से करने की तो बात ही क्या है ? ॥१९॥

परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइवि ।

परवत्थं अचेलोऽवि, तं विज्जं परिजाणिया

॥२०॥

छाया - परामत्रेऽन्नपाणं, न भुञ्जीत कदाचिदपि । परवत्थमचेलोऽपि, तद्विद्वान् परिजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (परमत्ते अन्नपाणं कयाइवि ण भुंजेज्ज) दूसरे के पात्र में अर्थात् गृहस्थ के बर्तन में साधु अन्न या जल कभी भी न भोगे (अचेलोऽपि परवत्थं) तथा वस्त्ररहित होने पर भी साधु गृहस्थ का वस्त्र न पहने (तं विज्जं परिजाणिया) साधु इन बातों को संसार भ्रमण का कारण जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - साधु गृहस्थ के बर्तन में भोजन न करे तथा जल न पीये । एवं वस्त्ररहित होने पर भी साधु गृहस्थ का वस्त्र न पहिने । क्योंकि ये सब संसार भ्रमण के कारण हैं, इसलिए विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ।

टीका - परस्य-गृहस्थस्यामत्रं-भाजनं परामत्रं तत्र पुरःकर्मपश्चात्कर्मभयात् हतनष्टादिदोषसम्भवाच्च अत्रं पानं च मुनिर्न कदाचिदपि भुञ्जीत, यदिवा-पतद्ग्रहधारिणश्छिद्रपाणेः पाणिपात्रं परपात्रं, यदिवा-पाणिपात्रस्याच्छिद्र-पाणेर्जिनकल्पिकादेः पतद्ग्रहः परपात्रं तत्र संयमविराधनाभयात् भुञ्जीत तथा परस्य-गृहस्थस्य वस्त्रं परवस्त्रं तत्साधुर-चेलोऽपि सन् पश्चात्कर्मादिदोषभयात् हतनष्टादिदोषसम्भवाच्च न बिभृयात्, यदिवा-जिनकल्पिकादिकोऽचेलो भूत्वा सर्वमपि वस्त्रं परवस्त्रमिति कृत्वा न बिभृयाद्, तदेतत्सर्वं परपात्रभोजनादिकं संयमविराधकत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥२०॥ तथा-

टीकार्थ - गृहस्थ का पात्र साधु के लिए परपात्र है । उसमें साधु आहार न खाये और जल भी न पीये, क्योंकि गृहस्थ के पात्र में पहले या पीछे कच्चा पानी से धोये जाने, चोरी हो जाने एवं हाथ से गिर कर टुट जाने आदि का भय रहता है । अथवा स्थविरकल्पी साधु पात्र रखते हैं क्योंकि उनकी अञ्जलि छिद्रयुक्त होती है, इसलिए स्थविरकल्पी मुनि का अञ्जलिरूप पात्र भी परपात्र है अतः उसमें स्थविरकल्पी साधु आहार न खाये और जल न पीये । अथवा जिनकल्पी आदि मुनि पात्र नहीं रखते हैं, उनकी अञ्जलि ही उनका पात्र है, उनकी अञ्जलि छिद्ररहित होती है (इसलिए उसमें से कोई चीज गिरती नहीं है) अतः जिनकल्पी मुनि के लिए दूसरे पात्र परपात्र है, उनमें वे संयम की विराधना के भय से आहार न खाये और जल न पीये । एवं साधु वस्त्ररहित होते हुए भी, पहले या पीछे कच्चे जल से धोये जाने तथा चोरी हो जाने या फट जाने आदि के भय से गृहस्थ का वस्त्र न पहिनें । अथवा जिनकल्पी मुनि वस्त्ररहित होते हैं, उनके सभी वस्त्र पर वस्त्र है, इसलिए वे वस्त्र न पहने, इस प्रकार साधु परपात्र में भोजन आदि को संयम का विराधक समझकर त्याग करें ॥२०॥



आसन्दी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।

संपुच्छणं सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया

॥२१॥

छाया - आसन्दी, पर्यङ्क, निषद्या गृहान्तरे । संप्रश्नं स्मरणं वापि, तद्विद्वान् परिजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (आसन्दी पलियंके य) मैथिया और पलंग (गिहंतरे णिसिज्जं) तथा गृहस्थ के घर के भीतर बैठना (संपुच्छणं) गृहस्थ का कुशल पूछना (सरणं) तथा अपनी पहिली क्रीड़ा का स्मरण (तं विज्जं परिजाणिया) इनको विद्वान् मुनि संसारभ्रमण का कारण समझकर त्याग करे ।

भावार्थ - साधु मैथियापर न बैठे और पलंगपर न सोये एवं गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच में जो छोटी गली होती है, उसमें न बैठे एवं गृहस्थ का कुशल न पूछे तथा अपनी पहिली क्रीड़ा का स्मरण न करे । इन सभी बातों को संसार भ्रमण का कारण समझकर त्याग करे ।

टीका - 'आसन्दी' त्यासनविशेषः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सर्वोऽप्यासनविधिर्गृहीतः, तथा 'पर्यङ्कः' शयनविशेषः, तथा गृहस्थान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविराधनाभयात्परिहरेत्, तथा चोक्तम्-
"गम्भीरञ्जुसिरा एते, पाणा दुप्पडिलेहगा । अगुत्ती बंभचेरुत्त, इत्थीओ वावि संकणा ॥१॥"

इत्यादि, तथा तत्र गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छनं आत्मीयशरीरावयवप्रच्छ (पुच्छ) नं वा तथा पूर्वक्रीडितस्मरणं 'विद्वान्' विदितवेद्यः सन्ननर्थायेति ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् ॥२१॥ अपिच-

टीकार्थ - आसन्दी, आसनविशेष को कहते हैं । यह उपलक्षण है इसलिए सभी आसनविधियों का इससे ग्रहण करना चाहिए । तथा शयनविशेष यानी पलंग को पर्यङ्क कहते हैं, तथा गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के मध्य में सोना या बैठना, इन सभी को संयम की विराधना के भय से साधु त्याग देवे । जैसा कि कहा है-

1. गम्भीरविजया इति द० अ० ६ गा० ५६ अप्रकाशाश्रया इति वृत्तिः ।

2. एतानि गम्भीरच्छिद्राणि प्राणा दुष्प्रतिलेख्याः । अगुतिब्रह्मचर्यस्य स्त्रियो वापि शङ्कनं ॥१॥

(गंभीर) अर्थात् मैचिया आदि आसनों के छिद्र गम्भीर होते हैं, इसलिए उनमें जीव प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पड़ते हैं, इस कारण उनका प्रतिलेखन नहीं हो सकता है तथा घर के भीतर या दो घरों के बीच में बैठने से ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती है एवं स्त्रियों को शङ्का भी होती है ।

एवं गृहस्थ के घर का समाचार पूछना अथवा अपने अङ्गों को पोंछना, तथा पहले भोगे हुए सांसारिक विषयों का स्मरण करना, ये सब अनर्थ के लिए हैं, इसलिए वस्तुतत्त्व को जाननेवाला विद्वान् मुनि इन बातों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे ॥२१॥



जसं किंतिं सलोयं च, जा य वंदणपूयणा ।

सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया

॥२२॥

छाया - यशः कीर्तिः श्लोकश्च, या च वन्दना पूजना । सर्वलोके ये कामास्तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अन्वयार्थ - (जसं किंतिं सलोयं च) यश, कीर्ति और श्लोक, (जा य वंदणपूयणा) तथा वन्दन और पूजन (सव्व लोगंसि जे कामा) तथा समस्त लोक में जो काम भोग है (तं विज्जं परिजाणिया) उन्हें विद्वान् मुनि संसार भ्रमण का कारण जानकर त्याग करे ।

भावार्थ - यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दन और पूजन तथा समस्त लोक के विषयभोग को संसार भ्रमण का कारण समझकर विद्वान् मुनि त्याग करे ।

टीका - बहुसमरसङ्घट्टनिर्वहणशौर्यलक्षणं यशः दानसाध्या कीर्तिः जातितपोबाहुश्रुत्यादिजनिता श्लाघा, तथा या च सुरासुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासुदेवादिभिर्वन्दना तथा तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्रादिना पूजना, तथा सर्वस्मिन्नपि लोके इच्छामदनरूपा ये केचन कामास्तदेतत्सर्वं यशः कीर्तिः (श्लोकादिक) मपकारितया परिज्ञाय परिहरेदिति ॥२२॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - बड़ी लड़ाई में लड़कर विजय प्राप्त करने से जो जगत् में शूरता की प्रसिद्धि होती है, वह यश कहलाता है । तथा बहुत दान देने से जो प्रसिद्धि होती है, वह कीर्ति है एवं उत्तम जाति में जन्म लेने, तप करने, एवं शास्त्र पढ़ने से जो जगत् में प्रसिद्धि होती है, वह श्लाघा है । तथा देवेन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव आदि जो नमस्कार करते हैं, वह वन्दना है, तथा वे जो सत्कार के सहित वस्त्र आदि देते हैं, वह पूजा है, तथा समस्त लोक में जितने काम भोग हैं, इन सभी यश, कीर्ति आदि को दुःखदायी समझकर साधु उनका त्याग करे ॥२२॥



जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।

अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया

॥२३॥

छाया - येनेह निर्वहेद् भिक्षुरन्नपाणं तथाविधम् । अनुप्रदानमव्येषां, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अन्वयार्थ - (इह) इस जगत् में (जेण) जिस अन्न और जल से (भिक्खू) साधु का संयम (णिव्वहे) खराब हो जाय (तहाविहं अन्नपाणं) वैसा अशुद्ध अन्न और जल (अन्नेसिं अणुप्पदानं) दूसरे साधु को देना (तं विज्जं परिजाणिया) संसार भ्रमण का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे ।

भावार्थ - इस जगत् में जिस अन्न या जल के ग्रहण करने से साधु का संयम नष्ट हो जाता है, वैसा अन्न, जल साधु दूसरे साधु को न देवे क्योंकि वह संसार भ्रमण का कारण है, अतः विद्वान् मुनि इसका त्याग करे ।

टीका - 'येन' अन्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा 'इह' अस्मिन् लोके इदं संयमयात्रादिकं दुर्भिक्षरोगातङ्कादिकं वा भिक्षुः निर्वहेत् निर्वाहयेद्वा तदन्नं पानं वा 'तथाविधं' द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया 'शुद्धं' कल्पं गृहीयात्तथैतेषाम्-अन्नादीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत्, यदिवा-येन केनचिदनुष्ठितेन

‘इमं’ संयमं ‘निर्वहेत्’ निर्वहयेद् असारतामापादयेत्तथाविधमशनं पानं वाऽन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात्, तथैतेषामशनादीनाम् ‘अनुप्रदानं’ गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति, तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति ॥२३॥

टीकार्थ - जिस शुद्ध अन्न, जल से अथवा कारण की अपेक्षा से जिस अशुद्ध अन्न, जल से साधु इस जगत् में अपनी संयम यात्रा तथा दुर्भिक्ष और रोग, आतङ्क का निर्वाह करता है, वह अन्न, जल, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से साधु शुद्ध तथा कल्पनीय ग्रहण करे और वह वैसा ही अन्न, जल संयम का निर्वाह करने के लिए दूसरे साधु को देवे। अथवा जैसा कार्य्य करने से साधु का संयम खराब हो जाता है, वैसा अन्न, जल अथवा दूसरे कार्य्य साधु न करे। तथा अशुद्ध आहार आदि, जो संयम को नाश करनेवाला है, उसे किसी गृहस्थ को परतीर्थी को अथवा स्वयूथिक को न देवे। इन बातों को साधु संयम का विघातक जानकर त्याग करे ॥२३॥



- यदुपदेशेनैतत्सर्वं कुर्यात्तं दर्शयितुमाह-

- पहले बताई हुई बातें जिसके उपदेश से करनी चाहिए, उस महापुरुष को दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं।

एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंतनाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं

॥२४॥

छाया - एवमुदाहृतवान् निर्गन्थो, महावीरो महामुनिः । अनन्तज्ञानदर्शनी स, धर्मं देशितवान् श्रुतम् ॥

अन्वयार्थ - (निग्गंथे महामुणी) निग्रन्थ महामुनि (अणंतनाणदंसी) अनन्तज्ञानी (से महावीरे) उस भगवान् महावीर स्वामी ने (एवं उदाहु) ऐसा कहा है (धम्मं सुतं देसितवं) धर्म (चारित्र) और श्रुत का उन्होंने उपदेश किया है।

भावार्थ - अनन्त ज्ञान तथा दर्शन से युक्त एवं बाहर और भीतर की ग्रन्थिरहित महामुनि भगवान् महावीर स्वामी ने इस चारित्र तथा श्रुतरूप धर्म का उपदेश किया है।

टीका - ‘एवम्’ अनन्तरोक्तया नीत्या उद्देशकादेरारभ्य ‘उदाहु’ति उदाहृतवानुक्तवान् निर्गतः सबाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्गन्थो ‘महावीर’ इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी महांश्चासौ मुनिश्च महामुनिः अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शनी स भगवान् ‘धर्मं’ चारित्रलक्षणं संसारोत्तारणसमर्थं तथा ‘श्रुतं च’ जीवादिपदार्थसंसूचकं ‘देशितवान्’ प्रकाशितवान् ॥२४॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - बाहरी और भीतरी दोनों ही ग्रन्थि जिनकी नष्ट हो गयी है तथा अनन्त ज्ञान, दर्शन से जो युक्त हैं, ऐसे भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त धर्म जो उद्देशक के आदि से लेकर कहा गया है, उसका उपदेश किया है। उन्हीं भगवान् ने संसार से पार करने में समर्थ चारित्ररूप धर्म तथा जीवादि पदार्थों का उपदेशक शास्त्र भी कहा है ॥२४॥



भासमाणो न भासेज्जा, णेवं वंफेज्ज मम्मयं ।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे

॥२५॥

छाया - भाषमाणो न भाषेत, नैवाभिलषेष्मर्मगम् । मातृस्थानं विवर्जयेद्, अनुचिन्त्य व्यावृणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (भासमाणो न भासेज्जा) भाषा समिति से सम्पन्न साधु भाषण करता हुआ भी भाषण नहीं करता है (मम्मयं णेवं) साधु किसी के हृदय को चोट पहुंचानेवाली बात न बोले (मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा) साधु कपट भरी भाषा न बोले (अणुचिंतिय वियागरे) किन्तु सोच विचार कर बोले।

भावार्थ - जो साधु भाषा समिति से युक्त है, वह धर्म का उपदेश करता हुआ भी न बोलनेवाले के समान ही है। जिससे किसी को दुःख हो ऐसा वाक्य साधु न बोले। साधु कपटभरी बात न बोले किन्तु सोच विचार कर कुछ बोले।

टीका - यो हि भाषासमितिः स भाषमाणोऽपि धर्मकथासम्बन्धमभाषक एव स्यात्, उक्तं च-

“वयणविहत्तीकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो । दिवसंपि भाषमाणो साहू वयगुत्तयं पत्तो ॥१॥”

यदिवा-यत्रान्यः कश्चिद्रत्नाधिको भाषमाणस्तत्रान्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान्न भाषेत, तथा मर्म गच्छतीति मर्मगं वचो न ‘वंपेज्ज’ति नाभिलषेत्, यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद्यस्य कस्यचिन्मनः पीडामाधत्ते तद्विवेकी न भाषेतेति भावः, यदिवा ‘मामकं’ ममीकारः पक्षपातस्तं भाषमाणोऽन्यदा वा ‘न वंपेज्जति’ नाभिलषेत्, तथा ‘मातृस्थानं’ मायाप्रधानं वचो विवर्जयेत्, इदमुक्तं भवति-परवञ्चनबुद्ध्या गूढाचारप्रधानो भाषमाणोऽभाषमाणो वाऽन्यदा वा मातृस्थानं न कुर्यादिति, यदा तु वक्तुकामो भवति तदा नैतद्वचः परात्मनोरुभयोर्वा बाधकमित्येवं प्राग्विचिन्त्य वचनमुदाहरेत्, तदुक्तम्- “^१पुर्व्वि बुद्धीए पेहिता, पच्छा वक्कमुदाहरे” इत्यादि ॥२५॥ अपि च-

टीकार्थ - जो साधु भाषा समिति से युक्त है, वह धर्म कथा का उपदेश करता हुआ भी नहीं भाषण करनेवाले के समान ही है। जैसा कि कहा है-

(वयणविभत्ती) जो साधु वचन के विभाग को जानने में निपुण है तथा वाणी के विषय के बहुत भेद जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ भी वचनगुप्ति से युक्त ही है।

अथवा जहाँ कोई रत्नाधिक साधु कुछ बोल रहे हो उसके मध्य में ही “मैं बड़ा विद्वान हूँ” इस अभिमान से युक्त होकर साधु न बोले। तथा मर्म को पीड़ित करनेवाला वचन साधु न बोले। आशय यह है कि झूठ हो या सत्य हो, जिस वचन के कहने से किसी के मन में पीड़ा उत्पन्न हो, ऐसा वचन विवेकी पुरुष न कहे। अथवा साधु भाषण करता हुआ या अन्य समय में पक्षपात पूर्ण वचन न कहे। एवं साधु माया प्रधान वचन न बोले। आशय यह है कि साधु दूसरे को ठगने के लिए छिपा हुआ आचार करनेवाला न बने, वह बोलते समय अथवा दूसरे समय माया (कपट) न करे। जब साधु बोलना चाहे, तब वह पहले यह सोच ले कि “यह वचन अपने या दूसरे को अथवा दोनों को दुःखजनक तो नहीं है?” पश्चात् वचन बोले। अत एव कहा है कि (पुर्व्वि) अर्थात् साधु पहले बुद्धि से सोच ले पीछे वचन बोले ॥२५॥

तत्थिमा तइया भासा जं वदित्ताऽणुतप्पती ।

जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया

॥२६॥

छाया - तत्रेयं तृतीया भाषा यामुक्त्वाऽनुतप्यते । यत् छन्नं तद्व्यवक्तव्यम् एषाऽऽह्ना नैग्रन्थिकी ॥

अन्वयार्थ - (तत्थिमा तइया भासा) चार प्रकार की भाषाओं में जो तृतीय भाषा है अर्थात् जो झूठ से मिला हुआ सत्य है, वह साधु न बोले तथा (जं वदित्ताऽणुतप्पती) जिस वचन को बोलकर पश्चात्ताप करना पड़ता है, वह वचन भी न बोले (जं छन्नं तं न वत्तव्वं) जिस बात को सब लोग छिपाते हैं, वह भी साधु न कहे (एसा णियंठिया आणा) यही निर्ग्रन्थ की आज्ञा है।

भावार्थ - भाषायें चार प्रकार की हैं, उनमें झूठ से मिली हुई भाषा तीसरी है, वह साधु न बोले। तथा जिस वचन के कहने से पश्चात्ताप करना पड़े ऐसा वचन भी साधु न कहे। एवं जिस बात को सब लोग छिपाते हैं, वह भी साधु न कहे यही निर्ग्रन्थ भगवान् की आज्ञा है।

टीका - सत्या असत्या सत्यामृषा असत्यामृषेत्येवंरूपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येतदभिधाना तृतीया भाषा, सा च किञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवंरूपा, तद्यथा-दश दारका अस्मिन्नगरे जाता मृता वा, तदत्र न्यूनाधिकसम्भवे सति सङ्ख्याया व्यभिचारात्सत्यामृषात्वमिति, यां चैवंरूपां भाषामुदित्वा अनु-पश्चाद्भाषणाज्जन्मान्तरे वा

1. वचनविभक्तिकुशलो वचोगतं बहुविधं विजानन् । दिवसमपि भाषमाणः साधुर्वचनगुप्तिसंप्राप्तः ॥१॥

2. तहावि ६० अ० नि० । 3. न्यदा वा प्र० । 4. पूर्वं बुद्ध्या प्रेक्षयित्वा पश्चाद् वाक्यमुदाहरेत् ।

तज्जनितेन दोषेण 'तप्यते' पीडयते क्लेशभागभवति, यदिवा-अनुतप्यते किं ममैवम्भूतेन भाषितेनेत्येवं पश्चात्तापं विधत्ते, ततश्चेदमुक्तं भवति-मिश्रापि भाषा दोषाय किं पुनरसत्या द्वितीया भाषा समस्तार्थविसंवादिनी ?, तथा प्रथमापि भाषा सत्या या प्राण्युपतापेन दोषानुषङ्गिणी सा न वाच्या, चतुर्थ्यप्यसत्यामृषा भाषा या बुधैरनाचीर्णा सा न वक्तव्येति, सत्याया अपि दोषानुषङ्गित्वमधिकृत्याह-यद्वचः 'छन्नं'ति 'क्षणं हिंसायां' हिंसाप्रधानं, तद्यथा-वध्यतां चौरोऽयं लूयन्तां केदाराः दम्यन्तां गोरथका इत्यादि, यदिवा-'छन्नं'ति प्रच्छन्नं यत्लोकैरपि यत्नतः प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यमिति, 'एषाऽऽज्ञा' अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो-भगवांस्तस्येति ॥२६॥ किञ्च-

टीकार्थ - भाषा चार प्रकार की होती है (१)सत्या (२)असत्या (३)सत्यामृषा (४) असत्यामृषा । इन चार भाषाओं में सत्यामृषा, नामवाली भाषा तीसरी है । वह भाषा कुछ झूठी है और कुछ सच्ची है, जैसे कि किसी ने अन्दाज से यह कहा कि "इस ग्राम में दश लड़के उत्पन्न हुए हैं या मरे हैं" यहां दश से कम अथवा अधिक बालकों की उत्पत्ति तथा मृत्यु भी सम्भव है, इसलिए संख्या में फर्क होने के कारण यह वचन सत्य और मिथ्या दोनों ही है । तथा जिस वचन को कहकर दूसरे जन्म में जीव दुःख का पात्र होता है अथवा उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है कि "मैंने ऐसी बात क्यों कह दी" वह वचन भी साधु न बोले । आशय यह है कि झूठ से मिली हुई तीसरी भाषा भी दोष उत्पन्न करती है फिर समस्त अर्थ को विपरीत बतानेवाली दूसरी असत्य भाषा की तो बात ही क्या है ?। तथा पहिली भाषा यद्यपि सर्वथा सत्य है तथापि उससे यदि प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न होती हो तो वह भी दोष उत्पन्न करनेवाली है, इसलिए साधु को न बोलनी चाहिए । एवं चौथी भाषा जो सत्य भी नहीं और मिथ्या भी नहीं है, वह भी विद्वानों के द्वारा सेवित नहीं है, इसलिए न बोलनी चाहिए । कोई कोई सत्य वाणी भी दोष उत्पन्न करती है, यह शास्त्रकार बताते हैं, जिस वचन में हिंसा प्रधान है, जैसे कि इसका वध करो, यह चोर है, तथा क्यारी को काटो, रथ के इन बैलों को दमन करो इत्यादि । जिस बात को लोग यत्नपूर्वक छिपाते हैं, वह सत्य हो तो भी नहीं कहनी चाहिए । यह भगवान् निर्ग्रन्थ का उपदेश है ॥२६॥

होलावायं, सहीवायं, गोयावायं च नो वदे ।

तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए

॥२७॥

छाया - होलावादं सखिवादं, गोत्रवादञ्च नो वदेत् । त्वं त्वमित्यमनोज्ञं सर्वशस्तञ्च वर्तते ॥

अन्वयार्थ - (होलावायं) निष्ठुर तथा नीच सम्बोधन से किसी को पुकारना (सहीवायं) हे मित्र ! ऐसा किसी को कहना (गोयावायं) हे काश्यप गोत्रिन् । हे वशिष्ठ ! गोत्रिन् इत्यादि रूप से गोत्र का नाम लेकर सम्बोधन करना (तुमं तुमंति अमणुन्नं) तथा अपने से बड़े को 'तू' कहना तथा जो वचन दूसरे को अप्रिय लगे (तं सव्वसो ण वत्तए) वह वचन कहना, ये सर्व सर्वथा साधु न कहे ।

भावार्थ - साधु निष्ठुर तथा नीच सम्बोधन से किसी को न बुलावे, तथा किसी को "हे मित्र ।" कहकर न बोले एवं हे वशिष्ठ गोत्रवाले । हे काश्यप गोत्रवाले ! इत्यादि रूप से खुशामद के लिए गोत्र का नाम लेकर किसी को न बुलावे । तथा अपने से बड़े को 'तू' कहकर न बुलावे एवं जो वचन दूसरे को बुरा लगे वह, साधु सर्वथा न बोले ।

टीका - होलेत्येवं वादो होलावादः, तथा सखेत्येवं वादः सखिवादः, तथा गोत्रोद्घाटनेन वादो गोत्रवादो यथा काश्यपसगोत्रे वशिष्ठसगोत्रे वेति, इत्येवंरूपं वादं साधुर्नो वदेत्, तथा 'तुमं तुमं' ति तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोच्चारणयोग्ये 'अमनोज्ञं' मनःप्रतिकूलरूपमन्यदप्येवम्भूतमपमानापादकं 'सर्वशः' सर्वथा तत्साधूनां वक्तुं न वर्तत इति ॥२७॥

टीकार्थ - निष्ठुरता पूर्वक नीच सम्बोधन से किसी को अपने पास बुलाना 'होलावाद' कहलाता है तथा हे मित्र ! ऐसा कहना 'सखिवाद' है तथा गोत्र का नाम लेकर (खुशामद के लिए) गोत्रवाद है, जैसे कि हे वशिष्ठगोत्र ! हे काश्यप गोत्र ! इत्यादि, इस प्रकार वचन साधु न बोले । तथा बहुवचन उच्चारण करने योग्य श्रेष्ठ पुरुष के लिए तिरस्कारवाला 'तू' यह एक वचन शब्द न कहे । एवं दूसरे को अपमान उत्पन्न करनेवाला जो वाक्य

सुनने में बुरा लगता है वह भी साधु सर्वथा न बोले ॥२७॥



- यदाश्रित्योक्तं निर्युक्तिकारेण तद्यथा- “पासत्थोसण्णकुशील संथवो ण किल वट्टए काउं” तदिदमित्याह-

- पहले जो नियुक्तिकार ने कहा है कि पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील के साथ परिचय कभी भी साधु को न करना चाहिए सो शास्त्रकार बतला रहे हैं ।

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसगियं भए ।

सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्जेज्ज ते विऊ

॥२८॥

छाया - अकुशीलः सदा भिक्षुर्नैव संसर्गितां भजेत् । सुखरूपास्तत्रोपसर्गाः, प्रतिबुध्येत तद्विद्वान् ॥

अन्वयार्थ - (भिक्खू सया अकुसीले) साधु स्वयं कुशील न बने किन्तु सदा अकुशील बनकर रहे (णेव संसगियं भए) तथा वह कुशील यानी दुराचारियों की सङ्गति भी न करे (सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा) क्योंकि कुशीलों की संगति में सुख रूप उपसर्ग रहता है (विऊ ते बुज्जेज्ज) अतः विद्वान् पुरुष उसे समझे ।

भावार्थ - साधु स्वयं कुशील न बने और कुशीलों के साथ सङ्गति भी न करे क्योंकि कुशीलों की सङ्गति में सुख रूप उपसर्ग वर्तमान रहता है, यह विद्वान् पुरुष जाने ।

टीका - कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः स च पार्श्वस्थादीनामन्यतमः न कुशीलोऽकुशीलः ‘सदा’ सर्वकालं भिक्षणशीलो भिक्षुः कुशीलो न भवेत्, न चापि कुशीलैः सार्धं ‘संसर्गं’ साङ्गत्यं ‘भजेत’ सेवेत, तत्संसर्गदोषोद्धिभावविषयाऽऽह- ‘सुखरूपाः’ सातगौरवस्वभावाः ‘तत्र’ तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुष्यन्ति, तथाहि-ते कुशीला वक्तारो भवन्ति-कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्तादिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात् ?, तथा नाशरीरो धर्मो भवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाधाकर्मसान्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्तयेत्, उक्तं च- “अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पण्डियलक्खणं” इति, तथा

“छारीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । छारीरात् स्रवते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा ॥१॥”

तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पघृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुष-जन्तीति ‘विद्वान्’ विवेकी ‘प्रतिबुध्येत’ जानीयात् बुद्ध्वा चापायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति ॥२८॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जिसका आचरण बुरा है, उसे कुशील कहते हैं, वह पार्श्वस्थ आदि में कोई भी है । जो कुशील नहीं है, उसे अकुशील कहते हैं । भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करनेवाला साधु स्वयं कुशील न बने और कुशील के साथ सङ्गति भी न करे । कुशीलों के संसर्ग से दोष उत्पन्न होता है, यह शास्त्रकार बतलाते हैं । कुशीलों के संसर्ग से संयम को नष्ट करनेवाला सुखभोग की इच्छारूप उपसर्ग होता है । क्योंकि कुशील पुरुष कहते हैं कि “प्रासुक जल से हाथ पैर और दौत आदि को धोने में क्या दोष है ? तथा शरीर के बिना धर्म नहीं होता है, इसलिए आधाकर्म आहार खाकर भी तथा जूता और छत्ता धारणकर भी जिस किसी प्रकार धर्म के आधाररूप इस शरीर की रक्षा करनी चाहिए ।” कहा है कि-

(अप्पेण) अर्थात् अल्प दोष से यदि ज्यादा लाभ मिलता हो तो उसे लेना चाहिए, यही विद्वान् का लक्षण है । तथा शरीर धर्म के सहित है, अतः यत्न के साथ उसकी रक्षा करनी चाहिए । जैसे पर्वत से पानी निकलता है, इसी तरह शरीर से धर्म उत्पन्न होता है ।

तथा कुशील पुरुष कहता है कि आजकल संहनन अल्प है और संयम में धीरता की अल्पता रखनेवाले जीव हैं” इत्यादि ऐसा कुशील पुरुष का कहना सुनकर अल्प पराक्रमी जीव, उसमें आसक्त हो जाते हैं । अतः विवेकी पुरुष, इसे जानकर दोषरूप कुशील संसर्ग को छोड़ देवे ॥२८॥

नन्नत्थ अंतराणं, परगेहे ण णिसीयए ।

गामकुमारियं किञ्च, नातिवेलं हसे मुणी

॥२९॥

छाया - नान्यत्रान्तरायेण परगेहे न निषीदेत् । ग्रामकुमारिकां क्रीडां, नातिवेलं हसेब्भुनिः ॥

अन्वयार्थ - (नन्नत्थ अंतराणं) अन्तराय के बिना साधु (परगेहे ण णिसीयए) गृहस्थ के घर में न बैठे (गामकुमारियं किञ्च) तथा ग्राम के लड़कों का खेल साधु न खेले (नातिवेलं मुणी हसे) तथा साधु मर्यादा को छोड़कर न हँसे ।

भावार्थ - साधु, किसी रोग आदि अन्तराय के बिना गृहस्थ के घर में न बैठे । तथा ग्राम के लड़कों का खेल न खेले एवं वह मर्यादा छोड़कर न हँसे ।

टीका - तत्र साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो-गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र 'न निषीदेत्' नोपविशेत् उत्सर्गतः, अस्यापवादं दर्शयति-नान्यत्र 'अन्तरायेणे'ति अन्तरायः शक्त्यभावः, स च जरसा रोगातङ्काभ्यां स्यात्, तस्मिन्चान्तराये सत्युपविशेत् यदिवा-उपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेश-नानिमित्तमुपविशेदपि, तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिका काऽसौ ? 'क्रीडा' हास्यकन्दर्पहस्त-संस्पर्शनालिङ्गनादिका यदिवा वटुकन्दुकादिका तां मुनिर्न कुर्यात्, तथा वेला-मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं न हसेत्, मर्यादामतिक्रम्य 'मुनिः' साधुः ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धनभयात्र हसेत्, तथा चागमः-

“जीवे णं मंते ! हसमाने (चा) उरुसूयमाने वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?,
गोयमा !, सत्तविहबंधए वा अट्टविहबंधए वा”

इत्यादि ॥२९॥ किञ्च-

टीकार्थ - भिक्षा आदि के लिए ग्राम आदि में प्रवेश किया हुआ साधु गृहस्थ के घर में न बैठे । यह उत्सर्ग है । अब शास्त्रकार इसका अपवाद बताते हैं- शक्ति के अभाव को अन्तराय कहते हैं, वह वृद्धता तथा रोग से होता है । अतः ऐसे अन्तरायों के होने पर बैठे तो कोई दोष नहीं है । अथवा कोई साधु उपशमलब्धिवाला हो और उसका साथी अच्छा हो तथा गुरु ने उसे आज्ञा दी हो और किसी को धर्मोपदेश देना आवश्यक हो तो वह गृहस्थ के घर में बैठे तो कोई दोष नहीं है । तथा ग्राम में रहनेवाले कुमारों की क्रीडा को 'ग्राम कुमारिका' कहते हैं । वह काम उत्पादक हास्य करना, हाथ का स्पर्श करना तथा आलिङ्गन आदि करना है । वह साधु न करे । तथा ग्राम के लड़के जो गुली डंडा या गेंद आदि खेलते हैं । वह 'ग्राम कुमारिका' है । साधु वह खेल न खेले । तथा आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन के भय से साधु मर्यादा को छोड़कर न हँसे । अत एव आगम कहता है कि-

“हे भगवन् ! हँसता हुआ अथवा उत्सुक होता हुआ जीव कितनी कर्म प्रकृतियों को बाँधता है ? उत्तर- हे गौतम ? सात या आठ कर्म प्रकृतियों को बाँधता है ॥२९॥



अणुस्सओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।

चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए

॥३०॥

छाया - अणुत्सुक उदारेषु, यतमानाः परिव्रजेत् । चर्यायामप्रमत्तः, स्पृष्टस्तत्राधिषहेत् ॥

अन्वयार्थ - (उरालेसु) मनोहर शब्दादि विषयों में साधु (अणुत्सुओ) उत्कण्ठित न हो (जयमाणो परिव्वए) तथा यत्नपूर्वक संयम पालन करे (चरियाए अप्पमत्तो) तथा भिक्षाचरी आदि में प्रमाद न करे (पुट्ठो तत्थाऽहियासए) एवं परीषह और उपसर्गों से पीड़ित होता हुआ सहन करे ।

भावार्थ - साधु मनोहर शब्दादि विषयों में उत्कण्ठित न हो किन्तु यत्नपूर्वक संयम पालन करे तथा भिक्षाचरी आदि में प्रमाद न करे एवं परीषह और उपसर्गों की पीड़ा होने पर सहन करे ।

1. जीवो भदन्त ! हसन् उत्सुकायमानो वा कतीः कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, गौतम ? सप्तविधबन्धको वाऽष्टविधबंधको वा ।

टीका - 'उराला' उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीत-गन्धर्वयानवाहनादयस्तथा आज्ञैश्वर्यादयश्च एतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्, पाठान्तरं वा न निश्चितोऽनिश्चितः-अप्रतिबद्धः स्यात्, यतमानश्च संयमानुष्ठाने परि-समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् 'व्रजेत्' संयमं गच्छेत् तथा 'चर्यायां' भिक्षादिकायाम् 'अप्रमत्तः स्यात्' नाहारादिषु रसगार्ध्यं विदध्यादिति, तथा 'स्पृष्टश्च' अभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गे-स्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो 'विषहेत्' सम्यक् सहादिति ॥३०॥

टीकार्थ - मन को हरण करनेवाले सुन्दर शब्दादि विषयों को उदार कहते हैं। शब्दादि विषयों में चक्रवर्ती आदि के काम-भोग तथा उनके वस्त्र, भूषण, गीत, गन्धर्व, यान, और वाहन आदि एवं आज्ञा और ऐश्वर्य आदि उदार (मनोहर) हैं। इनको देख या सुनकर साधु इनमें उत्कण्ठित न हो। अथवा पाठान्तर के अनुसार साधु अप्रतिबद्ध होकर रहे। साधु मूलगुण और उत्तर गुणों में उद्यमशील होता हुआ यत्नपूर्वक संयम पालन करे। वह भिक्षाचरी में प्रमाद न करे, वह आहार आदि में गृद्ध न हो। परीषह और उपसर्गों से पीड़ित होता हुआ साधु दीन न बने किन्तु कर्म की निर्जरा होती हुई जानकर अच्छी तरह सहन करे ॥३०॥



- परीषहोपसर्गाधिसहनमेवाधिकृत्याह-

- अब शास्त्रकार परीषह और उपसर्गों के सहन के विषय में उपदेश करते हैं-

हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले ।

सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे

॥३१॥

छाया - हम्ममाणो ण कुप्पेत्, उच्चमाणो न संज्वलेत् । सुमणा अतिषहेत्, न च कोलाहलं कुर्व्यात् ॥

अन्वयार्थ - (हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज) लाठी आदि से मारा जाता हुआ साधु क्रोध न करे। (वुच्चमाणो न संजले) तथा किसी के गाली आदि देने पर साधु मन में न जले (सुमणे अहियासिज्जा) किन्तु प्रसन्नता के साथ इनको सहन करे (ण य कोलाहलं करे) हो हल्ला न करे।

भावार्थ - साधु को यदि कोई लाठी आदि से मारे या गाली देवे तो साधु प्रसन्नता के साथ सहन करता रहे परन्तु विपरीत वचन न बोले और हो हल्ला न करे।

टीका - 'हन्ममानो' यष्टिमुष्टिलकुटादिभिरपि हतश्च 'न कुप्पेत्' न कोपवशगो भवेत्, तथा दुर्वचनानि 'उच्चमानः' आक्रुश्यमानो निर्भर्त्स्यमानो 'न संज्वलेत्' न प्रतीपं वदेत्, न मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्, किन्तु सुमनाः सर्वं कोलाहलमकुर्वन्नधिसहेतेति ॥३१॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - साधु को यदि कोई लाठी मुक्का और डंडा आदि से ताड़न करे तो साधु क्रोध न करे तथा यदि कोई साधु को दुर्वचन कहे, गाली दे या तिरस्कार करे तो साधु प्रतिकूल वचन न बोले एवं अपने मन में दुर्विचार न करे किन्तु शान्त मन होकर हो हल्ला न करता हुआ सहन करे ॥३१॥



लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए ।

आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया

॥३२॥

छाया - लब्धान् कामान् न प्रार्थयेत्, विवेक एवमाख्यातः । आर्याणि शिक्षेत, बुद्धानामन्तिके सदा ॥

अन्वयार्थ - (लद्धे कामे ण पत्थेज्जा) मिले हुए काम भोग की साधु इच्छा न करे (एवं विवेगे आहिए) ऐसा करने पर विवेक प्रकट हो गया है, यह कहा जाता है (सया बुद्धाणं अंतिए) ऐसा करता हुआ साधु ज्ञानियों के पास सदा (आयरियाइं सिक्खेज्जा) आर्य्यकर्म सीखे।

भावार्थ - साधु मिले हुए काम भोगों की भी इच्छा न करे। ऐसा करने पर निर्मल विवेक साधु को उत्पन्न हो

गया है, यह कहा जाता है। साधु उक्त रीति से रहता हुआ सदा आचार्य के पास रहकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शिक्षा ग्रहण करता रहे।

टीका - 'लब्धान्' प्राप्तानपि 'कामान्' इच्छामदनरूपान् गन्धालङ्कारवस्त्रादिरूपान्वा वैरस्वामिवत् 'न प्रार्थयेत्' नानुमन्येत न गृह्णीयादित्यर्थः, यदिवा-यत्रकामावसायितया गमनादिलब्धिरूपान् कामांस्तपोविशेषलब्धानपि नोपजीव्यात्, नाप्यनागतान् ब्रह्मदत्तवत्प्रार्थयेद्, एवं च कुर्वतो भावविवेकः 'आख्यात' आविर्भावितो भवति, तथा 'आर्याणि' आर्याणां कर्तव्यानि अनार्यकर्तव्यपरिहारेण यदिवा आचार्याणि-मुमुक्षुणा यान्याचरणीयानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि तानि 'बुद्धानाम्' आचार्याणाम् 'अन्तिके' समीपे सदा सर्वकालं 'शिक्षेत' अभ्यस्येदिति, अनेन हि शीलवता नित्यं गुरुकुलवास आसेवनीय इत्यावेदितं भवतीति ॥३२॥

टीकार्थ - साधु मिले हुए भी इच्छा मदनरूप काम भोगों को अथवा गन्ध, अलङ्कार और वस्त्र आदि को वैरस्वामी के समान ग्रहण न करे। अथवा विशिष्ट तप के प्रभाव से उत्पन्न गमनादि लब्धि रूप काम भोगों का साधु उपयोग न करे। उक्त लब्धि के द्वारा साधु जहां चाहे वहां जाकर विषय भोग प्राप्त कर सकता है परन्तु उसका उपयोग न करे। तथा जो विषय प्राप्त नहीं है, उसकी भी (पूर्वभव में) ब्रह्मदत्त के समान प्रार्थना न करे। ऐसा करने से भाव विवेक प्रकट होता है। तथा साधु सदा अनार्य कर्मों को छोड़कर आर्य कर्तव्य का अनुष्ठान करे। अथवा मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करनेवाले पुरुषों के द्वारा आचरण करने योग्य जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं उनका आचार्य के पास रहकर सदा अभ्यास करे। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि शीलवान् पुरुष को सदा गुरुकुल में निवास करना चाहिए ॥३२॥



- यदुक्तं वृद्धानामन्तिके शिक्षेत्तत्स्वरूपनिरूपणायाह-

- जो आचार्यों के पास शिक्षा लेने का कहा - अब उसका स्वरूप बताने के लिए कहते हैं-

सुस्तूसाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ।

वीरा जे अत्तपन्नेसी, धितिमन्ता जिइंदिया

॥३३॥

छाया - शुश्रूषमाण उपासीत, सुप्रज्ञं सुतपस्विणम् । वीरा ये आप्तप्रज्ञेषिणः, धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः ॥

अन्वयार्थ - (सुप्पन्नं सुतवस्सियं) अपने और दूसरे के सिद्धान्तों को जाननेवाले उत्तम तपस्वी गुरु की (सुस्तूसाणो उवासेज्जा) शुश्रूषा करता हुआ साधु उपासना करे (जे वीरा) जो पुरुष कर्म को विदारण करने में समर्थ हैं (अत्तपन्नेसी) तथा रागद्वेष रहित पुरुष की जो केवलज्ञान रूप प्रज्ञा है, उसका अन्वेषण करनेवाले हैं (धितिमन्ता) एवं जो धृति से युक्त (जिइंदिया) और जितेन्द्रिय हैं (वे ही पुरुष पूर्वोक्त कार्य को करते हैं ।)

भावार्थ - जो स्वसमय और परसमय को जाननेवाले तथा उत्तम तपस्वी हैं ऐसे गुरु की शुश्रूषा करता हुआ साधु उपासना करे। जो पुरुष कर्म को विदारण करने में समर्थ तथा केवलज्ञान को ढूँढनेवाले, धृतिमान् और जितेन्द्रिय हैं वे ही ऐसा कार्य करते हैं।

टीका - गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा गुर्वदेवैयावृत्त्यमित्यर्थः तां कुर्वाणो गुरुम् 'उपासीत' सेवेत, तस्यैव प्रधानगुणद्वयद्वारेण विशेषणमाह-सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः-स्वसमयपरसमयवेदी गीतार्थ इत्यर्थः, तथा सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी, तमेवम्भूतं ज्ञानिनं सम्यक्चारित्रवन्तं गुरुं परलोकार्थी सेवेत, तथा चोक्तम्-

“¹जाणत्तु होइ भागी, धित्यत्तओ दंसणे चरित्ते य । धम्मा आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥१॥”

य एवं कुर्वन्ति तान् दर्शयति-यदिवा के ज्ञानिनस्तपस्विनो वेत्याह-'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो धीरा वा

1. ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥१॥

परीषहोपसर्गाक्षोभ्याः, धिया बुद्ध्या राजन्तीति वा धीरा ये केचनासन्नसिद्धिगमनाः, आसो-रागादिविप्रमुक्तस्तस्य प्रज्ञा-केवलज्ञानाख्या तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आसप्रज्ञान्वेषिणः सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इति यावत्, यदिवा-आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनः प्रज्ञा-ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिणः आत्मज्ञत्वा(प्रज्ञा)न्वेषिण आत्महितान्वेषिण इत्यर्थः, तथा धृतिः-संयमे रतिः सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः, संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्धहनं सुसाध्यं भवतीति, तपःसाध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्तेति, तदुक्तम्-

“जरुस धिई तरुस तवो तरुस सुग्गई सुजहा ।

जे अधिइमंत पुरिसा तवोऽपि खलु दुल्लहो तेसिं ॥१॥”

तथा जितानि-वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेषविजयेन्द्रियाणि-स्पर्शनादीनि यैस्ते जितेन्द्रियाः, शुश्रूषमाणाः शिष्या गुरवो वा शुश्रूष(प्य)माणा यथोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्तीत्यर्थः ॥३३॥

टीकार्थ - गुरु के आदेश को सुनने की इच्छा अर्थात् गुरु आदि का वैयावच करना “शुश्रूषा” कहलाती है, उसे करता हुआ मुनि, गुरु की सेवा करे। अब शास्त्रकार उस गुरु के प्रधान दो गुणों को बताते हुए विशेषण कहते हैं। जिसकी प्रज्ञा शोभन है अर्थात् जो स्वसमय और परसमय को जाननेवाला गीतार्थ साधु है, उसको ‘सुप्रज्ञ’ कहते हैं तथा जो बाहर और भीतर तप करनेवाला है, उसे ‘सुतपस्वी’ कहते हैं। ऐसे ज्ञानी और सम्यक् चारित्रवाले गुरु की परलोकार्थी पुरुष सेवा करे। जैसा कि कहा है-

(नाणस्स) अर्थात् गुरु की सेवा करने से पुरुष ज्ञान का भाजन होता है तथा दर्शन और चारित्र में अत्यन्तस्थिर होता है। इसलिए भाग्यशाली पुरुष मरण पर्यन्त गुरुकुलवास को छोड़ते नहीं हैं।

जो पुरुष इस कार्य को करते हैं, उन्हें शास्त्रकार दिखाते हैं? जो पुरुष कर्म को विदारण करने में समर्थ हैं तथा परीषह और उपसर्गों से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं एवं जो अच्छी बुद्धि से शोभा पानेवाले निकट भविष्य में मोक्ष जानेवाले धीर हैं तथा जो रागद्वेष रहित सर्वज्ञ पुरुष की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा के ढूँढनेवाले अर्थात् सर्वज्ञोक्त वचन का अन्वेषण करनेवाले हैं, यद्वा जो पुरुष आत्मज्ञान अथवा आत्म कल्याण को ढूँढनेवाले हैं, तथा जिस पुरुष में संयम में रतिरूप धीरता विद्यमान है, क्योंकि संयम में धीरता होने से ही पाँच महाव्रतरूपी भार का वहन सुसाध्य होता है, तथा तप से सुगति हाथ में मिली हुई-सी होती है, जैसा कि कहा है-

(जस्स) अर्थात् जिसमें धृति है, उसी को तप होता है और जिसको तप है, उसको सुगति सुलभ है, जो पुरुष धृति से हीन हैं, उसको तप दुर्लभ है।

एवं इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष को जीतकर जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, वे ही शिष्य गुरुकुल में निवास करके उक्त गुरु की सेवा करते हैं अथवा वे ही गुरु गीतार्थ और सुतपस्वी हैं ॥३३॥



- यदभिसंधायिनः पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति तदभिधित्सुराह-

- जिस बात का अनुसन्धान करनेवाले पुरुष ज्ञानी तथा तपस्वी होते हैं, उसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं,

गिहे दीवमपासंता, पुरिसादाणिया नरा ।

ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं

॥३४॥

छाया - गृहे दीप (झीप) मपस्थन्तः पुरुषादानीया नराः ।

ते वीरा बन्धनोन्मुक्ताः, नावकौक्षन्ति जीवितम् ॥

अन्वयार्थ - (गिहे दीवमपासंता) गृहवास में ज्ञान का लाभ न देखते हुए (पुरिसादाणिया नरा) पुरुष मुमुक्षु पुरुषों के आश्रय लेने योग्य होते हैं (बंधणुम्मुक्का ते वीरा) बन्धन से मुक्त वे वीर पुरुष (जीवियं नावकंखंति) असंयम जीवन की इच्छा नहीं करते हैं।

1. यस्य धृतिस्तस्य तपो यस्य तपस्तस्य सुगतिस्तुलभा । येऽधृतिमन्तः पुरुषास्तपोऽपि खलु दुर्लभं तेषाम् ॥१॥

भावार्थ - गृहवास में ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता है, यह सोचकर जो पुरुष प्रव्रज्याधारण करके उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करते हैं, वे ही मोक्षार्थी पुरुषों के आश्रय करने योग्य हैं। वे पुरुष बन्धन से मुक्त हैं तथा वे असंयम जीवन की इच्छा नहीं करते हैं।

टीका - 'गृहे' गृहवासे गृहपाशे वा गृहस्थभाव इति यावत् 'दीवं'ति 'दीपी दीप्तौ' दीपयति-प्रकाशयतीति दीपः स च भावदीपः श्रुतज्ञानलाभः यदिवा-द्वीपः समुद्रादौ प्राणिनामाश्वासभूतः स च भावद्वीपः संसारसमुद्रे सर्वज्ञोक्तचारित्रलाभस्तदेवम्भूतं दीपं द्वीपं वा गृहस्थभावे 'अपश्यन्तः' अप्राप्नुवन्तः सन्तः सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थिता, उत्तरोत्तरगुणलाभेनैवम्भूता भवन्तीति दर्शयति-'नराः' पुरुषाः पुरुषोत्तमत्वाद्धर्मस्य नरोपादानम्, अन्यथा स्त्रीणामप्येतद्गुणभाक्त्वं भवति, अथवा देवादिव्युदासार्थमिति, मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया-आश्रयणीयाः पुरुषादानीया महतोऽपि महीयांसो भवन्ति, यदिवा-आदानीयो-हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शनादिकः पुरुषाणां-मनुष्याणामादानीयः पुरुषादानीयः स विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयोऽर्शआदिभ्यो- ऽजिति, तथा य एवंभूतास्ते विशेषेणेरयन्ति अष्टप्रकारं कर्मेति वीराः, तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण पुत्रकलत्रादिस्नेहरूपेणोत्-प्राबल्येन मुक्ता बन्धनोन्मुक्ताः सन्तो 'जीवितम्' असंयमजीवितं प्राणधारणं वा 'नाभिकाङ्क्षन्ति' नाभिलषन्तीति ॥३४॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - गृहवास में अथवा पाश के समान बन्धनरूप गृह यानी गृहस्थ भाव में दीप के समान वस्तु को प्रकाश करनेवाला श्रुतज्ञानरूप भावदीप प्राप्त नहीं हो सकता है अथवा समुद्र आदि में प्राणियों को विश्राम देनेवाले द्वीप के समान जो संसार समुद्र में प्राणियों को विश्राम देनेवाला सर्वज्ञोक्त चारित्ररूप भावद्वीप है, वह नहीं मिल सकता है, यह समझकर जो पुरुष प्रव्रज्या धारण करके उत्तरोत्तर गुणों की उन्नति करते हैं, वे आगे कहे अनुसार होते हैं, यह शास्त्रकार दिखाते हैं। धर्म में पुरुषों की प्रधानता है, इसलिए यहां नर यानी पुरुषों का ही ग्रहण है, नहीं तो स्त्रियां भी इन गुणों से युक्त होती हैं अथवा देवता आदि की व्यावृत्ति के लिए यहां 'नर' कहा गया है, स्त्री की व्यावृत्ति के लिए नहीं। वे पुरुष मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुषों के आश्रय स्वरूप बड़े से बड़े हो जाते हैं। अथवा हितैषी पुरुष जिसका ग्रहण करते हैं, वह मोक्ष अथवा मोक्ष का मार्ग जो सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, उसे पुरुषादानीय कहते हैं क्योंकि पुरुषों से वह ग्रहण किया जाता है, वह मोक्ष अथवा मोक्ष का मार्ग जिसमें विद्यमान हैं उसे पुरुषादानीय कहते हैं, यहां पुरुषादानीय शब्द से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय करके यह अर्थ करना चाहिए। जो पुरुष ऐसे हैं, वे ही अपने आठ प्रकार के कर्मों को विशेष रूप से नाश करनेवाले वीर हैं एवं पुत्र, कलत्र आदि के स्नेहरूप बाह्य और अभ्यन्तर बन्धन से वे ही मुक्त हैं। वे पुरुष असंयम जीवन की अथवा प्राण धारणरूप जीवन की इच्छा नहीं करते हैं ॥३४॥



अगिद्धे सदृफासेसु आरंभेसु अणिस्सिए ।

सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु

॥३५॥

छाया - अगृद्धः शब्दस्पर्शेष्वारम्भेष्वनिश्चितः । सर्वं तत्समयातीतं, यदेतल्लपितं बहु ॥

अन्वयार्थ - (सदृफासेसु अगिद्धे) साधु मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श में आसक्त न हो (आरंभेसु अणिस्सिए) तथा सावद्य अनुष्ठान न करे (जमेतं बहु लवियं) इस अध्ययन के आदि से लेकर जो नहीं करने योग्य बहुत बातें कही गयी हैं (सव्वं तं समयातीतं) वे सब बातें जिनागम से विरुद्ध होने के कारण निषिद्ध हैं।

भावार्थ - साधु मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श में आसक्त न रहे तथा वह सावद्य अनुष्ठान न करे। इस अध्ययन के आदि से लेकर जो बातें (निषेधरूप से) बतायी गयी हैं, वे जिनागम से विरुद्ध होने के कारण निषेध की गयी हैं, परन्तु जो अविरुद्ध हैं। उनका निषेध नहीं है।

टीका - 'अगृद्धः' अनध्युपपन्नोऽमूर्च्छितः क्व ?-शब्दस्पर्शेषु मनोज्ञेषु आद्यन्तग्रहणान्मध्यग्रहणमतो मनोज्ञेषु रूपेषु गन्धेषु रसेषु वा अगृद्ध इति द्रष्टव्यं, तथेतरेषु वाऽद्विष्ट इत्यपि वाच्यं, तथा 'आरम्भेषु' सावद्यानुष्ठानरूपेषु

‘अनिश्रितः’ असम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः, उपसंहर्तुकाम आह-‘सर्वमेतद्’ अध्ययनादेरारभ्य प्रतिषेध्यत्वेन यत् लपितम्-उक्तं मया बहु तत् ‘समयाद्’ आर्हतादागमादतीतमतिक्रान्तमितिकृत्वा प्रतिषिद्धं, यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते, यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहु लपितं तदेतत्सर्वं समयातीतमितिकृत्वा नानुष्ठेयमिति ॥३५॥

टीकार्थ - शब्द आदि है और स्पर्श अन्त है, इसलिए इन दोनों के ग्रहण से बीचले विषयों का भी यहां ग्रहण जानना चाहिए । मनोहर शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में साधु आसक्त न हो तथा अमनोहर शब्दादि में वह द्वेष भी न करे तथा सावद्य अनुष्ठान में साधु प्रवृत्त न हो । इस अध्ययन के आदि से लेकर निषेध रूप से जो मैंने बहुत बातें बतायी हैं, वे जिनागम से विरुद्ध होने के कारण निषिद्ध हैं । तथा जिनका मैंने विधान किया है, वे कुतीर्थियों के सिद्धान्तों से विरुद्ध होने के कारण लोकोत्तर उत्तम धर्म हैं । तथा कुतीर्थियों को ने अपने दर्शनों में जो बहुत कुछ कहा है, उन्हें जिनागम से विरुद्ध जानकर आचरण नहीं करना चाहिए ॥३५॥



- प्रतिषेध्यप्रधाननिषेधद्वारेण मोक्षाभिसन्धानेनाह-

- निषेध करने योग्य वस्तुओं में जो प्रधान है, उसका निषेध करते हुए, शास्त्रकार मोक्ष प्राप्ति के आशय से कहते हैं-

अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पण्डिए ।

गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणि त्ति बेमि

॥३६॥

इति श्रीधम्मनामं नवममज्झयणं समत्तं ।

छाया - अतिमानञ्च मायाञ्च, तत् परिह्राय पण्डितः । गौरवाणि च सर्वाणि, निर्वानं संधयेब्भुनिः ॥

अन्वयार्थ - (पण्डिए मुणि) पण्डित मुनि, (अइमाणं च मायं च) अतिमान-माया (सव्वाणि गारवाणि य) और सब प्रकार के गारवादि विषय भोगों को (परिण्णाय) त्याग कर (निव्वाणं) निर्वाण की (संधये) प्रार्थना करे ।

भावार्थ - विद्वान् मुनि अतिमान, माया और सब प्रकार के विषय भोगों को त्याग कर मोक्ष की प्रार्थना करे ।

टीका - अतिमानो महामानस्तं, चशब्दात्तत्सहचरितं क्रोधं च, तथा मायां चशब्दात्तत्कार्यभूतं लोभं च, तदेतत्सर्वं ‘पण्डितो’ विवेकी ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्, तथा सर्वाणि ‘गारवाणि’ ऋद्धिरससातरूपाणि सम्यग् ज्ञात्वा संसारकारणत्वेन परिहरेत्, परिहित्य च ‘मुनिः’ साधुः ‘निर्वानम्’ अशेषकर्मक्षयरूपं विशिष्टाकाशदेशं वा ‘सन्धेयत्’ अभिसन्दध्यात् प्रार्थयेदिति यावत् । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३६॥ समाप्तं धर्माख्यं नवममध्ययनमिति ॥

टीकार्थ - अतिमान अर्थात् महान् मान तथा च शब्द से उसका सहचारी क्रोध तथा माया और च शब्द से माया का कार्य लोभ इनको विवेकी पुरुष ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे । तथा ऋद्धिरस और सुखरूप सब गौरवों को संसार का कारण जानकर मुनि छोड़ देवे और समस्त कर्मों का क्षयरूप अथवा आकाश का विशिष्ट देश स्वरूप जो निर्वाण पद है, उसकी प्रार्थना करे । इति शब्द समाप्ति अर्थ में है, ब्रवीमि पूर्ववत् है ॥३६॥

यह धर्मनामक नवम अध्ययन समाप्त हुआ ।



॥ अथ दशमं श्रीसमाध्यध्ययनं प्रारभ्यते ॥

नवमानन्तरं दशममारभ्यते - अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने धर्मोऽभिहितः, स चाविकलः समाधौ सति भवतीत्यतोऽधुना समाधिः प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि तत्रोपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा - धर्मं समाधिः कर्त्तव्यः, सम्यगाधीयते - व्यवस्थाप्यते मोक्षं तन्मार्गं वा प्रति येनात्मा धर्मध्यानादिना स समाधिः - धर्मध्यानादिकः, स च सम्यग् ज्ञात्वा स्पर्शनीयः, नामनिष्पन्नन्तु निक्षेपमधिकृत्य - निर्युक्तिकृदाह-

नवम अध्ययन कहने के पश्चात् दशम अध्ययन आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का नवम अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है, नवम अध्ययन में धर्म का प्रतिपादन किया है, वह धर्म, अविकल समाधि होनेपर पूर्ण होता है इसलिए अब समाधि का कथन करते हैं। इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार कहने चाहिए। उनमें उपक्रमद्वार में अर्थाधिकार यह है, जैसे कि साधु को धर्म में समाधि करनी चाहिए। जिसके द्वारा आत्मा मोक्ष या मोक्ष के मार्ग में अच्छी तरह स्थापन किया जाता है, वह समाधि है, वह धर्मध्यान आदिक है। उस धर्मध्यान आदि को अच्छी तरह से जानकर साधु को ग्रहण करना चाहिए। अब निर्युक्तिकार नामनिष्पन्न निक्षेप के विषय में कहते हैं-

आयाण पदेणाड्डधं गोणं णामं पुणो समाहिति । णिक्खिन्निविहुण समाहिं, भावसमाहीइ पगयं तु ॥१०३॥ नि०।
णामंठवणादयिए खेत्ते काले तहेव भावे य । एसो उ समाहीए, णिक्खेयो छव्विहो होइ ॥१०४॥ नि०।
पञ्चसु विसएसु सुभेसु, दब्बंमि ता भवे समाहिति । खेत्तं तु जम्मि खेत्ते काले कालो जहिं जो ऊ ॥१०५॥ नि०।
भावसमाहि चउव्विह दंसणणाणे तवे चरिते य । चउसुवि समाहियप्पा समं चरणट्ठिओ साहु ॥१०६॥ नि०।

टीका - आदीयते - गृह्यते प्रथममादौ यत्तदादानम् आदानं च तत्पदं च-सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदं तेन "आघं" ति नामास्याध्ययनस्य, यस्मादध्ययनादाविदं सूत्रं - "आघं मईमं मणुवीइ धम्म" मित्यादि, यथोत्तराध्ययनेषु चतुर्थमध्ययनं प्रमादाप्रमादाभिधायकमप्यादानपदेन "असंखय" मित्युच्यते, गुणनिष्पन्नं पुनरस्याध्ययनस्य नाम समाधिरिति, यस्मात्स एवात्र प्रतिपाद्यते, तं च समाधिं नामादिना निक्षिप्य भावसमाधिनेह "प्रकृतम्" अधिकार इति। समाधिनिक्षेपार्थमाह- नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् एष तु समाधिनिक्षेपः षड्विधो भवति, तुशब्दो गुणनिष्पन्नस्यैव नामो निक्षेपो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावानर्थ इति, नामस्थापने सुगमत्वादानादृत्य द्रव्यादिकमधिकृत्याह-पञ्चस्वपि शब्दादिषु मनोज्ञेषु विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां यथास्वं प्राप्तौ सत्यां यस्तुष्टिविशेषः स द्रव्यसमाधिः तदन्यथा त्वसमाधिरिति, यदिवा द्रव्ययोर्द्रव्याणां वा सम्मिश्राणामविरोधिनां सतां न रसोपघातो भवति अपितु रसपुष्टिः स द्रव्यसमाधिः, तद्यथा-क्षीरशर्करयोर्दधिगुडचातुर्जातिकादीनां चेति, येन वा द्रव्येणोपभुक्तेन समाधि पानकादिना समाधिर्भवति तद्द्रव्यं द्रव्यसमाधिः, तुलादावारोपितं वा यत् द्रव्यं समतामुपैतीत्यादिको द्रव्यसमाधिरिति, क्षेत्रसमाधिस्तु यस्य यस्मिन् क्षेत्रे व्यवस्थितस्य समाधिरुत्पद्यते स क्षेत्रप्राधान्यात् क्षेत्रसमाधिः यस्मिन्वा क्षेत्रे समाधिव्यावर्ण्यत इति, कालसमाधिरपि यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते, तद्यथा - शरदि गवां नक्तमुलूकानामहनि बलिभुजां, यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन्वा काले समाधिव्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति। भावसमाधिं त्वधिकृत्याह-भावसमाधिस्तु दर्शनज्ञानतपश्चारित्रभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र चतुर्विधमपि भावसमाधिं समासतो गाथा-पश्चार्धेनाह-मुमुक्षुणा चर्यत इति चरणं तत्र सम्यक्चरणे-चारित्र्ये व्यवस्थितः-समुद्युक्तः "साधुः" मुनिश्चतुर्विधं भावसमाधिभेदेषु दर्शनज्ञानतपश्चारित्ररूपेषु सम्यगाहितो-व्यवस्थापित आत्मा येन स समाहितात्मा भवति, इदमुक्तं भवति- यः सम्यक्चरणे व्यवस्थितः स चतुर्विधभावसमाधिसमाहितात्मा भवति, यो वा भावसमाधिसमाहितात्मा भवति, स सम्यक्चरणे व्यवस्थितो द्रष्टव्य इति, तथाहि-दर्शनसमाधौ

व्यवस्थितो जिनवचनभावितान्तःकरणो निवातशरणप्रदीपवन्न कुमतिवायुभिर्भ्राम्यते, ज्ञानसमाधिना तु यथा यथाऽपूर्वं श्रुतमधीते तथा तथाऽतीव भावसमाधानुद्युक्तो भवति, तथा चोक्तम्-

¹जह जह सुयमवगाहइ अइसयरसपसरसंयुयमउत्वं । तह तह पल्हाइ मुणी णवणवसंवेगसद्धाए॥१॥

चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिःस्पृहतया निष्किञ्चनोऽपि परं समाधिमाप्नोति, तथा चोक्तम्-

²तणसंथारणिसन्नोऽवि मुणिवरो भट्टरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्खवट्ठीवि ?॥१॥

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥२॥

इत्यादि, तपःसमाधिनापि विकृष्टतपसोऽपि न ग्लानिर्भवति तथा क्षुत्तृष्णादिपरीषहेभ्यो नोद्विजते, तथा अभ्यस्ताभ्यन्तरतपोध्यानाश्रितमनाः स निर्वाणस्थ इव न सुखदुःखाभ्यां बाध्यत इत्येवं चतुर्विधभावसमाधिस्थः सम्यक्चरणव्यवस्थितो भवति साधुरिति ॥१०३-१०६॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदं-

टीकार्थ - जो पहले पहल आदि में ग्रहण किया गया है, उसे आदान कहते हैं । जो सुबन्त या तिङन्त पद अध्ययन के आदि में गृहीत होता है, उसे आदानपद कहते हैं, उसके हिसाब से इस अध्ययन का "आघ" नाम है, क्योंकि इस अध्ययन के आदि में "आघं मईमं" इत्यादि सूत्र है, इस सूत्र में पहले "आघ" पद आया है। जैसे उत्तराध्ययन सूत्र का चौथा अध्ययन प्रमाद और अप्रमाद का वर्णन करता हुआ भी आदान पद के हिसाब से "असंख्य" कहा जाता है । परन्तु इस अध्ययन का गुणनिष्पन्न नाम समाधि अध्ययन है क्योंकि इस अध्ययन में समाधि का ही प्रतिपादन किया गया है । उस समाधि का नाम आदि निक्षेप करके इस अध्ययन में भावसमाधि का अधिकार कहना चाहिए । समाधि का निक्षेप करने के लिए कहते हैं, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव भेद से समाधि का निक्षेप छः प्रकार का है । गाथा में आया हुआ 'तु' शब्द, "गुणनिष्पन्न नाम का ही निक्षेप होता है" यह बताने के लिए है । नाम और स्थापना सुगम हैं, इसलिए उन्हें छोड़कर द्रव्यादि निक्षेप के विषय में कहते हैं । मनोहर शब्द आदि पांच विषयों की प्राप्ति होने पर जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों की तुष्टि होती है, उसे द्रव्यसमाधि कहते हैं और इससे विपरीत हो तो द्रव्य असमाधि कहते हैं । अथवा परस्पर विरोध नहीं रखनेवाले दो द्रव्य अथवा बहुत द्रव्यों के मिलाने से जो रस बिगड़ता नहीं किन्तु उस की पुष्टि होती है, उसे द्रव्यसमाधि कहते हैं, जैसे दूध और शक्कर तथा दही और गुड़ मिलाने से अथवा शाक आदि में नमक, मिर्च, जीरा और धनिया मिलाने से रस की पुष्टि होती है, अतः इस मिश्रण को द्रव्यसमाधि कहते हैं । अथवा जिस द्रव्य के खाने अथवा पीने से शान्ति प्राप्त होती है, उसे द्रव्य समाधि कहते हैं अथवा तराजू के ऊपर जिस वस्तु को चढ़ाने से दोनों बाजू समान हों उसे द्रव्यसमाधि कहते हैं । जिस जीव को जिस क्षेत्र में रहने से शान्ति उत्पन्न होती है, वह क्षेत्र की प्रधानता के कारण क्षेत्र समाधि है । अथवा जिस क्षेत्र में समाधि का वर्णन किया जाता है, उसे भी क्षेत्र समाधि कहते हैं । जिस जीव को जिस काल में शान्ति उत्पन्न होती है, वह उसके लिए कालसमाधि है, जैसे शरद् ऋतु में गौ को, रात में उलूक को और दिन में कौवे को शान्ति उत्पन्न होती है । अथवा जिस जीव को जितने काल तक समाधि रहती है अथवा जिस काल में समाधि की व्याख्या की जाती है, वह काल की प्रधानता के कारण कालसमाधि है। अब भाव समाधि के विषय में कहते हैं, भावसमाधि, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के भेद से चार प्रकार की है, इन चारों भावसमाधियों को निर्युक्तिकार गाथा के उत्तरार्ध के द्वारा संक्षेप से बताते हैं । मोक्ष की इच्छा रखनेवाले पुरुष जिसकी आराधना करते हैं, उसे चरण कहते हैं । वह सम्यक्चारित्र है । उसमें अच्छीतरह प्रवृत्त रहनेवाला मुनि समाहितात्मा कहलाता है, क्योंकि उसने दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्ररूपी भावसमाधि के चारों भेदों में अपने आत्मा को अच्छी तरह स्थापन किया है । कहने का आशय यह है कि- जो पुरुष सम्यक्चारित्र में स्थित है, उसने अपने आत्मा को चारों भावसमाधियों में स्थापन किया है। अथवा जिस पुरुष

1. यथा यथा श्रुतमवगाहतेऽतिशयरसप्रसरसंयुतमपूर्वं । तथा तथा प्रह्लादते मुनिर्नवनगसंवेगश्रद्धया ॥१॥

2. तृणसंस्तारनिविष्टोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि ॥१॥

ने भावसमाधि में अपने आत्मा को स्थापन किया है, उसे सम्यक्चारित्र में स्थित जानना चाहिए। क्योंकि जो पुरुष दर्शन समाधि में स्थित है, वह जिन वचनों से रेंगा हुआ अन्तःकरणवाला होने के कारण वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान कुबुद्धिरूपी वायु से विचलित नहीं किया जाता है। तथा ज्ञान समाधि के द्वारा वह पुरुष ज्यों-ज्यों नये-नये शास्त्रों का अध्ययन करता है, त्यों-त्यों वह भावसमाधि में प्रवृत्त होता जाता है, जैसा कि कहा है-

(जह-जह) अर्थात् जिनमें अतिशय रस का प्रसार है, ऐसे नये-नये शास्त्रों में ज्यों-ज्यों मुनि प्रवेश करता जाता है, त्यों-त्यों मोक्ष में श्रद्धा बढ़ने से वह आनन्द को प्राप्त होता है।

चारित्र समाधि में स्थित मुनि दरिद्र होने पर भी विषय सुख से निःस्पृह होने के कारण परम शान्ति का अनुभव करता है, अत एव कहा है कि-

जिसके राग, मद और मोह नष्ट हो गये हैं, वह मुनि तृण की शय्या पर स्थित होकर भी जो आनन्द अनुभव करता है, उसे चक्रवर्ती राजा भी कहाँ पा सकता है ?

संसार के व्यापार से रहित मुनि को जो सुख इसी लोक में प्राप्त होता है, वह सुख राजाओं के राजा को अथवा देवराज को भी नहीं मिल सकता है।

तपः समाधि में स्थित मुनि को भारी तप करने पर भी ग्लानि नहीं होती है तथा क्षुधा, और तृष्णा आदि परीषहों से वह पीड़ित नहीं होता है। एवं आभ्यन्तर तप का अभ्यास किया हुआ मुनि ध्यान में लग्नचित्त होने के कारण मोक्ष में स्थित की तरह सुख दुःख से पीड़ित नहीं होता है। इस प्रकार चार प्रकार के भावसमाधि में स्थित साधु सम्यक् चारित्र में स्थित होता है ॥१०३-१०६॥ नाम निक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है -



आधं मईमं मणुवीय धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।

अपडिन्नभिक्खू उ समाहिपत्ते, अणियाण भूतेसु परिव्वएज्जा

॥१॥

छाया - आख्यातवान् मतिमान्, अनुविचिन्त्य धर्मम्, ऋजुं समाधिं तमिमं शृणुत ।

अप्रतिहाभिक्षुस्तु, समाधिप्राप्नोऽमिदानो भूतेषु परिव्वजेत् ॥

अन्वयार्थ - (मईमं) केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने (मणुवीय) केवलज्ञान के द्वारा जानकर (अंजू समाहिं धम्मं आधं) सरल और मोक्ष देनेवाले धर्म का कथन किया है। (तमिणं सुणेह) हे शिष्यों! उस धर्म को तुम सुनो। (अपडिन्न) अपने तप का फल नहीं चाहता हुआ (समाहिपत्ते) समाधि को प्राप्त (अणियाणभूते) प्राणियों का आरम्भ न करता हुआ (भिक्खू सुपरिव्वएज्जा) साधु शुद्ध संयम का पालन करे।

भावार्थ - केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने सरल तथा मोक्षदायक धर्म का कथन किया है। हे शिष्यों! तुम उस धर्म को सुनो। अपने तप का फल नहीं चाहता हुआ तथा समाधियुक्त और प्राणियों का आरम्भ न करता हुआ साधु शुद्ध संयम का पालन करें।

टीका - अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा- अशेषगारवपरिहारेण (ग्रं० ५५००) मुनिर्निर्वाण-मनुसन्धयेदित्येतद्भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः समाख्यातवान् एतच्च वक्ष्यमाणमाख्यातवानिति, "आधं"ति आख्यातवान् कोऽसौ?-"मतिमान्" मननं मतिः - समस्तपदार्थपरिज्ञानं तद्विद्यते यस्यासौ मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तत्रासाधारणविशेषणोपादानात्तीर्थकृद् गृह्यते, असावपि प्रत्यासत्तेर्वीरवर्धमानस्वामी गृह्यते, किमाख्यातवान् ? - "धर्मं" श्रुतचारित्राख्यं, कथम् ? - "अनुविचिन्त्य" केवलज्ञानेन ज्ञात्वा प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाश्रित्य धर्मं भाषते, यदिवा - ग्राहकमनुविचिन्त्य कस्यार्थस्यायं ग्रहणसमर्थः? तथा कोऽयं पुरुषः ? कञ्च नतः ? किं वा दर्शनमापन्न ? इत्येवं पर्यालोच्य, धर्मशुश्रूषवो वा मन्यन्ते - यथा प्रत्येकमस्मदभिप्रायमनुविचिन्त्य [केवलज्ञानेन ज्ञात्वा] भगवान् धर्मं भाषते, युगपत्सर्वेषां स्वभाषापरिणत्या संशयापगमादिति, किंभूतं धर्मं भाषते ? - "ऋजुम्" अवक्रं यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिरूपणतो, न यथा शाक्याः सर्वं क्षणिकमभ्युपगम्य कृतनाशाकृताभ्यागमदोषभयात्सन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः तथा वनस्पतिमचेतन-

त्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न छिन्दन्ति तच्छेदनादावुपदेशं तु ददति तथा कार्षापणादिकं हिरण्यं स्वतो न स्पृशन्ति अपरेण तु तत्परिग्रहतः क्रयविक्रयं कारयन्ति, तथा साङ्ख्याः सर्वमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमभ्युपगम्य कर्मबन्धमोक्षाभावप्रसङ्गदोष-भयादाविर्भावतिरोभावावाश्रितवन्त इत्यादिकौटिल्यभावपरिहारेणावक्रं तथ्यं धर्ममाख्यातवान्, तथा सम्यगाधीयते - मोक्षं तन्मार्गं वा प्रत्यात्मा योग्यः क्रियते व्यवस्थाप्यते येन धर्मेणासौ धर्मः समाधिस्तं समाख्यातवान्, यदिवा - धर्ममाख्यातवांस्तत्समाधिं च धर्मध्यानादिकमिति । सुधर्मस्वाम्याह - तमिमं - धर्मं समाधिं वा भगवदुपदिष्टं शृणुत यूयं, तद्यथा - न विद्यते ऐहिकामुष्मिकरूपा प्रतिज्ञा - आकाङ्क्षा तपोऽनुष्ठानं कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञो, भिक्षणशीलो भिक्षुः तुर्विशेषणे भावभिक्षुः, असावेव परमार्थतः साधुः, धर्मं धर्मसमाधिं च प्राप्तोऽसावेवेति, तथा न विद्यते निदानमारम्भरूपं "भूतेषु" जन्तुषु यस्यासावनिदानः स एवम्भूतः सावद्यानुष्ठानरहितः परि-समन्तात्संयमानुष्ठाने "व्रजेद्" गच्छेदिति, यदिवा-अनिदानभूतः-अनाश्रवभूतः कर्मोपादानरहितः सुष्ठु परिव्रजेत् सुपरिव्रजेत्, यदिवा-अनिदानभूतानि-अनिदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्रजेत्, अथवा निदानं हेतुः कारणं दुःखस्यातोऽनिदानभूतः कस्यचिदुःखमनुपपादयन् संयमे पराक्रमेतेति ॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र का पूर्वसूत्र के साथ सम्बन्ध यह है- नवम अध्ययन की अन्तिम गाथा में कहा है कि "मुनि, सब सांसारिक सुखों को छोड़कर मोक्ष का साधन करे" अब यह बतलाते हैं कि केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने आगे कहे अनुसार धर्म का कथन किया है । उस भगवान् महावीर स्वामी का विशेषण बताने के लिए पूछते हैं कि वे भगवान् कैसे हैं । उत्तर - भगवान् मतिमान् हैं । समस्त पदार्थों के ज्ञान को मति कहते हैं, वह जिसमें विद्यमान है, उन केवलज्ञानी पुरुष को मतिमान् कहते हैं । यद्यपि केवलज्ञानी अनेक हुए हैं तथापि यहाँ "मतिमान्" यह असाधारण विशेषण कहने से तीर्थङ्कर का ही ग्रहण है और तीर्थङ्करों में सब से निकट होने के कारण भगवान् महावीर स्वामी का ही यहाँ ग्रहण है । भगवान् महावीर स्वामी ने श्रुत और चारित्ररूप धर्म कहा था । (प्रश्न) क्या करके कहा था ? (उत्तर) केवलज्ञानके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जानकर उपदेश करने योग्य पदार्थों को लेकर धर्म का कथन किया था । अथवा भगवान् महावीर स्वामी ने पहले ग्राहक (धर्मसुननेवाले) पुरुष को विचारकर धर्म कहा था, जैसे कि-"यह पुरुष किस पदार्थ को ग्रहण कर सकता है । तथा यह पुरुष कौन है ? और यह किस देवता या गुरु को नमस्कार करता है एवं यह किस दर्शन का अनुयायी है इत्यादि बातों का निश्चय करके धर्म कहा था । अथवा धर्म की सेवा करनेवाले पुरुषों की यह मान्यता है कि भगवान् हम लोगों के प्रत्येक का अभिप्राय जानकर धर्म का भाषण करते हैं । वह धर्मोपदेश एक ही समय सबलोगों की भाषा में परिणत हो जाता है । (प्रश्न) भगवान् कैसे धर्म का उपदेश करते हैं ? - (उत्तर) भगवान् ऋजु अर्थात् सरल धर्म का उपदेश करते हैं अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसका वे वैसा ही स्वरूप बतलाते हैं (परन्तु बौद्ध आदि की तरह कुटिल धर्म का उपदेश नहीं करते हैं) क्योंकि, बौद्ध सब पदार्थों को क्षणिक मानते हैं अतः इनके मत में कृतनाश और अकृताभ्यागमरूप दोष आते हैं (यह इस प्रकार समझना चाहिए - यदि आत्मा क्षणिक हो तो वह पाप करने के पश्चात् ही मर जाता है फिर उस पाप का फल उसको नहीं प्राप्त हो सकता है अतः कर्म का फल कर्ता को नहीं प्राप्त होने से कृतनाश दोष आता है । तथा जो आत्मा दुःख भोगता है, उसने पाप नहीं किया था क्योंकि पाप करनेवाला आत्मा क्षणभङ्ग सिद्धान्त के अनुसार फल भोगनेवाले आत्मा से भिन्न है, अतः दूसरे के कर्म का फल दूसरे को प्राप्त होता है यह अकृताभ्यागम दोष आता है) इन दोषों का निवारण करने के लिए बौद्ध एक सन्तान स्वीकार करते हैं (और कहते हैं कि यद्यपि आत्मा क्षणिक है तथापि उसका सन्तान यानी सिलसिला चलता रहता है, वही उसका फल भोगता है दूसरा नहीं भोगता है इसलिए हमारे मत में कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष नहीं आते हैं?)¹ इसी तरह वे वनस्पति को अचेतन मानकर स्वयं उसका छेदन नहीं करते हैं परन्तु दूसरे

1. टिप्पणी १ वस्तुतः यह मत सरल नहीं है क्योंकि आत्मा को स्थिर न मानकर उसके बदले में एक सन्तान नामक पदार्थ मानने का क्या फल है?। सन्तान यदि क्षणिक है तब तो उसे मानना व्यर्थ है और यदि वह क्षणिक नहीं है तब फिर क्षणभङ्गवाद नष्ट हो जाता है । तथा वह यदि प्रत्येक से भिन्न नहीं है तब उसको मानने का कोई प्रयोजन नहीं है और यदि भिन्न है तब तो नामान्तर से आत्मा ही स्वीकार करना है ।

को वनस्पति के छेदन का उपदेश करते हैं तथा वे स्वयं रुपया पैसा आदि नहीं छुते हैं परन्तु दूसरे के द्वारा उसका संग्रह कराकर उसके द्वारा खरीद विक्री कराते हैं ।

इसी तरह साङ्ख्यवादी सभी पदार्थों को उत्पत्ति विनाश से रहित स्थिर एक स्वभावी नित्य मानते हैं । परन्तु ऐसा मानने से न तो कर्मबन्ध हो सकता है और न मोक्ष हो सकता है अतः इस दोष के भय से वे सभी पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं । परन्तु यह मान्यता सरल नहीं अपितु कुटिल है (क्योंकि सब पदार्थों को नित्यानित्य मानने से कोई आपत्ति नहीं आती है तथापि ऐसा न मानकर सबको एकान्त नित्य मान लेना और पीछे आपत्ति आने पर उनका आविर्भाव तिरोभाव मानना सरल मार्ग नहीं है) परन्तु भगवान् महावीर स्वामी ने कुटिलमार्ग को छोड़कर सच्चे मार्ग का कथन किया है । भगवान् ने उस धर्म का कथन किया है जिसके द्वारा आत्मा अच्छी तरह मोक्ष या मोक्ष के मार्ग में स्थापन किया जाता है, उस धर्म को समाधि धर्म कहते हैं । यद्वा भगवान् ने धर्म और उसकी समाधि अर्थात् ध्यान आदि का उपदेश किया है । श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं कि-“आप लोग भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा उपदेश किये हुए उस धर्म को अथवा समाधि को सुनें” जो पुरुष अपने तप का फल ऐहलौकिक या पारलौकिक सुख नहीं चाहता है, वही वस्तुतः भिक्षु है अर्थात् वही सच्चा साधु है । तथा उसी ने धर्मसमाधि को प्राप्त किया है । अतः साधु प्राणियों का आरम्भ न करता हुआ अर्थात् सावधानुष्ठान को छोड़ता हुआ सब प्रकार से संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त रहे । अथवा साधु कर्मबन्ध के कारण आश्रवों का त्याग करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करे । अथवा जो संसार के कारण नहीं हैं, उन्हें अनिदान कहते हैं, वे ज्ञान आदि हैं, उनमें साधु प्रयत्नशील बने, अथवा जो दुःख का कारण है, उसे निदान कहते हैं, अतः साधु अनिदान होकर यानी किसी प्राणी को दुःख उत्पन्न न करता हुआ संयम में पराक्रम करे ॥१॥



प्राणातिपातादीनि तु कर्मणो निदानानि वर्तन्ते, प्राणातिपातोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा, तत्र क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह -

प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारण हैं । प्राणातिपात द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से चार प्रकार का है । इनमें शास्त्रकार क्षेत्र प्राणातिपात के विषय में कहते हैं -

उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर [रा] जे य पाणा ।

हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा

॥२॥

छाया - ऊर्ध्वमधस्तिर्व्यब्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।

हस्तैः पादैश्च संयम्य, अदत्तमव्यैश्च न गृह्णीयात् ॥

अन्वयार्थ - (ऊर्ध्वं अहे यं तिरियं दिसासु) ऊपर, नीचे और तिरिच्छे दिशाओं में (तसा थावर जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं (हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता) उनको अपने हाथ पैर वश रखकर पीड़ा न देनी चाहिए (अन्नेसु य अदिन्नं णो गहेज्जा) तथा दूसरे से न दी हुई चीज न लेनी चाहिए ।

(भावार्थ) - ऊपर, नीचे और तिरिच्छे तथा आठ ही दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते हैं, उनको हाथ पैर वश करके पीड़ा न देनी चाहिए तथा दूसरे से न दी हुई चीज न लेनी चाहिए ।

टीका - सर्वोऽपि प्राणातिपातः क्रियमाणः प्रज्ञापकापेक्षयोर्ध्वमधस्तिर्यक् क्रियते, यदिवा - ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्पेषु त्रिषु लोकेषु तथा प्राच्यादिषु दिक्षु विदिक्षु चेति । द्रव्यप्राणातिपातस्त्वयं - त्रस्यन्तीति त्रसा - द्वीन्द्रियादयो ये च “स्थावराः” पृथिव्यादयः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, कालप्राणातिपातसंसूचनार्थो वा दिवा रात्रौ वा, “प्राणाः” प्राणिनः, भावप्राणातिपातं त्वाह - एतान् प्रागुक्तान् प्राणिनो हस्तपादाभ्यां “संयम्य” बद्ध्वा उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यथा वा कदर्थयित्वा यत्तेषां दुःखोत्पादनं तत्र कुर्यात्, यदिवैतान् प्राणिनो हस्तौ पादौ च संयम्य संयतकायः सन्न हिंस्यात्, चशब्दादुच्छ्वासनिश्वासकासितक्षुतवातनिसर्गादिषु सर्वत्र मनोवाक्कायकर्मसु संयतो भवन् भावसमाधिमनुपालयेत्, तथा

परैरदत्तं न गृहीयादिति तृतीयव्रतोपन्यासः, अदत्तादाननिषेधाच्चार्थतः परिग्रहो निषिद्धो भवति, नापरिगृहीतमासेव्यत इति मैथुननिषेधोऽप्युक्तः, समस्तव्रतसम्यक्पालनोपदेशाच्च मृषावादोऽप्यर्थतो निरस्त इति ॥२॥

(टीकार्थ) - सभी प्राणातिपात प्रज्ञापक (कहनेवाले) की अपेक्षा से ऊपर, नीचे तथा तिरछे क्षेत्रों में किये जाते हैं अथवा ऊपर, नीचे और तिरछे तीनों लोको में अथवा पूर्वादि दिशा तथा विदिशाओं में किये जाते हैं (वे क्षेत्र प्राणातिपात हैं) अब द्रव्य प्राणातिपात के विषय में कहते हैं, जो प्राणी डरते हैं, वे त्रस कहलाते हैं। वे द्वीन्द्रिय आदि प्राणी हैं, (उनको पीड़ा देना द्रव्य प्राणातिपात है) यहाँ चकार स्वगत भेद को सूचित करता है अथवा काल प्राणातिपात को सूचित करता है, इसलिए दिन तथा रात में प्राणियों को पीड़ा देना कालप्राणातिपात है। इन पूर्वोक्त प्राणियों को हाथ, पैर बाँधकर अथवा दूसरी तरह से पीड़ा देना भावप्राणातिपात है। अपने हाथ, पैर और शरीर को वश में रखकर इन प्राणियों की हिंसा न करनी चाहिए। इसी तरह उच्छ्वास, निश्वास, खाँसी, छींक, और अधोवायु निकलने के समय तथा मन, वचन, और शरीर की क्रिया के समय संयत बनकर भावसमाधि का पालन करना चाहिए। एवं दूसरे के द्वारा न दी हुई वस्तु को कभी नहीं लेना चाहिए। यह तीसरे व्रत का उपदेश किया गया है। यहाँ अदत्तादान के निषेध करने से परिग्रह का निषेध भी अपने आप सिद्ध हो जाता है। परिग्रह किये बिना किसी वस्तु का सेवन नहीं किया जाता है, इसलिए परिग्रह के निषेध से मैथुन का निषेध भी अर्थतः कहा हुआ समझना चाहिए। समस्त व्रतों के पालन के उपदेश से झूठ बोलने का निषेध भी अपने आप सिद्ध हो जाता है ॥२॥



ज्ञानदर्शनसमाधिमधिकृत्याह -

अब शास्त्रकार ज्ञान और दर्शनरूप समाधि का उपदेश करते हैं -

सुयक्खायधम्मे वित्तिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु ।

आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू

॥३॥

छाया - स्वाख्यातधर्मा, विचिकित्सातीर्णः, लाढश्चेदात्मतुल्यः प्रजासु ।

आयं न कुस्यादिह जीवितार्थी, चयं न कुस्यात् सुतपस्वी भिक्षुः ॥

अन्वयार्थ - (सुयक्खायधम्मे) श्रुत और चारित्र धर्म को अच्छी तरह प्रतिपादन करनेवाला (वित्तिगिच्छतिण्णे) तथा तीर्थङ्कर प्रतिपादित धर्म में शंका न करनेवाला (लाढे) तथा प्रासुक आहार से अपना निर्वाह करनेवाला (सुतवस्सि भिक्खू) उत्तम तपस्वी साधु (पयासु आयतुले) पृथिवीकाय आदि जीवों को आत्मतुल्य समझता हुआ (चरे) संयम को पालन करे। (इह जीवियट्ठी आयं न कुज्जा) तथा इस लोक में जीने की इच्छा से आश्रवों का सेवन न करे (चयं न कुज्जा) एवं भविष्य काल के लिए धन, धान्य आदि का संचय न करे।

भावार्थ - श्रुत और चारित्र धर्म को सुन्दर रीति से कहनेवाला तथा तीर्थङ्करोक्त धर्म में शङ्कारहित, प्रासुक आहार से शरीर का निर्वाह करनेवाला, उत्तम तपस्वी साधु, समस्त प्राणियों को अपने समान समझता हुआ संयम का पालन करे और इस लोक में चिरकाल तक जीने की इच्छा से आश्रवों का सेवन न करे एवं भविष्य काल के लिए धन, धान्य आदि का सञ्चय न करे।

टीका - सुह्वाख्यातः श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽसौ स्वाख्यातधर्मा, अनेन ज्ञानसमाधिरुक्तो भवति, न हि विशिष्टपरिज्ञानमन्तरेण स्वाख्यातधर्मत्वमुपपद्यत इति भावः, तथा विचिकित्सा - चित्तविप्लुतिर्विद्वज्जुगुप्सा वा तां “(वि)तीर्णः” - अतिक्रान्तः “तदेव च निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदित” - मित्येवं निःशङ्कतया न क्वचिच्चित्तविप्लुतिं विधत्त इत्यनेन दर्शनसमाधिः प्रतिपादितो भवति, येन केनचित्प्रासुकाहारोपकरणादिगतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति - पालयतीति लाढः, स एवम्भूतः संयमानुष्ठानं “चरेद्” अनुतिष्ठेत्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः - पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्मतुल्यः, आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवम्भूत एव भावसाधुर्भवतीति, तथा चोक्तम् -

१जह मम ण प्रियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
ण हणइ ण हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो ॥१॥

यथा च ममाऽऽकुशयमानस्याभ्याख्यायमानस्य वा दुःखमुत्पद्यते एवमन्येषामपीत्येवं मत्वा प्रजास्वात्मसमो भवति, तथा इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी वा “आयं” कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात्, तथा “चयम्” उपचयमाहारोपकरणादेर्धनधान्यद्विपदचतुष्पदादेर्वा परिग्रहलक्षणं संचयमायत्यर्थं सुष्ठु तपस्वी सुतपस्वी-विकृष्टतपोनिष्टसदेहो भिक्षुर्न कुर्यादिति ॥३॥ किञ्चान्यत्

टीकार्थ - श्रुत और चारित्ररूप धर्म का जो अच्छी तरह उपदेश करता है, उस साधु को स्वाख्यातधर्मा कहते हैं । इस विशेषण के द्वारा ज्ञानसमाधि बताई गयी है, क्योंकि उच्चकोटि का ज्ञान हुए बिना अच्छी रीति से धर्म का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है । चित्त की शङ्का को अथवा विद्वानों की निन्दा को जुगुप्सा कहते हैं, उसको छोड़कर, “जिनेश्वर ने जो कहा है, वही सत्य है” यह मानकर चित्त में शङ्का नहीं लाता हुआ, (यह कहकर दर्शनसमाधि बताई है) तथा जो कुछ प्रासुक आहार या उपकरण प्राप्त हो उसी से अपना निर्वाह करता हुआ साधु संयम पालन करे । जो बार-बार जन्म लेते हैं, उन्हें प्रजा कहते हैं, वे पृथिवी आदि प्राणी हैं, इन प्राणियों को अपने समान देखनेवाला पुरुष भावसाधु कहा जाता है। अत एव कहा है कि -

(जह मम) अर्थात् जैसे मुझको दुःख प्रिय नहीं है, इसी तरह सभी जीवों को नहीं है, यह जानकर जो स्वयं जीवों का हनन नहीं करता है और दूसरे से हनन नहीं कराता है किन्तु समभाव से रहता है, वह साधु श्रमण कहलाता है ।

तथा साधु यह जानता है कि जैसे मुझ को कोई धमकाता है अथवा कलङ्क लगाता है, तो मुझको दुःख उत्पन्न होता है, इसी तरह अन्य प्राणियों को भी दुःख उत्पन्न होता है । अतः साधु समस्त प्राणियों को अपने समान मानता है । साधु इस लोक में असंयम जीवन का इच्छुक अथवा मैं चिरकाल तक जीवित रहूँ ऐसा निश्चय कर कर्मों के आश्रव का सेवन न करे एवं तप से अपने शरीर को अच्छी तरह तपाया हुआ साधु भविष्य काल के लिए आहार और उपकरण आदि एवं धन, धान्य, द्विपद और चतुष्पद आदि का परिग्रह रूप संचय न करे ॥३॥



सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढोवि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे

॥४॥

छाया - सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृतः प्रजासु, चरेब्बुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः ।

पस्य प्राणैश्च पृथगपि सत्त्वान्, दुःखेनार्त्तान् परितप्यमानान् ॥

अन्वयार्थ - (पयासु सव्विंदियाभिनिव्वुडे) साधु स्त्रियों के विषय में अपनी समस्त इन्द्रियों को रोककर जितेन्द्रिय बने । (सव्वतो विप्पमुक्के मुणी चरे) तथा बाहर और भीतर सभी बन्धनों से मुक्त होकर साधु संयम पालन करे । (पाणे य पुढोवि सत्ते) अलग अलग प्राणिवर्ग (अट्टे दुक्खेण परितप्पमाणे) आर्त और दुःख से तप्त हो रहे हैं (पासाहि) यह देखो ।

भावार्थ - साधु स्त्रियों के विषय में अपनी समस्त इन्द्रियों को रोककर जितेन्द्रिय बने तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर शुद्ध संयम का पालन करे । इस लोक में अलग अलग प्राणिवर्ग दुःख भोग रहे हैं, यह देखो ।

टीका - सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः संवृतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, क्व? - “प्रजासु” स्त्रीषु, तासु हि पञ्चप्रकारा अपि शब्दादयो विषया विद्यन्ते, तथा चोक्तम् -

कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोक्तानि ।

रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोऽपि गन्धोऽपि च चुम्बनानि ॥१॥

तदेवं स्त्रीषु पञ्चेन्द्रियविषयसम्भवात्तद्विषये संवृतसर्वेन्द्रियेण भाव्यम्, एतदेव दर्शयति - “चरेत्” संयमानुष्ठान-

1. यथा मम न प्रियं दुःखं ज्ञात्वा एवमेव सर्वसत्त्वानां । न हन्ति न घातयति च सममणति तेन स श्रमणः ॥१॥

मनुतिष्ठेत् “मुनिः” साधुः “सर्वतः” सबाह्याभ्यन्तरात् सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो विप्रमुक्तो निःसङ्गो मुनिः निष्किञ्चनश्चेत्यर्थः, स एवम्भूतः सर्वबन्धनविप्रमुक्तः सन् “पश्य” अवलोकय पृथक् पृथक् पृथिव्यादिषु कायेषु सूक्ष्मबादरपर्याप्तिकापर्याप्तिक-भेदभिन्नान् “सत्त्वान्” प्राणिनः अपिशब्दाद्वनस्पतिकाये साधारणशरीरिणोऽनन्तानप्येकत्वमागतान् पश्य, किंभूतान् ?- दुःखेन-असातवेदनीयोदयरूपेण दुःखयतीति वा दुःखम् - अष्टप्रकारं कर्म तेनात्तान् - पीडितान् परि - समन्तात्संसारकटाहोदरे स्वकृतेनेन्धनेन “परिपच्यमानान्” क्वाध्यमानाम् यदिवा - दुष्प्राणिहितेन्द्रियानार्तध्यानोपगतान्मनोवाक्कायैः परितप्यमानान् पश्येति सम्बन्धो लगनीय इति ॥४॥ अपि च-

टीकार्थ - साधु स्पर्शन आदि सभी इन्द्रियों को वश करके जितेन्द्रिय बने (प्रश्न) किसके विषय में ? (उत्तर) स्त्रियों के विषय में, अर्थात् स्त्रियों के विषय में शब्द आदि पाँच ही विषय विद्यमान हैं । अत एव कहा है कि-

(कलानि) स्त्रियों का वाक्य सुनने में कानों को मधुर लगता है, तथा उनका चलना और देखना, नेत्र को प्रसन्न करता है एवं उनके साथ रमण करने से आश्चर्यजनक आनन्द होता है तथा उनके मुख को चुम्बन करने से रस और गन्ध भी प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार सुन्दर स्त्री में पाँच ही विषय होने से साधु को स्त्री के विषय में जितेन्द्रिय होना चाहिए । (स्त्रियों के सहवास से साधु को दूर रहना चाहिए) यही शास्त्रकार दिखाते हैं - साधु बाहर और भीतर दोनों ही प्रकार के सङ्गो को छोड़कर तथा निष्किञ्चन होकर संयम का अनुष्ठान करे । तुम सब प्रकार के बन्धनों से रहित होकर पृथिवी आदि कायों में अलग-अलग रहनेवाले सूक्ष्म बादर पर्याप्त और अपर्याप्त भेद वाले प्राणी तथा अपि शब्द से वनस्पतिकाय में साधारण शरीरवाले अनन्त प्राणी जो एकता को प्राप्त हुए हैं उन्हें देखो) (प्रश्न) वे प्राणी कैसे हैं? (उत्तर) वे असातवेदनीय के उदयरूप अथवा आठ प्रकार के कर्मरूप दुःख से पीड़ित हैं, वे संसाररूप कटाह में अपने किये हुए कर्मरूपी इन्धनों से पकाये जा रहे हैं अथवा उनकी इन्द्रियाँ बुरे व्यापारों में लगी हुई हैं और वे आर्त्तध्यान करते हुए मन, वचन और काय से ताप का अनुभव कर रहे हैं, यह देखो ॥४॥



एतेसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु ।

अतिवायतो कीरति पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेइ कम्मं

॥५॥

छाया - एतेषु बालश्च प्रकुर्वाणः, आवर्तते कर्मसु पापकेषु ।

अतिपाततः क्रियते पापकर्म, नियोजयंस्तु करोति कर्म ॥

अन्वयार्थ - (बाले) अज्ञानी जीव, (एतेसु) पूर्वोक्त पृथिवीकाय आदि प्राणियों को (पकुव्वमाणे) कष्ट देता हुआ (पावएसु कम्मसु आवट्टति) पापकर्म में अथवा इन पृथिवीकाय आदि योनियों में भ्रमण करता है । (अतिवायतो पावकम्मं कीरति) जीवहिंसा करके प्राणी पापकर्म करता है (निउंजमाणे उ कम्मं करेइ) तथा दूसरे के द्वारा हिंसा कराकर भी जीव पाप करता है ।

भावार्थ - अज्ञानी जीव पृथिवीकाय आदि प्राणियों को कष्ट देता हुआ पापकर्म करता है और अपने पाप का फल भोगने के लिए वह पृथिवीकाय आदि प्राणियों में ही बार-बार जन्म लेता है । जीवहिंसा स्वयं करने और दूसरे के द्वारा कराने से पाप उत्पन्न होता है ।

टीका - “एतेषु” प्राड् निर्दिष्टेषु प्रत्येकसाधारणप्रकारेषूपतापक्रियया बालवत् “बालः” अज्ञश्चशब्दादितरोऽपि सङ्घट्टनपरितापनापद्रावणादिकेनानुष्ठानेन “पापानि” कर्माणि प्रकर्षेण कुर्वाणस्तेषु च पापेषु कर्मसु सत्सु एतेषु वा पृथिव्यादिजन्तुषु गतः संस्तेनैव संघट्टनादिना प्रकारेणानन्तशः “आवर्त्यते” पीडयते दुःखभागभवतीति, पाठान्तरं वा “एवं तु बाले” एवमित्युपप्रदर्शने यथा चौरः पारदारिको वा असदनुष्ठानेन हस्तपादच्छेदान् बन्धवधादींश्चेहावाप्रोत्येवं सामान्यदृष्टेनानुमानेनान्योऽपि पापकर्मकारी इहामुत्र च दुःखभागभवति, “आउट्टति” ति क्वचित्पाठः, तत्राशुभान् कर्मविपाकान् दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा तेभ्योऽसदनुष्ठानेभ्य “आउट्टति” ति निवर्तते, कानि पुनः पापस्थानानि येभ्यः पुनः प्रवर्तते निवर्तते वा इत्याशङ्क्य तानि दर्शयति - “अतिपाततः” प्राणातिपाततः प्राणव्यपरोपणाद्धेतोस्तच्चाशुभं

ज्ञानावरणादिकं कर्म “क्रियते” समादीयते, तथा परांश्च भृत्यादीन् प्राणातिपातादौ “नियोजयन्” व्यापारयन् पापं कर्म करोति, तुशब्दान्मृषावादादिकं च कुर्वन् कारयंश्च पापकं कर्म समुच्चिनोतीति ॥५॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - पहले जो प्रत्येक प्राणी बताये गये हैं तथा वनस्पतिकाय में उत्पन्न साधारण प्राणी कहे गये हैं इन प्राणियों को जो अज्ञानी और च शब्द से दूसरा पुरुष कष्ट देता है अर्थात् वह इनको काटता है, ताप देता है या गलाता है एवं आदि शब्द से दूसरी तरह से दुःख देता है, वह पुरुष अत्यन्त पाप करनेवाला है । इस कारण वह अपने पाप का फल भोगने के लिए इन्हीं पृथिवी आदि जीवों में बार-बार जन्म लेकर अनन्त काल तक ताड़न, तापन और गलाना आदि दुःखों का पात्र बनता है । यहां “एवं तु बाले” यह पाठान्तर भी पाया जाता है । इसमें एवं शब्द दृष्टान्त बताने के लिए है । जैसे चोर और परस्त्रीलम्पट पुरुष असत् अनुष्ठान करके इसलोक में हाथ पैर का छेदन तथा वध बन्धनरूप दुःखों को प्राप्त करता है, इसी तरह दूसरे भी पापी इसलोक और परलोक में दुःख के भाजन होते हैं । यह ‘सामान्यतोदृष्ट अनुमान’ से सिद्ध होता है । कहीं (आउट्रति) यह पाठ मिलता है, इसका अर्थ यह है कि - बुद्धिमान् पुरुष, अशुभ कर्मों का दुःखरूप फल देखकर या सुनकर अथवा जानकर कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं । (प्रश्न) वे कौन पाप के स्थान हैं ? जिनमें प्राणी प्रवृत्त होते हैं अथवा जिनसे निवृत्त होते हैं : (उत्तर) जीवहिंसा करने से प्राणी ज्ञानावरणीय आदि अशुभ कर्मों को बाँधता है तथा जो अपने नौकर आदि को जीवहिंसा करने की आज्ञा देता है, वह पापकर्म करता है तथा तु शब्द से जो झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन सेवन करता है और परिग्रह करता है अथवा दूसरे से इन कर्मों को कराता है, [उन कार्यों की अनुमोदना करता है ।] वह पाप का सञ्चय करता है ॥५॥



आदीणवित्तीव करेति पावं, मन्ता उ एगंतसमाहिमाहु ।

बुद्धे समाहीय रते विवेगे, प्राणातिवाता विरते ठियप्पा

॥६॥

छाया - आदीणवृत्तिरपि करोति पापं, मत्वात्वेकावन्तसमाधिमाहुः ।

बुद्धः समाधौ च रतो विवेके, प्राणातिपाताद् विरतः स्थितात्मा ॥

अन्वयार्थ - (आदीणवित्तीव पावं करेति) जो पुरुष दीनवृत्ति करता है अर्थात् कंगाल भीखारी का धंधा करता है, वह भी पाप करता है (मन्ता उ एगंतसमाहिमाहु) यह जानकर तीर्थंकरों ने एकान्त समाधि का उपदेश किया है । (बुद्धे ठियप्पा) इसलिए विचारवान् शुद्धचित्त पुरुष (समाहीय विवेगे रते) समाधि और विवेक में रत रहे । (प्राणातिवाता विरते) एवं प्राणातिपात से निवृत्त रहे ।

भावार्थ - जो पुरुष कंगाल और भीखारी आदि के समान करुणाजनक धंधा करता है, वह भी पाप करता है यह जानकर तीर्थंकरों ने भावसमाधि का उपदेश किया है । अतः विचारशील शुद्धचित्त पुरुष भावसमाधि और विवेक में रत होकर प्राणातिपात से निवृत्त रहे ।

टीका - आ - समन्तादीना - करुणास्पदा वृत्तिः - अनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेः स भवत्यादीनवृत्तिः, एवम्भूतोऽपि पापं कर्म करोति, पाठान्तरं वा आदीनभोज्यपि पापं करोतीति, उक्तं च - ²“पिंडोलगेव दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चइ” स कदाचिच्छोभनमाहारमलभमानोऽज्ञत्वादार्तरौद्रध्यानोपगतोऽधः सप्तम्यामप्युत्पद्येत, तद्यथा -

1. किसी जगह किसी वस्तु को प्रत्यक्ष देखकर उसके समान दूसरी अप्रत्यक्ष वस्तु को जानना “सामान्यतोदृष्ट अनुमान” है, जैसे यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पाटलिपुत्र में जो देवदत्त कल देखा गया है, वह आज काशी में गति के कारण देखा जाता है क्योंकि वह यदि पाटलीपुत्र से चलकर काशी नहीं आता तो वह काशी में नहीं देखा जाता इससे यह सिद्ध होता है, कि एक जगह से दूसरी जगह पर गति के बिना कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती है । इस प्रकार जब हम सूर्य को एक देश से दूसरे देश में देखते हैं तब देवदत्त की गति के समान ही सूर्य में भी गति का अनुमान करते हैं क्योंकि सूर्य में यदि गति न होती तो वह एक देश से दूसरे देश में कैसे प्राप्त होता ? अतः देवदत्त आदि में गतिपूर्वक देशान्तर की प्राप्ति देखकर सूर्य में अप्रत्यक्ष गति का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है । इसी तरह प्रत्यक्ष ही चोर आदि को दुःख का फल भोगते हुए देखकर दूसरे पापियों का भी पाप का फल भोगना जाना जाता है ।

2. पिण्डावलगकोऽपि दुःशीलो नरकान्न मुच्यते ।

असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहवैभारगिरिशिलापातनोद्यतः स देवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति, तदेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोतीत्येवं “मत्वा” अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः, द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनेकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्ति अन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति, तथा चोक्तम् -

यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः । किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः॥१॥

“इत्यादि, तदेवं “बुद्धः” अवगततत्त्वः स चतुर्विधेऽपि ज्ञानादिके रतो-व्यवस्थितो “विवेके वा” आहारोपकरण-कषायपरित्यागरूपे द्रव्यभावात्मके रतः सन्नेवंभूतश्च स्यादित्याह - प्राणानां दशप्रकाराणामप्यतिपातो-विनाशस्तस्माद्विरतः स्थितः सम्यग्मार्गेषु आत्मा यस्य सः पाठान्तरं वा ठियच्चित्ति स्थिता शुद्धस्वभावात्मना अर्चिः-लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः, - सुविशुद्धस्थिरलेश्य इत्यर्थः ॥६॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो करुणाजनक धंधा करते हैं, वे कंगाल और भिखारी आदि “आदीनवृत्ति” कहलाते हैं। ऐसे पुरुष भी पाप करते हैं। कहीं “आदीनभोगी” यह पाठ मिलता है इसका अर्थ यह है कि जो पुरुष दुःख से पेट भरता है, वह भी पाप करता है। कहा है कि - (पिंडोलगेव) अर्थात् टुकड़े के लिए भटकता हुआ पुरुष दुराचार करके नरक से नहीं छूटता है। वह मूर्ख जीव, कभी अच्छा आहार न मिलने से आर्त और रौद्रध्यान करके नरक की साँतवीं भूमि में भी उत्पन्न हो सकता है। जैसे राजगृह नगर में उत्सव के समय बाहर निकले हुए लोगों पर भिक्षा न मिलने के कारण क्रोधित एक भिखारी पर्वत की शिला गिराने के लिए वैभार पर्वत पर चढ़ गया परन्तु दैववश पैर फिसल जाने से वह स्वयं गिर कर मर गया। अतः जो कंगाल भीखारी की तरह दुःख से पेट भरता है, वह भी पाप कर्म करता है। यह जानकर तीर्थकर और गणधर आदि ने संसार सागर को पार करने के लिए भावरूप ज्ञानादि समाधि का उपदेश किया है। वह ज्ञानादि समाधि एकान्त और आत्यन्तिक सुख को उत्पन्न करती है। द्रव्यसमाधि स्पर्शादि सुख को उत्पन्न करती है और वह भी एकान्त तथा आत्यन्तिक नहीं किन्तु अनिश्चित और अल्पकाल के लिए सुख उत्पन्न करती है और अन्त में अवश्य दुःख उत्पन्न करती है। अत एव कहा है कि-

“यद्यपि” अर्थात् जैसे किंपाक फल खाने से पहले तो बड़ा आनंद आता है परन्तु पीछे व्याधि या मरण उत्पन्न होते हैं, इसी तरह विषय सुख भी भोगते समय मन को आनंद देते हैं परन्तु पीछे महान् दुःख उत्पन्न करते हैं।

अतः तत्त्व को समझा हुआ पण्डित साधु, ज्ञान वगैरह चार प्रकार की समाधि में आनन्दित रहे अथवा आहार, उपकरण और कषाय को त्यागकर द्रव्य और भाव से आनन्द माने। ऐसा होकर प्राणियों के दश प्रकार के प्राणों के विनाश से दूर तथा उत्तममार्ग में आत्मा को स्थिर रखनेवाला साधु बने। अथवा “ठियच्चि” इस पाठान्तर के अनुसार साधु विशुद्धलेश्यावाला बने ॥६॥



सर्वं जगं तू समयाणुपेही, प्रियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।

उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो, संपूयणं चेव सिलोयकामी

॥७॥

छाया - सर्वं जगत्तु समयाणुपेक्षी, प्रियमप्पियं कस्यचिञ्च कुख्यात् ।

उत्थाय दीनश्च पुनर्विषण्णः संपूयणश्चैव श्लोककामी ।

अन्वयार्थ - (सर्वं जगं तु समयाणुपेही) साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे। (कस्सइ प्रियमप्पियं णो करेज्जा) किसी का भी प्रिय और अप्रिय न करे (उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो) कोई पुरुष प्रव्रज्या लेकर परीषह और उपसर्गों की बाधा होनेपर दीन हो जाते हैं और वे फिर पतित हो जाते हैं (संपूयणं चेव सिलोयकामी) और कोई पूजा और प्रशंसा के अभिलाषी बन जाते हैं।

भावार्थ - साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे, वह किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे। कोई कोई प्रव्रज्या धारण करके परीषह और उपसर्गों की बाधा आने पर दीन हो जाते हैं और प्रव्रज्या छोड़कर पतित हो जाते हैं। कोई

अपनी पूजा और प्रशंसा के अभिलाषी हो जाते हैं ।

टीका - “सर्व” चराचरं “जगत्” प्राणिसमूहं समतया प्रेक्षितुं शीलमस्य स समतानुप्रेक्षी समतापश्यको वा, न कश्चित्प्रियो नापि द्वेष्य इत्यर्थः, तथा चोक्तम्-¹“नत्थि य सि कोइ विस्सो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु” तथा - “जह मम ण पियं दुक्खमि” त्यादि, समतोपेतश्च न कस्यचित्प्रियमप्रियं वा कुर्यान्निःसङ्गतया विहरेद्, एवं हि सम्पूर्णभावसमाधियुक्तो भवति, कश्चित्तु भावसमाधिना सम्यगुत्थानेनोत्थाय परीषहोपसर्गैस्तर्जितो दीनभावमुपगम्य पुनर्विषण्णो भवति विषयार्थी वा कश्चिद्गार्हस्थ्यमप्यवलम्बते रससातागौरवगृद्धो वा पूजासत्काराभिलाषी स्यात् तदभावे दीनः सन् पार्श्वस्थादिभावेन वा विषण्णो भवति, कश्चित्तथा सम्पूजनं वस्त्रपात्रादिना प्रार्थयेत् “श्लोककामी च” श्लाघाभिलाषी च व्याकरणगणितज्योतिषनिमित्तशास्त्राण्यधीते कश्चिदिति ॥७॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - साधु चर और अचर सब प्राणियों को समभाव से देखता हुआ किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय न समझे । अत एव कहा है कि - (नत्थि य) अर्थात् समस्त जीवों में साधु का न तो कोई द्वेष का पात्र है और न कोई प्रेम का भाजन है, अत एव साधु यह चिन्ता करता है कि - जैसे मुझको दुःख अप्रिय है इसी तरह दूसरे प्राणियों को भी अप्रिय है, इस प्रकार साधु समभाव से युक्त होकर किसी का भी प्रिय अथवा अप्रिय न करे किन्तु निःसङ्ग होकर विचरे । जो साधु ऐसा करनेवाला है, वह सम्पूर्ण भावसमाधि से युक्त होता है परन्तु कोई पुरुष भावसमाधि के द्वारा अपनी उन्नति करके अर्थात् दीक्षा लेकर भी परीषह और उपसर्गों से पीड़ित होकर दीन हो जाते हैं और वे पश्चात्ताप करते हैं । तथा कोई विषयलोलुप होकर फिर गृहस्थ हो जाते हैं एवं कोई रस और सातागौरव में आसक्त होकर पूजा और सत्कार के अभिलाषी बन जाते हैं । वे पूजा सत्कार प्राप्त न होने पर पार्श्वस्थ बनकर खेद करते हैं । तथा कोई वस्त्र और पात्र आदि की चाहना करनेवाले हो जाते हैं एवं कोई अपनी प्रशंसा के लिए व्याकरण, गणित, ज्योतिष और निमित्तशास्त्र पढ़ते हैं ॥७॥



आहाकडं चेव निकाममीणे, नियामचारी य विसण्णमेसी ।

इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्रहं चेव पकुव्वमाणे

॥८॥

छाया - आधाकृतश्चैव निकाममीणे, निकामचारी च विषण्णेपी ।

स्त्रीषु सक्तश्चपृथक् च बालः परिग्रहश्चैव प्रकुर्वाणः ॥

अन्वयार्थ - (आहाकडं चेव निकाममीणे) जो दीक्षा लेकर आधाकर्मी आहार की अत्यन्त इच्छा करता है (नियामचारी य विसण्णमेसी) तथा जो आधाकर्मी आहार के लिए विचरता है, वह कुशील बनना चाहता है । (इत्थीसु सत्ते य) तथा जो स्त्री में आसक्त है (पुढो य बाले) एवं स्त्री के विलासों में अज्ञानी की तरह मुग्ध रहता है तथा (परिग्रहं चेव पकुव्वमाणे) स्त्री की प्राप्ति के लिए परिग्रह रखता है । वह पापकर्म करता है ।

भावार्थ - जो पुरुष प्रव्रज्या लेकर आधाकर्मी आहार की चाहना करता है और आधाकर्मी आहार के लिए अत्यन्त भ्रमण करता है, वह कुशील है तथा जो स्त्री में आसक्त होकर उसके विलासों में मोहित हो गया है तथा स्त्री प्राप्ति के लिए परिग्रह करता है । वह पाप की वृद्धि करता है ।

टीका - साधूनाधाय - उद्दिश्य कृतं निष्पादितमाधाकर्मेत्यर्थः, तदेवम्भूतमाहारोपकरणादिकं निकामम् - अत्यर्थं यः प्रार्थयते स निकाममीणेत्युच्यते । तथा “निकामम्” अत्यर्थं आधाकर्मादीनि तन्निमित्तं निमन्त्रणादीनि वा सरति-चरति तच्छीलश्च स तथा, एवम्भूतः पार्श्वस्थावसन्नकुशीलानां संयमोद्योगे विषण्णानां विषण्णभावमेषते, सदनुष्ठानविषण्णतया संसारपङ्कावसन्नो भवतीति यावत्, अपिच “स्त्रीषु” रमणीषु “आसक्तः” अध्युपपन्नः पृथक्-पृथक् तद्भाषितहसित-विष्णोः कशरीरावयवेष्विति, बालवद् “बाल” अज्ञः सदसद्विवेकविकलः, तदवसक्ततया च नान्यथा-द्रव्यमन्तरेण तत्सम्प्राप्तिर्भवतीत्यतो येन केनचिदुपायेन तदुपायभूतं परिग्रहमेव प्रकर्षेण कुर्वाणः पापं कर्म समुच्चिनोतीति ॥८॥ तथा-

1. नास्ति तस्य कोऽपि द्वेष्यः प्रियश्च सर्वेषु चैव जीवेषु ॥

टीकार्थ - जो आहार आदि साधु को देने के लिए बनाया गया है, वह आधाकर्म कहलाता है। उस आधाकर्म आहार अथवा उपकरण आदि की जो अत्यन्त इच्छा करता है, उसे "निकाममीण" कहते हैं। तथा जो आधाकर्मी आहार आदि के लिए निमन्त्रण आदि की इच्छा करता है, वह पुरुष संयम पालन करने में ढीले पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशीलों के धर्म का सेवन करता है। वह संयम की क्रिया में ढीला होकर संसाररूपी कीचड़ में फँसता है। (अर्थात् फिर गृहस्थ हो जाता है) एवं वह स्त्री में आसक्त होकर उसके भाषण, हास्य और विव्वोक (अभिमान के कारण इष्ट वस्तु में भी अनादर प्रकट करना) तथा उसके मुख, स्तन आदि अङ्गों में रागी होकर बालक के समान भले और बुरे के विवेक से रहित हो जाता है। द्रव्य के बिना स्त्री की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए स्त्री में आसक्त वह पुरुष जिस किसी उपाय से धन का सञ्चय रूप परिग्रह करता है। वह पुरुष पाप का सञ्चय करता है, यह जानना चाहिए ॥८॥



वेराणुगिद्धे णिचयं करोति, इओ चुते स इहमट्टदुग्गं ।

तम्हा उ मेधावि समिक्ख धम्मं, चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के

॥९॥

छाया - वेराणुगृद्धो णिचयं करोति, इतश्च्युतः स इहमर्थदुर्गम् ।

तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं चरेब्बुनिः सर्वतोविप्रमुक्तः ॥

अन्वयार्थ - (वेराणुगिद्धे) जो पुरुष प्राणियों के साथ वैर करता है (णिचयं करोति) वह पाप कर्म की वृद्धि करता है। (इओ चुते स इहमट्टदुग्गं) वह मरकर नरक आदि दुःखदायी स्थानों में जन्म लेता है। (तम्हा उ मेधावी मुणी) इसलिए बुद्धिमान् मुनि (धम्मं समिक्ख) धर्म विचारकर (सव्वउ विप्पमुक्के) सब बन्धनों से रहित होकर संयम का पालन करे।

भावार्थ - जो पुरुष प्राणियों की हिंसा करता हुआ उनके साथ वैर बांधता है, वह पाप की वृद्धि करता है तथा वह मरकर नरक आदि दुःखों को प्राप्त करता है, इसलिए विद्वान् मुनि धर्म का विचार कर सब अनर्थों से रहित होकर संयम का पालन करे।

टीका - येन केन कर्मणा - परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति तत्र गृद्धो वैराणुगृद्धः, पाठान्तरं वा "आरंभसत्तो" त्ति आरम्भे सावधानुष्ठानरूपे सक्तो - लग्नो निरनुकम्पो "निचयं" द्रव्योपचयं तन्निमित्तापादितकर्मनिचयं वा "करोति" उपादत्ते "स" एवम्भूत उपात्तवैरः कृतकर्मोपचय "इतः" अस्मात्स्थानात् "च्युतो" जन्मान्तरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं - नरकादियातनास्थानमर्थतः - परमार्थतो दुर्गं - विषमं दुरुत्तरमुपैति, यत एवं तत्तस्मात् "मेधावी" विवेकी मर्यादावान् वा सम्पूर्णसमाधिगुणं जानानो "धर्मं" श्रुतचारित्राख्यं "समीक्ष्य" आलोच्याङ्गीकृत्य "मुनिः" साधुः "सर्वतः" सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गात् "विप्रमुक्तः" अपगतः संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनैकहेतुभूतं "चरेद्" अनुतिष्ठेत्, स्थारम्भादिसङ्गाद्विप्रमुक्तोऽनिश्रितभावेन विहरेदितियावत् ॥९॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जो कर्म करने से प्राणियों को पीड़ा होती है और उनके साथ सेंकड़ों जन्मों के लिए वैर बंधता है, उस कर्म में जो आसक्त है अथवा "आरम्भसत्तो" इस पाठान्तर के अनुसार जो सावध अनुष्ठान में आसक्त है अर्थात् अनुकम्पारहित है तथा इस कार्य के द्वारा द्रव्य का संग्रह करता है अथवा द्रव्यसंग्रह के लिए कर्म बाँधता है। वह प्राणियों के साथ वैर तथा पाप कर्म का संग्रह करने के कारण इस भव को छोड़कर दुस्तर नरक आदि महापीड़ा स्थानों में जन्म धारण करता है। पापी पुरुष की नरकादि गति होती है, इसलिए विवेकी अथवा मर्यादा में स्थित एवं सम्पूर्ण समाधि गुण को जाननेवाला साधु श्रुत और चारित्र धर्म को स्वीकार करके बाह्य और आभ्यन्तर सङ्गो को छोड़कर मोक्ष प्राप्ति के कारणरूप संयम का अनुष्ठान करे। वह स्त्री और आरम्भ आदि से रहित होकर स्वतंत्र विचरे यह भाव है ॥९॥



आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।

णिसम्मभासी य विणीय गिद्धि, हिंसनियं वा ण कहं करेज्जा

॥१०॥

छाया - आयं न कुर्स्यादिह जीवितार्थी, असज्जमानश्च परिव्रजेत् ।

निशम्यभाषी च विनीय गृद्धि हिंसान्वितां वा न कथां कुर्यात् ॥

अन्वयार्थ - (इह जीवियट्ठी आयं ण कुज्जा) साधु इसलोक में चिरकाल तक जीने की इच्छा से द्रव्य उपार्जन न करे । (असज्जमाणो य परिव्वएज्जा) तथा स्त्री - पुत्र आदि में आसक्त न रहता हुआ संयम में प्रवृत्ति करे (णिसम्मभासी) एवं साधु विचारकर कोई बात कहे (गिद्धि विणीय) तथा शब्दादि विषयों में आसक्ति को हटाकर (हिंसनियं कहं ण करेज्जा) हिंसा सम्बन्धी कथा न कहे ।

भावार्थ - साधु इस संसार में चिरकाल तक जीने की इच्छा से द्रव्य का उपार्जन न करे । तथा स्त्री, पुत्रादि में आसक्त न होता हुआ संयम में प्रवृत्ति करे । साधु विचारकर कोई बात कहे तथा शब्दादि विषयों से आसक्ति हटाकर हिंसायुक्त कथा न कहे ।

टीका - आगच्छतीत्यायो - द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तापादितोऽष्टप्रकारकर्मलाभो वा तम् "इह" अस्मिन् संसारे "असंयमजीवितार्थी" भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थः, यदिवा - आजीविकाभयात् द्रव्यसञ्चयं न कुर्यात्, पाठान्तरं वा छन्दणं कुज्जा इत्यादि, छन्दः - प्रार्थनाऽभिलाष इन्द्रियाणां स्वविषयाभिलाषो वा तत् न कुर्यात्, तथा "असज्जमानः" सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकलत्रादिषु "परिव्रजेत्" उद्युक्तविहारी भवेत् तथा "गृद्धि" गाध्यं विषयेषु शब्दादिषु "विनीय" अपनीय "निशम्य" अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषको भवेत्, तदेव दर्शयति - हिंसया - प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां युक्तां कथां न कुर्यात्, न तत् ब्रूयात् यत्परात्मनोः उभयोर्वा बाधकं वच इति भावः, तद्यथा - अश्रीत पिबत खादत मोदत हत छिन्त प्रहरत पचतेत्यादिकथां पापोपादानभूतां न कुर्यादिति ॥१०॥ अपि च-

टीकार्थ - जो अपने पास आता है, उसे आय कहते हैं, वह द्रव्य का लाभ है अथवा द्रव्य के लाभ के लिए जो आठ प्रकार के कर्मों की प्राप्ति होती है, उसे आय कहते हैं । वह आय, इस लोक में असंयम जीवन की इच्छा से अथवा भोगप्रधान जीवन की इच्छा से साधु न करे । अथवा साधु आजीविका के भय से द्रव्य का सञ्चय न करे । अथवा "छन्दणं कुज्जा" इस पाठान्तर के अनुसार साधु इन्द्रियों के विषयभोग की इच्छा न करे । तथा गृह, पुत्र और स्त्री आदि में आसक्त न होता हुआ विहार करे । तथा शब्दादि विषयों से आसक्ति हटाकर आगे पीछे सोचकर कोई बात कहे, यही शास्त्रकार दिखाते हैं - साधु हिंसा से युक्त कथा न कहे तथा जिससे अपने को तथा दूसरे को एवं दोनों को दुःख उत्पन्न हो ऐसा वचन न कहे जैसे कि खाओ, पियो, हणो, छेदो, प्रहार करो, पकाओ, इत्यादि पाप के कारणरूप कथा न कहे ॥१०॥



आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंतं य ण संथवेज्जा ।

धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणो

॥११॥

छाया - आधाकृतं वा न णिकामयेत्, णिकामयतश्च न संस्तुयात् ।

धुनीयादुदारमनुपेक्षमाणः, त्यक्त्वा च शोकमनपेक्षमाणः ॥

अन्वयार्थ - (आहाकडं वा ण णिकामएज्जा) साधु आधाकर्मि आहार की कामना न करे (णिकामयंतं य ण संथवेज्जा) तथा जो आधाकर्मि आहार की कामना करता है, उसके साथ परिचय न करे । (अणुवेहमाणे उरालं धुणे) निर्जरा के लिए शरीर को कृश करे (अणवेक्खमाणो सोयं चिच्चा) शरीर की परवाह न करता हुआ शोक को छोड़कर संयम पालन करे ।

भावार्थ - साधु आधाकर्मि आहार की इच्छा न करे और जो आधाकर्मि आहार की इच्छा करता है, उसके साथ परिचय न करे । तथा निर्जरा की प्राप्ति के लिए शरीर को कृश करे और शरीर की परवाह न रखता हुआ शोक को छोड़कर संयम पालन करे ।

टीका - साधूनाधाय कृतमाधाकृतमौद्देशिकमाधाकर्मैत्यर्थः, तदेवम्भूतमाहारजातं निश्चयेनैव “न कामयेत्” नाभिलषेत् तथाविधाहारादिकं च “निकामयतः” निश्चयेनाभिलषतः पार्श्वस्थादींस्तत्सम्पर्कदानप्रतिग्रहसंवाससम्भाषणादिभिः न संस्थापयेत् - नोपबृंहयेत् तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति, किञ्च - “उरालं” ति औदारिकं शरीरं विकृष्टतपसा कर्मनिर्जरामनुप्रेक्षमाणो “धुनीयात्” कृशं कुर्यात्, यदिवा “उरालं” ति बहुजन्मान्तरसञ्चितं कर्म तदुदारं - मोक्षमनुप्रेक्षमाणो “धुनीयाद्” अपनयेत्, तस्मिंश्च तपसा धूयमाने कृशीभवति शरीरके कदाचित् शोकः स्यात् तं त्यक्त्वा याचितोपकरणवदनुप्रेक्षमाणः शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः ॥११॥

टीकार्थ - जो आहार साधु के लिए किया गया है, उसे आधाकर्म कहते हैं, उस आहार की साधु कभी भी इच्छा न करे तथा जो उस आहार की कामना करता है, ऐसे पार्श्वस्थ आदि के साथ लेना, देना या साथ रहना तथा बहुत बातचीत करना इत्यादि परिचय साधु न करे। तथा कर्म की निर्जरा के लिए बड़ी तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करे। अथवा साधु बहुत जन्मों के सञ्चित कर्म को मोक्ष की प्राप्ति के लिए नाश करे। तप के द्वारा कर्मों को क्षय करते समय शरीर की कृशता हो जाने से कदाचित् साधु को शोक उत्पन्न हो तो साधु शरीर को माँगकर लाये हुए उपकरण के समान जानकर शोक न करे किन्तु शरीर के मल के समान कर्मों को नष्ट करे॥११॥



किञ्चापेक्षेतेत्याह -

किसकी अपेक्षा करे वह कहते हैं -

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसं ति पास ।

एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी

॥१२॥

छाया - एकत्वमेतदभिप्रार्थयेदेवं प्रमोक्षो न मृषेति पश्य ।

एष प्रमोक्षोऽमृषा वरोऽपि, अक्रोधनः सत्यरतस्तपस्वी ॥

अन्वयार्थ - (एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा) साधु एकत्व की भावना करे (एवं पमोक्खो न मुसं ति पास) एकत्व की भावना करने से ही साधु निःसङ्गता को प्राप्त होता है, यह मिथ्या नहीं किन्तु सत्य जानो। (एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि) यह एकत्व की भावना ही उत्कृष्ट मोक्ष है तथा यही सत्य भावसमाधि और प्रधान है। (अकोहणे सच्चरते तवस्सी) जो क्रोध रहित तथा सत्य में रत और तपस्वी है, वही सबसे श्रेष्ठ है।

भावार्थ - साधु एकत्व की भावना करे क्योंकि एकत्व की भावना से ही निःसङ्गता प्राप्त होती है। यह एकत्व की भावना ही उत्कृष्ट मोक्ष है, अतः जो इस भावना से युक्त होकर क्रोध नहीं करता है तथा सत्य भाषण और तप करता है, वही पुरुष सबसे श्रेष्ठ है।

टीका - एकत्वम् - असहायत्वमभिप्रार्थयेद् - एकत्वाध्यवसायी स्यात्, तथाहि - जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्प्राणसमर्थः सहायः स्यात्, तथा चोक्तम् -

“एगो^१ मे सारुओ अप्पा, णाणदंसणसंजुओ । सेत्ता मे बाहिरा भावा, सत्त्वे संयोगलक्खणा ॥१॥”

इत्यादिकामेकत्वभावनां भावयेद्, एवमनयैकत्वभावनया प्रकर्षेण मोक्षः प्रमोक्षो - विप्रमुक्तसङ्गता, न “मृषा” अलीकमेतद्वतीत्येवं पश्य, एष एवैकत्वभावनमभिप्रायः प्रमोक्षो वर्तते, अमृषारूपः - सत्यश्चायमेव। तथा “वरोऽपि” प्रधानोऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा, यदिवा यः “तपस्वी” तपोनिष्ठसदेहोऽक्रोधनः, उपलक्षणार्थत्वादस्यामानो निर्मायो निर्लोभः सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्ष “अमृषा” सत्यो “वरः” प्रधानश्च वर्तत इति ॥ १२ ॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - साधु एकत्व की इच्छा करे, दूसरे की सहायता की इच्छा न करे तथा एकत्व का विचार रखे, क्योंकि जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक से पूर्ण इस जगत् में अपने किये हुए कर्म से दुःख भोगते हुए प्राणी की कोई भी रक्षा करने में समर्थ नहीं है। अत एव कहा है कि-

1. एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनसंयुतः शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१॥

“एगो” अर्थात् ज्ञान-दर्शन से युक्त मेरा एक आत्मा ही शाश्वत है, बाकी के सभी पदार्थ बाह्य हैं और वे कर्म के कारण संयोग को प्राप्त हैं ।

इस प्रकार साधु सदा एकत्व की भावना करता रहे । एकत्व की भावना करने से ही सब झंझटों से छुटकारा होता है, इसमें जरा भी झूठ नहीं है, यह देखो । यह एकत्व की भावना ही मोक्ष का उपाय है तथा यही सत्य और प्रधान है अथवा यही भावसमाधि है । अथवा जो तपस्वी है अर्थात् तप से अपने शरीर को तपानेवाला है तथा क्रोध नहीं करता है एवं क्रोध उपलक्षण होने से मान, माया और लोभ नहीं करता है तथा सत्य में रत रहता है । वही पुरुष सच्चा मुक्त और सबसे प्रधान है ॥१२॥

इत्थीसु या आरय मेहुणाओ, परिग्रहं चेव अकुव्वमाणे ।

उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते

॥१३॥

छाया - स्त्रीषुचारतमैथुनस्तु परिग्रहञ्चेवाकुर्वाणः ।

उच्चावचेषु विषयेषु त्रायी, निःसंशयं भिक्षुः समाधिं प्राप्नोति ॥

अन्वयार्थ - (इत्थीसु या आरयमेहुणाओ) जो पुरुष स्त्रियों के साथ मैथुन नहीं करता है । (परिग्रहं चेव अकुव्वमाणे) तथा परिग्रह नहीं करता है (उच्चावएसु विसएसु ताई) एवं नाना प्रकार के विषयों में रागद्वेष रहित होकर जीवों की रक्षा करता है (निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते) वह साधु निःसन्देह समाधि को प्राप्त है ।

भावार्थ - जो साधु स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन नहीं करता है तथा परिग्रह नहीं करता है एवं नाना प्रकार के विषयों में रागद्वेष रहित होकर जीवों की रक्षा करता है, वह निःसन्देह समाधि को प्राप्त है ।

टीका - दिव्यमानुषतिर्यग्रूपासु त्रिविधास्वपि स्त्रीषु विषयभूतासु यत् “मैथुनम्” अबह्य तस्माद् आ - समन्तात् रतः- अरतो निवृत्त इत्यर्थः, तुशब्दात्प्राणातिपातादिनिवृत्तश्च, तथा परि - समन्ताद्गृह्यते इति परिग्रहो धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिसंग्रहः तथा आत्माऽऽत्मीयग्रहस्तं चैवाकुर्वाणः सन्नुच्चावचेषु - नानारूपेषु विषयेषु यदिवोच्चा- उत्कृष्टा अवचा - जघन्यास्तेष्वरक्तद्विष्टः “त्रायी” अपरेषां च त्राणभूतो विशिष्टोपदेशदानतो “निःसंशयं” निश्चयेन परमार्थतो “भिक्षुः” साधुरेवम्भूतो मूलोत्तरगुणसमन्वितो भावसमाधिं प्राप्तो भवति, नापरः कश्चिदिति, उच्चावचेषु वा विषयेषु भावसमाधिं प्राप्तो भिक्षुर्न संश्रयं याति नानारूपान् विषयान् न संश्रयतीत्यर्थः ॥१३॥

टीकार्थ - दिव्य, मनुष्य और तिर्यञ्च इन तीन प्रकार की स्त्रियों में जो मैथुन सेवन नहीं करता है तथा तु शब्द से जो प्राणातिपात आदि से निवृत्त है, एवं जो चारो तरफ से ग्रहण किया जाता है, उसे परिग्रह कहते हैं, वह धनधान्य द्विपद और चतुष्पदों को संग्रह करना है तथा इन वस्तुओं में अपना ममत्व स्थापन करना है, इसे जो नहीं करता है तथा नाना प्रकार के विषयों में जो आसक्त नहीं है अथवा उत्कृष्ट विषयों में जिसका राग और निकृष्ट में द्वेष नहीं है तथा जो विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियों की रक्षा करता है, वह मूल और उत्तरगुणों से युक्त साधु वास्तव में भावसमाधि को प्राप्त है परन्तु इससे विपरीत पुरुष नहीं । अथवा नाना प्रकार के विषयों में जो भावसमाधि को प्राप्त है, वह साधु विषयों का सेवन नहीं करता है, यह अर्थ है ॥१३॥

विषयाननाश्रयन् कथं भावसमाधिमाप्नुयादित्याह -

विषयों का सेवन न करता हुआ साधु किस प्रकार भावसमाधि को प्राप्त करता है, यह शास्त्रकार बताते हैं-

अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीयफासं ।

उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा, सुब्धिं व दुब्धिं व तित्तिक्खएज्जा

॥१४॥

छाया - अरतिं रतिज्ञाभिभूय भिक्षुस्तृणादिस्पर्शं तथा शीतस्पर्शम् ।

उष्णञ्च दंशश्चाधिसहेत, सुरभिज्ञासुरभिञ्च तितिक्षयेत् ॥

अन्वयार्थ - (भिक्षु) साधु (अरई रई च अभिभूय) संयम में अरति अर्थात् खेद तथा असंयम में रति अर्थात् राग को त्यागकर (तृणादिफासं तह सीयफासं उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा) तृण आदि का स्पर्श तथा शीत, उष्ण और दंश मशक के स्पर्श को सहन करे (सुब्बिं च दुब्बिं च तितिक्षएज्जा) तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी सहे ।

भावार्थ - साधु संयम में खेद और असंयम में प्रेम को त्यागकर तृण आदि तथा शीत, उष्ण, दंश मशक और सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को सहन करे ।

टीका - स भावभिक्षुः परमार्थदर्शी शरीरादौ निःस्पृहो मोक्षगमनैकप्रवणश्च या संयमेऽरतिरसंयमे च रतिर्वा तामभिभूय एतदधिसहेत, तद्यथा - निष्किञ्चनतया तृणादिकान् स्पर्शानादिग्रहणान्निमोत्रतभूप्रदेशस्पर्शांश्च सम्यगाधिसहेत, तथा शीतोष्णदंशमशकक्षुत्पिपासादिकान् परीषहानक्षोभ्यतया निर्जरार्थम् “अध्यासयेद्” अधिसहेत तथा गन्धं सुरभिमितरं च सम्यक् “तितिक्षयेत्” सहात्, चशब्दादाक्रोशवधादिकांश्च परिषहान्मुमुक्षुस्तितिक्षयेदिति ॥१४॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - वह भावसाधु परमार्थदर्शी है, जो शरीर आदि से निःस्पृह तथा मोक्ष जाने में तत्पर होकर तथा संयम में खेद और असंयम में राग को छोड़कर आगे कहे जाने वाले दुःखों को सहता है । जैसे कि - निष्परिग्रही होने के कारण तृण आदि के स्पर्श को तथा आदि शब्द से नीचे और ऊंचे पृथिवी प्रदेशों के स्पर्श को अच्छी तरह सहन करता है एवं शीत, उष्ण, दंश, मशक, और क्षुधा पिपासा आदि परीषहों को निर्जरा के लिए सहन करता है, उनसे घबराता नहीं है तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को सहता है तथा च शब्द से आक्रोश और वध आदि दुःखों को सहता है, वही पुरुष वस्तुतः मुक्ति की इच्छा करनेवाला है ॥१४॥

गुप्तो वर्ड्ये य समाहिपत्तो, लेसं समाहट्टु परिवएज्जा ।

गिहं न छाए णवि छायेज्जा, संमिस्सभावं पयहे पयासु

॥१५॥

छाया - गुप्तो वाचा च समाधिं प्राप्नो, लेश्यां समाहृत्य परिव्रजेत् ।

गृहं न छादयेद्वाऽपि छादयेत्संमिश्रभावं प्रजह्यात्प्रजासु ॥

अन्वयार्थ - (वर्ड्ये य गुप्तो समाहिपत्तो) जो साधु वचन से गुप्त रहता है, वह भावसमाधि को प्राप्त है । (लेसं समाहट्टु परिवएज्जा) साधु शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके संयम पालन करे । (गिहं न छाए णवि छायेज्जा) घर स्वयं न छावे और दूसरे से भी न छावावे । (पयासु संमिस्सभावं पयहे) और स्त्रियों के साथ मिश्रण न करे ।

भावार्थ - जो साधु वचन से गुप्त है, वह भावसमाधि को प्राप्त है । साधु शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके संयम का अनुष्ठान करे तथा वह स्वयं घर न छावे और दूसरे से भी न छावावे तथा स्त्रियों के साथ संसर्ग न करे ।

टीका - वाचि वाचा वा गुप्तो वागुप्तो - मौनव्रती सुपर्यालोचितधर्मसम्बन्धभाषी वेत्येवं भावसमाधिं प्राप्नो भवति, तथा शुद्धां “लेश्यां” तैजस्यादिकां “समाहृत्य” उपादाय अशुद्धां च कृष्णादिकामपहत्य परि - समन्तात्संयमानुष्ठाने “व्रजेत्” गच्छेदिति, किञ्चान्यत् - गृहम् - आवसथं स्वतोऽन्येन वा न छादयेदुपलक्षणार्थत्वादस्यापरमपि गृहादेरुपगवत्परकृतबिलनिवासित्वात्संस्कारं न कुर्यात्, अन्यदपि गृहस्थकर्तव्यं परिजिहीर्षुराह - प्रजायन्त इति प्रजास्तासु - तद्विषये येन कृतेन सम्मिश्रभावो भवति तत्प्रजह्यात्, एतदुक्तं भवति- प्रव्रजितोऽपि सन् पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वन् कारयंश्च गृहस्थैः सम्मिश्रभावं भजते, यदिवा - प्रजाः - स्त्रियस्तासु ताभिर्वा यः सम्मिश्रीभावस्तमविकल-संयमार्थी “प्रजह्यात्” परित्यजेदिति ॥१५॥ अपिच -

टीकार्थ - जो साधु वचन से गुप्त रहता है अर्थात् मौनव्रत करता है अथवा विचार कर धर्मसम्बन्धी बात कहता है, वह भावसमाधि को प्राप्त है । एवं साधु तैजस आदि शुद्ध लेश्याओं को स्वीकार करके और कृष्णादिक

अशुद्ध लेश्याओं को त्यागकर संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्ति करे। साधु स्वयं घर न छावे तथा दूसरे से भी न छावे। यह उपलक्षणमात्र कहा गया है, इसलिए साधु गृहसम्बन्धी दूसरा कार्य भी न करे। जैसे सर्प अपने लिए बिल नहीं बनाता है किन्तु दूसरे ने बनाए हुए बिल में निवास करता है, इसी तरह दूसरे के बनाये हुए मकान में निवास करनेवाला साधु गृह का संस्कार न करे। एवं शास्त्रकार दूसरे गृहस्थों के कार्यों का निषेध करने के लिए कहते हैं - जो बार - बार जन्म धारण करते हैं, उन्हें प्रजा कहते हैं, उनके साथ जिस कार्य से मिश्रभाव हो वह कार्य साधु न करे। कहने का आशय यह है कि - दीक्षा लेकर रसोई पकाने अथवा दूसरे से पकवाने आदि क्रिया करने से गृहस्थ के साथ मिश्रभाव हो जाता है अथवा स्त्रियों को प्रजा कहते हैं, उनके साथ मिलाप करना सम्पूर्ण संयमार्थी पुरुष सर्वथा त्याग करे ॥१५॥

जे केइ लोगंमि उ अकिरियआया, अत्रेण पुट्टा धुयमादिसंति ।

आरंभसत्ता गढिता य लोए, धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं

॥१६॥

छाया - ये केऽपि लोकेत्वक्रियात्मानोऽव्येन पृष्टाः धुतमादिशन्ति ।

आरम्भसत्ताः गृह्णाथ लोके, धर्मं न जानन्ति विमोक्षहेतुम् ॥

अन्वयार्थ - (लोगंमि उ जे केइ अकिरियआया) इस लोक में जो लोग आत्मा को क्रिया रहित मानते हैं (अत्रेण पुट्टा धुयमादिसंति) और दूसरे के पूछने पर मोक्ष का आदेश करते हैं (आरंभसत्ता लोए गढिता) वे आरम्भ में आसक्त और विषयभोग में मूर्च्छित हैं। (विमुक्खहेउं धम्मं ण जाणंति) वे मोक्ष के कारण रूप धर्म को नहीं जानते हैं।

भावार्थ - इस लोक में जो आत्मा को क्रिया रहित मानते हैं और दूसरे के पूछने पर मोक्ष का उपदेश करते हैं वे आरम्भ में आसक्त और विषयभोग में मूर्च्छित हैं, वे मोक्ष के कारण भूत धर्म को नहीं जानते हैं।

टीका - ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामभ्युपगमे तेऽक्रियात्मानः - साङ्ख्याः, तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रियः पठ्यते, तथा चोक्तम् - “अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शनि” इति, तुशब्दो विशेषणे, स चैतद्विशिनष्टि - अमूर्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव बुध्यते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमोक्षौ न घटते इत्यभिप्रायवता मोक्षसद्भावं पृष्टाः सन्तोऽक्रियावाददर्शनेऽपि “धूतं” मोक्षसद्भावम् “आदिशन्ति” प्रतिपादयन्ति, ते तु पचनपाचनादिके स्नानार्थं जलावगाहनरूपे वा “आरम्भे” सावद्ये “सत्ता” अध्युपपन्ना गृह्णास्तु लोके मोक्षैकहेतुभूतं “धर्मं” श्रुतचारित्राख्यं “न जानन्ति” कुमार्गग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति ॥१६॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - इस लोक में सांख्य आदि, आत्मा को क्रिया रहित मानते हैं। उनका माना हुआ आत्मा सर्वव्यापी होने के कारण क्रिया रहित है, अत एव कहा है कि (अकर्ता) अर्थात् सांख्यदर्शन का आत्मा स्वयं कर्ता नहीं है तथा निर्गुण यानी सिद्ध पुरुष की तरह गुणरहित है एवं वह कर्म फल का भोग करनेवाला है। तु शब्द विशेषणार्थक है। वह आत्मा की विशेषता बतलाता है। सांख्यवादी कहते हैं कि आत्मा दीखता नहीं है, इसलिए अमूर्त है तथा वह छोटे मोटे सभी पदार्थों में रहता है, अतः वह सर्वव्यापक है, इस कारण वह स्वयं अकर्ता प्रतीत होता है। इस सांख्यवादी की मान्यता के अनुसार क्रिया रहित आत्मा में बन्ध, मोक्ष नहीं घटित होते हैं, इस प्रकार किसी के पूछने पर वे अपने अक्रियावाद सिद्धान्त में भी बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व बताते हैं। वे सांख्यवादी साधु स्वयं रसोई पकाते हैं तथा दूसरे से भी पकवाते हैं एवं स्नान के लिए नदी आदि में अवगाहन करते हैं। इस प्रकार सावद्य कार्य में प्रवृत्त वे सांख्यवादी मोक्ष के वास्तविक कारणभूत श्रुत और चारित्र धर्म को नहीं जानते हैं, इसी कारण कुमार्ग को ग्रहण करनेवाले वे धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह नहीं जानते हैं ॥१६॥

पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरीयं च पुढो य वायं ।

जायस्स बालस्स पकुव्व देहं, पवड्ढती वेरमसंजतस्स

॥१७॥

छाया - पृथक् छन्दा इह मानवास्तु, क्रियाऽक्रियं पृथग्वादम् ।

जातस्य बालस्य प्रकृत्य देहं, प्रवर्धते वैरमसंयतस्य ।

अन्वयार्थ - (इह मानवा उ पुढो छंदा) इस लोक में मनुष्यों की भिन्न - भिन्न रुचि होती है (किरियाकिरियं पुढो वायं) इसलिए कोई क्रियावाद और कोई अक्रियावाद को मानते हैं (जायस्स बालस्स देहं पकुव्वं) वे जन्मे हुए बालक के शरीर को काटकर अपना सुख उत्पन्न करते हैं । (असंयतस्स वैरं पवड्ढती) असंयत पुरुष का वैर बढ़ता है ।

भावार्थ - मनुष्यों की रुचि भिन्न -भिन्न होती है, इस कारण कोई क्रियावाद और कोई अक्रियावाद को मानते हैं तथा कोई जन्मे हुए बालक की देह काटकर अपना सुख उत्पन्न करते हैं, वस्तुतः असंयमी पुरुष का प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है ।

टीका - पृथक् नाना छन्दः - अभिप्रायो येषां ते पृथक्छन्दा "इह" अस्मिन्मनुष्यलोके "मानवा" मनुष्याः, तुरवधारणे, तमेव नानाभिप्रायमाह - क्रियाऽक्रिययोः पृथक्त्वेन क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रिताः, तद्यथा -
क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीमक्ष्यमोगाद्यौ, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥१॥

इत्येवं क्रियैव फलदायित्वेनाभ्युपगता, क्रियावादमाश्रिताः, एवमेतद्विपर्ययेणाक्रियावादमाश्रिताः, एतयोश्चोत्तरत्र स्वरूपं न्यक्षेण वक्ष्यते, ते च नानाभिप्राया मानवाः क्रियाक्रियादिकं पृथग्वादमाश्रिता मोक्षहेतुं धर्ममजानाना आरम्भेषु सक्ता इन्द्रियवशगा रससातागौरवाभिलाषिण एतत्कुर्वन्ति, तद्यथा - "जातस्य" उत्पन्नस्य "बालस्य" अज्ञस्य सदसद्विवेकविकलस्य सुखैषिणो "देहं" शरीरं "पकुव्वं" त्ति खण्डशः कृत्वाऽऽत्मनः सुखमुत्पादयन्ति, तदेवं परोपघातक्रियां कुर्वतोऽसंयतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरशतानुबन्धि वैरं परस्परपमर्दकारि प्रकर्षेण वर्धते, पाठान्तरं वा - जायाए बालस्स पगब्भणाए - "बालस्य" अज्ञस्य हिंसादिषु कर्मसु प्रवृत्तस्य निरनुकम्पस्य या जाता "प्रगल्भता" धाष्टर्यं तथा वैरमेव प्रवर्धत इति सम्बन्धः ॥१७॥ अपिच -

टीकार्थ - इस मनुष्य लोक में मनुष्यों की रुचि भिन्न - भिन्न होती है । तु शब्द अवधारणार्थक है । वही भिन्न-भिन्न रुचि शास्त्रकार बताते हैं - क्रिया और अक्रिया में भिन्नता होने के कारण कोई क्रियावाद को और कोई अक्रियावाद को मानते हैं । क्रियावादी कहते हैं कि -

पुरुष को क्रिया ही फल देती है, ज्ञान नहीं क्योंकि स्त्री और खाने की चीज तथा भोग की वस्तुओं को जाननेवाला पुरुष ज्ञान मात्र से सुखी नहीं होता है ।

इस प्रकार क्रियावादी क्रिया को ही फलदायी मानकर क्रियावाद का आश्रय लेते हैं । इससे विपरीत अक्रियावादी ज्ञान का समर्थन करते हुए क्रिया को निष्फल बताते हैं । इनका स्वरूप आगे चल कर बताया जायगा। कहने का आशय यह है कि नाना प्रकार की रुचिवाले मनुष्य अपनी - अपनी रुचि के अनुसार कोई क्रियावाद और कोई अक्रियावाद का आश्रय लेकर मोक्ष का कारण धर्म को नहीं जानते हैं, वे आरम्भ में आसक्त तथा इन्द्रियवशीभूत होकर सुख और मान बढ़ाई की इच्छा करते हुए यह कार्य करते हैं । वे सुख की इच्छा से भले और बुरे के विवेक से रहित तथा अज्ञानी तथा तुरंत जन्मे हुए और सुख की इच्छा करनेवाले बालक की देह को खण्डशः काटकर आनन्द मानते हैं । इस प्रकार दूसरे को पीड़ा देनेवाली क्रिया करनेवाला और किसी भी पाप से नहीं हटा हुआ असंयति जीव सैकड़ों जन्म तक चलनेवाला परस्पर के घात का कारण प्राणियों के साथ वैर बढ़ाता है । यहां "जायाए बालस्स पगब्भणाए" यह पाठान्तर पाया जाता है, इसका अर्थ यह है कि - दयारहित तथा हिंसादि कार्य में प्रवृत्त अज्ञानी जीव की जो हिंसावाद में धृष्टता है, उससे उसका प्राणियों के साथ वैर ही बढ़ता है ॥१७॥



आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे ।

अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व

॥१८॥

छाया - आयुःक्षयं चेवाबुध्यमानः, ममत्ववान् स साहसकारिमन्दः ।

अहनि च रात्रौ च परितप्यमानः, अर्थेषु मूढोऽजरामर इव ॥

अन्वयार्थ - (आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे) आरम्भ में आसक्त पुरुष, आयु का क्षय होना नहीं जानता है (ममाति से साहसकारि मंदे) किन्तु वह मूर्ख वस्तुओं पर ममता रखता हुआ पापकर्म करता है । (अहो य रात्रौ परितप्यमाणे) वह दिन रात चिन्ता में पड़ा रहता है (अट्टेसु अजरामरेव मूढे) वह अपने को अजर, अमर समझता हुआ धन में आसक्त रहता है ।

भावार्थ - आरम्भ में आसक्त अज्ञानी जीव अपनी आयु का क्षय होना नहीं जानता है । वह वस्तुओं में ममता रखता हुआ पाप कर्म करने से नहीं डरता है । वह रात दिन धन की चिन्ता में पड़ा हुआ अजर अमर की तरह धन में आसक्त रहता है ।

टीका - आयुषो - जीवनलक्षणस्य क्षय आयुष्कक्षयस्तमारम्भप्रवृत्तः छिन्नहृदमत्स्यवदुदकक्षये सति अबुध्यमानोऽतीव "ममाह" ति ममत्ववान् इदं मे अहमस्य स्वामीत्येवं स "मन्दः" अज्ञः साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारीति, तद्यथा - कश्चिद्वणिग् महता क्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या बहिरावासितः, स च राजचौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचनाकुलो रजनीक्षयं न ज्ञातवान्, अहन्येव रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यवित इति, एवमन्योऽपि किंकर्तव्यताकुलः स्वायुषः क्षयमबुध्यमानः परिग्रहेष्वारम्भेषु च प्रवर्तमानः साहसकारी स्यादिति, तथा कामभोगतृषितोऽह्नि रात्रौ च परि-समन्तात् द्रव्यार्थी परितप्यमानो मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी कायेनापि क्लिश्यते, तथा चोक्तम् -

अजरामरवद्वालः, क्लिश्यते धनकाम्यया । शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च ॥१॥

तदेवमार्तध्यानोपहतः १ "कइया वच्चइ संत्थो ? किं भंडं कत्थं कित्तिया भूमी त्यादि, तथा २ "उक्खणइ खणइ णिहणइ रत्तिं न सुयइ दियावि य ससंको" इत्यादिकित्तसंक्लेशात्सुष्ठु मूढोऽजरामरवणिग्वदजरामरवदात्मानं मन्यमानोऽपगतशुभाध्यवसायोऽहर्निशमारम्भे प्रवर्तत इति ॥१८॥ किञ्चान्यत् -

टीका - आरम्भ में आसक्त जीव अपनी आयु का क्षय होना नहीं जानता है, जैसे तालाब का बाँध टूट जाने पर उससे निकलते हुए पानी को मछली नहीं जानती है । वह मूर्ख जीव, यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ । इस प्रकार वस्तुओं पर ममता करता हुआ साहस का कार्य करता है । इस विषय में एक बनिये का दृष्टान्त देते हैं = एक बनिया बहुत परिश्रम करके रत्न कमाकर उज्जयिनी पुरी के बाहर ठहरकर रात भर यह सोचता रहा कि - "मेरे धन को राजा, चोर तथा भाई आदि न ले लें इसलिए धन को इस प्रकार रक्षित करके रखूँ" ऐसी चिन्ता करते - करते सारी रात बीत गयी परन्तु उसने रात का बीतना नहीं जाना पश्चात् वह दिन में ही अपने धन को किसी गुप्त स्थान में रखता हुआ राजपुरुषों से पकड़ लिया गया और सब धन राजपुरुषों ने ले लिया । इस बनिये ने जैसे चिन्ता में पड़कर रात का बीतना नहीं जाना था । इसी तरह प्राणिवर्ग धन की चिन्ता में पड़कर अपनी आयु का क्षय होना नहीं जानते हैं और परिग्रह तथा आरम्भ में आसक्त होकर साहस का कार्य (पाप) करते हैं । वे मम्मण बनिये की तरह काम - भोग के प्यासे होकर दिन - रात द्रव्य के लिए तप्त होते हुए आर्तध्यान करके शरीर को भी क्लेश देते हैं । अतः - एव कहा है कि -

अज्ञानी जीव अजर और अमर की तरह धन की कामना से क्लेश भोगता है, वह अपने जीवन तथा धन को शाश्वत (सदा रहनेवाला) मानता है ।

इस प्रकार आर्तध्यान करता हुआ वह पुरुष चिन्ता करता है कि - यह व्यापारियों का सार्थ कब निकलेगा इसमें कौन माल भरा है तथा कितना दूर जाना है ? । एवं वह कभी अपने धन की रक्षा करने के लिए पहाड़ आदि ऊँचे स्थानों को खनता है, कभी जमीन खोदता है, वह रात में सुख से नहीं सोता है तथा दिन में भी शङ्कित रहता है । इस प्रकार चित्त की पीड़ा से मूर्ख बना हुआ वह पुरुष अजरामर बनिये की तरह अथवा अपने को अजर अमर मानता हुआ शुभ विचार से रहित होकर दिन - रात आरम्भ में पड़ा रहता है ॥१८॥

१. कदा व्रजति सार्थः किं भाण्डं क्व च कियती भूमिः ॥

२. उत्खनति खनति निहन्ति रात्रौ न स्वपिति दिवापि च सशङ्कः ॥१॥

जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं, जे बंधवा जे य पिया य मित्ता ।

लालप्यती सेऽवि य एइ मोहं, अत्रे जणा तंसि हरंति वित्तं

॥१९॥

छाया - जहाहि वित्तञ्च पशून् च सर्वाण्, ये बान्धवा ये च प्रियाश्च मित्राणि ।

लालप्यते सोऽपि चेति मोहमव्ये जनास्तस्य हरन्ति वित्तम् ॥

अन्वयार्थ - (वित्तं सव्वं पसवो य जहाहि) धन तथा सब पशु आदि को छोड़ो । (जे बंधवा जे य पिया य मित्ता) तथा जो बान्धव और प्रिय मित्र हैं, वे वस्तुतः कुछ भी उपकार नहीं करते हैं (सेऽवि य लालप्यती मोहं य एइ) तथापि मनुष्य इनके लिए रोता है और मोह को प्राप्त होता है । (अत्रे जणा तंसि वित्तं हरंति) उसके मरनेपर दूसरे लोग उसका धन हर लेते हैं ।

भावार्थ - धन और पशु आदि सब पदार्थों को तो छोड़ो परंतु बान्धव तथा प्रियमित्र भी कुछ भी उपकार नहीं करते तथापि मनुष्य इनके लिए रोता है और मोह को प्राप्त होता है । जब वह प्राणी मर जाता है । तब दूसरे लोग बान्धवादि उसका कमाया हुआ धन हर लेते हैं ।

टीका - “वित्तं” द्रव्यजातं तथा “पसवो” गोमहिष्यादयस्तान् सर्वान् “जहाहि” परित्यज - तेषु ममत्वं मा कृथाः, ये “बान्धवा” मातापित्रादयः श्वसुरादयश्च पूर्वापरसंस्तुता ये च प्रिया “मित्राणि” सहपांसुक्रीडितादयस्ते एते मातापित्रादयो न किञ्चित्तस्य परमार्थतः कुर्वन्ति, सोऽपि च वित्तपशुबान्धवमित्रार्थी अत्यर्थं पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते, तद्यथा - हे मातः ! हे पितरित्येवं तदर्थं शोकाकुलः प्रलपति, तदर्जनपरश्च मोहमुपैति, रूपवानपि कण्डरीकवत् धनवानपि मम्मणवणिग्वत् धान्यवानपि तिलकश्रेष्ठिवद् इत्येवमसावप्यसमाधिमान् मुह्यते (ति), यच्च तेन महता क्लेशेनापरप्राण्युपमर्देनोपार्जितं वित्तं तदन्ये जनाः “से” तस्यापहरन्ति जीवत एव मृतस्य वा, तस्य च क्लेश एव केवलं पापबन्धश्चेत्येवं मत्वा पापानि कर्माणि परित्यजेत्तपश्चरेदिति ॥१९॥

टीकार्थ - द्रव्य समूह को तथा गाय, भैस आदि पशुओं को त्याग दो । इनमें ममत्व मत रखो । पहले के परिचित जो माता - पिता आदि हैं तथा पीछे के परिचित जो श्वशुर आदि हैं, ये बान्धव गण, तथा साथ में घूलिक्रीड़ा किये हुए मित्रगण वस्तुतः मनुष्य का कुछ भी उपकार नहीं करते हैं तथापि मनुष्य, धन, पशु, बान्धव और मित्र के लिए बार - बार रोता है तथा हे मातः हे पितः इत्यादि कहता हुआ उनके लिए शोकाकुल होकर प्रलाप करता है एवं इनको सुख देने के लिए धन का उपार्जन करता हुआ मोह को प्राप्त होता है । कण्डरीक के समान रूपवान् तथा मम्मण वणिक की तरह धनवान् और तिलक सेठ की तरह धान्यवान् पुरुष भी समाधि के बिना मोह को प्राप्त होता है, उसने प्राणियों की हिंसा तथा बहुत कष्ट करके जो धन कमाया है, उसे उसके जीते ही अथवा मर जाने पर दूसरे लोग हर लेते हैं, केवल उसको दुःख ही हाथ आता है और कर्मबन्ध होता है, यह जानकर मनुष्य को पापकर्म छोड़ देना चाहिए और तप करना चाहिए ॥१९॥



तपश्चरणोपायमधिकृत्याह -

अब शास्त्रकार तप के उपाय के विषय में कहते हैं -

सीहं जहा खुड्ढमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा ।

एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा

॥२०॥

छाया - सिंह यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्तो दूरे चरन्ति परिशङ्कमानाः ।

एवं तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं दूरेण पापं परिवर्जयेत् ॥

अन्वयार्थ - (चरंता खुड्ढमिगा सिंहं परिसंकमाणा) विचरते हुए छोटे मृग जैसे सिंह की शङ्का से (दूरे चरंती) दूर ही विचरते हैं (एवं तु मेहावि धम्मं समिक्ख) इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष धर्म का विचार कर (पावं दूरेण परिवज्जएज्जा) पाप को दूर से ही वर्जित करे।

भावार्थ - जैसे पृथिवी पर विचरते हुए छोटे मृग मरण की शंका से सिंह को दूर ही छोड़कर विचरते हैं, इसी

तरह बुद्धिमान् पुरुष धर्म का विचारकर पाप को दूर ही से छोड़ देवे ।

टीका - यथा “क्षुद्रमृगा” क्षुद्राटव्यपशवो हरिणजात्याद्याः “चरन्तः” अटव्यामटन्तः सर्वतो बिभ्यतः परिशङ्कमानाः सिंहं, व्याघ्रं वा आत्मोपद्रवकारिणं दूरेण परिहृत्य “चरन्ति” “विहरन्ति, एवं “मेधावी” मर्यादावान्, तुर्विशेषणे, सुतरां धर्म “समीक्ष्य” पर्यालोच्य “पापं” कर्म असदनुष्ठानं दूरेण मनोवाक्कायकर्मभिः परिहृत्य परि - समन्ताद्ब्रजेत् संयमानुष्ठायी तपश्चारी च भवेदिति, दूरेण वा पापं - पापहेतुत्वात्सावधानुष्ठानं सिंहमिव मृगः स्वहितमिच्छन् परिवर्जयेत् - परित्यजेदिति ॥२०॥ अपिच -

टीकार्थ - जैसे हरिण आदि छोटे - छोटे जङ्गली पशु पृथिवी पर विचरते हुए चारो तर्फ से डरकर अपना घात करनेवाले सिंह को दूर ही छोड़कर विचरते हैं, इसी तरह मर्यादा में स्थित बुद्धिमान् मुनि धर्म का विचारकर मन, वचन और काय से पाप को दूर ही छोड़कर संयम पालन और तप करे अथवा जैसे अपना कल्याण चाहनेवाला मृग, सिंह को दूर ही छोड़ देता है, इसी तरह कल्याणार्थी पुरुष पाप के कारणरूप सावद्य अनुष्ठान को दूर से ही त्याग देवे ॥२०॥



संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।

हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता, वैराणुबन्धीणि महब्भयाणि

॥२१॥

छाया - संबुज्झमानस्तु नरो मतिमान्, पापात्त्वात्मानं निवर्तयेत् ।

हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा वैराणुबन्धीनि महाभयानि ॥

अन्वयार्थ - (संबुज्झमाणे मतीमं णरे) धर्म को समझनेवाला बुद्धिमान् पुरुष (पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा) पाप कर्म से अपने को निवृत्त करे । (हिंसप्पसूयाइं) हिंसा से उत्पन्न कर्म (वैराणुबन्धीणि) वैर उत्पन्न करते हैं (महब्भयाणि) वे महाभय उत्पन्न करते हैं (दुहाइं) तथा दुःख देते हैं (मत्ता) यह मानकर हिंसा न करे ।

भावार्थ - धर्म के तत्त्व को समझनेवाला पुरुष पाप से अलग रहे । हिंसा से उत्पन्न कर्म वैर उत्पन्न करनेवाले महाभयदायी तथा दुःख उत्पन्न करते हैं, यह जानकर हिंसा न करे ।

टीका - मननं मतिः सा शोभना यस्यास्त्यसौ मतिमान्, प्रशंसायां मतुप्, तदेवं शोभनमतियुक्तो मुमुक्षुर्नरः सम्यक्श्रुतचारित्राख्यं धर्मं भावसमाधिं वा “बुध्यमानस्तु” विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणान्निवर्तेत अतस्तत् दर्शयति - “पापात्” हिंसानृतादिरूपात्कर्मण आत्मानं निवर्तयेत्, निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्नादावेव आश्रवद्वाराणि निरुन्ध्यादित्यभिप्रायः, किं चान्यत् - हिंसा - प्राणिव्यपरोपणं तथा ततो वा प्रसूतानि - जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यत्यन्तं नरकादिषु यातनास्थानेषु दुःखानि - दुःखोत्पादकानि वर्तन्ते, तथा वैरमनुबध्नन्ति तच्छीलानि च वैरानुबन्धीनि - जन्मशतसहस्रदुर्मोचानि, अत एव महद्भयं येभ्यः सकाशात्तानि महाभयानीति, एवं च मत्वा मतिमानात्मानं पापान्निवर्तयेदिति, पाठान्तरं वा “निव्वाणभूए व परिव्वएज्जा” अस्यायमर्थः - यथा हि निर्वृतो निर्व्यापारत्वात्कस्यचिदुपघाते न वर्तते एवं साधुरपि सावधानुष्ठानरहितः परि - समन्ताद् ब्रजेदिति ॥२१॥ तथा -

टीकार्थ - जिसकी मति शोभन यानी प्रशंसा के योग्य है, उसे मतिमान् कहते हैं (मतिमान् पद में प्रशंसा अर्थ में मतुप् प्रत्यय हुआ है) सुन्दरमति से युक्त, मोक्ष की इच्छा करनेवाला मनुष्य, सम्यक् श्रुत और चारित्ररूप धर्म को अथवा भावसमाधि को समझकर शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्ति करता हुआ पहले निषिद्ध कर्मों का त्याग करे, यह शास्त्रकार दिखाते हैं - मतिमान् पुरुष हिंसा, झूठ आदि कर्मों से पहले अपने को अलग करे क्योंकि कारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है । अतः समस्त कर्मों का क्षय चाहता हुआ पुरुष आश्रवद्वारों को रोके यह शास्त्रकार का आशय है । प्राणियों की हिंसा से जो पाप उत्पन्न होता है, वह जीव को नरक आदि महा

दुःख स्थानों में ले जाकर महादुःख देता है तथा वह सैकड़ों जन्म के लिए प्राणियों के साथ वैर उत्पन्न करता है और उससे मनुष्य मुक्त नहीं होता है । तथा उस पाप से जीव को महान् भय उत्पन्न होता है, अतः यह जानकर जीव पाप से अपने को निवृत्त करे । यहां “निव्वाणभूएव्व परिव्वएज्जा” यह पाठान्तर मिलता है । इसका अर्थ यह है कि जैसे लड़ाई से लौटा हुआ पुरुष व्यापार रहित होकर किसी की हिंसा नहीं करता है, इसी तरह सावद्य अनुष्ठान से रहित पुरुष किसी का घात न करे किन्तु संयम का पालन करे ॥२१॥



मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।

सयं न कुज्जा न य कारवेज्जा, करंतमन्नपि य णाणुजाणे

॥२२॥

छाया - मृषा न बूयाब्बुत्तिराप्पगामी, निव्वाणमेतत्कृत्स्नं समाधिम् ।

स्वयं न कुर्व्याद्वा च कारयेत्कुर्वन्तमव्यमपि च नानुजानीयात् ॥

अन्वयार्थ - (अत्तगामी मुनि मुसं न बूया) सर्वज्ञोक्त मार्ग से चलनेवाला मुनि, झूठ न बोले । (एयं निव्वाणं कसिणं समाहिं) यह झूठ बोलने का त्याग, सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष कहा गया है । (सयं न कुज्जा न य कारवेज्जा) साधु झूठ बोलना तथा दूसरे व्रतों के अतिचारों को स्वयं न सेवन करे और दूसरे से सेवन न करावे (करंतमन्नपि य णाणुजाणे) तथा दोष सेवन करते हुए दूसरे को अच्छा नहीं जाने ।

भावार्थ - सर्वज्ञोक्त मार्ग से चलनेवाला मुनि झूठ न बोले । झूठ बोलने का त्याग सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष कहा गया है । इसी तरह साधु दूसरे व्रतों में भी दोष न लगावे और दूसरे के द्वारा भी दोष लगाने की प्रेरणा न करे एवं दोष लगाते हुए पुरुष को अच्छा न जाने ।

टीका - आपो - मोक्षमार्गस्तद्रामी - तद्रमनशील आत्महितगामी वा आपो वा प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञस्तदुपदिष्टमार्गगामी “मुनिः” साधुः “मृषावादम्” अनृतमयथार्थं न ब्रूयात् सत्यमपि प्राण्युपघातकमिति, “एतदेव” मृषावादवर्जनं “कृत्स्नं” सम्पूर्ण भावसमाधिं निर्वाणं चाहुः, सांसारिका हि समाधयः स्नानभोजनादिजनिताः शब्दादिविषयसंपादिता वा अनैकान्तिकानात्यन्तिकत्वेन दुःखप्रतीकाररूपत्वेन वा असंपूर्णा वर्तन्ते । तदेवं मृषावादमन्येषां वा व्रतानामतिचारं स्वयमात्मना न कुर्यान्नाप्यपरेण कारयेत्तथा कुर्वन्तमप्यपरं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुमन्येत इति ॥२२॥

टीकार्थ - मोक्षमार्ग को आप कहते हैं, उसमें जानेवाले पुरुष को आपगामी कहते हैं अथवा अपना हित करनेवाले पुरुष को आपगामी कहते हैं अथवा जिसके रागादि दोष नष्ट हो गये हैं, उसे आप कहते हैं । वह सर्वज्ञ है । उनके द्वारा उपदेश किये हुए मार्ग से चलने वाले पुरुष को आपगामी कहते हैं, इस प्रकार वह आपगामी मुनि झूठ यानी अयथार्थ न बोले और जिस सत्य वचन से प्राणियों का घात होना सम्भव है, वह भी न बोले। यह झूठ बोलने का त्याग ही सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष है, यह विद्वान् कहते हैं । स्नान और भोजन आदि करने से तथा शब्दादि विषयों के सेवन करने से जो सांसारिक समाधि उत्पन्न होती है, वह निश्चित तथा आत्यन्तिक नहीं है, किन्तु दुःख के प्रतिकाररूप होने के कारण असम्पूर्ण है । अतः साधु झूठ बोलना अथवा दूसरे व्रतों के अतिचार को स्वयं सेवन न करे और दूसरे से भी न सेवन करावे तथा सेवन करते हुए को मन, वचन, शरीर और कर्म से अनुमोदन न करे ॥२२॥



उत्तरगुणानधिकृत्याह -

अब शास्त्रकार उत्तरगुणों के विषय में कहते हैं -

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिण्ण य अज्झोववन्ने ।

धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा

॥२३॥

छाया - शुद्धे स्थाज्जाते न दूषयेत्, अमूर्च्छितो न चाध्युपपन्नः ।
धृतिमान् विमुक्तो न च श्लोकगामी च परिग्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (सिया सुद्धे जाए न दूसएज्जा) उद्गमादि दोषरहित शुद्ध आहार मिलनेपर साधु राग द्वेष करके चारित्र को न दूषित करे (अमूर्च्छिए न य अज्जोववन्ने) तथा उस आहार में मूर्च्छित और बार-बार उसका अभिलाषी न बने । (धितिमं विमुक्के) साधु धीरतावान् और परिग्रह से मुक्त बने (न य पूयण्ढी न सिलोयगामी) साधु अपनी पूजा, प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे । (परिव्वएज्जा) इस प्रकार वह शुद्ध संयम का पालन करे ।

भावार्थ - उद्गमादि दोष - रहित शुद्ध आहार प्राप्त होने पर साधु राग द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे तथा उत्तम आहार में मूर्च्छित और बार-बार उसका अभिलाषी न बने । साधु धीरतावान् और परिग्रह से मुक्त होकर रहे तथा वह अपनी पूजा, प्रतिष्ठा और कीर्ति की इच्छा न करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करे ।

टीका - उद्गमोत्पादनैषणाभिः “शुद्धे” निर्दोषे “स्यात्” कदाचित् “जाते” प्राप्ते पिण्डे सति साधु रागद्वेषाभ्यां न दूषयेत्, उक्तं च-

‘बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीवा नहु छलिओ ।

इण्हिं जह न छलिज्जसि मुंजंतो रागदोसेहिं ॥१॥

तत्रापि रागस्य प्राधान्यख्यापनायाह - न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः - सकृदपि शोभनाहारलाभे सति गृद्धिमकुर्वन्नाहारयति, तथा अनध्युपपन्नस्तमेवाहारं पौनःपुन्येनानभिलषमाणः केवलं संयमयात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत्, प्रायो विदितवेद्यस्यापि विशिष्टाहारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमूर्च्छितोऽनध्युपपन्न इति च प्रतिषेधद्वयमुक्तम्, उक्तं च -

२“भुत्तभोगो पुरा जीऽवि, गीयत्थोऽवि य भाविओ । संतेसाहारमाईसु, सोऽवि खिप्पं तु खुब्भइ॥१॥”

तथा संयमे धृतिर्यस्यासौ धृतिमान्, तथा सबाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन विमुक्तः, तथा पूजनं वस्त्रपात्रादिना तेनार्थः पूजनार्थः स विद्यते यस्यासौ पूजनार्थी तदेवंभूतो न भवेत्, तथा श्लोकः-श्लाघा कीर्तिस्तद्रामी न तदभिलाषुकः परिव्रजेदिति, कीर्त्यर्थी न काञ्चन क्रियां कुर्यादित्यर्थः ॥२३॥

टीकार्थ - उद्गम, उत्पाद, और एषणा इन दोषों से रहित निर्दोष आहार यदि साधु को प्राप्त हो तो वह राग द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे । कहा भी है -

हे जीव ! बयालीस दोषरूप गहन संकट में तो तूने धोखा नहीं खाया परन्तु अब भोजन करते समय यदि तू राग द्वेष के द्वारा धोखा नहीं खायगा तो तुम्हारा सब सफल है ।

राग और द्वेष के मध्य में राग ही प्रधान है, यह बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं - साधु, अच्छा आहार मिलने पर उसमें थोड़ा भी राग न करता हुआ भोजन करे तथा बार-बार वही आहार पाने की इच्छा न करे किन्तु केवल संयम का निर्वाह मात्र के लिए आहार खावे । अच्छा आहार मिलने पर प्रायः ज्ञानी पुरुष का भी विशिष्ट अभिलाष हो जाता है इसलिए शास्त्रकार ने “साधु मूर्च्छा न करे और बार-बार उस आहार की प्राप्ति की इच्छा न करे” यह कहकर दो बार प्रतिषेध किया है । अत एव कहा है कि -

“भुत्तभोगो” अर्थात् जिसने पहले अनेकों बार भोग, भोग लिया है तथा शास्त्र पढ़कर गीतार्थ हो गया है एवं जो सदा आत्मभावना में प्रवृत्त रहता है, वह पुरुष भी उत्तम आहार प्राप्त होने पर शीघ्र उसकी आकाङ्क्षा करने लगता है ।

एवं साधु संयम पालने में धृतिमान् यानी धैर्य रखे तथा वह बाह्य और अभ्यन्तर ग्रन्थ यानी परिग्रह से मुक्त रहे एवं वह वस्त्र, पात्र आदि के द्वारा अपनी पूजा का इच्छुक न बने एवं वह अपनी कीर्ति का अभिलाषी भी न बने अर्थात् वह कीर्ति के लिए कोई क्रिया न करे ॥२३॥

1. द्विचत्वारिंशदोषसंकटे गहने जीव ! नैव छलितः । इदानीं यदि न छल्पसे भुज्जन् रागद्वेषाभ्यां (तदा सफलं तत्) ॥१॥

2. भुत्तभोगः पुरा योपि गीतार्थोऽपि च भावितः सत्स्वाहारादिषु सोऽपि क्षिप्रमेव क्षुभ्यति ॥१॥

अध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह -

अब शास्त्रकार इस अध्ययन में कही हुई बात को समाप्त करते हुए कहते हैं -

निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी, कायं विउसेज्ज नियाणच्छिन्ने ।

णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ॥२४॥ त्ति बेमि ॥

इति समाहिनाम दसममज्झयणं समत्तं (गाथाग्रं ५८०)

छाया - निष्क्रम्य गेहात्तु निरावकाङ्क्षी, कायं व्युत्सृजेच्छिन्ननिदानः ।

नो जीवितं नो मरणमवकाङ्क्षी, चरेद्भिक्षुर्वलयाद् विमुक्तः ।

अन्वयार्थ - (गेहाउ निक्खम्म) साधु घर से निकलकर यानी प्रव्रज्या धारण करके । (निरावकंखी) अपने जीवन में निरपेक्ष हो जाय (कायं विउसेज्ज) तथा शरीर का व्युत्सर्ग करे (नियाणच्छिन्ने) तथा वह अपने तप के फल की कामना न करे (वलया विमुक्के) एवं संसार से मुक्त होकर (णो जीवियं णो मरणाभिकंखी चरेज्ज) वह जीवन और मरण की इच्छा न रखता हुआ विचरे ।

भावार्थ - प्रव्रज्या धारण किया हुआ पुरुष अपने जीवन से निरपेक्ष होकर काय का व्युत्सर्ग करे एवं वह अपने तप के फल की भी इच्छा न करे इस प्रकार जीवन और मरण की इच्छा छोड़कर संसारी संकटों से अलग रहता हुआ साधु विचरे ।

टीका - गेहान्निःसृत्य "निष्क्रम्य च" प्रव्रजितोऽपि भूत्वा जीवितेऽपि निराकाङ्क्षी "कायं" शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्सादिकमकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत्, तथा न जीवितं नापि मरणमभिकाङ्क्षेत् "भिक्षुः" साधुः "वलयात्" संसारवलयात्कर्मबन्धनाद्वा विप्रमुक्तः संयमानुष्ठानं चरेत्, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२४॥

॥ इति श्रीसमाध्याख्यं दशममध्ययनं समाप्तं ॥

टीकार्थ - घर से निकलकर साधु बनकर पुरुष जीवन में आकांक्षा न करे तथा शरीर का मोह छोड़कर उसका शोधन और दवा आदि न करता हुआ निदान का छेदन करे । इसी तरह साधु जीवन और मरण की इच्छा न करे । एवं वलय अर्थात् संसारवलय अथवा कर्मबन्धन से मुक्त होकर संयम का अनुष्ठान करे । इति समाप्त्यर्थक है । ब्रवीमि पूर्ववत् है । यह समाधिनामक दशम अध्ययन समाप्त हुआ ॥२४॥



॥ अथ एकादशं श्रीमार्गाध्ययनं प्रारभ्यते ॥



उक्तं दशममध्ययनं, तदनन्तरमेकादशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तराध्ययने समाधिः प्रतिपादितः, स च ज्ञानदर्शनतपश्चारित्ररूपो वर्तते, भावमार्गोऽप्येवमात्मक एवेत्यतो मार्गोऽनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-प्रशस्तो ज्ञानादिको भावमार्गस्तदाचरणं चात्राभिधेयमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे मार्ग इत्यस्याध्ययनस्य नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-

दशम अध्ययन कहने के पश्चात् ग्यारहवाँ अध्ययन कहा जाता है । इसका सम्बन्ध यह है - गत अध्ययन में समाधि कही गयी है वह, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप है । तथा भावमार्ग भी यही है । वह इस अध्ययन में बताया जाता है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार कहने चाहिए । उसमें, उपक्रम में अर्थाधिकार यह है - प्रशस्त ज्ञान आदि भावमार्ग हैं, उनका आचरण इस अध्ययन में कहा है । नामनिष्पन्न निक्षेप में इस अध्ययन का "मार्ग" नाम है, उसका निक्षेप निर्युक्तिकार बताते हैं ।

णामं ठवणा दविए खेत्ते काले तहेय भावे य । एसो खलु मग्गस्स य णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१०७॥ नि०
फलगलघंदोलणवितरज्जुदवणबिलपासमग्गे य । खीलगअयपक्खिपहे छत्तजलाकासदव्वमि ॥१०८॥ नि०
खेत्तमि जंमि खेत्ते काले कालो जहिं हवइ जो उ । भावमि होति दुविहो पसत्थ तह अप्पसत्थो य ॥१०९॥ नि०
दुविहंमिवि तिग्गभेदो णेओ तस्स (उ) विणिच्छओ दुविहो ।

सुगतिफलदुग्गतिफलो पगयं सुगतीफलेणित्थं ॥११०॥ नि०

दुग्गइफलवादीणं तित्रि तिसट्ठा सताइ वादीणं । खेमे य खेमरूवे चउक्कगं मग्गमादीसु ॥१११॥ नि०

टीका - नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदान्मार्गस्य षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यमार्गमधिकृत्याह - फलकैर्मार्गः फलकमार्गः यत्र कर्दमादिभयात् फलकैर्गम्यते, लतामार्गस्तु यत्र लतावलम्बेन गम्यते, अन्दोलनमार्गोऽपि यत्रान्दोलनेन दुर्गमतिलङ्घ्यते, वेत्रमार्गो यत्र वेत्रलतोपष्टम्भेन जलादौ गम्यते इति, तद्यथा चारुदत्तो वेत्रलतोपष्टम्भेन वेत्रवतीं नदीमुत्तीर्य परकूलं गतः, रज्जुमार्गस्तु यत्र रज्ज्वा किञ्चिदतिदुर्गमतिलङ्घ्यते, "दवनं" ति यानं तन्मार्गो दवनमार्गः, बिलमार्गो यत्र तु गुहाद्याकारेण बिलेन गम्यते, पाशप्रधानो मार्गः पाशमार्गः पाशकूटवागुरान्वितो मार्ग इत्यर्थः, कीलकमार्गो यत्र वालुकोत्कटे मरुकादिविषये कीलकाभिज्ञानेन गम्यते, अजमार्गो यत्र अजेन - बस्त्येन गम्यते, तत् यथा सुवर्णभूम्नां चारुदत्तो गत इति, पक्षिमार्गो यत्र भारुण्डादिपक्षिभिर्देशान्तरमवाप्यते, छत्रमार्गो यत्र छत्रमन्तरेण गन्तुं न शक्यते, जलमार्गो यत्र नावादिना गम्यते, आकाशमार्गो विद्याधरादीनाम्, अयं सर्वोऽपि फलकादिको "द्रव्ये" द्रव्यविषयेऽवगन्तव्य इति ॥१०७-१०८॥

क्षेत्रादिमार्गप्रतिपादनायाह-क्षेत्रमार्गे पर्यालोच्यमाने यस्मिन् "क्षेत्रे" ग्रामनगरादौ प्रदेशे वा शालिक्षेत्रादिके वा क्षेत्रे यो याति मार्गो यस्मिन्वा क्षेत्रे व्याख्यायते स क्षेत्रमार्गः, एवं कालेऽप्यायोज्यं ।

भावे त्वालोच्यमाने द्विविधो भवति मार्गः, तद्यथा - प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति । प्रशस्ताप्रशस्तभेदप्रतिपादनायाह - "द्विविधेऽपि" प्रशस्ताप्रशस्तरूपे भावमार्गे प्रत्येकं त्रिविधो भेदो भवति, तत्राप्रशस्तो मिथ्यात्वमविरतिरज्ञानं चेति, प्रशस्तस्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप इति, "तस्य" प्रशस्ताप्रशस्तरूपस्य भावमार्गस्य "विनिश्चयो" निर्णयः फलं कार्यं

निष्ठा द्वेधा, तद्यथा - प्रशस्तः सुगतिफलोऽप्रशस्तश्च दुर्गतिफल इति । इह तु पुनः “प्रस्तावः” अधिकारः “सुगतिफलेन” प्रशस्तमार्गेणेति ॥ तत्राप्रशस्तं दुर्गतिफलं मार्गं प्रतिपिपादयिषुस्तत्कर्तृनिर्दिदिक्षुराह-दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलस्तद्वदनशीला दुर्गतिफलवादिनस्तेषां प्रावादुकानां त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि शतानि भवन्ति, दुर्गतिफलमार्गोपदेष्टृत्वं च तेषां मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया विपरीतजीवादितत्त्वाभ्युपगमात्, तत्संख्या चैवमवगन्तव्या, तद्यथा -

‘अस्मियस्यं किटियाणं अकिटियवाईणं होइ चुलसीई । अण्णाणिय सत्तडी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥१॥
तेषां च स्वरूपं समवसरणाध्ययने वक्ष्यत इति ॥ साम्प्रतं मार्गं भङ्गद्वारेण निरूपयितुमाह, तद्यथा - एकः क्षेमो मार्गस्तस्करसिंहव्याघ्राद्युपद्रवरहितत्वात् तथा क्षेमरूपश्च समत्वात्तथा छायापुष्पफलवद्वृक्षोपेतजलाश्रयाकुलत्वाच्च १, तथा परः क्षेमो निश्चौरः किंत्वक्षेमरूप उपलशकलाकुलगिरिनीदीकण्टकगर्ताशताकुलत्वेन विषमत्वात् २, तथाऽपरोऽक्षेमस्तस्करादिभयोपेतत्वात्क्षेमरूपश्चोपलशकलाद्यभावतया समत्वात् ३, तथाऽन्यो न क्षेमो नापि क्षेमरूपः सिंहव्याघ्रतस्करादिदोषदुष्टत्वात्तथा गर्तापाषाणनिम्नोन्नतादिदोषत्वाच्चेति ४, एवं भावमार्गोऽप्यायोज्यः, तद्यथा - ज्ञानादिसमन्वितो द्रव्यलिङ्गोपेतश्च साधुः क्षेमः क्षेमरूपश्च, तथा क्षेमोऽक्षेमरूपस्तु स एव भावसाधुः कारणिकद्रव्यलिङ्गरहितः, तृतीयभङ्गकगता निहन्वाः, परतीर्थिका गृहस्थाश्चरमभङ्गकवर्तिनो द्रष्टव्याः । एवमनन्तरोक्तया प्रक्रियया “चतुष्ककं” भङ्गकचतुष्टयं मार्गादिष्वायोज्यं, आदिग्रहणादन्यत्रापि समाध्यादावायोज्यमिति ॥१०९-१११॥ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गयोः स्वरूपनिरूपणायाह -

सम्मप्यणिओ मग्गो णाणे तह दंसणे चरित्ते य । चरगपरिव्यायादीचिण्णो मिच्छतमग्गो उ ॥११२॥ नि०।
इद्धिरससायगुरुया छज्जीवनिकायघायनिरया (य) । जे उवदिसन्ति मग्गं कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥११३॥ नि०।
तवसंजमप्यहाणा गुणधारी जे वयन्ति सब्भावं । सव्वजगज्जीवहियं तमाहु सम्मप्यणीयमिणं ॥११४॥ नि०।
पंथो मग्गो णाओ विही थित्ती सुगती हियं (तह) सुहं च । पत्थं सेयं णिव्युइ णिव्याणं सिवकरं चेव ॥११५॥ नि०।

सम्यग्ज्ञानं दर्शनं^२चारित्रं चेत्ययं त्रिविधोऽपि भावमार्गः “सम्यग्दृष्टिभिः” तीर्थकरगणधरादिभिः सम्यग्वा - यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिरूपणया प्रणीतस्तैरेव (च) सम्यगाचीर्ण इति, चरकपरिव्राजकादिभिस्तु “आचीर्णः” आसेवितो मार्गो मिथ्यात्वमार्गोऽप्रशस्तमार्गो भवतीति । तुशब्दोऽस्य दुर्गतिफलनिबन्धनत्वेन विशेषणार्थ इति ॥ स्वयूथ्यानामपि पार्श्वस्थादीनां षड्जीवनिकायोपमर्दकारिणां कुमार्गाश्रितत्वं दर्शयितुमाह-ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिणः ऋद्धिरससातगौरवेण ‘गुरुकाः’ गुरुकर्माण आधाकर्माद्युपभोगाभ्युपगमेन षड्जीवनिकायव्यापादनरताश्च अपरेभ्यो “मार्गं” मोक्षमार्गमात्मानुचीर्णमुपदिशन्ति, तथाहि-शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा कालसंहननादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगोऽपि न दोषायेत्येवं प्रतिपादयन्ति, ते चैवं प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गास्तीर्थिकास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति । तुशब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्तीति किं पुनस्तीर्थिका इति ॥ प्रशस्तशास्त्रप्रणयनेन सन्मार्गाविष्करणायाह- तपः - सबाह्याभ्यन्तरं द्वादशप्रकारं तथा संयमः - सप्तदशभेदः पञ्चाश्रवविरमणादिलक्षणस्ताभ्यां प्रधानास्तपःसंयमप्रधानाः, तथाऽष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि गुणास्तद्धारिणो गुणधारिणो ये सत्साधवस्त एवभूता यं “सद्भावं” परमार्थं जीवाजीवादिलक्षणं “वदन्ति” प्रतिपादयन्ति, किंभूतं ! - सर्वस्मिन् जगति ये जीवास्तेभ्यो हितं - पथ्यं तद्रक्षणतस्तेषां सदुपदेशदानतो वा तं सन्मार्गं सम्यग्मार्गज्ञाः “सम्यग्” अविपरीतत्वेन प्रणीतम् “आहुः” उक्तवन्त इति ॥ साम्प्रतं सन्मार्गस्यैकार्थिकान् दर्शयितुमाह - देशाद्विवक्षितदेशान्तरप्राप्तिलक्षणः पन्थाः, स चेह भावमार्गाधिकारे सम्यक्त्वावासिरूपोऽवगन्तव्यः १. तथा “मार्ग” इति पूर्वस्माद्विशुद्ध्या विशिष्टतरो मार्गः, स चेह सम्यग्ज्ञानावासिरूपोऽवगन्तव्यः २. तथा “न्याय” इति निश्चयेनानयनं - विशिष्टस्थानप्राप्तिलक्षणं यस्मिन् सति स न्यायः, स चेह सम्यक्चारित्रावासिरूपोऽवगन्तव्यः, सत्पुरुषाणामयं न्याय एव यदुत अवाप्तयोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोस्तत्फलभूतेन सम्यक्चारित्र्येण योगो भवतीत्यतो न्यायशब्देनात्र चारित्र्ययोगोऽभिधीयत इति ३. तथा “विधि” रिति विधानं विधिः सम्यग्ज्ञानदर्शनयोर्योगपद्येनावसिः ४. तथा “धृति”-रिति धरणं धृतिः सम्यग्दर्शने सति चारित्र्यावस्थानं माषतुषादाविव विशिष्टज्ञानाभावाद्विवक्षयैवमुच्यते ५. तथा

“सुगति” – रिति शोभना गतिरस्मात् ज्ञानाच्चारित्राच्चेति सुगतिः, “ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष” इति न्यायात्सुगतिशब्देन ज्ञानक्रिये अभिधीयेते, दर्शनस्य तु ज्ञानविशेषत्वादत्रैवान्तर्भावोऽवगन्तव्यः ६. तथा “हित” मिति परमार्थतो मुक्त्यवासिस्तत्कारणं वा हितं, तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमवगन्तव्यमिति ७. अत्र च संपूर्णानां सम्यग्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वे सति यद्व्यस्तसमस्तानां मोक्षमार्गत्वेनोपन्यासः स प्रधानोपसर्जनविवक्षया न दोषायेति, तथा “सुख” मिति सुखहेतुत्वात्सुखम् उपशमश्रेण्यामुपशमकं प्रत्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायरूपा गुणत्रयावस्था ८. तथा “पथ्य” मिति पथि – मोक्षमार्गे हितं पथ्यं, तच्च क्षपकश्रेण्यां पूर्वोक्तं गुणत्रयं ९. तथा “श्रेय” इत्युपशमश्रेणिमस्तकावस्था, उपशान्तसर्वमोहावस्थेत्यर्थः १०. तथा निर्वृतिहेतुत्वान्निर्वृतिः क्षीणमोहावस्थेत्यर्थः, मोहनीयविनाशोऽवश्यं निर्वृतिस्त्वावादितिभावः ११. तथा “निर्वाण” – मिति घनघातिकर्मचतुष्टयक्षयेण केवलज्ञानावाप्तिः १२. तथा “शिव” मोक्षपदं तत्करणशीलं शैलेश्यवस्थागमनमिति १३. एवमेतानि मोक्षमार्गत्वेन किञ्चिद्भेदाद् भेदेन व्याख्यातान्यभिधानानि, यदिवैते पर्यायशब्दा एकार्थिका मोक्षमार्गस्येति ॥११२-११५॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम् –

टीकार्थ – नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, और काल, भाव भेद से मार्ग के छः निक्षेप हैं । इनमें नाम, स्थापना को सुगम होने के कारण छोड़कर ज़शरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यमार्ग बताया जाता है । कीचड़ आदि के भय से जहाँ काठ का फलक बीछाकर मार्ग बनाया गया है, उसे फलकमार्ग कहते हैं तथा जहाँ लता को पकड़कर चलते हैं, वह लतामार्ग है । जहाँ झूला खाकर ऊँची जमीन को उल्लंघन करते हैं, उसे आन्दोलनमार्ग कहते हैं। जहाँ जल आदि में वेतकी लता को पकड़कर नदी को पार करते हैं, वह वेत्रमार्ग है जैसे चारुदत्त वेत्र लता को पकड़कर वेत्रवती नदी को पारकर दूसरे तटपर चला गया था । जहाँ रस्सी की सहायता से अत्यन्त ऊँचे स्थान को उल्लंघन करते हैं, उसे रज्जुमार्ग कहते हैं । जहाँ किसी यान-यानी सवारी के द्वारा जाते हैं, उसे दवनमार्ग कहते हैं । जहाँ गुफा के आकार के बने हुए बिल के द्वारा जाते हैं, उसे बिलमार्ग कहते हैं । जिस मार्ग में पाश यानी पक्षि आदि को फसॉने के लिए जाल बिछा हुआ है, उसे पाशमार्ग कहते हैं । जिस प्रदेश में अधिक रेती होने के कारण मार्ग जानने के लिए कील गाड़े जाते हैं, और उस कील को देखकर लोग रास्ता जानते हैं, उसे कीलमार्ग कहते हैं, ऐसा मार्ग मरुदेश में होता है । [वर्तमान में दूरि पालित संघों में चूना डालकर मार्ग दर्शाया जाता है।] जहाँ बकरे पर चढ़कर जाते हैं, उसे अजमार्ग कहते हैं, जैसे चारुदत्त सुवर्ण भूमि में बकरे पर चढ़कर गया था। जहाँ भारुण्ड आदि पक्षियों पर चढ़कर दूसरे देश में जाते हैं, उसे पक्षिमार्ग कहते हैं । जहाँ छत्ता के बिना नहीं जा सकते, उस मार्ग को छत्रमार्ग कहते हैं । जहाँ नाव आदि के द्वारा जाते हैं, वह जलमार्ग है । विद्याधर आदि देवताओं के मार्ग को आकाशमार्ग कहते हैं । ये सभी फलकमार्ग आदि मार्ग द्रव्यमार्ग जानने चाहिए ।

अब क्षेत्रमार्ग बताया जाता है – जो मार्ग, ग्राम, नगर तथा जिस प्रदेश में अथवा जिस शालिक्षेत्र आदि में जाता है अथवा जिस क्षेत्र में मार्ग की व्याख्या की जाती है, वह क्षेत्रमार्ग है । इसी तरह काल में भी जानना चाहिए । भाव मार्ग के विषय में विचार करने पर वह दो प्रकार का है, एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त । अब प्रशस्त और अप्रशस्त का भेद निर्युक्तिकार बताते हैं – प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही भावमार्गों में प्रत्येक के तीन भेद होते हैं । इनमें मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान ये अप्रशस्त भावमार्ग हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र प्रशस्त भावमार्ग हैं । इन अप्रशस्त और प्रशस्त मार्गों का फल विचारना चाहिए – वह दो प्रकार का है जैसे कि- प्रशस्त भावमार्ग का फल सुगति है और अप्रशस्त का फल दुर्गति है । इस अध्ययन में सुगतिरूप फल देनेवाले प्रशस्त भाव मार्ग का ही वर्णन है । अब निर्युक्तिकार दुर्गति फल देनेवाले अप्रशस्त भावमार्ग को बताने के लिए उसके कर्ताओं को बताते हैं – जिसका दुर्गति फल है, ऐसे मार्ग को बताने वाले प्रावादुकों के तीन सौ तीरसठ ३६३ भेद हैं । वे दुर्गतिरूप फलवाले मार्ग का उपदेशक इस कारण हैं कि उनकी दृष्टि मिथ्यात्व के कारण नष्ट हो गयी है, अत एव वे जीवादि तत्त्वों को विपरीत मानते हैं । इनकी संख्या इस प्रकार जाननी चाहिए। क्रियावादियों के १८० भेद हैं तथा अक्रियावादियों के ८४ भेद हैं एवं अज्ञानियों के ६७ भेद हैं और विनयवादियों के ३२ भेद हैं । इनका स्वरूप समवसरणाध्ययन में बताया जायगा ।

अब भङ्ग के द्वारा मार्ग बताने के लिए कहते हैं – एक मार्ग क्षेम है क्योंकि उसमें चोर, सिंह, और व्याघ्र आदि का उपद्रव नहीं है तथा वह क्षेमरूप भी है क्योंकि वह सम है तथा छाया, फूल, फल, वृक्ष और जलाशयों

से भरा हुआ है। एवं दूसरा मार्ग चोर आदि न होने से क्षेम तो अवश्य है परन्तु पत्थरों के टुकड़े पर्वत, नदी, कण्टक और सैंकड़ों गर्तों से युक्त होने के कारण क्षेमरूप नहीं है। तीसरा मार्ग चोर आदि से युक्त होने के कारण क्षेम तो नहीं है परन्तु पत्थर के टुकड़े आदि न होने से क्षेमरूप है। तथा चौथा मार्ग न तो क्षेम ही है और न क्षेमरूप ही है क्योंकि उसमें चोर, सिंह और व्याघ्र आदि का भय है और गर्त, पाषाण तथा नीचा ऊँचा इत्यादि दोषों से भी युक्त है। इसी तरह भाव मार्ग के विषय में भी समझना चाहिए। जो साधु ज्ञान आदि से युक्त तथा द्रव्यलिङ्ग से भी युक्त है, वह क्षेम तथा क्षेमरूप प्रथम भङ्ग का स्वामी है (१) दूसरा वह है, जिसमें ज्ञान आदि गुण तो विद्यमान हैं परन्तु कारणवश द्रव्यलिङ्ग को छोड़ रखा है, वह क्षेम तथा अक्षेमरूप दूसरे भङ्ग का धनी है। (२) तीसरे भङ्ग में निन्दव है (३) और गृहस्थ तथा परतीर्थी चौथे भङ्ग में है। (४) इसी रीति से ये चार भङ्ग मार्ग आदि में भी जानने चाहिए तथा आदि शब्द से दूसरी जगह समाधि आदि में भी जानने चाहिए। अब सम्यक् और मिथ्यामार्ग का स्वरूप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन प्रकार का भावमार्ग सम्यग्दृष्टि - तीर्थंकर और गणधर आदि ने कहा है अथवा वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताने के कारण ये तीन भावमार्ग तीर्थङ्कर आदि ने कहे हैं। तथा उन्होंने इनका आचरण भी किया है। इससे विपरीत चरक और परिव्राजक आदि से सेवन किया जानेवाला मार्ग मिथ्यामार्ग एवं अप्रशस्त मार्ग है। वह अप्रशस्तमार्ग दुर्गति फल देनेवाला है, यह तु शब्द बताता है। छः काय के जीवों का घात करनेवाले जो पार्श्वस्थ आदि स्वयूथिक हैं, वे भी कुमार्ग में ही जाते हैं, यह निर्युक्तिकार बताते हैं।

जो धर्म में ढीले, शीतल विहारी हैं तथा ऋद्धि, रस, सुख और मान बढ़ाई में आसक्त गुरुकर्मों हैं तथा जो आधाकर्मों आहार का उपभोग करके छः काय के जीवों का घात करते हैं और अपने से आचरण किये जाते हुए मार्ग का उपदेश दूसरे को देते हैं, जैसे कि -

“धर्म साधन का मुख्य कारण यह शरीर ही है, यह मानकर तथा काल और संहनन आदि की हानि समझकर आधाकर्मों आहार खाने में भी दोष नहीं है” ऐसे मार्ग का उपदेश करनेवाला परतीर्थी कुमार्ग का सेवन करते हैं तथा जैन साधु भी ऐसा करनेवाला कुमार्ग ही है। ऐसा आचरण करनेवाला जैन साधु भी जबकि कुमार्गों हैं तब परतीर्थियों की तो बात ही क्या है ?

अब प्रशस्तशास्त्र की रचना के द्वारा सच्चा साधु मार्ग बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं - बाह्य और आभ्यन्तर बारह भेदवाला तप है तथा पाँच आश्रवों से विरमणरूप सत्रह भेदवाला संयम है, ये तप और संयम जिन में प्रधान हैं तथा अठारह हजार शील के भेदों को पालन करनेवाले जो गुणवान् पुरुष हैं, वे उत्तम साधु हैं। वे साधु जीव आदि नवतत्त्वों का सच्चा स्वरूप बतलाते हैं। उनका बताया हुआ मार्ग समस्त प्राणियों का रक्षक होने के कारण अथवा सब को उत्तम उपदेश देने के कारण हितकर है। वही मार्ग सच्चा मार्ग है। सच्चे मार्ग के रहस्य को जाननेवाले पुरुष उसी मार्ग को अविपरीत कहते हैं।

अब सत्यमार्ग के एकार्थक शब्दों को बताते हैं - (१) जो किसी देश से दूसरे इष्ट देश को पहुँचाता है, उसे “पंथ” कहते हैं। वह यहां भावमार्ग के प्रकरण में सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप समझना चाहिए (२) तथा पहले से आत्मा जिसमें अधिक निर्मल होता है, उसे मार्ग कहते हैं, वह सम्यग्ज्ञान की प्राप्तिरूप समझना चाहिए (३) जिससे विशिष्ट स्थान की अवश्य प्राप्ति होती है, वह “न्याय” है। वह यहाँ सम्यक्त्व चारित्र की प्राप्ति समझनी चाहिए। उत्तम पुरुषों का यह न्याय है कि वे सम्यग्दर्शन और ज्ञान को प्राप्त करके उनके फलस्वरूप सम्यक्चारित्र को उसके साथ मिला देते हैं, अतः सम्यक्चारित्र को यहां “न्याय” कहते हैं (४) सम्यग्दर्शन और ज्ञान की एक साथ प्राप्ति को विधी कहते हैं (५) धैर्य को धृति कहते हैं। सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र की प्राप्ति जो हुई है, उसको स्थिर रखने के लिए माषतुष मुनि की तरह विशिष्ट ज्ञान न होने की दशा में धैर्य रखना चाहिए (६) जिससे सुगति की प्राप्ति होती है, उसे सुगति कहते हैं, वह ज्ञान तथा चारित्र है क्योंकि ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है। इस न्याय से सुगति शब्द से ज्ञान और क्रिया कहे जाते हैं, दर्शन तो ज्ञान का ही भेद है, इसलिए ज्ञान में ही उसका अन्तर्भाव समझना चाहिए (७) जो मुक्ति प्राप्ति का कारण है, उसे हित कहते हैं, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। यद्यपि

सम्पूर्ण सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के मार्ग हैं, तथापि अलग-अलग और इकट्ठे जो इन्हें मोक्षमार्ग कहा है, वह प्रधान तथा अप्रधानरूप से कहा है, इसलिए दोष नहीं हैं (८) सुख के कारण को सुख कहते हैं, उपशम श्रेणि में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसम्प्राय इन तीन गुण स्थानों में अर्थात् ८।१।१०। गुणस्थानों में क्रोध आदि पतला हो जाने से आत्मा में सुख शान्ति का अनुभव होता है। अतः इसे सुख कहते हैं। (९) जो मोक्षमार्ग का हितकर है उसे पथ्य कहते हैं, वह क्षपकश्रेणिके आठवाँ - नवाँ और दशम गुण स्थान जानने चाहिए क्योंकि इनमें क्रोध आदि के क्षय होने से अधिक शान्ति अनुभव होती है और मोक्ष के लिए अत्यन्त गुणकारी होता है। (१०) जिसमें मोह सर्वथा शान्त हो जाता है, उस उपशम श्रेणि के अन्तिम स्थान यानी एकादश गुणस्थान को श्रेय कहते हैं। (११) जो संसार की निवृत्ति का कारण है, उसे निर्वृत्ति कहते हैं, वह क्षीण मोहावस्था है, क्योंकि मोह के सर्वथा नाश हो जाने से अवश्य संसार से छुटकारा हो जाता है (१२) चार प्रकार के घाती कर्मों का नाश हो जाने से जिसमें केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, उस अवस्था को निर्वाण कहते हैं। (१३) एवं मोक्ष पद को प्राप्त करानेवाला जो शैलेशी अवस्था की प्राप्तिरूप चतुर्दश गुणस्थान है, उसे शिव कहते हैं। ये पूर्वोक्त सभी मोक्ष के नाम परस्पर कुछ भेद रखते हैं, इसलिए इनकी अलग-अलग व्याख्या की गयी है अथवा ये मोक्षमार्ग के सभी पर्याय शब्द होने के कारण एकार्थक हैं ॥१०७-११५॥ नाम निक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है-

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेणं मईमता ?
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं

॥१॥

छाया - कतरो मार्ग आख्यातो माहणेण मतिमता ।

यं मार्गमृजुं प्राप्य, ओघं तरति दुस्तरम् ॥

अन्वयार्थ - (मईमता माहणेण कयरे मग्गे अक्खाए) केवलज्ञानी, अहिंसा के उपदेशक भगवान् महावीर स्वामी ने कौन - सा मोक्षमार्ग कहा है ? । (जं उज्जु मग्गं पावित्ता दुत्तरं ओहं तरति) जिस सरल मार्ग को पाकर जीव दुस्तर संसार को पार करता है ।

भावार्थ - अहिंसा के उपदेशक केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने मोक्ष का मार्ग कौन - सा बताया है, जिसको प्राप्तकर जीव संसार सागर से पार होता है ।

टीका - विचित्रत्वात्रिकालविषयत्वाच्च सूत्रस्यागामुकं प्रच्छकमाश्रित्य सूत्रमिदं प्रवृत्तम्, अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमिदमाह, तद्यथा - "कतरः" किंभूतो "मार्गः" अपवर्गावासिसमर्थोऽस्यां त्रिलोक्याम् "आख्यातः" प्रतिपादितो भगवता त्रैलोक्योद्धरणसमर्थेनैकान्तहितैषिणा, मा हनेत्येवमुपदेशप्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः - तीर्थकृत्तेन, तमेव विशिनष्टि- मतिः - लोकालोकान्तर्गतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतवर्तमानपदार्थाविर्भाविका केवलज्ञानाख्या यस्यास्त्यसौ मतिमांस्तेन, यं प्रशस्तं भावमार्गं मोक्षगमनं प्रति "ऋजुं" प्रगुणं यथावस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रं सामान्यविशेषनित्यानित्यादिस्याद्वादसमाश्रयणात्, तदेवंभूतं मार्गं ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मकं "प्राप्य" लब्ध्वा संसारोदरविवरवर्ती प्राणी समग्रसामग्रीकः "ओघ"मिति भवौघं संसारसमुद्रं तरत्यत्यन्तदुस्तरं, तदुत्तरणसामग्र्या एव दुष्प्रापत्वात्, तदुक्तम्-

१माणुस्सखेत्तजाईकुलरुवारोगमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धासअमो य लोयंमि दुलहाई ॥१॥

इत्यादि ॥

टीकार्थ - सूत्र की रचना विचित्र होती है तथा तीनों कालों को दृष्टि में रखकर सूत्र की रचना होती है इसलिए भविष्य काल के प्रश्नकर्ता का आश्रय लेकर इस सूत्र की रचना हुई है, अतः जम्बूस्वामी श्री सुधर्मास्वामी से पूछते हैं कि- हे भगवन् ! तीन लोक का उद्धार करने में समर्थ, सबके एकान्त हितैषी तथा जीवहिंसा न करने

१. मानुष्यं क्षेत्रं जातिः कुलं रूपमारोग्यमायुः बुद्धिः श्रवणमवग्रहः श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि ॥१॥

का उपदेश देनेवाले तीर्थङ्कर ने तीन लोक में कौन - सा मोक्ष देने में समर्थ मार्ग कहा है ? वह भगवान् मतिमान् थे । जो, लोक, तथा अलोक में रहनेवाले सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, भूत, भविष्य और वर्तमान सभी पदार्थों को प्रकाश करती है, उसे मति कहते हैं, वह केवलज्ञान है, वह भगवान् में विद्यमान है, इसलिए भगवान् मतिमान् हैं । उस भगवान् के द्वारा बताया हुआ जो मोक्षमार्ग है, वह प्रशस्त भावमार्ग है तथा वह वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताने के कारण मोक्ष प्राप्ति के लिए सरल मार्ग है । तथा वस्तु को सामान्य, विशेषरूप तथा नित्य और अनित्यरूप कहकर स्याद्वाद का आश्रय लेने के कारण वह वक्र यानी टेढ़ा नहीं है, वह मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्र्यरूप है, उसे पाकर संसारी जीव मोक्ष की समस्त सामग्री को पाकर दुस्तर संसार सागर को पार करता है । संसार सागर को पार करना अत्यंत कठिन है किन्तु पार करने की सामग्री पाना उससे भी बहुत कठिन है । कहा भी है -

(माणुस्स) मनुष्यजन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तमजाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्म सुनने का योग, उस पर श्रद्धा, निर्मलचारित्र्य ये सब वस्तुएँ प्राप्त होनी दुर्लभ है ॥१॥



स एव प्रच्छकः पुनरप्याह -

जिसने पहले पूछा है, वही फिर पूछता है -

तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।

जाणासि णं जहा भिक्खू !, तं णो बूहि महामुणी

॥२॥

छाया - तं मार्गमनुत्तरं शुद्धं सर्वदुःखविमोक्षणम् ।

जाणासि वै यथा भिक्षो ! तं णो बूहि महामुने ॥

अन्वयार्थ - (भिक्षू महामुणी) हे साथो ! हे महामुने ! (सव्वदुक्खविमोक्खणं शुद्धं णुत्तरं तं मग्गं जहा जाणासि) सब दुःखों को छुड़ानेवाले, सब से श्रेष्ठ उस शुद्ध मार्ग को आप जैसे जानते हैं (तं णो बूहि) सो हमें बताईए ।

भावार्थ - जम्बूस्वामी श्री सुधर्मास्वामी से पूछते हैं कि - हे महामुने ! आप सब दुःखों को छुड़ानेवाले तथा सब से श्रेष्ठ तीर्थङ्कर के कहे हुए मार्ग को जानते हैं, इसलिए हमें वह सुनाइए ।

टीका - योऽसौ मार्गः सत्त्वहिताय सर्वज्ञेनोपदिष्टोऽशेषैकान्तकौटिल्यवक्र (ता) रहितस्तं मार्गं, नास्योत्तरः- प्रधानोऽस्तीत्यनुत्तरस्तं शुद्धः - अवदातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहतिदोषापगमात्सावधानुष्ठानोपदेशाभावाद्वा तमिति, तथा सर्वाणि - अशेषाणि बहुभिर्भवेरुपचितानि दुःखकारणत्वाद्दुःखानि - कर्माणि तेभ्यो "विमोक्षणं" - विमोचकं तमेवंभूतं मार्गमनुत्तरं निर्दोषं सर्वदुःखक्षयकारणं हे भिक्षो ! यथा त्वं जानीषे "ण"मिति वाक्यालङ्कारे तथा तं मार्गं सर्वज्ञप्रणीतं "नः" अस्माकं हे महामुने ! "बूहि" कथयेति ॥२॥

टीकार्थ - जीवों के कल्याण के लिए जो मार्ग सर्वज्ञ प्रभु ने कहा है, वह सम्पूर्ण तथा निश्चयरूप से वक्रता रहित है तथा उस मार्ग से श्रेष्ठ दूसरा मार्ग नहीं है, इसलिए वह अनुत्तर है एवं वह शुद्ध यानी निर्दोष है क्योंकि वह पहले और पीछे परस्पर विरुद्ध बात नहीं बतलाता है तथा वह सावध्य अनुष्ठान का उपदेश नहीं करता है। एवं बहुत जन्मों के सञ्चित जो दुःख के कारण दुःखरूप कर्म हैं, उनको छोड़नेवाला वह मार्ग है । ऐसे प्रधानमार्ग को हे भिक्षो ! हे महामुने ! आप जिस प्रकार जानते हैं, उस तरह उस निर्दोष तथा सब दुःखों को क्षय करनेवाले मार्ग को हमें बताईए ॥२॥



यद्यप्यस्माकमसाधारणगुणोपलब्धेर्युष्मत्प्रत्ययेनैव प्रवृत्तिः स्यात् तथाप्यन्येषां मार्गः किंभूतो मयाऽऽख्येय इत्यभिप्रायवानाह -

यद्यपि हम तो आप के असाधारण गुणों को जानने के कारण आपके विश्वास से ही मान लेते हैं तथापि

दूसरे लोगों को हम किस प्रकार समझावें, इस अभिप्राय से श्री जम्बूस्वामी पूछते हैं -

जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।

तेसिं तु कयरं मग्गं, आइक्खेज्ज ? कहाहि णो

॥३॥

छाया - यदि नः केऽपि पृच्छेयुर्देवा अथवा मनुष्याः ।

तेषाञ्च कतरं मार्गमाख्यास्ये कथय नः ॥

अन्वयार्थ - (जइ केइ देवा अदुव माणुसा, णो पुच्छिज्जा) यदि कोई देवता या मनुष्य हम से पूछे तो (तेसिं कयरं मग्गं आइक्खेज्ज) उनको हम कौन सा मार्ग बतावें ? (णो कहाहि) सो हमें आप कहिए ।

भावार्थ - जम्बूस्वामी श्री सुधर्मास्वामी से कहते हैं कि - यदि कोई देवता या मनुष्य हम से मोक्ष का मार्ग पूछे तो हम उनको कौन-सा ? मार्ग बतावें, यह आप हमें बतलाईए ।

टीका - यदा कदाचित् “नः” अस्मान् “केचन” सुलभबोधयः संसारोद्विग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुः, के ते ?- “देवाः” चतुर्निकायाः तथा मनुष्याः - प्रतीताः, बाहुल्येन तयोरेव प्रश्नसद्भावात्तदुपादानं, तेषां पृच्छतां कतरं मार्गमहम् “आख्यास्ये” कथयिष्ये, तदेतदस्माकं त्वं जानानः कथयेति ॥३॥

टीकार्थ - हे भगवन् ! संसार से घबराये हुए सरल आत्मा कोई चार निकायवाला देवता या मनुष्य हम से सम्यग् मार्ग पूछें तो हमें क्या बताना चाहिए ? आप यह जानते हैं, इसलिए हमें कहिए ।

देवता और मनुष्य ही प्रश्न कर सकते हैं, इसलिए उन्हीं का इस गाथा में ग्रहण है, दूसरे का नहीं ॥३॥



एवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह -

यह पूछने पर श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं -

जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।

तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे

॥४॥

छाया - यदि वः केऽपि पृच्छेयुर्देवा अथवा मनुष्याः ।

तेषामिमं प्रतिकथयेद्भार्गसारं शृणुत मे ॥

अन्वयार्थ - (जइ केइ देवा अदुव माणुसा) यदि कोई देवता या मनुष्य, (वो पुच्छिज्जा) आप से पूछे तो (तेसिमं पडिसाहिज्जा) उनसे यह मार्ग कहना चाहिए (मग्गसारं मे सुणेह) वह साररूप मार्ग मेरे से सुनो ।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि यदि कोई देवता या मनुष्य मोक्ष का मार्ग पूछे तो उनसे आगे कहा जानेवाला मार्ग कहना चाहिए । वह मार्ग मेरे से तुम सुनो ।

टीका - यदि कदाचित् “वः” युष्मान् केचन देवा मनुष्या वा संसारभ्रान्तिपराभग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुस्तेषां पृच्छताम् “इमं” मिति वक्ष्यमाणलक्षणं षड्जीवनिकायप्रतिपादनगर्भं तद्रक्षाप्रवर्णं मार्गं “पडिसाहिज्जे” ति प्रतिकथयेत्, “मार्गसारम्” मार्गपरमार्थं यं भवन्तोऽन्येषां प्रतिपादयिष्यन्ति तत् “मे” मम कथयतः शृणुत यूयमिति, पाठान्तरं वा “तेसिं तु इमं मग्गं आइक्खेज्ज सुणेह मे” ति उत्तानार्थम् ॥४॥

टीकार्थ - हे शिष्यों ! यदि तुम से कोई संसार से खेद पाया हुआ देवता या मनुष्य, सम्यक् मार्ग पूछे तो तुम उनसे छः काय के जीवों की रक्षा का उपदेश देनेवाला मार्ग कहना । तुम जिस उत्तम मार्ग को दूसरे से कहोगे सो मैं बताता हूँ, सुनो । यहां “तेसितु इमं मग्गं आइक्खेज्ज सुणेह मे” यह पाठान्तर पाया जाता है । इसका अर्थ यह है कि “उनसे तुम आगे कहे जानेवाले मार्ग का कथन करना । वह मार्ग मैं बताता हूँ ॥४॥

पुनरपि मार्गाभिष्टवं कुर्वन्सुधर्मस्वाम्याह -

मैं क्रमशः मोक्षमार्ग को जिस प्रकार बताता हूँ, उसे तुम सुनो -

अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेइयं । जमादाय इओ पुव्वं, समुद्धं ववहारिणो ॥५॥

छाया - आनुपूर्व्या महाघोरं, काश्यपेण प्रवेदितम् ।

यमादायेतः पूर्वं समुद्धं व्यवहारिणः ॥

अन्वयार्थ - (कासवेण पवेइयं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी का कहा हुआ (महाघोरं) अति कठिन मार्ग को (अणुपुव्वेण) मैं क्रमशः बताता हूँ । (समुद्धं ववहारिणो) जैसे व्यवहार करनेवाले पुरुष समुद्र को पार करते हैं (इओ पुव्वं जमादाय) इसी तरह इस मार्ग का आश्रय लेकर आज से पहले बहुत लोग संसार सागर को पार कर चुके हैं ।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी, अपने शिष्य वर्ग से कहते हैं कि - मैं भगवान् महावीर स्वामी का कहा हुआ मार्ग क्रमशः बताता हूँ, तुम उसे सुनो । जैसे व्यवहार (व्यापार) करनेवाले पुरुष समुद्र को पार करते हैं, इसी तरह इस मार्ग का आश्रय लेकर बहुत जीवों ने संसार को पार किया है ।

टीका - यथाऽहम् "अनुपूर्वेण" अनुपरिपाट्या कथयामि तथा शृणुत, यदिवा यथा चानुपूर्व्या सामग्र्या वा मार्गोऽवाप्यते तच्छृणुत, तद्यथा - 1 "पढमिल्लुगाण उदए" इत्यादि तावद्यावत् 2 "बारसविहे कसाए खविए उवसामिए व जोगेहि" । लब्धइ चरित्तलंभो" इत्यादि, तथा 3 "चत्तारि परमंगाणी" इत्यादि । किंभूतं मार्गं ?, तमेव विशिनष्टि - कापुरुषैः संग्रामप्रवेशवत् दुरध्यवसेयत्वात् "महाघोरं" महाभयानकं "काश्यपो" महावीरवर्धमानस्वामी तेन "प्रवेदितं" प्रणीतं मार्गं कथयिष्यामीति, अनेन स्वमनीषिकापरिहारमाह, यं शुद्धं मार्गम् "उपादाय" गृहीत्वा "इत" इति 4 सन्मार्गोपादानात् "पूर्वम्" आदावेवानुष्ठितत्वाद्दुस्तरं संसारं महापुरुषास्तरन्ति, अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह - व्यवहारः- पण्यक्रयविक्रयलक्षणो विद्यते येषां ते व्यवहारिणः - सांयात्रिकाः, यथा ते विशिष्टलाभार्थिनः किञ्चिन्नगरं गियासवो यानपात्रेण दुस्तरमपि समुद्रं तरन्ति एवं साधवोऽप्यात्यन्तिकैकान्तिकाबाधसुखैषिणः सम्यग्दर्शनादिना मार्गेण मोक्षं जिगमिषवो दुस्तरं भवौघं तरन्तीति ॥५॥

टीकार्थ - अथवा जिस सामग्री से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, उसे आप सुनें । चार कषायों के उदय होने पर जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है, इस प्रकार बारह प्रकार के कषायों के क्षय या उपशम करने पर जीव को चारित्र्य की प्राप्ति होती है । तथा मनुष्य जन्म, धर्म प्राप्ति का उपदेश, अनुकूल श्रद्धा और चारित्र्य पालने की शक्ति, ये चार बातें सम्पूर्ण रूप से मिलें तो मोक्ष की प्राप्ति हो । (प्रश्न) वह मार्ग कैसा है ? । (उत्तर) जैसे कायर पुरुष का युद्ध में प्रवेश करना भयदायक होता है, इसी तरह अल्प शक्तिवाले पुरुष के लिए यह मार्ग महा भयदायक है । भगवान् महावीर स्वामी ने यह मार्ग कहा है, इसे मैं आप को बताता हूँ । इससे यह सूचना दी जाती है कि - यह भगवान् महावीर स्वामी ही कहते हैं, मैं अपनी कल्पना से नहीं कहता हूँ । जो मार्ग मैं बताऊंगा उस शुद्ध मार्ग को स्वीकार कर सरल मार्ग मिलने के कारण उस मार्ग से चलकर पहले दुस्तर संसार सागर को महापुरुषों ने पार किया है । इस विषय में दृष्टान्त देते हैं - खरीद, विक्री को व्यवहार कहते हैं और जो व्यवहार करते हैं, उनको व्यवहारी कहते हैं । वे अधिक लाभ पाने के लिए किसी नगर को जाते हुए जैसे जहाज पर चढ़कर दुस्तर समुद्र को पार करते हैं, इसी तरह अनन्त और बाधा रहित सत्य सुख की इच्छा करनेवाले साधु सम्यग्दर्शन आदि मार्ग के द्वारा मोक्ष जाना चाहते हुए दुस्तर संसार सागर को पार करते हैं ॥५॥



मार्गविशेषणायाह -

अब शास्त्रकार मार्ग की विशिष्टता बताने के लिए कहते हैं -

1. प्राथमिकानामुदये । 2. द्वादशविधेषु कषायेषु क्षपितेषूपशमितेषु वा योगैः । लभते चारित्रलाभं ॥ 3. चत्वारि परमज्ञानि । 4. भवत इति गम्यं ।

अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।

तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे

॥६॥

छाया - अतार्षुस्तरन्त्येके तरिष्यन्त्यणागताः । तं श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि, जन्तवस्तं शृणुत मे ॥

अन्वयार्थ - (अतरिंसु) इस मार्ग का आश्रय लेकर भूतकाल में बहुत लोगो ने संसार सागर को पार किया है । (तरंतेगे) तथा कोई वर्तमान काल में भी पार करते हैं (अणागया तरिस्संति) एवं भविष्यकाल में भी बहुत से संसार को पार करेंगे । (तं सोच्चा पडिवक्खामि) उस मार्ग को मैं भगवान् महावीर स्वामी से सुना हुआ आपको कहूंगा (जंतवो तं सुणेह मे) हे प्राणियों । वह मार्ग आप मुझ से सुनें ।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य वर्ग से कहते हैं कि - तीर्थङ्कर के बताये हुए मार्ग से चलकर पूर्वकाल में बहुत जीवों ने संसार सागर को पार किया है तथा वर्तमान में भी करते हैं और भविष्य में भी करेंगे । वह मार्ग मैंने तीर्थङ्कर से सुन रखा है और आप लोगो को सुनने की इच्छा है, इसलिए मैं उस मार्ग का वर्णन करता हूं, आप उसे सुनें ।

टीका - यं मार्गं पूर्वं महापुरुषाचीर्णमव्यभिचारिणमाश्रित्य पूर्वस्मिन्ननादिके काले बहवोऽनन्ताः सत्त्वा अशेषकर्मकचवरविप्रमुक्ता भवौघं-संसारम् ¹“अतार्षुः” तीर्णवन्तः, साम्प्रतमप्येके समग्रसामग्रीकाः संख्येयाः सत्त्वास्तरन्ति, महाविदेहादौ सर्वदा सिद्धिसद्भावाद्वर्तमानत्वं न विरुध्यते, तथाऽनागते च काले अपर्यवसानात्मकेऽनन्ता एव जीवास्तरिष्यन्ति । तदेवं कालत्रयेऽपि संसारसमुद्रोत्तारकं मोक्षगमनैककारणं प्रशस्तं भावमार्गमुत्पन्नदिव्यज्ञानैस्तीर्थकृद्भिरुपदिष्टं, तं चाहं सम्यक् श्रुत्वाऽवधार्य च युष्माकं शुश्रूषूणां “प्रतिवक्ष्यामि” प्रतिपादयिष्यामि, सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं निश्रीकृत्यान्येषामपि जन्तूनां कथयतीत्येतद्वर्णयितुमाह - हे जन्तवोऽभिमुखीभूय तं चारित्रमार्गं मम कथयतः शृणुत यूयं, परमार्थकथनेऽत्यन्तमाद-रोत्पादनार्थमेवमुपन्यास इति ॥६॥

टीकार्थ - महापुरुषों से आचरण किये हुए, अवश्य मोक्ष देनेवाले जिस मार्ग को सेवन करके पूर्व में अनादि काल में अनन्त जीवों ने समस्त कर्ममल को दूर कर संसार सागर को पार किया है तथा वर्तमान समय में भी संख्यात पुरुष संसार सागर को पार करते हैं । महाविदेह आदि क्षेत्रों में सदा सिद्धि प्राप्त होती है, इसलिए वर्तमान काल में मोक्ष कहना शास्त्रविरुद्ध नहीं है । तथा अनागत अनन्त काल में अनन्त जीव, इस मार्ग के द्वारा संसार सागर को पार करेंगे । इस प्रकार यह मार्ग तीनों काल में संसार सागर से पार करानेवाला, मोक्ष प्राप्ति का कारण तथा प्रशस्त भावमार्ग है । जिसको दिव्यज्ञान उत्पन्न हुआ था, ऐसे तीर्थङ्कर ने इसे कहा था । उस मार्ग को मैं अच्छी तरह सुनकर तथा आप लोगों की उसे सुनने की इच्छा जानकर कहूंगा । श्री सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी का आश्रय लेकर समस्त जीवों से कहते हैं, यह दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं - हे प्राणियों ! तुम सावधान होकर मेरे द्वारा कहे जाते हुए चारित्र मार्ग को सुनो । सच्ची बात कहने में सुधर्मास्वामी का अत्यन्त आदर है, और श्रोताओं में अत्यन्त आदर उत्पन्न करवाते हैं, यह सूचित करने के लिए यहाँ इस प्रकार मीठे शब्दों से आरम्भ किया है ॥६॥



चारित्रमार्गस्य प्राणातिपातविरमणमूलत्वात्तस्य च तत्परिज्ञानपूर्वकत्वादतो जीवस्वरूपनिरूपणार्थमाह-

चारित्रमार्ग का मूलकारण प्राणातिपात (जीवहिंसा) से निवृत्ति है, वह जीवों का ज्ञान होने पर पालन की जा सकती है इसलिए शास्त्रकार जीवों का स्वरूप बताने के लिए कहते हैं -

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।

वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा

॥७॥

छाया - पृथिवी जीवाः पृथक् सत्त्वाः, आपो जीवास्तथाऽग्निः । वायुजीवाः पृथक् सत्त्वास्तृणवृक्षसबीजगाः ॥

अन्वयार्थ - (पुढवीजीवा पुढो सत्ता) पृथिवी या पृथिवी के आश्रित जीव भिन्न - भिन्न जीव है । (आउजीवा तहाऽगणी) तथा जल और

1. समासान्तागमेत्यादिनेटोऽनित्यत्वं ।

अग्नि के जीव भी भिन्न - भिन्न हैं (वाजजीवा पुढो सत्ता) तथा वायु काय के जीव भी अलग - अलग हैं (तणरुक्खा सबीयगा) इसी तरह तृण, वृक्ष और बीज भी जीव है ।

भावार्थ - पृथिवी जीव है तथा पृथिवी के आश्रित भी जीव हैं एवं जल और अग्नि भी जीव हैं तथा वायु काय के जीव भी भिन्न - भिन्न हैं एवं तृण, वृक्ष, और बीज भी जीव है ।

टीका - पृथिव्येव पृथिव्याश्रिता वा जीवाः पृथ्वीजीवाः, ते च प्रत्येकशरीरत्वात् “पृथक्” प्रत्येकं “सत्त्वा” जन्तवोऽवगन्तव्याः, तथा आपश्च जीवाः, एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः, तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिताः पृथक् सत्त्वाः, प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः एत एव पृथिव्यप्तेजोवायुसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणः, वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारणशरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक्सत्त्वग्रहणमिति । वनस्पतिकायस्तु यः सूक्ष्मः स सर्वोऽपि निगोदरूपः साधारणो बादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति, तत्र प्रत्येकशरीरिणोऽसाधारणस्य कतिचिद्देदान्निर्दिदिक्षुराह - तत्र तृणानि - दर्भवीरणादीनि वृक्षाः - चूताशोकादयः सह बीजैः - शालिगोधूमादिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः, एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्याः, अनेन च बौद्धादिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य इति । एतेषां च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धिस्वरूपनिरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने शस्त्रपरिज्ञाख्ये न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ॥७॥

टीकार्थ - जो जीव पृथिवी के आश्रय से रहते हैं वे, तथा साक्षात् पृथिवी भी जीवरूप है । इन प्रत्येक जीवों का शरीर पृथक् - पृथक् है । अतः इनमें पृथक् - पृथक् शरीरवाला जीव जानना चाहिए । इसी तरह जल भी जीव है, अग्नि भी जीव है तथा वायु भी जीव है । इस प्रकार चार महाभूतों के आश्रित पृथक् - पृथक् शरीरवाले जीव जानने चाहिए । अतः पृथिवी, जल, तेज, और वायु के आश्रित पृथक् - पृथक् शरीरवाले जीव हैं । आगे बताया जानेवाला वनस्पति, साधारण शरीर है, इसलिए उसके जीव पृथक् - पृथक् नहीं भी होते हैं, यह सूचित करने के लिए इस गाथा में अलग “सत्त्व” शब्द का ग्रहण है । वनस्पतिकाय जो सूक्ष्म है, वह सब निगोदरूप है और बादर वनस्पति के साधारण और असाधारण दो भेद हैं । इनमें पृथक् - पृथक् शरीरवाले असाधारण वनस्पति के कई भेद बताते हैं - दर्भ (कुश) तथा वीरण आदि तृण, एवं आम और अशोक आदि वृक्ष तथा शाली और गेहूँ आदि बीज ये सब वनस्पति काय के पृथक् - पृथक् शरीरवाले जीव हैं । इस कथन से बौद्ध आदि मतों का खण्डन जानना चाहिए । पृथिवी आदि जीवों का जीव होना आचाराङ्ग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में खुलासा करके कहा गया है, इसलिए यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं है ॥७॥



षष्ठजीवनिकायप्रतिपादनायाह -

अब शास्त्रकार छट्ठा जीव बताने के लिए कहते हैं -

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया । ¹एतावए जीवकाए, णावरे कोइ ²विज्जती ॥८॥

छाया - अथाऽपरे त्रसाः प्राणाः, एवं षट्काया आख्याताः । एतावान् जीवकायः नापरः कश्चिद्विद्यते ॥

अन्वयार्थ - (अहावरा तसा पाणा) इनसे भिन्न त्रसकायवाले जीव होते हैं । (एवं छक्काय आहिया) इस प्रकार तीर्थङ्कर ने जीवों के छः भेद कहे हैं । (एतावए जीवकाए) इतने ही जीवों के भेद हैं । (आवरे कोई न विज्जती) इनसे भिन्न दूसरा कोई जीव नहीं होता है ।

भावार्थ - पूर्वोक्त पाँच और छट्ठा त्रसकायवाले जीव होते हैं । तीर्थङ्कर ने जीव के छः भेद बताये हैं । अतः जीव इतने ही हैं, इनसे भिन्न कोई दूसरा जीव नहीं होता है ।

टीका - तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्यासापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः, “अथ” अनन्तरम् “अपरे” अन्ये त्रस्यन्तीति त्रसाः - द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादयः, तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः

1. इताव एव प्र० । 2. दृश्यमानेषु बहुष्वादशेषु नावरे विज्जती काए इत्येव पाठ उपलभ्यते, प्राङ्मुद्रिते त्वेष ईदृशः, क्वचित् नावरे विज्जती कएत्ति पाठः छन्दोऽनुलोम्येन कायस्य स्याद्भ्रस्वता चेन्नासुन्दरः सः ।

प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्षड्विधाः, पञ्चेन्द्रियास्तु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्विधाः । तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या चतुर्दशभूतग्रामात्मकतया षड्जीवनिकाया व्याख्यातास्तीर्थकरणधरादिभिः, “एतावान्” एतद्वेदात्मक एव संक्षेपतो “जीवनिकायो” जीवराशिर्भवति, अण्डजोद्धिज्जसंस्वेदजादेरत्रैवान्तर्भावान्नापरो जीवराशिर्विद्यते कश्चिदिति॥८॥

टीकार्थ - पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति, एकेन्द्रिय हैं और सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त तथा अपर्याप्त भेद से ये प्रत्येक चार-चार प्रकार के हैं । जो त्रास पाते हैं, वे त्रास कहे जाते हैं, वे दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियवाले होते हैं, वे क्रमशः कृमि, कीड़ी, भ्रमर और मनुष्य आदि हैं । इनमें दो, तीन, और चार इन्द्रियवाले प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से छः प्रकार के हैं । परन्तु पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से चार प्रकार के हैं । इस प्रकार तीर्थङ्कर और गणधर, आदि ने कुल चौदह प्रकार के छः जीवनिकाय को बताया है । संक्षेप से इतनी ही जीवराशि है क्योंकि अण्डज, उद्धिज्ज, और संस्वेदज आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिए इनसे भिन्न कोई दूसरी जीवराशि नहीं है ॥८॥



तदेवं षड्जीवनिकायं प्रदर्श्य यत्तत्र विधेयं तद्वर्णयितुमाह -

इस प्रकार छः काय के जीवों को बताकर उनमें क्या करना चाहिए यह बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया ।

सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया

॥९॥

छाया - सर्वाभिरनुयुक्तिभिर्मतिमान् प्रतिलेख्य । सर्वेऽकान्तदुःखाश्चातः सर्वाऽहिंस्यात् ॥

अन्वयार्थ - (मतिमं) बुद्धिमान् पुरुष (सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं) सर्व युक्तियों से (पडिलेहिया) इन जीवों की सिद्धि करके (सव्वे अक्कंतदुक्खा) सभी को दुःख अप्रिय है, यह जाने (अतो सव्वे न हिंसया) और अत एव किसी की भी हिंसा न करे ।

भावार्थ - बुद्धिमान् सब युक्तियों के द्वारा इन जीवों का जीवपना सिद्ध करके ये सभी दुःख के द्वेषी हैं, यह जाने तथा इसी कारण किसी की भी हिंसा न करे ।

टीका - सर्वा याः काश्चनानुरूपाः - पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः - साधनानि, यदिवा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगता युक्तयः अनुयुक्तयस्ताभिरनुयुक्तिभिः “मतिमान्” सद्विवेकी पृथिव्यादिजीवनिकायान् “प्रत्युपेक्ष्य” पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य तथा सर्वेऽपि प्राणिनः “अकान्तदुःखा” दुःखद्विषः सुखलिप्सवश्च मन्वानो मतिमान् सर्वानपि प्राणिनो न हिंस्यादिति युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः संक्षेपेणैमा इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां समानजातीयाङ्कुरसद्भावाद्, अशौंविकाराङ्कुरवत् । तथा सचेतनमम्भः, भूमिखननादविकृतस्वभावसंभवाद्, दर्दुरवत् । तथा सात्मकं तेजः, तद्योग्याहारवृद्ध्या वृद्धयुपलब्धेः, बालकवत् । तथा सात्मको वायुः, अपराप्रेरितनियततिरश्चीनगतिमत्त्वात्, गोवत् । तथा सचेतना वनस्पतयः, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां सद्भावात्, स्त्रीवत्, तथा क्षतसंरोहणाहारोपादान-दौहदसद्भावस्पर्शसंकोच-सायाह्रस्वापप्रबोधाश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः । द्वीन्द्रियादीनां तु पुनः कृम्यादीनां स्पष्टमेव चैतन्यं, तद्वेदनाश्चौपक्रमिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलभ्य मनोवाक्यायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पीडाकारिण उपमर्दान्निवर्तितव्यमिति ॥९॥

टीकार्थ - जो पृथिवी आदि जीवों का जीवपना सिद्ध करने में समर्थ हैं, ऐसी अनुकूल युक्तियों के द्वारा बुद्धिमान् पुरुष पृथिवी आदि का जीवपना सिद्ध करे अथवा बुद्धिमान् पुरुष, असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक को छोड़कर जो हेतु पक्ष में विद्यमान रहता है और सपक्ष में भी स्थित रहता है तथा विपक्ष में नहीं रहता है, उस

युक्तिसङ्गत सद्भेदुओ से पृथिवी आदि जीवों का जीवत्व सिद्धः करे । तथा इनका जीवत्व सिद्धः करके ये सभी प्राणी दुःख के द्वेषी और सुख के इच्छुक हैं, यह जानकर किसी की भी हिंसा न करे । पृथिवी आदि पदार्थों में जीव सिद्ध करनेवाली युक्तियाँ संक्षेप से ये हैं - पृथिवी, जीवसहित है, क्योंकि पृथिवीस्वरूप प्रवाल, नमक और पत्थर आदि अपने समान अङ्कुर उत्पन्न करते हुए देखे जाते हैं, जैसे अर्श अपना विकार अङ्कुर उत्पन्न करता है। तथा पानी सचेतन है क्योंकि पृथिवी के खोदने पर उसके स्वभाव में कोई विकार नहीं होता है, जैसे मेंढक के स्वभाव में कोई विकार नहीं होता है । तथा अग्नि भी चेतन है, क्योंकि अनुकूल आहार मिलने पर वह बढ़ती है, जैसे बालक आहार मिलने पर बढ़ता है । एवं वायु चेतन है क्योंकि वह गाय की तरह किसी की प्रेरणा के बिना ही नियम से तिरछा दौड़ता है । तथा वनस्पति सचेतन है क्योंकि स्त्री के समान जन्म, जरा, मरण और रोग आदि सभी उसमें देखे जाते हैं तथा कोई वनस्पति काटकर बोन से भी उगती है एवं वह हम लोगों के समान आहारखाती है तथा उसको दोहद भी होता है एवं कोई वनस्पति स्पर्श करने पर संकुचित होती है तथा वह रात में सोती है और दिन में जागती है तथा आश्रय पाकर बढ़ती है । इन हेतुओं से वनस्पति का जीव होना सिद्ध होता है । तथा दो इन्द्रियवाले कृमि आदि का चैतन्य तो साफ नजर आता है । इन प्राणियों में होनेवाली स्वाभाविक और औपक्रमिक वेदना को जानकर बुद्धिमान् पुरुष मन, वचन और काय से तथा करने, कराने और अनुमति देनेरूप नव भेदों से इनकी पीड़ा से निवृत्त हो जाय ॥९॥



एतदेव समर्थयन्नाह -

इसी अहिंसा का ही समर्थन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं -

एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण ।

अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया

॥१०॥

छाया - एवं खलु ह्याणिजः सारं यज्ञं हिंस्ति कञ्चण । अहिंसा समयश्चेव, एतावन्तं विजाणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (णाणिणो एवं खु सारं) ज्ञानी पुरुष का यही उत्तम ज्ञान है (जं न कंचण हिंसति) जो वह किसी जीव की हिंसा नहीं करता है (अहिंसा समयं चेव एतावंतं विजाणीया) अहिंसा के समर्थक शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त जानना चाहिए ।

भावार्थ - ज्ञानी पुरुष का यही उत्तम ज्ञान है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते हैं, अहिंसा का सिद्धान्त भी इतना ही जानना चाहिए ।

टीका - खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, “एतदेव” अनन्तरोक्तं प्राणातिपातनिवर्तनं “ज्ञानिनो” जीवस्वरूपतद्वधकर्मबन्धवेदिनः “सारं” परमार्थतः प्रधानं, पुनरप्यादरख्यापनार्थमेतदेवाह - यत्कञ्चन प्राणिमनिष्टदुःखं सुखैषिणं न हिंस्ति, प्रभूतवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं यत्प्राणातिपातनिवर्तनमिति, ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो यत्परपीडातो निवर्तनं, तथा चोक्तम्-

“किं ताए पढियाए ? पयकोडीए पलालभूयाए । जत्थित्थियं ण णायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥१॥

तदेवमहिंसाप्रधानः समय - आगमः संकेतो वोपदेशरूपस्तमेवंभूतमहिंसासमयमेतावन्तमेव विज्ञाय किमन्येन बहुना परिज्ञानेन ?, एतावतैव परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवक्षितकार्यपरिसमाप्तेरतो न हिंस्यात्कञ्चनेति ॥१०॥

टीकार्थ - “खु” शब्द वाक्य की शोभा अथवा अवधारण अर्थ में आया है । पूर्वोक्त जीवहिंसा से बचना ही, जीव का स्वरूप और उसके वध से होनेवाले कर्मबन्ध को जाननेवाले ज्ञानी का प्रधान कर्तव्य है । फिर अहिंसा में आदर सूचित करने के लिए यही बात कहते हैं, जो दुःख को बुरा मानते हुए सुख की इच्छा करते हैं, ऐसे प्राणियों को न मारना ही बड़े ज्ञानी के ज्ञान का सार है । जीव हिंसा से निवृत्त रहना ही ज्ञानी के ज्ञान का सार है । दूसरे जीव को पीड़ा देने से निवृत्त रहना ही सच्चा ज्ञान है, अत एव कहा है -

1. किन्तया पठितया पदकोट्यापि पलालभूतया यत्रैतावन्न ज्ञातं परस्य पीडा न कर्त्तव्या ॥१॥

(किं ताए) अर्थात् उस पढ़ने से क्या ? तथा पलाल के समान करोंडो पदों के पढ़ने से क्या प्रयोजन है? जिनसे यह भी ज्ञान नहीं होता है कि दूसरे को पीड़ा न देनी चाहिए ।

यही अहिंसा प्रधान शास्त्र का उपदेश है, इतना ही ज्ञान पर्याप्त है, दूसरे बहुत ज्ञान का क्या प्रयोजन है? क्योंकि मोक्ष जानेवाले पुरुष के इष्ट अर्थ की प्राप्ति इतने से ही हो जाती है, अतः किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिए ॥१०॥



साम्प्रतं क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह -

अब शास्त्रकार क्षेत्र प्राणातिपात के विषय में कहते हैं -

उड्डं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा ।

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं

॥११॥

छाया - ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्, ये केचित् त्रसस्थावराः । सर्वत्र विरतिं कुर्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम्।

अन्वयार्थ - (उड्डं अहे य तिरियं) ऊपर, नीचे और तिरछा (जे केइ तसथावरा) जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं (सव्वत्थ विरतिं कुज्जा) सर्वत्र उनकी हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए (संति निव्वाणमाहियं) इस प्रकार जीव को शान्तिमय मोक्ष की प्राप्ति कही गयी है ।

भावार्थ - ऊपर, नीचे और तिरछा जो त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते हैं, उन सब की हिंसा से निवृत्त रहने से मोक्ष की प्राप्ति कही गयी है ।

टीका - ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च ये केचन त्रसाः - तेजोवायुद्दीन्द्रियादयः तथा स्थावराः - पृथिव्यादयः, किं बहुनोक्तेन ? "सर्वत्र" प्राणिनि त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरभेदभिन्ने "विरतिं" प्राणातिपातनिवृत्तिं "विजानीयात्" कुर्यात्, परमार्थत एवमेवासौ ज्ञाता भवति यदि सम्यक् क्रियत इति, एषैव च प्राणातिपातनिवृत्तिः परेषामात्मनश्च शान्तिहेतुत्वाच्छान्तिर्वर्तते, यतो विरतिमतो नान्ये केचन बिभ्यति, नाप्यसौ भवान्तरेऽपि कुतश्चिद्विभेति, अपिच - निर्वाणप्रधानैककारणत्वान्निर्वाणमपि प्राणातिपातनिवृत्तिरेव, यदिवा शान्तिः - उपशान्तता निवृत्तिः - निर्वाणं विरतिमांश्चार्तरौद्रध्यानाभावादुपशान्तिरूपो निवृत्तिभूतश्च भवति ॥११॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - ऊपर, नीचे और तिरछा जो कोई अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी रहते हैं तथा पृथिवी आदि जो स्थावर प्राणी हैं, बहुत कहने से क्या प्रयोजन है ? उन त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर सभी प्राणियों की हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए । जो पुरुष ऐसा करता है वस्तुतः वही ज्ञानी है । जीव हिंसा से निवृत्त रहना ही अपनी और दूसरे की शान्ति का कारण होने के कारण शान्ति है । जो पुरुष जीव हिंसा नहीं करता है, उससे कोई प्राणी डरते नहीं हैं और वह भी जन्मान्तर में भी किसी से नहीं डरता है । तथा मोक्ष का प्रधान कारण होने से जीव हिंसा से निवृत्त रहना ही मोक्ष है । अथवा क्रोध न करना शान्ति है और सुख को निर्वाण कहते हैं, अतः जो पुरुष जीव हिंसा से निवृत्त है, वह आर्त तथा रौद्र ध्यान के अभाव से शान्तिरूप और सुखरूप है ॥११॥



पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्जेज्ज केणई ।

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो

॥१२॥

छाया - प्रभुदोषं निराकृत्य, न विरुध्येत केनचित् । मनसा वचसा चेव, कायेन चैवान्तशः ॥

अन्वयार्थ - (पभू दोसे निराकिच्चा) जितेन्द्रिय पुरुष दोषों को हटाकर (केणई मणसा वयसा कायसा अंतसो ण विरुज्जेज्ज) किसी से मन, वचन और काय के द्वारा विरोध न करे ।

भावार्थ - जितेन्द्रिय पुरुष दोषों को हटाकर मन, वचन और काय से जीवन पर्यन्त किसी के साथ विरोध न

करे ।

टीका - इन्द्रियाणां प्रभवतीति प्रभुर्वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, यदिवा संयमावारकाणि कर्माण्यभिभूय मोक्षमार्गे पालयितव्ये प्रभुः - समर्थः, स एवंभूतः प्रभुः दूषयन्तीति दोषा - मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगास्तान् “निराकृत्य” अपनीय केनापि प्राणिना सार्धं “न विरुध्येत” न केनचित्सह विरोधं कुर्यात्, त्रिविधेनापि योगेनेति मनसा वाचा कायेन चैवान्तशो - यावज्जीवं, परापकारक्रियया न विरोधं कुर्यादिति ॥१२॥

टीकार्थ - जिसने इन्द्रियों का विजय किया है, उसे “प्रभु” कहते हैं अथवा संयम को रोकने वाले कर्मों को जीतकर जो मोक्षमार्ग का पालन करने में समर्थ है, उसे प्रभु कहते हैं । वह पुरुष, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योगरूप दोषों को दूर कर किसी प्राणी के साथ विरोध न करे । वह तीनों योगों से तथा मन, वचन और शरीर से जीवन भर दूसरे का अपकार करके किसी के साथ विरोध न करे ॥१२॥



उत्तरगुणानधिकृत्याह -

अब शास्त्रकार उत्तर गुणों के विषय में कहते हैं -

संवृडे से महापत्रे, धीरे दत्तेसणं चरे ।

एसणासमिण्णिच्चं, वज्जयन्ते अणेसणं

॥१३॥

छाया - संवृतः स महाप्राज्ञो धीरो दत्तैषणाश्चरेत् । एषणा समितो नित्यं वर्जयन्तोऽनेषणाम् ॥

अन्वयार्थ - (से संवृडे महापत्रे धीरे) वह साधु बड़ा बुद्धिमान् और धीर है (दत्तेसणं चरे) जो दिया हुआ एषणीय आहार आदि लेता है । (णिच्चं एसणासमिण्णि) तथा जो सदा एषणा समिति से युक्त रहता हुआ (अणेसणं वज्जयन्ते) अनेषणीय आहार को वर्जित करता है ।

भावार्थ - वह साधु बड़ा बुद्धिमान् और धीर है, जो सदा दूसरे का दिया हुआ एषणीय ही आहार आदि ग्रहण करता है तथा जो एषणा समिति से युक्त रहकर अनेषणीय आहार को वर्जित करता है ।

टीका - आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो - विपुलबुद्धिरित्यर्थः, तदनेन जीवाजीवादिपदार्थाभिज्ञतावेदिता भवति, “धीरः” अक्षोभ्यः क्षुत्पिपासादिपरीषहैर्न क्षोभ्यते, तदेव दर्शयति - आहारोपधिशय्यादिके स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरति एषणीयं गृह्णातीत्यर्थः, एषणाया एषणायां वा गवेषणग्रहणग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः, स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां “वर्जयन्” परित्यजन्संयममनुपालयेत्, उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥१३॥

टीकार्थ - आश्रवद्वारों को तथा इन्द्रियों को रोककर पाप से बचा हुआ वह भिक्षु बहुत बुद्धिमान है (इससे यह सूचना दी जाती है कि - वह साधु जीव और अजीव आदि नव तत्त्वों को जाननेवाला है) जो क्षुधा और पिपासा से चलायमान नहीं होता है । यही शास्त्रकार दिखाते हैं - आहार, उपधि और शय्या वगैरह उनके स्वामी के द्वारा अथवा उनके स्वामी से प्रेरित दूसरे के द्वारा देने पर जो उन्हें जाँच कर एषणीय ही लेता है तथा जो साधु शोधन करना और खाना इन तीनों प्रकार की एषणा में सदा युक्त रहता है । इस प्रकार अनेषणीय वस्तु को छोड़ता हुआ साधु संयम का पालन करे । यह एषणासमिति उपलक्षण है, इसलिए ईर्या समिति आदि समितियों से युक्त रहता हुआ साधु संयम का पालन करे, यह अर्थ भी जानना चाहिए ॥१३॥



अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह -

अब शास्त्रकार अनेषणीय वस्तु का त्याग के विषय में कहते हैं -

^१भूयाइं च समारंभ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।

तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए

॥१४॥

छाया - भूतानि च समारम्भ, तमुद्दिश्य च यत्कृतम् । तादृशन्तु न गृहीयादन्नपाणं सुसंयतः ॥

अन्वयार्थ - (भूयाइं च समारंभ) जो आहार भूतों का आरम्भ करके बनाया गया है (तमुद्दिस्सा य जं कडं) तथा जो साधु को देने के लिए किया गया है (तारिसं तु अन्नपाणं) वैसे अन्न पान को (सुसंजए) उत्तम साधु (ण गिण्हेज्जा) न ग्रहण करे ।

भावार्थ - जो आहार भूतों को पीड़ा देकर तथा साधुओं को देने के लिए किया गया है, उसे उत्तम साधु ग्रहण न करे ।

टीका - अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः “समारम्भ” संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुम् “उद्दिश्य” साध्वर्थं यत्कृतं तदुपकल्पितमाहारोपकरणादिकं “तादृशम्” आधाकर्मदोषदुष्टं “सुसंयतः” सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्त्रैवाभ्यवहरेद्, एवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥१४॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो पहले थे, तथा वर्तमान में रहते हैं और भविष्य में भी रहेंगे, उन्हें भूत कहते हैं, वे प्राणी हैं, उन प्राणियों को संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के द्वारा पीड़ा देकर तथा साधुओं को दान देने के लिए जो आहार और उपकरण आदि बनाया गया है, वह आधाकर्मरूप दोष से दूषित है, अतः ऐसे अन्न या पान को उत्तम तपस्वी साधु न खाये । तु शब्द एवकारार्थक है, इसलिए ऐसे आहार को साधु कदापि न खाये यह अर्थ है । ऐसा करने से ही उस साधु के द्वारा मोक्षमार्ग का पालन होता है ॥१४॥



पूर्इकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।

जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए

॥१५॥

छाया - पूतिकर्म न सेवेत, एष धर्मः संयमवतः । यत्किञ्चिदभिकाङ्क्षेत, सर्वशस्तत्र कल्पते ॥

अन्वयार्थ - (पूर्इकम्मं न सेविज्जा) जो आहार आधाकर्म आहार के एक कण से भी युक्त है, उसे साधु न सेवे । (वुसीमओ एस धम्मे) शुद्ध संयम पालनेवाले साधु का यही धर्म है (जं किंचि अभिकंखेज्जा) शुद्ध आहार में भी यदि अशुद्धि की शङ्का हो जाय तो (सव्वसो तं न कप्पए) वह भी साधु को ग्रहण करने योग्य नहीं है ।

भावार्थ - आधाकर्म आहार के एक कण से भी मिला हुआ आहार साधु न लेवे । शुद्ध संयम पालने वाले साधु का यही धर्म है । तथा शुद्ध आहार में यदि अशुद्धि की शङ्का हो जाय तो उसे भी साधु ग्रहण न करे ।

टीका - आधाकर्माद्यविशुद्धकोटयवयवेनापि संपृक्तं पूतिकर्म, तदेवंभूतमाहारादिकं “न सेवेत” नोपभुञ्जीत, एषः - अनन्तरोक्तो धर्मः २कल्पः स्वभावः “वुसीमओ” ति सम्यक्संयमवतोऽयमेवानुष्ठानकल्पो यदुताशुद्धमाहारादिकं परिहरतीति, किञ्च - यदप्यशुद्धत्वेनाभिकाङ्क्षेत् - शुद्धमप्यशुद्धत्वेनाभिश्ङ्केत किञ्चिदप्याहारादिकं तत् “सर्वशः” सर्वप्रकारमप्याहारोपकरणपूतिकर्म भोक्तुं न कल्पत इति ॥१५॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जो आहार, आधाकर्म आदि अविशुद्धि कोटि के आहार के एक कण से भी मिला हुआ है, उसे पूतिकर्म कहते हैं, ऐसे आहार आदि का साधु उपभोग न करे, शुद्ध संयम पालने वाले साधु का यही स्वभाव धर्म अथवा रीति है कि - वे अशुद्ध आहार आदि नहीं लेते हैं । जो आहार शुद्ध होकर भी अशुद्धि की शङ्का से युक्त है, वह भी साधु के ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥१५॥



१. भूयाइं च समारंभ समुद्दिस्सा य जं कडं समग्रेष्वादशेषु दृश्यमानेषु पाठः, टीकायां तु न तथा । २. कल्पस्वभावः प्र० ब्रूमः ।

हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए ।
ठाणाई संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा

॥१६॥

छाया - ध्वन्तं नानुजानीयादात्मगुप्तो जितेन्द्रियः । स्थानानि सन्ति श्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषु वा ॥

अन्वयार्थ - (सड्ढीणं गामेसु नगरेसु वा) धर्म में श्रद्धा रखनेवाले श्रावकों के ग्रामों में या नगरों में (ठाणाई संति) साधुओं का निवास होता है । (आयगुत्ते जिइंदिए) अतः आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु (हणंतं णाणुजाणेज्जा) जीवहिंसा करनेवाले को अनुमति न देवे ।

भावार्थ - श्रावकों के ग्रामों में या नगरों में साधुओं को रहने के लिए स्थान प्राप्त होता है, अतः वहां यदि कोई धर्मबुद्धि से जीव हिंसामय कार्य करे तो आत्मा को पाप से दूर रखनेवाला जितेन्द्रिय साधु उसकी अनुमति न देवे ।

टीका - धर्मश्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषु वा खेटकर्बटादिषु वा "स्थानानि" आश्रयाः "सन्ति" विद्यन्ते, तत्र तत्स्थानाश्रितः कश्चिद्धर्मोपदेशेन किल धर्मश्रद्धालुतया प्राण्युपमर्दकारिणीं धर्मबुद्ध्या कूपतडाग-खननप्रपासत्रादिकां क्रियां कुर्यात् तेन च तथाभूतक्रियायाः कर्त्रा किमत्र धर्मोऽस्ति नास्तीत्येवं पृष्टोऽपृष्टो वा तदुपरोधद्वयाद्वा तं प्राणिनो घ्नन्तं नानुजानीयात्, किंभूतः सन् ? "आत्मना" मनोवाक्यरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः तथा "जितेन्द्रियो" वश्येन्द्रियः सावधानुष्ठानं नानुमन्येत ॥१६॥

टीकार्थ - धर्म में श्रद्धा रखनेवालों (श्रावकों) के ग्राम, नगर, खेडा, और कर्बट आदि में साधुओं को रहने का स्थान प्राप्त होता है, इसलिए उन स्थानों में रहनेवाला कोई धर्मश्रद्धालु पुरुष धर्मोपदेश सुनकर जीवों का घात करनेवाली क्रिया अर्थात् कूप खोदना, प्याठ बनाना या अन्नक्षेत्र करना आदि क्रियायें करना चाहता हो, और वह साधु के पास आकर पूछे कि इस कार्य में धर्म है या नहीं है ? अथवा न पूछे तो साधु उसके शर्म से अथवा भय से प्राणियों की हिंसा करते हुए, उस पुरुष को अनुज्ञा न देवे । (प्रश्न) कैसा होकर ? (उत्तर) मन, वचन और काय से गुप्त होकर तथा इन्द्रियों को वश कर साधु सावद्य अनुष्ठान का अनुमोदन न करे ॥१६॥



सावधानुष्ठानानुमतिं परिहर्तुकाम आह -

सावद्य अनुष्ठान के अनुमोदन का त्याग करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए ।
अहवा णत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं

॥१७॥

छाया - तथा गिरं समारब्भ, अस्तिपुण्यमिति नो वदेत् । अथवा नास्ति पुण्यमित्येवमेतद् महाभयम् ॥

अन्वयार्थ - (तहा गिरं समारब्भ) उस प्रकार की वाणी सुनकर (अत्थि पुण्णंति णो वए) पुण्य है, यह न कहे (अथवा णत्थि पुण्णंति एव मेयं महब्भयं) अथवा पुण्य नहीं है, यह कहना भी महान् भयदायक है ।

भावार्थ - यदि कोई कूप आदि खोदना चाहता हुआ साधु से पूछे कि "मेरे इस कार्य में पुण्य है या नहीं ?" तो इस वाणी को सुनकर साधु, पुण्य है, यह न कहे तथा पुण्य नहीं है, यह कहना भी महान् भय का कारण है, इसलिए यह भी न कहे ।

टीका - केनचिद्राजादिना कूपखननसत्रदानादिप्रवृत्तेन पृष्टः साधुः - किमस्मदनुष्ठाने अस्ति पुण्य-माहोस्विन्नास्तीति ? एवंभूतां गिरं "समारब्भ" निशम्याश्रित्य अस्ति पुण्यं नास्ति वेत्येवमुभयथापि महाभयमिति मत्वा दोषहेतुत्वेन नानुमन्येत ॥१७॥

टीकार्थ - कूप खोदना या अन्नसत्र बनाना आदि कार्य में प्रवृत्त कोई राजा आदि साधु से यदि पूछे कि मेरे इस कार्य में पुण्य है या नहीं है, तो साधु उसकी वाणी सुनकर "पुण्य है या नहीं है" इन दोनों उत्तरों में दोष देखकर तथा दोनों में महान् भय जानकर किसी का भी अनुमोदन न करे ॥१७॥

- किमर्थं नानुमन्येत इत्याह -

- कूप खोदना, अन्नशाला या जलशाला बनाना आदि कार्यो का साधु अनुमोदन क्यों नहीं करे ?

दाण्डया य जे पाणा, हम्मंति तसथावरा ।

तेसिं सारक्खण्डाए, तम्हा अत्थित्ति णो वए

॥१८॥

छाया - दानार्थञ्च ये प्राणाः हन्यन्ते त्रसस्थावराः । तेषां संरक्षणार्थाय तस्मादस्तीति नो वदेत् ॥

अन्वयार्थ - (दाण्डया) अन्नदान या जलदान देने के लिए (जे तसथावरा पाणा हम्मंति) जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं (तेसिं सारक्खण्डाए) उनकी रक्षा करने के लिए (अत्थित्ति णो वए) पुण्य होता है, यह नहीं कहे ।

भावार्थ - अन्नदान और जलदान देने के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा के लिए साधु "पुण्य होता है" यह न कहे ।

टीका - अन्नपानदानार्थमाहारमुदकं च पचनपाचनादिकया क्रियया कूपखननादिकया चोपकल्पयेत्, तत्र यस्माद् "हन्यन्ते" व्यापाद्यन्ते त्रसाः स्थावराश्च जन्तवः तस्मात्तेषां "रक्षणार्थं" रक्षानिमित्तं साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽत्र भवदीयानुष्ठाने पुण्यमित्येवं नो वदेदिति ॥१८॥

टीकार्थ - इसका समाधान देने के लिए शास्त्रकार कहते हैं- अन्नदान देने के लिए पचन, पाचन आदि क्रिया के द्वारा आहार बनाया जाता है और जलदान देने के लिए कूप आदि खोदना पड़ता है, इन कार्यो में त्रस और स्थावर प्राणियों का नाश होता है, अतः उनकी रक्षा के लिए आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु "तुम्हारे अनुष्ठान में पुण्य है" यह न कहे ॥१८॥



यद्येवं नास्ति पुण्यमिति ब्रूयात्, तदेतदपि न ब्रूयादित्याह -

अन्नदान के लिए पचन, पाचन आदि क्रिया करने में तथा जलदान के लिए कूप खोदने आदि कार्य में बहुत जीव मरते हैं, अतः इस कार्य में पुण्य नहीं होता है, यह साधु क्यों नहीं कह सकता है ? कहते हैं कि साधु यह भी न कहे-

जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं ।

तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वए

॥१९॥

छाया - येषां तदुपकल्पयन्त्यन्नपाणं तथाविधम् । तेषां लाभान्तराय इति, तस्मादस्तीति नो वदेत् ॥

अन्वयार्थ - (जेसिं तं) जिन प्राणियों को दान देने के लिए (तहाविहं अन्नपाणं उवकप्पंति) उस तरह का अन्नपान बनाया जाता है (तेसिं लाभान्तरायंति) उनके लाभ में अन्तराय न हो (तम्हा) इसलिए (णत्थित्ति णो वए) पुण्य नहीं है, यह भी न कहे ।

भावार्थ - जिन प्राणियों को दान देने के लिए, वह अन्न, जल तैय्यार किया जाता है, उनके लाभ में अन्तराय न हो, इसलिए पुण्य नहीं है, यह भी साधु न कहे ।

टीका - "येषां" जन्तूनां कृते "तद्" अन्नपानादिकं किल धर्मबुद्ध्या "उपकल्पयन्ति" तथाविधं प्राण्युपमर्ददोषदुष्टं निष्पादयन्ति, तन्निषेधे च यस्मात् "तेषाम्" आहारपानार्थिनां तत् "लाभान्तरायो" विघ्नो भवेत्, तदभावेन तु ते पीडयेरन्, तस्मात्कूपखननसत्रादिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥१९॥

टीकार्थ - जिन प्राणियों को दान देने के लिए जीवों का नाशरूप दोष से दूषित वह अन्न और जल धर्म समझकर बनाया जाता है, उस अन्न, जल में पुण्य नहीं है, ऐसा कहने पर उस अन्न और जल की इच्छा करनेवाले प्राणियों के लाभ में अन्तराय होगा और वे बिचारे उस अन्न और जल के अभाव से पीड़ा पायेंगे इसलिए कूप खोदना

तथा अन्नशाला बनाना आदि कार्यों में पुण्य नहीं होता है, यह भी साधु न कहे ॥१९॥



- एनमेवार्थं पुनरपि समासतः स्पष्टतरं बिभणिषुराह -

- इसी बात को संक्षेप से स्पष्ट बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

जे य दाणं पसंसन्ति, वहमिच्छन्ति पाणिणं ।

जे य णं पडिसेहन्ति, वित्तिच्छेयं करन्ति ते

॥२०॥

छाया - ये च दाणं प्रशंसन्ति वधमिच्छन्ति प्राणिनाम् । ये च तं प्रतिषेधन्ति, वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते ॥

अन्वयार्थ - (जे य दाणं पसंसन्ति) जो दान की प्रशंसा करते हैं (वहमिच्छन्ति पाणिणं) वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं । (जे य णं पडिसेहन्ति) और जो दान का निषेध करते हैं (ते वित्तिच्छेयं करन्ति) वे जीविका का छेदन करते हैं ।

भावार्थ - जो दान की प्रशंसा करते हैं, वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं और जो दान का निषेध करते हैं वे प्राणियों की वृत्ति का छेदन करते हैं ।

टीका - ये केचन प्रपासत्रादिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीतिकृत्वा “प्रशंसन्ति” श्लाघन्ते “ते” परमार्थानभिज्ञाः प्रभूततरप्राणिनां तत्प्रशंसाद्वारेण “वधं” प्राणातिपातमिच्छन्ति, तद्दानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्तेः, येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येवं मन्यमाना आगमसद्भावानभिज्ञाः “प्रतिषेधन्ति” निषेधयन्ति तेऽप्यगीतार्थाः प्राणिनां “वृत्तिच्छेदं” वर्तनोपायविघ्नं कुर्वन्तीति ॥२०॥

टीकार्थ - जलशाला बनाना अथवा अन्नशाला खोलना आदि दोनों को बहुत जीवों का उपकारक मानकर जो इनकी प्रशंसा करते हैं, वे सच्ची बात नहीं जानते हैं, वे उक्त दानों की प्रशंसा के द्वारा बहुत प्राणियों का घात कराना चाहते हैं क्योंकि प्राणियों के घात के बिना जलदान या अन्नदान नहीं हो सकता है । तथा जो अपने को सूक्ष्म बुद्धिवाला मानता हुआ आगम के रहस्य का अज्ञात पुरुष उक्त दानों का निषेध करता है, वह भी गीतार्थ नहीं है, क्योंकि वह प्राणियों की जीविका का विनाश करता है ॥२०॥



तदेवं राज्ञा अन्येन वेश्वरेण कूपतडागयागसत्रदानाद्युद्यतेन पुण्यसद्भावं पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेयं तदर्शयितुमाह -

- इस प्रकार राजा, महाराजा आदि तथा दूसरा कोई धनवान् पुरुष, कूप खोदना, तालाव, खोदना, यज्ञ करना, अन्न दान, देना आदि कर्म करने के लिए उद्यत होकर साधु से इन कर्मों में पुण्य का अस्तित्व पूछे तो मोक्षार्थी मुनि को जो करना चाहिए, वह शास्त्रकार बतलाते हैं -

दुहओवि ते ण भासन्ति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।

आयं रयस्स हेच्चा णं, निव्वाणं पाउणन्ति ते

॥२१॥

छाया - द्विधाऽपि ते न भाषन्ते, अस्ति वा नास्ति वा पुनः । आयं रजसो हित्वा, निर्वानं प्राप्नुवन्ति ते ॥

अन्वयार्थ - (ते दुहओवि अत्थि वा नत्थि पुणो ण भासन्ति) साधु उक्त दान में पुण्य होता है या नहीं होता है, यह दोनों ही नहीं कहते हैं । (रयस्स आयं हेच्चा ते निव्वाणं पाउणन्ति) इस प्रकार कर्म का आना त्यागकर वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - अन्नशाला, जलशाला आदि दानों में पुण्य होता है या पुण्य नहीं होता है, ये दोनों ही बात साधु नहीं कहते हैं । इस प्रकार कर्म का आना त्यागकर वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

टीका - यद्यस्ति पुण्यमित्येवमूचुस्ततोऽनन्तानां सत्त्वानां सूक्ष्मबादराणां सर्वदा प्राणत्याग एव स्यात् प्रीणनमात्रं तु पुनः स्वल्पानां स्वल्पकालीयमतोऽस्तीति न वक्तव्यं, नास्ति पुण्यमित्येवं प्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यादित्यतो

“द्विधापि” अस्ति नास्ति वा पुण्यमित्येवं “ते” मुमुक्षवः साधवः पुनर्न भाषन्ते, किन्तु पृष्टैः सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयं, निर्बन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशदोषवर्जित आहारः कल्पते, एवंविधविषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति, उक्तं च -

“सत्यं वप्रेषु शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं, व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिन्यार्था मवन्ति शोषं नीते जलीधे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं, तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्यैः ॥१॥”

तदेवमुभयथापि भाषिते “रजसः” कर्मण “आयो” लाभो भवतीत्यतस्तमायं रजसो मौनानवद्यभाषणेन वा “हित्वा” त्यक्त्वा “ते” अनवद्यभाषिणो “निर्वाणं” मोक्षं प्राप्नुवन्तीति ॥२॥

टीकार्थ - अन्नशाला, जलशाला आदि दानों में पुण्य होता है, यह यदि साधु कहे तो अनन्त सूक्ष्म और बादर जीवों का सदा नाश हो और थोड़े जीवों की थोड़े काल तक तृप्ति हो, इसलिए उक्त दानों में पुण्य होता है, यह साधु न कहे । यदि इन दानों में पुण्य नहीं होता है, ऐसा साधु कहे तो दानार्थी जीवों के लाभ में अन्तराय हो, इसलिए मोक्षार्थी पुरुष, उक्त दानों में पुण्य या पाप होना नहीं कहते हैं, किन्तु किसी के पूछने पर मौन धारण करते हैं । यदि कोई अधिक आग्रह करे तो साधु को कहना चाहिए कि “हमलोग बयालीस दोषों को वर्जित करके आहार लेते हैं, अतः ऐसे विषय में मोक्षार्थी पुरुषों का अधिकार नहीं है” । अत एव कहा है कि-

(सत्यं) अर्थात् जलाशयों में ठंडा और चन्द्रकिरण के समान सफेद जल को पीकर प्राणिवर्ग तृष्णा रहित और प्रसन्नचित्त हो जाते हैं, यह सत्य है, तथापि सूर्य के किरणों द्वारा जलाशय का जल सूख जाने पर अनन्त प्राणी नाश को प्राप्त होते हैं, इसलिए मुनि महात्मा, कूप खोदने और तालाब बनाने आदि दानों में मुनिगण मध्यस्थ भाव (उदासीन भाव) धारण करते हैं । मौन रहते हैं ।

अतः पुण्य या पाप दोनों ही बातों के कहने से कर्म का बन्ध होना जानकर इस विषय में मौन रहकर तथा निरवद्य भाषण के द्वारा कर्म के आय को त्यागकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥२॥



अपि च -

निव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।

तम्हा सदा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी

॥२२॥

छाया - निर्वाणं परमं बुद्धाः नक्षत्राणामिव चन्द्रमाः । तस्मात् सदा यतो दावतः निर्वाणं साधयेज्जुनिः ॥

अन्वयार्थ - (नक्खत्ताणं चंदिमा व) जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रधान है इसी तरह (निव्वाणं परमं बुद्धा) निर्वाण को सबसे उत्तम माननेवाले पुरुष सब से श्रेष्ठ हैं । (मुणी सदा जए दंते निव्वाणं संधए) इसलिए मुनि, सदा प्रयत्नशील और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष का साधन करे ।

भावार्थ - जैसे चन्द्रमा सब नक्षत्रों में प्रधान है, इसी तरह मोक्ष को सबसे उत्तम जाननेवाला पुरुष सबसे प्रधान है, अतः मुनि सदा प्रयत्नशील और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष का साधन करे ।

टीका - निर्वृतिर्निर्वाणं तत्परमं - प्रधानं येषां परलोकार्थिनां बुद्धानां ते तथा तानेव बुद्धान् निर्वाणवादित्वेन प्रधानानित्येतद् दृष्टान्तेन दर्शयति - यथा “नक्षत्राणाम्” अश्विन्यादीनां सौम्यत्वप्रमाण-प्रकाशकत्वैरधिकश्चन्द्रमाः, एवं परलोकार्थिनां बुद्धानां मध्ये ये स्वर्गचक्रवर्तिसंपन्निदानपरित्यागेनाशेषकर्मक्षयरूपं निर्वाणमेवाभिसंधाय प्रवृत्तास्त एव प्रधाना नापर इति, यदिवा यथा नक्षत्राणां चन्द्रमाः प्रधानभावमनुभवति एवं लोकस्य निर्वाणं परमं प्रधानमित्येवं “बुद्धा” अवगततत्त्वाः प्रतिपादयन्तीति, यस्माच्च निर्वाणं प्रधानं तस्मात्कारणात् “सदा” सर्वकालं “यतः” प्रयतः प्रयत्नवान् (ग्रं० ६०००) इन्द्रियोन्द्रियदमनेन दान्तो “मुनिः” साधुः “निर्वाणमभिसंधयेत्” निर्वाणार्थं सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः ॥२२॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जो परलोकार्थि पुरुष निर्वाण को उत्तम मानते हैं, वे श्रेष्ठ हैं । वे पुरुष निर्वाणवादि होने के कारण प्रधान हैं, यह बात दृष्टान्त के द्वारा दिखाते हैं- जैसे अश्विनी आदि नक्षत्रों में सुन्दरता, प्रमाण, और प्रकाश रूप गुणों के द्वारा चन्द्रमा प्रधान हैं, इसी तरह परलोकार्थी तत्त्वज्ञ पुरुषों में जो पुरुष स्वर्ग, चक्रवर्ती और सम्पत्ति मिलने की इच्छा को त्यागकर समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष में प्रवृत्त हैं, वे ही प्रधान हैं, दूसरे नहीं । अथवा जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रधान है, इसी तरह मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है, यह तत्त्वज्ञ पुरुष कहते हैं । मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए साधु सदा प्रयत्नशील और इन्द्रिय तथा मन को वश करके मोक्ष के लिए सब क्रियायें करे ॥२२॥



वुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा ।

आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई

॥२३॥

छाया - उद्धमानानां प्राणानां, कृत्यमानानां स्वकर्मणा । आख्याति साधु तद् द्वीपं, प्रतिष्ठेषा प्रोच्यते ॥

अन्वयार्थ - (वुज्झमाणाणं) मिथ्यात्व, कषाय आदिरूप धारा में बहे जाते हुए (सकम्मुणा किच्चंताणं) तथा अपने कर्म से कष्ट पाते हुए (पाणिणं) प्राणियों के लिए (साहु तं दीवं आघाति) उत्तम यह मार्गरूप द्वीप तीर्थङ्कर आदि बताते हैं । (एसा पतिट्ठा पवुच्चई) यही मोक्ष का साधन है, यह विद्वान् कहते हैं ।

भावार्थ - मिथ्यात्व, कषाय आदि तेज धारा में बहे जाते हुए तथा अपने कर्म के वशीभूत होकर कष्ट पाते हुए प्राणियों को विश्राम देने के लिए सम्यग्दर्शन आदि द्वीप तीर्थङ्करों ने बताया है । विद्वानों का कथन है कि - सम्यग्दर्शन आदि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

टीका - संसारसागरस्रोतोभिर्मिथ्यात्वकषायप्रमादादिकैः “उद्धमानानां” तदभिमुखं नीयमानानां तथा स्वकर्मोदयेन निकृत्यमानानामशरणानामसुमतां परहितैकरतोऽकारणवत्सलस्तीर्थकृदन्यो वा गणधराचार्यादिकस्तेषामाश्वासभूतं “साधुं” शोभनं द्वीपमाख्याति, यथा समुद्रान्तःपतितस्य जन्तोर्जलकल्लोलाकुलितस्य मुमूर्षोरतिश्रान्तस्य विश्रामहेतुं द्वीपं कश्चित्साधुर्वत्सलतया समाख्याति, एवं तं तथाभूतं “द्वीपं” सम्यग्दर्शनादिकं संसारभ्रमणविश्रामहेतुं परतीर्थिकैरनाख्यातपूर्वमाख्याति, एवं च कृत्वा प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा - संसारभ्रमणविरतिलक्षणैषा सम्यग्दर्शनाद्यवासिसाध्या मोक्षप्राप्तिः प्रकर्षेण तत्त्वज्ञैः “उच्यते” प्रोच्यत इति ॥२३॥

टीकार्थ - मिथ्यात्व, कषाय और प्रमाद आदि जो संसार सागर की धारा हैं, उसके द्वारा बहाये जाकर संसार की ओर जाते हुए तथा अपने कर्म के उदय से दुःख भोगते हुए शरण रहित प्राणियों के विश्राम के लिए दूसरे के हित में तत्पर, विना कारण कृपा करनेवाले तीर्थङ्कर, गणधर और आचार्य आदि सुन्दर द्वीप का उपदेश करते हैं । जैसे समुद्र में गिरा हुआ कोई प्राणी जल के तरङ्गों से घबराया हुआ और अत्यन्त थका हुआ तथा मरणासन्न हो रहा हो तो उसको विश्राम देने के लिए कोई दयालु साधु [सज्जन पुरुष] द्वीप का उपदेश करता है, इसी तरह संसार में भ्रमण करने से थके हुए प्राणियों के विश्राम के लिए तीर्थकर आदि, परतीर्थियों के द्वारा उपदेश न किये हुए सम्यग्दर्शन आदि का उपदेश करते हैं । तत्त्वज्ञ पुरुष कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन आदि के द्वारा ही जीव को संसार भ्रमण से विश्राम प्राप्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥२३॥



- किंभूतोऽसावाश्वासद्वीपो भवति ? कीदृग्विधेन वाऽसावाख्यायत इत्येतदाह -

- प्राणियों के विश्राम का कारणरूप वह द्वीप कैसा है ? तथा कैसा पुरुष उस द्वीप का उपदेश करता है ? यह बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे । जे धम्मं सुद्धमाख्याति, पडिपुन्नमणेलिसं ॥२४॥

छाया - आत्मगुप्तः सदा दान्तच्छिन्नस्रोता अणाश्रवः । यो धर्मं शुद्धमाख्याति प्रतिपूर्णमनीदृशम् ॥

अन्वयार्थ - (आयुगुते) अपने आत्मा को पाप से गोपन करनेवाला (सया दते) तथा सदा जितेन्द्रिय होकर रहनेवाला (छिन्नसोए) संसार की मिथ्यात्व आदि धारा को तोड़ा हुआ (अणासवे) तथा आश्रव रहित जो पुरुष है, वही (पडिपुत्रं) परिपूर्ण (अणेलिसं) और उपमारहित (सुद्धं धम्मं अक्खाति) शुद्ध धर्म का उपदेश करता है ।

भावार्थ - मन, वचन और काया से आत्मा को पाप से बचानेवाला, जितेन्द्रिय एवं संसार की मिथ्यात्व आदि धारा को काटा हुआ आश्रवरहित पुरुष परिपूर्ण उपमा रहित शुद्ध धर्म का उपदेश करता है ।

टीका - मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः, तथा “सदा” सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो - वश्येन्द्रियो धर्मध्यानध्यायी वेत्यर्थः, तथा छिन्नानि - त्रोटितानि संसारस्रोतांसि येन स तथा, एतदेव स्पष्टतरमाह - निर्गत आश्रवः - प्राणातिपातादिकः कर्मप्रवेशद्वाररूपो यस्मात्स निराश्रवो य एवंभूतः स “शुद्धं” समस्तदोषापेतं धर्ममाख्याति, किंभूतं धर्म ? “प्रतिपूर्ण” निरवयवतया सर्वविरत्याख्यं मोक्षगमनैकहेतुम् “अनीदृशम्” अनन्यसदृशम-द्वितीयमितियावत् ॥२४॥

टीकार्थ - जिसका आत्मा, मन, वचन, और काया से गुप्त है तथा जो सदा इन्द्रिय और मन को दमन करके इन्द्रियों को वश कर लिया है अथवा धर्मध्यान को ध्याता है तथा जिसने संसार की धारा का छेदन कर दिया है (वही साफ-साफ बताते हैं) अर्थात् कर्म के प्रवेश के द्वाररूप प्राणातिपात आदि आश्रव जिसके नष्ट हो गये हैं, वही पुरुष समस्त दोषों से रहित शुद्ध धर्म का उपदेश करता है । वह धर्म कैसा है ? मोक्ष जाने का कारणरूप सर्वविरतिनामक वह धर्म अनुपम तथा अद्वितीय है ॥२४॥



एवंभूतधर्मव्यतिरेकिणां दोषाभिधित्सयाऽऽह -

जो पूर्वोक्त शुद्ध धर्म को नहीं मानते हैं, उन लोगों के दोष बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो । बुद्धा मोत्ति य मन्नंता, अंत एते समाहिण ॥२५॥

छाया - तमेवाविजानाना अबुद्धाः बुद्धमाणिणः । बुद्धाः स्मेति मव्यमाना अब्त एते समाधेः ॥

अन्वयार्थ - (तमेव अविजाणंता) उसी प्रतिपूर्ण धर्म को न जानते हुए (अबुद्धा बुद्धमाणिणो) अज्ञानी होकर भी अपने को ज्ञानी माननेवाले (बुद्धा मोत्ति य मन्नंता) “मैं ज्ञानी हूँ” ऐसा माननेवाले (एते समाहिण अंत) पुरुष समाधि से दूर हैं ।

भावार्थ - पूर्वोक्त शुद्ध धर्म को न जानते हुए, अविवेकी होकर भी अपने को विवेकी माननेवाले अन्यदर्शनी समाधि से दूर हैं ।

टीका - तमेवंभूतं शुद्धं परिपूर्णमनीदृशं धर्ममजानाना “अप्रबुद्धा” अविवेकिनः “पण्डितमानिनो” वयमेव प्रतिबुद्धा धर्मतत्त्वमित्येवं मन्यमाना भावसमाधेः - सम्यग्दर्शनाख्यादन्ते - पर्यन्तेऽतिदूरे वर्तन्त इति, ते च सर्वेऽपि परतीर्थिका द्रष्टव्या इति ॥२५॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त परिपूर्ण, शुद्ध और अनुपम धर्म को न जाननेवाले अविवेकी पुरुष “हम ही धर्म के तत्त्व को जानते हैं” ऐसा मानते हैं परन्तु वे सम्यग्दर्शन आदि भावसमाधि से दूर हैं, उन सबों को परतीर्थी समझना चाहिए ॥२५॥



किमिति ते तीर्थिका भावमार्गरूपात्समाधेदूरे वर्तन्त इत्याशङ्क्याह -

वे अन्यतीर्थी भावमार्गरूप समाधि से क्यों दूर रहते हैं ? यह शङ्का करके शास्त्रकार समाधान देते हैं-
ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।

भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्नाऽ[अ]समाहिया

॥२६॥

छाया - ते च बीजोदकं चैव तमुद्दिश्य च यत्कृतम् । भुक्त्वा ध्यानं ध्यायन्ति, अखेदज्ञा असमाहिताः ॥

अन्वयार्थ - (ते य बीजोदकं चैव) वे बीज और कच्चा जल (तमुद्दिष्टा य जं कड) तथा उनके लिए जो आहार बनाया गया है (भोच्चा) उसको भोगते हुए (झाणं जियायति) आर्त ध्यान ध्याते हैं (अखेयत्रा [अ] समाहिया) वे धर्म के ज्ञान से रहित तथा हीन हैं ।

भावार्थ - बीज और कच्चा जल तथा उनके लिए बनाये हुए आहार का उपभोग करनेवाले वे अन्यतीर्थी आर्तध्यान ध्याते हैं तथा वे भावसमाधि से दूर हैं ।

टीका - “ते च” शाक्यादयो जीवाजीवानभिज्ञतया “बीजानि” शालिगोधूमादीनि, तथा “शीतोदकम्” अप्रासुकोदकं, तांश्चोद्दिश्य तद्भक्तैर्यदाहारादिकं “कृतं” निष्पादितं तत्सर्वमविवेकितया ते शाक्यादयो “भुक्त्वा” अभ्यवहृत्य पुनः सातर्द्धिरसगौरवासक्तमनसः संघभक्तादिक्रियया तदवाप्तिकृते आर्त ध्यानं ध्यायन्ति, न हौहिकसुखैषिणां दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहवतां धर्मध्यानं भवतीति, तथा चोक्तम् -

“ग्रामक्षेत्रगृहादीनां, गवां प्रेष्ठ्यजनस्य च । यस्मिन्परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम् ? ॥१॥”

इति, तथा -

“मोहस्यायतनं धृतेरपचयः शान्तेः प्रतीपो विधित्वाक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं पापस्य वासो निजः । दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः, प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥१॥”

तदेवं पचनपाचनादिक्रियाप्रवृत्तानां तदेव चानुप्रेक्षमाणानां कुतः शुभध्यानस्य संभवः ? इति । अपिच - ते तीर्थिका धर्माधर्मविवेके कर्तव्ये “अखेदज्ञा” अनिपुणाः, तथाहि - शाक्या मनोज्ञाहारवसतिशय्यासनादिकं रागकारणमपि शुभध्याननिमित्तत्वेनाध्यवस्यन्ति, तथा चोक्तम् - “मणुणं भोयणं भुच्चे” त्यादि, तथा मांसं कल्किकमित्युपदिश्य संज्ञान्तरसमाश्रयणान्निर्दोषं मन्यन्ते, बुद्धसङ्घादिनिमित्तं चारम्भं निर्दोषमिति, तदुक्तम् -

“मांसनिवृत्तिं काउं सेवइ दंतिकक्कवगंति धणिमेया । इय चइऊणारंभं परववएसा कुणइ बालो ॥१॥”

न चैतावता तन्निर्दोषता, न हि लूतादिकं शीतलिकाद्यभिधानान्तरमात्रेणान्यथात्वं भजते, विषं वा ^२मधुरकाभिधानेनेति, एवमन्येषामपि कपिलादीनामाविर्भावतिरोभावाभिधानाभ्यां विनाशोत्पादावभिदधतामनैपुण्यमाविष्करणीयं । तदेवं ते वराकाः शाक्यादयो मनोज्ञोद्दिष्टभोजिनः सपरिग्रहतयाऽऽर्तध्यायिनोऽसमाहिता मोक्षमार्गाख्यद्वावसमाधेरसंवृततया दूरेण वर्तन्त इत्यर्थः ॥२६॥

टीकार्थ - वे शाक्य आदि परतीर्थी जीव और अजीव आदि तत्त्वों को न जानने के कारण शालि और गेहूँ आदि बीज तथा अप्रासुक जल एवं उनको दान देने के लिए उनके भक्तों के द्वारा बनाये हुए आहार को अज्ञानवश भोगते हैं और सुख, ऋद्धि, तथा मान बढ़ाई में आसक्त रहते हैं । तथा वे बुद्ध संघ के लिए आहार बनवाने और उसकी प्राप्ति के लिए आर्तध्यान करते हैं । जो लोग इस लोक का सुख चाहते हैं तथा दासी, दास, धन और धान्य आदि परिग्रह रखते हैं, उनको धर्मध्यान होना सम्भव नहीं है । अत एव कहा है कि -

जो पुरुष, ग्राम, क्षेत्र, और गृह पशुधन, दास-दासी आदि का परिग्रह करता है, उसको शुभ ध्यान कहां से होगा ?

तथा परिग्रह, मोह का घर है, धीरता का हास करता है, शान्ति का नाशक है, चित्त को चञ्चल करता है, मद का घर है, पाप का निवासस्थान है, दुःख की उत्पत्ति का कारण है, सुख का विनाशक है, ध्यान का कष्टदायक रिपु है, वह ग्रह की तरह विद्वानों को भी क्लेश देता है और नाश कर डालता है । अतः पचन, पाचन आदि क्रिया में प्रवृत्त रहनेवाले और उसी बात की चिन्ता करनेवाले पुरुषों को शुभध्यान कहां से हो सकता है ? तथा वे शाक्य आदि धर्म और अधर्म के विवेक में निपुण नहीं हैं क्योंकि वे मनोज्ञ आहार, मनोज्ञ गृह, मनोज्ञ शय्या और मनोज्ञ आसन आदि जो वस्तुतः राग के कारण हैं, उन्हें शुभ ध्यान का कारण मानते हैं । जैसा कि वे कहते

1. मांसनिवृत्तिं कृत्वा सेवते इदं कल्किकमिति ध्वनिभेदादेवं त्यक्त्वा रम्भं परव्यपदेशात्करोति बालः ॥१॥ 2. मधुरं विषे इत्युक्तेः ।

हैं - “मणुत्रं भोयणं भोच्चा” इत्यादि। अर्थात् मनोज्ञ भोजन खाने आदि से शुभध्यान होता है। तथा वे मांस का कल्किक नाम रखकर नाम बदल जाने से उसके खाने में दोष नहीं मानते हैं। एवं बुद्ध संघ के लिए किये जानेवाले आरम्भ को वे निर्दोष कहते हैं। अत एव कहा है कि -

“मंस” अर्थात् अज्ञानी शाक्य आदि मांस खाना त्यागकर भी उसका कल्किक नाम रखकर खाते हैं। एवं आरम्भ को छोड़कर संघ के नाम से पकवाकर स्वयं खाते हैं।

परन्तु नाम बदलने से निर्दोषता नहीं हो सकती है, जैसे लूता यानी गर्मी के ऋतु में जो अत्यन्त ताप होता है, उसका शीतलिका (ठंडक) नाम रखने से उसके गुण में फर्क नहीं होता है। अथवा कोई विष का अमृत नाम रखकर व्यवहार करे तो वह मृत्यु से बचता नहीं है। इसी तरह उत्पत्ति और विनाश को आविर्भाव और तिरोभाव शब्द से कहने वाले कपिल मतवालों की भी अनिपुणता कहनी चाहिए। इस प्रकार मनोज्ञ तथा उद्दिष्ट आहार खाने वाले और परिग्रह रखने के कारण आर्तध्यान करनेवाले समाधिरहित बिचारे शाक्य आदि समाधिमार्ग से दूर रहते हैं ॥२६॥



- यथा चैते रससातागौरवतयाऽऽर्तध्यायिनो भवन्ति तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह -

- पूर्वोक्त ये अन्यदर्शनी, स्वाद, सुख और अहङ्कार में आसक्त होकर जिस प्रकार आर्त ध्यान करते हैं, वह दृष्टान्त के द्वारा बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही ।

मच्छेसणं झियायंति, ज्ञाणं ते कलुसाधमं

॥२७॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया ।

विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा

॥२८॥

छाया - यथा ढङ्काश्च कङ्काश्च, कुररा मदगुकाः सिधाः । मत्स्यैषणं ध्यायन्ति, ध्यानं तत् कलुषाधमम् ॥

एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः । विषयैषणं ध्यायन्ति, ध्यानं तत् कलुषाधमम् ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (ढंका य कंका य कुलला मग्गुका सिही) ढंक, कंक, कुरर, जलमूर्गा और सिधीनामक जलचर पक्षी (मच्छेसणं कलुसाधमं ज्ञाणं झियायंति) मच्छली पकड़ने के बुरे विचार में रत रहते हैं (एवं तु) इसी तरह (मिच्छद्दिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनार्य (एगे समणा) कोई श्रमण (विसएसणं झियायंति) विषय प्राप्ति का ध्यान करते हैं। (ते ढंका वा कलुसाहमा) वे ढंक पक्षी की तरह पापी और अधम हैं।

भावार्थ - जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमूर्गा और शिखी नामक पक्षी जल में रहकर सदा मच्छली पकड़ने के ख्याल में रत रहते हैं, इसी तरह कोई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण सदा विषय प्राप्ति का ध्यान करते रहते हैं, वे वस्तुतः पापी और नीच हैं।

टीका - यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः “यथा” येन प्रकारेण “ढङ्कादयः” पक्षिविशेषा जलाशयश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्ति, एवंभूतं च ध्यानमार्तरीन्द्रध्यानरूपतयाऽत्यन्तकलुषमधमं च भवतीति ॥२७॥

टीका - दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह - ‘एव’ मिति यथा ढङ्कादयो मत्स्यान्वेषणपरं ध्यानं ध्यायन्ति तद्ध्यायिनश्च कलुषाधमा भवन्ति, एवमेव मिथ्यादृष्टयः श्रमणा “एके” शाक्यादयोऽनार्यकर्मकारित्वात्सारम्भपरिग्रहतया अनार्याः सन्तो विषयाणां - शब्दादीनां प्राप्तिं ध्यायन्ति तद्ध्यायिनश्च कङ्का इव कलुषाधमा भवन्तीति ॥२८॥ किञ्च -

टीकार्थ - यथा शब्द उदाहरण बताने के लिए आया है - जैसे जल में रहने वाले मांसजीवी ढंक आदि पक्षी सदा मच्छली मिलने के ध्यान में लगे रहते हैं, वस्तुतः यह ध्यान आर्त और रौद्ररूप होने से अत्यन्त पापमय और नीच है ॥२७॥

अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बताते हैं । जैसे ढंक आदि पक्षी मच्छली ढूँढ ने रूप ध्यान ध्याते हैं और उस ध्यान को ध्याते हुए पापी और नीच होते हैं, इसी तरह शाक्य आदि कोई मिथ्यादृष्टि श्रमण अनार्य्य कर्म करने के कारण तथा सारम्भ और सपरिग्रह होने के कारण अनार्य्य हैं और वे सदा शब्दादि विषयों की प्राप्ति का ध्यान करते हैं । अतः वे कङ्क पक्षी की तरह पापी और अधम हैं ॥२८॥



शुद्धं मग्नं विराहिता, इहमेगे उ दुम्मती । उम्मग्गता दुक्खं, घायमेसंति तं तहा ॥२९॥

छाया - शुद्धं मार्गं विराध्य, इहमेगे तु दुर्मतयः । उम्मार्गगताः दुःखं घातमेष्यन्ति, तत्तथा ॥

अन्वयार्थ - (इह) इस जगत् में (एगेउ दुम्मती) कोई दुर्मति पुरुष, (शुद्धं मग्नं) शुद्ध मार्ग को (विराहिता) दूषित करके (उम्मग्गता) उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं (दुक्खं घायं तं तहा एसंति) अतः वे दुःख और नाश की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ - इस जगत् में शुद्ध मार्ग की विराधना करके उन्मार्ग में प्रवृत्त शाक्य आदि दुःख और नाश को प्राप्त करते हैं ।

टीका - 'शुद्धम्' अवदातं निर्दोषं 'मार्गं' सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षमार्गं कुमार्गप्ररूपणया 'विराध्य' दूषयित्वा 'इह' अस्मिन्संसारे मोक्षमार्गप्ररूपणप्रस्तावे वा "एके" शाक्यादयः स्वदर्शनानुरागेण महामोहाकुलितान्तरात्मानो दुष्टा पापोपादानतया मतिर्येषां ते दुष्टमतयः सन्त उन्मार्गेण - संसारावतरणरूपेण गताः - प्रवृत्ता उन्मार्गगता दुःखयतीति दुःखम् - अष्टप्रकारं कर्मासातोदयरूपं वा तद्दुःखं घातं चान्तशस्ते तथा-सन्मार्गविराधनया उन्मार्गगमनं च "एषन्ते, अन्वेषयन्ति, दुःखमरणे शतशः प्रार्थयन्तीत्यर्थः ॥२९॥

टीकार्थ - दोषरहित जो सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग है, उसकी शाक्य आदि, कुमार्ग की प्ररूपणा करके विराधना करते हैं । इस संसार में अथवा मोक्ष मार्ग के प्रसङ्ग में शाक्य आदिकों का हृदय अपने दर्शन के अनुराग के कारण महामोह से दूषित हो गया है एवं उनकी बुद्धि पाप का कारण हो गयी है, वे संसार में उतरनेवाले मार्ग से चलते हैं । अतः अच्छे मार्ग की विराधना करने के कारण वे अन्त में आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध अथवा असातावेदनीय को प्राप्त करते हैं । वे सैकड़ों बार दुःख और मरण की प्रार्थना करते हैं, यह भाव है ॥२९॥



- शाक्यादीनां चापायं दिदर्शयिषुस्तावददृष्टान्तमाह -

- शाक्य आदि को भावी अहित बताने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त बताते हैं -

जहा आसाविणिं नावं, जाइअंधो दुरुहिया । इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥३०॥

छाया - यथाऽऽसाविणीं नावं, जात्यन्धो दुरुह्य । इच्छति पारमागन्तुमन्तरा च विषीदति ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (जाइअंधो) जन्मान्ध पुरुष (आसाविणिं नावं) छिद्रवाली नाव पर (दुरुहिया) चढ़कर (पारमागंतुं इच्छई) नदी को पार करना चाहता है (अंतरा य विसीयति) परन्तु वह बीच में ही डूब जाता है ।

भावार्थ - जैसे जन्मान्ध पुरुष छिद्रवाली नाव पर चढ़कर नदी को पार करना चाहता है परन्तु वह मध्य में ही डूब जाता है ।

टीका - यथा जात्यन्ध "आसाविणीं" शतच्छिद्रां नावमारुह्य पारमागन्तुमिच्छति, न चासौ सच्छिद्रतया पारगामी भवति, किं तर्हि ? अन्तराल एव - जलमध्ये एव विषीदति - निमज्जतीत्यर्थः ॥३०॥

टीकार्थ - जैसे जन्मान्ध पुरुष सैकड़ों छिद्रवाली नाव पर चढ़कर नदी से पार जाना चाहता है परन्तु नाव छिद्र युक्त होने के कारण वह पारगामी नहीं होता है किन्तु जल के मध्य में ही डूब जाता है ॥३०॥



दार्ष्टान्तिकमाह -

दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बताते हैं -

एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया । सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं ॥३१॥

छाया - एवन्तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः । स्रोतः कृत्स्नमापन्ना आगन्तारो महाभयम् ॥

अन्वयार्थ - (एवं तु मिच्छद्दिट्ठी अणारिया एगे समणा) इसी तरह मिथ्यादृष्टि कोई अनार्य श्रमण (कसिणं सोयं आवन्ना) पूर्णरूप से आश्रव का सेवन करते हैं (महब्भयं आगंतारो) अतः वे महाभय को प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ - इसी तरह मिथ्यादृष्टि अनार्य कोई श्रमण पूर्णरूप से आश्रव का सेवन करते हैं, वे महान् भय को प्राप्त होंगे ।

टीका - एवमेव श्रमणा “एके” शाक्यादयो मिथ्यादृष्टयोऽनार्या भावस्रोतः - कर्माश्रवरूपं “कृत्स्नं” संपूर्णमापन्नाः सन्तस्ते “महाभयं” पौनःपुन्येन संसारपर्यटनया नारकादिस्वभावं दुःखम् “आगन्तारः” आगमनशीला भवन्ति, न तेषां संसारोदधेरान्नाविणीं नावं व्यवस्थितानामिवोत्तरणं भवतीति भावः ॥३१॥

टीकार्थ - जैसे जन्मान्ध पुरुष छिद्रवाली नावपर चढ़कर बीच में ही डूब जाता है, इसी तरह मिथ्यादृष्टि अनार्य, शाक्य आदि श्रमण, कर्मों के आश्रव रूप सम्पूर्ण भावस्रोत को प्राप्त होते हैं तथा वे बारबार संसार में पर्यटन करते हुए नरकादि दुःखों को प्राप्त करते हैं । जैसे छिद्रवाली नावपर बैठे हुए पुरुष बीच जल में डूब जाते हैं, इसी तरह वे शाक्य आदि संसार सागर में डूबते हैं ॥३१॥



- यतः शाक्यादयः श्रमणाः मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः कृत्स्नं स्रोतः समापन्नाः महाभयमागन्तारो भवन्ति तत इदमुपदिश्यते -

- मिथ्यादृष्टि, अनार्य, शाक्य आदि पूर्णरूप से संसार सागर को प्राप्त कर महान् दुःख प्राप्त करते हैं । अतः शास्त्रकार यह उपदेश देते हैं -

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं । तरे सोयं महाघोरं, आत्तत्ताए परिव्वए ॥३२॥

छाया - इमञ्च धर्ममादाय, काश्यपेण प्रवेदितम् । तरेत्त्वोतो महाघोरमात्मत्राणाय परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (कासवेण पवेदितं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी से बताये हुए (इमं च धम्म आदाय) इस धर्म को प्राप्त करके (महाघोरं) महा-घोर (सोयं) संसार सागर को (तरे) साधु पार करे (आत्तत्ताए परिव्वए) तथा आत्मरक्षा के लिए संयम का पालन करे ।

भावार्थ - काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी ने कहे हुए इस धर्म को प्राप्त करके बुद्धिमान् पुरुष महाघोर संसार सागर को पार करे तथा आत्मकल्याण के लिए संयम का पालन करे ।

टीका - “इमं” मिति प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमोऽनन्तरं वक्ष्यमाणलक्षणं सर्वलोकप्रकटं च दुर्गतिनिषेधेन शोभनगतिधारणात् “धर्मं” श्रुतचारित्राख्यं, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, स च पूर्वस्मादव्यतिरेकं दर्शयति, यस्माच्छौद्धो-
दनिप्रणीतधर्मस्यादातारो महाभयं गन्तारो भवन्ति, इमं पुनर्धर्मम् “आदाय” गृहीत्वा “काश्यपेन” श्रीवर्धमानस्वामिना
“प्रवेदितं” प्रणीतं “तरेत्” लङ्घयेद्भावस्रोतः संसारपर्यटनस्वभावं, तदेव विशिनष्टि - “महाघोरं” दुरुत्तरत्वान्महाभयानकं,
तथाहि - तदन्तर्वर्तिनो जन्तवो गर्भाद्गर्भं जन्मतो जन्म मरणान्मरणं दुःखाद्दुःखमित्येवमरघट्टघटीन्यायेनानुभवन्तो-
ऽनन्तमपि कालमासते । तदेवं काश्यपप्रणीतधर्मादानेन सता आत्मनस्त्राणं- नरकादिरक्षा तस्मै आत्मत्राणाय परिः-
समन्ता (द्व्रजे) त्परिव्रजेत्संयमानुष्ठायी भवेदित्यर्थः, क्वचित्पश्चार्धस्यान्यथा पाठः - “कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स,
अगिलाए समाहिए” “भिक्षुः” साधुः ग्लानस्य वैयावृत्यम् “अग्लानः” अपरिश्रान्तः कुर्यात्सम्यक्समाधिना ग्लानस्य
वा समाधिमुत्पादयन्निति ॥३२॥

टीकार्थ - इदम् शब्द प्रत्यक्ष और निकटवर्ती वस्तु का वाचक है, इसलिए जिसका स्वरूप आगे चलकर कहा जायगा तथा जो सब लोक में प्रसिद्ध है एवं जो जीव को दुर्गति से रोककर शुभ गति में ले जाता है, वह श्रुत और चारित्ररूप धर्म (सब धर्मों में श्रेष्ठ है) च शब्द पुनः शब्द के अर्थ में आया है, वह पूर्वोक्त शाक्य धर्म से श्रुत और चारित्र धर्म की विशिष्टता बताता है। बुद्ध के कहे हुए धर्म को माननेवाले महाभय को प्राप्त होते हैं परन्तु काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के कहे हुए इस धर्म को स्वीकार करके भावस्रोत रूप संसार सागर से जीव तर जाता है, इसलिए यह धर्म सब से श्रेष्ठ है। अब संसार का विशेषण बताते हैं - वह संसार महाभय देनेवाला है क्योंकि उसको पार करना कठिन है। संसार में रहनेवाले प्राणी एक गर्भ से दूसरे गर्भ में तथा एक जन्म से दूसरे जन्म में एवं एक मरण से दूसरे मरण में तथा एक दुःख से दूसरे दुःख में जाते हुए अरहट यन्त्र की तरह अनन्तकाल तक संसार में ही फिरते रहते हैं, अतः इस संसार सागर से अपनी रक्षा पाने के लिए जीव को वर्धमान स्वामी के उपदेश किये हुए धर्म को स्वीकार कर संयम का अनुष्ठान करना चाहिए। कहीं-कहीं उत्तरार्ध का पाठ इस प्रकार मिलता है कि - "कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए" अर्थात् साधु रोगी साधु का वैयावच्च परिश्रम रहित तथा प्रसन्नचित्त होकर करे अथवा वह रोगी साधु को समाधि उत्पन्न करे ॥३२॥



- कथं संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह -

- साधु संयम का पालन किस प्रकार करे सो शास्त्रकार दिखाते हैं -

विरए गामधम्मोहिं, जे केई जगई जगा । तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥३३॥

छाया - विरतो गामधर्मेभ्यः, ये केचिद् जगति जगाः । तेषामात्मोपमया, स्थामं कुर्वन् परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (गामधम्मोहिं विरए) साधु शब्दादि विषयों से निवृत्त होकर (जगई जे केई जगा) जगत् में जो कोई प्राणी है (तेसिं अत्तुवमायाए) उनको अपने समान समझता हुआ (थामं कुव्वं परिव्वए) बल के साथ संयम का पालन करे।

भावार्थ - साधु शब्दादि विषयों को त्यागकर संसार के प्राणियों को अपने समान समझता हुआ बल के साथ संयम का पालन करे।

टीका - ग्रामधर्माः - शब्दादयो विषयास्तेभ्यो विरता मनोज्ञे तरेष्वरक्तद्विष्टाः सन्त्येके केचन "जगति" पृथिव्यां संसारोदरे "जगा" इति जन्तवो जीवितार्थिनस्तेषां दुःखद्विषामात्मोपमया दुःखमनुत्पादयन् तद्रक्षणे सामर्थ्यं कुर्यात् तत् कुर्वन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥३३॥

टीकार्थ - शब्द आदि विषयों को ग्रामधर्म कहते हैं, उनसे साधु निवृत्त हो जाय अर्थात् वह मनोज्ञ शब्दादि में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष न करे। तथा संसार में रहनेवाले जो प्राणी हैं, वे सभी जीने की इच्छा करते हैं और दुःख से द्वेष करते हैं, अतः उन प्राणियों को अपने समान समझकर साधु उनको दुःख न देवे किन्तु उनकी रक्षा के लिए पराक्रम करता हुआ संयम का अनुष्ठान करे ॥३३॥



- संयमविघ्नकारिणामपनयनार्थमाह-

- जो दोष संयम पालन करने में विघ्न उपस्थित करते हैं, उनको हटाने के लिए शास्त्रकार उपदेश करते हैं -

अइमाणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए ।

सव्वमेयं णिराकिच्चा, णिव्वाणं संधए मुणी

॥३४॥

छाया - अतिमानस मायास्त तत्परिज्ञाय पण्डितः । सर्वमेतद्विराकृत्य, निर्वाणं संधयेन्मुनिः ॥

अन्वयार्थ - (पंडित मुनी) पण्डित मुनि (अइमाणं च मायं च तं परिज्ञाय) अतिमान और माया को जानकर (एयं सर्वं गिराकिञ्चा) तथा इनको त्याग कर (निष्ठाणं संधये) निर्वाण यानी मोक्ष की खोज करे ।

भावार्थ - विद्वान् साधु अतिमान और माया को जानकर तथा उन्हें त्यागकर मोक्ष का अनुसन्धान करे ।

टीका - अतीव मानोऽतिमानश्चारित्र्यमतिक्रम्य यो वर्तते चकारादेतद्देश्यः क्रोधोऽपि परिगृह्यते, एवमतिमायां, चशब्दादतिलोभं च, तमेवंभूतं कषायव्रातं संयमपरिपन्थिनं “पण्डितो” विवेकी परिज्ञाय सर्वमेतन् संसारकारणभूतं कषायसमूहं निराकृत्य निर्वाणमनुसंधयेत्, सति च कषायकदम्बके न सम्यक् संयमः सफलतां प्रतिपद्यते, तदुक्तम् -

“सामण्यमणुचरंतस्त, कषाया जरुस्त उक्कडा हीति । मण्णामि उच्छुप्पुप्फं व, निष्फलं तस्स सामण्णं ॥१॥”

तन्निष्फलत्वे च न मोक्षसंभवः, तथा चोक्तम् -

“संसारदपलायनप्रतिभुवो रागादयो मे स्थितास्तृष्णाबन्धनबध्यमानमखिलं किं वेत्ति नेदं जगत् ? मृत्यो ! मुञ्च जरकरेण पुरुषं केशेषु मा मा गृहीरेहीत्यादरमन्तरेण भवतः किं नागमिध्याम्यहम् ॥१॥”

इत्यादि । तदेवमेवंभूतकषायपरित्यागादच्छिन्नप्रशस्तभावानुसंधनया निर्वाणानुसंधानमेव श्रेय इति ॥३४॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो मान, चारित्र्य को नष्ट करता है, उसे अतिमान कहते हैं तथा च शब्द से इसी तरह का जो क्रोध है, उसका भी ग्रहण है तथा अतिमाया और च शब्द से अतिलोभ ये कषाय समूह संयम के शत्रु हैं, अतः विद्वान् मुनि संसार के कारण स्वरूप इन कषायों को जानकर तथा इनको त्यागकर मोक्ष का साधन करे । कषाय बने रहनेपर संयम अच्छी तरह से नहीं पाला जा सकता है, अत एव कहा है कि-

संयम पालन करते हुए जिस पुरुष के कषाय प्रबल हैं, उसका साधुपन ईख के फूल की तरह निष्फल है ।

अतः साधुपन के निष्फल होने पर मोक्ष होना संभव नहीं है, अत एव कहा है कि -

हे मृत्यो ! संसार से भागकर अन्यत्र न जाने देनेवाले राग आदि मेरे में विद्यमान हैं तथा समस्त जीव तृष्णारूपी बन्धन में बँधे हुए हैं, क्या तुम यह नहीं जानते हो ? अतः वृद्धतारूपी हाथ के द्वारा मेरे केशों को मत पकड़ो, इसे छोड़ दो । तुम जो मुझको अपने पास बुलाने के लिए आदर कर रहे हो, इसकी भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि तुम्हारे इस आदर के बिना क्या मैं तुम्हारे पास न आऊंगा?

अतः साधु को कषाय छोड़कर प्रशस्त भाव के साथ मोक्ष का अन्वेषण करना चाहिए ॥३४॥

संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं गिराकरे ।

उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं ण पत्थए

॥३५॥

छाया - सन्धयेत्साधु धर्मज्ञ, पापधर्मं गिराकुर्यात् । उपधानवीर्य्यो भिक्षुः, क्रोधं मानसं वर्जयेत् ॥

अन्वयार्थ - (भिक्खू साहुधम्मं च संधए) साधु क्षान्ति आदि धर्म की वृद्धि करे । (पावधम्मं गिराकरे) तथा पाप धर्म का त्याग करे । (उवहाणवीरिए) साधु तप करने में अपना पराक्रम प्रकट करे (कोहं माणं ण पत्थए) तथा क्रोध और मान न करे ।

भावार्थ - साधु, क्षान्ति आदि धर्म की वृद्धि करे और पापमय धर्म का त्याग करे । एवं तप में अपना पराक्रम प्रकट करता हुआ क्रोध मान की प्रार्थना न करे ।

टीका - साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याख्यो वा तम् “अनुसंधयेत्” वृद्धिमापादयेत्, तद्यथा - प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानं तथा शङ्कादिदोषपरिहारेण सम्यग्जीवादिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनम् अस्खलितमूलोत्तरगुणसंपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वाभिग्रहग्रहणेन (च) चारित्रं (च) वृद्धिमापादयेदिति, पाठान्तरं वा “सदहे साधुधम्मं च” पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं साधुधर्मं मोक्षमार्गत्वेन श्रद्धीत - निःशङ्कतया गृह्णीयात्, चशब्दात्सम्यग्गुणपालयेच्च,

1. श्रामण्यमनुचरतः कषाया यस्योत्कटा भवन्ति । मन्ये इक्षुपुष्पमिव निष्फलं तस्य श्रामण्यं ॥१॥

तथा पापं - पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्देन प्रवृत्तं निराकुर्यात्, तथोपधानं - तपस्तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः, तदेवंभूतो भिक्षुः क्रोधं मानं च न प्रार्थयेत् न वर्धयेद्वेति ॥३५॥

टीकार्थ - क्षान्ति आदि दश प्रकार का साधुओं का धर्म होता है । अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र, साधुओं का धर्म है । इस धर्म की बुद्धिमान् पुरुष वृद्धि करे । वह प्रतिक्षण नये - नये ज्ञानों को सीखकर ज्ञान की वृद्धि करे तथा शङ्का आदि दोषों को छोड़कर जीवादि पदार्थों को अच्छी तरह स्वीकार करके सम्यग्दर्शन की वृद्धि करे एवं अतिचार रहित मूलगुण और उत्तर गुणों को पूर्ण रूप से पालन करके तथा प्रतिदिन नये - नये अभिग्रहों को ग्रहण करके चारित्र की वृद्धि करे । कहीं - कहीं "सद्दे साधुधम्मं च" यह पाठ मिलता है । इसका अर्थ यह है कि - पूर्वोक्त विशेषणवाले धर्म को साधु मोक्षमार्ग माने और शङ्का छोड़कर उसे ग्रहण करे । तथा च शब्द से उस धर्म को अच्छी तरह पाले । जो धर्म प्राणियों की हिंसा से युक्त होने के कारण पाप का कारणरूप है उसका त्याग करे । तथा तपरूपी धर्म करने में पूरा जोर लगावे और क्रोध, मान को न बढ़ावे ॥३५॥



- अथैवंभूतं भावमार्गं किं वर्धमानस्वाम्येवोपदिष्टवान् उतान्येऽपीत्येतदाशङ्क्याह -

- इस प्रकार का जो भावमार्ग है, उसका उपदेश क्या अकेले भगवान् महावीर स्वामी ने ही किया है अथवा दूसरे तीर्थङ्करों ने भी ? यह शङ्का करके शास्त्रकार समाधान करते हैं -

जे य बुद्धा अतिक्रान्ता, जे य बुद्धा अणागया ।

सन्ति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा

॥३६॥

छाया - ये च बुद्धा अतिक्रान्ता ये च बुद्धा अणागताः । शान्तिस्तेषां प्रतिष्ठानं भूतानां जगती यथा ॥

अन्वयार्थ - (जे य बुद्धा अतिक्रान्ता) जो तीर्थङ्कर भूतकाल में हो चुके हैं (जे य बुद्धा अणागया) तथा जो भविष्यकाल में होंगे (तेसिं पइट्ठाणं) उनका आधार शान्ति ही है (जहा भूयाणं जगती) जैसे भूतों का आधार पृथिवी है ।

भावार्थ - जो तीर्थङ्कर भूतकाल में हो चुके हैं और जो भविष्यकाल में होंगे, उन सभी का शान्ति ही आधार है, जैसे समस्त प्राणियों का त्रिलोकी आधार है ।

टीका - ये बुद्धाः - तीर्थकृतोऽतीतेऽनादिके कालेऽनन्ताः समतिक्रान्ताः ते सर्वेऽप्येवंभूतं भावमार्गमुपन्यस्तवन्तः, तथा ये चानागता भविष्यदनन्तकालभाविनोऽनन्ता एव तेऽप्येवमेवोपन्यसिष्यन्ति, चशब्दाद्वर्तमानकालभाविनश्च संख्येया इति । न केवलमुपन्यस्तवन्तोऽनुष्ठितवन्तश्चेत्येतद्वर्णयति - शमनं शान्तिः- भावमार्गस्तेषामतीतानागतवर्तमान-कालभाविनां बुद्धानां प्रतिष्ठानम् - आधारो बुद्धत्वस्यान्यथानुपपत्तेः, यदिवा शान्तिः- मोक्षः स तेषां प्रतिष्ठानम्-आधारः, ततस्तदवासिश्च भावमार्गमन्तरेण न भवतीत्यतस्ते सर्वेऽप्येनं भावमार्गमुक्तवन्तोऽनुष्ठितवन्तश्च (इति) गम्यते। शान्तिप्रतिष्ठानत्वे - दृष्टान्तमाह - "भूतानां" स्थावरजङ्गमानां यथा "जगती" त्रिलोकी प्रतिष्ठानं एवं ते सर्वेऽपि बुद्धाः शान्तिप्रतिष्ठाना इति ॥३६॥

टीकार्थ - पूर्व के अनादिकाल में जो अनन्त तीर्थङ्कर हो चुके हैं, उन सभी ने भी इसी भावमार्ग का उपदेश किया है तथा आनेवाले अनन्त काल में जो अनन्त तीर्थङ्कर होंगे वे भी इसी भावमार्ग का उपदेश करेंगे । तथा च शब्द से वर्तमान काल में जो संख्यात तीर्थङ्कर हैं, वे भी इसी मार्ग का उपदेश करते हैं । उन लोगों ने इस भावमार्ग का उपदेश ही नहीं किया है किन्तु आचरण भी किया है, यह शास्त्रकार दिखलाते हैं - कषायों के नाश को शान्ति कहते हैं, वह भावमार्ग है । वह भावमार्ग ही अतीत, अनागत तथा वर्तमान तीर्थङ्करों का आधार है क्योंकि इसके बिना बुद्धता होती ही नहीं ! अथवा मोक्ष को शान्ति कहते हैं, वह मोक्ष सभी तीर्थङ्करों का आधार है परन्तु भावमार्ग के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए सभी तीर्थङ्करों ने भावमार्ग का उपदेश किया है और स्वयं ने आचरण भी किया है । तीर्थङ्करों का शान्ति ही आधार है, इस विषय में दृष्टान्त बताते हैं - जैसे जीवों का आधार तीन लोक है, इसी तरह तीर्थङ्करों का आधार शान्ति है ॥३६॥

- प्रतिपन्नभावमार्गेण च यद्विधेयं तद्वर्णयितुमाह -

- भावमार्ग को स्वीकार किये हुए साधु का कर्तव्य बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

अहं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे ।

ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी

॥३७॥

छाया - अथ वै व्रतमापन्नं स्पर्शा उच्चावचाः स्पृशेयुः । न तेषु विणिहव्याद् वातेनेव महागिरिः ॥

अन्वयार्थ - (अहं) इसके पश्चात् (वयमावन्नं) व्रतग्रहण किये हुए साधु को (उच्चावया फासा फुसे) नाना प्रकार के परीषह और उपसर्ग स्पर्श करें (तेसु ण विणिहण्णेज्जा) तो साधु उनसे डिगे नहीं । (वाएण व महागिरी) जैसे वायु से महान् पर्वत नहीं डिगता है ।

भावार्थ - व्रत ग्रहण किये हुए साधु को यदि नाना प्रकार के परीषह और उपसर्ग स्पर्श करें तो साधु अपने संयम से विचलित न हो जैसे पवन से महान् पर्वत डिगता नहीं है ।

टीका - “अथ” भावमार्गप्रतिपत्त्यनन्तरं साधुं प्रतिपन्नव्रतं सन्तं स्पर्शाः - परीषहोपसर्गरूपाः “उच्चावचा” गुरुलघवो नानारूपा वा “स्पृशेयुः” अभिद्रवेयुः, स च साधुस्तैरभिद्रुतः संसारस्वभावमपेक्षमाणः कर्मनिर्जरां च न तैरनुकूलप्रतिकूलैर्विहन्त्यात्, नैव संयमानुष्ठानान्मनागपि विचलेत्, किमिव ?, महावातेनेव महागिरिः - मेरुरिति । परीषहोपसर्गजयश्चाभ्यासक्रमेण विधेयः, अभ्यासवशेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति, अत्र च दृष्टान्तः, तद्यथा- कश्चिद्रोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिकं नयत्यानयति च, ततोऽसावनेनैव च क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपति, एवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परिषहोपसर्गजयं विधत्त इति ॥३७॥

टीकार्थ - भावमार्ग स्वीकार करने के पश्चात् व्रतधारी साधु को नाना प्रकार के छोटे और बड़े परीषह तथा उपसर्गों की बाधा हो तो वह संसार का स्वभाव और कर्म की निर्जरा का विचार कर सहन करे । वह अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के द्वारा संयम के अनुष्ठान से थोड़ा भी विचलित न हो, किसके समान ? जैसे महान् वायु से मेरु पर्वत विचलित नहीं होता है । साधु क्रमशः अभ्यास करके परीषह और उपसर्गों को जीते क्योंकि दुष्कर कार्य भी अभ्यास से सुकर हो जाता है । इस विषय में यह द्रष्टान्त है - कोई गोप (ग्वाला) उसी दिन जन्मे हुए गाय के बच्चे को अपने हाथों से उठाकर गाय के पास ले जाता है और फिर ले आता है । इसी तरह वह रोज - रोज उस बछड़े को यदि गाय के पास हाथों से ले जाने और ले आने का अभ्यास बराबर जारी रखता है तो दो वर्ष तथा तीन वर्ष का होने पर भी उस बछड़े को वह ऊपर उठा लेता है, इसी तरह साधु भी अभ्यास करता हुआ धीरे - धीरे परीषह और उपसर्गों को जीत लेता है ॥३७॥



- साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुरुक्तशेषमधिकृत्याह-

- अब शास्त्रकार इस अध्ययन को समाप्त करने के लिए शेष बात बताते हैं -

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।

निव्वुडे कालमाकंखी, एवं (यं) केवलिणो मयं

॥३८॥

त्ति बेमि ॥ इति मोक्षमार्गनामकं एकादशमध्ययनं समाप्तम् (गाथाग्रम्-५४६)

छाया - संवृतः स महाप्राज्ञः, धीरो दत्तेषणां चरेत् । निर्वृतः कालमाकाङ्क्षेदेवं केवलिणो मतम् ॥

अन्वयार्थ - (संवुडे महापन्ने धीरे से) आश्रवद्वारों को निरोध किया हुआ महाबुद्धिमान् धीर वह साधु (दत्तेसणं चरे) दूसरे से दिया हुआ एषणीय आहार ही ग्रहण करे (निव्वुडे कालमाकंखी) तथा शान्त रहकर काल की इच्छा करे । (एवं केवलिणो मयं) यही केवली का मत

हे ।

भावार्थ - आश्रवद्वारों का निरोध किया हुआ महा बुद्धिमान्, धीर, वह साधु दूसरे से दिया हुआ ही आहार आदि ग्रहण करे । तथा शान्त रहकर मरणकाल की इच्छा करे, यही केवली का मत है ।

टीका - स साधुः एवं संवृताश्रवद्वारतया संवरसंवृतो महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञः - सम्यग्दर्शनज्ञानवान्, तथा धीः - बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा स एवंभूतः सन् परेण दत्ते सत्याहारादिके एषणां चरेत्त्रिविधयाप्येषणया युक्तः सन् संयममनुपालयेत्, तथा निर्वृत इव निर्वृतः कषायोपशमाच्छीतीभूतः "कालं" मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत् "एतत्" यत् मया प्राक् प्रतिपादितं तत् "केवलिनः" सर्वज्ञस्य तीर्थकृतो मतं । एतच्च जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य सुधर्मस्वाम्याह । तदेतद्यत्त्वया मार्गस्वरूपं प्रश्रितं तन्मया न स्वमनीषिकया कथितं, किं तर्हि ?, केवलिनो मतमेतदित्येवं भवता ग्राह्यं । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

॥ इति मार्गारख्यमेकादशमध्ययनं समाप्तम् ॥

टीकार्थ - इस प्रकार आश्रवद्वारों को रोककर संवरयुक्त, सम्यग्दर्शन और ज्ञान से सम्पन्न, बुद्धि से शोभा पानेवाला अथवा परीषह और उपसर्गों से न घबरानेवाला वह साधु दूसरे के द्वारा दिया हुआ ही आहार ग्रहण करे। वह तीनों प्रकार की एषणाओं से युक्त होकर संयम का पालन करे । एवं कषायों के शान्त हो जाने से मुक्त पुरुष की तरह शान्त वह मुनि, मृत्युकाल की इच्छा करे । यह जो मैंने पहले कहा है, यही केवली का मत है । यह श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि - आपने जो मेरे से मार्ग का स्वरूप पूछा था, उसका उत्तर मैंने अपने मन से नहीं दिया किन्तु केवली का मत कहा है, यह तुम जानना ।

इति शब्द समाप्ति अर्थ में है ब्रवीमि पूर्ववत् है ॥ ३८

यह मार्गनामक ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।



॥अथ द्वादशं श्रीसमवसरणाध्ययनं प्रारभ्यते ॥



उक्तमेकादशमध्ययनं, साम्प्रतं द्वादशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः - इहानन्तराध्ययने मार्गोऽभिहितः, स च कुमार्गव्युदासेन सम्यग्मार्गतां प्रतिपद्यते, अतः कुमार्गव्युदासं चिकीर्षुणा तत्स्वरूपमवगन्तव्यमित्यतस्तत्स्वरूपनिरूपणार्थमिदमध्ययनमायातम्, अस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा - कुमार्गाभिधायिनां क्रियाऽक्रियाऽज्ञानिकवैनयिकानां चत्वारि समवसरणानीह प्रतिपाद्यन्ते, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे समवसरणमित्येतन्नाम तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह -

ग्यारहवाँ अध्ययन कहा गया, अब बारहवाँ आरम्भ किया जाता है । इसका सम्बन्ध यह है - ग्यारहवें अध्ययन में मार्ग कहा गया है, परन्तु कुमार्ग छोड़ने से सम्यग् मार्ग प्राप्त होता है अतः कुमार्ग छोड़ने की इच्छा करनेवाले को कुमार्ग के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । अतः कुमार्ग का स्वरूप बताने के लिए इस अध्ययन का आरम्भ किया जाता है । इसके उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार हैं, उसमें उपक्रम में अर्थाधिकार यह है - इस अध्ययन में कुमार्ग की प्ररूपणा करनेवाले क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के चार समवसरण बताये जाते हैं । नाम निक्षेप में इस अध्ययन का समवसरण नाम है, उसका निक्षेप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

समवसरणेऽपि छक्कं सच्चित्ताचित्तमीसगं दव्ये । खेतंमि जंमि खेतं काले जं जंमि कालंमि ॥११६॥ नि०।
भावसमोसरणं पुण णायव्वं छव्विहंमि भावंमि । अहवा किरिय अकिरिया अज्जाणी चेव वेणइया ॥११७॥ नि०।
अत्थित्ति किरियादी वयंति णत्थि अकिरियादी य । अज्जाणी अज्जाणं विणइता वेणइयादी ॥११८॥ नि०।

टीका - समवसरणमिति “सु गता” वित्येतस्य धातोः समवोपसर्गपूर्वस्य ल्युङन्तस्य रूपं, सम्यग् - एकीभावेनावसरणम् एकत्र गमनं मेलापकः समवसरणं तस्मिन्नपि, न केवलं समाधौ, षड्विधो नामादिको निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविषयं पुनः समवसरणं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिविधं, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात्त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां साधुप्रभृतीनां तीर्थकृज्जन्मनिष्क्रमणप्रदेशादौ मेलापकः, चतुष्पदानां गवादीनां निपानप्रदेशादौ, अपदानां तु वृक्षादीनां स्वतो नास्ति समवसरणं, विवक्षया तु काननादौ भवत्यपि, अचित्तानां तु द्रव्यणुकाद्यभ्रादीनां तथा मिश्राणां सेनादीनां समवसरणसद्भावोऽवगन्तव्य इति । क्षेत्रसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते वा समवसरणं यत्र तत्क्षेत्रप्राधान्यादेवमुच्यते । एवं कालसमवसरणमपि द्रष्टव्यमिति ॥११६॥

इदानीं भावसमवसरणमधिकृत्याह - भावानाम्-औदयिकादीनां समवसरणम् - एकत्र मेलापको भावसमवसरणं, तत्रौदयिको भाव एकविंशतिभेदः, तद्यथा - गतिश्चतुर्धा कषायाश्चतुर्विधाः एवं लिङ्गं त्रिविधं, मिथ्यात्वाज्ञानासंयतत्वासिद्धत्वादि प्रत्येकमेकैकविधानि, लेश्याः कृष्णादिभेदेन षड्विधा भवन्ति । औपशमिको द्विविधः सम्यक्त्वचारित्रोपशमभेदात् । क्षायोपशमिकोऽप्यष्टादशभेदभिन्नः, तद्यथा - ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायभेदाच्चतुर्धा अज्ञानं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभक्तभेदात्त्रिविधं, दर्शनं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात्त्रिविधमेव, लब्धिर्दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा, सम्यक्त्वचारित्रिसंयमासंयमाः प्रत्येकमेकप्रकारा इति । क्षायिको नवप्रकारः, तद्यथा - केवलज्ञानं केवलदर्शनं दानादिलब्धयः पञ्च, सम्यक्त्वं चारित्रं चेति । जीवत्व-भव्यत्वाभव्यत्वादिभेदात्पारिणामिकस्त्रिविधः । सात्रिपातिकस्तु द्वित्रिचतुष्पञ्चकसंयोगैर्भवति, तत्र द्विकसंयोगः सिद्धस्य क्षायिकपारिणामिकभावद्वयसद्भावादवगन्तव्यः, त्रिकसंयोगस्तु मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्ट्यविरतविरतानामौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिक-भावसद्भावादवगन्तव्यः, तथा भवस्थकेवलिनोऽप्यौदयिकक्षायिकपारिणामिकभावसद्भावाद्विज्ञेय इति, चतुष्कसंयोगोऽपि क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावात्, तथौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामौदयि-

कौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावाच्चेति, पञ्चकसंयोगस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुपशमश्रेण्यां समस्तोपशान्तचारित्रिमोहानां भावपञ्चकसद्भावाद्विज्ञेय इति, तदेवं भावानां द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगात्संभविनः सान्निपातिकभेदाः षड् भवन्ति, एत एव त्रिकसंयोगचतुष्कसंयोगगतिभेदात्पञ्चदशधा प्रदेशान्तरेऽभिहिता इति । तदेवं षड्विधे भावे भावसमवसरणं - भावमीलनमभिहितम्, अथवा अन्यथा भावसमवसरणं निर्युक्तिकृदेव दर्शयति - क्रियां - जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, एतद्विपर्यस्ता अक्रियावादिनः, तथा अज्ञानिनो ज्ञाननिहववादिनः तथा “वैनयिका” विनयेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा वैनयिकाः, एषां चतुर्णामपि सप्रभेदानामाक्षेपं कृत्वा यत्र विक्षेपः क्रियते तद्भावसमवसरणमिति, एतच्च स्वयमेव निर्युक्तिकारोऽन्त्यागाथया कथयिष्यति । साम्प्रतमेतेषामेवाभिधानान्वर्थतादर्शनद्वारेण स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह - जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारण-क्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनः, ते चैवंवादित्वान्मिथ्यादृष्टयः, तथाहि - यदि जीवोऽस्त्येवे (वेऽस्तित्वमेवे) त्येवमभ्युपगम्यते, ततः सावधारणत्वात् कथञ्चिन्नास्तीत्यतः स्वरूपसत्तावत्पररूपापत्तिरपि स्याद्, एवं च नानेकं जगत् स्यात्, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवंवादिनोऽक्रियावादिनः, तेऽप्यसद्भूतार्थ-प्रतिपादनान्मिथ्यादृष्टय एव, तथाहि - एकान्तेन जीवास्तित्वप्रतिषेधे कर्तुरभावात्तास्तीत्येतस्यापि प्रतिषेधस्याभावः, तदभावाच्च सर्वास्तित्वमनिवारितमिति । तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन्ति, एतेऽपि मिथ्यादृष्टय एव, तथाहि - अज्ञानमेव श्रेय इत्येतदपि न ज्ञानमृते भणितुं पार्यते, तदभिधानाच्चावश्यं ज्ञानमभ्युपगतं तैरिति । तथा वैनयिका विनयादेवं केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्तो मिथ्यादृष्टयो, यतो न ज्ञानक्रियाभ्यामन्तरेण मोक्षावाप्तिरिति । एषां च क्रियावाद्यादीनां स्वरूपं तन्निराकरणं चाचारटीकायां विस्तरेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ॥११७-११८॥ साम्प्रतमेतेषां भेदसंख्यानिरूपणार्थमाह -

असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीती । अन्नाणिय सत्तडी वेणइयाणं च बत्तीसा ॥११९॥ नि० ।
तेसि मताणुमणं पन्नयणा वणिग्या इहऽज्झयणे । सव्वावणिच्छयत्थं समोसरणमाहु तेणं तु ॥१२०॥ नि० ।
सम्मदिट्ठी किरियावादी मिच्छा य सेसगा दाई । जहिऊण मिच्छवायं से यह वायं इमं सच्चं ॥१२१॥ नि० ।

क्रियावादिनामशीत्यधिकं शतं भवति, तच्चानया प्रक्रियया, तद्यथा - जीवादयो नव पदार्थाः परिपाट्या स्थाप्यन्ते, तदधः स्वतः परत इति भेदद्वयं, ततोऽप्यधो नित्यानित्यभेदद्वयं, ततोऽप्यधस्तात्परिपाट्या कालस्वभावनियती-श्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते, ततश्चैवं चारणिकाप्रक्रमः, तद्यथा - अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः, तथाऽस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालत एव, एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयं, सर्वेऽपि च चत्वारः कालेन लब्धाः, एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते, ततश्च पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति, साऽपि जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते, ततश्च नव विंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं भवतीति । इदानीमक्रियावादिनां न सन्त्येव जीवादयः पदार्था इत्येवमभ्युपगमवतामनेनोपायेन चतुरशीतिरवगन्तव्या, तद्यथा - जीवादीन् पदार्थान् सप्ताभिलिख्य तदधः स्वपरभेदद्वयं व्यवस्थाप्यं, ततोऽप्यधः कालयदृच्छानियति-स्वभावेश्वरात्मपदानि षड् व्यवस्थाप्यानि, भङ्गकानयनोपायस्त्वयं- नास्ति जीवः स्वतः कालतः, तथा नास्ति जीवः परतः कालतः, एवं यदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः प्रत्येकं द्वौ-द्वौ भङ्गकौ लभ्येते, सर्वेऽपि द्वादश, तेऽपि च जीवादिपदार्थसप्तकेन गुणिताश्चतुरशीतिरिति, तथा चोक्तम्-

“कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः । नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः ॥११॥”

साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छतां ज्ञानं तु सदपि निष्फलं बहुदोषवच्चेत्येवमभ्युपगमवतां सप्तषष्टिरनेनोपायेनावगन्तव्या - जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् परिपाट्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी सप्त भङ्गकाः संस्थाप्याः-सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्यं, सदवक्तव्यं, असदवक्तव्यं, सदसदवक्तव्यमिति, अभिलापस्त्वयं - सन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ! १, असन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? २, सदसन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ! ३, अवक्तव्यो जीवः को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ४, सदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ५, असदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ६, सदसदवक्तव्यो जीवः

को वेत्ति? किं वा ज्ञातेन ? ७, एवमजीवादिष्वपि सप्त भङ्गकाः, सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टिः, तथाऽपरेऽमी चत्वारो भङ्गकाः, तद्यथा - सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? १, असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया? २, सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया ? ३, अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया? ४, सर्वेऽपि सप्तषष्टिरिति, उत्तरं भङ्गकत्रयमुत्पन्नभावावयवापेक्षमिह भावोत्पत्तौ न संभवतीति नोपन्यस्तम्, उक्तं च -

“अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् । भावोत्पत्तिः सदसद् द्वेधाऽवाच्या च को वेत्ति? ॥१॥”

इदानीं वैनयिकानां विनयादेव केवलात्परलोकमपीच्छतां द्वात्रिंशदनेन प्रक्रमेण योज्याः, तद्यथा - सुरुप-
तियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु मनसा वाचा कायेन दानेन (च) चतुर्विधो विनयो विधेयः, सर्वेऽप्यष्टौ चतुष्कका
मिलिता द्वात्रिंशदिति, उक्तं च -

“वैनयिकमतं विनयधेतीवाङ्मायदानतः कार्यः । सुरुपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ॥१॥”

सर्वेऽप्येते क्रियाऽक्रियाऽज्ञानिवैनयिकवादिभेदा एकीकृतास्त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकमतशतानि भवन्ति।
तदेवं वादिनां मतभेदसंख्यां प्रदर्शयधुना तेषामध्ययनोपयोगित्वं दर्शयितुमाह - “तेषां” पूर्वोक्तवादिनां मतम् -
अभिप्रायस्तेन यदनुमतं - पक्षीकृतं तेन पक्षीकृतेन पक्षीकृताश्रयणेन “प्रज्ञापना” प्ररूपणा “वर्णिता” प्रतिपादिता
“इह” अस्मिन्नध्ययने गणधरैः, किमर्थमिति दर्शयति - तेषां यः सद्भावः - परमार्थस्तस्य निश्चयो - निर्णयस्तदर्थं,
तेनैव कारणेनेदमध्ययनं समवसरणाख्यमाहुर्गणधराः, तथाहि-वादिनां सम्यगवसरणं-मेलापकस्तन्मतनिश्चयार्थमस्मिन्नध्ययने
क्रियत इत्यतः समवसरणाख्यमिदमध्ययनं कृतमिति ॥ इदानीमेतेषां सम्यगमिथ्यात्ववादित्वं विभागेन यथा भवति तथा
दर्शयितुमाह - सम्यग् - अविपरीता दृष्टिः दर्शनं पदार्थपरिच्छित्तिर्यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, कोऽसावित्याह- क्रियाम् -
अस्तीत्येवंभूतां वदितुं शीलमस्येति क्रियावादी, अत्र च क्रियावादीत्येतद् “अत्थिति किरियवादी” त्यनेन प्राक्
प्रसाधितं समनूद्य [निरवधारणतया] सम्यग्दृष्टित्वं विधीयते, तस्यासिद्धत्वादिति, तथाहि - अस्ति लोकालोकविभागः,
अस्त्यात्मा अस्ति पुण्यपापविभागः, अस्ति तत्फलं स्वर्गनरकावासिलक्षणं, अस्ति कालः कारणत्वेनाशेषस्य जगतः
प्रभववृद्धिस्थितिविनाशेषु साध्येषु तथा शीतोष्णवर्षवनस्पतिपुष्पफलादिषु चेति, तथा चोक्तम् - “कालः पचति
भूतानी” त्यादि, तथाऽस्ति स्वभावोऽपि कारणत्वेनाशेषस्य जगतः, स्वो भावः स्वभाव इतिकृत्वा, तेन हि
जीवाजीवभव्यत्वाभव्यत्वमूर्तत्वामूर्तत्वानां स्वस्वरूपानुविधानात् तथा धर्माधर्माकाशकालादीनां च गतिस्थित्यवगाहपरत्वा-
दिस्वरूपापादनादिति, तथा चोक्तम् - “कः कण्टकाना” मित्यादि । तथा नियतिरपि कारणत्वेनाश्रीयते, तथा - तथा
पदार्थानां नियतत्वात्, तथा चोक्तम् - “प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेणे” त्यादि । तथा पुराकृतं, तच्च शुभाशुभमिष्टानिष्टफलं
कारणं, तथा चोक्तम् -

“यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिहोपतिष्ठते ।

तथा तथा पूर्वकृतानुसारिणी, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥१॥”

तथा

“स्वकर्मणा युक्त एव, सर्वा ह्युत्पद्यते जनः । स तथाऽऽकृष्यते तेन, न यथा स्वयमिच्छति ॥१॥”

इत्यादि । तथा पुरुषकारोऽपि कारणं, यस्मान्न पुरुषकारमन्तरेण किञ्चित्सिध्यति, तथा चोक्तम् -

“न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मनः । अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलैभ्यः प्राप्तुमर्हति ! ॥१॥”

तथा -

“उद्यमाच्चारुचित्राङ्गि !, नरो मद्राणि पश्यति । उद्यमात्कृमिकीटोऽपि, भिनत्ति महतो द्रुमान् ॥२॥”

तदेवं सर्वानपि कालादीन् कारणत्वेनाभ्युपगच्छन् तथाऽऽत्मपुण्यपापपरलोकादिकं चेच्छन् क्रियावादी
सम्यग्दृष्टित्वेनाभ्युपगन्तव्यः । शेषकास्तु वादा अक्रियावादाज्ञानवादवैनयिकवादा मिथ्यावादा इत्येवं द्रष्टव्याः,

तथाहि- अक्रियावाद्यत्यन्तनास्तिकोऽध्यक्षसिद्धं जीवाजीवादिपदार्थजातमपहनुवन् मिथ्यादृष्टिरेव भवति, अज्ञानवादी तु सति मत्यादिके हेयोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चकेऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन् कथं नोन्मत्तः स्यात् ? , तथा विनयवाद्यपि विनयादेव केवलात् ज्ञानक्रियासाध्यां सिद्धिमिच्छन्नपकर्णयितव्यः, तदेवं विपरीतार्थाभिधायितयैते मिथ्यादृष्टयोऽवगन्तव्याः। ननु च क्रियावाद्यप्यशीत्युत्तरशतभेदोऽपि तत्र - तत्र प्रदेशे कालादीनभ्युपगच्छन्नेव मिथ्यावादित्वेनोपन्यस्तः तत्कथमिह सम्यग्दृष्टित्वेनोच्यते इति, उच्यते, स तत्रास्त्येव जीव इत्येवं सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन् काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणं तथा स्वभाव एव नियतिरेव पूर्वकृतमेव पुरुषकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वं, तथाहि - अस्त्येव जीव इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्यात् यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्, अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितं, तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति । ननु च कथं कालादीनां प्रत्येकं निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः ? , न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदायेऽपि भवितुमर्हति, सिकतातैलवत्, नैतदस्ति, प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानापि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति यत्किञ्चिदेतत्, तथा चोक्तम्-

“कालो सहाव गियई पुव्वकयं पुरिस कारणंता ।

मिच्छतं ते चेव उ समासओ होंति संमत्तं ॥१॥

सव्वेवि य कालाई इह समुदायेण साहगा भणिया ।

जुज्जंति य एमेव य सम्मं सव्वत्स कज्जत्स ॥२॥

न हि कालादीहितो केवलएहिं तु जायए किंचि ।

इह मुग्गरंधणादिवि ता सव्वे समुदिता हेऊ ॥३॥

जह नेमलक्खणगुणा वेरुलियादी मणी विसंजुत्ता ।

रयणावलिववत्सं ण लहंति महग्धमुल्लावि ॥४॥

तह गिययवादसुविणिच्छियावि अण्णोऽण्णपक्खनिरवेक्खा ।

सम्मदंसणसहं सव्वेऽवि णया ण पावेंति ॥५॥

जह पुण ते चेव मणी जहा गुणविसेसमागपडिबद्धा ।

रयणावलित्ति मण्णइ चयंति पाडिक्खण्णाओ ॥६॥

तह सव्वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।

सम्मदंसणसहं लभंति ण विसेससण्णाओ ॥७॥

तमहा मिच्छदिट्ठी सव्वेवि णया सपक्खपडिबद्धा ।

अण्णाण्णनिरिसया पुण हवंति सम्मत्त सव्भावा ॥८॥

यत एवं तस्मात्त्यक्त्वा मिथ्यात्ववादं - कालादिप्रत्येकैकान्तकारणरूपं “सेवध्वम्” अङ्गीकुरुध्वं “सम्यग्वादं” परस्परसव्यपेक्षकालादिकारणरूपम् “इम” मिति मयोक्तं प्रत्यक्षासन्नं “सत्यम्” अवितथमिति ॥११९-१२१॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम् -

टीकार्थ - सम् अव पूर्वक “सृ गतौ” धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर समवसरण शब्द बना है । एक स्थान में इकट्ठे होना समवसरण शब्द का अर्थ है । उस समवसरण में भी (केवल समाधि में ही नहीं) नाम आदि छः

1. कालः स्वभावो नियतिः पूर्वकृतं पुरुषकारः कारणं एकान्तात् मिथ्यात्वं समासतो भवन्ति सम्यक्त्वं ॥१॥ 2. सर्वेऽपि च कालादय इह समुदायेन साधका भणिताः । युज्यते च एवमेव सम्यक् सर्वस्य कार्यस्य ॥२॥ नैव कालादिभिः केवलैस्तु जायते किञ्चित् । इह मुद्गरन्धनाद्यपि तत्सर्वेऽपि समुदिता हेतवः ॥३॥ यथानेकलक्षणगुणा वैडूर्यादयो मणयो विसंयुताः । रत्नावलीव्यपदेशं न लभन्ते महार्घमूल्या अपि ॥४॥ तथा निजकवादसुविनिश्चिता अपि अन्योऽन्यपक्षनिरपेक्षाः सम्यग्दर्शनशब्दं सर्वेऽपि नया न प्राप्नुवन्ति ॥५॥ यथा पुनस्ते चैव मणयो यथा गुणविशेषभागप्रतिबद्धाः । रत्नावलीति भण्यन्ते त्यजन्ति प्रत्येकसंज्ञाः ॥६॥ तथा सर्वेऽपि नयवादा यथानुरूपविनियुक्तवत्तव्याः । सम्यग्दर्शनशब्दं लभन्ते न विशेषसंज्ञाः ॥७॥ तस्मान्मिथ्यादृष्टयः सर्वेऽपि नयाः स्वपक्षप्रतिबद्धाः । अन्योऽन्यनिश्चिताः पुनर्भवन्ति सम्यक्त्वं सद्भावात् ॥८॥

प्रकार के निक्षेप होते हैं। इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं, इसलिए इन्हें छोड़कर द्रव्य निक्षेप कहा जाता है - द्रव्य के विषय में समवसरण नोआगम से ज़शरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त सचित्त, अचित्त और मिश्रभेद से तीन प्रकार का है। सचित्त भी द्विपद, चतुष्पद और अपद भेद से तीन प्रकार का ही है। इनमें तीर्थङ्कर, का जन्म तथा दीक्षा के स्थान आदि में साधु आदि का इकट्ठा होना द्विपदसमवसरण कहलाता है। चतुष्पद गाय, भैंस आदि पशु जलाशय आदि प्रदेशों में जो इकट्ठे होते हैं, उसे चतुष्पदसमवसरण कहते हैं। पैर रहित वृक्ष आदि का स्वतः समवसरण नहीं होता है परन्तु जङ्गल आदि में विवक्षा से होता है, अतः उसे अपद समवसरण कहते हैं। इसी तरह अचित्त द्व्यणुक आदि का और मेघ आदि का तथा मिश्रों में सेना आदि का समवसरण समझना चाहिए। क्षेत्रसमवसरण वस्तुतः नहीं होता है परन्तु विवक्षावश जिस स्थान में द्विपद आदि इकट्ठे होते हैं अथवा जहां समवसरण की व्याख्या की जाती है, उसे क्षेत्र की प्रधानता के कारण क्षेत्रसमवसरण कहते हैं। इस तरह कालसमवसरण समझना चाहिए ॥११६॥

अब भावसमवसरण के विषय में कहते हैं - औदयिक आदि भावों का इकट्ठा होना भावसमवसरण कहलाता है। इनमें औदयिकभाव इक्कीस प्रकार का होता है। जैसे कि - चार प्रकार की गति, चार प्रकार के कषाय, तीन प्रकार का लिङ्ग, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयतत्व, और असिद्धत्व तथा छः प्रकार की कृष्णादि लेश्यायें, कुल इक्कीस हुए। एवं औपशमिक भाव, सम्यक्त्व और चारित्रोपशम भेद से दो प्रकार का है। क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकार का है, जैसे कि - मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय भेद से चार प्रकार का ज्ञान और मत्त्वज्ञान, श्रुताज्ञान और विभङ्ग भेद से तीन प्रकार का अज्ञान तथा चक्षु, अचक्षु, और अवधि भेद से तीन प्रकार का दर्शन, एवं दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य भेद से पाँच प्रकार की लब्धि, तथा एक प्रकार का सम्यक्त्व चारित्र और संयमासंयम, ये कुल १८ क्षायोपशमिक भाव हैं। तथा क्षायिकभाव नव प्रकार का है जैसे कि - केवलज्ञान, केवलदर्शन, पाँच दान आदि लब्धियाँ और सम्यक्त्व तथा चारित्र। ये कुल नव हैं। तथा जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्व आदि भेद से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है। सान्निपातिक भाव, दो, तीन, चार और पाँच के संयोग से होता है। इनमें सिद्ध पुरुषों में क्षायिक और पारिणामिक दो भावों के होने से दो का संयोग जानना चाहिए। तथा तीन का संयोग, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और विरताविरत गुणस्थानवालों में, औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों के संयोग से है तथा भवस्थ केवली में भी औदयिक, क्षायिक, और पारिणामिक भेद से तीन का संयोग है। एवं क्षायिकसम्यग्दृष्टियों में औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों के संयोग होने से चार का संयोग है। तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव होने से चार भावों का संयोग है। एवं उपशम श्रेणि में जिनका समस्त चारित्रमोह शान्त हो गया है ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में पाँच भावों के सद्भाव होने से पाँच भावों का संयोग समझना चाहिए। इस प्रकार भावों के दो, तीन, चार या पाँच के संयोग से होनेवाले सान्निपातिक भेद छः प्रकार के होते हैं। ये ही त्रिकसंयोग और चतुष्कसंयोग से दूसरे स्थल में पन्द्रह प्रकार के कहे गये हैं। इस प्रकार छः प्रकार के भावों में भाव का समवसरण कहा गया है। अथवा निर्युक्तिकार दूसरी तरह से भावसमवसरण दिखाते हैं - “जीवादि पदार्थ हैं” यह जो कहते हैं वे क्रियावादी हैं तथा जो इनसे विपरीत हैं, वे अक्रियावादी हैं। जो ज्ञान को नहीं मानते हैं वे अज्ञानवादी हैं तथा जो विनय से मोक्ष मानते हैं, वे विनयवादी हैं। भेद सहित इन चारों मतों की भूल बताकर जिस सुमार्ग में इन्हें स्थापन किया जाता है, वह भावसमवसरण है। यह बात स्वयं निर्युक्तिकार अन्त की गाथा में कहेंगे।

अब इन लोगों के नाम का अर्थ बताकर निर्युक्तिकार इनका स्वरूप बताते हैं - “जीव आदि पदार्थ हैं ही, इस प्रकार जो एकान्तरूप से जीवादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करता है, उसे क्रियावादी कहते हैं। ये, एकान्तरूप से जीवादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करने के कारण मिथ्यादृष्टि हैं। यदि जीव का एकान्त रूप से अस्तित्व स्वीकार किया जाय तो वह सब प्रकार से है, यही कहा जा सकता है परन्तु वह किसी प्रकार से नहीं भी है, यह नहीं कहा जा सकता ऐसी दशा में जीव जैसे अपने स्वरूप से सत् है, उसी तरह वह दूसरे स्वरूप से भी सत् होने लगेगा (अर्थात् जीव जीवरूप से सत् है परन्तु घटपटादि रूप से सत् नहीं किन्तु असत् है, अत एव घटपटादि पदार्थों के साथ जीव का भेद है परन्तु सब प्रकार से जीव को सत् मानने पर वह घट

रूप से भी सत् होगा, ऐसी दशा में घट आदि के साथ जीव का कोई भेद नहीं रह सकता है) और ऐसा होने से जगत् के समस्त पदार्थ एक हो जायेंगे, उनमें कोई भेद न होने से अनेक प्रकार का जगत् हो नहीं सकता परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है और यह इष्ट भी नहीं है, इसलिए यह मत ठीक नहीं है। तथा जीवादि पदार्थ सर्वथा नहीं हैं, यह जो कहते हैं, वे अक्रियावादी कहे जाते हैं। ये भी मिथ्या अर्थ कहने के कारण मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि एकान्त रूप से जीव का प्रतिषेध किया जाय तो कोई कर्त्ता न होने से “जीव नहीं हैं” यह प्रतिषेध भी नहीं किया जा सकता और “जीव नहीं हैं” इस प्रतिषेध के न होने से जीवादि सभी पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ज्ञान के अभाव को अज्ञान कहते हैं, वह जिसमें विद्यमान है, उसे अज्ञानी कहते हैं। अज्ञानी कहते हैं कि - अज्ञान ही कल्याण का मार्ग है। ये भी मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि ज्ञान के बिना “अज्ञान ही श्रेष्ठ है” यह भी नहीं कहा जा सकता परन्तु वे लोग ऐसा कहते हैं, इसलिए अज्ञानवादियों ने अवश्य ज्ञान को स्वीकार कर लिया। तथा जो केवल विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष पाने की इच्छा करते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि-ज्ञान और क्रिया के बिना मोक्ष नहीं होता। इन क्रियावादी आदि का स्वरूप बताकर उसका खण्डन आचाराङ्ग सूत्र की टीका में विस्तार के साथ किया है, इसलिए यहां नहीं कहा जाता ॥११७-११८॥

अब इन मिथ्यादृष्टियों की भेदसंख्या बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

क्रियावादियों के १८० भेद हैं, वह इस रीति से समझना चाहिए - जीव आदि पदार्थों को क्रमशः स्थापन करके उनके नीचे “स्वतः और परतः” ये दो भेद रखने चाहिए और उनके नीचे भी नित्य और अनित्य दो भेद स्थापन करने चाहिए। उसके नीचे भी क्रमशः काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा ये पांच पद स्थापन करने चाहिए।^१ इसके पश्चात् इनका संचार इस प्रकार करना चाहिए, जैसे कि - १. जीव अपने आप विद्यमान है २. जीव दूसरे से उत्पन्न होता है ३. जीव नित्य है ४. जीव अनित्य है। इन चारों भेदों को काल आदि के साथ लेने से २० भेद होते हैं। जैसे कि - १. जीव काल से है अर्थात् वह काल पाकर होता है। २. जीव कालपाकर दूसरे से या अपने से होता है। ३. जीव चेतन गुण से सदा नित्य है। ४. जीव की बुद्धि, काल पाकर घटती बढ़ती रहती है, इसलिए वह अनित्य है। ५. जीव स्वभाव से है। ६. जीव स्वभाव से रहता हुआ अपने से अथवा दूसरे से प्रकट होता है। ७. जीव स्वभाव से स्वयं कायम रहने के कारण नित्य है। ८. जीव स्वभाव से मृत्यु को प्राप्त होने से अनित्य है। इसी तरह नियति के विषय में जानना चाहिए। नियति का अर्थ यह है कि - जो होनहार होता है, वही होता है। ९. जीव होनेवाला होता है तो हजारों उत्पन्न होकर स्वयं होता है। १०. जीव होनेवाला होता है तो दूसरे कारणों के मिलने से उत्पन्न होता है। ११. जीव होनेवाला होता है तो उत्पन्न होकर सदा कायम रहता है। १२. जीव होनहार होता है तो उत्पन्न होकर मरता है, इसलिए अनित्य है। १३. जीव ईश्वर से उत्पन्न होता है। १४. जीव ईश्वर से किया हुआ अपने निमित्तों से उत्पन्न होता है। १५. जीव ईश्वर से किया हुआ नित्य है। १६. जीव ईश्वर से किया हुआ अनित्य है। १७. जीव अपने रूप में स्वयं उत्पन्न होता है। १८. जीव अपने रूप में दूसरे से उत्पन्न होता है। १९. जीव अपने रूप से नित्य है। २०. जीव अपने रूप से अनित्य है। इस प्रकार जीव के विषय में २० भङ्ग होते हैं, इसी तरह अजीव आदि आठ पदार्थों में भी प्रत्येक में बीस-बीस भङ्ग होते हैं इसलिए नव बीस मिलकर क्रियावादियों की १८० संख्या होती है।

१. काल लोक में प्रसिद्ध है क्योंकि ऋतु में ही फल पैदा होता है। माली चाहे सौगुना सींचे परन्तु ऋतु आने पर ही फल उत्पन्न होता है, इसलिए वस्तु मात्र का कारण काल है।

(स्वभाव) वस्तु के गुण को स्वभाव कहते हैं, जैसे मिर्च तीखी, गुड मीठा और नीम कड़वी होती है (नियति) भवितव्यता - अर्थात् जो बात बननेवाली होती है, वही बनती है, हजारों उपाय करने पर भी अन्त में मृत्यु आती ही है, उस समय वैद्य आदि सभी बेकार हो जाते हैं। (ईश्वर) लोक में ऐसी मान्यता है कि यह सृष्टि स्वयं नहीं होती किन्तु लोक में एक ऐसा समर्थ पुरुष है कि जब उसकी इच्छा होती है तब वह सृष्टि उत्पन्न करता है और वह जब तक इच्छा होती है तब तक इस सृष्टि का पालन करता है और पीछे प्रलय करता है। जैसे मदारी खेल करता है, इसी तरह ईश्वर का यह खेल है। (आत्मा) कितने लोग ईश्वर की सत्ता न मानकर आत्मा स्वयं समर्थ होकर इस सृष्टि को रचता है, यह कहते हैं। इसमें समझने की बात यही है कि - इन सभी मतवालों की बात किसी अंश में ठीक है परन्तु एकान्त रूप से आग्रह करने के कारण ये मिथ्यादृष्टि और झूठे हैं। यदि अपेक्षा से कहा जाय तो सब मिलाकर सत्य हो सकता है। इति।

“जीव आदि पदार्थ किसी तरह भी नहीं हैं” यह माननेवाले अक्रियावादियों के ८४ भेद अब बताये जाते हैं। वह इस प्रकार समझना चाहिए। जीव आदि सात पदार्थों को लिखकर उनके नीचे स्व और पर दो भेद रखने चाहिए और उनके नीचे काल, यद्विच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये छः पद रखने चाहिए। इनके भेदों को लाने का उपाय यह है - १. जीव स्वयं काल से नहीं है। २. जीव दूसरे से काल से नहीं है। ३. जीव यद्विच्छा से स्वयं नहीं है। ४. जीव, यद्विच्छा से पर से होता नहीं है। इसी तरह नियती, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ जोड़ने से प्रत्येक के दो - दो भेद होकर कुल १२ भेद होते हैं, इस प्रकार जीव आदि सात पदार्थों के प्रत्येक के १२ भेद होने से कुल ८४ भेद होते हैं। अत एव कहा है कि - “काल” इत्यादि, अर्थात् काल, यद्विच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा इन छः के साथ मिलाने से ८४ संख्या होती है। नास्तिकों के मत में स्वतः या परतः जीवादि पदार्थ नहीं हैं।

अब अज्ञानवादियों का भेद बताया जाता है - अज्ञानवादी अज्ञान से ही इष्ट अर्थ की सिद्धि बतलाते हैं और ज्ञान को वे निष्फल और बहुत दोषों से पूर्ण कहते हैं। इस प्रकार का सिद्धान्त माननेवाले अज्ञानवादियों के सतसठ ६७ भेद होते हैं, वे भेद इस उपाय से जानने चाहिए - जीव और अजीव आदि नव पदार्थों को क्रमशः लिखकर उनके नीचे ये सात भङ्ग रखने चाहिए - १. सत् २. असत् ३. सदसत् ४. अवक्तव्य ५. सदवक्तव्य ६. असदवक्तव्य ७. सदसदवक्तव्य। इसका कथन इस प्रकार करना चाहिए - १. जीव सत् है यह कौन जानता है? और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? २. जीव असत् है, यह कौन जानता है? तथा यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? ३. जीव, सदसत् है, यह कौन जानता है? तथा यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? ४. जीव अवक्तव्य है, यह कौन जानता है? तथा यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? ५. जीव सदवक्तव्य है, यह कौन जानता है? तथा यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? ६. जीव असदवक्तव्य है, यह कौन जानता है? तथा यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? ७. जीव सत् - असत् अवक्तव्य है, यह कौन जानता है? तथा यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? इसी तरह अजीव आदि में भी सात भङ्ग होते हैं, इसलिए सभी मिलकर ये तीरसठ ६३ होते हैं। तथा ये दूसरे चार भङ्ग हैं, जैसे कि सती (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और यह जानने से भी क्या लाभ है? १. असती (अविद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और यह जानने से भी क्या लाभ है? २. सदसती (कुछ विद्यमान और कुछ अविद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है? ३. अवक्तव्य भाव की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है? ४. इन चारों भेदों को पहले के ६३ भेदों में मिलाने से ६७ सतसठ संख्या होती है। पीछे के तीन भङ्ग, पदार्थ की उत्पत्ति होने पर उनके अवयवों की अपेक्षा से होते हैं, वे उत्पत्ति में संभव नहीं हैं इसलिए वे उत्पत्ति में नहीं कहे गये हैं। अत एव कहा है कि - “अज्ञानिक” अज्ञानवादियों के मत में जीव आदि नव पदार्थों के सात - सात भङ्ग होते हैं और भाव की उत्पत्ति के सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य ये चार भेद होते हैं।

अब केवल विनय से परलोक की प्राप्ति माननेवाले विनयवादियों का भेद बताया जाता है - इनके ३२ भेद होते हैं, वे इस प्रकार जानने चाहिए। देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता, पिता, इन आठ व्यक्तियों का मन, वचन, काय और दान के द्वारा चार प्रकार का विनय करना चाहिए। इस प्रकार ये आठ, चार - चार प्रकार के होते हैं, अतः ये कुल मिलकर ३२ बत्तीस प्रकार के हैं। अत एव कहा है कि “वैनयिक” अर्थात् विनयवादियों का मत है कि - देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम और माता - पिता का मन, वचन, काय और दान से विनय करना चाहिए। पूर्वोक्त क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के भेदों को जोड़ने से सब तीन सौ तीरसठ ३६३ भेद होते हैं।

इस प्रकार निर्युक्तिकार इन प्रावादुकों के मतभेद की संख्या बताकर अब उनके मतों का अध्ययन करने से क्या लाभ होता है? यह बताते हैं - पूर्वोक्त मतवादियों ने अपनी इच्छानुसार जो सिद्धान्त माना है, उसे इस अध्ययन में गणधरों ने बताया है। किसलिए बताया है सो दिखाते हैं - उक्तमतवादियों के मत में जो परमार्थ है, उसका निर्णय करने के लिए गणधरों ने यह समवसरण अध्ययन बनाया है। समस्त वादियों के मत का निश्चय करने के लिए उनवादियों का इस अध्ययन में सम्मेलन किया गया है, इसलिए इस अध्ययन का नाम समवसरण रखा है।

अब इन मतवादियों का सम्यग् और मिथ्यात्व का विभाग जिस प्रकार हो, उसे निर्युक्तिकार बताते हैं - जिसकी दृष्टि-दर्शन यानी पदार्थ का ज्ञान सम्यग् है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वह सम्यग्दृष्टि कौन है सो बताते हैं- जो क्रिया को बताते हैं, अर्थात् जीव आदि का अस्तित्व कहते हैं, वे क्रियावादी हैं। ये क्रियावादी संसार का स्वरूप आदि मानते हैं, यह "अत्थिति किरियावादी" इस गाथा के द्वारा कहा गया है, उसका अनुवाद करके निरवधारण रूप से सम्यग्दृष्टित्व का विधान करते हैं, क्योंकि यह बात असिद्ध है।¹

जैसे कि- लोक और अलोक का विभाग विद्यमान है, आत्मा विद्यमान है, पुण्य, पाप का विभाग विद्यमान है तथा उसका फल स्वर्ग और नरक की प्राप्ति विद्यमान है एवं समस्त जगत् का कारण काल विद्यमान है क्योंकि काल पाकर वस्तु की उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति और विनाश होता है तथा काल से ही शीत, उष्ण, वर्षा और वनस्पतियों में फूल-फल लगते हैं, इसीलिए कहा है कि काल ही भूतों को पकाता है इत्यादि। तथा स्वभाव भी समस्त जगत् का कारण रूप से विद्यमान है क्योंकि वह वस्तु का अपना धर्म है, उस धर्म के कारण ही जीव, अजीव, भव्यत्व, अभव्यत्व, मूर्तत्व, और अमूर्तत्व अपने-अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं तथा उस स्वभाव के ही वश धर्म, अधर्म, आकाश और काल आदि क्रमशः गति, स्थिति, अवगाह, परत्व, और अपरत्व आदि स्वरूप में रहते हैं अत एव कहा है कि- कौन कण्टक की नोख पतली बनाता है ? इत्यादि। तथा नियति भी कारणरूप से विद्यमान है क्योंकि उस नियति के कारण ही पदार्थ नियमानुसार अपना - अपना कार्य करते हैं। अत एव कहा है कि- "प्राप्तव्यो" इत्यादि अर्थात् नियति के प्रभाव से पदार्थ की प्राप्ति होती है इत्यादि। तथा पहले किये हुए शुभ और अशुभ कर्म का भला और बुरा फल होता है इसलिए वह भी कारण है, अत एव कहा है कि- "यथा यथा" इत्यादि। अर्थात् पहले किये कर्म का फल भण्डार में रखे हुए के समान जैसे-जैसे जीवों के आगे उपस्थित होता है, उस-उस तरह पूर्वकृत कर्म के अनुसार चलनेवाली बुद्धि मानो हाथ में दीपक लेकर आगे- आगे चलती है। १. प्राणी अपने-अपने कर्म को लेकर उत्पन्न होते हैं इसलिए वे जिधर नहीं जाना चाहते हैं उधर भी उस कर्म के द्वारा खींच कर भेज दिये जाते हैं। २. तथा पुरुषकार यानी पुरुषों का उद्योग भी कारण है क्योंकि उद्योग के बिना कुछ भी कार्य नहीं होता है। अत एव कहा है कि- दैव को सोचकर अपना उद्योग न छोड़ना चाहिए क्योंकि- उद्योग किये बिना तिल में से कौन तेल निकाल सकता है ? (१) तथा कोई उद्योगी कहता है कि- हे सुन्दर अन्नवाली ! मनुष्य उद्योग से ही कल्याण देखता है तथा कृमि और कीड़े भी उद्योग से बड़े-बड़े वृक्षों को काट देते हैं (२) इस प्रकार काल आदि समस्त पदार्थों को कारण माननेवाले तथा आत्मा, पुण्य, पाप और परलोक आदि को स्वीकार करनेवाले क्रियावादी को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। तथा शेष जो अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। अक्रियावादी अत्यन्त नास्तिक है क्योंकि वह प्रत्यक्षसिद्ध जीव, और अजीव आदि पदार्थों को नहीं मानता है इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। तथा अज्ञानवादी तो पागल है क्योंकि हेय और उपादेय को दिखानेवाले मति आदि पाँच ज्ञान विद्यमान हैं तो भी वह अज्ञान को ही कल्याण का साधन बतलाता है फिर वह कैसे पागल नहीं है ? तथा विनयवादी का सिद्धान्त भी सुनने योग्य नहीं है, क्योंकि सिद्धि, ज्ञान और क्रिया दोनों से प्राप्त होती है तथापि वह केवल विनय से सिद्धि की प्राप्ति बतलाता है। अतः विपरीत अर्थ बताने के कारण ये पूर्वोक्त वादी मिथ्यादृष्टि हैं।

(शंका) कहते हैं कि - काल आदि पदार्थों को स्वीकार करनेवाले १८० भेदवाले क्रियावादियों को तुमने अनेक जगह मिथ्यादृष्टि कहा है फिर उन्हें यहां सम्यग्दृष्टि कैसे कहते हो ?

(समाधान) उक्त क्रियावादी को मिथ्यादृष्टि कहने का कारण यह है कि - वह जीव को सर्वथा सत् बताता है, वह उसे किसी प्रकार भी असत् नहीं कहता है। तथा कालवादी एकमात्र काल को ही समस्त जगत् का कारण बताता है एवं स्वभाववादी एकमात्र स्वभाव को तथा नियतिवादी केवल नियति को और प्रारब्धवादी केवल पूर्वकृत कर्म को और उद्योगवादी एकमात्र उद्योग को सबका कारण मानते हैं। ये लोग दूसरे की अपेक्षा न करके एक

1. क्रियावादी जीवादि पदार्थों को एकान्त रूप से विद्यमान होना बताते हैं परन्तु एकान्त रूप से ऐसा कहने के कारण वे मिथ्यादृष्टि हैं यदि इनका अनेकान्त रूप से अस्तित्व माना जाय तो यह सम्यक् है। यही यहां का आशय है।

मात्र काल आदि एक-एक को ही कारण मानते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि हैं। यदि “अस्त्येव जीवः” जीव ही है, यह माना जाय तो इसका अर्थ यह है कि जो-जो है, वह सब जीव है, परन्तु ऐसा मानने से अजीव पदार्थ सर्वथा न रहेगा, अतः अवधारण पक्ष को छोड़कर (एकान्तवाद को छोड़कर) निरवधारण पक्ष मानने से (अनेकान्त मानने से) यहां क्रियावादी मत को सम्यक् कहा है। तथा परस्पर मिलकर एक दूसरे की अपेक्षा से काल आदि को कारण मानने से इस मत को सम्यक् कहा है।

(शङ्का) काल आदि एक दूसरे से निरपेक्ष रहें तो वे प्रत्येक यदि मिथ्या स्वभाव वाले हैं तो वे एकट्ठा जोड़नेपर सम्यक् कैसे हो सकते हैं? क्योंकि- जो धर्म प्रत्येक में नहीं होता है, वह उन वस्तुओं के मिलने पर भी नहीं होता है जैसे रेती के एक कण में तेल नहीं होता, इसलिए हजारों रेती के कणों के मिलने पर भी तेल नहीं होता।

(समाधान) यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि- एक माणिक है, दूसरा हीरा है, और तीसरा पन्ना है, इन अनेक जूदा-जूदा रत्नों को रत्नावली (रत्न का हार) नहीं कहते हैं परन्तु इन रत्नों को एक सूत्र में गूँथ देने पर इनके समूह को रत्नावली (रत्न का हार) कहते हैं, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए इस बात को तुम न मानो तो वह निष्फल है (अर्थात् तुम को मानना ही पड़ेगा) अतः एव कहा है कि- “कालो सहाव णियेई” अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, जूदा - जूदा कारण मानना मिथ्यात्व है परन्तु इनके समूह को कारण मानना सम्यक्त्व है। (१) ये समस्त काल आदि एक साथ मिलकर ही सब कार्यों के साधक होते हैं, अतः जहां देखिए वहां इनके मिलने पर ही समस्त कार्य ठीक-ठीक होते हैं। (२) अकेले काल आदि से कोई कार्य नहीं होता है जैसे मूँग पकाने में आग, पानी, लकड़ी और तपेली आदि मिले हुए ही कारण हैं। (३) जैसे अनेक उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त वैदुर्यमणि आदि चाहे कितने ही मूल्यवान् हो परन्तु वे जूदा-जूदा रत्नावली (रत्न का हार) नहीं कहे जाते हैं (किन्तु एक सूत्र में गूँथे जाने पर ही कहे जाते हैं) (४) इसी तरह नियतिवाद आदि मत अपनी - अपनी न्याय की रीति से यद्यपि अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं तथापि दूसरे के साथ सम्बन्ध न रखने के कारण ये सभी मत सम्यक्त्व पद को प्राप्त नहीं करते, किन्तु मिथ्या कहे जाते हैं। (५) जैसे उन मणियों को एकसूत्र में गूँथ देने पर वे सभी जोड़े हुए जूदाई को त्याग देने से रत्नावली यानी रत्न का हार कहे जाते हैं। (६) इसी तरह पूर्वोक्त सभी नयवाद यथायोग्य वक्तव्य में जोड़े हुए एक साथ होने से सम्यक् शब्द को प्राप्त करते हैं परन्तु उनकी विशेष संज्ञा नहीं होती है। (७) अतः जो अपने पक्ष में कदाग्रह रखते हैं वे सभी नयवाद मिथ्यादृष्टि हैं परन्तु वे ही परस्पर सम्बन्ध रखने पर सम्यक् हो जाते हैं। (८) इसलिए निर्युक्तिकार शिक्षा देते हैं कि- काल आदि प्रत्येक पदार्थ जूदा-जूदा कारण नहीं हैं, इसलिए जूदा-जूदा इनको कारण मानना मिथ्यात्व है, अतः मिथ्यात्व को छोड़कर इन सबको परस्पर की अपेक्षा से कारण मानना सम्यग्वाद है, इसे अङ्गीकार करो हमारा यह कथन प्रत्यक्ष और सत्य जानो ॥११९-१२१॥ नाम निक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है -



चत्वारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाई पुढो वयंति ।

किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव

॥११॥

छाया - चत्वारि समवसरणाणीमानि, पावादुकाः यानि पृथग्वदन्ति ।

क्रियामक्रियां विनयमिति तृतीयमज्ञानमाहुस्तुर्थमेव ॥

अन्वयार्थ - (पावादुया) परतीर्थी (जाई) जिन्हें (पुढो वयंति) जूदा - जूदा बतलाते हैं (चत्वारि इमाणि समोसरणाणि) वे चार सिद्धान्त ये हैं (किरियं अकिरियं विणयं अन्नाणं वउत्थं) क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद।

भावार्थ - अन्यदर्शनियों ने जिन सिद्धान्तों को एकान्त रूप से मान रखा है, वे सिद्धान्त ये हैं - क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, और चौथा अज्ञानवाद।

टीका - अस्य च प्राक्तनाध्ययनेन सहायं संबन्धः, तद्यथा - साधुना प्रतिपन्नभावमार्गेण कुमार्गाश्रिताः परवादिनः सम्यक् परिज्ञाय परिहर्तव्याः, तत्स्वरूपाविष्करणं चानेनाध्ययनेनोपदिश्यते इति, अनन्तरसूत्रस्यानेन सूत्रेण सह संबन्धोऽयं, तद्यथा - संवृतो महाप्रज्ञो 'वीरो दत्तैषणां चरन्नभिनिर्वृतः सन् मृत्युकालमभिकाङ्क्षेद् एतत्केवलिनो भाषितं, तथा परतीर्थिकपरिहारं च कुर्यात् एतच्च केवलिनो मतम्, अतस्तत्परिहारार्थं तत्स्वरूपणनिरूपणमनेन क्रियते। "चत्वारी" ति संख्यापदमपरसंख्यानिवृत्त्यर्थं "समवसरणानि" परतीर्थिकाभ्युपगमसमूहरूपाणि यानि प्रावादुकाः पृथक् पृथग्वदन्ति, तानि चामूनि अन्वर्थाभिधायिभिः संज्ञापदैर्निर्दिश्यन्ते, तद्यथा - क्रियाम् - अस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तथाऽक्रियां - नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां तेऽक्रियावादिनः, तथा तृतीया वैनयिकाश्चतुर्थास्त्वज्ञानिका इति ॥१॥

टीकार्थ - इस अध्ययन का ग्यारहवें अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है - ग्यारहवें अध्ययन में कहा है कि - भावमार्ग को प्राप्त किया हुआ साधु कुमार्ग में जानेवाले परतीर्थियों को अच्छी तरह जानकर छोड़ देवे, अतः इस अध्ययन में उन परतीर्थियों का स्वरूप बताया जाता है। पूर्वसूत्र के साथ इस सूत्र का सम्बन्ध यह है - पूर्वसूत्र में कहा है कि - इन्द्रिय और मन को सावद्य कर्म से निवृत्त रखनेवाला महाबुद्धिमान् वीर साधु दूसरे से दिया हुआ एषणीय आहार आदि लेता हुआ कषायरहित होकर मृत्युकाल की प्रतीक्षा करे, यह केवली का मत है तथा उक्त साधु परतीर्थी का त्याग करे, यह भी केवली का मत है अतः परतीर्थियों की चार संख्या अधिक और कम संख्या की निवृत्ति के लिए कही गयी है (अर्थात् परतीर्थी चार हैं, ज्यादा या कम नहीं हैं, यह जानना चाहिए) परतीर्थी जिन सिद्धान्तों को अलग - अलग मानते हैं, वे सिद्धान्त चार हैं। उन सिद्धान्तों को अर्थानुसार नाम के द्वारा शास्त्रकार बताते हैं - (१) क्रिया अर्थात् पदार्थ हैं, ऐसा कहनेवाले क्रियावादी कहलाते हैं (२) तथा पदार्थ नहीं हैं, ऐसा कहनेवाले अक्रियावादी हैं एवं तीसरे विनयवादी और चौथे अज्ञानवादी हैं ॥१॥



तदेवं क्रियाऽक्रियावैनयिकाज्ञानवादिनः सामान्येन प्रदर्श्याधुना ^१तद्दूषणार्थं तन्मतोपन्यासं ^२पश्चानुपूर्व्यप्यस्तीत्यतः पश्चानुपूर्व्या कर्तुमाह, यदिवैतेषामज्ञानिका एव ^३सर्वापलापितयाऽत्यन्तमसंबद्धा अतस्तानेवादावाह -

इस प्रकार क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादियों को सामान्य रूप से बताकर अब उनके मत के दोषों को कहने के लिए पीछे के क्रम से शास्त्रकार उनका मत बताते हैं क्योंकि पूर्व क्रम के समान पीछे का क्रम भी होता है। अथवा चार मतवादियों में अज्ञानवादी ही अत्यन्त विपरीतभाषी है क्योंकि वह सब पदार्थों को उड़ाता है, अतः शास्त्रकार पहले अज्ञानवादी का ही सिद्धान्त बतलाते हैं -

अण्णाणिया ता कुसलावि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतित्रा ।

अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति

॥२॥

छाया - आह्नामिकास्ते कुशला अपि सन्तोऽसंस्तुताः णो विचिकित्सातीर्णाः ।

अकोविदा आहुअकोविदेभ्योऽणुविचिन्त्य तु मृषा वदन्ति ॥

अन्वयार्थ - (ता अण्णाणिया) वे अज्ञानवादी (कुसलावि संता) अपने को कुशल मानते हुए भी (णो वितिगिच्छतित्रा) संशय से रहित नहीं हैं (असंथुया) अतः वे मिथ्यावादी हैं। (अकोविया अकोवियेहिं) वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञानी शिष्यों को उपदेश करते हैं। (अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति) वे विचार न करके मिथ्याभाषण करते हैं।

भावार्थ - अज्ञानवादी अपने को निपुण मानते हुए भी विपरीतभाषी हैं तथा वे भ्रमरहित नहीं किन्तु भ्रम में पड़े हुए हैं। वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञानी शिष्यों को उपदेश करते हैं। वे वस्तुतत्त्व का विचार न करके मिथ्या भाषण करते हैं।

टीका - अज्ञानं विद्यते येषामज्ञानेन वा चरन्तीत्यज्ञानिकाः आज्ञानिका वा तावत्प्रदर्श्यन्ते, ते चाज्ञानिकाः किल

१. वीरो प्र० । २. दूषणार्थं प्र० । ३. व्याख्यान्नमिति शेषः । ४. असंबद्धभाषिणः ।

वयं कुशला इत्येवंवादिनोऽपि सन्तः “असंस्तुता” अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादितया असंबद्धाः, असंस्तुतत्वादेव विचिकित्सा - चित्तविप्लुतिश्चित्तभ्रान्तिः संशीतिस्तां न तीर्णा - नातिक्रान्ताः, तथाहि ते ऊचुः - य एते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया न यथार्थवादिनो भवन्ति, तथाहि - एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति तथाऽन्ये असर्वगतम् अपरे अङ्गुष्ठपर्वमात्रं केचन श्यामाकतण्डुलमात्रमन्ये मूर्तममूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटव्यवस्थितमित्याद्यात्मपदार्थ एव सर्वपदार्थपुरःसरे तेषां नैकवाक्यता, न चातिशयज्ञानी कश्चिदस्ति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत, न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शना, “नासर्वज्ञः सर्वं जानाती”ति वचनात्, तथा चोक्तम् -

“सर्वज्ञोऽस्याविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानशून्यैर्विज्ञायते कथम् ? ॥१॥

न च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात्संभवः, संभवाभावश्चेतरेतराश्रयत्वात्, तथाहि - न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाप्त्युपायपरिज्ञानमुपायमन्तरेण च नोपेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावासिरिति, न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलं, तथाहि - यत्किमप्युपलभ्यते तस्यार्वाग्मध्यपरभागैर्भावं, तत्रार्वाग्भागस्यैवोपलब्धिर्नेतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात्, अर्वाग्भागस्यापि भागत्रयकल्पनात्तत्सर्वारातीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्यवसानता, परमाणोश्च स्वभावविप्रकृष्टत्वादर्वाग्दर्शनिनां नोपलब्धिरिति, तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थितवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात्सर्ववादिनां च परस्परविरोधेन पदार्थस्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिनां प्रमादवतां बहुतरदोषसंभवादज्ञानमेव श्रेयः, तथाहि- यद्यज्ञानवान् कथञ्चित्पादेन शिरसि हन्यात् तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविधदोषानुषङ्गा स्यादित्येवमज्ञानिन एववादिनः सन्तोऽसंबद्धाः, न चैवंविधां चित्तविप्लुतिं वितीर्णा इति । तत्रैवंवादिनस्ते अज्ञानिका “अकोविदा” अनिपुणाः सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः, तथाहि - यतैरभिहितं “ज्ञानवादिनः परस्परविरुद्धार्थवादितया न यथार्थवादिन” इति, तद्वत्त्वसर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथार्थवादित्वं, न चाभ्युपगमवादा एव बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न क्वचित्परस्परतो विरोधः, सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्तेरिति, तथाहि - प्रक्षीणारोषावरणतया रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामभावान्न तद्वाक्यमयथार्थमित्येवं तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति । ननु च स्यादेतद् यदि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, न चासौ संभवतीत्युक्तं प्राक्, सत्यमुक्तमयुक्तं तूक्तं, तथाहि- यत्तावदुक्तं “न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शनेति” तदयुक्तं, यतो यद्यपि परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते वीतरागाः सरागा इवेत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि संभवानुमानस्य सद्भावात्तद्वाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्तित्वमनिवार्यं, संभवानुमानं त्विदं - ¹व्याकरणादिना शास्त्राभ्यासेन संस्क्रियमाणायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो ज्ञेयावगमं प्रत्युपलब्धः, तदत्र ²कश्चित्तथाभूताभ्यासवशात्सर्वज्ञोऽपि स्यादिति, न च तदभावसाधकं प्रमाणमस्ति, तथाहि- न तावदर्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साधयितुं शक्यः, तस्य हि तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानशून्यत्वाद्, अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्वज्ञत्वापत्तिरिति । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावादिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यबलेन प्रवृत्तेः, न च सर्वज्ञाभावे साध्ये तादृग्विधं सादृश्यमस्ति येनासौ सिध्यतीति । नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः, प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तनात् तस्या अप्यप्रवृत्तिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि दर्शनात्, नापि प्रमाणपञ्चकाभावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः सिध्यति, तथाहि - सर्वत्र सर्वदा न संभवति तद्ग्राहकं प्रमाणमित्येतदर्वाग्दर्शिनो वक्तुं न युज्यते, तेन हि देशकालविप्रकृष्टानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहणे वा तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तेः, न चार्वाग्दर्शिनां ज्ञानं निवर्तमानं सर्वज्ञाभावं ³साधयति, तस्याव्यापकत्वात्, न चाव्यापकव्यावृत्त्या पदार्थव्यावृत्तिर्युक्तेति, न च ⁴वस्त्वन्तरविज्ञानरूपोऽभावः सर्वज्ञाभावसाधनायालं, ⁵वस्त्वन्तरसर्वज्ञयोरेकज्ञानसंसर्गप्रतिबन्धाभावात् तदेवं बाधकप्रमाणाभावात्संभवानुमानस्य च प्रतिपादितत्वादस्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमाच्च मतभेददोषो दूरापास्त इति, तथाहि- तत्प्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेरिति, इतरेतराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव, यतोऽभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । यदप्यभिहितं तद्यथा “न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलं, सर्वत्रार्वाग्भागेन व्यवधानात्, सर्वारातीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वा” दिति, एतदपि वाङ्मात्रमेव, यतः सर्वज्ञज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहितानामपि

1. शास्त्राभ्यासे करणत्वात्तृतीया यद्वाऽभ्यासाभ्यस्ययोरेक्यं । 2. बुद्धितारतम्योपलब्धेर्विश्रान्तिसिद्धिः ।

3. भावयति प्र ० । 4. घटज्ञाने हि पटाभावप्रतीतिर्यथा । 5. विषयितानियमाभावात् ।

ग्रहणात्रास्ति व्यवधानसंभवः, अर्वाग्दर्शिज्ञानस्याप्यवयवद्वारेणावयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानं, न ह्यवयवी स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम्, अपिच - अज्ञानमेव श्रेय इत्यत्राज्ञानमिति किमयं पर्युदास आहोस्वित्प्रसज्यप्रतिषेधः ?, तत्र यदि 'ज्ञानादन्यदज्ञानमिति ततः पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात् नाज्ञानवाद इति, अथ ज्ञानं न भवतीत्यज्ञानं तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति ? । अपिच - अज्ञानं श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधेन ज्ञानं श्रेयो न भवतीति क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्याद्, एतच्चाध्यक्षबाधितं, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तमानोऽर्थक्रियार्थी न विसंवाद्यत इति । किंच - अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषतां परिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते, एवं च सति प्रत्यक्ष एव स्यादभ्युपगमविरोधो, नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तदेवं सर्वथा ते अज्ञानवादिनः "अकोविदा" धर्मोपदेशं प्रत्यनिपुणाः स्वतोऽकोविदेभ्य एव स्वशिष्येभ्य "आहुः" कथितवन्तः, छान्दसत्वाच्चैकवचनं सूत्रे २कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः, अविज्ञोपचितं कर्मबन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति, तथा ये च बालमत्तसुप्तादयोऽस्पष्टविज्ञाना अबन्धका इत्येवमभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा द्रष्टव्या इति । तथाऽज्ञानपक्षसमाश्रयणाच्चाननुविचिन्त्य भाषणान्मृषा ते सदा वदन्ति । अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, ३तत्पूर्वकत्वाच्च सत्यवादस्य, अतो ज्ञानानभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाभावः, तदभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥२॥

टीकार्थ - जिनमें अज्ञान है अथवा जो अज्ञान को कल्याण का साधन मानकर उसके साथ विचरते हैं, वे अज्ञानिक अथवा आज्ञानिक कहे जाते हैं, उन्हीं का स्वरूप पहले शास्त्रकार बताते हैं- वे अज्ञानवादी अपने को कुशल बताते हुए "अज्ञान ही कल्याण का साधन है" यह कहने के कारण असंबद्ध भाषी हैं और इसी कारण वे भ्रम से रहित नहीं, किन्तु भ्रम में पड़े हुए हैं । वे कहते हैं कि- जितने ज्ञानवादी हैं, वे सभी एक दूसरे से विरुद्ध पदार्थ का स्वरूप बताते हैं, इसलिए वे यथार्थवादी नहीं हैं । कोई आत्मा को सर्वगत मानते हैं और कोई असर्वगत बताते हैं, कोई अङ्गुष्ठ के पर्व के समान कहते हैं । तथा कोई आत्मा को मूर्त्त कहते हैं और कोई अमूर्त्त बतलाते हैं । कोई कहते हैं कि आत्मा हृदय में रहता है और कोई कहते हैं कि वह ललाट में रहता है, इस प्रकार सब पदार्थों में प्रधान जो आत्मा है, उसी में ज्ञानवादियों का एक मत नहीं है । तथा जगत् में कोई अतिशय ज्ञानी भी नहीं है, जिसका वाक्य प्रमाण माना जाय, तथा यदि कोई अतिशय ज्ञानी हो तो भी उसे अल्पज्ञ पुरुष जान नहीं सकता, क्योंकि जो सर्वज्ञ नहीं है, वह सर्वज्ञ को जान नहीं सकता, यह वचन है । अर्थात् सर्वज्ञ विद्यमान हो तो भी जिसको सर्वज्ञ के समान उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, वह सर्वज्ञ को कैसे पहचान सकता है? जो स्वयं सर्वज्ञ नहीं है, वह सर्वज्ञ को जानने का उपाय नहीं जान सकता, अतः उपाय के द्वारा सर्वज्ञ को जानने में अन्योन्याश्रय दोष होने से सर्वज्ञ का ज्ञान सुतरां दुर्घट है, जैसे कि- सर्वज्ञ को जानने का उपाय जानने से सर्वज्ञ को जाना जा सकता है और स्वयं सर्वज्ञ होने पर सर्वज्ञ को जानने का उपाय जाना जा सकता है । अतः उपाय ज्ञान और सर्वज्ञ के ज्ञान में अन्योन्याश्रय होने के कारण उपाय के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान होना सुतरां असम्भव है । तथा ज्ञान जानने योग्य पदार्थ के स्वरूप को पूरा - पूरा नहीं बता सकता, क्योंकि- जो पदार्थ देखा जाता है, उसका मध्यभाग और पीछला भाग नहीं देख सकते क्योंकि मध्य भाग और पीछले भाग, सामने के भाग से छिपे हुए होते हैं । सामने का भाग जो दिखाई देता है, उसके भी अर्वाक् (सामने) मध्यभाग और पीछला भाग की कल्पना करने पर तथा फिर उन निकट के भागों में भी उक्त तीन भागों की कल्पना करते चले जाने पर परमाणु में जाकर भाग की कल्पना समाप्त होगी परन्तु परमाणु स्वभावतः दूर है, इसलिए अर्वाग्दर्शी पुरुष को उसका ज्ञान संभव नहीं है और उसके ज्ञान के बिना पदार्थ का यथार्थ ज्ञान भी सम्भव नहीं है । इस प्रकार सर्वज्ञ पुरुष के अभाव से, तथा जो सर्वज्ञ नहीं है, उसको वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने से, तथा सभी ज्ञानवादियों के मत में पदार्थों का परस्पर विरुद्ध स्वरूप स्वीकार किये जाने से, तथा ज्यों-ज्यों अधिक ज्ञान होता है, त्यों-त्यों भूल करने पर अधिक अपराध समझे जाने से अज्ञान ही कल्याण का साधन है । यदि कोई अज्ञानवश किसी के शिर में पैर का प्रहार करता है तो वह उतना बड़ा दोष नहीं माना जाता है, क्योंकि उसका भाव शुद्ध है,

1. विवक्षितं निषेधं ज्ञानमत्र, तथा चान्यस्यापि ज्ञानेत्वे न क्षतिः । 2. किरियं अकिरियमित्याद्यगाथायामेकवचनस्य समाधानमिदमाभाति ।
3. समुच्चयार्थत्वात्तच्छब्देनानुविचिन्त्य भाषणपरामर्शः ।

इस प्रकार कहनेवाले अज्ञानवादी मिथ्यादृष्टि हैं तथा वे सम्यग्ज्ञान से रहित हैं, वे भ्रम में पड़े हुए हैं। वे जो यह आक्षेप करते हैं कि “परस्पर विरुद्ध अर्थ बताने के कारण ज्ञानवादी सच्चे नहीं हैं” सो ठीक है, कारण यह है कि परस्पर विरुद्ध अर्थ बतानेवाले लोग असर्वज्ञ के आगमों को मानते हैं, इसलिए वे परस्पर विरुद्ध अर्थ बताते हैं परन्तु इससे समस्त सिद्धान्तों पर बाधा नहीं आती, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगम को माननेवाले वादियों के वाक्य में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं आता है, कारण यह है कि इसके बिना सर्वज्ञता होती ही नहीं है। यही बताया जाता है— ज्ञान के ऊपर आया हुआ परदा सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने से, तथा झूठ बोलने के कारण जो राग, द्वेष और मोह हैं, उनके अभाव हो जाने से सर्वज्ञ का वाक्य सत्य है, अतः तुम उसे अयथार्थ नहीं कह सकते, इसलिए सर्वज्ञ के बनाये हुए आगम को माननेवाले पुरुष परस्पर विरुद्ध अर्थ नहीं बताते, यह स्पष्ट है।

(शङ्का) अब अज्ञानवादी शङ्का करता है कि— “यदि कोई सर्वज्ञ हो तो यह बात हो सकती है परन्तु कोई सर्वज्ञ है, यह जानना संभव नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है”

(उत्तर) इसका समाधान यह है— यद्यपि तुमने यह बात कही है परन्तु अयुक्त कही है, देखो — तुमने जो कहा है कि “सर्वज्ञ विद्यमान हो तो भी वह अल्पज्ञ जीव के द्वारा जाना नहीं जाता है” यह तुम्हारा कथन अयुक्त है। यद्यपि दूसरे की चित्तवृत्ति जानी नहीं जाती और सरागपुरुष वीतराग की तरह चेष्टा करते हुए तथा वीतराग सराग की तरह प्रवृत्ति करते हुए देखे जाते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ की उपलब्धि नहीं होती तथापि सम्भव और अनुमान प्रमाण होने से और बाधक प्रमाण न होने से सर्वज्ञ का अस्तित्व मिट नहीं सकता। संभव और अनुमान ये हैं— व्याकरण आदि शास्त्रों के अभ्यास से संस्कारवाली बुद्धि का अतिशय जानने योग्य पदार्थों में देखा जाता है, इसलिए जैसे अज्ञानी की अपेक्षा वैयाकरण या पढ़ा हुआ मनुष्य ज्यादा समझता है, इसी तरह विशेष-विशेष अभ्यास से (ध्यान वगैरह करने से ज्ञान की वृद्धि होने के कारण) सब वस्तु को जाननेवाला कोई सर्वज्ञ भी हो सकता है। वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, ऐसा सर्वज्ञता का बाधक कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि — कोई अल्पज्ञ पुरुष प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव साबित करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उसका ज्ञान, अल्प होने से वह सर्वज्ञ के ज्ञान और ज्ञेय के विज्ञान से रहित है। यदि उसका ज्ञान सर्वज्ञ के ज्ञान और ज्ञेय को भी जानता है तो वह स्वयं सर्वज्ञ हुआ फिर सर्वज्ञ का अभाव कहाँ रहा ?। एवं अनुमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञ का अभाव के साथ व्यभिचार नहीं रखनेवाला कोई हेतु नहीं है। तथा उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि सादृश्य को लेकर उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति होती है परन्तु सर्वज्ञ का अभाव के साथ किसी का सादृश्य नहीं है, अतः उपमान प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। एवं अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाण की प्रत्यक्षादिपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है, इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि न होने से अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। तथा आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि आगम सर्वज्ञ का अस्तित्व बतलानेवाला भी है। यदि कहो कि “प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और सम्भव इन पाँच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है इसलिए यह निश्चित होता है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है” तो यह ठीक नहीं है क्योंकि— सब देश और सब काल में सर्वज्ञ का बोधक कोई प्रमाण नहीं मिलता, यह अल्पज्ञ पुरुष कह नहीं सकता क्योंकि देश और काल की अपेक्षा से जो पुरुष अत्यन्त दूर हैं, उनका विज्ञान अल्पज्ञ पुरुष जान नहीं सकता। यदि वह जाने तब तो वह स्वयं सर्वज्ञ ठहरता है फिर कोई सर्वज्ञ नहीं है, यह कह नहीं सकता। स्थूलदर्शी पुरुष का विज्ञान सर्वज्ञ तक पहुँचता नहीं है, इस कारण भी सर्वज्ञ का अभाव कहा नहीं जा सकता, क्योंकि स्थूलदर्शी पुरुष का ज्ञान व्यापक नहीं है। यदि कोई अव्यापक पदार्थ किसी पदार्थ के पास न पहुँचे तो उस पदार्थ का अभाव नहीं होता। (अल्पज्ञ पुरुष का ज्ञान सब जगह पहुँच नहीं पाता इसलिए उसके द्वारा सर्वज्ञ के ज्ञान न होने से सर्वज्ञ का अस्तित्व मिट नहीं सकता) यदि कहो कि जिस ज्ञान से दूसरे पदार्थ जाने जाते हैं, उससे सर्वज्ञ जाना नहीं जाता है, इसलिए सर्वज्ञ नहीं है, यह सिद्ध होता है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस ज्ञान से दूसरे पदार्थ जाने जाते हैं, उसी ज्ञान से सर्वज्ञ भी जाना-जाना चाहिए, यह कोई नियम नहीं है। अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक कोई प्रमाण नहीं मिलता और उसके

साधक सम्भव और अनुमान प्रमाण मिलते हैं, इसलिए सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। उस सर्वज्ञ के कहे हुए आगम को स्वीकार करने से मतभेद रूप दोष भी नहीं आता है। सर्वज्ञ के कहे हुए आगम को माननेवाले सभी लोग एक मत से आत्मा को शरीरमात्र व्यापी मानते हैं, क्योंकि शरीर में ही आत्मा का गुण पाया जाता है। तथा पहले जो अज्ञानवादी ने अन्योन्याश्रय दोष बताया है, वह भी यहाँ नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्र आदि के अभ्यास करने से बुद्धि का अतिशय ज्ञान होना अपने आत्मा में भी देखा जाता है इसलिए प्रत्यक्ष देखी जाती हुई वस्तु में कोई अनुपपत्ति (बाध) नहीं आती। तथा अज्ञानवादी जो यह कहते हैं कि - "ज्ञान ज्ञेय के स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं है, क्योंकि सभी जगह अगले भाग से पीछला भाग ढँका रहता है तथा सबसे अन्तिम भाग परमाणु अतिन्द्रिय है, वह इन्द्रिय से जाना नहीं जाता है इत्यादि" यह केवल कथन मात्र है, क्योंकि देश, काल और स्वभाव से ढँके हुए पदार्थ भी सर्वज्ञ के ज्ञान से जाने जाते हैं, इसलिए सर्वज्ञ के ज्ञान में परदा होना संभव नहीं है। तथा जो पुरुष सामान्य ज्ञानवाले हैं, उनका ज्ञान भी अवयव के द्वारा अवयवी में प्रवृत्त होता है, इसलिए उसमें भी व्यवधान नहीं है। अवयवी अपने अवयवों से ढँक दिया जाता है, यह बात युक्ति सन्नत नहीं है। तथा "अज्ञान ही कल्याण का साधन है" इस तुम्हारे कथन में जो अज्ञान पद आया है, इसमें पर्युदास है अथवा प्रसज्य प्रतिषेध है? - यदि पर्युदास वृत्ति मानकर एक ज्ञान से भिन्न दूसरे ज्ञान को तुम अज्ञान कहते हो तब तो तुमने दूसरे ज्ञान को ही कल्याण का साधन माना परन्तु अज्ञानवाद सिद्ध न हुआ। यदि प्रसज्यवृत्ति को मानकर ज्ञान के अभाव को तुम अज्ञान कहो तब तो वह ज्ञानभाव, अभावरूप होने से तुच्छ, रूपरहित और सर्वशक्ति वर्जित है इसलिए वह किस प्रकार कल्याण का साधन हो सकता है?। तथा अज्ञान कल्याण का साधन है" इस वाक्य में प्रसज्य प्रतिषेध मानने पर ज्ञान कल्याण का साधन नहीं है, यह अर्थ होकर क्रिया का प्रतिषेध होता है (अर्थात् ज्ञान से कल्याण प्राप्ति का निषेध किया जाता है) परन्तु यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को जानकर प्रवृत्ति करनेवाला कार्यार्थी पुरुष अपने कार्य की सिद्धि करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, अतः ज्ञान को झूठा नहीं कहा जा सकता। तथा अज्ञानवादी अज्ञान तथा प्रमाद के कारण पैर से शिर के स्पर्श होने पर भी अल्पदोष को जानकर ही अज्ञान को श्रेय कहते हैं, इस प्रकार प्रत्यक्ष ही सिद्धान्त का विरोध होता है, इसमें अनुमान की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार वे अज्ञानवादी धर्मोपदेश में सर्वथा निपुण नहीं हैं, परन्तु अपने अनिपुण शिष्यों को धर्म का उपदेश करते हैं। यहाँ सूत्र में बहुवचन के स्थान में छान्दसत्वात् एकवचन किया है। शाक्य भी प्रायः अज्ञानी ही हैं क्योंकि "अविज्ञोपचित कर्म बन्धन नहीं होता है" ऐसा वे मानते हैं तथा वे कहते हैं कि - बालक, मतवाला और सोये हुए पुरुष स्पष्ट ज्ञानवाले नहीं होते हैं इसलिए इनको कर्मबन्ध नहीं होता है। इन सब वादियों को अज्ञानी जानना चाहिए। ये लोग अज्ञानपक्ष का आश्रय लेकर बिना विचारे बोलने के कारण सदा झूठ बोलते हैं। क्योंकि - ज्ञान होने पर ही विचार कर बोला जाता है और सत्य भाषण विचार पर ही निर्भर रहता है, अतः ज्ञान को स्वीकार न करने से ये लोग विचार कर नहीं बोलते हैं और विचार कर न बोलने के कारण ये मिथ्यावादी हैं यह सिद्ध होता है ॥२॥



- साम्प्रतं वैनयिकवादं निराचिकीर्षुः प्रक्रमते -

- अब शास्त्रकार विनयवादी के मत का खण्डन आरम्भ करते हैं -

सच्चं असच्चं इति चिंतयन्ता, असाहु साहुत्ति उदाहरन्ता ।

जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भावं विणइंसु णाम

॥३॥

छाया - सत्यमसत्यमिति चिन्तयित्वा, असाधु साध्वित्युदाहरन्तः ।

य इमे जनाः वैनयिका अनेके पृष्ठा अपि भावं व्यनैषुर्नाम ॥

अन्वयार्थ - (सच्चं असच्चं इति चिंतयन्ता) जो सत्य है, उसे असत्य मानते हुए (असाहु साहुत्ति उदाहरन्ता) तथा जो असाधु यानी अच्छा नहीं है, उसे अच्छा बताते हुए (अणेगे जे इमे वेणइया जणा) अनेक जो ये विनयवादी है (पुट्ठावि विणइंसु भावं णाम) वे पूछने पर विनय को

ही मोक्ष का साधन बताते हैं ।

भावार्थ - सत्य को असत्य तथा असाधु को साधु बतानेवाले विनयवादी पूछने पर केवल विनय को ही मोक्ष का मार्ग कहते हैं ।

टीका - सद्भ्यो हितं "सत्यं" परमार्थो यथावस्थितपदार्थनिरूपणं वा मोक्षो वा संयमः तदुपायभूतो वा सत्यं तदसत्यम् "इति" एवं "विचिन्तयन्तो" मन्यमानाः, एवमसत्यमपि सत्यमिति मन्यमानाः, तथाहि - सम्यग्दर्शनचारित्राख्यो मोक्षमार्गः सत्यस्तमसत्यत्वेन चिन्तयन्तो विनयादेव मोक्ष इत्येतदसत्यमपि सत्यत्वेन मन्यमानाः, तथा असाधुमप्यविशिष्टकर्मकारिणं वन्दनादिकया विनयप्रतिपत्त्या साधुम् "इति" एवम् "उदाहरन्तः" प्रतिपादयन्तो न सम्यग्यथावस्थितधर्मस्य परीक्षकाः, युक्तिविकलं विनयादेव धर्म इत्येवमभ्युपगमात्, क एते इत्येतदाह- ये "इमे" बुद्ध्या प्रत्यक्षासन्नीकृता "जना इव" प्राकृतपुरुषा इव जना विनयेन चरन्ति वैनयिका - विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवंवादिनः "अनेके" बहवो द्वात्रिंशद्भेदभिन्नत्वात्तेषां, ते च 'विनयचारिणः केनचिद्धर्मार्थिना पृष्टाः सन्तोऽपिशब्दादपृष्टा वा "भावं" परमार्थं यथार्थोपलब्धं स्वाभिप्रायं वा विनयादेव स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवं "व्यनैषुः" विनीतवन्तः - सर्वदा सर्वस्य सर्वसिद्धये विनयं ग्राहितवन्तः, नामशब्दः संभावनायां, संभाव्यत एव विनयात्स्वकार्यसिद्धिरिति, तदुक्तम् - "तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनय" इति ॥३॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जो पुरुष मात्र का कल्याण करनेवाला वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण है, उसे सत्य कहते हैं अथवा मोक्ष को या मोक्ष के उपाय स्वरूप संयम को सत्य कहते हैं, उस सत्य को विनयवादी असत्य मानते हैं, इसी तरह वे असत्य को सत्य मानते हैं । सम्यग्ज्ञान दर्शन और चरित्र सच्चा मोक्ष का मार्ग है, उसे विनयवादी असत्य कहते हैं, यद्यपि केवल विनय से मोक्ष नहीं होता है, तथापि वे केवल विनय से मोक्ष मानते हुए असत्य को सत्य मानते हैं तथा जो पुरुष विशिष्ट कर्म यानी साधु की क्रिया नहीं करनेवाला असाधु है, उसे भी वे केवल वन्दन आदि विनय की क्रिया करने मात्र से साधु मानते हैं । अतः वे धर्म की यथार्थ परीक्षा करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि वे केवल विनय से धर्म की उत्पत्ति मानते हैं, जो युक्तिसङ्गत नहीं है । वे कौन हैं ? ये जो बुद्धि के प्रत्यक्ष और निकटवर्ती साधारण पुरुष की तरह केवल विनय के साथ विचरनेवाले वैनयिक मतवाले हैं, ये केवल विनय से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं। इनके ३२ भेद होने से ये अनेक हैं । जब कोई धर्मार्थी पुरुष इनसे धर्म पूछता है तथा अपि शब्द से नहीं पूछता है तब ये अपने भाव (अभिप्राय) के अनुसार अपना माना हुआ परमार्थ बताते हुए कहते हैं कि - "केवल विनय करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है" इस प्रकार विनयवादी सब कार्य की सिद्धि के लिए सभी को विनय की शिक्षा देते हैं । नाम शब्द सम्भावना अर्थ में आया है, इसलिए वे विनय से अपने कार्य की सिद्धि की आशा करते हैं । वे कहते हैं कि - "सभी कल्याणों का भाजन विनय है" ॥३॥



अणोवसंखा इति ते उदाहू, अट्टे स ओभासइ अम्ह एवं ।

लवावसंकी य अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवादी

॥४॥

छाया - अनुपसंख्ययेति ते उदाहृतवन्तः अर्थः स्योऽवभासतेऽस्माकमेवम् ।

लवावशङ्खिन्नश्चानागतैर्बो क्रियामाहुरक्रियावादिनः ।

अन्वयार्थ - (ते अणोवसंखा) वे विनयवादी वस्तुतत्त्व को न समझकर (इति उदाहू) ऐसा कहते हैं । (स अट्टे अम्ह एवं ओभासइ) वे कहते हैं कि - अपने प्रयोजन की सिद्धि हम को विनय से ही दीखती है । (लवावसंकी) तथा कर्मबन्ध की शङ्का करनेवाले (अकिरियवादी) अक्रियावादी (अणागएहिं) भूत और भविष्य के द्वारा वर्तमान की असिद्धि मानकर (णो, किरियमाहंसु) क्रिया का निषेध करते हैं ।

भावार्थ - विनयवादी कहते हैं कि - हमको अपने प्रयोजन की सिद्धि विनय से ही दिखती है परन्तु वे वस्तुतत्त्व

को न समझकर ऐसा कहते हैं । इसी तरह कर्मबन्ध की आशङ्का करनेवाले अक्रियावादी भूत और भविष्य काल के द्वारा वर्तमान को उड़ाकर क्रिया का निषेध करते हैं ।

टीका - संख्यां संख्या - परिच्छेदः उप - सामीप्येन संख्या उपसंख्या - सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञानं नोपसंख्याऽनुपसंख्या तथाऽनुपसंख्यया - अपरिज्ञानेन व्यामूढमतयस्ते वैनयिकाः स्वाग्रह-ग्रस्ता इति एतद् - यथा विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्युदाहृतवन्तः, एतच्च ते महामोहाच्छादिता "उदाहुः" उदाहृतवन्तः - यथैवं सर्वस्य विनयप्रतिपत्त्या स्वोऽर्थः - स्वर्गमोक्षादिकः अस्माकम् "अवभासते" आविर्भवति प्राप्यते इति यावत्, अनुपसंख्योदाहृतिश्च तेषामेवमवगन्तव्या, तद्यथा - ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षसद्भावे सति तदपास्य विनयादेवैकस्मात्तदवाप्त्यभ्युपगमादिति, यदप्युक्तं "सर्वकल्याणभाजनं" तदपि सम्यग्दर्शनादिसंभवे सति विनयस्य कल्याणभाक्त्वं भवति नैककस्येति, तद्वहितो हि विनयोपेतः सर्वस्य प्रहृतया न्यत्कारमेवापादयति, ततश्च विवक्षितार्थावभासनाभावात्तेषामेवंवादिनामज्ञानावृतत्वमेवावशिष्यते, नाभिप्रेतार्थावाप्तिरित्युक्ताः वैनयिकाः ॥

साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः पश्चार्धमाह - लवं - कर्म तस्मादपशङ्कितुम् - अपसर्तुं शीलं येषां ते ¹लवापशङ्किनो- लोकायतिकाः शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्क्रिया तज्जनितो वा कर्मबन्ध इति, उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः, तद्यथा -

बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिगन्धिकपोतकाः । न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिगन्धिकपोतकाः ॥१॥

तथाहि - बौद्धानामयमभ्युपगमो, यथा - "क्षणिकाः सर्वसंस्कारा" इति "अस्थितानां [च] कुतः क्रिये" त्यक्रियावादित्वं, योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि संवृतिमात्रेण न परमार्थेन, यतस्तेषामयमभ्युपगमः, तद्यथा - विचार्यमाणाः पदार्था न कथञ्चिदप्यात्मानं विज्ञानेन समर्पयितुमलं, तथाहि - अवयवी ²तत्त्वान्यत्त्वाभ्यां ³विचार्यमाणो न घटां प्राञ्जति, नाप्यवयवाः परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्तस्य निराकारतया न स्वरूपं बिभर्ति, तथा चोक्तम् -

यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा - तथा । यद्येतत्त्वयमर्थभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ? ॥१॥

इति, प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धाः, तत्रानागतैः क्षणैः, चशब्दादतीतैश्च वर्तमानक्षणस्यासंगतेर्न क्रिया, नापि च तज्जनितः कर्मबन्ध इति । तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वापलापितया लवावशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुः, तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्वव्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्याः, तदेवं ते ⁴लोकायतिकबौद्धसांख्या अनुपसंख्यया - अपरिज्ञानेनेति - एतत् पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तः, तथैतत्त्वज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः, तद्यथा - अस्माकमेवमभ्युपगमेऽर्थोऽवभासते - युज्यमानको भवतीति, तदेवं श्लोकपूर्वाद्धा काकाक्षिगोलकन्यायेनाक्रियावादिमतेऽप्यायोज्यमिति ॥४॥

टीकार्थ - वस्तु के ज्ञान को संख्या कहते हैं और सम्यक् प्रकार से अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का नाम उपसंख्या है, उसके बिना ही अर्थात् पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना ही आग्रह में पड़े हुए मूर्ख विनयवादी केवल विनय से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं । वे महामोह से आच्छादित होकर यह कहते हैं कि "सब के प्रति विनय करने से ही हम को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होगी" परन्तु यह वे बिना विचारे कहते हैं, इस विषय में उदाहरण यह है कि ज्ञान और क्रिया इन दोनों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु इसे छोड़कर वे केवल विनय से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं । तथा वे जो यह कहते हैं कि - विनय समस्त कल्याणों का मूल कारण है, सो सम्यग्दर्शन आदि होने पर ही विनय कल्याण का कारण होता है, अकेला नहीं होता । जो सम्यग्दर्शन आदि से रहित है, वह विनययुक्त होकर सब किसी के तिरस्कार का पात्र होता है, अतः केवल विनय से स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए केवल विनय से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति बतानेवाले विनयवादी अज्ञान से ढँके हुए हैं, उनको इष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है । विनयवादी कह दिये गये अब शास्त्रकार अक्रियावादियों के दर्शन का निराकरण करने के लिए गाथा का उत्तरार्थ कहते हैं - "लव" कर्म

1. लवावशङ्किनः । अग्रेऽपि अत्र गाथायां । 2. तत्त्वाऽतत्त्वाभ्यां प्र० । 3. अवयवेभ्योऽभिन्नत्वेतराभ्यां । 4. लोकायकिता बौद्धाः सांख्याः प्र० ।

को कहते हैं, उसकी जो शङ्का करते हैं अथवा उससे जो अलग हटते हैं, उसे लवावशङ्की कहते हैं, वे लोकायतिक और शाक्य आदि हैं। इन दोनों के मत में आत्मा ही नहीं है, फिर उसकी क्रिया कहाँ से हो सकती है और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध भी कहाँ से हो सकता है? अतः इनके मत में वास्तविक बन्ध नहीं है परन्तु आरोप मात्र से बन्ध है, यही बताते हैं - “बद्धा” अर्थात् जैसे लोक में कहते हैं कि “मैंने मुट्ठी बाँध ली, तथा मुट्ठी खोल दी” यहाँ मुट्ठी बाँधना और खोलना केवल आरोप है, वस्तुतः रस्सी आदि से वह बाँधी और खोली नहीं जाती है, तथा गाँठ और अञ्जलि में भी बाँधने और खोलने का व्यवहार देखा जाता है परन्तु कुछ भी बाँधा नहीं जाता है और खोला भी नहीं जाता है किन्तु एक प्रकार के आरोप से यह व्यवहार होता है, इसी तरह बद्ध और मुक्त का जगत् में व्यवहार जानना चाहिए। बौद्ध, सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं परन्तु क्षणिक पदार्थों में क्रिया का होना सम्भव नहीं है, इसलिए वे अक्रियावादी हैं। यद्यपि बौद्ध पाँच स्कन्ध मानते हैं परन्तु वह भी आरोपमात्र से मानते हैं, परमार्थरूप से नहीं क्योंकि उनका मन्तव्य यह है - कोई भी पदार्थ विज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ नहीं है अर्थात् विज्ञान के द्वारा पदार्थों का स्वरूप नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि अवयवी पदार्थ तत्त्व और अतत्त्व इन दोनों भेदों के द्वारा विचार करने पर पूरा समझने में नहीं आता है, इसी तरह अवयव भी परमाणु पर्यन्त विचार करने पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आकार रहित होने से, स्वरूप को धारण नहीं करते हैं, अत एव कहा है कि “यथा - यथा” अर्थात् ज्यों - ज्यों पदार्थों का विचार किया जाता है, त्यों - त्यों उनका विवरण बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार विचार करने पर पदार्थों को अपना विवरण बढ़ा देना जब कि अच्छा लगता है तब हम क्या कर सकते हैं? अर्थात् जिसका अन्त ही नहीं है, उसमें हम क्या विचारें। इस प्रकार का सिद्धान्त माननेवाले बौद्ध प्रच्छन्न रूप से नास्तिक हैं।¹ उक्त सिद्धान्त को माननेवाले बौद्धों के मत में भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध न होने से क्रिया नहीं होती है और क्रिया के न होने से क्रियाजनित कर्मबन्ध भी नहीं होता है। (आशय यह है कि आनेवाला क्षण आया ही नहीं है और गया काल विद्यमान नहीं है तथा पूर्व और पीछे के क्षणों के साथ वर्तमान क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि नाश हुए के साथ वर्तमान का सम्बन्ध नहीं होता है, अतः क्रिया के साथ सम्बन्ध न होने से उसके द्वारा कर्मबन्ध नहीं होता।) इस प्रकार अक्रियावादी नास्तिक हैं। वे सब पदार्थों का खण्डन करते हुए कर्मबन्ध की आशङ्का से क्रिया का निषेध करते हैं। तथा आत्मा को सर्वव्यापक होने के कारण क्रिया रहित माननेवाले सांख्यदर्शनवाले भी अक्रियावादी हैं। अतः लोकायतिक, बौद्ध और सांख्यवादी बिना विचारे यह पूर्वोक्त सिद्धान्त मानते हैं। तथा वे जो यह कहते हैं कि मेरे मत के अनुसार ही पदार्थों का स्वरूप ठीक - ठीक घटता है, यह वे अज्ञान से कहते हैं। इस प्रकार इस श्लोक के पूर्वार्ध को काकाक्षिगोलक न्याय से अक्रियावादी के मत में भी लेना चाहिए॥४॥



- साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविजृम्भितं दर्शयितुमाह -

- अब शास्त्रकार अक्रियावादियों का अज्ञान बताने के लिए कहते हैं-

सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई ।

इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं

॥५॥

छाया - सम्मिश्रभावश्च गिरा गृहीते, स मूकमूको भवत्यननुवादी ।

इदं द्विपक्षमिदमेकपक्षमाहुश्छलायतनञ्च कर्म ॥

1. टिप्पणी-बौद्धों के कथन का आशय यह है, घटपटादि अवयवी पदार्थ कपाल आदि अपने अवयवों से भिन्न है अथवा अभिन्न है, यह जब विचार किया जाता है तब वे भिन्न या अभिन्न कुछ भी प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि-अवयवी के समस्त अवयवों को अलग अलग कर दें तो अवयवी नामक पदार्थ कोई देखने में नहीं आता है। ऐसी दशा में उसे अवयवों से अभिन्न कहें तो यह भी नहीं बनता है, क्योंकि घटपटादि पदार्थों के अवयवों का विचार करने पर अवयव के भी अवयव और उसके भी अवयव इस प्रकार अवयवों की धारा निरन्तर चलती हुई परमाणु में जाकर समाप्त होती है और परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण सामान्यदृष्टि से ज्ञात नहीं होते हैं, अतः अवयवों का ज्ञान भी अशक्य है, ऐसी दशा में कोई भी पदार्थ ज्ञान के द्वारा पूरा पूरा जाना नहीं जाता है, यह बौद्ध मानते हैं। इति ।

अन्वयार्थ - (गिरा गृहीए सम्मिस्सभाव) अपनी वाणीद्वारा स्वीकार किये हुए पदार्थ का निषेध करते हुए लोकायतिक आदि मिश्र पक्ष को अर्थात् पदार्थ की सत्ता और असत्ता दोनों से मिश्रित विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते हैं। (से अण्णुवाई मुम्मुई होइ) वे स्याद्वादियों के वचन का अनुवाद करने में भी असमर्थ होकर मूक हो जाते हैं। (इमं दुपक्खं इममेगपक्खं छलायतणं च कम्मं आहंसु) वे अपने वचन को प्रतिपक्ष रहित और दूसरे मत को प्रतिपक्ष सहित बताते हुए, स्याद्वादियों के साधनों का खण्डन करने के लिए वाक्छल का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ - पूर्वोक्त नास्तिक गण पदार्थों का प्रतिषेध करते हुए उनका अस्तित्व स्वीकार कर बैठते हैं। वे स्याद्वादियों के वचनों का अनुवाद करने में भी असमर्थ होकर मूक हो जाते हैं। वे अपने मत को प्रतिपक्ष रहित और परमत को प्रतिपक्ष के सहित बताते हैं। वे स्याद्वादियों के साधनों को खण्डन करने के लिए वाक्छल का प्रयोग करते हैं।

टीका - स्वकीयया गिरा - वाचा स्वाभ्युपगमेनैव "गृहीते" तस्मिन्नर्थे नान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽऽयातस्यार्थस्य गिरा प्रतिषेधं कुर्वाणाः "सम्मिश्रीभावम्" अस्तित्वनास्तित्वाभ्युपगमं ते लोकायतिकादयः कुर्वन्ति, वाशब्दात्प्रतिषेधे प्रतिपाद्येऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति, तथाहि - लोकायतिकास्तावत्स्वशिष्येभ्यो जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतयाऽऽत्मानं कर्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापन्नांश्च शिष्यानवश्यमभ्युपगच्छेयुः, सर्वशून्यत्वे त्वस्य त्रितयस्याभावान्मिश्रीभावो व्यत्ययो वा। बौद्धा अपि मिश्रीभावमेवमुपगताः, तद्यथा -

“गन्ता च नास्ति कश्चिद्गतयः षड् बौद्धशास्त्रे प्रोक्ताः ।

गम्यत इति च गतिः स्याच्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धी ? ॥१॥

तथा - "कर्म (च) नास्ति फलं चास्ती" त्यसति चात्मनि कारके कथं षड्गतयः ?, ज्ञानसन्तानस्यापि संतानिव्यतिरेकेण संवृतिमत्त्वात् क्षणस्य चास्थितत्वेन क्रियाऽभावान्न नानागतिसंभवः, सर्वाण्यपि कर्माण्यबन्धनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे, तथा पञ्च जातकशतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तथा -

मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पाद्य । अर्हद्वधं च कृत्वा स्तूपं भित्त्वा च पश्यते ॥२॥

आवीचिनरकं यान्ति । एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणयनमयुक्तिसंगतं स्यात्, तथा जातिजरामरणरोग-शोकोत्तममध्यमाधमत्वानि च न स्युः, एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवास्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवत्त्वं चावेदयति, तथा

“गान्धर्वनगरतुल्या मायारवणोपपातघनसदृशाः । मृगतृष्णानीहाराम्बुचन्द्रिकालातचक्रसमाः ॥३॥

इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिश्रीभावोपगमनं बौद्धानामिति । यदिवा नानाविधकर्मविपाकाभ्युपगमात्तेषां व्यत्यय एवेति, तथा चोक्तम् -

यदि शून्यस्तव पक्षो मत्पक्षनिवारकः कथं भवति ? ।

अथ मन्यसे न शून्यस्तथापि मत्पक्ष एवासी ॥४॥

इत्यादि, तदेवं बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति॥ तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमभ्युपगम्य प्रकृतिवियोगान्मोक्षसद्भावं प्रतिपादयन्तस्तेऽप्यात्मनो बन्धं मोक्षं च स्ववाचा प्रतिपादयन्ति, ततश्च बन्धमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः सम्मिश्रीभावं व्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटेते, वाशब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव - सक्रियत्वं तेषां स्ववाचा प्रतिपद्यते । तदेवं लोकायतिकाः सर्वाभावाभ्युपगमेन क्रियाऽभावं प्रतिपादयन्ति बौद्धाश्च क्षणिकत्वात्सर्वशून्य-त्वाच्चाक्रियामेवाभ्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः सम्मिश्रीभावं स्ववाचैव प्रतिपद्यन्ते, तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमभ्युपगच्छन्तो बन्धमोक्षसद्भावं च स्वाभ्युपगमेनैव सम्मिश्रीभावं व्रजन्ति व्यत्ययं च एतत्प्रतिपादितम्। यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्वादिना सम्यग्धेतुदृष्टान्तैर्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तरं दातुमसमर्थो यत्किञ्चनभाषितया "मुम्मुई होइ" ति गद्गदभाषित्वेनाव्यक्तभाषी भवति, यदिवा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः, तद्यथा - मूकादपि मूको मूकमूको भवति, एतदेव दर्शयति - स्याद्वादिनोक्तं साधनमनुवदितुं शीलमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिषेधादननुवादी,

सद्भेतुभिर्व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः, अननुभाष्य च प्रतिपक्षसाधनं तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति तद्यथा - “इदम्” अस्मदभ्युपगतं दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापरविरुद्धमित्यर्थः, इदं चैवंभूतमपि सदि(त्कमि) त्याह - द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं - सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थः, यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शितमेव, यदिवेदमस्मदीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं कर्मबन्धनिर्जरणं प्रति पक्षद्वयसमाश्रयणात्, तत्समाश्रयणं चेहामुत्र च वेदनां चौरपारदारिकादीनामिव, ते हि करचरणनासिकादिच्छेदादिकामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विडम्बनामनुभवन्ति अमुत्र च नरकादौ तत्फलभूतां वेदनां समनुभवन्तीति, एवमन्यदपि कर्मोभयवेद्यमभ्युपगम्यते, तच्चेदं “प्राणी प्राणिज्ञान” मित्यादि पूर्ववत्, तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षं इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात्, तच्चेदम् - अविज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्रान्तिकं चेति । तदेवं स्याद्वादिनाऽभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रतिपादयन्ति, तथा स्याद्वादिसाधनोक्तौ छलायतनं - छलं नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकं “आहुः” उक्तवन्तः, चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकं, तथा कर्म च एकपक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति, यदिवा षडायतनानि - उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्षडायतनं कर्मेत्येवमाहुरिति ॥५॥

टीकार्थ - नास्तिक गण की वाणी के द्वारा अर्थात् उनके माने हुए सिद्धान्त से ही जब पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है अथवा जब पदार्थ का अस्तित्व माने बिना उनके सिद्धान्त की सिद्धि न होने के कारण, वह पदार्थ सिद्ध हो जाता है तब केवल वचन से उस पदार्थ का निषेध करते हुए वे नास्तिक इन दोनों से मिश्रित परस्पर विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते हैं । वा शब्द से यह समझना चाहिए कि - पदार्थ का प्रतिषेध करते हुए नास्तिक उसका अस्तित्व ही प्रतिपादन कर बैठते हैं । यह इस प्रकार समझना चाहिए - लोकायतिक मतवाले जीवादि पदार्थों का अभाव बतानेवाले शास्त्रों को अपने शिष्य के प्रति उपदेश करते हुए शास्त्र के कर्ता आत्मा को तथा उपदेश के साधन रूप शास्त्र को और जिसको उपदेश किया जाता है, उस शिष्य को तो अवश्य ही स्वीकार करते हैं क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना उपदेश आदि नहीं हो सकता है । परन्तु सर्वशून्यतावाद में ये तीनों पदार्थ भी नहीं हैं, अतः ये मिश्र पक्ष का आश्रय करते हैं अर्थात् पदार्थ नहीं है, यह भी कहते हैं और उसकी सत्ता भी स्वीकार करते हैं अथवा पदार्थ का प्रतिषेध करते हुए वे उसका अस्तित्व स्वीकार कर बैठते हैं। इसी तरह बौद्ध भी परस्पर विरुद्ध मिश्र पक्ष का ही आश्रय लेते हैं, अत एव विद्वानों ने कहा है कि “गन्ता च” अर्थात् जिसमें जानेवाला कोई नहीं माना गया है ऐसे बौद्धशासन में छः गतियाँ किस प्रकार कही गई हैं । गमन करने को गति कहते हैं, यह श्रुति (कहावत) बौद्धमत में किस प्रकार घट सकती है ? । कर्म तो है नहीं परन्तु उसका फल होता है ? यह कैसे ? जब कि गति करनेवाला आत्मा ही नहीं है तब उसकी छः गतियाँ कैसी ? बौद्धों का माना हुआ ज्ञान सन्तान भी प्रत्येक ज्ञानों से भिन्न नहीं किन्तु वह आरोपित है, तथा प्रत्येक ज्ञानक्षण क्षणविनाशी होने के कारण स्थिर नहीं है, इसलिए क्रिया न होने के कारण नाना गति होना इस मत में कदापि सम्भव नहीं है । तथा बौद्ध अपने आगम में सभी कर्मों को अबन्धन कहते हैं परन्तु पाँच सौ बार बुद्ध का जन्म लेना भी वे बताते हैं । तथा वे यह भी कहते हैं कि - माता और पिता को मारकर एवं बुद्ध के शरीर से रक्त निकाल कर अरिहन्त का वध करके तथा धर्मस्तूप को तोड़कर मनुष्य आवीचि नरक को जाता है । जब कि कर्म, बन्धन नहीं होता है तब फिर यह उक्ति किस प्रकार युक्त कही जा सकती है तथा जब कि सर्वशून्य है तब ऐसे शास्त्रों का निर्माण किस प्रकार युक्ति सङ्गत हो सकता है ? यदि कर्म बन्धनदायी नहीं है, तो जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, उत्तम, मध्यम और अधम किस प्रकार हो सकते हैं । कर्म का जो नाना प्रकार का फल देखा जाता है, इससे सिद्ध होता है कि जीव अवश्य है और वह कर्ता है तथा वह कर्म के सहित है । (इस प्रकार पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी) बौद्ध जो यह कहते हैं कि - “गान्धर्व” अर्थात् “बादलों के नगर का दृश्य के समान सांसारिक पदार्थ मिथ्या हैं तथा वे माया और स्वप्न, मृगतृष्णा, नीहारजल, चन्द्रिका और आलात चक्र के समान आभास मात्र हैं” सो यह स्पष्ट ही बौद्धों का मिश्र पक्ष स्वीकार करना है अथवा वे कर्मों का जूदा-जूदा फल मानकर सर्वशून्यतावाद से विपरीत भाषण करते हैं । अत एव जैनाचार्यों ने कहा है कि - हे मित्र!

तुम्हारा पक्ष यदि शून्य है तो वह मेरे पक्ष को कैसे निवारण कर सकता है ? और यदि तू शून्य नहीं मानता है तो तुम्हारा माना हुआ पक्ष मेरा ही हुआ । इस प्रकार बौद्ध पूर्वोक्त नीति से मिश्र पक्ष को प्राप्त हैं, वे पदार्थों का नास्तित्व बताते हुए उससे विपरीत अस्तित्व का ही प्रतिपादन करते हैं ।

इसी तरह सांख्यवादी भी आत्मा को सर्वव्यापक मानकर उसे क्रियारहित स्वीकार करके भी प्रकृति के वियोग से उसकी मुक्ति कहते हैं । अतः वे अपने वचन से ही आत्मा का बन्ध और मोक्ष बतलाते हैं । इस प्रकार जब कि आत्मा का बन्ध और मोक्ष होता है तब उनकी वाणी से ही आत्मा का क्रियावान् होना भी स्वीकृत हो जाता है, इसलिए सांख्यवादी भी मिश्र पक्ष को ही प्राप्त हैं, क्योंकि क्रिया के बिना बन्ध और मोक्ष होना नहीं बन सकता है । वा शब्द से यह बताया जाता है कि सांख्यवादी आत्मा को क्रियारहित सिद्ध करते हुए अपने वाक्य से ही उसे क्रियावान् कह बैठते हैं । इस प्रकार लोकायतिक सब पदार्थों का अभाव मानकर क्रिया का अभाव बतलाते हैं और बौद्ध सब पदार्थों को क्षणिक तथा शून्य मानकर क्रिया का अभाव स्वीकार करते हैं परन्तु जब उनसे पूछा जाता है कि— “यदि सब पदार्थ हैं ही नहीं तो तुम शास्त्र की रचना क्यों और कैसे करते हो” तब वे वचन से ही मिश्र वाक्य को स्वीकार करते हैं । इसी तरह सांख्यवादी आत्मा को क्रिया रहित स्वीकार करके भी फिर उसका बन्ध मोक्ष मानकर क्रियावान् स्वीकार करते हुए मिश्रभाव का आश्रय लेते हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त सभी अक्रियावादी अपने पक्ष का साधन करते हुए उससे विपरीत क्रियावाद पक्ष का साधन कर बैठते हैं । यह हमने पहले बता दिया है, इसलिए पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं । अथवा स्याद्वादी सम्यग् हेतु और दृष्टान्तों को आगे रखकर जब बौद्ध आदि के मतों का निराकरण करने लगते हैं, तब वे घबराकर उचित उत्तर देने में समर्थ नहीं होते हैं, किन्तु असम्बद्ध प्रलाप करते हुए अव्यक्त बड़बडाहट करने लगते हैं । अथवा प्राकृत की शैली के अनुसार छान्दस होने के कारण इसका अर्थ यह जानना चाहिए — स्याद्वादियों के द्वारा सम्यग् हेतु और दृष्टान्त बताये जाने पर वे बौद्ध आदि मूक से भी मूक हो जाते हैं, यही शास्त्रकार बताते हैं कि स्याद्वादियों के द्वारा कहे हुए सम्यग् हेतु को वे बौद्ध आदि अनुवाद भी नहीं करते हैं फिर उत्तर देने की तो बात ही क्या है ? । वे, स्याद्वादियों के द्वारा कहे हुए सम्यग् हेतु और दृष्टान्तों से घबराकर मौन का अवलम्बन करते हैं । स्याद्वादियों ने बौद्ध आदि के विरुद्ध जो हेतु और दृष्टान्त बताये हैं उनका अनुवाद किये बिना ही तथा उनका उत्तर दिये बिना ही वे अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं । वे कहते हैं कि हमारा दर्शन विरुद्ध पक्ष से रहित होने के कारण एक पक्षवाला है तथा परस्पर विरुद्ध अर्थ न बताने के कारण यह पूर्वापर विरोध रहित निर्बाध है परन्तु यह बात मिथ्या है क्योंकि इनका दर्शन पूर्वापर विरुद्ध अर्थ को जिस प्रकार बताता है सो हम पहले कह चुके हैं । अथवा जैनाचार्य कहते हैं कि यह हमारा दर्शन द्विपक्ष यानी दो पक्षोंवाला है क्योंकि कर्मबन्ध की निर्जरा के विषय में इस दर्शन में दो पक्ष माने गये हैं, जैसे कि— जीव अपने कर्म का फल चोर और परस्त्रीलम्पट के समान इसलोक और परलोक दोनों ही लोकों में प्राप्त करता है । चोर और परस्त्रीलम्पट पुरुष इस लोक में हाथ पैर और नासिका का छेदनरूप दुःख प्राप्त करते हैं जो उनके कर्म का फूल के समान है तथा परलोक में नरकादि यातनाओं को प्राप्त करते हैं जो उनके कर्मों के फल के समान है । जैसे चोरी और परस्त्रीप्रसङ्ग रूप कर्म के फल दोनों लोकों में भोगने पड़ते हैं, इसी तरह दूसरे शुभाशुभ कर्मों के फल भी दोनों लोकों में भोगे जाते हैं । अतः जैनदर्शन ऐसा सिद्धान्त मानने के कारण दो पक्षवाला है परन्तु बौद्धादि दर्शन ऐसे नहीं हैं, वे एक पक्ष वाले हैं । वे कहते हैं कि कर्म का फल इसी जन्म में भोगा जाता है, दूसरे लोक में नहीं यह “प्राणी प्राणिज्ञानम्” इत्यादि स्थल में कहा गया है। तथा वे कहते हैं कि अविज्ञोपचित, परिज्ञोपचित, स्वप्नान्तिक और ईर्य्यापथ कर्मों का बन्ध केवल स्पर्शमात्र होता है परन्तु उसका फल परलोक में नहीं होता है, अतः वे एक पक्षवाले हैं । इस प्रकार स्याद्वादी जब उनके मत में दोष बताते हैं तब वे पूर्वोक्त नीति का आश्रय लेकर अपने दर्शन को ही उत्तम बताते हैं और स्याद्वादियों के बताये हुए सम्यग् हेतु में छल का प्रयोग करते हैं, जैसे कि — देवदत्त का कम्बल नया है, इस अभिप्राय से कहे हुए “नवकम्बलो देवदत्तः” इस वाक्य को नव शब्द का संख्या अर्थ करके कोई प्रतिषेध करता है, उसी तरह बौद्धादिकों ने जैनों के सद्देतुओं में छल का प्रयोग किया है और च शब्द से दूसरे भी अयुक्त दूषण बताये हैं तथा बौद्धों ने अपने दर्शन में कर्म को एक पक्ष और दो पक्ष आदि भी माना है अथवा वे बौद्ध आदि कर्म को

षडायतन कहते हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रिय जिसके उपादान कारण यानी आश्रयद्वार हैं, उसे षडायतन कहते हैं, इस प्रकार बौद्धों ने कर्म को षडायतन भी कहा है ॥५॥



- साम्प्रतमेतद्दूषणायाह -

- अब इस मत को दूषित करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूवरूवाणि अकिरियवाई ।

जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमंति संसारमणोवदग्गं

॥६॥

छाया - त एवमाचक्षतेऽबुध्यमानाः, विरूपरूपाण्यक्रियावादिनः ।

यमादाय बहवो मनुष्याः भ्रमन्ति संसारमनवदग्रम् ॥

अन्वयार्थ - (अबुज्झमाणा ते अकिरियवाई) वस्तु स्वरूप को न समझनेवाले वे अक्रियावादी (विरूवरूवाणि एवमक्खंति) नाना प्रकार के शास्त्रों का कथन करते हैं (जे मायइत्ता बहवे मणूसा) जिन शास्त्रों का आश्रय लेकर बहुत से मनुष्य (अणोवदग्गं संसारं भमंति) अनन्तकाल तक संसार भ्रमण करते हैं ।

भावार्थ - वस्तु स्वरूप को न जाननेवाले वे अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रों का कथन करते हैं, जिन शास्त्रों का आश्रय लेकर बहुत से मनुष्य अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते हैं ।

टीका - 'ते' चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते' सद्भावमबुध्यमाना मिथ्यामलपटलावृतात्मानः परमात्मानं च व्युद्ग्राहयन्तो "विरूपरूपाणि" नाना प्रकाराणि शास्त्राणि प्ररूपयन्ति, तद्यथा -

दानेन महाभोगाश्च देहिनां सुरगतिश्च शीलेन । भावयत्या च विमुक्तिस्तपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥१॥

तथा पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतान्येव चत्वारि भूतानि विद्यन्ते, नापरः कश्चित्सुखदुःखभागात्मा विद्यते, यद्वैतान्यप्यविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति, स्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकानिचयद्विचन्द्रादि-प्रतिभासरूपत्वात्सर्वस्येति। तथा "सर्वं क्षणिकं निरात्मकं" "मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदार्थाः शेषभावना" इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रियात्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमबुध्यमाना यद्दर्शनम् "आदाय" गृहीत्वा बहवो मनुष्याः संसारम् "अनवदग्रम्" अपर्यवसानमरहदृष्टघटीन्यायेन "भ्रमन्ति" पर्यटन्ति, तथाहि - लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्ये न प्रमाणमस्ति, तथा चोक्तम् -

"तत्त्वान्युपप्लुतानीति, युक्त्यभावे न सिध्यति ।

¹ साऽस्ति चैतत्तैव नस्तत्त्वं, तत्सिद्धौ सर्वमस्तु सत् ॥२॥"

न च प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्, अतीतानागतभावतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेः, ततः सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तक्षणिकत्वेन वस्तुत्वाभावः प्रसजति, तथाहि - यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सत्, न च क्षणः क्रमेणार्थक्रियां करोति, क्षणिकत्वहानेः, नापि यौगपद्येन, (तत्कार्याणां) एकस्मिन्नेव क्षणे सर्वकार्यापत्तेः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, न च ज्ञानाधारभात्मानं गुणिमन्तरेण गुणभूतस्य संकलनाप्रत्ययस्य सद्भाव इत्येतच्च प्रागुक्तप्रायं, यच्चोक्तं - "दानेन महाभोगा" इत्यादि तदाहर्तैरपि कथञ्चिदिष्यत एवेति, न चाभ्युपगमा एव बाधायै प्रकल्प्यन्त इति॥६॥

टीकार्थ - अक्रियावादी चार्वाक और बौद्ध आदि पूर्वोक्त रीति से अक्रियावाद का वर्णन करते हैं । वस्तुतः वे वस्तु तत्त्व को नहीं समझते हैं । उनका हृदय मिथ्यात्वरूपी मल समूह से ढँका हुआ है । वे अपना सिद्धान्त दूसरे को तथा अपने को ग्रहण कराते हुए नाना प्रकार के शास्त्रों की प्ररूपणा करते हैं । जैसे कि वे कहते हैं-

“दानेन” अर्थात् दान देने से महान भोग प्राप्त होता है और शील पालन करने से देवगति प्राप्त होती है एवं शुभ भावना करने से मुक्ति होती है और तप करने से सब कुछ सिद्ध होता है तथा वे कहते हैं कि - “पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार ही भूत हैं, इनसे भिन्न सुख दुःख को भोगनेवाला कोई आत्मा नहीं है, तथा ये पदार्थ भी विचार न करने से सत्य प्रतीत होते हैं परन्तु परमार्थ दशा में मिथ्या हैं क्योंकि सभी पदार्थ, स्वप्न, इन्द्रजाल, मरुमरीचि का दो चन्द्रमा आदि के समान प्रतिभास रूप हैं एवं सभी पदार्थ क्षणिक और आत्मा से रहित हैं तथा सर्वशून्यता दृष्टि से मुक्ति प्राप्त होती है और उसी मुक्ति की प्राप्ति के लिए शेष भावनायें की जाती हैं” इस प्रकार आत्मा को क्रिया रहित माननेवाले अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रों का कथन करते हैं। वस्तुतः ये लोग वस्तु स्वरूप को नहीं जानते हैं, अत एव इनके दर्शनों का आश्रय लेकर बहुत लोग अरहट की तरह अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते हैं। लोकायतिक सर्वशून्यतावाद मानते हैं परन्तु सर्वशून्य में कोई प्रमाण नहीं है, अत एव जैनाचार्यों ने कहा है कि- “तत्त्वानि” अर्थात् पदार्थ सब असत् हैं, यह बात युक्ति के बल से सिद्ध की जा सकती है परन्तु वह युक्ति भी यदि असत् है, तो किसके बल से पदार्थों की असत्ता सिद्ध की जायगी?। यदि युक्ति को तुम सत्य मानो तब तो हमारा ही सिद्धान्त सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे युक्ति सत्य है, उसी तरह सभी पदार्थ सत्य हैं। तथा चार्वाक एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि- भूत और भविष्य काल में जो पिता और पुत्र के सम्बन्ध का व्यवहार लोक में होता है, वह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेपर नहीं हो सकता है क्योंकि भूत और भविष्य प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेपर जगत् के सभी व्यवहारों का उच्छेद हो जायगा, इसलिए अनुमान आदि प्रमाण भी मानने चाहिए। अतः उन प्रमाणों को न मानना अज्ञान का फल है। इसी तरह बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं परन्तु पदार्थों को क्षणिक माननेपर उनका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ कोई क्रिया करता है, वही वस्तुतः सत् है (परन्तु जो कोई क्रिया नहीं करता वह सत् नहीं है जैसे खरशृङ्ग) यदि पदार्थ क्षणिक है, तो वह क्रमशः क्रियाओं को नहीं कर सकता, क्योंकि क्रमशः क्रिया करने पर वह क्षणिक नहीं हो सकता। यदि वह एक ही क्षण में सब कार्य्यों को करे तो सभी कार्य एक ही क्षण में हो जाने चाहिए परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता और इष्ट भी नहीं है। अतः क्षणभङ्गवाद युक्तिविरुद्ध है। तथा समस्त ज्ञानों का आधार एक गुणी आत्मा माने बिना “मैंने पाँच ही विषय जाने” इत्यादि संकलनात्मक ज्ञान भी नहीं हो सकता है, यह हम पहले बता चुके हैं, इसलिए सब को क्षणिक मानना मिथ्या है। बौद्धों ने जो यह कहा है कि - “दान देने से महान् भोग की प्राप्ति होती है” सो तो आर्हत लोग भी कथञ्चित् स्वीकार करते हैं, इसलिए अंशतः स्वीकृत होने के कारण यह हम से प्रतिकूल नहीं है ॥६॥



- पुनरपि शून्यमताविर्भावनायाह -

- फिर शास्त्रकार सर्वशून्यतावादी का मत बताने के लिए यह गाथा कहते हैं -

णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढति हायती वा ।

सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए

॥७॥

छाया - नादित्य उदेति नास्तमेति, न चन्द्रमा वर्धते हीयते वा ।

सलिलाणि न स्युर्दन्ते, न वाञ्छि वाताः पृथ्व्यो मियतः कृत्स्नो लोकः ॥

अन्वयार्थ - (णाइच्चो उएइ) सर्वशून्यतावादी कहते हैं कि सूर्य उगता नहीं है (ण अत्थमेति) और न वह अस्त होता है। (चंदिमा ण वड्ढति हायती वा) तथा चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है। (सलिला न संदंति) तथा पानी बहता नहीं है (ण वंति वाता) और वायु चलता नहीं है (कसिणे लोए णियतो वंझो) किन्तु यह समस्त जगत् झूठा और अभावरूप है।

भावार्थ - सर्वशून्यतावादी कहते हैं कि सूर्य उगता नहीं और अस्त भी नहीं होता है तथा चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है, एवं पानी बहता नहीं है और हवा भी चलती नहीं है किन्तु यह समस्त विश्व झूठा और अभावरूप है।

टीका - सर्वशून्यवादिनो ह्यक्रियावादिनः सर्वाध्यक्षामादित्योद्गमनादिकामेव क्रियां तावन्निरुन्धन्तीति दर्शयति- आदित्यो हि सर्वजनप्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी स एव तावन्न विद्यते, कुतस्तस्योद्गमनमस्तमयनं वा ?, यच्च जाज्वल्यमानं तेजोमण्डलं दृश्यते तद् भ्रान्तमतीनां द्विचन्द्रादिप्रतिभासमृगतृष्णिकाकल्पं वर्तते । तथा न चन्द्रमा वर्धते शुक्लपक्षे, नाप्यपरपक्षे प्रतिदिनमपहीयते, तथा “न सलिलानि” उदकानि “स्यन्दन्ते” पर्वतनिर्झरिभ्यो न स्रवन्ति । तथा वाताः सततगतयो न वान्ति । किं बहुनोक्तेन?, कृत्स्नोऽप्ययं लोको “वन्ध्यः” अर्थशून्यो “नियतो” निश्चितः अभावरूप इतियावत्, सर्वमिदं यदुपलभ्यते तन्मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति ॥७॥

टीकार्थ - सर्व शून्यतावादी अक्रियावादी, सर्वलोकप्रत्यक्ष जो सूर्य का उदय और अस्तरूप क्रिया है, उसका भी प्रतिषेध करते हैं । यही शास्त्रकार दिखलाते हैं - सूर्य सर्वजनप्रत्यक्ष और जगत् के दीपक के समान एवं दिन आदि काल का विभाग करनेवाला है, परन्तु सर्वशून्यतावादी के मत में जब कि वही नहीं है, तब उसके उदय और अस्त की तो बात ही क्या है?। सर्वशून्यतावादी कहते हैं कि आकाश में जो जलता हुआ तेजो मण्डल दिखाई देता है, वह भ्रान्तपुरुषों को दिखाई देता हुआ दो चन्द्र आदि तथा मृगतृष्णा के समान मिथ्या है । एवं चन्द्रमा शुक्लपक्ष में बढ़ता नहीं है और कृष्णपक्ष में प्रतिदिन घटता भी नहीं है । तथा जल, पर्वतों के झरनों से गिरता नहीं है एवं निरन्तर गति करनेवाला वायु भी नहीं चलता है । बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है, यह समस्त विश्व अर्थशून्य और निश्चय अभावरूप है । इस जगत् में जो वस्तु उपलब्ध होती है, वह सब माया, स्वप्न और इन्द्रजाल के समान मिथ्या है । (यह सर्व शून्यतावादी कहते हैं) ॥७॥



- एतत्परिहर्तुकाम आह -

- अब शास्त्रकार सर्वशून्यतावादी के मत का खण्डन करने के लिए कहते हैं -

जहाहि अंधे सह जोतिणावि, रूवाइ णो पस्सति हीणणेत्ते ।

संतंपि ते एवमकिरियवाई, किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना

॥८॥

छाया - यथा ह्यन्धः सह ज्योतिषाऽपि रूपाणि न पश्यति हीननेत्रः ।

सतीमपि ते एवमक्रियावादिनः क्रियां न पश्यन्ति निरुद्धप्रज्ञाः ॥

अन्वयार्थ - (जहाहि अंधे सह जोतिणावि) जैसे अन्ध पुरुष ज्योति के साथ रहकर भी (हीणणेत रूवाइ णो पस्सति) नेत्रहीन होने के कारण रूप को नहीं देखता है (एवं निरुद्धपन्ना ते अकिरियवाई) इसी तरह बुद्धिहीन अक्रियावादी (संतंपि किरियं ण पस्संति) विद्यमान क्रिया को भी नहीं देखते हैं ।

भावार्थ - जैसे अन्ध मनुष्य दीपक के साथ रहता हुआ भी घटपटादि पदार्थों को नहीं देख सकता है, इसी तरह जिनके ज्ञान पर पर्दा पड़ा हुआ है, ऐसे अक्रियावादी विद्यमान घटपटादि पदार्थों को भी नहीं देख सकते हैं ।

टीका - यथा ह्यन्धो - जात्यन्धः पश्चाद्वा “हीननेत्रः” अपगतचक्षुः “रूपाणि” घटपटादीनि “ज्योतिषापि” प्रदीपादिनापि सह वर्तमानो “न पश्यति” नोपलभते, एवं तेऽप्यक्रियावादिनः सदपि घटपटादिकं वस्तु तत्क्रियां चास्तित्वादिकां परिस्पन्दादिकां वा (क्रियां) न पश्यन्ति । किमिति ? , यतो निरुद्धा आच्छादिता ज्ञानावरणादिना कर्मणा प्रज्ञा - ज्ञानं येषां ते तथा, तथाहि - आगोपालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरोद्घाटनपटीयानादित्योद्गमः प्रत्यहं भवन्नुपलक्ष्यते, तत्क्रिया च देशादेशान्तरावाप्त्याऽन्यत्र देवदत्तादौ प्रतीताऽनुमीयते । चन्द्रमाश्च प्रत्यहं क्षीयमाणः समस्त क्षयं यावत्पुनः कलाभिवृद्धया प्रवर्धमानः संपूर्णावस्था (स्थां)यां यावदध्यक्षेणैवोपलक्ष्यते । तथा सरितश्च प्रावृषि जलकल्लोलाविलाः स्यन्दमाना दृश्यन्ते । वायवश्च वान्तो वृक्षभङ्गकम्पादिभिरनुमीयन्ते । यच्चोक्तं भवता - सर्वमिदं मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति, तदसत्, यतः सर्वाभावे कस्यचिदमायारूपस्य सत्यस्याभावान्मायाया एवाभावः स्यात्, यश्च मायां प्रतिपादयेत् यस्य च प्रतिपाद्यते सर्वशून्यत्वे तयोरेवाभावात्कुतस्तद्व्यवस्थितिरिति ? , तथा स्वप्नोऽपि

जाग्रदवस्थायां सत्यां व्यवस्थाप्यते तस्या अभावे तस्याप्यभावः स्यात्ततः स्वप्नमभ्युपगच्छता भवता तन्नान्तरीयकतया जाग्रदवस्थाऽवश्यमभ्युपगता भवति, तदभ्युपगमे च सर्वशून्यत्वहानिः, न च स्वप्नोऽप्यभावरूप एव, स्वप्नेऽप्यनुभूतादेः सद्भावात्, तथा चोक्तम् -

¹“अणुह्यदिदृचिंतियस्यपयइवियारदेवयाऽणूया । सुमिणरुल निमित्ताई पुण्णं पावं च णाभावो ॥१॥

इन्द्रजालव्यवस्थाऽप्यपरसत्यत्वे सति भवति, तदभावे तु केन कस्य चैन्द्रजालं व्यवस्थाप्येत ?, द्विचन्द्रप्रतिभासोऽपि रात्रौ सत्यामेकस्मिंश्च चन्द्रमस्युपलम्भकसद्भावे च घटते न सर्वशून्यत्वे, न चाभावः कस्यचिदप्यत्यन्ततुच्छरूपोऽस्ति, शशविषाणकूर्मरोमगगनारविन्दादीनामत्यन्ताभावप्रसिद्धानां समासप्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याभावो न प्रत्येकपदवाच्यार्थस्येति, तथाहि - शशोऽप्यस्ति विषाणमप्यस्ति किं त्वत्र शशमस्तकसमवायि विषाणं नास्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते, तदेवं संबन्धमात्रमत्र निषिध्यते नात्यन्तिको वस्त्वभाव इति, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति । तदेवं विद्यमानायामप्यस्तीत्यादिकायां क्रियायां निरुद्धप्रज्ञास्तीर्थिका अक्रियावादमाश्रिता इति ॥८॥

टीकार्थ - जैसे जन्मान्ध पुरुष या पीछे से नष्ट नेत्रवाला पुरुष दीपक आदि ज्योतियों के साथ रहकर भी घटपटादि पदार्थों को देख नहीं सकता, उसी तरह अक्रियावादी विद्यमान घटपटादि पदार्थों को तथा उनकी स्पन्दन आदि क्रियाओं को नहीं देख सकते, क्योंकि उनका ज्ञान, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से ढँका हुआ है । सूर्य का उदय सर्वलोक में प्रसिद्ध है । वह समस्त अन्धकार को दूर करता है तथा कमलसमूह को विकसित करता है । वह प्रतिदिन होता हुआ दिखाई देता है । तथा एक देश से दूसरे देश में सूर्य की प्राप्ति देखकर उसकी गति भी अनुमित होती है । जैसे देवदत्त गति करके ही एक देश से दूसरे देश में जाता है । इसी तरह सूर्य भी गति करके ही एक देश से दूसरे देश में जाता है तथा चन्द्रमा भी कृष्णपक्ष में प्रतिदिन क्षीण होता हुआ तथा समस्त क्षीण होकर फिर शुक्लपक्ष में एक-एक कला से बढ़ता हुआ पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण अवस्था में प्रत्यक्ष ही देखा जाता है । तथा नदियाँ वर्षाऋतु में जल के तरङ्गों से भरीं और बहती हुई प्रत्यक्ष देखी जाती हैं । एवं वृक्ष के कम्पन आदि के द्वारा वायु के बहने का भी अनुमान होता है । नास्तिक इन समस्त वस्तुओं को जो माया और इन्द्रजाल के समान मिथ्या बताते हैं, वह ठीक नहीं है क्योंकि - समस्त वस्तु के अभाव मानने पर अमायारूप किसी भी सत्य वस्तु के न होने से माया का भी अभाव होगा । तथा जो माया का कथन करता है और जिसके प्रति माया का कथन किया जाता है इन दोनों के अभाव होने से किस प्रकार माया की व्यवस्था की जा सकती है? तथा स्वप्न भी जाग्रत् अवस्था होने पर ही होता है, अतः जाग्रत् अवस्था के अभाव होने पर स्वप्न का भी अभाव होगा, अतः स्वप्न माननेवाले चार्वाक के द्वारा जाग्रत् के बिना स्वप्न के न होने से जाग्रत् भी स्वीकृत हो ही जाता है। इस प्रकार जाग्रत् अवस्था को स्वीकार करने पर सर्वशून्यता की हानि होती है । तथा स्वप्न भी अभावरूप नहीं है, क्योंकि स्वप्न में देखे हुए पदार्थ भी बाहर पाये जाते हैं, अत एव कहा है कि “अणुह्य” इत्यादि अर्थात् अनुभव किया हुआ, देखा हुआ, चिन्ता किया हुआ, सुना हुआ, प्रकृति का विकार, देवता का प्रभाव, और पुण्य तथा पाप ये स्वप्न के कारण होते हैं परन्तु अभाव कारण नहीं है । तथा दूसरी सच्ची वस्तु होने पर ही इन्द्रजाल की व्यवस्था की जाती है परन्तु जगत् में जब कोई वस्तु सत्य है ही नहीं तब कौन पुरुष किस के प्रति इन्द्रजाल की व्यवस्था करेगा ? तथा दो चन्द्रमा का प्रतिभास भी रात्रि सत्य होने पर तथा दो चन्द्रमा का प्रतिभास करानेवाला एक चन्द्रमा के सत्य होने पर ही हो सकता है परन्तु सर्वशून्य होने पर नहीं हो सकता । तथा किसी भी वस्तु का अत्यन्त तुच्छरूप अभाव नहीं है क्योंकि अत्यन्ताभावरूप से प्रसिद्ध जो शशविषाण, कूर्मरोम और गगनारविन्द आदि हैं, उनके समासवाच्य अर्थ का ही अभाव है, प्रत्येक पदवाच्य अर्थ का अभाव नहीं है। क्योंकि जगत् में शश (खरगोश) भी है और विषाण (सींग) भी है, इसलिए शश के मस्तक पर सींग के उगने मात्र का यहां निषेध है, वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नहीं है । इसी तरह अन्य स्थानों में भी जानना चाहिए । इस प्रकार अस्ति इत्यादि क्रिया होने पर भी बुद्धि हीन परतीर्थी अक्रियावाद का आश्रय लेते हैं ॥८॥



- अनिरुद्धप्रज्ञास्तु यथावस्थितार्थवेदिनो भवन्ति, तथाहि - अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानिनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनः पदार्थान् करतलामलकन्यायेन पश्यन्ति, समस्तश्रुतज्ञानिनोऽपि आगमबलेनातीतानागतानर्थान् विदन्ति, येऽप्यन्ये-
ऽष्टाङ्गनिमित्तपारगास्तेऽपि निमित्तबलेन जीवादिपदार्थपरिच्छेदं विदधति, तदाह -

- जिनकी बुद्धि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से ढँकी हुई नहीं है, वे तो पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं। जैसे कि अवधिज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी और केवलज्ञानी, तीनों लोक के पदार्थों को हाथ में रखे हुए आँवले के समान देखते हैं तथा समस्त श्रुतज्ञानी जीव भी आगम के बल से अतीत और अनागत अर्थ को जानते हैं एवं आठ अङ्गवाले निमित्तों को जाननवाले पुरुष भी निमित्त के बल से जीवादि पदार्थों को जानते हैं, यही शास्त्रकार बताते हैं-

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्तदेहं च उप्पाइयं च ।

अट्ठंगमेयं बहवे अहिता, लोगंसि जाणंति अणागताइं

॥९॥

छाया - संवत्सरं स्वप्नं लक्षणञ्च, निमित्तं देहञ्चोत्पातिकञ्च ।

अष्टाङ्गमेतद् बहवोऽधीत्य लोके जानन्त्यणागतानि ॥

अन्वयार्थ - (संवच्छरं सुविणं लक्खणं च) ज्योतिष, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र (निमित्तं देहं च उप्पाइयं च) निमित्त शास्त्र तथा शरीर के तिल आदि का फल बतानेवाला शास्त्र एवं उल्कापात और दिग्दाह आदि का फल बतानेवाला शास्त्र (एयं अट्ठंगं अहिता) इन आठ अङ्गवाले शास्त्रों को पढ़कर (लोगंसि बहवे) लोक में बहुत से पुरुष (अणागताइं जाणंति) भविष्य की बातों को जानते हैं ।

भावार्थ - जगत् में बहुत से पुरुष ज्योतिष शास्त्र, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्तशास्त्र, शरीर के तिल आदि का फल बतानेवाला शास्त्र और उल्कापात तथा दिग्दाह आदि का फल बतानेवाला शास्त्र, इन आठ अङ्गोंवाले शास्त्रों को पढ़कर भविष्य में होनेवाली बातों को जानते हैं ।

टीका - “संवत्सर” मिति ज्योतिषं स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नस्तमधीत्य “लक्षणं” श्रीवत्सादिकं, चशब्दादान्तरबाह्यभेदभिन्नं, “निमित्तं” वाक्प्रशस्तशकुनादिकं देहे भवं दैहं - मषकतिलकादि, उत्पाते भवमौत्पातिकम् - उल्कापातदिग्दाहनिर्घातभूमिकम्पादिकं, तथा अष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य, तद्यथा - भौममुत्पातं स्वप्नमान्तरिक्षमाङ्गं स्वरं लक्षणं व्यञ्जनमित्येवंरूपं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुविनिर्गतं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभादिसंसूचकं निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तूनि अनागतानि च “जानन्ति” परिच्छिन्दन्ति, न च शून्यादिवादेष्वेतद् घटते, तस्मादप्रमाणकमेव तैरभिधीयत इति ॥९॥

टीकार्थ - ज्योतिष शास्त्र को “संवत्सर” कहते हैं तथा स्वप्न में देखी हुई बात का जो फल बताता है उस ग्रन्थ को “स्वप्न” कहते हैं । इन शास्त्रों को पढ़कर लोग भविष्य की बातों को जान लेते हैं । तथा श्रीवत्स आदि को लक्षण कहते हैं, वह बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है तथा निमित्त यानी पक्षी और मनुष्य की वाणी तथा प्रशस्त शकुन आदि एवं देह में उत्पन्न माष और तिल आदि का फल बतानेवाला शास्त्र, एवं उल्कापात, दिग्दाह, आकाशगर्जन, और भूकम्प आदि तथा आठ अङ्गवाले निमित्त शास्त्रों को पढ़कर लोग भविष्य की बातों को जानते हैं। वे आठ अङ्ग ये हैं - भौम, उत्पात, स्वप्न, अन्तरिक्ष, अङ्ग, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन, तथा नवम पूर्व में तीसरा आचार वस्तु प्रकरण में से उद्धृत जो सुख, दुःख, जीवन, मरण और लाभ तथा अलाभ आदि का सूचक निमित्त शास्त्र है, इनको पढ़कर लोग इस लोक में भूत और भविष्य की बातों को जान लेते हैं परन्तु शून्यवाद मानने पर यह नहीं हो सकता है, इसलिए चार्वाक आदि प्रमाण के बिना ही शून्यबोधक शास्त्र का अध्ययन करते हैं ॥९॥



- एवं व्याख्याते सति आह परः -

- इस प्रकार क्रियावाद का समर्थन करनेपर परवादी कहता है कि -

केई निमित्ता तहिया भवन्ति, केसिंचि तं विप्पडिण्ति णाणं ।

ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव

॥१०॥

छाया - कानिचिन्निमित्तानि सत्यानि भवन्ति, केषाञ्चित्तत् विपर्येति ज्ञानम् ।

ते विद्याभावमनधीयाना आहुर्विद्यापरिमोक्षमेव ॥

अन्वयार्थ - (केई निमित्ता तहिया भवन्ति) कोई निमित्त सत्य होता है (केसिंचि तं णाणं विप्पडिण्ति) और किसी किसी निमित्तवादी का वह ज्ञान विपरीत होता है । (ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा) यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी (विज्जापरिमोक्खमेव आहंसु) विद्या के त्याग को ही कल्याणकारक कहते हैं ।

भावार्थ - कोई निमित्त सत्य होता है और किसी - किसी निमित्तवादी का वह ज्ञान विपरीत होता है । यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या के त्याग को ही कल्याणकारक कहते हैं ।

टीका - ननु व्यभिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते, तथाहि - चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतित्वमागम उद्घुष्यते किं पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम्?, अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशास्त्राणामनुष्ठुभेन छन्दसाऽर्धत्रयोदश शतानि सूत्रं तावन्त्येव सहस्राणि वृत्तिस्तावत्प्रमाणलक्षा परिभाषेति, अङ्गस्य त्वर्धत्रयोदशसहस्राणि सूत्रं, तत्परिमाणलक्षा वृत्तिरपरिमितं वार्तिकमिति, तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः षट्स्थानपतितत्वेन व्यभिचारित्वमत इदमाह - "केई" त्यादि, छान्दसत्वात्प्राकृतशैल्या वा लिङ्गव्यत्ययः, कानिचिन्निमित्तानि "तथ्यानि" सत्यानि भवन्ति, केषाञ्चित्तु निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा ¹बुद्धिवैकल्यात्तथाविधक्षयोपशमाभावेन तत् निमित्तज्ञानं "विपर्यासं" व्यत्ययमेति, आर्हतानामपि निमित्तव्यभिचारः समुपलभ्यते, किं पुनस्तीर्थिकानां?, तदेवं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपलभ्य "ते" अक्रियावादिनो "विद्यासद्भावं" विद्यामनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्वा ते "आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव" विद्यायाः - श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोक्षं - परित्यागमाहुः - उक्तवन्तः, यदिवा - क्रियाया अभावाद्विद्यया - ज्ञानेनैव मोक्षं - सर्वकर्मच्युतिलक्षणमाहुरिति । क्वचिच्चरमपादस्यैवं पाठः, "जाणासु लोगंसि वयन्ति मंद"ति, विद्यामनधीत्यैव स्वयमेव लोकमस्मिन् वा लोके भावान् स्वयं जानीमः, एवं "मंदाः" जडा वदन्ति, न च निमित्तस्य तथ्यता, तथाहि - कस्यचित्त्वचिन्तुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनाद्, सच्छकुनसद्भावेऽपि कार्यविधातदर्शनाद्, अतो निमित्तबलेनादेशविधायिनां मृषावाद एव केवलमिति, नैतदस्ति, न हि सम्यगधीतस्य श्रुतस्यार्थे विसंवादोऽस्ति, यदपि षट्स्थानपतितत्वमुद्घोष्यते तदपि पुरुषाश्रितक्षयोपशमवशेन, न च प्रमाणाभासव्यभिचारे सम्यक्प्रमाणव्यभिचाराशङ्का कर्तुं युज्यते, तथाहि - मरुमरीचिकानिचये जलग्राहि प्रत्यक्षं व्यभिचरतीतिकृत्वा किं सत्यजलग्राहिणोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंगतो भवति?, न हि मशकवर्तिरग्नि-सिद्धावुपदिश्यमाना व्यभिचारिणीति सत्यधूमस्यापि व्यभिचारो, न हि सुविवेचितं कार्यं कारणं व्यभिचरतीति, ततश्च प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्य, एवं सुविवेचितं निमित्तश्रुतमपि न व्यभिचरतीति, यश्च क्षुतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनेन व्यभिचारः शङ्क्यते सोऽनुपपन्नः, तथाहि कार्याकृतात् क्षुतेऽपि गच्छतो या कार्यसिद्धिः साऽपान्तराले इतरशोभननिमित्त-बलात्संजातेत्येवमवगन्तव्यं, शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतरनिमित्तबलात्कार्यव्याघात इति, तथा च श्रुतिः - किल बुद्धः स्वशिष्यानाहूयोक्तवान्, यथा - "द्वादशवार्षिकमत्र दुर्भिक्षं भविष्यतीत्यतो देशान्तराणि गच्छत यूयं" ते तद्वचनाद्गच्छन्तस्तेनैव प्रतिषिद्धाः, यथा "मा गच्छत यूयम्, इहाद्यैव पुण्यवान् महासत्त्वः संजातस्तत्प्रभावात्सुभिक्षं भविष्यति" तदेवमन्तराऽपरनिमित्तसद्भावात्तद्व्यभिचारशङ्केति स्थितम् ॥१०॥

टीकार्थ - ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान झूठा भी देखा जाता है, क्योंकि चौदह पूर्व को जाननेवाले पुरुष भी छः स्थानों में भूल करते हैं, यह जैन शास्त्र कहता है तब फिर अष्टांग निमित्त के जाननेवालों की भूल करने की तो बात ही क्या है ? तथा अङ्ग से जूदा निमित्त शास्त्रों के १२५० साढ़े बारह सौ अनुष्ठुप श्लोक हैं और उन श्लोकों की साढ़े बारह हजार वृत्ति हैं एवं उनकी परिभाषा साढ़े बारह लाख है तथा अङ्गों के सूत्र साढ़े बारह हजार हैं और उनकी वृत्ति साढ़े बारह लाख है और वृत्ति अपरिमित है, इस प्रकार अष्टांग निमित्त जाननेवालों के

1. बौधवैकल्यात् यद्वा निमित्तशब्देन निमित्तशास्त्राणि तेन तद्विषयकबुद्धिवैकल्यात् ।

कनिष्ठ और श्रेष्ठ भेद से छः भेद होते हैं, इनके कथन में भी फर्क देखा जाता है, यह बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं - यहां "कोई इत्यादि पद छान्दस होने के कारण अथवा प्राकृत की शैली से नपुंसक के स्थान में पुलिङ्ग हुए हैं। कोई निमित्त सच्चे और कोई झूठे होते हैं तथा किसी निमित्तवादी की बुद्धि की कमी के कारण तथा उस प्रकार का क्षयोपशम न होने से उसके निमित्तज्ञान में फर्क देखा जाता है। आर्हतों (जैन निमित्तज्ञों) के निमित्तज्ञान में भी फर्क पड़ जाता है फिर दूसरे मतवालों के निमित्तज्ञान में फर्क पड़ना क्या बड़ी बात है ?। इस प्रकार निमित्तशास्त्र के ज्ञान में फर्क पड़ना देखकर अक्रियावादी विद्या को सत्य न मानते हुए, निमित्तशास्त्र को सत्य और झूठ दोनों मानकर श्रुतज्ञान के त्याग का उपदेश करते हैं। अथवा वे क्रिया को निरर्थक मानकर ज्ञान मात्र से सब कर्मों का नाशरूप मोक्ष बतलाते हैं। कहीं - कहीं चतुर्थ चरण का पाठ इस प्रकार मिलता है- "जाणासु लोगंसि वयंति मंदा" इसका अर्थ यह है - वे अक्रियावादी समझते हैं कि विद्या पढ़े बिना ही हम लोक को अथवा लोक के पदार्थों को जानते हैं, इस प्रकार वे मन्दबुद्धि कहते हैं। वे ज्योतिष को सत्य नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि छींक होने पर भी जाते हुए किसी पुरुष के कार्य की सिद्धि देखी जाती है और अच्छे शकुन से जाते हुए भी किसी के कार्य की सिद्धि नहीं देखी जाती है, अतः निमित्त के बल से जो ज्योतिषी लोग फल बताते हैं, वे मिथ्यावादी हैं। इसका उत्तर देते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं है, अच्छी रीति से शास्त्र का अभ्यास किया हो और सोच विचारकर कहे तो उसमें फर्क नहीं पड़ता है। तथा ज्ञान के विचार में जो छः भेद कहे गये हैं वे भेद, उन पुरुषों में क्षयोपशम की न्यूनता के कारण कहे गये हैं। प्रमाणाभास में फर्क पड़ने से सच्चे प्रमाण में फर्क पड़ने की शङ्का करना युक्त नहीं है। रेतीले प्रदेशों में ग्रीष्मऋतु में जल का प्रत्यक्ष मिथ्या होता है, इसलिए तालाब या गङ्गा आदि में सत्य जल के प्रत्यक्ष को मिथ्या कहना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता। मशक में धूम भरकर उसका मुख बौंधकर कोई किसी जगह ले जाकर उसका मुख खोल दे तो उसमें धूम निकलता है परन्तु वह धूम उस मशक में अग्नि सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, इसलिए रसोई घर से निकलता हुआ धूम अग्नि साधन करने में असमर्थ नहीं कहा जा सकता। कारण विचारकर जो कार्य किया जाता है, उसमें कदापि फर्क नहीं आता है, अतः प्रमाता पुरुष के प्रमाद से प्रमाण में दोष बताना ठीक नहीं है। इसी तरह भली भाँति विचारकर यदि निमित्तशास्त्र का फल कहा जाय तो उसमें भी कुछ फर्क नहीं होता है। छींक होने पर यात्रा करनेवाले के कार्य की सिद्धि दिखाकर तुम जो निमित्त शास्त्र के मिथ्या होने की शङ्का करते हो सो ठीक नहीं है क्योंकि- कार्य की शीघ्रता के कारण छींक होने पर भी जाते हुए पुरुष की जो कार्य की सिद्धि देखी जाती है, वह बीच में दूसरे शुभ निमित्तों के बल से हुई है, यह समझना चाहिए। शुभ निमित्त को लेकर यात्रा किये हुए पुरुष के कार्य की जो असिद्धि देखी जाती है, वह भी बीच में दूसरे अपशकुनों के बल से समझनी चाहिए। अत एव सुनते हैं कि- बुद्ध ने अपने शिष्यों को एक समय बुलाकर कहा कि- "इस देश में बारह वर्ष का अकाल पड़ेगा इसलिए तुम लोग दूसरे देशों में चले जाओ" बुद्ध का यह वचन सुनकर जब उनके शिष्य जाने लगे तब फिर उनको बुलाकर उन्होंने कहा कि- "अब तुम लोग दूसरे देशों में न जाओ क्योंकि आज ही यहाँ एक महाशक्तिमान् पुण्यशाली पुरुष का जन्म अवतरण हुआ है, इसलिए उसके प्रभाव से सुभिक्ष होगा।" इस बुद्ध की उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले के शकुन से विपरीत शकुन यदि पीछे से होता है तो पहले शकुन के फल में फर्क होने की शङ्का होती है ॥१०॥



- साम्प्रतं क्रियावादिमतं दुदूषयिषुस्तन्मतमाविष्कुर्वन्नाह -

- अब शास्त्रकार क्रियावादी के मत को दूषित करने के लिए उनका मत बताते हैं -

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं, तहा तहा (गया) समणा माहणा य ।

सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं

॥११॥

छाया - त एवमाख्यान्ति समेत्य लोकं तथा तथा (गता) श्रमणा माहणाश्च ।

स्वयं कृतं नाऽन्यकृतञ्च दुःखम् आहुर्विद्याचरणञ्च मोक्षम् ॥

अन्वयार्थ - (ते समणा माहणा य) वे श्रमण यानी शाक्यभिक्षु और माहन अर्थात् ब्राह्मण (लोगं समिच्च) अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर (तथा तथा एवमक्खंति) कर्मानुसार फल प्राप्त होना बताते हैं। (सयं कडं णत्तकडं च दुक्खं) तथा वे यह भी कहते हैं कि दुःख अपने करने से होता है, दूसरे के करने से नहीं होता है (विज्जाचरणं पमोक्खं आहंसु) परन्तु तीर्थङ्करों ने ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है।

भावार्थ - शाक्य भिक्षु और ब्राह्मण आदि अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर क्रिया के अनुसार फल होना बताते हैं और वे यह भी कहते हैं कि दुःख अपने करने से होता है, दूसरे के करने से नहीं होता है परन्तु तीर्थङ्करों ने ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है।

टीका - ये क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षायाः दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति ते एवमाख्यान्ति, तद्यथा - “अस्ति माता - पिता अस्ति सुचीर्णस्य कर्मणः फलमिति, किं कृत्वा त एवं कथयन्ति ? - क्रियात एव सर्वं सिध्यतीति स्वाभिप्रायेण “लोकं” स्थावरजङ्गमात्मकं “समेत्य” ज्ञात्वा, किल वयं यथावस्थितवस्तुनो ज्ञातार इत्येवमभ्युपगम्य सर्वमस्त्येवेत्येवं सावधारणं प्रतिपादयन्ति, न कथञ्चिन्नास्तीति, कथमाख्यान्ति ? - “तथा - तथा” तेन (तेन) प्रकारेण, यथा - यथा क्रिया तथा - तथा स्वर्गनरकादिकं फलमिति, ते च श्रमणास्तीर्थिका ब्राह्मणा वा क्रियात एव सिद्धिमिच्छन्ति, किञ्च - यत् किमपि संसारे दुःखं तथा सुखं च तत्सर्वं स्वयमेवात्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना, न चैतदक्रियावादे घटते, तत्र ह्यक्रियत्वादात्मनोऽकृतयोरेव सुखदुःखयोः संभवः स्यात्, एवं च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, अत्रोच्यते, सत्यमस्त्यात्मसुखदुःखादिकं, न त्वस्त्येव, तथाहि - यद्यस्त्येव इत्येवं सावधारणमुच्यते ततश्च न कथञ्चिन्नास्तीत्यापन्नम्, एवं च सति सर्वं सर्वात्मकमापद्येत, तथा च सर्वलोकस्य व्यवहारोच्छेदः स्यात्, न च ज्ञानरहितायाः क्रियायाः सिद्धिः, तदुपायपरिज्ञानाभावात्, न चोपायमन्तरेणोपेयमवाप्यत इति प्रतीतं, सर्वा हि क्रिया ज्ञानवत्येव फलवत्युपलक्ष्यते, उक्तञ्च -

“पढमं नाणं तओ दया, एवं चिद्धति सव्वसंजए । अज्झाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावयं ॥१॥

इत्यतो ज्ञानस्यापि प्राधान्यं, नापि ज्ञानादेव सिद्धिः, क्रियारहितस्य ज्ञानस्य पङ्कोरिव कार्यसिद्धेरनुपपत्तेरित्यालोच्याह - “आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खंति, न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिः, अन्यस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्कोरिव, इत्येवमवगम्य “आहुः” उक्तवन्तः, तीर्थकरगणधरादयः, कमाहुः ?, मोक्षं, कथं?, विद्या च - ज्ञानं चरणं च - क्रिया ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्यार्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्, असौ विद्याचरणो - मोक्षः - ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः, तमेवं-साध्यं - मोक्षं प्रतिपादयन्ति । यदिवाऽन्यथा पातनिका, केनैतानि समवसरणानि प्रतिपादितानि ? यच्चोक्तं यच्च वक्ष्यते इत्येतदाशङ्क्याह - “ते एवमक्खंती” त्यादि, अनिरुद्धा - क्वचिदप्यस्खलिता प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा-ज्ञानं येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्धप्रज्ञाः, त “एवम्” अनन्तरोक्तया प्रक्रियया सम्यगाख्यान्ति - प्रतिपादयन्ति “लोकं” चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्थावरजङ्गमाख्यं वा “समेत्य” केवलज्ञानेन करतलामलकन्यायेन ज्ञात्वा तथागताः - तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं च गताः, “श्रमणाः” साधवो “ब्राह्मणाः” संयतासंयताः, “लौकिकी” वा वाचोयुक्तिः, किम्भूतास्त एवमाख्यान्तीति सम्बन्धः, तथा तथेति वा क्वचित्पाठः, यथा-यथा समाधिमार्गो व्यवस्थितस्तथा तथा कथयन्ति, एतच्च कथयन्ति - यथा यत्किञ्चित्संसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखम् - असातोदयस्वभावं, तत्प्रतिपक्षभूतं च सातोदयापादितं सुखं, तत्स्वयम् - आत्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना कृतमिति, तथा चोक्तम् - “सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं । अवराहेसु गुणेषु य णिमित्तमित्तं परो होइ ॥१॥” एतच्चाहुस्तीर्थकरगणधरादयः, तद्यथा - विद्या - ज्ञानं चरणं - चारित्र्यं क्रिया तत्प्रधानो मोक्षस्तमुक्तवन्तो, न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परनिरपेक्षाभ्यामिति, तथा चोक्तम् -

1. प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतः । अज्ञानी किं करिष्यति किंवा ज्ञास्यति छेकपापकं ॥१॥ ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः।

उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते ॥२॥ केषुचिदादर्शेषु दृश्यते श्लोकोऽयमशुभक्रियाया ज्ञानपूर्विकायाः फलवत्ताज्ञापनाय न तदा विरोधः ।

2. “प्रणीतानि” इत्यपि । 3. नेदं प्रत्यन्तरे । 4. सर्वः पूर्वकृतानां कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकं । अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्रं परो भवति ॥१॥

“क्रियां च सञ्ज्ञानवियोगनिष्फलां, क्रियाविहीनां च विबोधसम्पदम् ।

निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥१॥” ॥११॥ किञ्च -

टीकार्थ - जो लोग ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, वे यह कहते हैं - “माता - पिता हैं और शुभ कर्म का फल भी होता है ।” वे क्या करके ऐसा कहते हैं ? वे क्रिया से ही सब कार्य सिद्ध होता है, इस प्रकार अपने अभिप्राय के अनुसार स्थावर, जंगम रूप लोक को जानकर “हम ही वस्तु का सच्चा स्वरूप जानते हैं” ऐसा मानते हुए सब पदार्थ हैं ही, इस प्रकार अवधारण के साथ वस्तु का स्वरूप बताते हैं, परन्तु वस्तु कथञ्चित् नहीं भी है, ऐसा वे नहीं कहते हैं । तथा वे कहते हैं कि जीव जैसी - जैसी क्रियायें करता है, उसके अनुसार ही वह स्वर्ग और नरक आदि फल को प्राप्त करता है । वे श्रमण और ब्राह्मण क्रिया मात्र से मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं । वे कहते हैं कि - संसार में सुख - दुःख आदि जो कुछ होता है, वह सब अपना किया हुआ होता है, काल तथा ईश्वर आदि का किया हुआ नहीं होता है । जो क्रिया नहीं मानते हैं, उनके मत में ये बातें घटित नहीं होती हैं क्योंकि आत्मा के अक्रिय होने पर बिना किये ही सुख - दुःख की प्राप्ति सम्भव नहीं है । यदि बिना किये ही सुख - दुःख की प्राप्ति हो तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष होंगे। अब यहां जैनाचार्य कहते हैं कि - तुम्हारा कहना ठीक है, क्योंकि आत्मा और सुख-दुःख आदि जरूर हैं, परन्तु वे सर्वथा हैं ही, यह बात नहीं है क्योंकि यदि वे (सब प्रकार से) हैं ही इस प्रकार अवधारण के सहित उनका अस्तित्व है तो वे कथञ्चित् नहीं हैं, यह बात नहीं हो सकती है और ऐसा न होने पर सभी वस्तु सर्व वस्तु स्वरूप हो जायगी । इस प्रकार जगत् के समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जायगा (इसलिए वस्तु कथञ्चित् है, यही बात माननी चाहिए) तथा ज्ञान रहित क्रिया से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उस कार्य के उपाय का ज्ञान नहीं रहता है और उपाय का ज्ञान के बिना उपाय के द्वारा प्राप्त होनेवाला पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । सभी क्रियायें ज्ञान के साथ ही फल देती हैं, यह देखा जाता है, अतः एव कहा है कि -

पहले ज्ञान होता है तब दया पाली जाती है, समस्त संयमी जीव पहले जीवों का ज्ञान प्राप्त करते हैं पश्चात् दया का पालन करते हैं, जिसको जीवादि पदार्थों का ज्ञान नहीं है, वह पुरुष कैसे दया कर सकता है ?

और वह पाप को किस प्रकार जान सकता है ?। अतः क्रिया के समान ज्ञान की भी प्रधानता है । एक मात्र ज्ञान से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि क्रिया रहित ज्ञान पङ्गु के समान है, इसलिए वह कार्य की सिद्धि में समर्थ नहीं है । यह विचारकर शास्त्रकार कहते हैं कि - ज्ञान रहित क्रिया से कार्य की सिद्धि नहीं होती है तथा क्रिया रहित ज्ञान भी पङ्गु के समान है इसलिए तीर्थंकर और गणधर आदि ने ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष बताया है । यहां “ज्ञानं च क्रिया च” यह विग्रह करके अर्थ आदित्वात् अच् प्रत्यय हुआ है, इसलिए मोक्ष ज्ञान और क्रिया के द्वारा साध्य है, यह अर्थ है । आशय यह है, कि- तीर्थंकर और गणधर आदि ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं । अथवा इस गाथा की दूसरी तरह भी व्याख्या है - इन समवसरणों को किसने कहा है, जो तुमने पहले कहा है और आगे चलकर कहोगे ? यह शङ्का करके शास्त्रकार यह गाथा लिखते हैं - जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जानते हैं, उसे “प्रज्ञा” कहते हैं, प्रज्ञा नाम ज्ञान का है, वह ज्ञान जिसका कहीं नहीं रुकता है, उसे अनिरुद्धप्रज्ञ कहते हैं । वे अनिरुद्धप्रज्ञ पुरुष पूर्वोक्त रीति से वस्तु स्वरूप का कथन करते हैं । वे केवलज्ञान के द्वारा चौदह रज्जु स्वरूप अथवा स्थावर जंगमरूप इस लोक को हस्तामलकवत् जानकर तीर्थंकर पद को अथवा केवलज्ञान को प्राप्त हैं । तथा श्रमण यानी साधु और ब्राह्मण यानी संयतासंयत ऐसा कहते हैं । वे कैसे हैं, जो ऐसा कहते हैं ? कहीं - कहीं “तथा तथेति वा” यह पाठ मिलता है । इसका अर्थ है कि जिस प्रकार समाधि मार्ग व्यवस्थित है यानी सत्य है उस - उस प्रकार उपदेश करते हैं । वे कहते हैं कि- संसार के प्राणियों को जो कुछ दुःख प्राप्त होता है तथा उससे विपरीत जो सुख प्राप्त होता है, वह अपने किये हुए कर्म का फल है, वह काल, और ईश्वर आदि से किया हुआ नहीं है । अतः एव कहा है कि-

सभी प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मों का फल प्राप्त करते हैं, दूसरा पदार्थ बुराई और भलाई का केवल निमित्त

मात्र है ।

तथा वे कहते हैं कि-

ज्ञान और क्रिया दोनों से ही मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु ज्ञान निरपेक्ष क्रिया से अथवा क्रिया निरपेक्ष ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है । अतः एव तीर्थंकर की स्तुति करते हुए जैनाचार्य ने कहा है कि-

उत्तम ज्ञान के बिना क्रिया निष्फल है तथा उत्तम ज्ञान की सम्पद् भी क्रिया के बिना व्यर्थ है, अतः आपने केवल क्रिया और केवल, ज्ञान को क्लेशसमूह की शान्ति के विषय में निरर्थक ठहरा कर जगत् को मङ्गल मार्ग बताया है ॥११॥



ते चक्षु लोगंसिह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।

तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव ! संपगाढा

॥१२॥

छाया - ते चक्षुर्लोकस्येह नायकास्तु मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।

तथा तथा शाश्वतमाहुर्लोकमस्मिन् प्रजाः मानव संप्रगाढाः ॥

अन्वयार्थ - (ते लोगंसि चक्षु) इस लोक में वे तीर्थंकर आदि नेत्र के समान हैं । (णायगा उ) तथा वे नायक यानी प्रधान हैं । (पयाणं हितं मग्गाणुसासंति) वे प्रजाओं को कल्याण का मार्ग बताते हैं । (तहा तहा लोए सासयमाहु) तथा ज्यों-ज्यों मिथ्यात्व बढ़ता है त्यों-त्यों संसार मजबूत होता जाता है (जंसी पया संपगाढा) जिसमें प्रजा निवास करती है, यह वे कहते हैं ।

भावार्थ - वे तीर्थंकर आदि जगत् के नेत्र के समान हैं, वे इस लोक में सबसे श्रेष्ठ हैं, वे प्रजाओं को कल्याणमार्ग की शिक्षा देते हैं । वे कहते हैं कि-ज्यों-ज्यों मिथ्यात्व बढ़ता है, त्यों-त्यों संसार मजबूत होता जाता है, जिस संसार में प्रजा निवास करती हैं ।

टीका - 'ते' तीर्थंकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते, यथा हि चक्षुर्योग्य-देशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनन्ति एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति, तथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः-प्रधानाः, तुशब्दो विशेषणे, सदुपदेशदानतो नायका इति, एतदेवाह-'मार्ग' ज्ञानादिकं मोक्षमार्ग 'अनुशासति' कथयन्ति प्रजना-प्रजायन्त इति प्रजाः-प्राणिनस्तेषां, किम्भूतं ? हितं, सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकं च, किञ्च-चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके पञ्चास्तिकायात्मके वा येन येन प्रकारेण द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण यद्वस्तु शाश्वतं तत्तथा 'त आहुः' उक्तवन्तः, यदिवा लोकोऽयं प्राणिगणः संसारान्तर्वर्ती यथा यथा शाश्वतो भवति तथा तथैवाहुः, तद्यथा-यथा यथा मिथ्यादर्शनाभिवृद्धिस्तथा तथा शाश्वतो लोकः, तथाहि-तत्र तीर्थंकराहारकवर्ज्याः सर्व एव कर्मबन्धाः सम्भाव्यन्त इति, तथा च महारम्भादिभिश्चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नरकायुष्कं यावन्निर्वर्तयन्ति तावत्संसारानुच्छेद इति, अथवा यथा यथा रागद्वेषादिवृद्धिस्तथा तथा संसारोऽपि शाश्वत इत्याहुः, यथा यथा च कर्मोपचयमात्रा तथा तथैव संसाराभिवृद्धिरिति । दुष्टमनोवाक्कायाभिवृद्धौ वा संसाराभिवृद्धरवगन्तव्या, तदेवं संसारस्याभिवृद्धिर्भवति । 'यस्मिंश्च' संसारे, प्रजायन्त इति 'प्रजाः' जन्तवः, हे मानव ?, मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं, सम्यग्नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन 'प्रगाढाः' प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ॥१२॥

टीकार्थ - अतिशय ज्ञानी वे तीर्थंकर और गणधर आदि इस लोक के नेत्र के समान हैं । जैसे योग्य देश में स्थित पदार्थ को नेत्र प्रकाश करता है, इसी तरह वे भी लोक के पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश करते हैं तथा वे इस लोक में सबसे प्रधान हैं । तु शब्द विशेषणार्थक है, इसलिए उत्तम उपदेश देने के कारण वे सबसे श्रेष्ठ हैं, यह आशय है । वे प्रजाओं को मोक्षमार्ग का उपदेश करते हैं । वह मार्ग सद्गति को प्राप्त करानेवाला और अनर्थ का निवारण करनेवाला है । तथा चौदह रज्जुस्वरूप अथवा पाँच अस्तिकाय स्वरूप इस लोक में जिस प्रकार से (अर्थात् द्रव्यास्तिक नय के अनुसार) जो वस्तु शाश्वत है, उसे वे वैसा ही कहते हैं । अथवा इस संसार के प्राणिगण जिस-जिस प्रकार से संसार में स्थिर होते जाते हैं, उसे भी उन्होंने बताया है । उन्होंने कहा है कि-

ज्यों ज्यों मिथ्यादर्शन की वृद्धि होती है त्यों-त्यों संसार शाश्वत होता जाता है, क्योंकि तीर्थङ्कर और आहारक को छोड़कर सभी कर्मबन्धों का उसमें सम्भव है, क्योंकि महारम्भ आदि चार स्थानों के द्वारा जीव जब तक नरक की आयु बाँधते हैं तब तक संसार का उच्छेद नहीं होता है अथवा ज्यों-ज्यों राग-द्वेष बढ़ता है, त्यों-त्यों संसार भी शाश्वत होता जाता है, यह तीर्थङ्करों ने कहा है । अतः ज्यों-ज्यों कर्म का उपचय होता जाता है, त्यों-त्यों संसार की वृद्धि होती जाती है, यह जानना चाहिए । तथा दुष्ट मन, वाणी और काय की वृद्धि होने पर संसार की वृद्धि होती है, यह भी जानना चाहिए । इस प्रकार उस संसार की वृद्धि होती है, जिसमें नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और अमरभेद से प्राणी निवास करते हैं, हे मनुष्यों ! तुम यह जानो । यहाँ मनुष्यों को ही सम्बोधन इसलिए किया है कि-प्रायः वे ही उपदेश के योग्य होते हैं ॥१२॥



- लेशतो जन्तुभेदप्रदर्शनद्वारेण तत्पर्यटनमाह-

- अब शास्त्रकार अंश से प्राणियों का भेद बताकर उनका संसार में भ्रमण बताते हैं-

जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया ।

आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुर्वेति

॥१३॥

छाया - ये राक्षसा वा यमलौकिका वा, ये वा सुराः गन्धर्वाश्च कायाः ।

आकाशगामिन्श्च पृथिव्याश्रिताश्च, पुनः पुनो विपर्यासमुपयाञ्जति ॥

अन्वयार्थ - (जे रक्खसा वा जमलोइया वा) जो राक्षस हैं तथा जो यमपुरी में निवास करते हैं (जे वा सुरा गंधव्वा य काया) तथा जो देवता हैं और जो गन्धर्व हैं (आगासगामी य पुढोसिया जे) तथा जो आकाशगामी और जो पृथिवी पर रहते हैं (पुणो पुणो विप्परियासुर्वेति) वे बार बार भिन्न-भिन्न गतियों में भ्रमण करते रहते हैं ।

भावार्थ - राक्षस, यमपुरवासी, देवता गन्धर्व, आकाशगामी तथा पृथिवी पर रहनेवाले प्राणी सभी बार-बार भिन्न भिन्न गतियों में भ्रमण करते हैं ।

टीका - 'ये' केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः, तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते तथा यमलौकिकात्मानः, अ(म्बाम्ब)म्बर्ष्यादयस्तदुपलक्षणात्सर्वे भवनपतयः तथा ये च 'सुराः' सौधर्मादिवैमानिकाः, चशब्दाज्ज्योतिष्काः सूर्यादयः, तथा ये 'गान्धर्वा' विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा, तद्ग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थं, तथा 'कायाः' पृथिवीकायादयः षडपि गृह्यन्त इति । पुनरन्येन प्रकारेण सत्त्वान्संजिघृक्षुराह-ये केचन 'आकाशगामिनः' संप्राप्ताकाशगमन-लब्धयश्चतुर्विध-देवनिकायविद्याधरपक्षिवायवः, तथा ये च 'पृथिव्याश्रिताः' पृथिव्यसेजोवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियास्ते सर्वेऽपि स्वकृतकर्मभिः पुनः पुनर्विविधम्-अनेकप्रकारं पर्यासं-परिक्षेपमरहदृष्टीन्यायेन परिभ्रमणमुप-सामीप्येन यान्ति-गच्छन्तीति ॥१३॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - व्यन्तर जाति के भेद में जो राक्षस हैं, उनके ग्रहण से सभी व्यन्तरों का यहां ग्रहण करना चाहिए तथा यमलोक में रहनेवाले जो अम्ब, और अम्बर्षि आदि हैं, उनके उपलक्षण होने से सभी भवनपतियों का तथा सुर पद से सौधर्म आदि वैमानिक देव समझना चाहिए एवं च शब्द से सूर्य आदि ज्योतिष्क देवताओं को जानना चाहिए तथा गन्धर्व पद से विद्याधर अथवा कोई व्यन्तर की जूदी जाति जाननी चाहिए, इस भेद को अलग लेने से, इसे प्रधान समझना चाहिए । तथा काय शब्द से पृथिवीकाय आदि छः ही कार्यों का ग्रहण है । फिर शास्त्रकार दूसरे प्रकार से जीवों का भेद बताते हैं-जो आकाश में उड़नेवाले हैं अर्थात् जिनमें आकाश में उड़ने की शक्ति है, वे चार प्रकार के देवता, विद्याधर, पक्षी और वायु हैं । तथा पृथिवी के आश्रय से रहनेवाले जो पृथिवी, जल, तेज, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय प्राणी हैं, वे सभी अपने किये हुए कर्म के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में अरहट यन्त्र की तरह संसार में भ्रमण करते हैं ॥१३॥



जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।

जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरंति

॥१४॥

छाया - यमाहुरोहं सलिलमपारगं, जानीहि भवगहनं दुर्मोक्षम् ।

यस्मिन् विषण्णाः विषयाङ्गनाभिर्द्विधाऽपि लोकमनुसञ्चरन्ति ॥

अन्वयार्थ - (जं ओहं सलिलं अपारगं आहु) जिस संसार को स्वयंभूरमण समुद्र के जल के समान अपार कहा है (भवगहणं दुमोक्खं जाणाहि) उस गहन संसार को दुर्मोक्ष जानो । (जंसी विसयंगणाहिं विसन्ना) जिस संसार में विषय और स्त्रियों में आसक्त जीव (दुहओवि लोयं अणुसंचरंति) स्थावर और जङ्गम दोनों ही प्रकार से भ्रमण करते हैं ।

भावार्थ - इस संसार को जिनेश्वरदेव ने स्वयम्भूरमण समुद्र के समान दुस्तर कहा है, अतः इस गहन संसार को तुम दुर्मोक्ष समझो । विषय तथा स्त्री में आसक्त जीव इस जगत् में बार - बार स्थावर और जङ्गम जातियों में भ्रमण करते रहते हैं ।

टीका - "यं" संसारसागरम् आहुः - उक्तवन्तस्तीर्थकरगणधरादयस्तद्विदः, कथमाहुः ? - स्वयम्भूरमण-सलिलौघवदपारं, यथा स्वयम्भूरमणसलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति दर्शयति - "जानीहि" अवगच्छ णमिति वाक्यालङ्कारे, भवगहनमिदं - चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणं यथासम्भवं सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तस्थितिकं दुःखेन मुच्यत इति दुर्मोक्षं - दुरुत्तरमस्तिवादिनामपि, किं पुनर्नास्तिकानाम् ?, पुनरपि भवगहनोपलक्षितं संसारमेव विशिनष्टि - "यत्र" यस्मिन् संसारे सावद्यकर्मनुष्ठायिनः कुमार्गपतिता असत्समवसरणग्राहिणो "विषण्णा" अवसक्ता, विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदिवा विषयाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिर्वशीकृताः सर्वत्र सद्नुष्ठानेऽवसीदन्ति, त एवं विषयाङ्गनादिके पङ्के विषण्णा "द्विधाऽपि" आकाशाश्रितं पृथिव्याश्रितं च लोकं, यदिवा स्थावरजङ्गमलोकं "अनुसंचरन्ति" गच्छन्ति, यदिवा - "द्विधाऽपि" इति लिङ्गमात्रप्रव्रज्याऽविरत्या (च) रागद्वेषाभ्यां वा लोकं - चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्वकृतकमप्रेरिता "अनुसञ्चरन्ति" बम्भ्रम्यन्त इति ॥१४॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - संसार का स्वरूप जाननेवाले तीर्थङ्कर और गणधर आदि ने संसार का स्वरूप बताया है । कैसा स्वरूप बताया है ? स्वयम्भूरमण समुद्र के जल समूह के समान अपार बताया है । जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र के जल समूह का न कोई जलचर लङ्घन कर सकता है और न स्थलचर उल्लङ्घन कर सकता है, इसी तरह यह संसार-सागर भी सम्यग्दर्शन के बिना लङ्घन नहीं किया जा सकता है । यही शास्त्रकार दिखाते हैं - ऐसा जानो, णं शब्द वाक्य की शोभा के लिए आया है । यह संसाररूपी गहन (वन) चौरासी लाख योनि प्रमाणवाला है और यह यथासम्भव संख्यात-असंख्यात और अनन्तकाल की स्थितिवाला है, यह आस्तिक जीवों से भी दुस्तर है फिर नास्तिकों की तो बात ही क्या है ? । अब शास्त्रकार गहन भवों से युक्त संसार की फिर विशेषता बताते हैं - जो पुरुष इस संसार में सावद्य कर्म का अनुष्ठान करते हैं तथा कुमार्ग में पड़े हुए हैं और असत् दर्शन को ग्रहण करनेवाले हैं तथा जिनमें विषयप्रधान है ऐसी अङ्गना यानी स्त्रियों में आसक्त हैं अथवा विषय और स्त्री के वशीभूत होकर कभी भी उत्तम अनुष्ठान नहीं करते हैं, वे विषयसुख और स्त्री रूप कीचड़ में फँसकर आकाश के लोको में तथा पृथिवी लोक में बार-बार जन्मते और मरते हैं अथवा वे लिङ्गमात्र से प्रव्रज्याधारी होने से और विरति के न होने से तथा राग और द्वेष से युक्त होने के कारण अपने कर्मों से प्रेरित होकर चौदह रज्जुस्वरूप इस लोक में बार-बार भ्रमण करते हैं ॥१४॥



न कम्मुणा कम्म खर्वेति बाला, अकम्मुणा कम्म खर्वेति धीरा ।

मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेति पावं

॥१५॥

छाया - न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बाला अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।

मेधाविनो लोभमयादतीताः सन्तोषिणो न प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

अन्वयार्थ - (बाला कम्पुणा कम्प न खर्वेति) अज्ञानी जीव, पापकर्म करने के कारण अपने कर्मों का क्षपण नहीं कर सकते हैं (धीरा अकम्पुणा कम्प खर्वेति) परन्तु धीर पुरुष आश्रवों को रोक कर पाप का क्षपण करते हैं (मेधाविनो लोभमयावतीता) बुद्धिमान् पुरुष लोभ से दूर रहते हैं (सन्तोषिणो पापं नो पक्वन्ति) और वे सन्तोषी होकर पाप कर्म नहीं करते हैं ।

भावार्थ - मूर्ख जीव अशुभ कर्म करके अपने पापों का नाश नहीं कर सकते । परन्तु धीर पुरुष अशुभ कर्मों को त्यागकर अपने कर्मों का क्षपण करते हैं । बुद्धिमान् पुरुष लोभ से दूर रहते हैं और वे सन्तोषी होकर पाप कर्म नहीं करते ।

टीका - ते एवमसत्समवसरणाश्रिता मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः सावद्येतरविशेषानभिज्ञाः सन्तः कर्मक्षपणार्थमभ्युद्यता निर्विवेकतया सावद्यमेव कर्म कुर्वन्ते, न च “कर्मणा” सावद्यारम्भेण “कर्म” पापं “क्षपयन्ति” व्यपनयन्ति, अज्ञानत्वाद्बाला इव बालास्त इति, यथा च कर्म क्षिप्यते तथा दर्शयति - “अकर्मणा तु” आश्रवनिरोधेन तु अन्तःशः शैलेश्यवस्थायां कर्म क्षपयन्ति “वीराः” महासत्त्वाः सदैव इव चिकित्सयाऽऽमयानिति । मेधा - प्रज्ञा सा विद्यते येषां ते मेधाविनः - हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञा लोभमयं- परिग्रहमेवातीताः परिग्रहातिक्रमाल्लोभातीताः-वीतरागा इत्यर्थः, ‘सन्तोषिणः’ येन केनचित्सन्तुष्टा अवीतरागा अपीति, यदिवा यत एवातीतलोभा अत एव सन्तोषिण इति, त एवंभूता भगवन्तः ‘पापम्’ असदनुष्ठानापादितं कर्म ‘न कुर्वन्ति’ नाददति, क्वचित्पाठः, ‘लोभमयादतीता’ लोभश्च भयं च समाहारद्वन्द्वः, लोभाद्वा भयं तस्मादतीताः सन्तोषिण इति, न पुनरुक्ताशङ्का विधेयेति, अतो (विधेयाऽत्र यतो) लोभातीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः, सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति, यदिवा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः सन्तोषिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वे नोत्कटलोभा इति लोभाभावं दर्शयन्नपरकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह, ये च लोभातीतास्तेऽवश्यं पापं न कुर्वन्ति इति स्थितम् ॥१५॥

टीकार्थ - मूर्ख जीव, असत् दर्शन का आश्रय लेकर मिथ्यात्व आदि दोषों से हारे हुए सावद्य और निरवद्य कर्म के भेद को नहीं जानते, इसलिए कर्म को क्षपण करने के लिए उद्यत होकर वे निर्विवेकता के कारण सावद्य कर्म ही करते हैं । अतः सावद्य आरम्भ के कारण वे अपने कर्मों का क्षपण कर नहीं सकते । वे अज्ञानी होने के कारण बालक के समान हैं । जिस प्रकार कर्म का क्षपण होता है, उसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं- जैसे उत्तम वैद्य चिकित्सा के द्वारा रोगों का क्षपण करता है, इसी तरह वीर पुरुष आश्रवों को रोककर अन्तःशः शैलेशी अवस्था में कर्मों का क्षपण करते हैं । मेधा यानी प्रज्ञा जिनमें विद्यमान है, वे हित की प्राप्ति और अहित के त्याग के जाननेवाले परिग्रह का त्याग कर देते हैं और परिग्रह को त्याग कर लोभ का उल्लङ्घन करते हैं, वे पुरुष वीतराग हैं, यह अर्थ है, अथवा वे वीतराग न होने पर भी जिस किसी वस्तु से ही सन्तोष करते हैं अथवा वे लोभ को उल्लङ्घन कर गये हैं, इसलिए सन्तोषी हैं । ऐसे पुरुष असत् अनुष्ठान से उत्पन्न पाप कर्म नहीं करते । कहीं “लोभमयादतीताः” यह पाठ मिलता है । इसमें “लोभश्च भयश्च” यह विग्रह करना चाहिए । अथवा “लोभाद् भयं” यह विग्रह करना चाहिए । इसका अर्थ यह है कि वे महात्मा पुरुष लोभ और भय को उल्लङ्घन किये हुए हैं, इसलिए वे सन्तोषी हैं । इस प्रकार अर्थ करने से यहाँ पुनरुक्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि-लोभ को उल्लङ्घन करना बताकर यहाँ लोभ का निषेध दिखाया गया है और सन्तोषी कहकर विधि अंश बताया है । अथवा लोभ को उल्लङ्घन करना कहकर यहाँ समस्त लोभों का अभाव कहा है और सन्तोषी कह कर वीतराग न होने पर भी उत्कट लोभ से रहित कहा गया है । इस प्रकार लोभ का अभाव दिखाते हुए शास्त्रकार दूसरे कषायों से लोभ की प्रधानता बताते हैं । सिद्धान्त यह हुआ कि जो पुरुष लोभ को उल्लङ्घन कर गये हैं, वे पाप नहीं करते ॥१५॥



- ये च लोभातीतास्ते किम्भूता भवन्ति इत्याह -

- जो पुरुष लोभ से दूर हैं, वे कैसे होते हैं ? यह शास्त्रकार बताते हैं -

ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।

नेतारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति

॥१६॥

छाया - तेऽतीतोत्पन्नानागतानि लोकस्य जानन्ति तथागतानि ।

नेतारोऽन्येषामनव्यनेयाः, बुद्धाश्चेऽन्तकरा भवन्ति ॥

अन्वयार्थ - (ते लोगस्स तीयउप्पन्नमणागयाइं तहागयाइं जाणंति) वे वीतराग पुरुष जीवों के भूत, वर्तमान और भविष्य वृत्तान्तों को यथार्थरूप से जानते हैं (अन्नेसि नेतारो अणन्नणेया) वे दूसरे जीवों के नेता हैं परन्तु उनका कोई नेता नहीं है (ते बुद्धा अंतकडा भवंति) वे ज्ञानी पुरुष संसार का अन्त करते हैं ।

भावार्थ - वे वीतराग पुरुष जीवों के भूत, वर्तमान और भविष्य वृत्तान्तों को ठीक-ठीक जानते हैं, वे सबके नेता हैं परन्तु उनका कोई नेता नहीं है, वे जीव संसार का अन्त करते हैं ।

टीका - 'ते' वीतरागा अल्पकषाया वा 'लोकस्य' पञ्चास्तिकायात्मकस्य प्राणिलोकस्य वाऽतीतानि-अन्यजन्माचरितानि उत्पन्नानि-वर्तमानावस्थायीनि अनागतानि-च भवान्तरभावीनि सुख-दुःखादीनि 'तथागतानि' यथैव स्थितानि तथैव अवितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति, तथाह्यागमः-^१“अणगारे णं भंते ! माई मिच्छादिट्ठी रायगिहे णयरे समोहए वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ?, जाव से से दंसणे विवज्जासे भवती” त्यादि, ते चातीतानागतवर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दर्शपूर्वविदो वा परोक्षज्ञानिनः 'अन्येषां' संसारोत्तितीर्षूणां भव्यानां मोक्षं प्रति नेतारः सदुपदेशं वा प्रत्युपदेष्टारो भवन्ति, न च ते ^२स्वयम्बुद्धत्वादन्वेन नीयन्ते- ^३तत्त्वावबोधं कार्यं (ध्वन्तः क्रिय)न्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः । ते च 'बुद्धाः' स्वयंबुद्धास्तीर्थकरणधरादयः, हुशब्दश्चशब्दार्थे विशेषणे ^४वा, तथा च प्रदर्शित एव, ते च भवान्तकराः संसारोपादानभूतस्य वा कर्मणोऽन्तकरा भवन्तीति ॥१६॥

टीकार्थ - वे पुरुष वीतराग होते हैं अथवा वे अल्पकषायी होते हैं, वे पञ्चास्तिकायात्मक इस प्राणि लोक के पूर्वजन्म के तथा वर्तमान और भविष्य जन्म में होनेवाले सुख दुःखों को जानते हैं । वे विभङ्गज्ञानी की तरह विपरीत रूप से नहीं किन्तु जिसका जैसा सुख दुःख आदि है, उसको वे वैसा ही देखते हैं । अतः एव आगम कहता है कि-हे भदन्त ! मायी मिथ्यादृष्टिः अणगार राजगृह नगर में रहता हुआ काशी के पदार्थों को जानता है या देखता है ? (उ०) देखता है परन्तु कुछ विपरीत देखता है । परन्तु उत्तम साधु भूत, भविष्य और वर्तमान को ठीक ठीक जाननेवाले हैं । वे केवलज्ञानी अथवा चौदह पूर्व को जाननेवाले परोक्षज्ञानी संसार को पार करना चाहते हुए दूसरे भव्य जीवों को मोक्ष में पहुँचा देते हैं अथवा वे उन्हें सदुपदेश करते हैं, वे स्वयंबुद्ध होते हैं, इसलिए उन्हें कोई दूसरा पुरुष तत्त्वज्ञान नहीं कराता है, अतः हित की प्राप्ति और अहित के त्याग के विषय में उनका कोई नेता नहीं है, यह भाव है । वे स्वयम्बुद्ध तीर्थङ्कर और गणधर आदि (यहां हु शब्द च शब्द के अर्थ में है अथवा विशेषणार्थक है, सो दिखा दिया गया है) संसार का अथवा संसार के कारण रूप कर्मों का अन्त करते हैं ॥१६॥



- यावदद्यापि भवान्तं न कुर्वन्ति तावत्प्रतिषेध्यमंशं दर्शयितुमाह-

- जब तक वे मोक्ष में नहीं जाते हैं तब तक वे पाप नहीं करते हैं, यह दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूताहिसंकाइ दुगंछमाणा ।

सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्ति(ण्णाय) धीराय हवंति एगे

॥१७॥

1. अणगारो भदन्त ! मायी मिथ्यादृष्टिः राजगृहे नगरे समवहतः वाराणस्यां नगर्यां रूपाणि जानाति पश्यति ?, यावत्स तस्य दर्शनविपर्ययो भवति।

2. तदा स्वयं पदार्थानां ज्ञातारस्ते इति स्वयमित्यादि । 3. तत्त्वावबोधकार्यं त इत्य० प्र० । 4. च प्र० ।

छाया - ते नैव कुर्वन्ति न कारयन्ति, भूताभिः शङ्कया जुगुप्समानाः ।

सदा यताः विप्रणमन्ति धीराः, विहसिन्धिराश्च भवन्त्येके ॥

अन्वयार्थ - (जुगुप्समाना ते) पाप से घृणा करनेवाले तीर्थङ्कर आदि (भूताहिसंकाइ) प्राणियों के घात के भय से (नेव कुर्वन्ति न कारयन्ति) स्वयं पाप नहीं करते हैं और दूसरे से भी नहीं कराते हैं (धीरा सदा यता विप्रणमन्ति) कर्म को विदारण करने में निपुण वे पुरुष सब समय पाप के अनुष्ठान से निवृत्त रहकर संयम का अनुष्ठान करते हैं (एगे विपत्तिधीरा य हवन्ति) परन्तु कोई अन्य दर्शनी ज्ञान मात्र से वीर बनते हैं, अनुष्ठान से नहीं ।

भावार्थ - पाप से घृणा करनेवाले तीर्थङ्कर और गणधर आदि प्राणियों के घात के भय से स्वयं पाप नहीं करते हैं और दूसरे से भी नहीं कराते हैं किन्तु कर्म का विदारण करने में निपुण वे पुरुष, सदा पाप के अनुष्ठान से निवृत्त रहकर संयम का पालन करते हैं परन्तु कोई अन्यदर्शनी ज्ञान मात्र से वीर बनते हैं, अनुष्ठान से नहीं ।

टीका - 'ते' प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनो वा विदितवेद्याः सावद्यमनुष्ठानं भूतोपमर्दाभिः शङ्कया पापं कर्म जुगुप्समानाः सन्तो न स्वतः कुर्वन्ति, नाप्यन्येन कारयन्ति, कुर्वन्तमप्यपरं नानुमन्यते । तथा स्वतो न मृषावादं जल्पन्ति नाप्येन जल्पयन्ति नाप्यपरं जल्पन्तमनुजानन्ति, एवमन्यान्यपि महाव्रतान्यायोज्यानीति । तदेवं 'सदा' सर्वकालं 'यताः' संयताः पापानुष्ठानान्निवृत्ता विविध-संयमानुष्ठानं प्रति 'प्रणमन्ति' प्रह्वीभवन्ति । के ते ? - 'धीराः' महापुरुषा इति । तथैके केचन हेयोपादेयं² विज्ञायापिशब्दात्सम्यक्परिज्ञाय³ तदेव निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवं कृतनिश्चयाः कर्मणि विदारयितव्ये वीरा भवन्ति, यदिवा परीषहोपसर्गानीकविजयाद्वीरा इति पाठान्तरं वा 'विपत्तिवीरा य भवन्ति एगे' 'एके' केचन गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वाः विज्ञप्तिः-ज्ञानं, तन्मात्रेणैव वीरा नानुष्ठानेन, न च ज्ञानादेवाभिलषितार्था-वासिरुपजायते, तथाहि-

“अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।

संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ॥१॥” ॥१७॥

टीकार्थ - पाप कर्म से घृणा करनेवाले तथा जानने योग्य पदार्थों को जाननेवाले वे प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी पुरुष प्राणियों की हिंसा के भय से स्वयं पाप नहीं करते हैं और दूसरे से भी नहीं कराते हैं और पाप करते हुए को अनुमति भी नहीं देते हैं । तथा वे स्वयं झूठ नहीं बोलते हैं और दूसरे से नहीं बोलाते हैं और झूठ बोलते हुए को अच्छा नहीं जानते हैं । इसी तरह दूसरे महाव्रतों में भी योजना करनी चाहिए । इसी प्रकार वे पाप से सदा निवृत्त रहते हुए अनेक प्रकार से संयम का पालन करते हैं, वे कौन हैं ? वे धीर यानी महापुरुष हैं । तथा कोई पुरुष, त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तु को जानकर तथा अपि शब्द से उन्हें अच्छी तरह जानकर और शङ्कारहित वही मार्ग है, जिसे जिनवरों ने बताया है, यह निश्चय करके कर्म को विदारण करने में वीर होते हैं । अथवा परीषह और उपसर्गों को जीत लेने के कारण वे वीर हैं । यहां “पण्णति वीरा य भवन्ति एगे” यह पाठ भी मिलता है । इसका अर्थ यह है कि-कोई गुरुकर्मी अल्प पराक्रमी जीव, ज्ञान मात्र से वीर बनते हैं परन्तु अनुष्ठान से नहीं । परन्तु ज्ञान मात्र से इष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है, अत एव कहा है कि-

“शास्त्राण्यधीत्य” अर्थात् शास्त्र पढ़कर भी कोई मूर्ख होते हैं, वस्तुतः जो पुरुष शास्त्रोक्त क्रिया का अनुष्ठान करता है, वही पण्डित है क्योंकि अच्छी तरह जानी हुई भी औषधि ज्ञान मात्र से रोग की निवृत्ति नहीं करती है ॥१७॥



- कानि पुनस्तानि भूतानि ? यच्छङ्कयाऽऽरम्भं जुगुप्सन्ति सन्त इत्येतदाशङ्क्याह-

- वे प्राणी कौन हैं ? जिनके घात की शङ्का से साधु पुरुष आरम्भ नहीं करते हैं : यह शङ्का करके शास्त्रकार कहते हैं-

1. जुगुप्सन्तः प्र० जुगुप्सां कुर्वन्त इति नामघातोः चैव शतरि । 2. चकारोऽपिशब्दार्थे यदा धीरावि इति भविष्यति । 3. ०य वा त० प्र०

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा

॥१८॥

छाया - डहराश्च प्राणाः वृद्धाश्च प्राणास्तान्मात्मवत् पश्यति सर्वलोके ।

उत्प्रेक्षते लोकमिमं महान्तं बुद्धोऽपमत्तेषु परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे) छोटे छोटे कुन्थु आदि भी प्राणी हैं, और बड़े-बड़े बादर शरीरवाले भी प्राणी हैं (सव्वलोए ते आत्तओ पासइ) सर्व लोक में उन्हें अपने समान देखना चाहिए (इणं लोगं महंतं उव्वेहती) इस लोक को महान् समझना चाहिए (बुद्धे अपमत्तेसु परिव्वएज्जा) इस प्रकार समझता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष संयम पालनेवाले साधुओं के निकट दीक्षा धारण करे ।

भावार्थ - इस जगत् में छोटे शरीरवाले भी प्राणी हैं और बड़े शरीरवाले भी प्राणी हैं, इन प्राणियों को अपने समान समझकर तत्त्वदर्शी पुरुष संयम पालनेवाले साधुओं के निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करे ।

टीका - ये केचन 'डहरे'त्ति लघवः कुन्धवादयः सूक्ष्मा वा, ते सर्वेऽपि प्राणाः-प्राणिनः ये च वृद्धाः-बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान्-आत्मवत्पश्यति-सर्वस्मिन्नपि लोके यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि, यथा वा मम दुःखमनभिमतमेव सर्वलोकस्यापि, सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते, दुःखाद्बोद्धिजन्ति, तथा चागमः-^१'पुढविकाए णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसयं वेयणं वेएइ !' इत्याद्याः सूत्रालापकाः, इति मत्वा तेऽपि नाक्रमितव्या-न संघट्टनीयाः, इत्येवं यः पश्यति स पश्यति । तथा लोकमिमं महान्तमुत्प्रेक्षते, षड्जीवसूक्ष्मबादरभैरैराकुलत्वान्महान्तं, यदिवाऽनाद्यनिधनत्वान्महान् लोकः, तथाहि-भव्या अपि केचन सर्वेणापि कालेन न सेत्स्यन्तीति, यद्यपि द्रव्यतः षड्द्रव्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणतया सावधिको लोकस्तथापि कालतो भावतश्चानाद्यनिधनत्वात्पर्यायाणां चानन्तत्वान्महान् लोकस्तमुत्प्रेक्षत इति । एवं च लोकमुत्प्रेक्षमाणो बुद्धः-अवगततत्त्वः सर्वाणि प्राणिस्थानान्यशाश्वतानि, तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मन्यमानः 'अप्रमत्तेषु' संयमानुष्ठायिषु यतिषु मध्ये तथाभूत एव परिः-समन्ताद् व्रजेत् परिव्रजेत्, यदिवा बुद्धः सन् 'प्रमत्तेषु' गृहस्थेषु अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥१८॥ किञ्च -

टीकार्थ - जो छोटे-छोटे कुन्थु आदि हैं अथवा जो सूक्ष्म हैं, वे सभी प्राणधारी हैं तथा जो बादर शरीरवाले हैं, वे भी प्राणी हैं । अतः तत्त्वदर्शी पुरुष इन सबों को अपने समान देखते हैं । वे समझते हैं कि समस्त लोक में जितना प्रमाणवाला मेरा जीव है, उतना ही दूसरे प्राणियों का कुन्थु आदि का भी है । तथा जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, इसी तरह सभी प्राणियों को दुःख अच्छा नहीं लगता, सभी को दुःख उत्पन्न होता है और सभी दुःख से घबराते हैं । अतः एव आगम कहता है कि-"पुढवी काएणं भंते !" अर्थात् हे भदन्त! पृथिवीकाय का जीव दुःख से पीड़ित होता हुआ कैसा दुःख अनुभव करता है ? (उत्तर-हे गौतम ! जैसे हम लोग दीनता के साथ दुःख भोगते हैं, इसी तरह वह भी भोगता है) इत्यादि सूत्रों के कथन को मानकर किसी जीव पर आक्रमण नहीं करना चाहिए । जो ऐसा देखता है, वही पुरुष यथार्थ देखता है । तथा तत्त्वदर्शी पुरुष इस लोक को महान् देखता है क्योंकि छः प्रकार के जीवों के सूक्ष्म और बादर भेदों से भरा हुआ होने के कारण यह लोक महान् है अथवा अनादि और अनन्त होने के कारण यह लोक महान् है, क्योंकि कोई-कोई भव्य पुरुष भी सब कालों में भी सिद्ध नहीं होंगे । यद्यपि द्रव्य से यह लोक षट् द्रव्यात्मक होने से तथा क्षेत्र से चौदह रज्जुप्रमाण होने से अवधि के सहित है तथापि काल और भाव से आदि तथा अन्त रहित होने के कारण एवं पर्याय के अनन्त होने के कारण यह महान् है । अतः तत्त्वदर्शी इसे महान् देखते हैं । इस प्रकार लोक को देखता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष, "सभी प्राणियों के स्थान अनित्य हैं, तथा दुःख से भरे हुए इस संसार में सुख का लेश भी नहीं है" ऐसा मानता हुआ संयम पालन करनेवाले साधुओं के पास जाकर साधु बनकर विचरे अथवा गृहस्थावस्था में प्रमाद न करता हुआ संयम का अनुष्ठान करे ॥१८॥

1. संबन्धे षष्ठी अपिना देशादिव्यवच्छेदः । 2. उपचरितसर्वत्वव्यवच्छेदाय, भिन्नं वा वाक्यमेतत् ।

3. पृथ्वीकायिको भदन्त । आक्रान्तः सन् कीदृशी वेदनां वेदयति ? । 4. वाणि स्थाना० प्र० ।

जे आयओ परओ वावि णच्चा, अलमप्पणो होति अलं परेसिं ।

तं जोइभूतं च सयावसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं

॥१९॥

छाया - य आत्मनः परतोवाऽपि ज्ञात्वाऽलमात्मनो भवत्यलं परेषाम् ।

तं ज्योतिर्भूतञ्च सदा वसेद् ये प्रादुक्षुर्युर्नुविचिन्त्य धर्मम् ॥

अन्वयार्थ - (जे आयओ परओ वावि णच्चा) जो पुरुष स्वयं या दूसरे से धर्म को जानकर उसका उपदेश करता है (अप्पणो परेसिं य अलं होति) वह अपनी तथा दूसरे की रक्षा करने में समर्थ है । (जे अणुवीति धम्मं पाउकुज्जा) जो सोच विचारकर धर्म को प्रकट करता है (तं जोइभूतं च सया वसेज्जा) उस ज्योतिः स्वरूप मुनि के पास सदा निवास करना चाहिए ।

भावार्थ - जो स्वयं या दूसरे के द्वारा धर्म को जानकर उसका उपदेश देता है, वह अपनी तथा दूसरे की रक्षा करने में समर्थ है । जो सोच विचारकर धर्म को प्रकट करता है, उसे ज्योतिःस्वरूप मुनि के निकट सदा निवास करना चाहिए ।

टीका - “यः” स्वयं सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थदर्शी यथाऽवस्थितं लोकं ज्ञात्वा तथा यश्च गणधरादिकः “परतः” तीर्थकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति स एवंभूतो हेयोपादेयवेदी “आत्मनस्त्रातुमलं” आत्मानं संसारावटालपालयितुं समर्थो भवति, तथा परेषां च सदुपदेशदानतस्त्राता जायते, “तं” सर्वज्ञं स्वत एव सर्ववेदिनं तीर्थकरादिकं परतो वेदिनं च गणधरादिकं “ज्योतिर्भूतं” पदार्थप्रकाशकतया चन्द्रादित्यप्रदीप-कल्पमात्महितमिच्छन् संसारदुःखोद्विग्नः कृतार्थमात्मानं भावयन् “सततम्” अनवरतम् “आवसेत्” सेवेत, गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत्, तथा चोक्तम् -

“जाणस्स होइ भागी स्थिरतरओ दंसणे चरित्ते य । धम्मा आवक्कहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥१९॥”

क एवं कुर्युः ? इति दर्शयति - ये कर्मपरिणतिमनुविचिन्त्य “माणुस्सखेत्तजाइ” इत्यादिना दुर्लभां च सद्धर्मावाप्तिं सद्धर्मं वा श्रुतचारित्राख्यं क्षान्त्यादिदशविधसाधुधर्मं श्रावकधर्मं वा “अनुविचिन्त्य” पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथोक्तानुष्ठानतः “प्रादुक्षुर्युः” प्रकटयेयुः ते गुरुकुलवासं यावज्जीवमासेवन्त इति, यदिवा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति त एवागमज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य “लोकं” पञ्चास्तिकायात्मकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं वा प्रादुक्षुर्युरिति क्रिया ॥१९॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जो पुरुष स्वयं सर्वज्ञ है और तीनों लोक के समस्त पदार्थों को अपने आप ठीक - ठीक जानकर दूसरे को उपदेश करता है अथवा जो गणधर आदि तीर्थङ्कर आदि से जीवादि पदार्थों को जानकर दूसरे को उपदेश करता है, वह पुरुष त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों को जाननेवाला है और वही संसाररूपी जङ्गल से अपनी तथा दूसरे की रक्षा करता है । वे स्वयं सब पदार्थों को जाननेवाले सर्वज्ञ तीर्थङ्कर आदि तथा दूसरे से पदार्थों को जाननेवाले गणधर आदि ज्योतिः स्वरूप हैं । वे पदार्थों के प्रकाशक होने के कारण चन्द्रमा और सूर्य के समान हैं, अतः संसार से भय पाता हुआ और अपने कल्याण की इच्छा करनेवाला पुरुष अपने को कृतार्थ मानता हुआ उनके पास सदा निवास करे । वह सदा गुरु के पास ही निवास करे । अत एव आगम कहता है कि -

“गुरु के पास निवास करने से जीव ज्ञान का भागी होता है और दर्शन तथा चारित्र में मजबूत होता है, इसलिए पुण्यात्मा पुरुष जीवनभर गुरुकुल में रहना नहीं छोड़ते हैं ।”

कौन ऐसा करते हैं ? यह शास्त्रकार दिखाते हैं - जो जीव कर्म के परिणाम को समझकर तथा मनुष्य देह, आर्य्यक्षेत्र और उत्तम जाति तथा उत्तम धर्म की प्राप्ति को दुर्लभ जानकर एवं श्रुतचारित्र रूप उत्तम धर्म तथा क्षान्ति आदि दशविध साधु धर्म को अथवा श्रावक धर्म को जानकर उसका अनुष्ठान करते हुए दूसरे को भी उपदेश करते हैं, वे पुरुष यावज्जीव गुरुकुल में निवास करते हैं अथवा जो ज्योतिःस्वरूप आचार्य्य की सदा सेवा करते

1. ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरौ दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥१९॥

हैं, वे ही पुरुष आगम के ज्ञाता होकर चौदह रज्जुस्वरूप अथवा पञ्चास्तिकाय स्वरूप इस लोक का दूसरे के प्रति उपदेश करते हैं ॥१९॥



अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च ।

जो सासयं जाण असासयं च, जातिं (च) मरणं च जणोववायं

॥२०॥

छाया - आत्मानं यो जानाति यश्च लोकं गतिं यो जानात्यनागतिश्च ।

यः शाश्वतं जानात्यशाश्वतश्च, जातिश्च मरणश्च जणोपपातम् ॥

अन्वयार्थ - (जो अत्ताणं जाणति) जो आत्मा को जानता है । (जो लोगं) जो लोक को जानता है (गइं च णागइं च जाणति) तथा जो जीवों की गति और अनागति को जानता है (जो सासयं असासयं जातिं मरणं च जणोववायं जाण) एवं जो नित्य, अनित्य, जन्म, मरण और प्राणियों के नाना गतियों में जाना जानता है ।

भावार्थ - जो अपने आत्मा को जानता है तथा लोक के स्वरूप को जानता है एवं जो शाश्वत यानी मोक्ष और अशाश्वत यानी संसार को जानता है तथा जो जन्म, मरण और प्राणियों के नाना गतियों में जाना जानता है ।

टीका - यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीरादव्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति । येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्यो 'निर्ज्ञातो' भवति तेनैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति द्वितीयवृत्तस्यान्ते क्रिया । यश्च "लोकं" चराचरं वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारं चशब्दादलोकं चानन्ताकाशास्तिकायमात्रं जानाति, यश्च जीवानाम् 'आगतिम्' आगमनं कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः? कैर्वा कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्ते? एवं यो जानाति, तथा 'अनागतिं च' अनागमनं च, कुत्र गतानां नागमनं भवति? चकारात्तद्रमनोपायं च सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रात्मकं यो जानाति, तत्रानागतिः-सिद्धिरशेषकर्मच्युतिरूपा लोकाग्राकाशदेशस्थानरूपा वा ग्राह्या, सा च सादिरपर्यवसाना । यश्च 'शाश्वतं' नित्यं सर्ववस्तुजातं द्रव्यास्तिकनयाश्रयाद् 'अशाश्वतं' वाऽनित्यं प्रतिक्षणविनाशरूपं पर्यायनयाश्रयणात्, चकारान्नित्यानित्यं चोभयाकारं सर्वमपि वस्तुजातं यो जानाति, तथा ह्यागमः-²"णेइया दव्वइयाए सासया भावइयाए असासया" एवमन्येऽपि तिर्यगादयो द्रष्टव्याः । अथवा निर्वाणं शाश्वतं संसारः-अशाश्वतस्तद्रतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति । तथा 'जातिम्' उत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणां 'मरणं च' आयुष्कक्षयलक्षणं, तथा जायन्त इति जनाः-सत्त्वास्तेषामुपपातं यो जानाति, स च नारकदेवयोर्भवतीति, अत्र च जन्मचिन्तायामसुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनीया, सा च सचित्ताऽचित्ता, मिश्रा च तथा शीता, उष्णा, मिश्रा च तथा संवृता, विवृता, मिश्रा चेत्येवं सप्तविंशतिविधेति । मरणं-पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोः, च्यवनं-ज्योतिष्कवैमानिकानाम् उद्वर्तना-भवनपतिव्यन्तरानारकाणामिति ॥२०॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो पुरुष आत्मा को परलोक में जानेवाला, शरीर से भिन्न और सुख-दुःख का आधार जानता है तथा जो आत्मा के कल्याण साधन में प्रवृत्त होता है, वही पुरुष आत्मज्ञ है । जो पुरुष, अहं इस प्रतीति से ग्रहण करने योग्य आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है, वही प्रवृत्ति, निवृत्तिरूप इस समस्त लोक को भी जानता है । वह आत्मज्ञ पुरुष ही, "जीवादि पदार्थ हैं" इस क्रियावाद का भाषण करता है । तथा नृत्यशाला में कमरपर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के समान इस चराचर विश्व को जो जानता है तथा च शब्द से अलोक यानी अनन्त आकाशास्तिकाय को जो जानता है एवं जो जीवों के आगमन को जानता है अर्थात् ये नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवता कहीं से आये हैं अथवा किन कर्मों के करने से जीव नरक आदि में उत्पन्न होते हैं, यह जो जानता है तथा कहीं जाकर फिर जीव वापिस नहीं आते हैं तथा चकार से वहाँ जाने के उपाय जो सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं, उन्हें जो जानता है, यहाँ अनागति, सिद्धि को कहते हैं, वह समस्त कर्मों का क्षय स्वरूप है अथवा

वह लोक के अग्र भाग में जो आकाश देशरूप स्थान है, तत्स्वरूप है। वह सिद्धि सादि और अनन्त है। तथा जो द्रव्यास्तिक नय के अनुसार समस्त पदार्थों को नित्य और पर्यायनय के अनुसार सबको अनित्य यानी प्रतिक्षणविनाशी जानता है तथा च शब्द से जो सब वस्तुओं को नित्य और अनित्य उभय स्वरूप जानता है, अत एव आगम कहता है कि-“नारक, द्रव्यार्थ नय से नित्य हैं और पर्याय नय से अनित्य हैं” इसी तरह दूसरे तिर्यञ्च आदि को भी उभयस्वरूप जानना चाहिए। अथवा निर्वाण को शाश्वत कहते हैं और संसार को अशाश्वत कहते हैं क्योंकि संसारी जीव अपने-अपने कर्म के वशीभूत होकर इधर, उधर जाते हैं तथा जो नारक, तिर्य्यञ्च, मनुष्य और देवता के जन्मरूप जाति को जानता है तथा आयुष्य के क्षयरूप मरण को जानता है एवं जीवों के उपपात को जो जानता है, जीवों का उपपात नारक और देव में होता है परन्तु यहां जन्म का विचार करने पर जीवों की उत्पत्तिस्थान योनि कहनी चाहिए। वह योनि, सचित्त, अचित्त, मिश्र, तथा शीत, उष्ण, मिश्र, और संवृत, विवृत, मिश्र होती है, इस प्रकार योनियों के २७ सत्ताईस भेद हैं। तिर्य्यञ्च और मनुष्य का मरण होता है तथा ज्योतिष्क और वैमानिक का च्यवन होता है, भवनपति, व्यन्तर, और नारकों की उद्धर्तना होती है ॥२०॥

अहोऽवि सत्ताण विउट्ठणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।

दुःखं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियवादं

॥२१॥

छाया - अहोऽपि सत्त्वानां विकुट्टनाञ्च, य आसवं जानाति संवरञ्च ।

दुःखञ्च यो जानाति निज्जराञ्च सभाषितुमर्हति क्रियावादम् ॥

अन्वयार्थ - (अहोऽवि सत्ताण विउट्ठणं च) नरक आदि में जीवों को नाना प्रकार की पीड़ा होती है, यह जो जानता है (जो आसवं संवरं च जाणति) तथा जो आस्रव और संवर को जानता है (जो निज्जरं दुःखं च जाणति) जो दुःख को तथा निर्जरा को जानता है (सो किरियवादं भासिउमरिहइ) वही ठीक-ठीक क्रियावाद को बता सकता है ।

भावार्थ - नरकादि गतियों में जीवों की नाना प्रकार की पीड़ा को जो जानता है तथा जो आस्रव, संवर, दुःख और निर्जरा को जानता है, वही ठीक-ठीक क्रियावाद को बता सकता है ।

टीका - ‘सत्त्वानां’ स्वकृतकर्मफलभुजामधस्तान्नारकादौ दुष्कृतकर्मकारिणां विविधां विरूपां वा कुट्टनां-जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीडां, चशब्दात्तदभावोपायं यो जानाति, इदमुक्तं भवति-सर्वार्थसिद्धादारतोऽधःसप्तमी नरकभुवं यावदसुमन्तः सकर्माणो विवर्तन्ते, तत्रापि ये गुरुतरकर्माणस्तेऽप्रतिष्ठाननरकयायिनो भवन्तीत्येवं यो जानीते । तथा आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म येन स आश्रवः स च प्राणातिपातरूपो रागद्वेषरूपो वा मिथ्यादर्शनादिको वेति तं तथा ‘संवरम्’ आश्रवनिरोधरूपं यावदशेषयोगनिरोधस्वभावं, चकारात्पुण्यपापे च यो जानीते तथा ‘दुःखम्’ असातोदयरूपं तत्कारणं च यो जानाति ‘सुखं’ च तद्विपर्ययभूतं यो जानाति, तपसा यो निर्जरां च, इदमुक्तं भवति-यः कर्मबन्धहेतून् तद्विपर्यासहेतूँश्च तुल्यतया जानाति, तथाहि-

“यथाप्रकारा यावन्तः संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणावेशहेतवः ॥१॥”

स एव परमार्थतो ‘भाषितुं’ वक्तुमर्हति, किं तद् ? इत्याह-क्रियावादम्, अस्ति जीवोऽस्ति पुण्यमस्ति पापमस्ति च पूर्वाचरितस्य कर्मणः फलमित्येवंरूपं वादमिति । तथाहि-जीवाजीवास्त्रवसंवरबन्धपुण्यपापनिर्जरामोक्षरूपा नवापि पदार्थाः श्लोकद्वयेनोपात्ताः, तत्र य आत्मानं जानातीत्यनेन जीवपदार्थः, लोकमित्यनेनाजीवपदार्थः, तथा गत्यनागतिः शाश्वतेत्यादिनाऽनयोरेव स्वभावोपदर्शनं कृतं, तथाऽऽश्रवसंवरौ स्वरूपेणैवोपात्तौ, दुःखमित्यनेन तु बन्धपुण्यपापानि गृहीतानि, तदविनाभावित्वाददुःखस्य, निर्जरायास्तु स्वाभिधानेनैवोपादानं, तत्फलभूतस्य च मोक्षस्योपादानं द्रष्टव्यमिति, तदेवमेतावन्त एव पदार्थास्तदभ्युपगमेन चास्तीत्यादिकः क्रियावादोऽभ्युपगतो भवतीति, यश्चैतान् पदार्थान् ‘जानाति’ अभ्युपगच्छति स परमार्थतः क्रियावादं जानाति । ननु चापरदर्शनोक्तपदार्थपरिज्ञानेन^४ सम्यग्वादित्वं कस्मान्नाभ्युपगम्यते?

१. आदिनाऽशाश्वतं । २. अजीवपक्षेऽनागतिः स्थितिः यद्वा जीवानां ते अजीवकृते इति ३. वैषयिकसुखस्य दुःखरूपत्वान्न दुःखस्य पुण्याविनाभावत्वानुपपत्तिः

४. ज्ञानाच्छ्रद्धा ततः प्ररूपेणेति सम्यग्वादित्वशङ्का ।

तदुक्तपदार्थानामेवाघटमानत्वात्, तथाहि-नैयायिकदर्शनेन तावत्प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्क-
निर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानीत्येते षोडशपदार्था अभिहिताः, तत्र हेयोपादेय(निवृत्ति) प्रवृत्तिरूपतया
येन पदार्थपरिच्छित्तिः क्रियते तत्प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तच्च प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दभेदाच्चतुर्धा, तत्रेन्द्रियार्थसंनिर्घोषोत्पन्नं
ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं, तदत्रेन्द्रियार्थयोर्यः संबन्धस्तस्माद्यदुत्पन्नं, ^१नाभिव्यक्तं, ज्ञानं, न
^२सुखादिकम्, अव्यपदेश्यमिति व्यपदेश्यत्वे शाब्दप्राप्तेः, अव्यभिचारि तद्धि द्विचन्द्रज्ञानवदव्यभिचरतीति, व्यवसायात्मकमिति
निश्चयात्मकं प्रत्यक्षं, तत्रास्य प्रत्यक्षता न बुध्य(युज्य) ते, तथाहि-यत्रात्माऽर्थग्रहणं प्रति साक्षादव्याप्रियते तदेव प्रत्यक्षं,
तच्चावधिमनःपर्यायकेवलात्मकम्, ^३एतच्चापरोपाधिद्वारेण प्रवृत्तेरनुमानवत्परोक्षमिति, उपचारप्रत्यक्षं तु स्यात्, न
चोपचारस्तत्त्वचिन्तायां व्याप्रियत इति । अनुमानमपि पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति त्रिधा, तत्र कारणात्कार्यानुमानं
पूर्ववत् कार्यात्कारणानुमानं शेषवत् सामान्यतोदृष्टं तु चूतमेकं विकसितं दृष्ट्वा पुष्पिताश्चूता जगतीति यदिवा देवदत्तादौ
गतिपूर्विकां स्थानात् स्थानान्तरावासिं दृष्ट्वाऽऽदित्येऽपि गत्यनुमानमिति, तत्राप्यन्यथानुपपत्तिरेव गमिका, न कारणादिकं,
तथा विना कारणस्य कार्यं प्रति व्यभिचारात्, यत्र तु सा विद्यते तत्र कार्यकारणादिव्यतिरेकेणापि गम्यगमकभावो दृष्टः,
तद्यथा-भविष्यति शकटोदयः, कृत्तिकादर्शनादिति, तदुक्तम्-

“अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥१॥”

अपिच-प्रत्यक्षस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वकस्यानुमानस्याप्रामाण्यमिति । प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं, यथा गौर्गव्यस्तथा,
अत्र च सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः, अत्रापि सिद्धायामन्यथाऽनुपपत्तावनुमानलक्षणत्वेन
तत्रैवान्तर्भावात्पृथक्प्रमाणत्वमनुपपन्नमेव, अथ नास्त्यनुपपत्तिस्ततो व्यभिचारादप्रमाणतोपमानस्य । शाब्दमपि न सर्वं
प्रमाणं, किं तर्हि ? , आसप्रणीतस्यैवागमस्य प्रामाण्यं, न चार्हदव्यतिरेकेणापरस्यासता युक्तियुक्तेति, एतच्चाप्यत्र
निलोठितमिति । किञ्च-सर्वमप्येतत्प्रमाणमात्मनो ज्ञानं ज्ञानं चात्मनो गुणः (गुणश्च) पृथक्पदार्थतयाऽभ्युपगन्तुं न युक्तो,
रूपरसादीनामपि पृथक्पदार्थताऽऽपत्तेः, अथ प्रमेयग्रहणेनेन्द्रियार्थतया तेऽप्याश्रिताः, सत्यमाश्रिताः, न तु युक्तियुक्ताः,
तथाहि-द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामभावात् तद्ग्रहणे च तेषामपि ग्रहणं सिद्धमेवेति न युक्तं पृथगुपादानम् । प्रमेयं
त्वात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः, तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टोपभोक्ता चे(स चे)च्छाद्वेष-
प्रयत्नसुखदुःखज्ञानानुमेयः, स च जीवपदार्थतया गृहीत एवास्माभिरिति, शरीरं तु तस्य भोगायतनं, भोगायतनानीन्द्रियाणि,
भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः, एतदपि शरीरादिकं जीवाजीवग्रहणेनोक्तमस्माभिरिति । उपयोगो बुद्धिरित्येतच्च ज्ञानविशेषः, स
च जीवगुणतया जीवोपादानतयो (नेनो)पात्त एव । सर्वविषयमन्तःकरणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्यमनः
पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतं, भावमनस्त्वात्मगुणत्वाज्जीवग्रहणेनेति । आत्मनः सुखदुःखसंवेदनानां निर्वर्तनकारणं
प्रवृत्तिः, सापि पृथक्पदार्थतया नाभ्युपगन्तुं युक्ता, तथाहि-प्रवृत्तिरित्यात्मेच्छा, सा चात्मगुण एव, आत्माऽभिप्रायतया
ज्ञानविशेषत्वाद्, आत्मानं दूषयतीति दोषः, तद्यथा-अस्यात्मनो नेदं शरीरमपूर्वम्, अनादित्वादस्य, नाप्यनुत्तरम्,
अनन्तत्वात्सन्ततेरिति, (शरीरेऽपूर्वतया सान्ततया वा)योऽयमात्मनोऽध्यवसायः स दोषो, रागद्वेषमोहादिको वा दोषः,
अयमपि दोषो जीवाभिप्रायतया तदन्तर्भावीति न पृथग्वाच्यः । प्रेत्यभावः-परलोकसद्भावोऽयमपि ससाधनो जीवाजीवग्रहणेनोपात्तः,
फलमपि-सुखदुःखोपभोगात्मकं, तदपि जीवगुण एवान्तर्भवतीति न पृथगुपदेष्टव्यमिति, दुःखमित्येतदपि विविधबाधनयोगरूपमिति
न फलादतिरिच्यते, जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदरूपतया सर्वदुःखग्रहाणलक्षणो-मोक्षः, स चास्माभिरुपात्त एवेति । किमित्यन-
वधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः, असावपि निर्णयज्ञानवदात्मगुण एवेति, येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, तदपीच्छाविशेषत्वादात्मगुण
एव, अविप्रतिपत्तिविषयापन्नोऽर्थो दृष्टान्तः, असावपि जीवाजीवयोरन्यतरः, न चैतावताऽस्य पृथक्पदार्थता युक्ता,
अतिप्रसङ्गाद्, अवयवग्रहणेन च तस्योत्तरत्र ग्रहणादिति सिद्धान्तश्चतुर्विधः, तद्यथा-सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः
सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, यथा स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि स्पर्शादय इन्द्रियार्थाः प्रमाणैः प्रमेयस्य ग्रहणमिति १, समानतन्त्रसिद्धः
परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तो यथा साङ्ख्यानं नासत आत्मलाभो न च सतः सर्वथा विनाश इति, तथा चोक्तम्-

१. जैनानां ह्यात्मा ज्ञानस्वरूप इतीन्द्रियादिनाऽभिव्यज्यते ज्ञानं तेषां तूत्पद्यते । २. सुखस्यापीन्द्रियार्थोत्पन्नत्वात् । ३. इन्द्रियार्थोत्पन्नं ।

“नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः” इति २, यत्सिद्धावन्यस्यार्थस्यानुषङ्गेण सिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः, यथेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाताऽऽत्माऽस्ति दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति, तत्रानुषङ्गिणोऽर्था १ इन्द्रियनानात्वं २ नियतविषयाणीन्द्रियाणि ३ स्वविषयग्रहण-लिङ्गानि च ४ ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि ५ स्पर्शादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं ६ गुणाधिकरण ७ मनियतविषयाश्चेतनाः ८ इति, पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति, नैतैर्विना पूर्वार्थः संभवतीति ३, अपरीक्षितार्थाभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः, तद्यथा, किं शब्द इति विचारे कश्चिदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽथानित्यः ?, इत्येवं विचारः ४, स चायं चतुर्विधोऽपि सिद्धान्तो न ज्ञानविशेषादतिरिच्यते, ज्ञानविशेषस्यात्मगुणत्वाद्गुणस्य च गुणिग्रहणेन ग्रहणाद् न पृथगुपादानमिति । अथावयवाः-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि, तत्र साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, यथा नित्यः शब्दोऽनित्यो वेति, हिनोति-गमयति प्रतिज्ञातमर्थमिति हेतुः, तद्यथा-उत्पत्तिधर्मकत्वात्, साध्यसाधर्म्यवैधर्म्यभावे दृष्टान्तः उदाहरणं, यथा घट इति, वैधर्म्योदाहरणं यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिमदपि न भवति यथाऽऽकाशमिति, तथा न तथेति वा पक्षधर्मोपसंहार उपनयः, तद्यथा- अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्तथाचार्यं, अनित्याभावे कृतकत्वमपि न भवत्याकाशवत् न तथाऽयमिति, प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमनं, तस्मादनित्य इति, ते चामी पञ्चाप्यवयवा यदि शब्दमात्रं ततः शब्दस्य पौद्गलिकत्वात्पुद्गलानां चाजीवग्रहणेन ग्रहणात् पृथगुपादानं न्याय्यम्, अथ तज्जं ज्ञानं ततो जीवगुणत्वात् जीवग्रहणेनैवोपादानमिति, ज्ञानविशेषपदार्थताऽभ्युपगमे च पदार्थबहुत्वं स्याद्, अनेकप्रकारत्वाज्ज्ञानविशेषाणामिति । संशयादूर्ध्वं भवितव्यताप्रत्ययः सदर्थपर्यालोचनात्मकस्तर्कः, यथा भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति, अयमपि ज्ञानविशेष एव, न च ज्ञानविशेषाणां ज्ञातुरभिज्ञानां पृथक् पदार्थ-परिकल्पनं समनुजानते विद्वांसः । संशयतर्काभ्यामुत्तरकालभावी निश्चयात्मकः प्रत्ययो निर्णयः, अयमपि प्राग्वज्ज्ञानादतिरिच्यते, किञ्च-अस्य निश्चयात्मकतया प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तर्भावान्न पृथग् निर्देशो न्याय्य इति । तिस्रः कथाः-वादो जल्पो वितण्डा चेति, तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः, स च तत्त्वज्ञानार्थं शिष्याचार्ययोर्भवति, स एव विजिगीषुणा सार्धं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः, स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति, तत्रासां तिसृणामपि कथानां भेद एव नोपपद्यते, यतस्तत्त्वचिन्तायां तत्त्वनिर्णयार्थं वादो विधेयो, न छलजल्पादिना तत्त्वावगमः कर्तुं पार्यते, छलादिकं हि परवञ्चनार्थमुपन्यस्यते, न च तेन तत्त्वावगतिः इति सत्यपि भेदे नैवासां पदार्थता, यतो यदेव परमार्थतो वस्तुवृत्त्या वस्त्वस्ति तदेव परमार्थतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तम्, वादास्तु पुरुषेच्छावशेन भवन्तोऽनियता वर्तन्ते (तत्) न तेषां पदार्थेति, किञ्च - पुरुषेच्छानुविधायिनो वादाः कुक्कुटलावकादिष्वपि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण भवन्त्यतस्तेषामपि तत्त्वप्राप्तिः स्यान्न चैतदिष्यत इति । असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः, हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः, तत्र सम्यग्हेतूनामपि न तत्त्वव्यवस्थितिः किं पुनस्तदाभासानां ?, तथाहि- इह यन्नियतं वस्त्वस्ति तदेव तत्त्वं भवितुमर्हति, हेतवस्तु क्वचिद्वस्तुनि साध्ये हेतवः क्वचिदहेतव इत्यनियतास्त इति । अथ “छलम्” अर्थविधातोऽर्थविकल्पोपपत्त्येति, तत्रार्थविशेषे विवक्षितेऽभिहिते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलं, यथा नवकम्बलोऽयं देवदत्तः, अत्र च नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायो विग्रहे च विशेषो न समासे, तत्रायं छलवादी नव कम्बला अस्येत्येतद्भवताऽभिहितमिति कल्पयति, न चायं तथेत्येवं प्रतिषेधयति, तत्र छलमित्यसदर्थभिधानं, तद्यदि छलं न तर्हि तत्त्वं, तत्त्वं चेन्न तर्हि छलं, परमार्थरूपत्वात्तत्त्वस्येति, तदेवं छलं तत्त्वमित्यतिरिक्ता वाचोयुक्तिः । दूषणाभासास्तु जातयः, तत्र सम्यग्दूषणस्यापि न तत्त्वव्यवस्थितिः, अनियतत्वात्, अनियतत्त्वं च यदेवैकस्मिन् सम्यग्दूषणं तदेवान्यत्र दूषणाभासं, पुरुषशक्त्यपेक्षत्वाच्च दूषणदूषणाभासव्यवस्थितेरनियतत्वमिति कुतः पुनर्दूषणाभासरूपाणां जातीनाम् ?, अवास्तवत्वात्तासामिति । वादकाले वादी - प्रतिवादी वा येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानं, तच्च वादिनोऽसाधनाङ्गवचनं प्रतिवादिनस्तद्दो(श्च तत्तदो)षोद्धावनं विहाय यदन्यदभिधीयते नैयायिकैस्तत्प्रलापमात्रमिति, तच्च प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोध इत्यादिकम्, एतच्च विचार्यमाणं न निग्रहस्थानं भवितुमर्हति, भवदपि च पुरुषस्यैवापराधं कर्तुमलं, न त्वेतत्त्वं भवितुमर्हति, वक्तृगुणदोषौ हि परार्थेऽनुमानेऽधिक्रियेते न तु तत्त्वमिति, तदेवं न नैयायिकोक्तं तत्त्वं तत्त्वेनाश्रयितुं युज्यते, तस्योक्तनीत्या सदोषत्वादिति ॥

नापि वैशेषिकोक्तं तत्त्वमिति, तथाहि - द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायास्तत्त्वमिति, तत्र पृथिव्यज्जोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि, तदत्र पृथिव्यपूतेजोवायूनां पृथग्द्रव्यत्वमनुपपन्नं, तथाहि - त एव परमाणवः प्रयोगविस्रसाभ्यां पृथिव्यादित्वेन परिणमन्तोऽपि न स्वकीयं द्रव्यत्वं त्यजन्ति, न चावस्थाभेदेन द्रव्यभेदो युक्तः, अतिप्रसङ्गादिति । आकाशकालयोश्चास्माभिरपि द्रव्यत्वमभ्युपगतमेव, दिशस्त्वाकाशावयवभूताया अनुपपन्नं पृथग्द्रव्यत्वमतिप्रसङ्गदोषादेव, आत्मनश्च स्वशरीरमात्रव्यापिन उपयोगलक्षणस्याभ्युपगतमेव द्रव्यत्वमिति, मनसश्च पुद्गलविशेषतया पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भाव इति [परमाणुवत्], भावमनसश्च जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव इति । यदपि तैरभिधीयते, यथा पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीति, तदपि स्वप्रक्रियामात्रमेव, यतो न हि पृथिव्याः पृथग्भूतं पृथिवीत्वमपि येन तद्योगात्पृथिवी भवेद्, अपितु सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषात्मकं नरसिंहाकारमुभयस्वभावमिति, तथा चोक्तम् -

“नान्वयः स हि भेदत्वाद्वा भेदोऽन्वयवृत्तिः । मूढेदद्वयसंसर्गवृत्तिजा (र्जा) त्यन्तरं घटः ॥१॥”

तथा -

“न नरः सिंहरूपत्वाद्वा सिंहो नररूपतः । शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥१॥”

इत्यादि । अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणाः, तथा सङ्ख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणाः सर्वद्रव्यवृत्तित्वात्, तथा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा आत्मगुणाः, गुरुत्वं पृथिव्युदकयोर्द्रवत्वं पृथिव्युदकाग्निषु स्नेहोऽम्भस्येव वेगाख्यः संस्कारो मूर्तद्रव्येष्वेव आकाशगुणः शब्द इति । तत्र सङ्ख्यादयः सामान्यगुणा रूपादिवद् द्रव्यस्वभावाभावात्त्वेन परोपाधिकत्वाद्गुणा एव न भवन्ति, अथापि स्युस्तथापि न गुणानां पृथक्त्वव्यवस्था, तत्पृथक्त्वभावे द्रव्यस्वरूपहानेः “गुणपर्यायवद् द्रव्य” (तत्त्वा० अ० ५ सू०) मितिकृत्वा, अतो नान्तरीयकतया द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणं न्याय्यमिति न पृथग्भावः । किञ्च तस्य भावस्तत्त्वमित्युच्यते, भावप्रत्ययश्च यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने “त्वतला” वित्यनेन भवति, तत्र घटो रक्त उदकस्याहारको जलवान् सर्वैरेव घट उच्यते, अत्र च घटस्य भावो घटत्वं रक्तस्य भावो रक्तत्वं आहारकस्य भाव आहारकत्वं जलवतो भावो जलवत्त्वमित्यत्र घटसामान्यरक्तगुणक्रियाद्रव्यसंबन्धरूपाणां गुणानां सद्भावात् द्रव्ये पृथुबुध्नाकार उदकाद्याहरणक्षमे कुटकाख्ये शब्दस्य घटादेरभिनिवेशस्तत्र त्वतलौ, इह च रक्ताख्यः को गुणो ? यत् सद्भावात्, कतरच्च तद् द्रव्यं यत्र शब्दनिवेशो येन भावप्रत्ययः स्यादिति ? । किमिदानीं रक्तस्य भावो रक्तत्वमिति न भवितव्यं?, भवितव्यमुपचारेण, तथाहि - रक्त इत्येतद्द्रव्यत्वेनोपचर्य तस्य ‘सामान्यं भाव इति रक्तत्वमिति, न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायामुपयुज्यते, शब्दसिद्धावेव तस्य ‘कृतार्थत्वादिति । शब्दश्चाकाशस्य गुण एव न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वाद्, आकाशस्य चामूर्तत्वादिति । शेषं तु प्रक्रियामात्रं न साधनदूषणयोरङ्गम् । क्रियाऽपि द्रव्यसमवायिनी गुणवत्पृथगाश्रयितुं न युक्तेति । अथ सामान्यं, तद्विधा - परमपरं च, तत्र परं महासत्ताख्यं द्रव्यादिपदार्थव्यापि, तथा चोक्तम् - “सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता” अपरं च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वात्मकं, तत्र न तावन्महासत्तायाः पृथक्पदार्थता युज्यते, यतस्तस्यां यः सदिति प्रत्ययः स किमपरसत्तानिबन्धन उत स्वत एव ?, तत् यद्यपरसत्तानिबन्धनस्तत्राप्ययमेव विकल्पोऽतोऽनवस्था, अथ स्वत एव ततस्तद्वद् द्रव्यादिष्वपि स्वत एव सत्प्रत्ययो भविष्यतीति ‘किमपरसत्तायाऽजागलस्तनकल्पया विकल्पितया?, किञ्च - द्रव्यादीनां किं सतां सत्तया सत्प्रत्यय उतासतां ?, तत् यदि सतां स्वत एव सत्प्रत्ययो भविष्यति किं तया? असत्पक्षे तु शशविषाणादिष्वपि सत्तायोगात्सत्प्रत्ययः स्यादिति, तथा चोक्तम् -

“स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मनाम् ? । असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥१॥”

इत्यादि । एतदेव दूषणमपरसामान्येऽप्यायोज्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । किञ्च - अस्माभिरपि सामान्यविशेषरूप-त्वाद्वास्तुनः कथञ्चित्तिदिष्यत एवेति, तस्य च कथञ्चित्तिदव्यतिरेकाद् द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणमिति । अथ विशेषाः, ते चात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वेन परैराश्रीयन्ते, तत्रेदं चिन्त्यते - या तेषु विशेषबुद्धिः सा नापरविशेषहेतुकाऽऽश्रयितव्या, अनवस्थाभयात्, स्वतः समाश्रयणे च तद्वद् द्रव्यादिष्वपि विशेषबुद्धिः स्यात्किं द्रव्यादिव्यतिरिक्तैर्विशेषैरिति ?,

द्रव्याव्यतिरिक्तास्तु विशेषा अस्माभिरप्याश्रीयन्ते, सर्वस्य सामान्यविशेषात्मकत्वादिति। ^१एतत्तु प्रक्रियामात्रं, तद्यथा- नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः, नित्यद्रव्याणि च चतुर्विधाः परमाणवो मुक्तात्मानो मुक्तमनांसि च, ^२इति ^३निर्युक्तिकत्वादपकर्णयितव्यमिति । समवायस्तु-अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां य इह प्रत्ययहेतुः स समवाय इत्युच्यते, असावपि नित्यश्चैकश्चाश्रीयते, तस्य च नित्यत्वात्समवायिनोऽपि नित्या आपद्येरन्, तदनित्यत्वे च तस्याप्यनित्यत्वापत्तिः, तदाधाररूपत्वात्तस्य, तदेकत्वाच्च सर्वेषां समवायिनामेकत्वापत्तिः, तस्य चानेकत्वमिति । किञ्च-अयं समवायः संबन्धः, तस्य च द्विष्टत्वाद् ^४युतसिद्धत्वमेव दण्डदण्डिनोरिव, वीरणानां च कटोत्पत्तौ तद्रूपतया विनाशः कटरूपतयोत्पत्तिरन्वयरूपतया व्यवस्थानमिति दुग्धदध्नोरिवेत्येवं वैशेषिकमतेऽपि न सम्यक् पदार्थावस्थितिरिति ॥

साम्प्रतं साङ्ख्यदर्शने तत्त्वनिरूपणं प्रक्रम्यते-तत्र प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिरुपजायते, प्रकृतिश्च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था ततो महान् महतोऽहङ्कारः अहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानीति, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं, स चाकर्ता निर्गुणो भोक्तेति । तत्र परस्परविरुद्धानां सत्त्वादीनां गुणानां प्रकृत्यात्मनां नियामकं गुणिनमन्तरेणैकत्रावस्थानं न युज्यते, ^५कृष्णसितादिगुणानामिव, न च महदादिविकारे जन्ये प्रकृतिवैषम्योत्पादने कश्चिद्धेतुः, तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरानभ्युपगमाद्, आत्मनश्चाकर्तृत्वेनाकिञ्चित्करत्वात्, ^६स्वभाववैषम्याभ्युपगमे तु निर्हेतुकत्वापत्तेर्नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादिति, उक्तं च-

“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यान्पेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥१॥”

अपि च - महदहङ्कारौ संवेदनादभिन्नौ पश्यामः, तथाहि-बुद्धिरध्यवसायोऽहङ्कारश्चाहं सुख्यहं दुःखीत्येवमात्मकः प्रत्ययः, तयोश्चिद्रूपतयाऽऽत्मगुणत्वं, न जडरूपायाः प्रकृतेर्विकारावेताविति । अपिच-येयं तन्मात्रेभ्यो भूतोत्पत्तिरिष्यते, तद्यथा - गन्धतन्मात्रात्पृथिवी रसतन्मात्रादापः रूपतन्मात्रात्तेजः स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दतन्मात्रादाकाशमिति, साऽपि न युक्तिक्षमा, यतो यदि बाह्यभूताश्रयेणैतदभिधीयते, तदयुक्तं, तेषां सर्वदा भावात्, न कदाचिदनीदृशं जगदितिकृत्वा, अथ प्रतिशरीराश्रयणादेतदुच्यते, तत्र किल त्वगस्थिकठिनलक्षणा पृथ्वी श्लेष्मासृग् द्रवलक्षणा आपः पक्तिलक्षणं तेजः प्राणापानलक्षणो वायुः शुषिरलक्षणमाकाशमिति, तदपि न युज्यते, यतोऽत्रापि केषाञ्चिच्छरीराणां शुक्रासृक्-प्रभावोत्पत्तिः, न तत्र तन्मात्राणां ^७गन्धोऽपि समुपलक्ष्यते, ^८अदृष्टस्यापि कारणत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, अण्डजोद्भिज्जाङ्गुरादीनामप्यन्यत एवोत्पत्तिर्भवन्ती समुपलक्ष्यते, तदेवं व्यवस्थिते प्रधानमहदहङ्कारादिकोत्पत्तिर्या सांख्यैः स्वप्रक्रिययाऽऽभ्युपगम्यते ततैर्निर्युक्तिकमेव स्वदर्शनानुरागेणाभ्युपगम्यत इति । आत्मनश्चाकर्तृत्वाभ्युपगमे कृतनाशोऽकृतागमश्च स्यात् बन्धमोक्षाभावश्च, निर्गुणत्वे च ज्ञानशून्यतापत्तिरित्यतो बालप्रलापमात्रं, प्रकृतेश्चाचेतनाया आत्मार्थं प्रवृत्तिर्युक्तिविकलेति ।

अथ बौद्धमतं निरूप्यते - तत्र हि पदार्था द्वादशायतनानि, तद्यथा - चक्षुरादीनि पञ्च रूपादयश्च विषयाः पञ्च ^९शब्दायतनं धर्मायतनं च, धर्माः-सुखादयो द्वादशायतनपरिच्छेदके प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे, तत्र चक्षुरादी(दिद्रव्ये)न्द्रियाण्यजीवग्रहणेनैवोपात्तानि, भावेन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति, रूपादयश्च विषया अजीवोपादानेनोपात्ता न पृथगुपादातव्याः, शब्दायतनं तु पौद्गलिकत्वाच्छब्दस्याजीवग्रहणेन गृहीतं, न च प्रतिव्यक्ति पृथक्पदार्थता युक्ति-संगतेति, धर्मात्मकं सुखं दुःखं च यद्यसा(तासा)तोदयरूपं ततो जीवगुणत्वाज्जीवेऽन्तर्भावः, अथ तत्कारणं कर्म ततः पौद्गलिकत्वादजीव इति । प्रत्यक्षं च तैर्निर्युक्तिकल्पकमिष्यते, तच्चानिश्चयात्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्योरनङ्गमित्यप्रमाणमेव, तदप्रमाण्ये तत्पूर्वकत्वादानुमानमपीति, शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति नेह प्रतन्यत इत्यनया दिशा मीमांसकलोकायतमताभिहिततत्त्वनिराकरणं स्वबुद्ध्या विधेयं, तयोरत्यन्तलोक-विरुद्धपदार्थानां श्रयणान्न साक्षादुपन्यासः कृत इति । तस्मात्पारिशेष्यसिद्धा अर्हदुक्ता नव सप्त वा पदार्थाः सत्याः तत्परिज्ञानं च क्रियावादे हेतुः नापरपदार्थ-परिज्ञानमिति ॥२१॥

१. वक्ष्यमाणं । २. एतन्निरूपणं । ३. अपरविशेषभावयोर्दोषात् । ४. युग्मयोर्भिन्नत्वेन । ५. पृथग्भूता वर्णा ग्राह्याः, वर्णमयानि द्रव्याणि, तेषां गुणानां वा स्वयं द्रव्यान्तरेण यथा नावस्थानं विरुद्धानां । ६. वैधर्म्योऽं प्र० । ७. गन्धः संबन्धलेशयोः । ८. तन्मात्रापञ्चकस्य । ९. मानसमिति शब्दान्तरं, तस्य शब्दमयविचारात्मकत्वात् ।

टीकार्थ - प्राणिवर्ग अपने किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं। जो पापकर्म करते हैं, वे नरक आदि स्थानों में, जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक से उत्पन्न नाना प्रकार की शरीर पीड़ा को भोगते हैं, यह जो जानता है तथा च शब्द से इस पीड़ा के अभाव के उपाय को जो जानता है, भाव यह है कि सर्वार्थसिद्धि से लेकर नरक की सातवीं भूमि तक जितने प्राणी हैं, वे सभी कर्म से युक्त हैं, इनमें जो सबसे अधिक गुरुकर्म हैं, वे अप्रतिष्ठान नरक में जाते हैं, यह जो जानता है, तथा जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्म आते हैं, उसे आश्रव कहते हैं, वह प्राणातिपातरूप है अथवा रागद्वेषरूप है अथवा मिथ्यादर्शन आदि है, उसे जो जानता है तथा आश्रवों का निरोध रूप यावत् समस्त योगों का निरोधरूप संवर को जो जानता है एवं च शब्द से जो पुण्य, पाप को जो जानता है, तथा असाता का उदय रूप दुःख को अथवा उसके कारण को जो जानता है एवं उस दुःख से विपरीत जो सुख है, उसे जो जानता है, आशय यह है कि - जो कर्मबन्ध के कारणों को और कर्म के क्षपण के कारणों को तुल्यरूप से जानता है, क्योंकि -

जिस प्रकार के जितने पदार्थ संसार प्राप्ति के कारण हैं, उतने ही उनसे विपरीत पदार्थ मोक्ष प्राप्ति के हेतु हैं।

इत्यादि जो जानता है, वही वस्तुतः इसे बता सकता है। किसे बता सकता है? क्रियावाद को बता सकता है। जीव है, पुण्य है, पाप है, और पूर्वकृत कर्म का फल है, ऐसे कथन को क्रियावाद कहते हैं। उक्त दो श्लोकों के द्वारा जीव, अजीव, आश्रव, संवर, बन्ध, पुण्य, पाप, निर्जरा और मोक्ष ये नव ही पदार्थ ग्रहण किये गये हैं। जैसे कि - जो आत्मा को जानता है, यह कहकर जीव पदार्थ कहा गया है और लोक कहकर अजीव पदार्थ बताया है तथा गति, अनागति, और शाश्वत इत्यादि कहकर इन्हीं का स्वभाव बताया गया है। तथा आश्रव और संवर नाम लेकर कहे गये हैं और दुःख कहकर बन्ध, पुण्य और पाप सूचित किये गये हैं क्योंकि इनके बिना दुःख नहीं होता। तथा निर्जरा अपना नाम लेकर ही बतायी गयी है एवं निर्जरा का फल स्वरूप मोक्ष भी कहा गया है। इस प्रकार इतने ही पदार्थ मोक्ष के उपयोगी हैं, अतः इनका अस्तित्व स्वीकार करने से ही क्रियावाद सिद्धान्त स्वीकृत होता है। जो पुरुष इन पदार्थों को जानता है और स्वीकार करता है, वही परमार्थतः क्रियावाद को जानता है। कहते हैं कि दूसरे दर्शनों में कहे हुए पदार्थों को जो जानता है, उसे तुम सम्यग्वादी क्यों नहीं मानते? उत्तर यह है कि - न्याय दर्शन में “प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ कहे गये हैं। इनमें जो हेय पदार्थों से निवृत्ति और उपादेय पदार्थों में प्रवृत्तिरूप होने के कारण पदार्थों के स्वरूप का निश्चय कराता है, उसे प्रमाण कहते हैं। जिसके द्वारा पदार्थ ठीक - ठीक जाने जाते हैं, वह प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द भेद से चार प्रकार का है। इनमें जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला और शब्द से अकथनीय तथा व्यभिचार रहित और निश्चयात्मक है, उसे नैयायिक प्रत्यक्ष कहते हैं। आशय यह है कि - जो इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है परन्तु अभिव्यक्त नहीं होता है तथा सुख आदि नहीं अपितु ज्ञान है, तथा जो शब्द के द्वारा नहीं हुआ है क्योंकि शब्द के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह शब्द बोध है तथा दो चन्द्रमा के ज्ञान की तरह जो भ्रम नहीं है एवं जो निश्चयरूप है, उसे नैयायिक प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु यह प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ अर्थ ग्रहण करने में आत्मा साक्षात् व्यापार करता है, इन्द्रियों के द्वारा नहीं करता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वह प्रत्यक्ष अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान रूप है परन्तु नैयायिकोक्त प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा होने के कारण अनुमान आदि के समान ही परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। आरोप से यदि उसे प्रत्यक्ष कहो तो कह सकते हो परन्तु जहाँ तत्त्व का विचार हो रहा है, वहाँ आरोप की क्या आवश्यकता है?। इसी तरह नैयायिक अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद बताते हैं। इनमें कारण से कार्य के अनुमान को पूर्ववत् कहते हैं और कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहते हैं तथा एक आम के वृक्ष में लगी हुई मञ्जरी को देखकर “जगत् के सर्व आमों में मञ्जरी लग गयी” इस प्रकार अनुमान करने को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। अथवा गति के कारण देवदत्त आदि की एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्ति देखकर सूर्य में गति का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। परन्तु यह नैयायिकों का कथन ठीक नहीं है क्योंकि सर्वत्र

अन्यथाऽनुपपत्ति ही अनुमिति का कारण है, कारण आदि नहीं हैं क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के बिना कारण का कार्य में व्यभिचार देखा जाता है परन्तु जहाँ अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ कार्यकारणभाव न होने पर भी गम्यगमकभाव देखा जाता है जैसे कि-शकट तारा(मृगशिर) का उदय होगा क्योंकि कृत्तिका का उदय देखा जाता है। यहाँ शकट और कृत्तिका में परस्पर कारण कार्यभाव न होने पर भी अन्यथानुपपत्ति होने से अनुमान होता है, इसलिए अन्यथानुपपत्ति ही अनुमिति का कारण है कार्यकारण भाव आदि नैयायिकोक्त कारण नहीं हैं। अतएव जैनाचार्यों ने कहा है कि-जहाँ अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट से क्या प्रयोजन है ? तथा जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ भी इन तीनों से क्या हो सकता है : दूसरी बात यह है कि-नैयायिकोक्त प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं है, इसलिए प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला अनुमान भी प्रमाण नहीं है।

उपमान प्रमाण का विचार करते हुए नैयायिक कहते हैं कि-प्रसिद्ध वस्तु की तुल्यता से साध्य यानी अप्रसिद्ध का साधन करना उपमान प्रमाण है, जैसे कि-जैसी गाय होती है, वैसा ही गवय होता है, यह इसका उदाहरण है और संज्ञा के साथ संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होना, इस प्रमाण का फल है। परन्तु इस उपमान को अलग प्रमाण मानना ठीक नहीं है क्योंकि-यहाँ भी अन्यथानुपपत्ति ही संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है इसलिए यहाँ अनुमान का ही लक्षण घटता है, अतः अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाने से उपमान की पृथक् प्रमाणता सिद्ध नहीं होती। यदि कहो कि-उपमान स्थल में अन्यथानुपपत्ति नहीं होती तब तो व्यभिचार होने के कारण उपमान प्रमाण नहीं हो सकता। इसी तरह आगम भी सभी प्रमाण नहीं हैं किन्तु जो आप्त पुरुष के द्वारा कहा हुआ है वही आगम प्रमाण है। आप्त पुरुष अर्हन् ही हैं, उनसे भिन्न दूसरे को आप्त मानना युक्तियुक्त नहीं है, यह हम दूसरे स्थल में बता चुके हैं। तथा ये सभी प्रमाण आत्मा के ज्ञानरूप हैं और ज्ञान आत्मा का गुण है, इसलिए उसे आत्मा से भिन्न पदार्थ माननेपर रूप, रस आदि गुणों को भी पृथक् पदार्थ मानना पड़ेगा। यदि कहो कि-रूप, रस आदि इन्द्रियों के अर्थ हैं, इसलिए हमने उन्हें प्रमेय रूप से अलग पदार्थ माना है, तो यह ठीक है, तुमने माना है, सही परन्तु वह युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि द्रव्य को छोड़कर रूप, रसादि नहीं रहते हैं, इसलिए द्रव्य के ग्रहण से अलग ग्रहण भी हो जाता है, इसलिए उन्हें अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है। इसी तरह नैयायिकों ने आत्मा, शरीर, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, और अपवर्ग को प्रमेय कहा है। इनमें आत्मा को सर्वद्रष्टा और सर्वभोक्ता मानकर इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान के द्वारा अनुमेय कहा है, उस आत्मा को जीव कहकर हम जैनों ने भी स्वीकार किया है। तथा शरीर उस आत्मा के भोग का घर है और इन्द्रियाँ भी उसके भोग के ही घर हैं और रूप, रस आदि पाँच इन्द्रियार्थ उसके भोग्य हैं। इन शरीर आदि को भी हम जैनों ने जीव और अजीवरूप से स्वीकार किया है। उपयोग को बुद्धि कहते हैं, यह ज्ञान का एक भेद है इसलिए जीव का गुण है, अतः जीव के ग्रहण से ही इसका भी ग्रहण हो जाता है। तथा सभी को विषय करनेवाला अन्तःकरण है, उसे मन कहते हैं, उसे एक काल में सभी इन्द्रियों का ज्ञान न होने से अनुमान किया जाता है (यह नैयायिको ने कहा है) उस मन को भी अजीव ग्रहण से हमने स्वीकार किया है, क्योंकि वह मन, द्रव्य मन है और पौद्गलिक है। भाव मन तो आत्मा का गुण होने से जीव ग्रहण से ग्रहण किया है। आत्मा के सुख-दुःख रूपी ज्ञानों की उत्पत्ति का कारण प्रवृत्ति है, इसे नैयायिकों ने आत्मा से अलग पदार्थ माना है, परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा की इच्छा को प्रवृत्ति कहते हैं, इसलिए वह आत्मा का गुण है अर्थात् आत्मा का अभिप्रायरूप होने के कारण यह एक प्रकार का ज्ञान ही है। जो आत्मा को दूषित करता है, उसे दोष कहते हैं, जैसे आत्मा शरीर को ग्रहण करता हुआ चला आ रहा है तथा यह शरीर अन्तिम भी नहीं है क्योंकि जन्म, मरण की परम्परा अनन्त है तथापि इस शरीर को अपूर्व अथवा सान्त समझना दोष है अथवा रागद्वेष और मोह आदि को दोष कहते हैं। वस्तुतः यह दोष भी जीव का अभिप्राय विशेष है, इसलिए यह जीव में ही अन्तर्भूत हो जाता है अतः इसे अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है। परलोक होने को प्रेत्यभाव कहते हैं, यह भी साधन के सहित जीव तथा अजीव ग्रहण से गृहीत किया गया है। तथा सुख-दुःख के उपभोग को फल कहते हैं यह भी जीव का गुण होने के कारण जीव में ही अन्तर्भूत हो जाता है, इसलिए इसे भी अलग पदार्थ बताना ठीक नहीं है। तथा दुःख भी नाना प्रकार की बाधा और पीड़ा स्वरूप है, इसलिए यह फल से भिन्न नहीं है। तथा

जन्म, मरण की परम्परा का विच्छेद रूप होने के कारण सब दुःखों का नाशरूप मोक्ष है, उसे हम जैनों ने भी कहा है। तथा “यह क्या है ?” इस प्रकार अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं, इसलिए यह भी निर्णयज्ञान के समान ही आत्मा का गुण है। एवं जिस अर्थ के लिए मनुष्य प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहते हैं। यह भी इच्छाविशेष होने के कारण आत्मा का ही गुण है (अतः इसे भी अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है) एवं जिस अर्थ में वादी और प्रतिवादी का कोई मतभेद नहीं है, उसे दृष्टान्त कहते हैं, वह भी जीव और अजीव पदार्थों में से कोई एक पदार्थ है, इसलिए उसे अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसङ्ग होगा और आगे चलकर अवयवों के ग्रहण से उसका ग्रहण भी नैयायिकों ने किया है। सिद्धान्त चार प्रकार के हैं जैसे कि-जो सर्वशास्त्रों से अविरुद्ध अर्थ अपने शास्त्र में कहा है, वह सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहलाता है। जैसे “स्पर्शन आदि इन्द्रिय हैं और स्पर्श आदि इन्द्रियों के अर्थ हैं तथा प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है” यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। जो समान तन्त्र (शास्त्र) में माना जाता है परन्तु दूसरे तन्त्र में नहीं माना जाता वह प्रति तन्त्रसिद्धान्त है, जैसे सांख्यवादी असत् वस्तु की सत्ता और सत् का सर्वथा विनाश नहीं मानते हैं, जैसे कि वे कहते हैं “नासतो विद्यते” अर्थात् असत् वस्तु की सत्ता नहीं है और सत् वस्तु का अभाव नहीं है। (यह दूसरे दर्शन नहीं मानते हैं, इसलिए यह प्रतितन्त्रसिद्धान्त है)। जिसकी सिद्धि होने पर दूसरे पदार्थ की सिद्धि प्रसङ्गवश हो जाती है, उसे अधिकरणसिद्धान्त कहते हैं। जैसे इन्द्रियों से भिन्न ज्ञाता आत्मा है क्योंकि देखने और छूने से एक अर्थ का ग्रहण होता है, यहाँ प्रासङ्गिक अर्थ इतने हैं, जैसे कि-“इन्द्रिय नाना है” और “इन्द्रियाँ नियत विषय को ग्रहण करती हैं” “तथा अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने से इन्द्रियों का अस्तित्व जाना जाता है” “इन्द्रियाँ आत्मा के ज्ञान के साधन हैं” “स्पर्श आदि गुणों से भिन्न उन गुणों का अधिकरण द्रव्य है” तथा चेतन अनियतविषय यानी सर्वविषय है” यहां पहली बात की सिद्धि होने पर ये बातें अपने आप सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि इनके बिना पहली बात सिद्ध नहीं हो सकती है। अतः ये सब अधिकरणसिद्धान्त हैं। परीक्षा किये बिना ही किसी बात को स्वीकार करके उसकी विशेषता की परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धान्त है, जैसे शब्द क्या वस्तु है ? इस विचार के प्रसङ्ग में कोई कहता है कि-शब्द भले ही द्रव्य हो परन्तु वह नित्य है या अनित्य है ? इस विचार को अभ्युपगमसिद्धान्त कहते हैं। वस्तुतः नैयायिकोक्त ये चारों ही सिद्धान्त ज्ञान के भेद से भिन्न नहीं हैं और ज्ञान आत्मा का गुण है इसलिए गुणरूप आत्मा के ग्रहण से ही उसके गुणों का भी ग्रहण हो जाता है इसलिए इनको अलग ग्रहण करना नैयायिकों की भूल है। अब अवयव बताये जाते हैं-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन ये पाँच अवयव हैं। इनमें साध्य अर्थ को बताना प्रतिज्ञा है, जैसे शब्द नित्य है, यह कहना अथवा शब्द अनित्य है, यह कहना प्रतिज्ञा है। प्रतिज्ञा में रखे हुए अर्थ को जो बोध कराता है, उसे हेतु कहते हैं जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह उत्पत्ति धर्मवाला है। यहां उत्पत्ति धर्मवाला कहना हेतु है। साध्य की सदृशता अथवा विशदृशता को लेकर दृष्टान्त देना उदाहरण है, जैसे कि-‘घट’। यह उदाहरण है। वैधर्म्य उदाहरण यह है-जैसे कि-जो अनित्य नहीं होता है, वह उत्पत्तिवाला नहीं होता है, जैसे आकाश। यह वैसा है या वैसा नहीं है, इस प्रकार पक्ष में धर्म को रखना उपनय है। जैसे शब्द अनित्य हैं क्योंकि वह कृतक(किया हुआ) है, जैसे घट, उसी तरह यह भी है। अथवा अनित्य न होने पर कृतक भी नहीं हो सकता है जैसे आकाश अनित्य न होने के कारण कृतक भी नहीं है परन्तु शब्द ऐसा नहीं है, इसको उपनय कहते हैं। प्रतिज्ञा और हेतु को फिर दुहराकर कहना निगमन है, जैसे कि-कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है। ये पाँच अवयव यदि शब्द मात्र हैं तो शब्द पौद्गलिक है और पुद्गलों का अजीव के ग्रहण से ही ग्रहण हो जाता है, इसलिए उन्हें अलग पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि शब्दजनित ज्ञान को पाँच अवयव कहो तो वह जीव का गुण है, इसलिए जीव के ग्रहण से ही उसका भी ग्रहण हो जाता है ! यदि ज्ञान के प्रत्येक भेदों को अलग-अलग पदार्थ माना जाय तब तो पदार्थ बहुत हो जायेंगे क्योंकि ज्ञानों के भेद अनेक प्रकार के होते हैं। संशय होने के पश्चात् किसी पदार्थ के होने की संभावना करना तर्क है, वह तर्क सत् अर्थ का पर्यालोचन स्वरूप है। जैसे कि-यहाँ स्थाणु अथवा पुरुष होना संभव है। परन्तु यह तर्क भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, अतः ज्ञाता से अभिन्न ज्ञान के भेदों को अलग पदार्थ मानना विद्वान् पसन्द नहीं करते हैं। संशय और तर्क के पश्चात् होनेवाला जो निश्चयात्मक ज्ञान है, उसे निर्णय कहते हैं, यह भी पहले के समान ही ज्ञान से भिन्न नहीं है तथा यह निर्णय निश्चयरूप है, इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही अन्तर्भूत हो जाता है, अतः इसे

अलग पदार्थ कहना ठीक नहीं है। तथा कथार्ये तीन प्रकार की होती हैं वाद, जल्प और वितण्डा। इनमें प्रमाण और तर्क के द्वारा जहाँ अपने पक्ष का साधन और प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन किया जाता है तथा सिद्धान्त से अविरुद्ध और पाँच अवयवों से युक्त जो पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार करता है, वह वाद है। यह वाद शिष्य और आचार्य में तत्त्व अर्थ का निर्णय करने के लिए होता है। वही यदि प्रतिवादी को पराजित करने की इच्छा से छल जाति और निग्रहस्थान के द्वारा अपने पक्ष का साधन और परपक्ष का खण्डन के सहित हो तो जल्प कहलाता है। वही प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन होने पर वितण्डा कहलाता है। (अब जैनाचार्य कहते हैं कि-) इन तीन कथाओं का भेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि तत्त्व के विचार के प्रसङ्ग में तत्त्व का निर्णय करने के लिये वाद करना चाहिए परन्तु छल और जल्प आदि से तत्त्व का निर्णय नहीं होता है, वे तो दूसरे को ठगने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं, उनसे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता है। यदि इनमें भेद हो तो भी ये पदार्थ नहीं हैं क्योंकि- जो वस्तुतः पदार्थरूप से वस्तु है, उसी को वस्तु मानना चाहिए, वाद तो पुरुष के इच्छाधीन होने के कारण नियत नहीं है, इसलिए वह पदार्थ नहीं है। तथा वाद पुरुष की इच्छानुसार होता है, वह मूर्गा और लावक पक्षी आदि में भी पक्ष और प्रतिपक्ष को लेकर होता है इसलिए वह भी पदार्थरूप से माना जाना चाहिए परन्तु यह तुम को इष्ट नहीं है।

असिद्ध, अनैकान्तिक और विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास हैं (यह नैयायिक कहते हैं) जो हेतु के समान प्रतीत होते हैं, वे हेत्वाभास कहलाते हैं। (यहाँ जैनाचार्य कहते हैं कि-) जो सम्यग् हेतु है, वह भी तत्त्व नहीं है फिर हेत्वाभास कैसे तत्त्व हो सकते हैं? जो वस्तु नियत है, वही तत्त्वरूप हो सकती है, परन्तु हेतु किसी साध्य वस्तु के प्रति हेतु होता है और किसी के प्रति अहेतु हो जाता है, इसलिए वह नियत नहीं है।

अब छल बतलाते हैं- अर्थ का भेद हो सकने से वादी के वचन की हत्या करना यानी उसका अर्थ बदल देना छल है। जहाँ वक्ता ने किसी दूसरे अभिप्राय से शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ उसके अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है। जैसे वादी ने कहा कि-“नवकम्बलो देवदत्तः” अर्थात् नया कम्बलवाला देवदत्त है। यहाँ वादी के अभिप्राय के अनुसार “नवः कम्बलोऽस्य” यह विग्रह है क्योंकि विग्रह में ही यहाँ भेद है, समास में नहीं है। यहाँ छलवादी कल्पना करता है कि-देवदत्त के पास नौ कम्बल हैं, यह आपने कहा है परन्तु देवदत्त के पास नौ कम्बल नहीं हैं, इसलिए आपका कथन अयुक्त है।

इस विषय में जैनाचार्य कहते हैं कि- जो बात नहीं है, उसे कहना छल है, अतः यदि वह छल है, तो तत्त्व नहीं हो सकता और यदि तत्त्व है तो वह छल नहीं हो सकता, क्योंकि वह सत्य है इसलिए छल तत्त्व है, यह कथन परस्पर विरुद्ध है।

जो दोष का आभास है उसे ‘जाति’ कहते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि-जो सच्चा दूषण है, वह भी तत्त्व नहीं है क्योंकि वह नियत नहीं है। कारण यह है कि जो एक स्थान में सम्यग् दूषण है, वही दूसरे स्थान में दूषणाभास है। दूषण और दूषणाभास की व्यवस्था पुरुष की शक्ति के आधीन है, इसलिए वह नियत नहीं होने के कारण तत्त्व नहीं है फिर दूषणाभास रूप जाति कैसे तत्त्व हो सकता है? क्योंकि वह वस्तुतः है ही नहीं। वाद के समय वादी या प्रतिवादी जिसके द्वारा पकड़ लिये जाते हैं, उसे निग्रहस्थान कहते हैं। जैसे वादी यदि अपने साध्य अर्थ को सिद्ध न करनेवाले अर्थ को बतावे और प्रतिवादी उसके दोष को पकड़ले तो वादी पकड़ लिया जाता है इसलिए यही एक निग्रहस्थान है, इसके सिवाय जो नैयायिकों ने दूसरी बातें कहीं हैं, वे सब प्रलाप मात्र हैं, जैसे कि प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर और प्रतिज्ञाविरोध इत्यादि। परन्तु विचार करने पर यह निग्रहस्थान नहीं हो सकता है यदि हो तो भी यह पुरुष का ही अपराध है परन्तु तत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि परार्थानुमान में वक्ता के गुण और दोषों का निरूपण होता है, तत्त्व का निरूपण नहीं होता है, इसलिए नैयायिकों का कहा हुआ तत्त्व, तत्त्वरूप से स्वीकार करने योग्य नहीं है।

इसी तरह वैशेषिकों का कहा हुआ तत्त्व भी तत्त्वरूप से स्वीकार करने योग्य नहीं है। जैसे कि - वे कहते हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय तत्त्व हैं। इनमें पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और आत्मा ये नौ द्रव्य हैं। इनमें पृथिवी, जल, तेज और वायु को अलग-अलग पदार्थ मानना

वैशेषिकों का ठीक नहीं है क्योंकि - वे ही परमाणु प्रयोग (बनावट) और विस्त्रसा (कुदरती संयोग) से पृथिवी आदि रूपों में परिणत होते हैं, इसलिए वे अपने द्रव्यत्व को नहीं छोड़ते हैं। अवस्थाभेद होने से द्रव्य का भेद मानने से अतिप्रसङ्ग होगा। आकाश और काल को तो हम जैनों ने भी द्रव्य माना है। दिशा आकाश का अवयव है, इसलिए वह भी अलग द्रव्य नहीं कही जा सकती, क्योंकि ऐसा कहने से अतिप्रसङ्ग होगा। आत्मा, जो कि शरीरमात्रव्यापी और उपयोग स्वभाव है, उसको तो हम जैनों ने भी द्रव्य माना है। तथा मन पुद्गल विशेष है, इसलिए पुद्गल द्रव्य में उसका अन्तर्भाव समझना चाहिए। भाव मन जीव का गुण है, इसलिए उसका आत्मा में अन्तर्भाव है। तथा वैशेषिकमतवाले जो यह कहते हैं कि पृथिवीत्व रूप धर्म के योग से पृथिवी है इत्यादि, वह भी अपने शास्त्र की व्याख्यामात्र है क्योंकि पृथिवी से भिन्न पृथिवीत्व नाम का कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जिसके योग से पृथिवी द्रव्य बनेगी। किन्तु जगत् में जो कुछ पदार्थ देखा जाता है, वह सभी सामान्य और विशेष उभयस्वरूप है। जैसे नरसिंह का आकार उभयस्वरूप है, इसी तरह संसार के समस्त पदार्थ सामान्य और विशेष उभयस्वरूप हैं। अत एव जैनाचार्यों ने कहा है कि - 'नान्वयः'। अर्थात् घट का मिट्टी के साथ एकान्त अभेद नहीं है क्योंकि इनमें भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। तथा एकान्त भेद भी नहीं है क्योंकि घट में मिट्टी वर्तमान है, अतः मिट्टी के साथ कथंचित् भेद और कथञ्चित् अभेद रखनेवाला घट एक दूसरी जाति का पदार्थ है। तथा नर नहीं है क्योंकि उसमें सिंह का रूप भी मौजूद है और वह सिंह भी नहीं है क्योंकि उसमें नर का भी रूप है, अतः शब्द, विज्ञान और कार्यों के भेद होने से नरसिंह एक भिन्न जातिवाला पदार्थ है। वैशेषिकों का मत है कि - 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, रूपी द्रव्य में रहते हैं, इसलिए ये रूपी द्रव्य के विशेष गुण हैं तथा संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग और परत्व तथा अपरत्व ये सामान्य गुण हैं क्योंकि ये सभी द्रव्यों में रहते हैं तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आत्मा के गुण हैं। तथा पृथिवी और जल में गुरुत्व है और पृथिवी, जल, तथा तेज में द्रवत्व है एवं स्नेह जल में ही है तथा वेगाख्य संस्कार मूर्त द्रव्य में ही रहता है एवं शब्द आकाश का गुण है' यहाँ जैनाचार्य कहते हैं कि - संख्या आदि जो सामान्य गुण हैं, वे रूप आदि की तरह द्रव्य के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु वे दूसरे की उपाधि से होते हैं इसलिए वे गुण नहीं हैं। यदि वे गुण हो तो भी गुणों को द्रव्यों से अलग मानना ठीक नहीं है क्योंकि गुणों को द्रव्यों से पृथक् मानने पर द्रव्य के स्वरूप की ही हानि होगी क्योंकि जो गुण और पर्यायों से युक्त है, उसे ही द्रव्य कहते हैं। अतः गुणों के बिना द्रव्य न होने के कारण द्रव्य के ग्रहण से ही गुणों का भी ग्रहण करना चाहिए, परन्तु उन्हें पृथक् पदार्थरूप से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

जो पदार्थ का भाव (धर्म) है उसे, 'तत्त्व' कहते हैं क्योंकि जिस गुण के होने से द्रव्य में शब्द का प्रयोग होता है, उसी गुण को बताने के लिए शब्द से भाव प्रत्यय होता है। जैसे कि - घट रक्त है, जल को लानेवाला है, और अपने में जल को स्थापन करनेवाला है, ऐसे पदार्थ को सभी लोग घट कहते हैं। यहाँ घट के भाव को घटत्व, रक्त के भाव को रक्तत्व, आहरण करनेवाले के भाव को आहारकत्व और जलवाले के भाव को जलवत्व कहते हैं। यहाँ घटत्व पद से घटसामान्य और रक्तत्व पद से रक्तगुण तथा आहारकत्व पद से क्रिया एवं जलवत्व पद से जल का सम्बन्ध बताया जाता है और इन्हीं गुणों के होने से, मोटे वर्तुल और जल लाने में समर्थ कुटक नामक द्रव्य में घट शब्द का प्रयोग होता है, इसलिए इन्हीं गुणों को बताने के लिए घट शब्द से त्व और तल् प्रत्यय होते हैं। परन्तु उस घट पदार्थ से रक्त नामक पदार्थ कोई जूदा नहीं है। यदि जूदा है तो वह कौन है जिसके होने से घट शब्द से भाव प्रत्यय होता है तथा वह द्रव्य भी उस गुण से अतिरिक्त कौन है? जिसमें घट शब्द का प्रयोग होता है? उत्तर यही हो सकता है कि इन दोनों में एकान्त भेद नहीं है (अतः द्रव्य से गुणों को पृथक् ग्रहण करना अयुक्त है) यहाँ शङ्का होती है कि यदि रक्तगुण द्रव्य से भिन्न नहीं है तो क्या 'रक्तस्य भावो रक्तत्वम्' यह प्रयोग न होना चाहिए? समाधान यह है कि अवश्य होना चाहिए परन्तु उपचार (आरोप) से होना चाहिए, जैसे कि रक्त को ही द्रव्य मानकर उसके भाव अर्थ में त्व प्रत्यय करके रक्तत्व पद बनना चाहिए परन्तु उपचार (आरोप) तत्त्व के विचार में उपयोगी नहीं है किन्तु शब्द का साधन मात्र ही उसका फल है। तथा शब्द भी आकाश का गुण हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह पौद्गलिक है और आकाश अमूर्त है। वैशेषिकों के कहे हुए शेष पदार्थ तो उनके शास्त्र की व्याख्या मात्र हैं, इसलिए वे किसी अर्थ के साधक या दूषक नहीं हैं।

तथा द्रव्य में रहनेवाली क्रिया भी गुण के समान ही अलग न ही माननी चाहिए । अब सामान्य बताया जाता है- वैशेषिक कहते हैं कि - सामान्य दो प्रकार का है एक परसामान्य और दूसरा अपरसामान्य । इनमें द्रव्यगुण और कर्म में व्याप्त रहनेवाली महासत्ता को वे परसामान्य कहते हैं, जैसे कि - उनका वचन है - “सदिति यतो द्रव्यगुण-कर्मसु सा सत्ता” अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म में सत् यह प्रतीति होती है, इसलिए इनमें रहनेवाली सत्ता जाती है । तथा द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व रूप जाति अपर जाति है । यहां जैनाचार्य कहते हैं कि - महासत्ता को अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है क्योंकि - उस सत्ता में जो सत् होने की प्रतीति होती है, वह किसी दूसरी वस्तु के होने से होती है अथवा स्वतः होती है ? । यदि कहो कि दूसरी वस्तु के होने से उसमें सत् की प्रतीति होती है तो फिर उस दूसरी वस्तु में भी किसी तीसरी वस्तु के होने से सत् की प्रतीति होनी चाहिए तथा उस तीसरी वस्तु में चौथी वस्तु के होने से सत् की प्रतीति होनी चाहिए इस प्रकार अनवस्था दोष आता है । यदि कहो कि महासत्ता में स्वतः सत् होने की प्रतीति होती है, दूसरी वस्तु के होने से नहीं तो फिर इसी तरह द्रव्यादि में भी स्वयमेव सत्ता की प्रतीति होगी फिर बकरी के गले के स्तन के समान व्यर्थ एक दूसरी सत्ता की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? । तथा द्रव्यादि पदार्थों को सत् मानकर उनमें सत्ता के योग से तुम सत् की प्रतीति मानते हो अथवा असत् मानकर ? । यदि सत् मानकर कहो तब तो स्वयमेव सत् की प्रतीति होगी फिर सत्ता की क्या आवश्यकता है ? । और यदि द्रव्यादि को असत् मानकर उनमें सत्ता के योग से सत् की प्रतीति कहो तब तो शशविषाण आदि में भी सत्ता के योग से सत् की प्रतीति होनी चाहिए । अतः एव विद्वानों ने कहा है कि - “स्वतोऽर्थाः सन्तु” अर्थात् पदार्थ स्वयमेव सत् हैं, इसलिए सत्स्वरूप पदार्थों को सत्ता की क्या आवश्यकता है । जो पदार्थ असत् हैं, उनमें सत्ता मानी नहीं जाती क्योंकि शशविषाण आदि में अतिप्रसङ्ग होता है । महासत्ता के पक्ष में जो दूषण दिये गये हैं, वे ही दूषण अपरसामान्य (द्रव्यत्व आदि) में भी देना चाहिए क्योंकि इन दोनों की रीति एक ही है । दूसरी बात यह है कि - वस्तु सामान्य और विशेष उभय स्वरूप हैं, इसलिए हम भी कथञ्चित् सामान्य को स्वीकार करते हैं । परन्तु वह सामान्य कथञ्चित् द्रव्य से अभिन्न है, इसलिए द्रव्य के ग्रहण से उसका भी ग्रहण हो जाता है, अतः उसे अलग पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है । अब विशेष बताये जाते हैं - वैशेषिक विशेष नाम का एक पदार्थ मानते हैं, वे कहते हैं कि - द्रव्यादि में विशेष नाम के पदार्थ के कारण ही इतर पदार्थों से उसकी व्यावृत्ति होती है । इस विषय में यह विचार किया जाता है कि उन विशेषों में जो विशेष बुद्धि होती है, वह किसके कारण से होती है ? उनमें भी दूसरा विशेष रहता है, यह तुम नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा कहने से अनवस्था होगी इसलिए जैसे दूसरे विशेषों के बिना भी विशेषों में विशेष बुद्धि होती है, इसी तरह द्रव्यादि में भी होगी फिर द्रव्यादि से अतिरिक्त विशेष नामक पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ? । द्रव्य से अभिन्न विशेष को तो हम भी मानते हैं क्योंकि सभी पदार्थ सामान्य और विशेष उभय स्वरूप हैं । वैशेषिक जो यह कहते हैं कि - “नित्य द्रव्य में रहनेवाला और सब के अन्त में रहनेवाला विशेष नामक पदार्थ है । नित्य द्रव्य चार प्रकार के परमाणु, मुक्तात्मा, और मुक्त मन हैं इनमें विशेष पदार्थ रहता है इत्यादि” परन्तु यह बात युक्ति रहित होने के कारण सुनने योग्य नहीं है । वैशेषिक समवाय नामक एक पदार्थ मानते हैं । वे कहते हैं कि परस्पर एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहनेवाले और आधार एवं आधेय स्वरूप जो पदार्थ हैं, उनमें जो “यह यहां है” इस प्रतीति का कारण है, वह समवाय है । उस समवाय को वैशेषिक नित्य और एक मानते हैं । परन्तु समवाय नित्य होने से जितने समवायी हैं, सभी नित्य हो जायेंगे यदि समवायियों को अनित्य कहो तो समवाय भी अनित्य हो जायगा क्योंकि समवाय का आधार समवायी ही है । तथा समवाय एक है इसलिए सभी समवायी भी एक हो जायेंगे । परन्तु यदि समवायियोंको अनेक कहो तो फिर समवाय भी अनेक होगा । तथा वैशेषिकों ने इस समवाय को सम्बन्ध माना है और सम्बन्ध दो में रहता है इसलिए दण्ड और दण्डी के समान भिन्न भिन्न होने से उसके आश्रयभूत पदार्थ युतसिद्ध ठहरते हैं अयुतसिद्ध नहीं । वीरणों का कट की उत्पत्ति होने पर, वीरणरूप से नाश और कटरूप से उत्पत्ति होती है । जैसे दही में दूध अन्वय रूप से स्थित रहता है इसी तरह कट में वीरण अन्वय रूप से स्थित रहता है इसलिए वैशेषिक मत में भी पदार्थों की व्यवस्था ठीक नहीं की गयी है ।

अब सांख्यवादियों के तत्त्व का निरूपण आरम्भ करते हैं- सांख्यवादी कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष के

संयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है। सत्त्व, रज, और तम की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं, उस प्रकृति से महत् उत्पन्न होता है और महत् से अहङ्कार उत्पन्न होता है, अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं, उन पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। पुरुष का स्वरूप चैतन्य है, वह अकर्ता, निर्गुण और भोक्ता है इत्यादि। अब यहाँ जैनाचार्य कहते हैं कि-परस्पर विरुद्ध सत्त्व आदि गुण जो प्रकृति के आत्मा माने गये हैं उनका नियामक किसी गुणी के न होने से उनका एकत्र होना नहीं बन सकता है, जैसे काला और सफेद आदि गुण किसी नियामक गुणी के बिना एकत्र नहीं होते हैं, इसी तरह सत्त्वादि गुण भी एकत्र नहीं हो सकते हैं। तथा महत् आदि विकारों को उत्पन्न करने के लिए जो प्रकृति में विषमता होती है, उसको उत्पन्न करनेवाला कोई दूसरा पदार्थ साङ्ख्यों ने नहीं माना है, इसलिए प्रकृति में विषमता भी नहीं उत्पन्न हो सकती। तथा आत्मा तो सांख्यमत में क्रिया रहित है, इसलिए उससे तो कुछ हो ही नहीं सकता। यदि स्वभावतः प्रकृति में विषमता होना कहो तब तो वह निहैतुक हो जायगा, ऐसी दशा में पदार्थ या तो नित्य हो जायेंगे अथवा वे असत् हो जायेंगे। अत एव कहा है कि यदि दूसरी वस्तु के बिना ही प्रकृति में विषमता की उत्पत्ति कहो तब तो सभी पदार्थ नित्य हो जायेंगे अथवा वे असत् हो जायेंगे क्योंकि हेतु की अपेक्षा करने से ही पदार्थ कभी होते हैं और कभी नहीं होते। तथा महत् और अहङ्कार बुद्धि से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि जो ज्ञान है, वही बुद्धि, अध्यवसाय, और अहङ्कार है। वे बुद्धि और अहङ्कार चिद्रूप हैं, इसलिए वे आत्मा के गुण हैं परन्तु वे जड़रूप प्रकृति के विकार नहीं हैं। तथा तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है-जैसे कि-“गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न होती है, रसतन्मात्रा से जल एवं रूपतन्मात्रा से तेज और स्पर्शतन्मात्रा से वायु तथा शब्दतन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है” यह सांख्यवादियों का मन्तव्य युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि पाँच तन्मात्राओं से यदि बाह्य पाँच भूतों की उत्पत्ति बताते हो तो ठीक नहीं है क्योंकि बाह्यभूत सदा वर्तमान हैं, कभी भी यह जगत् दूसरी तरह का नहीं था। यदि प्रतिशरीर के भूतों की उत्पत्ति पाँच तन्मात्राओं से कहो, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शरीर में जो चर्म और हड्डियाँ हैं, वे कठिन स्वरूप पृथिवी हैं और श्लेष्मा, तथा रक्त द्रवरूप जल हैं तथा अन्न को पकानेवाली अग्नि, तेज है तथा प्राण और अपान वायु हैं और शरीर में जो छिद्र है वह आकाश है। ऐसे शरीर की तन्मात्राओं से उत्पत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि कई शरीरों की उत्पत्ति तो शुक्र और शोणित से होती है, इसलिए उनमें तन्मात्राओं की गन्ध भी नहीं है। जो वस्तु देखी नहीं जाती है, उसको भी कारण (रूप में) स्वीकार करने से अतिप्रसङ्ग दोष होगा। तथा अण्डज, उद्भिज्य और अङ्कुर आदि की भी दूसरे से ही उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए सांख्यवादी जो अपनी प्रक्रिया के अनुसार प्रधान से महत् और महत् से अहङ्कार इत्यादि क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति कहते हैं, वह निर्युक्तिक केवल अपने दर्शन के अनुराग से कहते हैं। तथा आत्मा को अकर्ता मानने पर कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आते हैं और बन्ध तथा मोक्ष का भी अभाव होता है तथा आत्मा को निर्गुण मानने पर वह ज्ञानरहित सिद्ध होता है इसलिए सांख्यवादियों का कथन केवल बालक के प्रलाप के समान निरर्थक है। तथा प्रकृति अचेतन है, वह आत्मा के लिए प्रवृत्ति करती है, यह कथन भी युक्ति रहित है।

अब बौद्ध मत बताते हैं- बौद्धमत में पदार्थ बारह आयतन हैं जैसे कि-चक्षु आदि पाँच इन्द्रिय और रूप आदि पाँच विषय और शब्दायतन तथा धर्मायतन। यहाँ सुख आदि को धर्म कहते हैं। इन बारह आयतनों को निश्चय करनेवाले प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं। अब जैनाचार्य कहते हैं कि इनमें चक्षुरादि इन्द्रियों को हमने अजीव के ग्रहण से ग्रहण किया है और भावेन्द्रियों को जीव के ग्रहण से ग्रहण किया है। तथा रूपादि विषय भी अजीव के ग्रहण से ही गृहीत हैं, इसलिए उन्हें भी अलग ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। तथा शब्दायतन भी शब्द पौद्गलिक होने से अजीव के ग्रहण से ही गृहीत है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अलग अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है। धर्मस्वरूप सुख और दुःख यदि साता और असाता के उदयरूप हैं, तब तो वे जीव के गुण होने से जीव में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं यदि वह सुख दुःख के कारण रूप कर्म है तब तो पौद्गलिक होने से वह अजीव है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक कहते हैं, इसलिए अनिश्चयरूप होने के कारण वह प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारण नहीं है, इसलिए वह प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रत्यक्ष के अप्रमाण होने से प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता। शेष बातें दूसरी जगह खूब विचारी गयी हैं, इसलिए यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह मीमांसक और लोकायतिक के कहे हुए तत्त्वों का अपनी बुद्धि से

निराकरण करना चाहिए। मीमांसक और लोकायतमतवाले अत्यन्त लोक विरुद्ध पदार्थ मानते हैं, इसलिए उनका साक्षात् उल्लेख यहां नहीं किया गया है। इस प्रकार सबसे बचे हुए अर्हदुक्त नव या सात पदार्थ ही सत्य हैं, इसलिए उनको जानना ही क्रियावादी होने का कारण है, परन्तु दूसरे दर्शनों के पदार्थों को जानना नहीं ॥२१॥



- साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुः सम्यग्वादपरिज्ञानफलमादर्शयन्नाह-

- अब शास्त्रकार इस अध्ययन को समाप्त करने की इच्छा करते हुए सम्यग्वाद को जानने का फल दिखाने के लिए कहते हैं-

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।

णो जीवितं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥ ॥२२॥ त्ति बेमि ॥

इति श्री समवसरणाध्ययनं द्वादशमं समत्तं (गाथाग्र० ५६८)

छाया - शब्देषु रूपेष्वेसज्जमाणो गन्धेषु रसेषु चादिषन् ।

णो जीवितं णो मरणावकाङ्क्षी, आदानगुप्तो वलयाद् विमुक्त । इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ - (सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो) शब्द और रूप में आसक्त न होता हुआ (गंधेषु रसेसु अदुस्समाणे) तथा गन्ध और रस में द्वेष न करता हुआ (णो जीवितं णो मरणाहिकंखी) तथा जीने और मरने की इच्छा न करता हुआ साधु (आयाणगुत्ते) संयम से गुप्त (वलया विमुक्के) और माया से रहित होकर रहे (त्तिबेमि) यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - साधु मनोहर शब्द और रूप में आसक्त न हो, तथा अमनोज्ञ गन्ध और रस में द्वेष न करे एवं वह जीने या मरने की इच्छा न करे किन्तु संयम से युक्त तथा मायारहित होकर विचरे, यह मैं कहता हूँ ।

टीका - 'शब्देषु' वेणुवीणादीषु श्रुतिसुखदेषु 'रूपेषु च' नयनानन्दकारिषु 'आसज्जमकुर्वन्' गार्ध्यमकुर्वाणः, अनेन रागो गृहीतः, तथा 'गन्धेषु' कुथितकलेवरादिषु 'रसेषु च' अन्तप्रान्ताशनादिषु अदुष्यमाणोऽमनोज्ञेषु द्वेषमकुर्वन्, इदमुक्तं भवति-शब्दादिष्विन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो 'जीवितम्' असंयमजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि परीषहोपसर्गैरभिद्रुतो मरणमभिकाङ्क्षेत्, यदिवा जीवितमरणयोरनभिलाषी संयममनुपालयेदिति । तथा मोक्षार्थिनाऽऽदीयते गृह्यत इत्यादानं-संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तो, यदिवा-मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयते इत्यादानम्-अष्टप्रकारं कर्म तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च, तथा भाववलयं-माया तया विमुक्तो मायामुक्तः । इतिः परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमीति पूर्ववत् । नयाः पूर्ववदेवा॥२२॥

॥ समाप्तं समवसरणाख्यं द्वादशमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ - कानों को आनन्द देनेवाले वेणु और वीणा आदि के शब्दों में तथा नेत्र को आनन्द देनेवाले रूपों में साधु आसक्त न हो, अर्थात् उसमें गृद्धि न करे । यह कहकर राग के त्याग का उपदेश किया है । तथा सड़े हुए शरीर आदि के अमनोज्ञ गन्धों में और अन्त-प्रान्त आहार आदि के अमनोज्ञ रसों में साधु द्वेष न करे । आशय यह है कि-अच्छे और बुरे जो इन्द्रियों के विषय शब्दादि हैं, उनमें साधु रागद्वेष न करता हुआ असंयमी जीवन की इच्छा न करे । तथा परीषह और उपसर्गों से पीड़ित होकर मरण की इच्छा न करे । अथवा साधु जीवन और मरण की इच्छा रहित होकर संयम का पालन करे । मोक्षार्थी पुरुष जिसको ग्रहण करते हैं उसे आदान कहते हैं, वह संयम है, उसके द्वारा साधु गुप्त होकर रहे । अथवा मिथ्यात्व आदि के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, उसे आदान कहते हैं, वह आठ प्रकार का कर्म है, उसके ग्रहण के विषय में साधु मन, वचन और काय से गुप्त और समिति से युक्त होकर रहे । तथा भाववलय माया को कहते हैं, उससे मुक्त होकर साधु रहे । इति शब्द समाप्त्यर्थक है । ब्रवीमि, पूर्ववत् है और नय भी पूर्ववत् है ।

यह समवसरण नामक बारहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।

॥ अथ त्रयोदशं श्रीयाथातथ्याध्ययनं प्रारभ्यते ॥

समाप्तं समवसरणाख्यं द्वादशमध्ययनं, तदनन्तरं त्रयोदशमारभ्यते, अस्य चायसभिसंबन्धः—इहानन्तराध्ययने परवादिमतानि निरूपितानि तन्निराकरणं चाकारि; तच्च याथातथ्येन भवति, तदिह प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्या-स्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्राप्युपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—शिष्यगुणदीपना, अन्यच्च—अनन्तराध्ययनेषु धर्मसमाधिमार्गसमवसरणाख्येषु यदवितथं याथातथ्येन व्यवस्थितं यच्च विपरीतं वितथं तदपि लेशतोऽत्र प्रतिपादयिष्यत इति । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे याथातथ्यमिति नाम, तदधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह -

समवसरण नामक बारहवाँ अध्ययन समाप्त हो चुका अब तेरहवाँ आरम्भ किया जाता है । इसका पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है— बारहवें अध्ययन में परवादियों के मत कहे गये हैं और उसका खण्डन भी किया गया है, परन्तु वह खण्डन सत्यवचन के द्वारा होता है, यह इस अध्ययन में बताया जाता है । इस सम्बन्ध से आये हुए अध्ययन के चार अनुयोग द्वार हैं । उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार यह है - इसमें शिष्यों का गुण बताया गया है तथा धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण नामक पहले के अध्ययनों में जो वस्तु सत्य और यथार्थ तत्त्व हैं तथा जैनेतरों के जो असत्य और विपरीत तत्त्व हैं वे दोनों ही संक्षेप से यहाँ बताये जायेंगे । नामनिष्पन्न निक्षेप में इस अध्ययन का नाम याथातथ्य है । इसके विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं -

णामतहं ठवणतहं दव्यतहं चैव होइ भावतहं । दव्यतहं पुण जो जस्स सभावो होती दव्यस्स ॥१२२॥ नि०।
भावतहं पुण नियमा णायव्वं छव्विहंमि भायंमि । अहवाडवि नाणदंसणचरित्तिणण अज्झप्पे ॥१२३॥ नि०।
जह सुत्तं तह अत्थो चरणं चारो तहत्ति णायव्वं । संतमि [य] पसंसाए असती पगयं दुगुंछाए ॥१२४॥ नि०।
आयरियपरंपरण आगयं जो उ छेयबुद्धीए । कोवेइ छेयवाई जमालिनासं स णासिहिति ॥१२५॥ नि०।
ण करोति दुक्खमोक्खं उज्जममाणोडवि संजमतवेसुं । तम्हा अतुक्करिसो वज्जेअव्वो जतिजणेणं ॥१२६॥ नि०।

अस्याध्ययनस्य याथातथ्यमिति नाम, तच्च यथातथाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तस्य भवति, तत्र यथाशब्दोल्लङ्घनेन तथाशब्दस्य निक्षेपं कर्तुंनिर्युक्तिकारस्यायमभिप्रायः— इह यथाशब्दोऽयमनुवादे वर्तते, तथाशब्दश्च विधेयार्थे, तद्यथा—यथैवेदं व्यवस्थितं तथैवेदं भवता विधेयमिति, अनुवादविधेययोश्च विधेयांश एव प्रधानभावमनुभवतीति, यदिवा—याथातथ्यमिति तथ्यमतस्तदेव निरूप्यत इति । तत्र तथाभावस्तथ्यं यथावस्थितवस्तुता, तत्रामादि चतुर्धा, तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यतथ्यं गाथापश्चार्धेन प्रतिपादयति, तत्र द्रव्यतथ्यं पुनर्यो 'यस्य' सचित्तादेः स्वभावो द्रव्यप्राधान्याद्यद्यस्य स्वरूपं, तद्यथा—उपयोगलक्षणो जीवः, कठिनलक्षणा पृथिवी, द्रवलक्षणा आप इत्यादि, मनुष्यादेर्वा यो यस्य मार्दवादिः स्वभावोऽचित्तद्रव्याणां च गोशीर्षचन्दनकम्बलरत्नादीनां द्रव्याणां स्वभावः, तद्यथा—

१उण्हे करेइ सीयं सीए उण्हत्तणं पुण करेइ । कंबलरयणादीणं एस सहावो मुणैयव्वो ॥११॥

भावतथ्यमधिकृत्याह—भावतथ्यं पुनः 'नियमतः' अवश्यंभावतया षड्विधे औदयिकादिके भावे ज्ञातव्यं, तत्र कर्मणामुदयेन निर्वृत्त औदयिकः—कर्मोदयापादितो गत्याद्यनुभावलक्षणः, तथा कर्मोपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः—कर्मनुदयलक्षण इत्यर्थः, तथा क्षयाज्जातः क्षायिकः—^२अप्रतिपाति—ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः, तथा क्षयादुपशमाच्च जातः क्षायोपशमिको—देशोदयोपशमलक्षणः, परिणामेन निर्वृत्तः पारिणामिको—जीवाजीवभव्यत्वादिलक्षणः, पञ्चानामपि भावानां द्विकादिसंयोगान्निष्पन्नः सान्निपातिक इति । यदिवा— 'अध्यात्मनि' आन्तरं चतुर्धा भावतथ्यं द्रष्टव्यं, तद्यथा—ज्ञानदर्शनचारित्रविनयतथ्यमिति, तत्र ज्ञानतथ्यं मत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथो विषयोपलम्भः, दर्शनतथ्यं शङ्काद्यतिचाररहितं जीवादितत्त्वश्रद्धानं, चारित्रतथ्यं तु तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठानं, विनयतथ्यं^३द्वित्वारिंशद्देवभिन्ने विनये ज्ञानदर्शनचारित्रतपऔपचारिकरूपे यथायोगमनुष्ठानं, ज्ञानादीनां तु वितथाऽऽसेवनेनातथ्यमिति।

१. उण्हे कुर्वन्ति शीतं शीते उष्णत्वं पुनः कुर्वन्ति । कम्बलरत्नादीनां एष स्वभावो ज्ञातव्यः ॥ २. ज्ञानाद्यनुगतत्वात् वीर्यदिः पृथगुपादानम् ।

३. ज्ञानेऽष्टौ दर्शने चारित्रे च तपसि विनयस्य विधेयत्वादेकादश औपचारिके सप्तभेदरूपे यद्वा क्रमेण पञ्चैकसप्तदशद्वादशसप्तभेदरूपे ।

अत्र च भावतथ्येनाधिकारः यदिवा भावतथ्यं प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद्विधा, तदिह प्रशस्तेनाधिकारं दर्शयितुमाह- 'यथा' येन प्रकारेण यथा पद्धत्या सूत्रं व्यवस्थितं 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'अर्थो' व्याख्येयोऽनुष्ठेयश्च एतद्दर्शयति- 'चरणम्' आचरणमनुष्ठातव्यं, यदिवा सिद्धान्तसूत्रस्य चारित्रमेवाचरणम् अतो यथा सूत्रं तथा चारित्रमेतदेव चानुष्ठेयमेतच्च याथातथ्यमिति ज्ञातव्यं । पूर्वार्धस्यैव भावार्थं गाथापश्चार्धेन दर्शयितुमाह- यद्वस्तुजातं 'प्रकृतं' प्रस्तुतं यमर्थमधिकृत्य सूत्रमकारि तस्मिन्नर्थे 'सति' विद्यमाने यथावद्व्याख्यायमाने संसारोत्तारणकारणत्वेन प्रशस्यमाने वा याथातथ्यमिति भवति, विवक्षिते त्वर्थे 'असति' अविद्यमाने संसारकारणत्वेन वा जुगुप्सायां सत्यां सम्यगननुष्ठीयमाने वा याथातथ्यं न भवति, इदमुक्तं भवति-यदि (यथा) सूचं येन प्रकारेण व्यवस्थितं तथैवार्थो यदि भवति व्याख्यायतेऽनुष्ठीयते च संसारनिस्तरणसमर्थश्च भवति ततो याथातथ्यमिति भवति, असति त्वर्थेऽक्रियमाणे च संसारकारणत्वेन जुगुप्सिते वा न भवति याथातथ्यमिति गाथातात्पर्यार्थः । एतदेव दृष्टान्तगर्भं दर्शयितुमाह-आचार्याः-सुधर्मस्वामि-जम्बूनामप्रभवार्थरक्षिताद्यास्तेषां प्रणालिका-पारम्पर्यं तेनागतं यद्व्याख्यानं-सूत्राभिप्रायः, तद्यथा-व्यवहारनयाभिप्रायेण क्रियमाणमपि कृतं भवति, यस्तु कुतर्कदर्पाध्मातमानसो मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया 'छेकबुद्ध्या' निपुणबुद्ध्या कुशाग्रीय-शेमुषीकोऽहमितिकृत्वा 'कोपयति' दूषयति-अन्यथा तमर्थं सर्वज्ञप्रणीतमपि व्याचष्टे-कृतं कृतमित्येवं ब्रूयात्, वक्ति च- न हि मृत्पिण्डक्रियाकाल एव घटो निष्पद्यते, कर्मगुणव्यपदेशानामनुपलब्धेः, स एवं 'छेकवादी' निपुणोऽहमित्येवंवादी पण्डिताभिमानी 'जमालिनाशं' जमालिनिहनववत् सर्वज्ञमतविकोपको 'विनङ्क्षयति' अरहदृष्टीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवाले बम्भ्रमिष्यतीति, न चासौ जानाति वराको यथा अयं लोको घटार्थाः क्रिया मृत्खननाद्या घट एवोपचरति, (तत्त्वतः) तासां च क्रियाणां क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेककालत्वात्, क्रियमाणमेव कृतं भवति, दृश्यते चायं व्यवहारो लोके, तद्यथा-अद्यैव देवदत्ते निर्गते कान्यकुब्जं देवदत्तो गत इति व्यपदेशः, (लोकोक्त्या) तथा दारुणि छिद्यमाने प्रस्थकोऽयं (इति) व्यपदेश इत्यादि । साम्प्रतमन्यथावादिनोऽपायदर्शनद्वारेणोपदेशं दातुकाम आह-यो हि दुर्गहीतविद्यालवदर्पाध्मातः सर्वज्ञवचनैकदेशमप्यन्यथा व्याचष्टे स एवंभूतः सन् संयमतपस्सूद्यमं कुर्वाणोऽपि शारीरमानसानां दुःखानामसातोदयजनितानां मोक्षं-विनाशं न करोति आत्मगर्वाध्मातमानसो, यत एवं तस्मादात्मोत्कर्षः-अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी नापरः कश्चित् मत्तुल्योऽस्तीत्येवंरूपोऽभिमानी वर्जनीयः-त्याज्यो 'यतिजनेन' साधुलोकेन, अपरोऽपि ज्ञानिना जात्यादिको मदो न विधेयः किं पुनर्ज्ञानमदः ?, तथा चोक्तम्-

“ज्ञानं मददर्पहटं माद्यति यस्त्वेन तस्य को वैद्यः ? ।

अगदो यस्य विषायति तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ? ॥१॥१२२-१२६॥”

गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसरप्राप्तः अतः सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

टीकार्थ - इस अध्ययन का नाम 'याथातथ्य' है । यथातथा शब्द से भाव प्रत्यय करके 'याथातथ्य' शब्द बनता है । निर्युक्तिकार ने पहले आये हुए यथा शब्द को छोड़कर जो तथा शब्द का निक्षेप बताया है, इसका अभिप्राय यह है- यथा शब्द का प्रयोग अनुवाद में होता है । और तथा शब्द का प्रयोग विधेय अर्थ में होता है । जैसे कि- “यह कार्य जिस प्रकार कहा गया है वैसा ही आप करें ।” (यहाँ यथा शब्द अनुवाद में, तथा शब्द विधेय अर्थ में आया है) अनुवाद और विधेय में विधेय ही प्रधान होता है, इसलिए तथा शब्द का ही पहले निक्षेप किया है । अथवा जो याथातथ्य है, वही तथ्य है (सत्य है), इसलिए वही कहा जाता है । जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही कहना तथ्य है, यानी वस्तु के यथार्थ स्वभाव को तथ्य कहते हैं । उसके नाम आदि चार निक्षेप होते हैं, उनमें नाम और स्थापना सुगम हैं, अतः उन्हें छोड़कर गाथा के उत्तरार्ध के द्वारा तथ्य बतलाते हैं । सचित्त आदि पदार्थों का जिसका जैसा स्वभाव या स्वरूप है, उसे द्रव्य की प्रधानता के कारण 'द्रव्यतथ्य' कहते हैं । जैसे-जीव का लक्षण उपयोग है, पृथिवी का लक्षण काठिन्य है, जल का लक्षण द्रव है इत्यादि । अथवा जिस मनुष्य आदि का जैसा मार्दव आदि स्वभाव है तथा अचित्त गोशीर्षचन्दन और रत्न कम्बल आदि द्रव्यों में जिसका जैसा स्वभाव है, उसे द्रव्यतथ्य कहते हैं । जैसे कि-

(उण्हे) रत्न कम्बल आदि द्रव्यों का यह स्वभाव है कि वे ग्रीष्म ऋतु में शीत और शीत ऋतु में गर्म होते हैं ।

अब भावतथ्य के विषय में कहते हैं - भावतथ्य नियम से छः प्रकार के औदयिकभाव में जानना चाहिए। (वह भेद बताते हैं) कर्म के उदय से जो उत्पन्न होता है, उसे औदयिक कहते हैं । अर्थात् कर्म के उदय से जीव जो गति आदि का अनुभव करता है, वह औदयिक भाव है। जो कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक कहते हैं । अर्थात् कर्म का उदय न होना औपशमिक भाव है । एवं कर्म के क्षय होने से जो आत्मा का गुण प्रकट होता है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं, वह अप्रतिपाती ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप है । जो कर्म के क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक है । वह देश से उदय और देश से उपशमरूप है । जो परिणाम से उत्पन्न होता है, वह पारिणामिक भाव है, वह जीवत्व, अजीवत्व और भव्यत्व आदि है । इन पाँच भावों के दो, तीन आदि के संयोग से उत्पन्न भाव सान्निपातिक कहलाता है, (इन्हीं छः भेदों में भाव-तथ्य समा जाता है।) अथवा आत्मा के अन्दर रहनेवाला भावतथ्य चार प्रकार का है, जैसे कि- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनयतथ्य। इनमें मति आदि पाँच ज्ञानों के द्वारा जो वस्तु जैसी है, उसे उसी तरह सत्य समझना ज्ञानतथ्य है । तथा शङ्का आदि अतिचारों से रहित जीवादि तत्त्वों में विश्वास करना दर्शनतथ्य है । एवं बारह प्रकार के तप और सत्रह प्रकार के संयम की अच्छी तरह क्रिया करना चारित्रतथ्य है । तथा बयालीस प्रकार का विनय जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और औपचारिक रूप है, उसकी यथायोग्य क्रिया करना विनयतथ्य है । इन ज्ञान आदि का योग्य रीति से सेवन न करना अतथ्य है । इनमें यहाँ भावतथ्य का वर्णन है । अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से भावतथ्य दो प्रकार का है, उनमें यहाँ प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है, यह दिखाने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं । जिस प्रकार से और जिस रीति से सूत्र बनाये गये हैं, उसी तरह से उनके अर्थ की व्याख्या करनी चाहिए और उसी तरह से उनका अनुष्ठान करना चाहिए, यह निर्युक्तिकार दिखाते हैं - आचरण यानी क्रिया को चरण कहते हैं, अथवा सिद्धान्त सूत्र का चारित्र ही आचरण है, इसलिए जैसा सूत्र है, वैसे ही चारित्र है और वही अनुष्ठान करने योग्य है, इसी को याथातथ्य कहते हैं । अब निर्युक्तिकार गाथा के पूर्वार्ध के अभिप्राय को ही उत्तरार्ध के द्वारा दिखाते हैं - जो विषय यहाँ प्रकृत यानी वर्णनीय है अर्थात् जिस विषय को लेकर सूत्र बनाये गये हैं, उस विषय की ठीक-ठीक व्याख्या करना अथवा उस विषय को संसार से पार करने में कारण कहकर प्रशंसा करना याथातथ्य है । परन्तु सूत्रोक्त अर्थ की ठीक-ठीक व्याख्या न करना अथवा उसे संसार भ्रमण का कारण कहकर निन्दा करना अथवा अच्छी रीति से उसका अनुष्ठान न करना अयाथातथ्य है । आशय यह है कि- जिस रीति से सूत्र बनाये गये हैं, उसकी व्याख्या यदि उसी तरह की जाय और उसी तरह उसका आचरण किया जाय, तो वह संसार से जीव को पार करने में समर्थ होता है, इसलिए वह याथातथ्य होता है परन्तु यदि सूत्र का अर्थ ठीक न किया जाय अथवा उसे संसार का कारण कहकर निन्दा की जाय तो वह याथातथ्य नहीं होता है, यह इस गाथा का तात्पर्यार्थ है । इसी बात को दृष्टान्त देकर स्पष्ट करने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं - सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी, प्रभवस्वामी और आर्यरक्षित आदि आचार्यों की परम्परा से जो सूत्र का व्याख्यान चला आता है, वही याथातथ्य है, जो वस्तु अभी की जा रही है, वह भी व्यवहार नय से की हुई कही जाती है, उसे जो कुतर्क के घमण्ड से बिगड़ा हुआ मनवाला पुरुष, नहीं मानता है किन्तु मिथ्यात्व से दृष्टि बिगड़ जाने के कारण अपने को सूक्ष्मबुद्धि समझता हुआ, उस अर्थ को असत्य कहता है तथा सर्वज्ञ के कहे हुए अर्थ की भी ओर तरह से व्याख्या करता है, जैसे कि वह कहता है कि - “जो वस्तु की जा रही है, उसे की गयी न कहना चाहिए, किन्तु जो की जा चुकी है उसी को की गयी कहना चाहिए, क्योंकि जिस समय घट बनाने के लिए मृत्पिण्ड में क्रिया की जाती है, उसी समय घट नहीं बन जाता है क्योंकि उस समय न तो उस मृत्पिण्ड में जलाहरण क्रिया होती है और न घट का वर्तुलत्वादि गुण होता है और न उसका घट यह नाम ही होता है ।” इस प्रकार जो अपने को निपुण माननेवाला तथा अपने को पण्डित समझनेवाला पुरुष सर्वज्ञ के मत को दूषित करता है, वह जमालि निह्व की तरह नाश को प्राप्त होता है । वह अरहट यन्त्र की तरह संसार सागर में भ्रमण करता रहेगा । वह यह नहीं जानता है कि- “यह लोक, घट बनाने के लिए जो मिट्टी खोदना आदि क्रियायें करता है, उन्हें घट में ही आरोप

करता है। वस्तुतः विचार करने पर उन क्रियाओं का काल और उनकी समाप्ति का काल एक ही है, इसलिए किया जाता हुआ भी किया हुआ कहा जाता है। यह व्यवहार लोक में भी देखा जाता है। जैसे कि- आज ही कान्यकुब्ज जाने के लिए देवदत्त के निकलने पर कहते हैं कि- “देवदत्त कान्यकुब्ज गया।” एवं पायली बनाने के लिए लकड़ी काटते समय ही कहते हैं कि - “यह पायली है।” अब निर्युक्तिकार सर्वज्ञ के मत को दूषित करनेवाले पुरुषों का नाश होना बताते हुए उपदेश देते हैं - जो मनुष्य थोड़ीसी विद्या के घमण्ड से उत्तेजित होकर सर्वज्ञ के वचन के अंश मात्र की भी अन्यथा व्याख्या करता है, वह संयम और तप में उद्योग करता हुआ भी शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त नहीं करता है। आत्मगर्व से जिसका मन बिगड़ गया है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता है, इसलिए साधु पुरुष “मैं ही सिद्धान्त अर्थ को जानता हूँ, मेरे समान दूसरा कोई पुरुष नहीं है।” इस प्रकार का अभिमान छोड़ देवे। तथा ज्ञानी पुरुष दूसरे भी जाति आदि के मर्दों का त्याग करे फिर ज्ञान मद के त्याग की तो बात ही क्या है ?। अत एव कहा है कि-

“ज्ञानम्” अर्थात् ज्ञान, मद और दर्प को हरण करता है परन्तु जो उस ज्ञान से ही मतवाला हो जाता है उसके लिए वैद्य कौन है ?। औषध ही जिसको जहर हो जाता है, उसकी चिकित्सा किस तरह की जा सकती है ? ॥१२२-१२६॥

नामनिक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रालापक निक्षेप का अवसर है। वह सूत्र होने पर होता है और सूत्र सूत्रानुगम होने पर होता है इसलिए अब सूत्रानुगम का अवसर है। उस सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है -



आहत्तहीयं तु पवेयइस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं ।

सओ अ धम्मं असओ असीलं, संतिं असंतिं करिस्सामि पाउं

॥१॥

छाया - याथातथ्यन्तु प्रवेदयिष्यामि, ज्ञानप्रकारं पुरुषस्य जातम् ।

सतश्च धर्ममसतश्चाशीलं शान्तिमशान्तिञ्च करिष्यामि प्रादुः ॥

अन्वयार्थ - (आहत्तहीयं तु पवेयइस्सं) मैं याथातथ्य यानी सच्चे तत्त्व को बताऊँगा (नाणप्पकारं) तथा ज्ञान के प्रकार यानी सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रहस्य को कहूँगा (पुरिसस्स जातं) एवं जीवों के भले और बुरे गुणों को कहूँगा (सओ अ धम्मं) तथा उत्तम साधुओं का शील (असओ असीलं) एवं बुरे साधुओं का कुशील भी बताऊँगा (संतिं असंतिं पाउं करिस्सामि) तथा शान्ति यानी मोक्ष और अशान्ति यानी संसार का स्वरूप भी प्रकट करूँगा ।

भावार्थ - श्रीसुधर्मास्वामी कहते हैं कि- मैं सच्चा तत्त्व और ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं जीवों के भले और बुरे गुण तथा साधुओं के शील और असाधुओं के कुशील और मोक्ष तथा बन्ध के रहस्य को प्रकट करूँगा ।

टीका - अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं संबन्धः, तद्यथा-वलयाविमुक्तेत्यभिहितं, भाववलयं रागद्वेषौ ताभ्यां विनिर्मुक्तस्यैव याथातथ्यं भवतीत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या प्रतन्यते-यथातथाभावो याथातथ्यं-तत्त्वं परमार्थः, तच्च परमार्थचिन्तायां सम्यग्ज्ञानादिकं, तदेव दर्शयति - ‘ज्ञानप्रकार’मिति प्रकारशब्द आद्यर्थे, आदिग्रहणाच्च सम्यग्दर्शनचारित्रे गृह्यते, तत्र सम्यग्दर्शनम्-औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकं गृह्यते, चारित्रं तु व्रतसमितिकषायाणां धारणरक्षणनिग्रहादिकं गृह्यते, एतत्सम्यग्ज्ञानादिकं ‘पुरुषस्य’ जन्तोर्यज्जातम्-उत्पन्नं तदहं ‘प्रवेदयिष्यामि’ कथयिष्यामि, तुशब्दो विशेषणे, वितथाचारिणस्तद्दोषांश्चाविर्भावयिष्यामि, ‘नानाप्रकारं’ वा विचित्रं पुरुषस्य स्वभावम्-उच्चावचं प्रशस्ताप्रशस्तरूपं प्रवेदयिष्यामि नानाप्रकारं स्वभावं फलं च पश्चात्तर्धेन दर्शयति-‘सतः’ सत्पुरुषस्य शोभनस्य सद्नुष्ठायिनः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवतो ‘धर्म’ श्रुतचारित्राख्यं दुर्गतिगमनधरणलक्षणं वा तथा ‘शीलम्’ उद्युक्तविहारित्वं तथा ‘शान्तिं’ निर्वृतिमशेषकर्मक्षयलक्षणां ‘करिस्सामि पाउं’ति प्रादुष्करिष्ये प्रकटयिष्यामि यथावद् उद्भावयिष्यामि, [ग्रन्थाग्रं. ७०००] तथा ‘असतः’ अशोभनस्य परतीर्थिकस्य गृहस्थस्य वा पार्श्वस्थादेर्वा, चशब्दसमुच्चितमधर्म-पापं तथा ‘अशीलं’ कुत्सितशीलमशान्तिं च-अनिर्वाणरूपां संसृतिं प्रादुर्भावयिष्यामीति । अत्र च सतो धर्म शीलं शान्तिं च प्रादुष्करिष्यामि, असतश्चाधर्ममशीलमशान्तिं चेत्येवं पदघटना

योजनीया, अनुपात्तस्य [च] चशब्देनाक्षेपो द्रष्टव्य इति ॥१॥

टीकार्थ - - इस सूत्र का पूर्व सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है - पूर्व अध्ययन के अन्तिम सूत्र में कहा है कि साधु संसार की भाया से मुक्त होकर विचरे, यहाँ भाववलय रागद्वेष है, उस रागद्वेष से मुक्त होकर जो रहता है, उसी को सत्यतत्त्व समझने में आता है, इस सम्बन्ध से आये हुए इस सूत्र की व्याख्या की जाती है- सच्चे तत्त्व को याथातथ्य कहते हैं अर्थात् जो परमार्थ है, वह याथातथ्य है। वह विचार करने पर सम्यग्ज्ञान आदि है, उसी को शास्त्रकार दिखाते हैं- "ज्ञानप्रकारम्" यहाँ प्रकार शब्द आद्यर्थक है। आदि ग्रहण से सम्यग्दर्शन और चारित्र लिये जाते हैं। उनमें सम्यग्दर्शन, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप लिये जाते हैं और चारित्र, व्रत का धारण समिति का रक्षण और कषायों का निग्रह रूप लिया जाता है। ये सम्यग्ज्ञान आदि जो जीव को उत्पन्न होते हैं सो मैं बताऊँगा। यहाँ तु शब्द विशेषणार्थक है, इसलिए विपरीत आचार करनेवाले पुरुषों के दोषों को भी प्रकट करूँगा। पुरुषों का स्वभाव नाना प्रकार का यानी विचित्र होता है, वह प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों ही प्रकार का होता है, उसे भी मैं बताऊँगा। पुरुषों के स्वभाव और फल नाना प्रकार के होते हैं, यह इस गाथा के उत्तरार्थ से बताते हैं- जो पुरुष सज्जन है अर्थात् शोभन अनुष्ठान करता है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से युक्त है, उसका जो दुर्गति में जाने से रोकनेवाला श्रुत और चारित्र रूप धर्म है तथा वह जो योग्य रीति से विहार करने में तत्परता रखता है एवं उसे जो समस्त कर्मों का क्षय स्वरूप शान्ति प्राप्त होती है, सो मैं आपको बताऊँगा। एवं जो पुरुष असत् यानी अशोभन हैं, वे परतीर्थी, गृहस्थ तथा पार्श्वस्थ आदि हैं, उनके अधर्म यानी पाप, कुशील और संसार भ्रमण रूप अशान्ति को प्रकट करूँगा। यहाँ "सज्जन पुरुष के धर्म, शील और शान्ति को प्रकट करूँगा और असज्जन के अधर्म, अशील और अशान्ति को प्रकट करूँगा।" इस प्रकार पद की योजना करनी चाहिए। इस गाथा में जो बात नहीं कही है, उसका च शब्द से आक्षेप समझना चाहिए ॥१॥



- जन्तोर्गुणदोषरूपं नानाप्रकारं स्वभावं प्रवेदयिष्यामीत्युक्तं तद्दर्शयितुकाम आह -

- पहले शास्त्रकार ने कहा है कि - मैं प्राणियों के गुण दोष और नाना प्रकार के स्वभाव को बताऊँगा सो इस गाथा के द्वारा बताते हैं -

अहो य राओ अ समुट्टिण्हिं, तहागण्हिं पडिलब्भ धम्मं ।

समाहिमाघातमजोसयंता, सत्थारमेवं फरुसं वयंति

॥२॥

छाया - अहणि च रात्रौ च समुत्थितेभ्यस्तथागतैभ्यः प्रतिलब्ध धर्मम् ।

समाधिमाख्यातमजोषयन्तः शास्त्रारमेवं परुषं वदन्ति ॥

अन्वयार्थ - (अहो य राओ य समुट्टिण्हिं) दिन, रात उत्तम अनुष्ठान करनेवाले (तहागण्हिं) तीर्थङ्करों से (धम्मं पडिलब्भ) धर्म को पाकर (आघातं समाहिं अजोसयंता) तीर्थङ्करोक्त समाधि का सेवन न करते हुए (जमालि आदि निहव) (सत्थारमेवं फरुसं वयंति) अपने शिक्षक को ही कुवाक्य कहते हैं ।

भावार्थ - रातदिन उत्तम अनुष्ठान करने में प्रवृत्त रहनेवाले तीर्थङ्करों से धर्म को पाकर भी तीर्थङ्करोक्त समाधि मार्ग का सेवन न करते हुए जमालि आदि निहव तीर्थङ्कर की ही निन्दा करते हैं ।

टीका - 'अहोरात्रम्' अहर्निशं सम्यगुत्थिताः समुत्थिता सदनुष्ठानवन्तस्तेभ्यः श्रुतधरेभ्यः, तथा 'तथागतैभ्यो' वा तीर्थकृद्भ्यो 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं प्रतिलब्ध-संसारनिःसरणोपायं धर्ममवाप्यापि कर्मोदयान्मन्दभाग्यतया जमालिप्रभृतय 'इहात्मोत्कर्षात्तीर्थकृदाद्याख्यातं 'समाधिं' सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षपद्धतिम् 'अजोषयन्तः' २असेवन्तः सम्यगकुर्वाणा निहन्वा बोटिकाश्च स्वरुचिविरचितव्याख्याप्रकारेण निर्दोषं सर्वज्ञप्रणीतं मार्गं विध्वंसयन्ति-कुमार्गं प्ररूपयन्ति, ब्रुवते च- असौ सर्वज्ञ एव न भवति यः क्रियमाणं कृतमित्यध्यक्षविरुद्धं प्ररूपयति तथा यः पात्रादिपरिग्रहान्मोक्षमार्गमावि-र्भावयति, एवं सर्वज्ञोक्तमश्रद्धधानाः श्रद्धानं कुर्वन्तोऽप्यपरे धृतिसंहननदुर्बलतया यथाऽऽरोपितं संयमभारं वोढुमसमर्थाः

1. इवा० प्र० । 2. आत्मनेपदमनित्यं तेन परस्मादपि सिद्धे, ध्वनितं चेदं धातुपारायणे जृग् दीप्तौ इत्यादौ ।

क्वचिद्विषीदन्तोऽपरेणाचार्यादिना वत्सलतया चोदिताः सन्तस्तं 'शास्तारम्' अनुशासितारं चोदकं पुरुषं वदन्ति 'कर्कशं' निष्ठुरं प्रतीपं चोदयन्तीति ॥२॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो रात दिन उत्तम अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं, ऐसे श्रुतधर तथा तीर्थङ्करों से संसार को पार करने के उपाय रूप श्रुत और चारित्ररूप धर्म को पाकर भी अपनी मन्दभाग्यता तथा अशुभ कर्म के उदय के कारण अपने को श्रेष्ठ माननेवाले जमालि आदि, तीर्थङ्करोक्त सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष मार्ग का सेवन नहीं करते हैं। तीर्थङ्करोक्त मार्ग की अच्छी तरह सेवा न करनेवाले वे जमालि आदि निहव तथा दिगम्बर, अपनी रुचि के अनुसार की हुई व्याख्या के द्वारा दोष रहित सर्वज्ञ के मार्ग का नाश करते हैं और कुमार्ग की प्ररूपणा करते हैं। वे कहते हैं कि - "जो किये जाते हुए पदार्थ को किया हुआ बताता है, वह प्रत्यक्ष विरुद्ध बोलनेवाला पुरुष सर्वज्ञ है ही नहीं। तथा जो पात्र आदि के परिग्रह से भी मोक्ष बताता है, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता।" ऐसा कहते हुए वे सर्वज्ञ के मार्ग में श्रद्धा नहीं करते हैं। कोई सर्वज्ञ के मार्ग में श्रद्धा रखते हुए भी मन या शरीर की कमजोरी से शिरपर लिये हुए संयमरूपी भार को वहन करने में समर्थ नहीं होते हैं, वे जब संयम पालन में ढीलाई करते हैं तब आचार्य आदि उन्हें प्रेम के कारण वैसा न करने के लिए शिक्षा देते हैं, परन्तु वे शिक्षा देनेवाले को ही कटुवाक्य कहने लगते हैं ॥२॥



विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा ।

अट्ठाणिए होइ बहुगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा

॥३॥

छाया - विशोधितन्तेऽनुकथयन्ति, ये आत्मभावेन व्यागृणीयुः ।

अस्थानिको भवति बहुगुणानां ये ज्ञानशङ्कया मृषा वदेयुः ॥

अन्वयार्थ - (ते विसोहियं अणुकाहयंते) वे जमालि आदि निहव, अच्छी तरह से शोधित इस जिनमार्ग की आचार्य परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते हैं (जे आतभावेण वियागरेज्जा) जो अपनी रुचि के अनुसार आचार्य परम्परा से विरुद्ध सूत्रों का अर्थ करते हैं वे (बहुगुणाणं अट्ठाणिए होइ) उत्तम गुणों के भाजन नहीं होते हैं (जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा) जो वीतराग के ज्ञान में शंका करके मिथ्या भाषण करते हैं, वे उत्तम गुणों के भाजन नहीं होते हैं।

भावार्थ - वीतराग का मार्ग सब दोषों से रहित है तथापि अहंकार के कारण निहव आदि उसमें दोषारोपण करते हैं। जो पुरुष अपनी रुचि के अनुसार परम्परागत व्याख्यान से भिन्न व्याख्यान करता है तथा वीतराग के ज्ञान में शंका करके मिथ्या भाषण करता है, वह उत्तम गुणों का भाजन नहीं होता है।

टीका - विविधम्-अनेकप्रकारं शोधितः-कुमार्गप्ररूपणापनयनद्वारेण निर्दोषतां नीतो विशोधितः सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राख्यो मोक्षमार्गस्तमेवंभूतं मोक्षमार्गं 'ते' स्वाग्रहग्रहग्रस्ता गोष्ठामाहिलवदनु-पश्चादाचार्यप्ररूपणातः कथयन्ति-अनुकथयन्ति। ये चैवंभूता आत्मोत्कर्षात्स्वरुचिविरचितव्याख्याप्रकारव्यामोहिता 'आत्मभावेन' स्वाभिप्रायेणाचार्यपारम्पर्येणायातमप्यर्थं व्युदस्यान्यथा 'व्यागृणीयुः' व्याख्यानयेयुः, ते हि गम्भीराभिप्रायं सूत्रार्थं कर्मोदयात्पूर्वपरेण यथावत्परिणामयितुमसमर्थाः पण्डितमानिन उत्सूत्रं प्रतिपादयन्ति। आत्मभावव्याकरणं च महतेऽनर्थायेति दर्शयति-'स' एवंभूतः स्वकीयाभिनिवेशाद् 'अस्थानिकः' अनाधारो बहूनां ज्ञानादिगुणानामभाजनं भवतीति, ते चामी गुणाः-

“सुखसूखइ पडिपुच्छइ सुणोइ गीणहइ य ईहए आवि । ततो अपोहए वा धारेइ करेइ वा सम्मं॥१॥”

यदिवा गुरुशुश्रूषादिना सम्यग्ज्ञानावगमस्ततः सम्यगनुष्ठानमतः सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इत्येवंभूतानां गुणानामनायतनमसौ भवति, क्वचित्पाठः- 'अट्ठाणिए होति बहुणिवेस'ति अस्यायमर्थः- अस्थानम्-अभाजनमपात्रमसौ भवति सम्यग्ज्ञानादीनां गुणानां, किंभूतो? बहुः-अनर्थसंपादकत्वेनासदभिनिवेशो यस्य स बहुनिवेशः, यदिवा गुणाना-मस्थानिकः-अनाधारो बहूनां दोषाणां च निवेशः-स्थानम् आश्रय इति, किंभूताः पुनरेवं भवन्तीति दर्शयति-ये केचन

१. शुश्रूषते प्रतिपृच्छति शृणोति गृह्णाति ईहते चापि। ततोऽपोहते वा धारयति करोति वा सम्यक् ॥१॥

दुर्गृहीतज्ञानलवावलेपिनो ज्ञाने-श्रुतज्ञाने शङ्का ज्ञानशङ्का तथा मृषावादं वदेयुः, एतदुक्तं भवति-सर्वज्ञप्रणीते आगमे शङ्का कुर्वन्ति, अयं तत्प्रणीत एव न भवेद् अन्यथा वाऽस्यार्थः स्यात्, यदिवा 'ज्ञानशङ्कया पाण्डित्याभिमानेन मृषावादं वदेयुर्यथाऽहं ब्रवीमि तथैव युज्यते नान्यथेति ॥३॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो विविध प्रकार से शोधन किया हुआ है अर्थात् कुमार्ग की प्ररूपणा से हटाकर जो निर्दोष बनाया गया है, वह विशोधित मार्ग है। वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्ष मार्ग है परन्तु अपने आग्रह में गोष्ठामाहिल की तरह फँसे हुए लोग आचार्यों की परम्परागत प्ररूपणा से विपरीत प्ररूपणा करते हैं। जो लोग अपने अहङ्कार के कारण अपनी इच्छा के अनुसार बनाई हुई व्याख्या में मोहित होकर आचार्यों की परम्परा से आये हुए अर्थ को त्यागकर उससे विपरीत अर्थ बताते हैं और दूसरों को समझाते हैं, वे कर्म के उदय के कारण सूत्र के गम्भीर अभिप्राय को पूर्वापर ग्रन्थ के अनुसार समझने में समर्थ नहीं हैं, अतः अपने को पण्डित माननेवाले वे उत्सूत्र प्ररूपणा करते हैं। अपनी रुचि के अनुसार शास्त्र की व्याख्या करना महान् अनर्थ का कारण है, यह शास्त्रकार दिखलाते हैं - जो पुरुष अपने आग्रह के कारण ऐसा करता है, वह ज्ञान आदि गुणों का भाजन नहीं होता है। वे गुण ये हैं -

पहले गुरु से ज्ञान सुनता है, तब प्रश्न करता है, पश्चात् उसका उत्तर सुनता है फिर उसे ग्रहण करता है, इसके बाद तर्क करता है, उसका समाधान होने पर निश्चय करता है और उसे याद रखता है, पश्चात् उसके अनुसार आचरण करता है।

अथवा गुरु की सेवा करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब सम्यग् अनुष्ठान होता है और सम्यग् अनुष्ठान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इन गुणों का वह निह्व पुरुष पात्र नहीं होता है और कहीं-कहीं "अट्टाणिए होई बहूणिवेस" यह पाठ मिलता है। इसका अर्थ यह है- वह पुरुष ज्ञानादि गुणों का पात्र नहीं होता है। कौन? जो बहुत अनर्थ करनेवाला कदाग्रही है अथवा वह पुरुष गुणों का भाजन नहीं होता है किन्तु दोषों का स्थान होता है। कौन से पुरुष ऐसे होते हैं? सो शास्त्रकार दिखाते हैं, जो पुरुष थोड़ी विद्या पढ़कर अपने ज्ञान का घमण्ड करके केवली के ज्ञान में शंका करते हुए मिथ्या भाषण करते हैं। आशय यह है कि जो सर्वज्ञ के कहे हुए आगम में शंका करते हैं और कहते हैं कि- "यह आगम सर्वज्ञ का कहा हुआ हो ही नहीं सकता अथवा इसका अर्थ दूसरा है।" अथवा जो अपने पाण्डित्य के अभिमान से झूठ बोलते हैं कि - "मैं जैसा कहता हूँ, उसी तरह अर्थ ठीक होता है ओर तरह नहीं होता है ॥३॥



जे यावि पुट्टा पलिउंचयंति, आयाणमट्ठं खलु वंचयित्ता (यंति) ।

असाहुणो ते इह साहुमाणी, मायण्णि एसंति अणंतघातं

॥४॥

छाया - येचाऽपि पृष्टाः परिकुञ्चयन्ति, आदानमर्थं खलु वञ्चयन्ति ।

असाधवस्ते इह साधुमानिनो मायाब्धिता एष्यन्त्यनन्तघातम् ॥

अन्वयार्थ - (जे यावि पुट्टा पलिउंचयंति) जो लोग पूछने पर अपने गुरु का नाम छिपाते हैं (आयाणमट्ठं खलु वंचयित्ता) वे मोक्ष से स्वयं वंचित होते हैं (ते असाहुणो इह साहुमाणी) वे वस्तुतः असाधु हैं परन्तु अपने को साधु मानते हैं (मायण्णि अणंतघातं एसंति) वे मायावी पुरुष अनन्तबार संसार में घात को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - जो पुरुष पूछने पर अपने गुरु का नाम छिपाते हैं और दूसरे किसी बड़े आचार्य आदि का नाम बताते हैं, वे मोक्ष से अपने को वंचित करते हैं। वे वस्तुतः साधु नहीं हैं तथापि अपने को साधु मानते हैं। वे मायावी जीव अनन्तबार संसार के दुःखों के पात्र होते हैं।

टीका - ये केचनाविदितपरमार्थाः स्वल्पतया समुत्सेकिनोऽपरेण पृष्टाः कस्मादाचार्यात्सकाशादधीतं श्रुतं भवद्विरिति, ते तु स्वकीयमाचार्यं ज्ञानावलेपेन निहनुवाना अपरं प्रसिद्धं प्रतिपादयन्ति, यदिवा मयैवैतत्स्वत उत्प्रेक्षितमित्येवं

1. ज्ञानहीनत्वाविर्भावशङ्कया । 2. तुच्छतया । 3. ज्ञातं ।

ज्ञानावलेपात् 'पलिउंचयं'ति ति निहनुवते, यदिवा-सदपि प्रमादस्खलितमाचार्यादिनाऽऽलोचनादिके अवसरे पृष्टाः सन्तो मातृस्थानेनावर्णवादभयान्निहनुवते । त एवं पलिकुञ्चिका-निह्वं कुर्वाणा आदीयत इत्यादानं ज्ञानादिकं मोक्षो वा तमर्थं वञ्चयन्ति-भ्रंशयन्त्यात्मनः, खलुरवधारणे वञ्चयन्त्येव । एवमनुष्ठायिनश्चासाधवस्ते परमार्थतस्तत्त्व-चिन्तायाम् 'इह' अस्मिन् जगति साधुविचारे वा 'साधुमानिन' आत्मोत्कर्षात् सदनुष्ठानमानिनो मायान्वितास्ते 'एष्यन्ति' यास्यन्ति 'अनन्तशो' बहुशो 'घातं' विनाशं संसारं वा अनवदग्रं संसारकान्तारमनुपरिवर्तयिष्यन्तीति, दोषद्वयदुष्टत्वात्तेषाम्, एकं तावत्स्वयमसाधवो द्वितीयं साधुमानिनः, उक्तंच-

“पापं काळुण सयं अप्पाणं सुद्धमेव वाहरइ । दुगुणं करेइ पापं बीयं बालस्य मंदत्तं ॥१॥”

तदेवमात्मोत्कर्षदोषाद्बोधिलाभमप्युपहत्यानन्तसंसारभाजो भवन्त्यसुमन्त इति स्थितम् ॥४॥

टीकार्थ - जो जीव सत्य तत्त्व को नहीं जानते हैं और थोड़ासा ज्ञान पाकर बहुत अभिमान रखते हैं तथा “आपने किस आचार्य से शास्त्र पढ़े हैं ।” इस प्रकार किसी के पूछने पर ज्ञान के गर्व से अपने सच्चे गुरु का नाम छिपाकर दूसरे किसी प्रसिद्ध आचार्य का नाम लेते हैं अथवा “मैंने स्वयं इस शास्त्रों का अध्ययन किया है ।” यह कहकर ज्ञान के गर्व से गुरु का नाम छिपाते हैं अथवा जो स्वयं प्रमादवश भूल करते हैं और आलोचना के समय गुरु आदि के पूछने पर ‘मेरी निन्दा होगी ।’ इस भय से मिथ्या भाषण करते हैं, वे गुरु का नाम छिपानेवाले पुरुष ज्ञान आदि से तथा मोक्ष से अपने को वञ्चित करते हैं । खलु शब्द निश्चयार्थक है, इसलिए वे अवश्य अपने को वञ्चित करते हैं, यह अर्थ है । इस प्रकार का कार्य करनेवाले वे साधु नहीं हैं । सत्य बात तो यह है कि- इस जगत् में साधुपने का विचार करने पर वे अपने गर्व के कारण अपने अनुष्ठान को उत्तम समझते हैं परन्तु है वे मायावी, वे साधु नहीं हैं । वे अनन्तकाल नाश को या संसार को प्राप्त करेंगे । वे दो दोषों से दूषित हैं इसलिए अनन्त कालतक संसाररूपी वन में भ्रमण करेंगे । एक दोष उनका यह है कि- वे स्वयं असाधु हैं और दूसरा यह है कि वे अपने को साधु मानते हैं, अत एव कहा है कि-

“जो स्वयं पाप करके भी अपने को शुद्ध ही बताता है, वह द्विगुण पाप करता है, यह मूर्ख जीव की दूसरी मूर्खता है ।”

इस प्रकार निह्व पुरुष अपने गर्व के कारण बोधिलाभ का भी नाश करते हैं और अनन्त संसारी भी होते हैं, यह सिद्ध हुआ ॥४॥



- मानविपाकमुपदर्श्याधुना क्रोधादिकषायदोषमुद्भावयितुमाह -

- मान करने का फल दिखाकर अब शास्त्रकार क्रोध आदि कषायों का दोष दिखाने के लिए कहते हैं-

जे कोहणे होइ जगट्भासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।

अंधे व से दंडपहं गहाय, अविओसिए धासति पावकम्मी

॥५॥

छाया - यः क्रोधमो भवति, जगदर्थभासी व्यवसितं यस्तूदीरयेत् ।

अन्ध इवासौ दण्डपथं गृहीत्वाऽव्यवसितो धृष्यते पापकर्मा ॥

अन्वयार्थ - (जे कोहणे जगट्भासी होइ) जो पुरुष क्रोधी है और दूसरे के दोष को कहनेवाला है (जे उ विओसियं उदीरएज्जा) और जो शान्त हुए कलह को फिर जगाता है (पावकम्मी) वह पापकर्म करनेवाला जीव (अविओसिए) सदा कलह में पड़ा हुआ (दंडपहं गहाय अंधे व) लघुमार्ग से जाता हुआ अन्ये की तरह (धासति) दुःख का भागी होता है ।

भावार्थ - जो पुरुष सदा क्रोध करता है और दूसरे के दोषों को कहता है एवं शान्त हुए कलह को जो फिर प्रदीप्त करता है, वह पुरुष पापकर्म करनेवाला है तथा वह बराबर झगड़े में पड़ा रहता है । वह छोटे मार्ग से जाते हुए अन्ये की तरह अनन्त दुःखों का भाजन होता है ।

१. पापं कृत्वा स्वयं आत्मानं शुद्धमेव व्याहरति, द्विगुणं करोति पापं द्वितीयं बालस्य मन्दत्वम् ॥१॥

टीका - यो ह्यविदितकषायविपाकः प्रकृत्यैव क्रोधनो भवति तथा 'जगदर्थभाषी' यश्च भवति, जगत्यर्था जगदर्थं ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभाषी, तद्यथा-ब्राह्मणं डोडमिति ब्रूयात्तथा वणिजं किराटमिति शूद्रमाभीरमिति श्वपाकं चाण्डालमित्यादि तथा काणं काणमिति तथा खड्गं कुब्जं वडभमित्यादि तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि यो यस्य दोषस्तं तेन खरपरुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी, यदिवा जयार्थभाषी यथैवा-ऽऽत्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च-येन केनचित्प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः । 'विओसियं'ति विविधमवसितं-पर्यवसितमुपशान्तं द्वन्द्वं-कलहं यः पुनरप्युपदीरयेत्, एतदुक्तं भवति-कलह-कारिभिर्मिथ्यादुष्कृतादिना परस्परं क्षामितेऽपि तत्तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषां क्रोधोदयो भवति । साम्प्रतमेतद्विपाकं दर्शयति-यथा ह्यन्धः-चक्षुर्विकलो 'दण्डपथं' गोदण्डमार्गं [लघुमार्गं] प्रमुखोज्ज्वलं 'गृहीत्वा' आश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया 'धृष्यते' कण्टकक्षापदादिभिः पीडयते, एवमसावपि केवलं लिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकः, तथा 'अविओसिए'ति अनुपशान्तद्वन्द्वः पापम्-अनार्यं कर्म-अनुष्ठानं यस्यासौ पापकर्मा धृष्यते चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीडयत इति ॥५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो पुरुष कषायों के फल को नहीं जानता है और स्वभाव से ही क्रोध करता रहता है तथा जगत् का जो पदार्थ जैसा है, उसे जो वैसा ही कहता है अर्थात् जो ब्राह्मण को 'डोड़' और बनिये को 'किराट' शूद्र को आभीर, श्वपाक को चाण्डाल तथा काणे को काणा, लँगड़े को लँगड़ा, कुबड़े को कुबड़ा, कुष्ठवाले को कुष्ठवाला और क्षयी को क्षयी, इस प्रकार जिसका जो दोष है, उसे कड़े शब्दों में कहता है अथवा जैसा कहने से अपनी जीत होती है, वह चाहे मिथ्या भी हो, उसे अपनी जीत के लिए कहता है, आशय यह है कि मिथ्याभाषण आदि जिस किसी उपाय से अपनी जीत चाहता है तथा जो सब प्रकार से मिटे हुए कलह को फिर से जगाता है, भाव यह है कि- कलह करनेवाले लोग "मिच्छ मि दुक्कडं" कहकर परस्पर क्षमापना कराकर शान्त हो चुके हैं, तो भी जो ऐसी बातें कहता है, जिससे उनका शान्त क्रोध फिर भड़क उठता है, उस पुरुष को जो फल प्राप्त होता है, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं- जैसे अन्धा मनुष्य छोटे मार्ग से जाता हुआ अच्छी तरह मार्ग न जानने के कारण काँट और जङ्गली जानवर आदि से पीड़ित किया जाता है, इसी तरह केवल साधु के लिङ्ग को धारण करनेवाला जो क्रोध को शान्त किया हुआ नहीं है तथा कटुभाषी और कलह को जगानेवाला है, वह पापी पुरुष चार गतिवाले संसार में यातना स्थान को प्राप्त होकर बार-बार क्लेश भोगता है ॥५॥



जे विग्गहीए अत्रायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।

उ(ओ)वायकारी य हरीमणे, य, एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे

॥६॥

छाया - यो विग्रहिकोऽव्यायभाषी न सः समो भवत्यहंझप्राप्तः ।

उपपातकारी च द्वीमवाश्च, एकावन्तदृष्टिश्चामायिरूपः ॥

अन्वयार्थ - (जे विग्गहीए) जो पुरुष झगड़ा करनेवाला है (अत्रायभासी) तथा न्याय को छोड़कर भाषण करता है (से समे न होइ) वह समता को प्राप्त नहीं होता है (अहंझपत्ते) और वह कलह रहित भी नहीं होता है । (उवायकारी) परन्तु जो गुरु की आज्ञा पालन करता है (हरीमणे य) और पाप करने में गुरु आदि से लज्जित होता है (एगंतदिट्ठी य) एवं जीवादि तत्त्वों में पूरी श्रद्धा रखता है (अमाइरूवे) वही पुरुष अमायी है ।

भावार्थ - जो कलह करता है तथा अन्याय पूर्वक बोलता है, वह समता को प्राप्त नहीं होता है, अतः साधु गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला, पापकर्म करने में गुरु आदि से लज्जित होनेवाला और जीवादि तत्त्वों में पूरी श्रद्धा रखनेवाला बने, जो पुरुष ऐसा है, वही अमायी है ।

टीका - यः कश्चिदविदितपरमार्थो विग्रहो-युद्धं स विद्यते यस्यासौ विग्रहिको यद्यपि प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रिया विद्यन्ते तथापि युद्धप्रियः कश्चिद्वति, तथाऽन्याय्यं भाषितुं शीलमस्य सोऽन्याय्यभाषी यत्किञ्चनभाष्यस्थानभाषी गुर्वाद्यधिकेपकरो वा यश्चैवंभूतो नासौ 'समो' रक्ताद्विष्टतया मध्यस्थो भवति, तथा नाप्यज्ञज्ज्ञां प्राप्तः-अकलहप्राप्तो वा

न भवत्यमायाप्राप्तो वा, यदिवा अङ्गज्ज्ञाप्राप्तैः-अकलहप्राप्तैः सम्यग्दृष्टिभिरसौ समो न भवति यतः अतो नैवंविधेन भाव्यम्, अपि त्वक्रोधनेनाकर्कशभाषिणा चोपशान्तयुद्धानुदीरकेण न्याय्यभाषिणाऽङ्गज्ज्ञाप्राप्तेन मध्यस्थेन च भाव्यमिति। एवमनन्तरोद्दिष्टदोषवर्जं सन्नुपपातकारी-आचार्यनिर्देशकारी यथोपदेशं क्रियासु प्रवृत्तः यदिवा 'उपायकारि'ति सूत्रोपदेश-प्रवर्तकः, तथा-ह्रीः लज्जा संयमो मूलोत्तरगुणभेदभिन्नस्तत्र मनो यस्यासौ ह्रीमनाः, यदिवा-अनाचारं कुर्वन्नाचार्यादिभ्यो लज्जते स एवमुच्यते, तथैकान्तेन तत्त्वेषु जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्यासावेकान्तदृष्टिः, पाठान्तरं वा 'एगंतसङ्घि'ति एकान्तेन, श्रद्धावान् मौनीन्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थः चकारः पूर्वोक्तिदोषविपर्यस्तगुणसमुच्चयार्थः, तद्यथा-ज्ञानापलिकुञ्चकोऽक्रोधीत्यादि तावदङ्गज्ज्ञाप्राप्त इति, स्वत एवाह-'अमाइरूवे'ति अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपो-ऽशेषच्छब्दरहित इत्यर्थः, न गुर्वादीन् छद्मनोपचरति नाप्यन्येन केनचित्सार्धं छद्मव्यवहारं विधत्त इति ॥६॥

टीकार्थ - सत्य तत्त्व को न जाननेवाला जो पुरुष लड़ाई झगड़ा करता है, यद्यपि कोई पुरुष प्रत्युपेक्षण आदि क्रियाओं को करता है तथापि वह युद्ध प्रिय होता है तथा जो न्याय को छोड़कर बोलता है अर्थात् बिना विचारे बोलता है अथवा प्रसङ्ग के बिना बोलता है अथवा गुरु आदि पर आक्षेप करता है, वह पुरुष राग और द्वेष से युक्त होने के कारण मध्यस्थ नहीं हो सकता तथा वह कलह रहित अथवा माया रहित नहीं है, अतः साधु को ऐसा नहीं होना चाहिए। किन्तु क्रोध रहित तथा कर्कश वाक्य न बोलनेवाला एवं मिटे हुए कलह को फिर से न जगानेवाला और न्यायपूर्वक बोलनेवाला एवं कलह रहित और मध्यस्थ होकर रहना चाहिए। इस प्रकार पहले बताये हुए दोषों को वर्जित करके जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है अर्थात् गुरु के उपदेश के अनुसार क्रियाओं में प्रवृत्त होता है अथवा शास्त्रोक्त उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करता है तथा मूलगुण और उत्तरगुण के पालन करने में चित्त रखता है अथवा अनाचार करता हुआ गुरु आदि से लज्जित होता है तथा जीवादि तत्त्वों में एकान्त दृष्टि रखता है तथा "एगंत सङ्घि" इस पाठान्तर के अनुसार मौनीन्द्र के कहे हुए मार्ग में पूरी श्रद्धा रखता है एवं पूर्वोक्त दोषों से विपरीत अर्थ का सूचक चकार होने से जो अपने गुरु का नाम छिपाता नहीं है तथा क्रोध नहीं करता है एवं कलह नहीं करता है, वही पुरुष समस्त माया से रहित उत्तम साधु है। वह कपट से गुरु की सेवा नहीं करता है और दूसरे किसी के साथ भी वह कपट के साथ कोई व्यवहार नहीं करता है ॥६॥



- पुनरपि सदगुणोत्कीर्तनायाह -

- फिर श्री शास्त्रकार सदगुणों को बताने के लिए कहते हैं -

से पेसले सुहुमे पुरिसजाए, जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे ।

बहुंपि अणुसासिए जे तहच्चा, समे हु से होइ अङ्गज्ज्ञपत्ते

॥७॥

छाया - स पेशलः सूक्ष्मः पुरुषजातः जात्यन्वितश्चैव सूक्ष्मजातः ।

बहुष्यनुशास्यमानो यस्तथार्चः समः स भवत्यङ्गज्ज्ञाप्राप्तः ॥

अन्वयार्थ - (बहुंपि अणुसासिए जे तहच्चा) भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा शासन किया हुआ जो पुरुष अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है (से पेसले सुहुमे पुरिसजाए) वही पुरुष विनयादि गुणों से युक्त है तथा वही सूक्ष्म अर्थ को देखनेवाला है और वही पुरुषार्थ करनेवाला है। (जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे) तथा वही उत्तम जातिवाला और संयम को पालन करनेवाला है (से समे हु अङ्गज्ज्ञपत्ते होइ) तथा वही समभाव और अमाया को प्राप्त है।

भावार्थ - किसी विषय में प्रमादवश भूल हो जाने के कारण जो गुरु आदि के द्वारा शिक्षा दिया हुआ चित्तवृत्ति को पवित्र रखता है अर्थात् क्रोध न करता हुआ फिर शुद्ध संयमपालन में प्रवृत्त हो जाता है, वही विनयादि गुणों से युक्त है तथा वही सूक्ष्म अर्थ को देखनेवाला और पुरुषार्थ करनेवाला है एवं वही जातिसम्पन्न और संयम को पालनेवाला है। वह पुरुष वीतराग पुरुषों के समान मानने योग्य है।

टीका - यो हि कटुसंसारोद्विग्रः क्वचित्प्रमादस्खलिते सत्याचार्यादिना बहुपि 'अनुशास्यमानः' चोद्यमानस्तथैव-सन्मार्गानुसारिण्यर्चा लेश्या चित्तवृत्तिर्यस्य स भवति तथार्चः, यश्च शिक्षां ग्राह्यमाणोऽपि तथार्चो भवति स 'पेशलोः

मिष्टवाक्यो विनयादिगुणसमन्वितः 'सूक्ष्मः' सूक्ष्मदर्शित्वात्सूक्ष्मभाषि (वि) त्वाद्वा सूक्ष्मः 'स एव पुरुषजातः' स एव परमार्थतः पुरुषार्थकारी नापरो योऽनायुधतपस्विजनपराजितेनापि क्रोधेन जीयते, तथाऽसावेव 'जात्यन्वितः' सुकुलोत्पन्नः सच्छीलान्वितो हि कुलीन इत्युच्यते, न सुकुलोत्पत्तिमात्रेण, तथा स एव सुष्ठु-अतिशयेन ऋजुः-संयमस्तत्करणशीलः-ऋजुकरः, यदिवा 'उज्जुचारे' ति यथोपदेशं यः प्रवर्तते न तु पुनर्वक्रतयाऽचार्यादिवचनं विलोमयति-प्रतिकूलयति, यश्च तथार्चः पेशलः सूक्ष्मभाषी जात्यादिगुणान्वितः क्वचिद्वक्रः 'समो' मध्यस्थो निन्दायां पूजायां च न रुष्यति नापि तुष्यति तथा अज्ञंज्ञा-अक्रोधोऽमाया वा तां प्राप्तोऽज्ञंज्ञाप्राप्तैः, यदिवाऽज्ञंज्ञाप्राप्तैः-वीतरागैः 'समः' तुल्यो भवतीति ॥७॥

टीकार्थ - जो पुरुष दुःखरूप संसार से घबरा गया है और प्रमादवश किसी विषय में भूल होने पर गुरु के द्वारा बहुत शिक्षा देने पर भी पूर्ववत् ही सन्मार्ग में चित्तवृत्ति रखनेवाला है अर्थात् जो गुरु की शिक्षा पाकर पूर्ववत् ही अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है, वह पुरुष मीठा बोलनेवाला और विनय आदि गुणों से युक्त है तथा सूक्ष्म अर्थ को देखनेवाला अथवा सूक्ष्म अर्थ को कहनेवाला होने के कारण वह सूक्ष्म है एवं वही वस्तुतः पुरुषार्थ करनेवाला है परन्तु जो पुरुष शस्त्र रहित तपस्वियों से भी हारे हुए क्रोध के द्वारा जीत लिया जाता है, वह पुरुषार्थ करनेवाला नहीं है । तथा वही पुरुष उत्तम कुल में उत्पन्न है क्योंकि जिसका शील अच्छा है, वही कुलीन कहा जाता है, परन्तु उत्तम कुल में उत्पन्न होने मात्र से कुलीन नहीं कहा जाता । एवं वही पुरुष संयम को पालन करनेवाला है । अथवा इस गाथा की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए - जो पुरुष गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करता है परन्तु वक्रता से गुरु के वचन का खण्डन नहीं करता है तथा अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है और सूक्ष्म अर्थ को कहता है एवं जाति आदि गुणों से युक्ते है तथा किसी विषय में कभी कपट नहीं करता है एवं अपनी निन्दा सुनकर क्रोधित और प्रशंसा सुनकर हर्षित नहीं होता है किन्तु निन्दा और पूजा दोनों ही में सम होकर रहता है, वही पुरुष क्रोध रहित है तथा वही माया वर्जित है अथवा वही पुरुष वीतराग पुरुषों के समान है ॥७॥



- प्रायस्तपस्विनां ज्ञानतपोऽवलेपो भवतीत्यतस्तमधिकृत्याह -

- प्रायः तपस्वियों को ज्ञान और तप का गर्व होता है, इसलिए शास्त्रकार इस विषय को लेकर उपदेश करते हैं -

जे आवि अप्यं वसुमंति मत्ता, संखायवायं अपरिक्ख कुज्जा ।

तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता, अण्णं जणं पस्सति बिम्बभूयं

॥८॥

छाया - यश्चाऽप्यात्मानं वसुमन्तं मत्त्वा, संख्यावन्तं वादमपरीक्ष्य कुर्यात् ।

तपसावाहं सहित इति मत्त्वाऽव्यं जणं पश्यति बिम्बभूतम् ॥

अन्वयार्थ - (जे आवि अप्यं वसुमंति संखाय मत्ता) जो अपने को संयमी और ज्ञानी मानकर (अपरिक्ख वायं कुज्जा) बिना परीक्षा किये अपनी बड़ाई करता है (तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता) तथा मैं बड़ा तपस्वी हूँ यह मानकर (अण्णं जणं बिम्बभूयं पस्सति) दूसरे जन को जल में पड़ी हुई चन्द्रमा की छाया के समान निरर्थक देखता है ।

भावार्थ - जो अपने को संयमी ज्ञानवान् और तपस्वी मानता हुआ अपनी बड़ाई करता है और दूसरे को जल में पड़े हुए चन्द्र बिम्ब के समान निरर्थक देखता है वह अभिमानी जीव अविवेकी है ।

टीका - यश्चापि कश्चिल्लघुप्रकृतिरल्पतयाऽऽत्मानं वसु-द्रव्यं तच्च परमार्थचिन्तायां संयमस्तद्वन्तमात्मानं मत्त्वाऽहमेवात्र संयमवान् मूलोत्तरगुणानां सम्यग्विधायी नापरः कश्चिन्मत्तुल्योऽस्तीति, तथा संख्यायन्ते-परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्था येन तज्ज्ञानं सङ्ख्येत्युच्यते तद्वन्तमात्मानं मत्त्वा तथा सम्यक्-परमार्थमपरीक्ष्यात्मोत्कर्षवादं कुर्यात् तथा तपसा-द्वादशभेदभिन्नेनाहमेवात्र सहितो युक्तो न मत्तुल्यो विकृष्टतपोनिष्ठपदेहोऽस्तीत्येवं मत्त्वाऽऽत्मोत्कर्षाभिमानाति 'अन्यं जनं' साधुलोकं गृहस्थलोकं वा 'बिम्बभूतं' जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं कूटकार्षापणवद्वा लिङ्गमात्रधारिणं पुरुषाकृतिमात्रं

वा 'पश्यति' अवमन्यते । तदेवं यद्यन्मदस्थानं जात्यादिकं तत्तदात्मन्येवारोप्यापरमवधूतं पश्यतीति ॥८॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो हल्की प्रकृतिवाला पुरुष अपनी तुच्छता के कारण अपने को वसुमान् मानता है, वसुनाम द्रव्य का है, वह परमार्थतः संयम है इसलिए वह अपने को संयमी मानता है और समझता है कि मूल और उत्तम गुणों को अच्छी तरह पालन करनेवाला मैं ही हूँ, मेरे समान दूसरा कोई संयमी नहीं है तथा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का निश्चय किया जाता है, उसे संख्या कहते हैं, वह ज्ञान है, उससे युक्त भी अपने को ही मानता हुआ तथा सच्ची बात की परीक्षा किये बिना ही अपनी बड़ाई करता है तथा यह भी समझता है कि - "बारह प्रकार की तपस्या से युक्त मैं ही हूँ, मेरे समान दूसरा कोई उत्कृष्ट तप से शरीर को तपाया हुआ नहीं है ।" एवं ऐसा मानकर जो अपने उत्कर्ष का अभिमान रखता हुआ दूसरे साधु अथवा गृहस्थ लोगों को जल चन्द्र की तरह तथा नकली सिक्के की तरह अर्थ रहित केवल लिङ्ग मात्र को धारण करनेवाला अथवा पुरुष के आकार मात्र देखता है तथा जो-जो जाति आदि मद के स्थान हैं, उन सबों को अपने में ही आरोप करके दूसरे को तिरस्कार दृष्टि से देखता है ॥८॥



एगंतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जती मोणपयंसि गोत्ते ।

जे माणणट्टेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे

॥९॥

छाया - एकान्तकूटेन तु स पर्व्येति, न विद्यते मौनपदे गोत्रे ।

यो मननार्थेन व्युत्कर्षयेत् वसुमदव्यतरेणाबुध्यमानः ॥

अन्वयार्थ - (से एगंतकूडेण पलेइ) पूर्वोक्त अहङ्कारी साधु एकान्तरूप से मोह में फँसकर संसार में भ्रमण करता है । (मोणपयंसि गोत्ते ण विज्जति) तथा वह समस्त आगमों के आधाररूप सर्वज्ञ के मत में नहीं है । (जे माणणट्टेण विउक्कसेज्जा) तथा जो मानपूजा आदि को पाकर मद करता है, वह भी सर्वज्ञ के मार्ग का अनुगामी नहीं है । (वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे) तथा वह संयमी होकर भी ज्ञान आदि का मद करता हुआ परमार्थ को नहीं जानता है ।

भावार्थ - अहङ्कारी पुरुष एकान्त मोह में पड़कर संसार में भ्रमण करता है तथा वह सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग का अनुगामी भी नहीं है एवं जो मानपूजा की प्राप्ति से अभिमान करता है तथा संयम लेकर भी ज्ञान आदि का मद करता है, वह वस्तुतः मूर्ख है, पण्डित नहीं है ।

टीका - कूटवत्कूटं यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवशः सन्नेकान्तदुःखभागभवति एवं भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ततोऽसौ संसारचक्रवालं पर्येति तत्र वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते-अनेकप्रकारं संसार बन्धमीति, तुशब्दात्कामादिना वा मोहेन मोहितो बहुवेदने संसारे प्रलीयते, यश्चैवंभूतोऽसौ 'न विद्यते' न कदाचन संभवति मुनीनामिदं मौनं तच्च तत्पदं च मौनपदं-संयमस्तत्र मौनीन्द्रे वा पदे-सर्वज्ञप्रणीतमार्गे नासौ विद्यते, सर्वज्ञमतमेव विशिनष्टि-गां-वाचं त्रायते-अर्थाविसंवादनतः पालयतीति गोत्रं तस्मिन् समस्तागमाधारभूत इत्यर्थः, उच्चैर्गोत्रे वा वर्तमानस्तदभिमानग्रहग्रस्तो मौनीन्द्रपदे न वर्तते, यश्च माननं-पूजनं सत्कारस्तेनार्थः-प्रयोजनं तेन माननार्थेन विविधमुत्कर्षयेदात्मानं, यो हि माननार्थेन-लाभपूजासत्कारादिना मदं कुर्यान्नासौ सर्वज्ञपदे विद्यत इति पूर्वोक्त संबन्धः, तथा वसु-द्रव्यं तच्चेह संयमस्तमादाय तथाऽन्यतरेण ज्ञानादिना मदस्थानेन परमार्थमबुध्यमानो माद्यति पठन्नपि सर्वशास्त्राणि तदर्थं चावगच्छ-न्नपि नासौ सर्वज्ञमतं परमार्थतो जानातीति ॥९॥

टीकार्थ - जो कूट यानी पाशबन्धन के तुल्य है, उसे कूट कहते हैं । जैसे मृग आदि पशु पाशबन्धन से बँधकर परवश हो जाता है और एकान्त दुःख का भाजन होता है, इसी तरह पूर्वोक्त अभिमानी साधु भी स्नेहरूप भावकूट में फँसकर संसार में भ्रमण करता है अथवा वह संसार में लीन हो जाता है, वह अनेक प्रकार से बार-बार संसार में भ्रमण करता है । तु शब्द से यह बताया जाता है कि- वह काम आदि से अथवा मोह से मोहित होकर बहुत वेदनावाले संसार में लीन होता है । जो पुरुष पूर्वोक्तरूप से अभिमानी है, वह संयम में या सर्वज्ञ

प्रणीत मार्ग में स्थित नहीं हैं। अब सर्वज्ञ मत का विशेषण बताते हैं - जो सत्य अर्थ को बताकर वाणी की रक्षा करता है, उसे गोत्र कहते हैं। वह सर्वज्ञमत गोत्र है यानी वह समस्त आगमों का आधारभूत है। अथवा जो उच्च गोत्र में उत्पन्न होकर उसका अभिमान करता है, वह सर्वज्ञ के मार्ग में स्थित नहीं है। तथा जो पुरुष मान यानी पूजा सत्कार पाकर खूब गर्व करता है, वह भी सर्वज्ञ के मार्ग में स्थित नहीं है। एवं जो पुरुष संयम लेकर भी ज्ञान आदि मदस्थानों का मद करता है, वह परमार्थ को नहीं जानता है, वह सब शास्त्रों को पढ़कर तथा उसका अर्थ समझकर भी वस्तुतः सर्वज्ञ मत को नहीं जानता ॥१॥



- सर्वेषां मदस्थानानामुत्पत्तेरारभ्य जातिमदो बाह्यनिमित्तनिरपेक्षो यतो भवत्यस्तमधिकृत्याह -

- मद के जितने स्थान हैं, सभी में जातिमद प्रधान है क्योंकि वह जन्म लेनेमात्र से होता है और दूसरे किसी बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं करता है, इसलिए शास्त्रकार उसी के विषय में उपदेश करते हैं -

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।

जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थम्भति (थंभभि) माणबद्धे

॥१०॥

छाया - यो ब्राह्मणः क्षत्रियजातको वा, तथोग्रपुत्रस्तथा लेच्छको वा ।

यः प्रव्रजितः परदत्तभोजी गोत्रे न यः स्तम्भात्यभिमानबद्धे ॥

अन्वयार्थ - (जे माहणो) जो ब्राह्मण है (खत्तियजायए वा) तथा जो क्षत्रियजाति है (तहुग्गपुत्ते) तथा जो उग्र पुत्र है (तह लेच्छई वा) एवं जो लेच्छक यानी क्षत्रिय विशेष है (जे पव्वईए परदत्तभोई) जो दीक्षा लेकर दूसरे का दिया हुआ आहार खाता है (जे माणबद्धे गोत्ते ण थम्भति) जो अभिमानयुक्त होकर गोत्र का गर्व नहीं करता है। (वही सच्चा साधु है।)

भावार्थ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र अथवा म्लेच्छ क्षत्रियों की विशेष जातिवाला जो पुरुष दीक्षा लेकर दूसरे का दिया हुआ आहार खाता है और अपने उच्च गोत्र का अभिमान नहीं करता है, वही पुरुष सर्वज्ञ के मार्ग का अनुगामी है।

टीका - यो हि जात्या ब्राह्मणो भवति क्षत्रियो वा-इक्ष्वाकुवंशादिकः, तद्भेदमेव दर्शयति-'उग्रपुत्रः' क्षत्रियविशेष-जातीयः तथा 'लेच्छई'ति क्षत्रियविशेष एव, तदेवमादिविशिष्टकुलोद्भूतो यथावस्थितसंसारस्वभाववेदितया यः 'प्रव्रजितः' त्यक्तराज्यादिगृहपाशबन्धनः परैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी-सम्यक्संयमानुष्ठायी 'गोत्रे' उच्चैर्गोत्रे हरिवंश-स्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव 'स्तम्भं' गर्वमुपयायादिति, किंभूते गोत्रे ? - 'अभिमानबद्धे' अभिमानास्पदे इति, एतदुक्तं भवति-विशिष्टजातीयतया सर्वलोकाभिमान्योऽपि प्रव्रजितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगृहाण्यटन् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् ?, नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः ॥१०॥

टीकार्थ - जो पुरुष ब्राह्मण जाति में उत्पन्न है अथवा इक्ष्वाकु वंश आदि क्षत्रिय जाति में जन्मा है तथा जो उग्र नामक क्षत्रिय विशेष जाति में पैदा हुआ है एवं जो म्लेच्छ नामक क्षत्रियों की विशेष जाति में जन्म लिया है, इस प्रकार विशिष्ट जाति में उत्पन्न होकर जो संसार के यथार्थ स्वभाव को जानकर राज्य आदि पाशबन्धन को छोड़कर दीक्षाधारी हो गया है और दूसरे का दिया हुआ आहार आदि भोगता है, वह शुद्ध संयम को पालन करनेवाला पुरुष हरिवंश के समान उच्चकुल में उत्पन्न होकर भी अभिमान के स्थान रूप गोत्र का मद न करे। आशय यह है कि- जो पुरुष विशिष्ट कुल में उत्पन्न होने के कारण सब लोगों का माननीय है, वह दीक्षा लेकर भिक्षा के लिए दूसरे के घरों में जाता हुआ किस प्रकार हास्य के स्थान रूप गर्व कर सकता है ? उसे कदापि गर्व न करना चाहिए यह तात्पर्यार्थ है ॥१०॥



- न चासौ मानः क्रियमाणो गुणायेति दर्शयितुमाह -

- जाति आदि का मान करना किसी गुण के लिए नहीं होता है यह शास्त्रकार बताते हैं -

न तस्स जाई व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।

णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए

॥११॥

छाया - न तस्य जातिश्च कुलं न त्राणं, नाऽव्यत्र विद्याचरणं सुचीर्णम् ।

निष्क्रम्य स सेवतेऽगारिकर्म, न स पारगो भवति विमोचनाय ॥

अन्वयार्थ - (तस्स जाई व कुलं व ताणं न) जाति आदि का मद करनेवाले पुरुष की जाति या कुल उसकी रक्षा नहीं करता है (णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं) अच्छी तरह सेवन किया हुआ ज्ञान और चारित्र के सिवाय कोई भी पदार्थ जीव की रक्षा करने में समर्थ नहीं है । (णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं) जो प्रव्रज्या लेकर भी फिर गृहस्थ कर्म का सेवन करता है (से विमोयणाए ण पारए होइ) वह अपने कर्मों को क्षपण करने के लिए समर्थ नहीं होता है ।

भावार्थ - जाति और कुल मनुष्य को दुर्गति से नहीं बचा सकते । वस्तुतः अच्छी तरह सेवन किये हुए ज्ञान और चारित्र के सिवाय दूसरी कोई वस्तु भी मनुष्य को दुःख से नहीं बचाती है । जो मनुष्य प्रव्रज्या लेकर भी फिर गृहस्थ के कर्मों को सेवन करता है, वह अपने कर्मों को क्षपण करने में समर्थ नहीं होता है ।

टीका - न हि 'तस्य' लघुप्रकृतेरभिमानोद्धरस्य जातिमदः कुलमदो वा क्रियमाणः संसारे पर्यटतस्त्राणं भवति, न ह्यभिमानो जात्यादिक ऐहिकामुष्मिकगुणयोरुपकारीति, इह च मातृसमुत्था जातिः पितृसमुत्थं कुलम्, एतच्चोप-लक्षणम्, अन्यदपि मदस्थानं न संसारत्राणायेति, यत्पुनः संसारोत्तारकत्वेन त्राणसमर्थं तद्दर्शयति-ज्ञानं च चरणं च ज्ञानचरणं तस्मादन्यत्र संसारोत्तारणत्राणाशा न विद्यते, एतच्च सम्यक्त्वोपबृंहितं सत् सुष्ठु चीर्णं सुचीर्णं संसारादुत्तारयति, 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' इति वचनात्, एवंभूते सत्यपि मोक्षमार्गे 'निष्क्रम्यापि' प्रव्रज्यां गृहीत्वापि कश्चिदपुष्टधर्मा संसारोन्मुखः 'सेवते' अनुतिष्ठत्यभ्यस्यति पौनःपुन्येन विधत्ते अगारिणां-गृहस्थानामङ्गं-कारणं जात्यादिकं मदस्थानं, पाठान्तरं वा 'अगारिकम्मं'ति अगारिणां कर्म अनुष्ठानं सावद्यमारम्भं जातिमदादिकं वा सेवते, न चासावगारिकर्मणां सेवकोऽशेषकर्ममोचनाय पारगो भवति, निःशेषकर्मक्षयकारी न भवतीति भावः । देशमोचना तु प्रायशः सर्वेषामेवासुमतां प्रतिक्षणमुपजायत इति ॥११॥

टीकार्थ - जो तुच्छ प्रकृतिवाला पुरुष अभिमान से उद्धत होता है, उसका जाति मद या कुल मद संसार में भ्रमण करने से रक्षा नहीं करते हैं । जाति आदि का अभिमान इस लोक में या परलोक में कोई उपकार नहीं करता है । यहाँ माता से उत्पन्न होनेवाली जाति है और पिता से उत्पन्न कुल है । यह जाति और कुल उपलक्षण हैं, इसलिए दूसरे भी मद के स्थान संसार से रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं, यह जानना चाहिए । संसार से रक्षा करने में जो वस्तु समर्थ है, उसे शास्त्रकार दिखाते हैं - ज्ञान और चारित्र संसार से रक्षा करते हैं, इनसे भिन्न किसी दूसरी वस्तु से संसार के पार करने की आशा नहीं है । ज्ञान और चारित्र, सम्यक्त्व से युक्त होकर अच्छी तरह सेवन किये हुए संसार से पार करते हैं, क्योंकि ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है, यह वचन है । ऐसा होने पर भी कोई धर्महीन और संसार भ्रमण करने में तत्पर पुरुष दीक्षा लेकर भी गृहस्थों के कार्य जाति आदि मदों को लेकर बार-बार अभिमान करते हैं । अथवा पाठान्तर के अनुसार वे सावद्य कर्म का अनुष्ठान अथवा जातिमद आदि का सेवन करनेवाला पुरुष अपने समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए समर्थ नहीं होता है । देश से कर्मों का क्षय तो प्रायः सभी प्राणियों को प्रतिक्षण होता रहता है ॥११॥



- पुनरप्यभिमानदोषाविर्भावनायाह -

- फिर शास्त्रकार अभिमान के दोष को बताने के लिए कहते हैं -

णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सलोगगामी ।

आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुर्वेति

॥१२॥

छाया - निष्किञ्चनो भिक्षुः सुरूक्षजीवी यो गौरवो भवति श्लोककामी ।

आजीवमेतत्त्वषुध्यमानः पुनः पुनो विपर्यासमुपैति ॥

अन्वयार्थ - (जे भिक्षू निष्किञ्चने) जो निष्किञ्चन यानी पैसा आदि नहीं रखता है और भीख से पेट भरता है (सुरूक्षजीवी) जो सूखा आहार खाकर जीता है (जे गारवं सलोगगामी होइ) परन्तु वह यदि अभिमान करता है अथवा अपनी स्तुति की इच्छा रखता है (आजीव-मेयं तु अबुज्जमानो) तो उसके ये गुण उसकी जीविका के साधन हैं और वह अज्ञानी है (पुनो पुनो विपरियासुपैति) वह बार-बार संसार में जन्म-मरण आदि दुःखों को भोगता है ।

भावार्थ - जो पुरुष द्रव्य आदि न रखता हुआ भिक्षा से पेट भरता है और रूखा-सूखा आहार खाकर जीता है परन्तु वह यदि अभिमान करता है और अपनी स्तुति की इच्छा करता है तो उसके ये पूर्वोक्त गुण उसकी जीविका के साधन हैं और वह अज्ञानी बार-बार जन्म, जरा और मरण आदि दुःखों को भोगता है ।

टीका - बाह्योनार्थेन निष्किञ्चनोऽपि भिक्षुः-परदत्तभोजी तथा सुष्ठु रूक्षम्-अन्तप्राप्तं वल्लचणकादि तेन जीवितुं-प्राणधारणं कर्तुं शीलमस्य स सुरूक्षजीवी, एवंभूतोऽपि यः कश्चिद्गौरवप्रियो भवति तथा 'श्लोककामी' आत्मश्लाघाभिलाषी भवति, स चैवंभूतः परमार्थमबुध्यमान एतदेवाकिञ्चनत्वं सुरूक्षजीवित्वं वाऽऽत्मश्लाघातत्परतया आजीवम्-आजीविकामात्मवर्तनोपायं कुर्वाणः पुनः पुनः संसारकान्तारे विपर्यासं-जातिजरामरणरोगशोकोपद्रवमुपैति-गच्छति, तदुत्तरणायाभ्युद्यतो वा तत्रैव निमज्जतीत्ययं विपर्यास इति ॥१२॥

टीकार्थ - जो पुरुष बाह्य पदार्थ कुछ भी नहीं रखता है और भिक्षा से उदर पोषण करता है, वह दूसरे का दिया हुआ आहार खाता है तथा रूखा-सूखा चना आदि तथा अन्तप्राप्त आहार खाकर प्राणधारण करता है, वह यदि अभिमान करता है तथा अपनी स्तुति की इच्छा करता है, तो वह परमार्थ को नहीं समझता है । क्योंकि-अपनी स्तुति की इच्छा करने के कारण यही उसका निष्किञ्चन होना और रूखा-सूखा आहार खाकर रहना उसकी जीविका के साधन हो जाते हैं, इसलिए वह पुरुष इस संसाररूपी गहन वन में बार-बार जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक आदि उपद्रवों को प्राप्त करता है । वह संसार को पार करने के लिए तत्पर होकर भी उसी में डूब जाता है, यह उल्टी बात होती है ॥१२॥



- यस्मादमी दोषाः समाधिमाख्यातमसेवमानानामाचार्यपरिभाषिणां वा तस्मादमीभिः शिष्यगुणैर्भाव्यमित्याह-

- जिस कारण से उपर्युक्त दोष, समाधि में कहे हुए को नहीं सेवनेवाले अथवा आचार्य के सामने बोलने वाले के होते हैं, इसलिए नीचे कहे हुए गुणों से युक्त शिष्य को होना चाहिए, वे गुण कहते हैं -

जे भासवं भिक्खू सुसाहुवादी, पडिहाणवं होइ विसारए य ।

आगाढपण्णे सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा

॥१३॥

छाया - यो भाषावान् भिक्षुः सुसाधुवादी, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।

आगाढप्रहः सुविभावितात्माऽन्यज्जं प्रहयाऽभिभवेत् ॥

अन्वयार्थ - (जे भिक्षू भासवं सुसाधुवादी) जो साधु अच्छी तरह भाषा को जाननेवाला और मधुरभाषी है (पडिहाणवं विसारए य होइ) तथा अच्छी प्रतिभावाला और विशारद यानी बहुत प्रकार का अर्थ कहने में समर्थ है (आगाढपण्णे) तथा सच्चे तत्त्व में जिसकी बुद्धि प्रवेश की हुई है (सुविभावियप्पा) एवं धर्म की वासना से जिसका हृदय वासित है, वही साधु है । परन्तु जो (अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा) इन्हीं गुणों का अभिमान रखकर दूसरे का तिरस्कार करता है, वह साधु नहीं है ।

भावार्थ - जो साधु अच्छी तरह भाषा के गुण और दोषों को जानता है तथा मधुरभाषी बुद्धिमान् और शास्त्र के अर्थ करने में तथा श्रोता के अभिप्राय जानने में निपुण है एवं सत्य तत्त्व में जिसकी बुद्धि प्रवेश की हुई है और हृदय धर्म की वासना से वासित है, वही सच्चा साधु है । परन्तु इतने गुणों से युक्त होकर भी जो इन गुणों के मद से दूसरे पुरुष का तिरस्कार करता है, वह विवेकी नहीं है ।

टीका - भाषागुणदोषज्ञतया शोभनभाषायुक्तो भाषावान् 'भिक्षुः' साधुः, तथा सुष्ठु साधु-शोभनं हितं मितं

प्रियं वदितुं शीलमस्येत्यसौ सुसाधुवादी, क्षीरमध्वाश्रववादीत्यर्थः तथा प्रतिभा प्रतिभानम्-औत्पत्तिक्यादिबुद्धिगुणसम-
न्वितत्वेनोत्पन्नप्रतिभत्वं तत्प्रतिभानं विद्यते यस्यासौ प्रतिभानवान्-अपरेणाक्षिप्तस्तदनन्तरमेवोत्तरदानसमर्थः यदिवा धर्मकथावसरे
कोऽयं पुरुषः कं च देवताविशेषं प्रणतः कतरद्वा दर्शनमाश्रित इत्येवमासन्नप्रतिभतया (ऽवेत्य) यथायोगमाचष्टे, तथा
'विशारदः' अर्थग्रहणसमर्थो बहुप्रकारार्थकथनसमर्थो वा, चशब्दाच्च श्रोत्रभिप्रायज्ञः, तथा आगाढा-अवगाढा परमार्थपर्यवसिता
तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा-बुद्धिर्यस्यासावागाढप्रज्ञः, तथा सुष्ठु विविधं भावितो-धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा,
तदेवमेभिः सत्यभाषादिभिर्गुणैः शोभनः साधुर्भवति, यश्चैभिरेव निर्जराहेतु-भूतैरपि मदं कुर्यात्, तद्यथा-अहमेव
भाषाविधिज्ञस्तथा साधुवाद्यहमेव च न मत्तुल्यः प्रतिभानवानस्ति नापि च मत्समानो-ऽलौकिकः लोकोत्तर-
शास्त्रार्थविशारदोऽवगाढप्रज्ञः सुभावितात्मेति च, एवमात्मोत्कर्षवानन्यं जनं स्वकीयया प्रज्ञया 'परिभवेत्' अवमन्येत,
तथाहि-किमनेन वाक्कुण्ठेन दुर्दुरूढेन कुण्डिकाकार्पासकल्पेन खसूचिना कार्यमस्ति? क्वचित्सभायां धर्मकथावसरे
वेति, एवमात्मोत्कर्षवान् भवति, तथा चोक्तम्-

“अन्यैः स्वेच्छाचिदानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय । कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥१॥”
इत्यादि ॥१३॥

टीकार्थ - भाषा के गुण और दोषों को जानने के कारण जो पुरुष अच्छी भाषा से युक्त है तथा सुन्दर
हितकारक परिमित और मिष्ट भाषण करता है अर्थात् दूध और मधु की तरह मिष्ट बोलता है तथा औत्पातिकी
आदि बुद्धि से जो युक्त है अर्थात् जो दूसरे से किये हुए आक्षेप का झटपट उत्तर देता है अथवा जो धर्मकथा
कहने के समय “यह पुरुष कौन है ? यह किस देवता का उपासक है और किस दर्शन को माननेवाला है ।”
इत्यादि बातों को अपनी चमत्कारवाली बुद्धि से जानकर यथायोग्य उपदेश करता है तथा जो पदार्थों को समझने
में समर्थ है अथवा जो बहुत प्रकार से शास्त्र की व्याख्या करने में प्रवीण है और च शब्द से जो श्रोता के अभिप्राय
को जानने में निपुण है एवं सत्य तत्त्व में जिसकी बुद्धि गड़ी हुई है तथा धर्म की वासना से जिसका हृदय वासित
है, वह पुरुष इन गुणों के कारण उत्तम साधु है । परन्तु जो पुरुष निर्जरा के कारणरूप इन्हीं गुणों के कारण अभिमान
करता है, जैसे कि- “मैं ही भाषा की विधि को जानता हूँ तथा मैं ही अच्छा वक्ता हूँ एवं मेरे समान कोई
प्रतिभावाला नहीं है तथा मेरे समान लोकोत्तर शास्त्र के अर्थ करने में कोई प्रवीण नहीं है तथा मेरी ही बुद्धि सत्य
तत्त्व में प्रविष्ट है और मेरे समान किसी का भी मन धर्म की वासना से वासित नहीं है ।” इस प्रकार अभिमान
करता हुआ जो अपनी बुद्धि के मद से दूसरे का अपमान करता है, जैसे कि - वह समझता है कि- किसी सभा
में अथवा धर्मकथा के समय इस कुण्ठितवाणी वाले दुर्दुरूट (मूर्ख) घड़े में भरे हुए कपास के समान सार रहित
तथा आकाश को देखनेवाले पुरुष की क्या आवश्यकता है । इस प्रकार वह अपने को श्रेष्ठ मानता है अत एव
कहा है कि-

दूसरों के द्वारा इच्छानुसार बनाये हुए थोड़े विषयों को परिश्रम से जानकर अभिमानी पुरुष समझता है कि
सब शास्त्र इतना ही है और अभिमान से दूसरे के अङ्गों को खाता है ॥१३॥



- साम्प्रतमेतद्दोषाभिधित्सयाऽऽह -

- अब शास्त्रकार पूर्वोक्त दोष का फल बताते हैं -

एवं ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खू विउक्कसेज्जा ।

अहवाऽवि जे लाभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने

॥१४॥

छाया - एवं न स भवति समाधिप्राप्तः, यः प्रज्ञावान् भिक्षुर्व्युत्कर्षेत् ।

अथवाऽपि यो लाभमदावलितः अन्यं जनं निन्दति बालप्रज्ञः ॥

अन्वयार्थ - (जे पन्नवं भिक्खू विउक्कसेज्जा) जो साधु बुद्धिमान होकर गर्व करता है (अहवावि जे लाभमयावलित्ते) अथवा जो अपने लाभ के मद से मत्त होकर (अन्नं जणं खिसति) दूसरे जनकी निन्दा करता है (से बालपन्ने समाहिपत्ते ण होइ) वह मूर्ख समाधि को प्राप्त नहीं करता है ।

भावार्थ - जो साधु बुद्धिमान् होकर भी अपनी बुद्धि का गर्व करता है अथवा जो लाभ के मद से मत्त होकर दूसरे की निन्दा करता है, वह मूर्ख समाधि को प्राप्त नहीं करता है ।

टीका - 'एवम्' अनन्तरोक्तया प्रक्रियया परपरिभवपुरःसरमात्मोत्कर्षं कुर्वन्नशेषशास्त्रार्थविशारदोऽपि तत्त्वार्था-वगाढप्रज्ञोऽप्यसौ 'समाधि' मोक्षमार्गं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं धर्मध्यानाख्यं वा न प्राप्तो भवति, उपर्येवासौ परमार्थोदन्वतः प्लवते, क एवंभूतो भवतीति दर्शयति-यो ह्यविदितपरमार्थतयाऽऽत्मानं सच्छेमुषीकं मन्यमानः स्वप्रज्ञया भिक्षुः 'उत्कर्षेद्' गर्वं कुर्यात्, नासौ समाधिं प्राप्तो भवतीति प्राक्तनेन संबन्धः, अन्यदपि मदस्थानमुद्धृत्यति- 'अथवे'ति पक्षान्तरे, यो ह्यल्पान्तरायो लब्धिमानात्मकृते परस्मै चोपकरणादिकमुत्पादयितुमलं स लघुप्रकृतितया लाभमदावलितो भवति, तदवलितश्च समाधिमप्राप्तो भवति, स चैवंभूतोऽन्यं जनं कर्मोदयादलब्धिमन्तं 'खिसइ'ति निन्दति परिभवति, वक्ति च- न मत्तुल्यः सर्वसाधारणशय्यासंस्तारकाद्युपकरणोत्पादको विद्यते, किमन्यैः स्वोदरभरणव्यग्रतया काकप्रायैः कृत्यमस्तीत्येवं 'बालप्रज्ञो' मूर्खप्रायोऽपरजनापवादं विदध्यादिति ॥१४॥

टीकार्थ - जो पुरुष पूर्वोक्त रीति से दूसरे का तिरस्कार करके अपनी बड़ाई करता है, वह समस्त शास्त्रों के अर्थ ज्ञान में निपुण तथा तत्त्व अर्थ में निष्ठित बुद्धिवाला होकर भी ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मोक्ष मार्ग को अथवा धर्मध्यान को प्राप्त नहीं करता है । वह परमार्थरूपी सागर के ऊपर ऊपर तैरता है परन्तु अन्दर में प्रविष्ट नहीं है । वह पुरुष कौन है ? सो शास्त्रकार दिखाते हैं- जो पुरुष परमार्थ (सत्यतत्त्व) को न जानता हुआ भी अपने को उत्तम बुद्धि सम्पन्न मानकर अपनी बुद्धि का गर्व करता है, वह समाधि को प्राप्त नहीं करता है, यह पहली गाथा से सम्बन्ध मिला लेना चाहिए । अब शास्त्रकार दूसरे मद का स्थान बताते हैं- 'अथवा' शब्द पक्षान्तर यानी दूसरे पक्ष के अर्थ में आया है । जिस पुरुष का लाभान्तराय कर्म है और लाभवाला है, वह अपने तथा दूसरे के लिए उपकरण आदि उत्पन्न करने में समर्थ होता है परन्तु वह यदि हल्की प्रकृति का हो तो वह अपने लाभ का गर्व करता है, इस प्रकार वह मद के कारण समाधि को प्राप्त कर नहीं सकता । वह पुरुष, कर्म के उदय से जिसको लाभ नहीं होता है, ऐसे दूसरे पुरुष की निन्दा करता है तथा उसका अनादर करता है । वह कहता है कि- मेरे समान सब के लिए शय्या और संधारा आदि को उत्पन्न करनेवाला कोई भी नहीं है, दूसरे तो कौए की तरह अपना ही पेट भरने में व्यग्र रहते हैं, अतः इनकी क्या आवश्यकता है ? । इस प्रकार मूर्ख पुरुष दूसरे का तिरस्कार करता है ॥१४॥



- तदेवं प्रज्ञामदावलेपादन्यस्मिन् जने निन्द्यमाने बालसदृशैर्भूयते यतोऽतः प्रज्ञामदो न विधेयो, न केवलमयमेव न विधेयः अन्यदपि मदस्थानं संसारजिहीर्षुणा न विधेयमिति तद्दर्शयितुमाह -

- जो पुरुष बुद्धि के मद से दूसरे की निन्दा करता है, वह बालक के समान अज्ञानी है इसलिए साधु बुद्धि का गर्व न करे । केवल बुद्धि का मद ही नहीं किन्तु संसार को पार करने की इच्छावाला पुरुष दूसरे मदों को भी न करे, यही शास्त्रकार दिखाते हैं -

पन्नामयं चेव तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू ।

आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पण्डिए उत्तमपोग्गले से

॥१५॥

छाया - प्रज्ञामदस्यैव तपोमदश्च, निर्नामयेद् गोत्रमदश्च भिक्षुः ।

आजीवगस्यैव चतुर्थमाहुः स पण्डित उत्तमपुद्गलः स ॥

अन्वयार्थ - (भिक्खू पन्नामयं चेव तवोमयं च) साधु बुद्धि के गर्व को तथा तप के मद को (गोयमयं च) एवं गोत्र के मद को (चउत्थं

आजीवगं चैव) तथा चौथे आजीविका के मद को (णिन्नामए) त्याग देवे (से पंडिए से उत्तमपोग्गले) जो ऐसा करता है, वही पण्डित है और वही सब से प्रधान है ।

भावार्थ - साधु, बुद्धिमद, तपोमद, गोत्रमद और आजीविका का मद न करे । जो ऐसा मद नहीं करता है, वही पण्डित है तथा वही सब से श्रेष्ठ है ।

टीका - प्रज्ञया-तीक्ष्णबुद्ध्या मदः प्रज्ञामदस्तं च, तपोमदं च निश्चयेन नामयेन्निर्नामयेद्-अपनयेद्, अहमेव यथाविधशास्त्रार्थस्य वेत्ता तथाऽहमेव विकृष्टतपोविधायी नापि च तपसो ग्लानिमुपगच्छामीत्येवंरूपं मदं न कुर्यात्, तथा उच्चैर्गोत्रे इक्ष्वाकुवंशहरिवंशादिके संभूतोऽहमित्येवमात्मकं गोत्रमदं च नामयेदिति । आ-समन्ताज्जीवन्यनेने-त्याजीवः-अर्थनिचयस्तं गच्छति-आश्रयत्यसावाजीवगः-अर्थमदस्तं च चतुर्थं नामयेत्, चशब्दाच्छेषानपि मदन्नामयेत्, तन्नामनाच्चासौ 'पण्डितः' तत्त्ववेत्ता भवति, तथाऽसावेव समस्तमदापनोदक उत्तमः पुद्गल-आत्मा भवति, प्रधानवाची वा पुद्गलशब्दः, ततश्चायमर्थः-उत्तमोत्तमो महतोऽपि महीयान् भवतीत्यर्थः ॥१५॥

टीकार्थ - बुद्धि की तीक्ष्णता के मद को प्रज्ञामद कहते हैं, उसे साधु न करे तथा तप के मद को भी साधु निश्चय हटा देवे । अर्थात् "मैं ही शास्त्र के यथार्थ अर्थ को जानता हूँ तथा मैं ही उत्कृष्ट तपस्या करनेवाला हूँ, एवं मैं ही तप से ग्लानि को प्राप्त नहीं होता ।" इस प्रकार साधु को मद न करना चाहिए । तथा "मैं इक्ष्वाकु और हरिवंश आदि उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ हूँ ।" इस प्रकार गोत्र मद भी न करे । जिसके द्वारा प्राणी जीते हैं, उसे 'आजीव' कहते हैं । वह अर्थ समूह है, उसका मद भी साधु न करे । च शब्द से शेष मदों का भी साधु त्याग करे । मदों के त्याग करने से ही पुरुष पण्डित यानी तत्त्वज्ञानी होता है, वही उत्तम आत्मावाला है । यहाँ पुद्गल शब्द प्रधान अर्थ में आया है इसलिए इसका अर्थ यह है कि वही पुरुष उत्तम से भी उत्तम यानी बड़े से भी बड़ा होता है ॥१५॥



- साम्प्रतं मदस्थानानामकरणीयत्वमुपदर्शयौपसंजिहीर्षुराह -

- साधु को किसी प्रकार का भी मद नहीं करना चाहिए यह दिखाकर अब शास्त्रकार इस विषय को समाप्त करने के लिए कहते हैं -

एयाइं मयाइं विगिंच धीरा, ण ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ।

ते सब्बगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयन्ति

॥१६॥

छाया - एतान् मदान् पृथक्कुर्याद्धीराः न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ।

ते सर्वगोत्रापगता महर्षिण, उच्चागोत्राश्च गतिं व्रजन्ति ॥

अन्वयार्थ - (धीरा एयाइं मयाइं विगिंच) धीर पुरुष इन मद के स्थानों को अलग करे । (सुधीरधम्मा ण ताणि सेवन्ति) ज्ञान, दर्शन और चारित्र धर्म से युक्त पुरुष इन मदस्थानों का सेवन नहीं करते हैं (ते सब्बगोत्तावगया महेसी) वे सब गोत्रों से छुटे हुए महर्षि जीव (उच्चं अगोत्तं च गतिं वयन्ति) सबसे उत्तम मोक्ष गति को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - धीर पुरुष पूर्वोक्त मदस्थानों को अलग करे क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्रसम्पन्न पुरुष गोत्रादि का मद नहीं करते हैं, अतः वे सब प्रकार के गोत्रों से रहित महर्षि होकर सबसे उत्तम मोक्षगति को प्राप्त करते हैं ।

टीका - 'एतानि' प्रज्ञादीनि मदस्थानानि संसारकारणत्वेन सम्यक् परिज्ञाय 'विगिंच'ति पृथक्कुर्यादात्मनोऽ-पनयेदितियावत्, धीः-बुद्धिस्तया राजन्त इति धीरा-विदितवेद्या नैतानि जात्यादीनि मदस्थानानि सेवन्ति-अनुतिष्ठन्ति, के एते ?-ये सुधीरः-सुप्रतिष्ठितो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो येषां ते सुधीरधर्माणः, ते चैवंभूताः परित्यक्तसर्वमदस्थाना महर्षयस्तपोविशेषशोषितकल्मषाः सर्वस्मादुच्चैर्गोत्रादेरपगताः गोत्रापगताः सन्त उच्चां मोक्षाख्यां सर्वोत्तमां वा गतिं व्रजन्ति-गच्छन्ति, चशब्दात्पञ्चमहाविमानेषु कल्पातीतेषु वा व्रजन्ति, अगोत्रोपलक्षणाच्चान्यदपि नामकर्मायुष्कादिकं तत्र न विद्यत इति द्रष्टव्यम् ॥१६॥ किञ्च -

टीकार्थ - प्रज्ञा आदि का मद संसार का कारण है, यह अच्छी तरह जानकर पुरुष मदों को अपने से अलग करे। जो पुरुष बुद्धि से सुशोभित यानी जानने योग्य अर्थ को जाननेवाले हैं, वे जाति आदि मदस्थानों का सेवन नहीं करते हैं। वे कौन हैं ? श्रुत और चारित्र धर्म जिनमें अच्छी तरह प्रतिष्ठित है, वे पुरुष मद नहीं करते हैं। इस प्रकार सब मद के स्थानों का त्याग किये हुए और विशिष्ट तप से पाप को दूर किये हुए वे पुरुष उच्च गोत्र आदि से रहित होकर सबसे उत्तम मोक्षगति को प्राप्त करते हैं। च शब्द से वे पाँच महाविमान अथवा कल्पातीत में जाते हैं। अगोत्र उपलक्षण है इसलिए मोक्षगति में दूसरे भी नाम, कर्म और आयु आदि नहीं होते हैं, यह जानना चाहिए ॥१६॥



भिक्षू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मो, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा ।

से एसणं जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे

॥१७॥

छाया - भिक्षुर्मुदचं स्तथा दृष्टधर्मा, ग्रामञ्च नगरञ्चानुप्रविश्य ।

स एषणां जानन्ननेषणाञ्च, अन्नस्य पानस्याननुगृह्यः ॥

अन्वयार्थ - (मुयच्चे तह दिट्ठधम्मो भिक्षू) उत्तम लेश्यावाला तथा धर्म को देखा हुआ साधु (गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा) भिक्षा के लिए ग्राम में और नगर में प्रवेश करके (से एसणं जाणं अणेसणं च) वह एषणा को तथा अनेषणा को जानता हुआ (अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे) अन्न और पान में गृह्य न होता हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करे ।

भावार्थ - उत्तम लेश्यावाला तथा धर्म को देखा हुआ साधु भिक्षा के लिए ग्राम या नगर में प्रवेश करके एषणा और अनेषणा का विचार रखकर अन्न और पान में गृह्य रहित होकर शुद्ध भिक्षा लेवे ।

टीका - स एवं मदस्थानरहितो भिक्षुः, तं विशिनष्टि-मृतेव स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा-तनुः शरीरं यस्य स मृतार्चः, यदिवा मोदनं मुत् तद्भूता शोभनाऽर्चा-पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदचः-प्रशस्तलेश्यः, तथा दृष्टः-अवगतो यथावस्थितो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो येन स तथा, स चैवंभूतः क्वचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मडम्बादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणां-गवेषणग्रहणैषणादिकां 'जानन्' सम्यगवगच्छन्नेषणां च-उद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन् अन्नस्य पानस्य वा 'अननुगृह्यः' अनध्युपपन्नः सम्यग्विहरेत्, तथाहि-स्थविरकल्पिका द्विचत्वारिंशदोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुः, जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयोर्ग्रहः, ताक्षेमाः-

“संसृष्टमसंसृष्टा उद्धता तह होति अप्पलेवा य । उद्गहिता पग्गहिता उज्झितधर्मा य सत्तमिया ॥१८॥”

अथवा यो यस्याभिग्रहः सा तस्यैषणा अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणानेषणाभिज्ञः क्वचित्प्रविष्टः सन्नाहारादावमूर्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीयादिति ॥१७॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से मद स्थानों से रहित भिक्षा से शरीर का निर्वाह करनेवाला साधु होता है। उसका विशेषण बताते हैं - जो मरे हुए की तरह स्नान और विलेपन आदि शरीर का संस्कार नहीं करता है, उसे मृतार्च कहते हैं अथवा सुन्दर अर्चा यानी पद्मादि लेश्या जिसकी है, उसे मुदच कहते हैं अर्थात् साधु मृत शरीर की तरह अपने शरीर का स्नान, विलेपन आदि संस्कार नहीं करता अथवा वह प्रशस्त लेश्यावाला होता है तथा श्रुत और चारित्र रूपी धर्म को वह ठीक-ठीक जानता है, वह किसी समय भिक्षा के लिए ग्राम, नगर और मडम्बा आदि में प्रवेश करके उत्तम धृति और संहनन से युक्त होकर गवेषणा और ग्रहणैषणा आदि को अच्छी तरह जानता हुआ तथा उद्गम आदि दोष और उनके त्याग तथा ग्रहण का फल जानता हुआ अन्न और पान में गृह्य रहित होकर शुद्ध आहार ग्रहण करे। स्थविरकल्पी साधु बयालीस दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करे और जिनकल्पी साधु पाँच का अभिग्रह और दो को ग्रहण करे। वह इस प्रकार समझना चाहिए - (१) जिस वस्तु के लेप से हाथ भरा हुआ

1. संसृष्टाऽसंसृष्टा उद्धता तथा भवस्त्यल्पलेपा च । उद्गृहीता प्रगृहीता उज्झितधर्मा च सप्तमिका ॥१८॥

हो वही वस्तु लेना दूसरी वस्तु नहीं लेना जैसे किसी दातार के हाथ चावल से ही भरे हो तो चावल ही लेना परन्तु अन्य वस्तु नहीं लेनी । (२) जिस वस्तु से हाथ को लेप न लगता हो तो वह वस्तु लेनी जैसे सेंके हुए चणे आदि जिससे हाथ न भरते हो । (३) गृहस्थ ने अपने खाने के लिए जो आहार पात्र में ले रखा हो वही आहार लेना जैसे गृहस्थ ने जिस पात्र में खिचड़ी आदि पकाई है, उस पात्र में से अपने खाने के लिए थाली में जो खिचड़ी आदि ले रखी है, वही लेना अन्य नहीं । (४) जिस आहार में घृत या तैल आदि का अल्प लेप हो वही लेना अन्य नहीं । (५) परोसने के लिए जो आहार निकाला गया है वही लेना । (६) परोसने से बचा हुआ ही लेना । (७) फेंक देने के योग्य आहार लेना । इनमें पीछले दो आहार जिनकल्पी साधु को कल्पनीय और शेष अकल्पनीय हैं । अथवा जिसका जो अभिग्रह है, उसके लिए वह एषणा है और दूसरी अनेषणा है । इस प्रकार एषणा और अनेषणा का विज्ञान रखनेवाला साधु आहार आदि के लिए किसी जगह गया हुआ उसमें मूर्च्छित न होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे ॥१७॥



- तदेवं भिक्षोरनुकूलविषयोपलब्धिमतोऽप्यरक्तद्विष्टतया तथा दृष्टमप्यदृष्टं श्रुतमप्यश्रुतमित्येवंभावयुक्ततया च मृतकल्पदेहस्य सुदृष्टधर्मण एषणानेषणाभिज्ञस्यान्नपानादावमूर्च्छितस्य सतः क्वचिद् ग्रामनगरादौ प्रविष्टस्यासंयमे रतिररतिश्च संयमे कदाचित्प्रादुष्यात् सा चापनेतव्येत्येतदाह -

- जो साधु पूर्वोक्त प्रकार से अनुकूल विषय की प्राप्ति होने पर रागद्वेष नहीं करता है तथा देखे हुए विषय को न देखे हुए के समान तथा सुने हुए को न सुने हुए के समान समझता है तथा मुर्दे की तरह अपने शरीर का संस्कार नहीं करता है एवं धर्म का अच्छी तरह ज्ञान रखता है तथा एषणा और अनेषणा के विवेक से युक्त है और अन्न, पान आदि में मूर्च्छित नहीं होता है, उसको किसी ग्राम या नगर में प्रवेश करने पर यदि असंयम में रति (प्रेम) और संयम में अरति (अप्रेम) उत्पन्न हो तो वह उसे दूर करे यह शास्त्रकार बताते हैं -

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहुजणे वा तह एगचारी ।

एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य

॥१८॥

छाया - अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्षुर्बहुजनो वा तथैकचारी ।

एकान्तमौनेन व्यागृणीयात्, एकस्य जन्तोर्गतिरागतिश्च ॥

अन्वयार्थ - (भिक्खू अरतिं रतिं च अभिभूय) साधु संयम में अरति और असंयम में रति का त्याग कर (बहुजणे वा तह एगचारी) बहुत लोगों के साथ रहता हो अथवा अकेला रहता हो (एगंतमोणेण वियागरेज्जा) जो बात संयम से विरुद्ध न हो वही कहे (एगस्स जंतो गतिरागती य) क्योंकि प्राणी अकेला ही परलोक में जाता है और अकेला ही आता है ।

भावार्थ - साधु असंयम में प्रेम और संयम में अप्रेम न करे, वह गच्छ में रहनेवाले बहुत साधुओं के साथ रहता हो अथवा अकेला रहता हो, जिससे संयम में बाधा न आये ऐसा वाक्य बोले और यह ध्यान में रखे कि- प्राणी अकेला ही परलोक में जाता है और अकेला ही आता है ।

टीका - महामुनेरप्यस्नानतया मलाविलस्यान्तप्रान्तवल्लचणकादिभोजिनः कदाचित्कर्मोदयादरतिः संयमे समुत्पद्येत तां चोत्पन्नामसौ भिक्षुः संसारस्वभावं परिगणय्य तिर्यङ्नारकादिदुःखं चोत्प्रेक्षमाणः स्वल्पं च संसारिणामायुरित्येवं विचिन्त्याभिभवेद्, अभिभूय चासावेकान्तमौनेन व्यागृणीयादित्युत्तरेण संबन्धः, तथा रतिं च 'असंयमे' सावधानुष्ठाने अनादिभवाभ्यासादुत्पन्नामभिभवेदभिभूय च संयमोद्युक्तो भवेदिति । पुनः साधुमेव विशिनष्टि-बहवो जनाः-साधवो गच्छवासितया संयमसहाया यस्य स बहुजनः, तथैक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी, स च प्रतिमाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्, स च बहुजन एकाकी वा केनचित्पृष्ठोऽपृष्ठो वैकान्तमौनेन-संयमेन करणभूतेन व्यागृणीयात् धर्मकथावसरे, अन्यदा संयमाबाधया किञ्चिद्धर्मसंबद्धं ब्रूयात्, किं परिगणय्यैतत्कुर्यादित्याह, यदिवा किमसौ ब्रूयादिति दर्शयति- 'एकस्य' असहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य 'गतिः' गमनं परलोके भवति, तथा आगतिः-आगमनं

भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति, उक्तं च-

“एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकं तत्फलम् । जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥१॥”

इत्यादि । तदेवं संसारे परमार्थतो न कश्चित्सहायो धर्ममेकं विहाय, एतद्विगण्य मुनीनामयं मौनः-संयमस्तेन तत्प्रधानं वा ब्रूयादिति ॥१८॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो पुरुष महामुनि है और स्नान न करने से उसका शरीर मल से भरा हुआ है तथा जो रूखा-सूखा अन्नपानी आदि आहार खाकर अपना निर्वाह करता है, उसको यदि कर्म के उदय से संयम में अरति उत्पन्न हो तो वह साधु संसार के स्वभाव को जानकर तथा नरक और तिर्यञ्च भव के दुःखों को सोचकर एवं संसारी प्राणियों की आयु थोड़ी है, यह विचारकर उस अरति को त्याग देवे और उसे त्यागकर एकान्त संयम युक्त वचन बोले यह आगे के साथ सम्बन्ध करना चाहिए । एवं उस साधु को अनादिकाल के अभ्यास से यदि असंयम में अर्थात् सावधानुष्ठान में रति उत्पन्न हो तो उसे भी दबा दे और उसे दबाकर संयम पालन में तत्पर हो जाय । फिर शास्त्रकार साधु का विशेषण बताते हैं - गच्छ में रहने के कारण बहुत से साधु जिसके संयम के सहायक हैं, ऐसा वह साधु हो अथवा अकेला विचरनेवाला वह प्रतिमा को प्राप्त अथवा जिनकल्पी आदि हो, उससे यदि कोई कुछ पूछे अथवा न पूछे तो वह संयम के साथ ही धर्मकथा के समय अथवा दूसरे समय में कुछ कहे आशय यह है कि- जिससे संयम में कोई बाधा न आये ऐसी धर्म सम्बन्धी ही बात कहे । क्या विचार कर साधु ऐसा करे सो शास्त्रकार बताते हैं- जीव अकेला ही अपने शुभाशुभ कर्म को लेकर परलोक में जाता है और वह उसी कर्म को लेकर दूसरे भव से आता भी है अत एव कहा है कि-

प्राणी अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है, वह अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है तथा दूसरे भव में भी वह अकेला ही जाता है ॥१॥

अतः इस संसार में धर्म को छोड़कर वस्तुतः कोई दूसरी वस्तु सहायक नहीं है, यह सोचकर साधु संयम प्रधान वाक्य बोले ॥१८॥



सयं समेच्चा अदुवाऽवि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।

जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा

॥१९॥

छाया - स्वयं समेत्याऽथवाऽपि श्रुत्या, भाषेत धर्मं हितकं प्रजाणाम् ।

ये गर्हिताः सन्निदानप्रयोगाः न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ॥

अन्वयार्थ - (सयं समेच्चा) अपने आप धर्म को जानकर (अदुवाऽवि सोच्चा) अथवा दूसरे से सुनकर (पयाणं हिययं धम्मं भासेज्ज) प्रजाओं के हितकारक धर्म का भाषण करे (जे गरहिया सणियाणप्पओगा) जो कार्य निन्दित है अथवा जो फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है (सुधीरधम्मा ताणि ण सेवन्ति) धीर पुरुष उसका सेवन नहीं करते हैं ।

भावार्थ - धर्म को अपने आप जानकर अथवा दूसरे से सुनकर प्रजाओं के हित के लिए उपदेश करे तथा जो कार्य निन्दित है और जो पूजा, लाभ और सत्कार आदि के लिए किया जाता है, उसे धीर पुरुष नहीं करते हैं ।

टीका - ‘स्वयम्’ आत्मना परोपदेशमन्तरेण ‘समेत्य’ ज्ञात्वा चतुर्गतिकं संसारं तत्कारणानि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि तथाऽऽशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं तत्कारणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येतत्सर्वं स्वत एवावबुध्यमान्यस्माद्वाऽऽचार्यादेः सकाशाच्छ्रुत्वाऽन्यस्मै मुमुक्षवे ‘धर्म’ श्रुतचारित्राख्यं भाषेत, किंभूतं ?-प्रजायन्त इति प्रजाः-स्थावरजङ्गमाः जन्तवस्तेभ्यो हितं सदुपदेशदानतः सदोपकारिणं धर्मं ब्रूयादिति । उपादेयं प्रदर्श्य हेयं प्रदर्शयति- ये ‘गर्हिता’ जुगुप्सिता मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः कर्मबन्धहेतवः सह निदानेन वर्तन्त इति सन्निदानाः प्रयुज्यन्त इति प्रयोगा-व्यापारा धर्मकथाप्रबन्धा वा ममास्मात्सकाशात्किञ्चित् पूजालाभसत्कारादिकं भविष्यती-त्येवंभूतनिदानाऽऽसंसाररूपास्तांश्चारित्रविघ्नभूतान् महर्षयः सुधीरधर्माणो ‘न सेवन्ते’ नानुतिष्ठन्ति । यदिवा ये गर्हिताः

सनिदाना वाक्प्रयोगाः तद्यथा-कुत्तीर्थिकाः सावद्यानुष्ठानरता निःशीला निर्ब्रताः कुण्टलवेण्टलकारिण इत्येवंभूतान् परदोषोद्घटनया मर्मवेधिनः सुधीरधर्माणो वाक्कुण्टकान् 'न सेवन्ते' न ब्रुवत इति ॥१९॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - दूसरे के उपदेश के बिना ही अपने आप समझकर अर्थात् संसार चार गतिवाला है और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उसके कारण हैं, तथा समस्त कर्मों का क्षयस्वरूप मोक्ष है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र उसके कारण है, इन बातों को अपने आप जानकर अथवा दूसरे आचार्य आदि से सुनकर साधु, मोक्षार्थी पुरुष को श्रुत और चारित्र रूप धर्म का भाषण करे। कैसे धर्म का भाषण करे सो कहते हैं - जो जगत् में उत्पन्न होते हैं, उन्हें प्रजा कहते हैं, वे स्थावर और जङ्गम रूप प्राणी हैं, उनको जिस सदुपदेश देने से हित यानी सदा उपकार हो ऐसा धर्म कहे। ग्रहण करने योग्य विषय को बताकर अब त्याग करने योग्य विषय को बताते हैं- जो वस्तु निन्दित है अर्थात् जो कर्मबन्ध के कारण है जैसे कि- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग निन्दित हैं, इनका सेवन धीर पुरुष नहीं करते तथा जो धर्म कथा आदि व्यापार निदान के साथ किये जाते हैं अर्थात् मुझको इससे कुछ पूजा सत्कार आदि प्राप्त होगा इस आशा से किये जाते हैं वे चारित्र के विघ्नरूप हैं, इसलिए सुधीरधर्मा यानी महर्षि पुरुष उसका सेवन नहीं करते हैं। अथवा जो वचन निन्दामय है और निदान के सहित है उसे साधु न बोले, जैसे कि- कुत्तीर्थी, सावद्य अनुष्ठान में रत रहते हैं, वे शील रहित, व्रत रहित तथा कुण्टल वेण्टल करनेवाले हैं इत्यादि दूसरे के दोष को प्रकट करनेवाला तथा दूसरे के मर्म को पीड़ित करनेवाला कुण्टक के समान वचन धीर पुरुष न बोले ॥१९॥



केसिंचि तक्काइ अबुज्ज भावं, खुदंपि गच्छेज्ज असद्वहाणे ।

आउस्स कालाइयारं वघाए, लब्धानुमाणे य परेसु अट्ठे

॥२०॥

छाया - केषाञ्चित्तर्कयाऽबुद्ध्वा भावं, क्षुद्रत्वमपि गच्छेदश्रद्धधानः ।

आयुषः कालातिचारं व्याघातं, लब्धानुमानः परेष्वर्थान् ॥

अन्वयार्थ - (केसिंचि भावं तक्काइ अबुज्ज) अपनी बुद्धि के द्वारा दूसरे का अभिप्राय न समझकर साधु यदि उपदेश देवे तो (असद्वहाणे खुदंपि गच्छेज्ज) वह उस उपदेश में श्रद्धा न करता हुआ क्रोध को प्राप्त होता है (आउस्स कालाइयारं वघाए) और वह उपदेश देनेवाले की आयु को भी घटा सकता है अर्थात् उसे मार सकता है (लब्धानुमाणे परेसु अट्ठे) इसलिए साधु अनुमान से दूसरे का भाव जानकर पीछे धर्म का उपदेश करे ।

भावार्थ - अपनी बुद्धि से दूसरे का अभिप्राय न समझकर धर्म का उपदेश करने से दूसरा पुरुष श्रद्धा न करता हुआ क्रोधित हो सकता है और क्रोध करके वह साधु का वध भी कर सकता है, इसलिए साधु अनुमान से दूसरे का अभिप्राय समझकर पीछे धर्म का उपदेश करे ।

टीका - केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनां कुत्तीर्थिकभावितानां स्वदर्शनाऽऽग्रहिणां 'तर्कया' वितर्केण स्वमतिपर्यालोचनेन 'भावम्' अभिप्रायं दुष्टान्तःकरणवृत्तित्वमबुद्ध्वा कश्चित्साधुः श्रावको वा स्वधर्मस्थापनेच्छया तीर्थिकतिरस्कारप्रायं वचो ब्रूयात् स च तीर्थिकस्तद्वचः 'अश्रद्धधानः' अरोचयन्नप्रतिपद्यमानोऽतिकटुकं भावयन् 'क्षुद्रत्वमपि गच्छेद्' तद्विरूपमपि कुर्यात्, पालकपुरोहितवत् स्कन्दकाचार्यस्येति । क्षुद्रत्वगमनमेव दर्शयति-स निन्दावचनकुपितो वक्तुर्यदायुस्तस्यायुषो 'व्याघातरूपं' परिक्षेपस्वभावं कालातिचारं-दीर्घस्थितिकमप्यायुः संवर्तयेत्, एतदुक्तं भवति-धर्मदेशना हि पुरुषविशेषं ज्ञात्वा विधेया, तद्यथा-कोऽयं पुरुषो राजादिः ? कं च देवताविशेषं नतः ? कतरद्वा दर्शनमाश्रितोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वाऽयमित्येवं सम्यक् परिज्ञाय यथार्हं धर्मदेशना विधेया, यश्चैतदबुद्ध्वा किञ्चिद्धर्म-देशनाद्वारेण परविरोधकृद्ब्रूयात् स परस्मादैहिकामुष्मिकयोर्मरणादिकमपकारं प्राप्नुयादिति, यत एवं ततो लब्धमनुमानं येन पराभिप्रायपरिज्ञाने स लब्धानुमानः 'परेषु' प्रतिपाद्येषु यथायोगं यथार्हप्रतिपत्त्या 'अर्थान्' सद्धर्मप्ररूपणादिकान् जीवादीन् वा स्वपरोपकाराय ब्रूयादिति ॥२०॥ अपि च-

टीकार्थ - कुतीर्थिकों के उपदेश में जिनका हृदय वासित है तथा जो अपने दर्शन में आग्रह रखते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टियों की अन्तःकरणवृत्ति दुष्ट होती है, उसे अपनी बुद्धि के द्वारा समझे बिना जो साधु या श्रावक अपने धर्म को स्थापन करने के लिए कुतीर्थिकों को तिरस्कार प्रधान वचन बोलता है, उसके वचन में वह कुतीर्थिक श्रद्धा नहीं करता है किन्तु उसे वह अति कटुक समझता हुआ क्रोधित होता है और वह उस साधु का विरूप भी कर सकता है, जैसे पालक पुरोहित ने स्कन्दकाचार्य का विरूप किया था । तथा वह पुरुष अपने धर्म की निन्दा से कुपित होकर उस साधु के चिरकाल की आयु का भी विनाश कर सकता है । आशय यह है कि- पुरुष विशेष को जानकर धर्म का उपदेश करना चाहिए, जैसे कि- यह राजा आदि पुरुष कौन है ? तथा यह किस देवता को नमस्कार करनेवाला और किस दर्शन को माननेवाला है तथा इसको किसी मत का आग्रह है या नहीं है ? यह अच्छी तरह जानकर तब धर्म का उपदेश करना चाहिए । जो पुरुष इन बातों को जाने बिना धर्मोपदेश के द्वारा दूसरे को विरोधी वचन बोलता है, वह दूसरे के द्वारा मरण आदि अपकार को प्राप्त करता है, जिससे उसका यह लोक तथा परलोक बिगड़ता है, अतः अनुमान के द्वारा दूसरे का अभिप्राय जानकर दूसरे जीव को सच्चे धर्म की प्ररूपणा करनी चाहिए । अथवा अपने और दूसरे के उपकार के लिए जीव आदि पदार्थों को बताना चाहिए॥२०॥



कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ (हा) पावभावं ।

रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाया तसथावरेहिं

॥२१॥

छाया - कर्म च छन्दश्च विवेचयेद्धीरः, विनयेत्तु सर्वत आत्मभावम् ।

रूपैर्लुप्यन्ते भयावहैः विद्वान् गृहीत्वा त्रसस्थावरेभ्यः ॥

अन्वयार्थ - (धीरे कम्मं च छंदं च विगिंच) धीर पुरुष सुननेवालों के कर्म और अभिप्राय को जानकर (सव्वओ आयभावं विणइज्ज) सुननेवालों के मिथ्यात्व आदि को सब तरह से दूर करे (भयावहेहिं रूवेहिं लुप्पंति) और उन्हें समझावे कि स्त्रियों का रूप भय देनेवाला है इसलिए उसमें लुब्ध जीव नाश को प्राप्त होते हैं (विज्जं गहाया तसथावरेहिं) इस प्रकार विद्वान् पुरुष दूसरे का अभिप्राय जानकर त्रस और स्थावरों का जिससे कल्याण हो ऐसे धर्म का उपदेश करे ।

भावार्थ - धीर पुरुष सुननेवाले लोगों का कर्म और अभिप्राय को जानकर धर्म का उपदेश करे और उपदेश के द्वारा उनके मिथ्यात्व को दूर करे । उन्हें समझावे कि- हे बान्धवों ! तुम स्त्री के रूप में मोहित होते हो परन्तु स्त्री का रूप भय देनेवाला है, उसमें लुब्ध मनुष्य नाश को प्राप्त होता है । इस प्रकार विद्वान् पुरुष सभा के अभिप्राय को जानकर त्रस और स्थावरों की जिससे भलाई हो ऐसे धर्म का उपदेश करे ।

टीका - 'धीरः' अक्षोभ्यः सद्बुद्धयलङ्कृतो वा देशनावसरे धर्मकथाश्रोतुः 'कर्म' अनुष्ठानं गुरुलघुकर्मभावं वा तथा 'छन्दः' अभिप्रायं सम्यग् 'विवेचयेत्' जानीयात्, ज्ञात्वा च पर्षदुत्तरूपामेव धर्मकथिको धर्मदेशनां कुर्यात् सर्वथा यथा तस्य श्रोतुर्जीवादिपदार्थावगमो भवति यथा च मनो न दूष्यते, अपि तु प्रसन्नतां व्रजति, एतदभिसंधिमानाह- विशेषेण नयेद्-अपनयेत् पर्षदः 'पापभावम्' अशुद्धमन्तःकरणं, तुशब्दाद्विशिष्टगुणारोपणं च कुर्यात्, 'आयभावं' ति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः- 'आत्मभावः' अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वादिकस्तमपनयेत्, यदिवाऽऽत्मभावो विषयगृध्नुता-ऽतस्तमपनयेदिति । एतद्दर्शयति- 'रूपैः' नयनमनोहारिभिः स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गार्द्धकटाक्षनिरीक्षणादिभिरल्पसत्त्वा 'विलुप्यन्ते' सद्धर्माद्वाध्यन्ते, किंभूतै रूपैः ?- 'भयावहैः' भयमावहन्ति भयावहानि, इहैव तावद्रूपादिविषयासक्तस्य साधुजनजुगुप्सानानाविधाश्च कर्णनासिकाविकर्तनादिका विडम्बनाः प्रादुर्भवन्ति जन्मान्तरे च तिर्यङ्नरकादिके यातनास्थाने प्राणिनो विषयासक्ता वेदनामनुभवन्तीत्येवं 'विद्वान्' पण्डितो धर्मदेशनाभिज्ञो गृहीत्वा पराभिप्रायं-सम्यगवगम्य पर्षदं त्रसस्थावरेभ्यो हितं धर्ममाविर्भावयेत् ॥२१॥

टीकार्थ - विषय और कषायों से क्षोभ को प्राप्त न होनेवाला अथवा उत्तम बुद्धि से सुशोभित पुरुष धर्मोपदेश के समय धर्मकथा सुननेवाले पुरुष के कर्म यानी अनुष्ठान को अथवा यह पुरुष गुरुकर्म हैं अथवा लघुकर्म हैं एवं इसका अभिप्राय क्या है, इस बात को अच्छी तरह सोचकर जान लेवे और जानकर सभा के अनुरूप ही धर्म

का उपदेश करे । जिस प्रकार सुननेवाले को जीवादि पदार्थों का ज्ञान हो जाय और उसका चित्त भी न दुःखित हो किन्तु प्रसन्न रहे, ऐसा उपदेश करे । इसी अभिप्राय से शास्त्रकार कहते हैं- सुननेवालों के अन्तःकरण के पाप को विशेष रूप से हटावे और 'तु' शब्द से उसमें विशेष गुणों का स्थापन करे । कहीं 'आयभाव' यह पाठ है। इसका अर्थ यह है कि- अनादिकाल से अभ्यास किया हुआ मिथ्यात्व आदि जो आत्मभाव है, उसे उपदेश देकर साधु दूर कर दे अथवा विषय में आसक्ति को आत्मभाव कहते हैं, उसे साधु दूर कर दे । यही शास्त्रकार दिखाते हैं । नेत्र और मन को हरण करनेवाले स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग और अर्धकटाक्ष निरीक्षण आदि से अल्प पराक्रमी जीव धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं, परन्तु स्त्री का वह रूप वस्तुतः भयङ्कर है । जो पुरुष स्त्री के रूप में आसक्त है, उसकी इसी लोक में साधुजन निन्दा करते हैं तथा नाक और कान का छेदन आदि दुःख उसे प्राप्त होता है और दूसरे जन्म में नरक और तिर्य्यञ्च आदि गतियों में जाकर दुःख भोगता है । इस प्रकार उपदेश देने में निपुण पुरुष दूसरे के अभिप्राय को जानकर त्रस और स्थावरों के हितकारक धर्म का उपदेश करे ॥२१॥



- पूजासत्कारादिनिरपेक्षेण च सर्वमेव तपश्चरणादिकं विधेयं विशेषतो धर्मदेशनेत्येतदभिप्रायवानाह -

- साधु पूजा आदि से निरपेक्ष होकर सभी तपस्या आदि कार्य करे और धर्मोपदेश तो विशेष रूप से पूजा आदि की इच्छा से रहित होकर ही करे, इस आशय को लेकर शास्त्रकार कहते हैं -

न पूयणं चेव सिलोयकामी, प्रियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।

सव्वे अणट्ठे परिवज्जयन्ते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू

॥२२॥

छाया - न पूजनञ्चैव श्लोककामी, प्रियमप्पियं कस्यापि नो कुर्व्यात् ।

सर्वान् अनर्थान् परिवर्जयन् अनाकुलश्चाकषायी भिक्षुः ॥

अन्वयार्थ - (न पूयणं चेव सिलोयकामी) साधु अपनी पूजा और स्तुति की इच्छा न करे (कस्सइ प्रियमप्पियं णो करेज्जा) तथा किसी का भी प्रिय अथवा अप्रिय न करे (सव्वे अणट्ठे परिवज्जयन्ते) एवं सब अनर्थों को वर्जित करता हुआ (अणाउले अकसाइ भिक्खू) साधु आकुल न होता हुआ और कषाय रहित होकर धर्मोपदेश करे ।

भावार्थ - साधु धर्मोपदेश के द्वारा अपनी पूजा और स्तुति की कामना न करे तथा किसी का प्रिय और किसी का अप्रिय न करे । एवं वह सब अनर्थों को वर्जित करता हुआ आकुलता रहित और कषाय रहित होकर धर्मोपदेश करे ।

टीका - साधुर्देशनां विदधानो न पूजनं-वस्त्रपात्रादिलाभरूपमभिकाङ्क्षेन्नापि श्लोकं-श्लाघां कीर्तिम् आत्मप्रशंसां 'कामयेद्' अभिलषेत्, तथा श्रोतुर्यत्प्रियं राजकथाविकथादिकं छलितकथादिकं च तथाऽप्रियं च तत्समाश्रितदेवता-विशेषनिन्दादिकं न कथयेद्, अरक्तद्विष्टतया श्रोतुरभिप्रायमभिसमीक्ष्य यथावस्थितं धर्मं सम्यग्दर्शनादिकं कथयेत् उपसंहारमाह-'सर्वाननर्थान्' पूजासत्कारलाभाभिप्रायेण स्वकृतान् परदूषणतया च परकृतान् 'वर्जयन्' परिहरन् कथयेद् 'अनाकुलः' सूत्रार्थादनुत्तरन् अकषायी भिक्षुर्भवेदिति ॥२२॥

टीकार्थ - धर्म का उपदेश करता हुआ साधु वस्त्र और पात्र आदि का लाभरूप पूजा की इच्छा न करे तथा अपनी प्रशंसा की कामना भी न करे । तथा श्रोता को जो प्रिय लगती है, ऐसी राजकथा और विकथा आदि तथा छलितकथा आदि एवं श्रोता को अप्रिय जो उसकी मानी हुई देवता की निन्दा आदि हैं, उन्हें साधु न कहे। किन्तु रागद्वेष रहित होकर श्रोता के अभिप्राय को समझकर सम्यग्दर्शन आदि सच्चे धर्म का उपदेश करे । अब समाप्त करते हुए शास्त्रकार कहते हैं - साधु सब प्रकार के अनर्थों को त्यागकर अर्थात् पूजा सत्कार आदि के लाभ के लिए अपने किये हुए तथा दूसरे के मत को दूषित करने के लिए दूसरे के द्वारा किये हुए अनर्थों को छोड़कर सूत्र के अर्थ से अलग न जाता हुआ और कषाय रहित होकर रहे ॥२२॥



- सर्वाध्ययनोपसंहारार्थमाह -

- अब शास्त्रकार समस्त अध्ययन को समाप्त करने के लिए कहते हैं -

आहत्तहीयं समुपेहमाणे सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं ।

णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के

[मेहावी वलयविप्पमुक्के]

॥२३॥ति बेमि॥

इति श्रीआहत्तहियं नाम त्रयोदशमध्ययनं समत्तं (गाथाग्रम्-५९१)

छाया - याथातथ्यं समुत्प्रेक्षमाणः सर्वेषु प्राणिषु निधाय दण्डम् ।

नो जीवितं नो मरणावकाङ्क्षी, परिव्रजेद् वलयाद् विमुक्त ॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ - (आहत्तहीयं समुपेहमाणे) साधु सत्य धर्म को देखता हुआ (सव्वेहिं पाणेहिं दंडं णिहाय) सब प्राणियों को दण्ड देना छोड़कर (णो जीवियं णो मरणाहिकंखी) जीवन और मरण की इच्छा न रखता हुआ (वलयाविमुक्के परिव्वएज्जा) माया से मुक्त होकर विचरे।

भावार्थ - साधु सच्चे धर्म को देखता हुआ सब प्राणियों को दण्ड देना छोड़कर, अपने जीवन और मरण की इच्छा से रहित होकर माया का त्यागकर विचरे ।

टीका - 'आहत्तहीय' मित्यादि, यथातथाभावो याथातथ्यं धर्ममार्गसमवसरणाख्याध्ययनत्रयोक्तार्थतत्त्वं सूत्रानुगतं सम्यक्त्वं चारित्रं वा तत् 'प्रेक्षमाणः' पर्यालोचयन् सूत्रार्थं सद्नुष्ठानतोऽध्यस्यन् 'सर्वेषु' स्थावरजङ्गमेषु सूक्ष्मबादरभेद-भिन्नेषु पृथिवीकायादिषु दण्डयन्ते प्राणिनो येन स दण्डः-प्राणव्यपरोपणविधिस्तं 'निधाय' परित्यज्य, प्राणात्ययेऽपि याथातथ्यं धर्मं नोल्लङ्घयेदिति । एतदेव दर्शयति- 'जीवितम् असंयमजीवितं दीर्घायुष्कं वा स्थावरजङ्गमजन्तुदण्डेन नाभिकाङ्क्षी स्या(क्षे)त् परीषहपराजितो वेदनासमुद्घात (समव) हतो वा तद्वेदनाम (भि)सहमानो जलानलसंपाता-पादितजन्तूपमर्देन नापि मरणाभिकाङ्क्षी स्यात् । तदेवं याथातथ्यमुत्प्रेक्षमाणः सर्वेषु प्राणिषूपरतदण्डो जीवितमरणानपेक्षी संयमानुष्ठानं चरेद्-उद्युक्तविहारी भवेत् 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितो विदितवेद्यो वा वलयेन-मायारूपेण मोहनीयकर्मणा वा विविधं प्रकर्षेण मुक्तो विप्रमुक्त इति । इति परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमिति पूर्ववत् ॥२३॥

समाप्तं च याथातथ्यं त्रयोदशमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ - साधु, धर्म, मार्ग और समवसरण नामक तीन अध्ययनों में कहे हुए तत्त्व को विचारकर अथवा सूत्र के अनुरूप सम्यक्त्व और चारित्र का विचारकर और उत्तम अनुष्ठान के द्वारा सूत्र का अभ्यास करता हुआ सूक्ष्म और बादर भेदवाले पृथिवीकाय आदि स्थावर और जङ्गम प्राणियों के प्राण का नाशरूप व्यापार न करे । तथा प्राण चले जाने पर भी सच्चे धर्म का उल्लङ्घन न करे । यही शास्त्रकार दिखाते हैं - साधु असंयम के साथ जीने की इच्छा न करे तथा स्थावर और जङ्गम प्राणियों का नाश करके चिरकाल तक जीने की इच्छा न करे । एवं साधु परीषह से पीड़ित होकर अथवा दूसरे अनेक दुःखों से दुःखित होकर उस वेदना को न सह सकता हुआ जल में डूबकर आग में जलकर अथवा किसी हिंसक प्राणी के द्वारा अपना वध कराकर मरण की इच्छा न करे। इस प्रकार वह सत्य धर्म पर दृष्टि रखता हुआ सब प्राणियों को दण्ड देना छोड़कर तथा जीवन और मरण से निरपेक्ष होकर संयम का अनुष्ठान करे । शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार विचरनेवाला जानने योग्य वस्तु को जाननेवाला साधु माया से अथवा मोहनीय कर्मों से मुक्त होकर विचरे । इति शब्द समाप्त्यर्थक है, ब्रवीमि पूर्ववत् है ॥२३॥

यह याथातथ्य नामक तेरहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ॥



॥ अथ ग्रन्थनामक चतुर्दशमध्ययनं प्रारम्भ्यते ॥

उक्तं त्रयोदशमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्दशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तराध्ययने याथातथ्यमिति सम्यक्चारित्रमभिहितं, तच्च बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागादवदातं भवति, तत्त्यागश्चानेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रोपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागो विधेय इति । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आदानपदादगुणनिष्पन्नत्वाच्च ग्रन्थ इति नाम, तं ग्रन्थमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह -

तेरहवौ अध्ययन कहा गया अब चौदहवौ आरम्भ किया जाता है । इसका सम्बन्ध यह है— तेरहवें अध्ययन में शुद्ध चारित्र का वर्णन किया है परन्तु वह चारित्र बाहर और भीतर के ग्रन्थ (गाँठ) को छोड़ने से निर्मल होता है, इसलिए इस अध्ययन में उस ग्रन्थ यानी गाँठ के त्याग करने का उपदेश किया जाता है, इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार हैं, उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार यह है— जीव को बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ग्रन्थों का त्याग करना चाहिए । नामनिष्पन्न निक्षेप में आदान पद के हिसाब के और गुण के अनुसार इस अध्ययन का नाम ग्रन्थ है । उस ग्रन्थ के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं -

गंधो पुब्युद्धिद्वो दुविहो सिस्सो य होति णायव्यो । पव्यावण सिक्खवावण पगयं सिक्खवावणाए उ॥१२७॥ नि०
सो सिक्खगो य दुविहो गहणे आसेवणाय णायव्यो । गहणमि होति ति विहो सुत्ते अत्थे तदुभए य॥१२८॥ नि०
आसेवणाय दुविहो मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य । मूलगुणे पंचविहो उत्तरगुण बारसविहो उ ॥१२९॥ नि०
आयरिओडविय दुविहो पव्यायंतो व सिक्खयंतो य । सिक्खयंतो दुविहो गहणे आसेवणे चैव॥१३०॥ नि०
गाहायितो ति विहो सुत्ते अत्थे य तदुभए चैव । मूलगुण-उत्तरगुणे दुविहो आसेवणाए उ ॥१३१॥ नि०

टीका - ग्रन्थो द्रव्यभावभेदभिन्नः क्षुल्लकनैर्ग्रन्थं नाम उत्तराध्ययनेष्वध्ययनं तत्र पूर्वमेव सप्रपञ्चोऽभिहितः, इह तु ग्रन्थं द्रव्यभावभेदभिन्नं यः परित्यजति शिष्य आचारादिकं वा ग्रन्थं योऽधीतेऽसौ अभिधीयते, स शिष्यो 'द्विविधो' द्विप्रकारो ज्ञातव्यो भवति, तद्यथा—प्रव्रज्यया शिक्षया च, यस्य प्रव्रज्या दीयते शिक्षां वा यो ग्राह्यते स द्विप्रकारोऽपि शिष्यः, इह [तु] पुनः शिक्षाशिष्येण 'प्रकृतम्' अधिकारो यः शिक्षां गृह्णाति शैक्षकः तच्छिक्षयेह प्रस्ताव इत्यर्थः ॥ यथाप्रतिज्ञात-मधिकृत्याह- यः शिक्षां गृह्णाति शैक्षकः स द्विविधो-द्विप्रकारो भवति, तद्यथा-ग्रहणे प्रथममेवाचार्यदिः सकाशाच्छिक्षां-इच्छामिच्छातहकारादिरूपां गृह्णाति शिक्षति, तथा शिक्षितां चाभ्यस्यति-अहर्निशमनुतिष्ठति स एवंविधो ग्रहणासेवना-भेदभिन्नः शिष्यो ज्ञातव्यो भवति, तत्रापि ग्रहणपूर्वकमासेवनमितिकृत्वाऽऽदावेव ग्रहणशिक्षामाह- शिक्षाया 'ग्रहणे' उपादानेऽधिकृते त्रिविधो भवति शैक्षकः, तद्यथा-सूत्रेऽर्थे तदुभये च, सूत्रादीन्यादावेव गृह्णन् सूत्रादिशिक्षको भवतीति भावः ॥ साम्प्रतं ग्रहणोत्तरकालभाविनीमासेवनामधिकृत्याह- यथावस्थितसूत्रानुष्ठानमासेवना तथा करणभूतया द्विविधो भवति शिक्षकः, तद्यथा- 'मूलगुणे' मूलगुणविषये आसेवमानः- सम्यग्मूलगुणानामनुष्ठानं कुर्वन् तथा 'उत्तरगुणे च' उत्तरगुणविषयं सम्यगनुष्ठानं कुर्वाणो द्विरूपोऽप्यासेवनाशिक्षको भवति, तत्रापि मूलगुणे पञ्चप्रकारः-प्राणातिपातादिविरतिमासेवमानः पञ्चमहाव्रतधारणात्पञ्चविधो भवति मूलगुणेष्वसेवनाशिक्षकः, तथोत्तरगुणविषये सम्यक्पिण्डविशुद्ध्यादिकान् गुणानासेवमान उत्तरगुणासेवनाशिक्षको भवति, ते चामी उत्तरगुणाः-

“पिंडस्स जा विसोही समिईओ भावणा तवो दुविहो । पडिमा अभिग्गहाविय उत्तरगुणमो वियाणाहि॥१॥”

यदिवा ^२सत्स्वप्यन्येषूत्तरगुणेषु प्रधाननिर्जराहेतुतया तप एव द्वादशविधमुत्तरगुणत्वेनाधिकृत्याह- 'उत्तरगुणे' उत्तरगुणविषये तपो द्वादशभेदभिन्नं यः सम्यग् विधत्ते स आसेवनाशिक्षको भवतीति ॥ शिष्यो ह्याचार्यमन्तरेण न भवत्यत आचार्यनिरूपणमा(णाया)ह-शिष्यापेक्षया हि आचार्यो 'द्विविधो' द्विभेदः, एको यः प्रव्रज्यां ग्राहयत्यपरस्तु यः शिक्षामिति, शिक्षयन्नपि द्विविधः-एको यः शिक्षाशास्त्रं ग्राहयति-पाठयत्यपरस्तु तदर्थं दशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानतः

१. पिण्डस्य या विशेषः समितयो भावनास्तपो द्विविधम् । प्रतिमा अभिग्रहा अपि चोत्तरगुणा (इति) विजानीहि ॥१॥ २. सत्स्वप्येते प्र० ।

सेवयति-सम्यगनुष्ठानं कारयति । तत्र सूत्रार्थतदुभयभेदात्प्राहयन्नप्याचार्यस्त्रिधा भवति । आसेवनाचार्योऽपि मूलोत्तरगुणभेदा-
द्विविधो भवति ॥१२७-१३१॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदन्तरं, सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्-

टीकार्थ - द्रव्य और भावभेद से ग्रन्थ दो प्रकार का है । वह उत्तराध्ययन सूत्र के शुल्लक नैर्ग्रन्थ्य नामक अध्ययन में विस्तार के साथ कहा गया है परन्तु यहाँ जो शिष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के ग्रन्थों को त्याग देते हैं अथवा आचाराङ्ग आदि ग्रन्थों का अध्ययन करता है, उसे बताते हैं - वह शिष्य दो प्रकार का होता है। एक दीक्षा देने से और दूसरा शिक्षा देने से । जिसको दीक्षा देते हैं या शिक्षा देते हैं, वह शिष्य दो प्रकार का है परन्तु यहाँ जिसे शिक्षा देते हैं, उसी शिष्य के विषय में कहा है । जो शिक्षा को ग्रहण करता है उसे शैक्षक कहते हैं, उसके शिक्षा सम्बन्धी विषय को इस अध्ययन में कहा है । अब निर्युक्तिकार अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कहते हैं, जो शिक्षा को ग्रहण करता है, वह शिष्य दो प्रकार का होता है । एक वह है जो आचार्य आदि से पहले शिक्षा (इच्छा मिच्छा तहक्कार आदि) लेता है और दूसरा वह है जो शिक्षा के अनुसार आचरण करता है। इस प्रकार शिक्षा लेने और उसके अनुसार अनुष्ठान करने रूप भेद से शिष्य दो प्रकार के हैं । उनमें पहले शिक्षा ग्रहण की जाती है और पीछे उसके अनुसार आचरण किया जाता है, इसलिए पहले शिक्षा ग्रहण करने के विषय में कहते हैं- शिक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्य तीन प्रकार के होते हैं । एक वह है, जो केवल सूत्र पढ़ता है और दूसरा वह है, जो अर्थ पढ़ता है और तीसरा सूत्र और अर्थ दोनों ही पढ़ता है । जो पहले सूत्र आदि को ही पढ़ता है, वह सूत्रादि शिष्य कहलाता है । अब सूत्र आदि पढ़ लेने के पश्चात् किये जानेवाले अनुष्ठान के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं- सूत्र में जो बात जैसी है, उसे उसी प्रकार अनुष्ठान करना आसेवना कहलाता है । उस आसेवना को लेकर शिष्य दो प्रकार का होता है - एक वह है, जो मूलगुणों का अच्छी तरह सेवन करता है और दूसरा वह है, जो उत्तर गुणों का भलीभाँति सेवन करता है । इस प्रकार आसेवना शिष्य दो प्रकार के हैं। इनमें मूलगुणों की सेवा करनेवाले शिष्य प्राणातिपात आदि से विरतिरूप पाँच महाव्रतों को धारण करने के कारण पाँच प्रकार के होते हैं । तथा जो पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरगुणों का सेवन करते हैं, वे उत्तरगुणासेवना शिष्य हैं। वे उत्तरगुण ये हैं- पिण्ड की विशुद्धि, समिति, भावना, दोनों प्रकार के तप, प्रतिमा और अभिग्रह ये उत्तरगुण हैं। अथवा दूसरे भी उत्तरगुण हैं तो भी निर्जरा के प्रधान कारण होने के कारण बारह प्रकार के तप को ही निर्युक्तिकार उत्तरगुण रूप से बताते हैं- जो बारह प्रकार के तपों का अच्छी तरह अनुष्ठान करता है, वह आसेवना शिष्य है। आचार्य के बिना शिष्य नहीं होता इसलिए निर्युक्तिकार आचार्य का निरूपण करते हैं- शिष्य की अपेक्षा से आचार्य वह है, जो शिक्षा देता है । शिक्षा देनेवाला आचार्य भी दो प्रकार का है । एक वह है, जो शिक्षा शास्त्र को पढ़ाता है और दूसरा वह है जो दश प्रकार की साधु समाचारी का सेवन कराकर उसके अर्थ का अनुष्ठान कराता है, इनमें पढ़ानेवाला आचार्य भी सूत्र, अर्थ और इन दोनों के भेद से तीन प्रकार का है । आसेवनाचार्य भी मूल गुण और उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार का है ॥१२७-१३१॥ नामनिक्षेप पूर्ण हुआ अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है -



गन्धं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।

ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय विप्पमायं न कुज्जा

॥१॥

छाया - गन्धं विहायेह शिक्षमाणः, उट्ठाय सुब्रह्मचर्यं वसेत् ।

अवपातकारी विनयं सुशिक्षेत्, यश्चेका प्रमादं न कुर्व्यात् ॥

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (गन्धं विहाय) परिग्रह को छोड़कर (सिक्खमाणो) शिक्षा को ग्रहण और सेवन करता हुआ पुरुष (उट्ठाय) प्रव्रज्या लेकर (सुबंभचेरं वसेज्जा) ब्रह्मचर्य का अच्छी तरह पालन करे । (ओवायकारी विणयं सुसिक्खे) आचार्य की आज्ञा पालन करता हुआ विनय सीखे । (जे छेय विप्पमायं न कुज्जा) जो पुरुष संयम के अनुष्ठान में निपुण है, वह कभी भी संयम में प्रमाद न करे ।

भावार्थ - इस लोक में परिग्रह को छोड़कर शिक्षा पाता हुआ पुरुष दीक्षा लेकर अच्छी तरह ब्रह्मचर्य का पालन

करे । तथा वह आचार्य की आज्ञा पालन करता हुआ विनय सीखे । एवं संयमपालन करने में निपुण पुरुष कभी भी प्रमाद न करे ।

टीका - 'इह' प्रवचने ज्ञातसंसारस्वभावः सन् सम्यगुत्थानेनोत्थितो ग्रथ्यते आत्मा येन स ग्रन्थो-धनधान्य-हिरण्यद्विपदचतुष्पदादि 'विहाय' त्यक्त्वा प्रव्रजितः सन् सदुत्थानेनोत्थाय च ग्रहणरूपामासेवनारूपां च शिक्षां [च] कुर्वाणः-सम्यगासेवमानः सुष्ठु-शोभनं नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तमाश्रित्य ब्रह्मचर्यं 'वसेत्' तिष्ठेत्, यदिवा 'सुब्रह्मचर्य-मिति संयमस्तद् आवसेत्-तं सम्यक् कुर्यात्, आचार्यान्तिके यावज्जीवं वसमानो यावदभ्युद्यतविहारं न प्रतिपद्यते तावदाचार्य-वचनस्यावपातो-निर्देशस्तत्कार्यवपातकारी-वचननिर्देशकारी सदाऽऽज्ञाविधायी, विनीयते-अपनीयते कर्म येन स विनयस्तं सुष्ठु शिक्षेद्-विदध्यात् ग्रहणासेवनाभ्यां विनयं सम्यक् परिपालयेदिति । तथा यः 'छेको' निपुणः स संयमानुष्ठाने सदाचार्योपदेशे वा विविधं प्रमादं न कुर्यात्, यथा हि आतुरः सम्यग्वैद्योपदेशं कुर्वन् श्लाघां लभते रोगोपशमं च एवं साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजस्थानभूतान्याचार्यवचनानि विदधदपरसाधुभ्यः साधुकारमशेषकर्मक्षयं चावाप्नोतीति ॥१॥

टीकार्थ - इस प्रवचन में संसार के (असार) स्वभाव को जानता हुआ पुरुष आत्मकल्याण के लिए उद्यत होकर जिसके द्वारा आत्मा जाल में गूँथी जाती है, उस धन, धान्य, हिरण्य और द्विपद, चतुष्पद आदि का त्याग करे और दीक्षा लेकर आत्मकल्याण में तत्पर होकर ग्रहण रूप और आसेवनरूप शिक्षा का अच्छी तरह पालन करता हुआ नव गुप्तियों से गुप्त उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन करे । अथवा संयम को सुब्रह्मचर्य कहते हैं, उसका वह अच्छी तरह पालन करे । वह जीवनभर गुरु के निकट निवास करता हुआ जब तक एकलविहारी होने की प्रतिमा न स्वीकार करे, तब तक गुरु की आज्ञा का सदा पालन करता रहे । जिससे कर्म हटाया जाता है, उसे विनय कहते हैं, उसको सदा सीखे और अच्छी तरह पालन करे । इस प्रकार जो पुरुष चतुर है, वह संयम पालन करने में और गुरु के उपदेश में कभी भी किसी प्रकार का प्रमाद न करे । जैसे रोगी पुरुष वैद्य के उपदेश को पालता हुआ प्रशंसा के योग्य होता है और रोग निवृत्ति को भी प्राप्त करता है, इसी तरह जो साधु सावद्य अनुष्ठानों का त्यागकर पापकर्म के क्षय के लिए औषधरूप गुरु के उपदेश वचनों का पालन करता है, वह दूसरे साधुओं से धन्यवाद का पात्र होता है और समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष को भी प्राप्त करता है ॥१॥



- यः पुनराचार्योपदेशमन्तरेण स्वच्छन्दतया गच्छान्निर्गत्य एकाकिविहारितां प्रतिपद्यते स च बहुदोषभाग् भवतीत्यस्यार्थस्य दृष्टान्तमाविर्भावयन्नाह -

- जो साधु आचार्य के उपदेश के बिना स्वच्छन्द होकर गच्छ से निकलकर अकेला विहार करता है, वह बहुत दोषों का भाजन होता है, इस विषय में दृष्टान्त बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मन्नमाणं ।

तमचाइयं तरुणमपत्तजातं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा

॥२॥

छाया - यथा द्विजपोतमपत्तजातं, सावासकात् प्लवितुं मव्यमानम् ।

तमशक्नुवन्तं तरुणमपत्तजातं, ढङ्कादयोऽव्यवत्तगमं हरेयुः ॥

अन्वयार्थ - (जहा दियापोतमपत्तजातं) जैसे कोई पक्षी का बच्चा पूरे पक्ष आये बिना (सावासगा पविउं मन्नमाणं) अपने स्थान से उड़कर अन्यत्र जाने की इच्छा करता हुआ (अपत्तजातं तरुणमचाइयं) पक्ष के बिना उड़ने में समर्थ नहीं होता है (ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा) और उसे मौसाहारी ढङ्क आदि पक्षी फड़फड़ाते हुए देखकर हर लेते हैं और मार डालते हैं ।

भावार्थ - जिसको अभी पूरे पक्ष नहीं आये है, ऐसा पक्षी का बच्चा जैसे उड़कर अपने घोंसले से अलग जाना चाहता हुआ उड़ने में समर्थ नहीं होता है, किन्तु झूठ ही फड़-फड़ करता हुआ, वह ढंका आदि मौसाहारी पक्षियों से मार दिया जाता है, इसी तरह जो साधु आचार्य की आज्ञा बिना अकेला विचरता है, वह नष्ट हो जाता है ।

टीका - 'यथे'ति दृष्टान्तोपप्रदर्शनार्थः 'यथा' येन प्रकारेण 'द्विजपोतः' पक्षिशिशुरव्यक्तः, तमेव विशिनष्टि-पतन्ति-गच्छन्ति येनेति पत्रं-पक्षपुटं न विद्यते पत्रजातं-पक्षोद्भवो यस्यासावपत्रजातस्तं तथा स्वकीयादावासकात्-स्वनीडात् प्लवितुम्-उत्पतितुं मन्यमानं तत्र तत्र पतन्तमुपलभ्य तं द्विजपोतं 'अचाइयं'ति पक्षाभावाद्गन्तुमसमर्थमपत्र-जातमितिकृत्वा मांसपेशीकल्पं 'ढङ्कादयः' क्षुद्रसत्त्वाः पिशिताशिनः 'अव्यक्तगमं' गमनाभावे नष्टमसमर्थं 'हरेयुः' चञ्च्वादिनोत्क्षिप्य नयेयुर्व्यापादयेयुरिति ॥२॥

टीकार्थ - यथा शब्द दृष्टान्त को बताने के लिए आया है । जिस प्रकार कोई पक्षी का बच्चा उड़ने लायक नहीं हुआ है क्योंकि जिससे पक्षी उड़ते हैं, उसे पक्ष कहते हैं, वे अभी उसको उत्पन्न नहीं हुए हैं, तथापि वह अपने घोंसले से उड़कर दूसरी जगह जाने की इच्छा करता हुआ पक्ष उत्पन्न न होने के कारण उड़ नहीं सकता किन्तु झूठ ही इधर-उधर फड़-फड़ करता है, उसे ढंक आदि माँसाहारी पक्षी माँस समझकर हर लेते हैं । वह उड़ने में असमर्थ होने के कारण कहीं छिप नहीं सकता, अतः उसे वे पक्षी अपने चोंच के द्वारा उठाकर ले जाते हैं और मार डालते हैं ॥२॥



- एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शयितुमाह -
- इस प्रकार दृष्टान्त बताकर अब दार्ष्टान्त बताते हैं -

एवं तु सेहंपि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं वुसिमं मन्नमाणा ।
दियस्स छांयं व अपत्तजायं, हरिसु णं पावधम्मा अणेगे ॥३॥

छाया - एवन्तु शिष्यमप्यपुष्टधर्माणं, निःसारितं वश्यं मव्यमानाः ।

द्विजस्य शावमिवापत्रजातं, हरेयुः पापधर्माणोऽनेके ॥

अन्वयार्थ - (एवं तु) इसी तरह (अपुट्ठधम्मं) जो धर्म में अभी निपुण नहीं है (सेहंपि) ऐसे शिष्य को (निस्सारियं) गच्छ से निकले हुए देखकर (वुसिमं मन्नमाणा) उसे अपने वशीभूत समझते हुए (अणेगे पावधम्मा) बहुत से पाखण्डी (अपत्तजायं दियस्स छांयं व) जिसको पक्ष उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसे पक्षी के बच्चे की तरह (हरिसु) हर लेते हैं ।

भावार्थ - जैसे पक्ष रहित पक्षी के बच्चे को माँसाहारी पक्षी हर लेते हैं, उसी तरह धर्म में अनिपुण शिष्य को गच्छ से निकलकर अकेला विचरते हुए देखकर बहुत से पाखण्डी बहकाकर धर्म भ्रष्ट कर देते हैं ।

टीका - 'एव' मित्युक्तप्रकारेण, तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषं दर्शयति, पूर्वं ह्यसंजातपक्षत्वादव्यक्तता प्रतिपादिता इह त्वपुष्टधर्मतयेत्ययं विशेषो, यथा द्विजपोतमसंजातपक्षं स्वनीडान्निर्गतं क्षुद्रसत्त्वा विनाशयन्ति एवं शिक्षकमभिनव-प्रव्रजितं सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थं 'अपुष्टधर्माणं' सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थं सन्तमनेके पापधर्माणः पाषण्डिकाः प्रतारयन्ति, प्रतार्य च गच्छसमुद्रान्निःसारयन्ति, निःसारितं च सन्तं विषयोन्मुखतामापादितमपगतपरलोकभयमस्माकं 'वश्यमित्येवं मन्यमानाः यदिवा 'वुसिम'न्ति चारित्रं तद् असदनुष्ठानतो निःसारं मन्यमाना अजातपक्षं 'द्विजशावमिव' पक्षिपोतमिव ढङ्कादयः पापधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः स्वजना राजादयो वाऽनेके बहवो हतवन्तो हरन्ति हरिष्यन्ति चेति, कालत्रयोपलक्षणार्थं भूतनिर्देश इति, तथाहि- पाषण्डिका एवमगीतार्थं प्रतारयन्ति, तद्यथा-युष्मदृशेनाग्निप्रज्वालनविषापहारशिखाच्छेदादिकाः प्रत्यया दृश्यन्ते, तथाऽणिमाद्यष्टगुणमैश्वर्यं च नास्ति, तथा न राजादिभिर्बहुभिराश्रितं, याऽप्यर्हिसोच्यते भवदागमे साऽपि जीवाकुलत्वाल्लोकस्य दुःसाध्या, नापि भवतां स्नानादिकं शौचमस्तीत्यादिकाभिः शठोक्तिभिर्न्द्रजालकल्पाभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति, स्वजनादयश्चैवं विप्रलम्भयन्ति, तद्यथा-आयुष्मन्! न भवन्तमन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति पोषकः पोष्यो वा, त्वमेवास्माकं सर्वस्वं, त्वया विना सर्वं शून्यमाभाति, तथा शब्दादिविषयोपभोगामन्त्रणेन सद्धर्माच्च्यावयन्ति, एवं राजादयोऽपि द्रष्टव्याः, तदेवमपुष्टधर्माणमेकाकिनं बहुभिः प्रकारैः प्रतार्यापहरेयुरिति ॥३॥

1. समाप्तावितित्तेन न प्रथमा ।

टीकार्थ - (यहाँ तु शब्द पूर्व गाथा से विशेषता बताता है) पूर्व गाथा में पक्ष उत्पन्न न होने से असमर्थता कही है और इस गाथा में धर्म में परिपक्वता न होने से असमर्थता बताई है, यह विशेषता है। जैसे अपने घोंसले से बाहर निकले हुए पक्ष रहित पक्षी के बच्चे को हिंसक पक्षी मार डालते हैं, इसी तरह सूत्र के अर्थ में अनिपुण तथा धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह न जाननेवाले नवदीक्षित शिष्य को बहुत से पाखण्डी प्रतारण करते हैं और प्रतारण करके गच्छ समुद्र से बाहर निकाल देते हैं। बाहर निकाले हुए उसे वे विषयी और परलोक के भय से रहित बना देते हैं। इसके पश्चात् उसे अपने कशीभूत मानते हुए अथवा चारित्र को निःसार समझते हुए पक्ष रहित पक्षी के बच्चे को ढंक आदि पक्षी की तरह हर लेते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय से जिनका हृदय मलिन है, ऐसे कुतीर्थी, स्वजन, और राजा आदि बहुत पापियों ने ऐसे शिष्य को हर लिया है और हर रहे हैं तथा हरेगें। यहाँ भूतकाल का निर्देश तीनों कालों का उपलक्षण है। पाखण्डी पुरुष, धर्म में अनिपुण साधु को इस प्रकार धोखा देते हैं, वे कहते हैं कि तुम्हारे दर्शन में आग जलाने, विष हरण करने और शिखाच्छेदन करने आदि नहीं कहे गये हैं तथा अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों का कथन भी नहीं है एवं राजा आदि बहुत से लोग उसे मानते भी नहीं हैं। तथा आपके दर्शन में जो अहिंसा कही है, वह भी संसार जीवों से भरा हुआ होने के कारण साध्य नहीं है तथा स्नान आदि शौच भी आप लोगों के दर्शन में नहीं है, इस प्रकार इन्द्रजाल की तरह शठतामय वचनों से वे भोले जीवों को ठग लेते हैं। एवं उसके स्वजन वर्ग इस प्रकार उसे ठगते हैं कि- हे आयुष्मन् ! आपके बिना हमारा दूसरा पोषण करनेवाला या पोषण करने योग्य नहीं है। आप ही हमारे सर्वस्व हैं, आपके बिना हम को सब शून्य-सा दीखता है। तथा शब्दादि विषयों के उपभोग का आमन्त्रण देकर वे उसे उत्तमधर्म से भ्रष्ट कर देते हैं। इसी तरह राजा आदि भी करते हैं। इस प्रकार धर्म में अनिपुण अकेले विचरनेवाले साधु को अनेक प्रकार से ठगकर पापी जीव उस साधु को हर लेते हैं ॥३॥



- तदेवमेकाकिनः साधोर्यतो बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति अतः सदा गुरुपादमूले स्थातव्यमित्येदददर्शयितुमाह -

- पूर्वोक्त प्रकार से अकेले साधु में बहुत से दोष उत्पन्न होते हैं इसलिए सदा गुरु के चरण की सेवा में ही रहना चाहिए यह शास्त्रकार दिखाते हैं -

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णंतकरिंति णच्चा ।

ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो

॥४॥

छाया - अवसानमिच्छेऽमनुजः समाधिमनुषितो नान्तकर इति ज्ञात्वा ।

अवभासयन् द्रव्यस्य वृत्तं, न निष्कसेद्बहिराशुप्रहः ॥

अन्वयार्थ - (मणुए) मनुष्य (अणोसिए णंतकरिंति णच्चा) गुरुकुल में निवास न करनेवाले कर्मों का नाश नहीं कर सकता है, यह जानकर (ओसाणं समाहिं इच्छे) गुरुकुल में निवास और समाधि की इच्छा करे (दवियस्स वित्तं ओभासमाणे) मुक्तिगमन योग्य पुरुष के आचरण को स्वीकार करता हुआ (आसुपन्नो बहिया ण णिक्कसे) बुद्धिमान् पुरुष गच्छ से बाहर न निकले ।

भावार्थ - जो पुरुष गुरुकुल में निवास नहीं करता, वह अपने कर्मों का नाश नहीं कर सकता, यह जानकर पुरुष सदा गुरुकुल में निवास करे और समाधि की इच्छा रखे। वह मुक्ति जाने योग्य पुरुष के आचरण को स्वीकार करे और गच्छ से बाहर न जाय ।

टीका - 'अवसानं' गुरोरन्तिके स्थानं तद्वावज्जीवं 'समाधिं' सन्मार्गानुष्ठानरूपम् 'इच्छेद्' अभिलषेत् 'मनुजो' मनुष्यः साधुरित्यर्थः, स एव च परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञातं निर्वाहयति, तच्च सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सद्गुणानुरूपं समाधिमनुपालयता निर्वाह्यते नान्यथेत्येतदर्थयति-गुरोरन्तिके 'अनुषितः' अव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी समाधेः सद्गुणानुरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तकरो भवतीत्येवं ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्यः, तद्रहितस्य विज्ञानमुपहास्यप्रायं भवतीति, उक्तं च-

“न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् । प्रकटितपश्चाद्भागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥१॥”

तथाऽजां गलविलग्रवालुकां पार्ष्णिप्रहारेण प्रगुणां दृष्ट्वाऽपरोऽनुपासितगुरुरज्ञो राज्ञी संजातगलगण्डां पार्ष्णिप्रहारेण व्यापादितवान्, इत्यादयः अनुपासितगुरोर्बहवो दोषाः संसारवर्धनाद्या भवन्तीत्यवगम्यानया मर्यादया गुरोरन्तिके स्थातव्यमिति दर्शयति- 'अवभासयन्' उद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् 'द्रव्यस्य' मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य वा वृत्तम्-अनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेद्, धर्मकथिकः कथनतो वोद्भासयेदिति । तदेवं यतो गुरुकुलवासो बहूनां गुणानामाधारो भवत्यतो 'न निष्कसेत्' न निर्गच्छेत् गच्छाद्गुर्वन्तिकाद्वा बहिः, स्वेच्छाचारी न भवेद्, 'आशुप्रज्ञ' इति क्षिप्रप्रज्ञः, तदन्तिके निवसन् विषयकषायाभ्यामात्मानं हियमाणं ज्ञात्वा क्षिप्रमेवाचार्योपदेशात्स्वत एव वा 'निवर्तयति' सत्समाधौ व्यवस्थापयतीति ॥४॥

टीकार्थ - मनुष्य, जीवन पर्यन्त गुरु के निकट निवास करने और उत्तम मार्ग के अनुष्ठान करने की इच्छा करे । वही पुरुष सच्चा मनुष्य है, जो अपनी प्रतिज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करता है । वह प्रतिज्ञा सदा गुरु के पास निवास करने और उत्तम अनुष्ठान करने से पाली जाती है, अन्यथा नहीं, यह शास्त्रकार दिखाते हैं - जो पुरुष गुरु के निकट निवास नहीं करता और स्वच्छन्द होकर कार्य करता है, वह प्रतिज्ञा किये हुए उत्तम अनुष्ठानरूप कार्य को पार नहीं लगा सकता यह जानकर सदा गुरुकुल में निवास करना चाहिए, जो गुरुकुल में निवास नहीं करता है, उसका ज्ञान हास्य के लिए होता है । अत एव कहा है कि-

गुरुकुल की उपासना नहीं किये हुए पुरुष का विज्ञान उसकी रक्षा करने के लिए समर्थ नहीं होता क्योंकि गुरु के उपदेश के बिना अपने अनुभव से नाचनेवाले मयूर का पिछला भाग उछाड़ा हो जाता है ।

जैसा किसी बकरी के गले में लगी हुई रेती को पैर से मारकर झाड़ते हुए ऐसे किसी को देखकर गुरु की उपासना नहीं किये हुए किसी मूर्ख ने गले के रोग की निवृत्ति पैर के मारने से होती है, यह जानकर गले में गण्डरोग से पीड़ित किसी रानी के गले में पैर मारकर रानी को मार डाला था । इस प्रकार गुरु की उपासना नहीं किये हुए पुरुष में संसार की वृद्धि आदि बहुत से दोष उत्पन्न होते हैं, अतः पुरुष को आगे कहीं जानेवाली मर्यादा के साथ गुरु के पास निवास करना चाहिए, यह शास्त्रकार बताते हैं- विद्वान् पुरुष मुक्ति जाने योग्य साधु के अथवा रागद्वेष रहित सर्वज्ञ पुरुष के अनुष्ठान को उत्तम आचरण के द्वारा प्रकाशितकर अथवा धर्मकथा कहकर उसे प्रकट करे । गुरुकुल में निवास करना बहुत गुण के लिए होता है, इसलिए साधु गच्छ से या गुरु के पास से अलग न जावे तथा वह स्वेच्छाचारी न बने । बुद्धिमान् पुरुष गुरु के निकट निवास करता हुआ अपने आत्मा को विषय और कषायों से हरण किया जाता हुआ जानकर आचार्य के उपदेश से अथवा स्वयमेव उसे हटा लेता है और उसे समाधि में स्थापित करता है ॥४॥



- तदेवं प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासमावसन् सर्वत्र स्थानशयनासनादावुपयुक्तो भद्रे तदुपयुक्तस्य च गुणमुद्भावयन्नाह -

- इस प्रकार दीक्षा लेकर जो पुरुष सदा गुरुकुल में निवास करता हुआ सदा स्थान, शयन और आसन आदि में उपयोग रखता है, उसको जो गुण प्राप्त होता है, उसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

जे ठाणओ य सयणासणे य, परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते ।

समितीसु गुत्तीसु य आयपन्ने, वियागरिते य पुढो वण्ज्जा

॥५॥

छाया - यः स्थानतश्च शयनासनाभ्याञ्च पराक्रमतश्च सुसाधुयुक्तः ।

समितिषु गुप्तिषु चावगतप्रज्ञः, व्याकुर्वन् पृथग् वदेत् ॥

अन्वयार्थ - (ठाणओ सयणासणे य परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते) गुरुकुल में निवास करनेवाला पुरुष स्थान, आसन, शयन और पराक्रम के द्वारा उत्तम साधु के समान आचरण करता है तथा (समितिषु गुत्तीसु य आयपन्ने) वह समिति और गुप्ति के विषय में खूब ज्ञानवान् हो जाता

है (वियागरिति य पुढो वएज्जा) तथा वह समिति और गुप्ति का यथार्थ स्वरूप दूसरे को भी बताता है ।

भावार्थ - गुरुकुल में निवास करनेवाला साधु स्थान, शयन, आसन और पराक्रम के विषय में उत्तम साधु के समान आचरण करता है तथा वह समिति गुप्ति के विषय में पूर्णरूप से प्रवीण हो जाता है और दूसरे को भी उसका उपदेश करता है ।

- यो हि निर्विण्णसंसारतया प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासतः 'स्थानतश्च' स्थानमाश्रित्य तथा शयनत आसनतः, एकश्चकारः समुच्चये द्वितीयोऽनुक्तसमुच्चयार्थः चकाराद्गमनमाश्रित्यागमनं च तथा तपश्चरणादौ पराक्रमतश्च, (सु) साधोः- उद्युक्तविहारिणो ये समाचारास्तैः समायुक्तः सुसाधुयुक्तः सुसाधुर्हि यत्र स्थानं-कायोत्सर्गादिकं विधत्ते तत्र सम्यक् प्रत्युपेक्षणादिकां क्रियां करोति, कायोत्सर्गं च मेरुरिव निष्प्रकम्पः शरीरनिःस्पृहो विधत्ते, तथा शयनं च कुर्वन् प्रत्युपेक्ष्य संस्तारकं तद्भुवं कायं चोदितकाले गुरुभिरनुज्ञातः स्वपेत्, तत्रापि जाग्रदिव नात्यन्तं निःसह इति । एवमासनादिष्वपि तिष्ठता पूर्ववत्संकुचितगात्रेण स्वाध्यायध्यानपरायणेन सुसाधुना भवितव्यमिति, तदेवमादिसुसाधुक्रियायुक्तो गुरुकुलनिवासी सुसाधुर्भवतीति स्थितम् । अपिच-गुरुकुलवासे निवसन् पञ्चसु समितिष्वीर्यासमित्यादिषु प्रविचाररूपासु तथा तिसृषु च गुप्तिषु प्रविचाराप्रविचाररूपासु आगताः-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञाः-संजातकर्तव्यविवेकः स्वतो भवति, परस्यापि च 'व्याकुर्वन्' कथयन् पृथक् पृथग्गुरोः प्रसादात्परिज्ञातस्वरूपः समितिगुप्तीनां यथावस्थितस्वरूपप्रतिपालनं तत्फलं च 'वदेत्' प्रतिपादयेदिति ॥५॥

टीकाार्थ - संसार से विरक्त दीक्षा लिया हुआ पुरुष सदा गुरुकुल में निवास करने से स्थान, शयन, आसन (एक चकार समुच्चय अर्थ में है और दूसरा अनुक्त समुच्चयार्थक है) तथा चकार से गमन, आगमन और तपस्या के विषय में पराक्रम करता हुआ उत्तम साधु का जो आचरण है, उससे वह युक्त होता है । उत्तम साधु जिस स्थान में कायोत्सर्ग करता है, उसको वह अच्छी तरह देखकर तथा प्रमार्जन करके कायोत्सर्ग करता है । तथा वह कायोत्सर्ग भी मेरु पर्वत के समान कम्प रहित एवं शरीर से निःस्पृह होकर करता है । वह शयन करने के समय बिछौना जमीन और अपने शरीर को देखकर गुरु की आज्ञा लेकर शास्त्रोक्त काल में शयन करता है तथा वह सोया हुआ भी जागते हुए के समान सतर्क रहता है, अत्यन्त भान रहित नहीं होता । इसी तरह आसन आदि पर बैठता हुआ, वह अपने गात्र को संकुचित करके बैठता है तथा स्वाध्याय और ध्यान में सदा तत्पर रहता है । इस प्रकार उत्तम साधु की क्रिया से युक्त गुरुकुल निवासी साधु होता है, यह सिद्ध हुआ । तथा गुरुकुल में निवास करनेवाला पुरुष ईर्यासमिति आदि विचाररूप पाँच समितिओं में तथा प्रविचार और अप्रविचार रूप तीन गुप्तियों में विवेकवाला होता है, वह कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से स्वयं युक्त होता है और गुरु की कृपा से समिति और गुप्ति का स्वरूप जानकर दूसरे को उनके यथार्थस्वरूप तथा उनका पालन और फल का उपदेश करता है ॥५॥



- ईर्यासमित्याद्युपेतेन यद्विधेयं तददर्शयितुमाह -

- ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु को जो करना चाहिए सो बताते हैं -

सद्वाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।

निहं च भिक्खू न पमायं कुज्जा, कहंकहं वा वितिगिच्छतिन्ने

॥६॥

छाया - शब्दान् श्रुत्वाऽयं भेरवान्, अणाश्रवस्तेषु परिव्रजेत् ।

निद्राश्च भिक्षुर्न प्रमादं कुर्व्यात्, कथं कथं वा विचिकित्सातीर्णः ॥

अन्वयार्थ - (सद्वाणि अदु भेरवाणि सोच्चा) मधुर या भयङ्कर शब्दों को सुनकर (तेसु अणासवे परिव्वएज्जा) उनमें रागद्वेष रहित होकर साधु विचरे (भिक्खू निहं पमायं न कुज्जा) एवं उत्तम साधु निद्रा और प्रमाद न करे (कहंकहं वा वितिगिच्छतिन्ने) तथा किसी विषय में भ्रम होने पर गुरु की कृपा से उससे पार हो जाय ।

भावार्थ - ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु मधुर या भयङ्कर शब्दों को सुनकर राग द्वेष न करे तथा वह निद्रारूप

प्रमाद न करे और किसी विषय में भ्रम होने पर गुरु से पूछकर उससे पार हो जाय ।

टीका - 'शब्दान्' वेणुवीणादिकान् मधुरान् श्रुतिपेशलान् 'श्रुत्वा' समाकर्ण्यथवा 'भैरवान्' भयावहान् कर्णकटूनाकर्ण्य शब्दान् आश्रवति तान् शोभनत्वेनाशोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवो नाश्रवोऽनाश्रवः, तेष्वनुकूलेषु प्रतिकूलेषु श्रवणपथमुपगतेषु शब्देष्वनाश्रवो-मध्यस्थो रागद्वेषरहितो भूत्वा परि-समन्ताद् व्रजेत् परिव्रजेत्-संयमानुष्ठायी भवेत्, तथा 'निद्रां च' निद्राप्रमादं च 'भिक्षुः' सत्साधुः प्रमादाङ्गत्वान्न कुर्यात्, एतदुक्तं भवति-शब्दाश्रवनिरोधेन विषयप्रमादो निषिद्धो निद्रानिरोधेन च निद्राप्रमादः चशब्दादन्यमपि प्रमादं विकथाकषायादिकं न विदध्यात् । तदेवं गुरुकुलवासात् स्थानशयनासनसमिति-गुप्तिष्वागतप्रज्ञः प्रतिषिद्धसर्वप्रमादः सन् गुरोरुपदेशादेव कथंकथमपि विचिकित्सां-चित्तविप्लुतिरूपां [वि]तीर्णः-अतिक्रान्तो भवति, यदिवा मदगृहीतोऽयं पञ्चमहाव्रतभारोऽतिदुर्वहः कथं कथमप्यन्तं गच्छेद् ?, इत्येवंभूतां विचिकित्सां गुरुप्रसादाद्वितीर्णो भवति, अथवा यां काञ्चित्चित्तविप्लुतिं देशसर्वगतां तां कृत्स्नां गुर्वन्तिके वसन् वितीर्णो भवति अन्येषामपि तदपनयनसमर्थः स्यादिति ॥६॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - कानों को मधुर लगनेवाले वीणा और वेणु आदि के शब्दों को अथवा कानों को अप्रिय लगनेवाले भयंकर शब्दों को सुनकर साधु उनमें आश्रव न करे । जो वस्तु को भला और बुरा रूप से ग्रहण करता है, उसे आश्रव कहते हैं, साधु उससे रहित हो जाय । आशय यह है कि- अनुकूल या प्रतिकूल शब्द साधु के कान में पड़े तो वह उनमें रागद्वेष न करता हुआ मध्यस्थवृत्ति धारण करके संयम का अनुष्ठान करे । तथा उत्तम साधु प्रमाद के अङ्गरूप निद्रा प्रमाद न करे । यहाँ शब्दरूप आश्रव का निरोध कहकर विषय, प्रमाद का निषेध किया है और निद्रा का निरोध बताकर निद्रारूप प्रमाद का निषेध किया है एवं च शब्द से दूसरे विकथा और कषाय आदि प्रमादों को न करना चाहिए, यह उपदेश किया है । इस प्रकार साधु गुरुकुल में निवास करने से ही स्थान, शयन, आसन, समिति और गुप्तियों में विवेकयुक्त तथा सब प्रमादों को छोड़ता हुआ गुरु के उपदेश से ही चित्त के भ्रम से भी पार हो जाता है । अथवा साधु के मन में जो यह चिन्ता लगी रहती है कि - "मेरे द्वारा ग्रहण किया हुआ यह पाँच महाव्रत रूपी भार दुःख से वहन करने योग्य है इसलिए यह बड़ी मुश्किल से पार किया जा सकेगा ।" इसको वह गुरु की कृपा से पार कर जाता है । अथवा गुरुकुल में निवास करनेवाला पुरुष देश से या समस्त रूप से जो कुछ सन्देह होता है, [गुरु से समाधान पाकर] उससे वह पार हो जाता है और दूसरे के सन्देह को मिटाने में भी समर्थ होता है ॥६॥



डहरेण वृद्धेणऽणुसासिए उ, रातिणिण्णावि समव्वएणं ।

सम्मं तयं थिरओ णाभिगच्छे, णिज्जंतए वावि अपारए से

॥७॥

छाया - डहरेण वृद्धेणानुशासितस्तु रत्नाधिकेणाऽपि समवयसा ।

सम्यक्त्वया स्थिरतो नाभिगच्छेन्नीयमानो वाय्यपारगः सः ॥

अन्वयार्थ - (डहरेण वृद्धेणऽणुसासिए) किसी प्रकार का प्रमाद होने पर छोटे या बड़े साधु के द्वारा शिक्षा दिया हुआ (रातिणिण्णावि समव्वएणं) तथा अपने से प्रव्रज्या में श्रेष्ठ अथवा समान अवस्थावाले पुरुष के द्वारा भूल सुधारने के लिए कहा हुआ जो पुरुष (सम्मं तयं थिरओ णाभिगच्छे) अच्छी तरह स्थिरता के साथ स्वीकार नहीं करता है (णिज्जंतए वावि अपारए से) वह संसार के प्रवाह में बह जाता है । वह उसे पार करने में समर्थ नहीं होता है ।

भावार्थ - कभी प्रमादवश भूल होने पर अपने से बड़े छोटे अथवा प्रव्रज्या में बड़े या समान अवस्थावाले साधु के द्वारा भूल सुधारने के लिए कहा हुआ जो साधु उसे स्वीकार न करके क्रोध करता है, वह संसार के प्रवाह में बह जाता है, वह संसार को पार करने में समर्थ नहीं होता है ।

टीका - स गुर्वन्तिके निवसन् क्वचित् प्रमादस्खलितः सन् वयःपर्यायाभ्यां क्षुल्लकेन-लघुना 'चोदितः' प्रमादाचरणं प्रति निषिद्धः, तथा 'वृद्धेन वा' वयोऽधिकेन श्रुताधिकेन वा 'अनुशासितः' अभिहितः, तद्यथा-

भवद्विधानामिदमीदृक् प्रमादाचरणमासेवितुमयुक्तं, तथा 'रत्नाधिकेन वा' प्रव्रज्यापर्यायाधिकेन श्रुताधिकेन वा समवयसा वा 'अनुशासितः' प्रमादस्खलिताचरणं प्रति चोदितः कुप्यति यथा अहमप्यनेन द्रमकप्रायेणोत्तमकुलप्रसूतः सर्वजनसंमत इत्येवं चोदित इत्येवमनुशास्यमानो न मिथ्यादुष्कृतं ददाति न सम्यगुत्थानेनोत्तिष्ठति नापि तदनुशासनं सम्यक् स्थिरतः- अपुनःकरणतयाऽभिगच्छेत्-प्रतिपद्येत, चोदितश्च प्रतिचोदयेद्, असम्यक् प्रतिपद्यमानश्चासौ संसारस्त्रोतसा 'नीयमान' उह्यमानोऽनुशास्यमानः कुपितोऽसौ न संसारार्णवस्य पारगो भवति । यदिवाऽऽचार्यादिना सदुपदेशदानतः प्रमादस्खलितनिवर्तनतो मोक्षं प्रति नीयमानोऽप्यसौ संसारसमुद्रस्य तदकरणतोऽपारग एव भवतीति ॥७॥

टीकार्थ - गुरुकुल में निवास करता हुआ साधु यदि किसी विषय में प्रमाद वश भूल करता है तो उसको अवस्था अथवा पर्याय में छोटा साधु प्रमाद करने का निषेध करता है अथवा उससे शास्त्र में अथवा अवस्था में बड़ा साधु निषेध करता है, वह कहता है कि- "आप जैसे योग्य पुरुष को इस प्रकार प्रमाद न करना चाहिए" तथा प्रव्रज्या के पर्याय में अधिक या शास्त्र में अधिक अथवा समान अवस्थावाले साधु उसे प्रमाद न करने की शिक्षा देते हैं । इस प्रकार शिक्षा दिया हुआ वह साधु यदि शिक्षा देनेवालों के ऊपर क्रोध करता है और कहता है कि- "मैं उत्तम कुल में जन्मा हूँ, मुझे सब लोग मान देते हैं, मेरे जैसे को यह तुच्छ जीव इस प्रकार शिक्षा दे रहा है ?" इस प्रकार क्रोधित होकर वह अपने आचरण के लिए- "मिच्छा मि दुक्कडं" नहीं देता है और फिर अपने को सम्हालता नहीं तथा उस शिक्षा को पाकर भी फिर भूल न करने के लिए, उस बात को मानता नहीं है और शिक्षा देनेवाले को प्रत्युत्तर देता है तो वह साधु संसार के प्रवाह में बह जाता है । वह शिक्षा देने पर क्रोध करता है इसलिए वह संसार सागर को पार करने में समर्थ नहीं होता । अथवा आचार्य आदि उसे सदुपदेश देकर और प्रमाद वश भूल करने की निवृत्ति की शिक्षा देकर यद्यपि उसे मोक्ष की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं तथापि वह उनकी शिक्षा के अनुसार आचरण न करने के कारण संसार सागर को पार नहीं करता ॥७॥



- साम्प्रतं स्वपक्षचोदनानन्तरतः (रं)स्वपरचोदनामधिकृत्याह -

- अपने पक्षवाले साधुओं के द्वारा दी हुई शिक्षा बताने के पश्चात् अपने और दूसरे पक्षवालों के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा के विषय में शास्त्रकार कहते हैं -

विउद्धितेणं समयाणुसिद्धे, डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य ।

अच्चुट्टियाए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिद्धे

॥८॥

छाया - व्युत्थितेन समयाणुशिष्टो डहरेण वृद्धेन तु चोदितश्च ।

अत्युत्थितया घटदास्यावाऽगारिणां वा समयाणुशिष्टः ॥

अन्वयार्थ - (विउद्धितेणं समयाणुसिद्धे) शास्त्र विरुद्ध कार्य करनेवाले गृहस्थ तथा परतीर्थी आदि के द्वारा अर्हदर्शन के आचार की शिक्षा दिया हुआ साधु (डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य) तथा अवस्था में छोटे या बड़े के द्वारा शुभ कार्य की ओर प्रेरित किया हुआ (अच्चुट्टियाए घडदासिए वा) अथवा अत्यन्त निन्दनीय कर्म करनेवाली घटदासी के द्वारा भी धर्म कार्य का उपदेश किया हुआ (अगारिणं वा समयाणुसिद्धे) अथवा किसी के द्वारा यह कहा हुआ कि- "यह कार्य तो गृहस्थ के योग्य भी नहीं है फिर साधुओं की तो बात ही क्या है ?" साधु क्रोध न करे ।

भावार्थ - शास्त्र विरुद्ध कार्य करनेवाला गृहस्थ, परतीर्थी आदि तथा अवस्था में छोटे या बड़े एवं अत्यन्त निन्दित घटदासी यदि साधु को शुभ आचरण करने की शिक्षा दे तो भी साधु को क्रोध नहीं करना चाहिए ।

टीका - विरुद्धोत्थानेनोत्थितो व्युत्थितः-परतीर्थीको गृहस्थो वा मिथ्यादृष्टिस्तेन प्रमादस्खलिते चोदितः स्वसमयेन, तद्यथा- नैवंविधमनुष्ठानं भवतामागमे व्यवस्थितं येनाभिप्रवृत्तोऽसि, यदिवा व्युत्थितः-संयमाद्भ्रष्टस्तेनापरः साधुः स्खलितः सन् स्वसमयेन-अर्हत्प्राणीतागमानुसारेणानुशासितो मूलोत्तरगुणाचरणे स्खलितः सन् 'चोदित' आगमं प्रदर्श्याभिहितः, तद्यथा- नैतत्त्वरितगमनादिकं भवतामनुज्ञातमिति, तथा अन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना 'क्षुल्लकेन' लघुतरेण वयसा वृद्धेन वा कुत्सिताचारप्रवृत्तश्चोदितः, तुशब्दात्समानवयसा वा तथा अतीवाकार्यकरणं प्रति उत्थिता

अत्युत्थिताः, यदिवा-दासीत्वेन अत्यन्तमुत्थिता दास्या अपि दासीति, तामेव विशिनष्टि-‘घटदास्या’ जलवाहिन्यापि चोदितो न क्रोधं कुर्यात्, एतदुक्तं भवति-अत्युत्थितयाऽतिकुपितयाऽपि चोदितः स्वहितं मन्यमानः सुसाधुर्न कुप्येत्, किं पुनरन्येनेति ?, तथा ‘अगारिणां’ गृहस्थानां यः ‘समयः अनुष्ठानं तत्समयेनानुशासितो, गृहस्थानामपि एतन्न युज्यते कर्तुं यदारब्धं भवतेत्येवमात्मावमेनापि चोदितो ममैवैतच्छ्रेय इत्येव मन्यमानो मनागपि न मनो दूषयेदिति॥८॥

टीकार्थ - जो शास्त्र विरुद्ध कार्य्य करता है, उसे व्युत्थित कहते हैं, वह परतीर्थी, गृहस्थ और मिथ्यादृष्टि हैं, वे लोग साधु से चूक होने पर यदि साधु के सिद्धान्त का उपदेश करें और कहें कि- “आप जो आचरण कर रहे हैं, वह आपके आगम में कहा नहीं है ।” अथवा संयम से भ्रष्ट कोई पुरुष मूलगुण तथा उत्तरगुण के पालन में चूके हुए साधु को तीर्थंकर प्रणीत आगम का दाखला देकर शिक्षा दे और कहे कि आपका जल्दी जल्दी चलना शास्त्र विहित नहीं है । तथा अन्य कोई मिथ्यादृष्टि, अवस्था में छोटा या बड़ा तथा समान अवस्थावाला पुरुष निन्दनीय आचार करते हुए साधु को उत्तम आचार की शिक्षा दे तथा जो दासी की भी दासी है अर्थात् जो जलवहन किया करती है, वह भी यदि साधु को शुभ आचार की शिक्षा दे तो साधु को क्रोध नहीं करना चाहिए। आशय यह है कि- अत्यन्त कुपित होकर दासी भी यदि उत्तम आचार की शिक्षा दे तो साधु उसे अपना हित समझकर क्रोध न करे, फिर दूसरे की शिक्षा पर क्रोध करने की तो बात ही क्या है ? । यदि कोई साधु को शिक्षा देता हुआ कहे कि- “जो कार्य्य आप करते हैं, वह तो गृहस्थों के योग्य भी नहीं है ।” इस प्रकार साधु को अपमान के साथ भी यदि अच्छी शिक्षा देवे तो साधु समझे कि इसी में मेरा कल्याण है और यह समझकर थोड़ा भी मन में दुःख नहीं माने ॥८॥



- एतदेवाह -

- यही शास्त्रकार कहते हैं -

ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा ।

तहा करिस्संति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमायं कुज्जा

॥९॥

छाया - न तेषु कुक्षेज्जा च प्रव्यथयेज्जा चाऽपि किञ्चित्पुरुषं वदेत् ।

तथा करिष्यामीति प्रतिशृणुयात्, श्रेयः खलु ममेदं न प्रमादं कुर्यात् ॥

अन्वयार्थ - (तेसु ण कुज्झे) पूर्वोक्त रूप से शिक्षा देनेवालों पर साधु क्रोध न करे (ण य पव्वहेज्जा) तथा उन्हें पीड़ित न करे (ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा) एवं उन्हें कटु शब्द न कहे (तहा करिस्संति पडिस्सुणेज्जा) किन्तु मैं अब से ऐसा ही करूंगा, यह साधु प्रतिज्ञा करे (सेयं खु मेयं) और वह यह समझे कि इसमें मेरा ही कल्याण है । (ण पमायं कुज्जा) इसलिए प्रमाद न करे ।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से शिक्षा दिया हुआ साधु शिक्षा देनेवालों पर क्रोध न करे तथा उन्हें पीड़ित न करे एवं कटु वचन न कहे किन्तु- “अब मैं ऐसा ही करूंगा” ऐसी प्रतिज्ञा करता हुआ साधु प्रमाद न करे ।

टीका - ‘तेषु’ स्वपरपक्षेषु स्वखलितचोदकेष्वात्महितं मन्यमानो न कुध्येद् अन्यस्मिन् वा दुर्वचनेऽभिहिते न कुप्येद् एवं च चिन्तयेत्-

‘आकृष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः? स्यादनृतं किं नु कोपेन?॥१॥’

तथा नाप्यपरेण स्वतोऽधमेनापि चोदितोऽर्हन्मार्गानुसारेण लोकाचारगत्या वाऽभिहितः परमार्थं पर्यालोच्य तं चोदकं प्रकर्षेण ‘व्यथेत्’ दण्डादिप्रहारेण पीडयेत् न चापि किञ्चित्पुरुषं तत्पीडादिकारि ‘वदेत्’ ब्रूयात्, ममैवायमसद-नुष्ठायिनो दोषो येनायमपि मामेवं चोदयति, चोदितश्चैवंविधं भवता असदाचरणं न विधेयमेवंविधं च पूर्वर्षिभिरनुष्ठितम-नुष्ठेयमित्येवंविधं वाक्यं तथा करिष्यामीत्येवं मध्यस्थवृत्त्या प्रतिशृणुयाद् अनुतिष्ठेच्च-मिथ्यादुष्कृतादिना निवर्तेत, यदेतच्चोदनं नामैतन्ममेव श्रेयो, यत एतद्वयात्कवचित्पुनः प्रमादं न कुयन्नैवासदाचरणमनुतिष्ठेदिति ॥९॥

टीकार्थ - साधु से संयम पालन में भूल होने पर अपने पक्षवाले अथवा अन्य पक्षवाले यदि उसकी भूल बताये तो उसी में अपना हित समझकर साधु बतानेवालों पर क्रोध न करे, यदि वे किसी प्रकार का दुर्वचन कहें तो भी साधु क्रोध न करे, किन्तु यह विचार करे कि-

(आकुष्टेन) किसी के द्वारा की जाती हुई अपनी निन्दा को सुनकर बुद्धिमान् पुरुष सत्य बात के अन्वेषण में अपनी बुद्धि लगावे और यह समझे कि यदि यह निन्दा सच्ची है तो फिर क्रोध क्यों करना चाहिए ? । और यदि मिथ्या है तो भी क्रोध की क्या आवश्यकता है ? ।

अपने से छोटा मनुष्य भी यदि जिनमार्ग की शिक्षा दे अथवा लोकाचार के विषय में कुछ कहे तो साधु परमार्थ को विचार करके दण्ड आदि के प्रहार से कहनेवालों को पीड़ित न करे तथा कटुवचन कहकर उसको सन्तप्त भी न करे, किन्तु वह यह समझे कि- “मेरा असत् अनुष्ठान का ही यह फल है, जिससे यह मुझको ऐसी प्रेरणा करता है । यदि शिक्षा देनेवाला वह पुरुष यह कहे कि- “आप को ऐसा अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। किन्तु पूर्व के ऋषियों से आचरित अमुक मार्ग का अनुष्ठान करना चाहिए ।” तो साधु मध्यस्थवृत्ति से यह प्रतिज्ञा करे कि- “मैं अब ऐसा ही करूंगा ।” तथा अपने पहले के अनुचित आचरण के लिए ‘मिच्छा मि दुक्कडं’ देवे। पूर्वोक्त शिक्षा के द्वारा साधु यह समझे कि- इन लोगों ने जो उपदेश किया है, इसमें मेरा ही कल्याण है, क्योंकि इस शिक्षा के कारण अब कभी मेरे से ऐसा अनुचित कार्य नहीं होगा । इस प्रकार समझकर साधु कभी भी असत् आचरण न करे ॥९॥



- अस्यार्थस्य दृष्टान्तं दर्शयितुमाह -

- अब शास्त्रकार इसी बात को दृष्टान्त देकर समझाते हैं -

वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।

तेणेव (तेणावि) मज्झं इणमेव सेयं, जं मे बुहा समणुसासयंति

॥१०॥

छाया - वने मूढस्य यथाऽमूढाः, मार्गमनुशासति हितं प्रजाणाम् ।

तेनाऽपि मज्झमिदमेव श्रेयः यब्धे वृद्धाः सम्यगनुशासति ॥

अन्वयार्थ - (जहा अमूढा) जैसे मार्ग जाननेवाले पुरुष (वणंसि मूढस्स) जङ्गल में मार्ग भूले हुए पुरुष को (पयाणं हितं मग्गाणुसासंति) प्रजाओं के हितकारक मार्ग की शिक्षा देते हैं (तेणेव मज्झं इणमेव सेयं) इसी तरह मेरे लिये भी यही कल्याणकारक उपदेश है (जं मे बुहा समणुसासयंति) जो मुझ को वृद्ध पुरुष शिक्षा देते हैं ।

भावार्थ - जैसे जङ्गल में भूला हुआ पुरुष मार्ग जाननेवाले के द्वारा मार्ग की शिक्षा पाकर प्रसन्न होता है और समझता है कि- इस उपदेश से मुझ को कल्याण की प्राप्ति होगी, इसी तरह उत्तम मार्ग की शिक्षा देनेवाले जीव के ऊपर साधु प्रसन्न रहे और यह समझे कि ये लोग जो उपदेश करते हैं, इसमें मेरा ही कल्याण है ।

टीका - ‘वने’ गहने महाटव्यां दिग्भ्रमेण कस्यचिद्व्याकुलितभर्तेर्नष्टसत्पथस्य यथा केचिदपरे कृपाकृष्टमानसा ‘अमूढाः’ सदसन्मार्गज्ञाः कुमार्गपरिहारेण प्रजानां ‘हितम्’ अशेषापायरहितमीप्सितस्थानप्रापकं ‘मार्गं’ पन्थानम् ‘अनुशासति’ प्रतिपादयन्ति, स च तैः सदसद्विवेकिभिः सन्मार्गावतरणमनुशासित आत्मनः श्रेयो मन्यते, एवं तेनाप्यसदनुष्ठायिना चोदितेन न कुपितव्यम्, अपितु ममायमनुग्रह इत्येवं मन्तव्यं, यदेतद् बुद्धाः सम्यगनुशासयन्ति सन्मार्गे-ऽवतारयन्ति पुत्रमिव पितरः तन्ममैव श्रेय इति मन्तव्यम् ॥१०॥

टीकार्थ - जैसे घोर जङ्गल में किसी मनुष्य को दिशा का भ्रम हो गया है, इस कारण वह घबरा रहा है और वह अच्छे मार्ग का ज्ञान भूल गया है, उस पुरुष पर कृपा करके यदि सत् और असत् मार्ग को जाननेवाला कोई पुरुष कुमार्ग को छोड़कर जिसमें प्रजा का मङ्गल होता है, ऐसे निर्विघ्न और इष्ट स्थान पर पहुँचानेवाला मार्ग बताता है तो वह दिग्मूढ़ पुरुष सन्मार्ग का उपदेश पाकर अपना कल्याण मानता है, इसी तरह असत् मार्ग में प्रवृत्त

पुरुष को भी किसी के द्वारा सन्मार्ग की शिक्षा पाकर क्रोध नहीं करना चाहिए, किन्तु इस पुरुष ने मेरे पर कृपा की है, यह मानना चाहिए। तथा उसको यह समझना चाहिए कि जैसे पिता अपने पुत्र को अच्छे मार्ग की शिक्षा देता है, इसी तरह ये वृद्धलोग मुझ को सन्मार्ग में चलने की शिक्षा देते हैं, अतः इसमें मेरा ही कल्याण है ॥१०॥



- पुनरप्यस्यार्थस्य पुष्ट्यर्थमाह -

- फिर भी शास्त्रकार इसी अर्थ की पुष्टि के लिए कहते हैं -

अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता ।

एओवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं

॥११॥

छाया - अह तेण मूढेणामूढस्य, कर्तव्या पूजा सविशेषयुक्ता ।

एतामुपमां तत्रोदाहृतवान् वीरः, अनुगम्यार्थमुपनयति सम्यक् ॥

अन्वयार्थ - (अह तेण मूढेण) इसके पश्चात् उस मूढ पुरुष को (अमूढगस्स सविसेसजुत्ता पूया कायव्व) अमूढ पुरुष की विशेष रूप से पूजा करनी चाहिए। (तत्थ वीरे एओवमं उदाहु) इस विषय में वीर प्रभु ने यही उपमा बताई है (अत्थं अणुगम सम्मं उवणेति) पदार्थ को समझकर प्रेरणा के उपकार को साधु अपने में स्थापित करे।

भावार्थ - जैसे मार्ग भ्रष्ट पुरुष मार्ग बतानेवालों की विशेष रूप से पूजा करता है, इसी तरह सन्मार्ग का उपदेश देनेवाले पुरुष का संयम पालन में भूल करनेवाला साधु विशेष रूप से सत्कार करे और उसके उपदेश को हृदय में स्थापित करके उसका उपकार माने, यही उपदेश तीर्थङ्कर और गणधरों ने दिया है।

टीका - 'अथे' त्यानन्तर्याथे वाक्योपन्यासाथे वा, यथा 'तेन' मूढेन सन्मार्गावतारितेन तदनन्तरं तस्य 'अमूढस्य' सत्पथोपदेष्टुः पुलिन्दादेरपि परमुपकारं मन्यमानेन पूजा विशेषयुक्ता कर्तव्या, एवमेतामुपमाम् 'उदाहृतवान्' अभिहितवान् 'वीरः' तीर्थकरोऽन्यो वा गणधरादिकः 'अनुगम्य' बुद्ध्वा 'अर्थं' परमार्थं चोदनाकृतं परमोपकारं सम्यगात्मन्युपनयति, तद्यथा-अहमनेन मिथ्यात्ववनाज्जन्मजरामरणाद्यनेकोपद्रवबहुलात्सदुपदेशदानेनोत्तारितः, ततो मयाऽस्य परमोपकारिणोऽभ्युत्थानविनयादिभिः पूजा विधेयेति। अस्मिन्नर्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा-

“गेहंमि अग्निजालाउलंमि जह णाम डज्झमाणांमि । जो बोहेइं सुयंतं सो तरस्स जणी परमबन्धू ॥१॥
जह वा विससंजुत्तं भत्तं निब्बदिमिह भोक्तुकामस्स । जोवि सदोसं साहइ सो तरस्स जणी परमबन्धू ॥२॥” ॥११॥

टीकार्थ - यहाँ 'अथ' शब्द पश्चात् अर्थ में अथवा वाक्य के आरम्भ अर्थ में आया है। जैसे अच्छे मार्ग में उतारे हुए मूढ पुरुष को अच्छे मार्ग की शिक्षा देनेवाले किरात आदि का भी परम उपकार मानकर विशेष रूप से पूजा करनी चाहिए, इसी तरह भूल करनेवाले साधु को धर्मोपदेशक का सत्कार करना चाहिए। तीर्थङ्कर वीर तथा दूसरे गणधरों ने इस विषय में यही उपमा बताई है। संयम पालन में भूल करनेवाला साधु सन्मार्ग की शिक्षा देनेवाले के उपदेश को अच्छी तरह समझकर उसके शिक्षा जनित परम उपकार को अपने हृदय में स्थापित करे और यह समझे कि- “इस पुरुष ने मुझ को उत्तम उपदेश देकर जन्म, जरा और मरण आदि अनेक उपद्रवों से भरे हुए मिथ्यात्व रूपी वन से पार किया है, इसलिए इस परम उपकारी की अभ्युत्थान और विनय आदि के द्वारा विशेष रूप से पूजा करनी चाहिए।” इस विषय में बहुत से दृष्टान्त हैं, जैसे कि-

अग्नि से जलते हुए मकान में सोये हुए पुरुष को जो जगाता है, वह उसका परमबन्धु है तथा विष से मिश्रित मधुर आहार खाने के लिए तत्पर पुरुष को जो उस आहार को सदोष बताकर खाने से निवृत्त करता है, वह उसका परमबन्धु है। इसी तरह संयम पालन में भूल करनेवाले साधु को जो सन्मार्ग का उपदेश करता है, वह उसका परमबन्धु है ॥११॥

1. गेहेऽग्निजालाकुले यथा नाम दह्यमाने । यो बोधयति सुप्तं स तस्य जनः परमबान्धवः ॥१॥ यथा वा विषसंयुक्तं भक्तं सिग्धं इह भोक्तुकामस्य योऽपि सदोषं साधयति स तस्य परमबन्धुर्जनः ॥२॥

- अयमपरः सूत्रेणैव दृष्टान्तोऽभिधीयते -

- अब सूत्रकार सूत्र के द्वारा ही यह दूसरा दृष्टान्त कहते हैं -

णेता जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे ।

से सूरिअस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं वियाणाइ पगासियंसि

॥१२॥

छाया - नेता यथाऽन्धकारायां रात्रौ, मार्गं न जानात्यपश्यन् ।

स सूर्यस्याभ्युद्गमेन, मार्गं विजानाति प्रकाशिते ॥

अन्वयार्थ - (जहा नेता अंधकारंसि राओ) जैसे मार्ग दर्शक पुरुष अन्धेरी रात्रि में (अपस्समाणे मग्गं ण जाणाति) न देखता हुआ मार्ग को नहीं जानता है (से सूरिअस्स अब्भुग्गमेणं पगासियंसि) परन्तु वही सूर्योदय होने के पश्चात् चारों तर्फ प्रकाश फैलने पर (मग्गं वियाणाइ) मार्ग को जान लेता है ।

भावार्थ - जैसे मार्ग दर्शक पुरुष अंधेरी रात्रि में न देखता हुआ मार्ग को नहीं जान सकता है परन्तु सूर्योदय होने के पश्चात् प्रकाश फैलने पर मार्ग जान लेता है । (इसी तरह जिन वचन के ज्ञान से जीव सन्मार्ग को जान लेता है ।)

टीका - यथा हि सजलजलधराच्छादितबहलान्धकारायां रात्रौ 'नेता' नायकोऽटव्यादौ स्वभ्यस्तप्रदेशोऽपि 'मार्ग' पन्थानमन्धकारावृतत्वात्स्वहस्तादिकमपश्यन्न जानाति-न सम्यक् परिच्छिनत्ति । स एव प्रणेता 'सूर्यस्य' आदित्यस्याभ्युद्गमेनापनीते तमसि, प्रकाशिते दिक्चक्रे सम्यगाविर्भूते पाषाणदरीनिम्नोन्नतादिके मार्गं जानाति-विवक्षित-प्रदेशप्रापकं पन्थानमभिव्यक्तचक्षुः परिच्छिनत्ति-दोषगुणविचारणतः सम्यगवगच्छतीति ॥१२॥

टीकार्थ - जैसे जङ्गल आदि के प्रदेशों को अच्छी तरह परिचय किया हुआ भी कोई पुरुष जल से भरे हुए मेघों से ढँकी हुई रात्रि में अत्यन्त अन्धकार के कारण अपने हाथ आदि को भी देखने में समर्थ न होता हुआ मार्ग के निश्चय करने में समर्थ नहीं होता है परन्तु वही पुरुष सूर्य के उदय होने पर जब अन्धकार हट जाता है और दिशाएँ प्रकाशित हो जाती हैं तब पत्थर, कन्दरा एवं ऊँचा, नीचा स्थान साफ-साफ दीखाई देने लगता है, तब इष्ट स्थान को पहुँचानेवाले मार्ग को, गुण दोष विचारकर निश्चित कर लेता है, क्योंकि उस समय उसके नेत्र की शक्ति प्रकट हो जाती है ॥१२॥



- एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह -

- इस प्रकार दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बताते हैं -

एवं तु सेहेवि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे ।

से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरुदए पासति चक्खुणेव

॥१३॥

छाया - एवमु शिष्योऽप्यपुष्टधर्मा, धर्मं न जानात्यबुध्यमानः ।

स कोविदो जिणवचनेन पश्चात् सूर्योदये पश्यति चक्षुषेव ॥

अन्वयार्थ - (एवं तु अपुट्ठधम्मे सेहेवि) इसी तरह धर्म में अनिपुण शिष्य भी (अबुज्झमाणे धम्मं न जाणाइ) सूत्रार्थ को न समझता हुआ धर्म को नहीं जानता है । (से जिणवयणेण कोविए) परन्तु वही शिष्य जिनवाक्यों का विद्वान् होकर (पच्छा सूरुदए चक्खुणेव पासति) पश्चात् इस प्रकार धर्म को जान लेता है जैसे सूर्योदय होने पर नेत्र के द्वारा पदार्थों को देखता है ।

भावार्थ - सूत्र और अर्थ को न जाननेवाला धर्म में अनिपुण शिष्य धर्म के स्वरूप को नहीं जानता है परन्तु वह जिनवचनों का ज्ञाता होकर इस प्रकार धर्म को जान लेता है, जैसे सूर्योदय होने पर नेत्र के द्वारा घटपटादि पदार्थों को जान लेता है ।

टीका - यथा ह्यसावन्धकारावृतायां रजन्यामतिगहनायामटव्यां मार्गं न जानाति सूर्योद्गमेनापनीते तमसि पश्चाज्जानाति एवं तु 'शिष्यकः' अभिनवप्रव्रजितोऽपि सूत्रार्थानिष्पन्नः अपुष्टः-अपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातो धर्मः-श्रुत-

चारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावो येनासावपुष्टधर्मा, स चागीतार्थः—सूत्रार्थानभिज्ञत्वादबुध्यमानो धर्मं न जानातीति—
न सम्यक् परिच्छिनत्ति, स एव तु पश्चाद्गुरुकुलवासाज्जिनवचनेन 'कोविदः' अभ्यस्तसर्वज्ञप्रणीतागमत्वान्निपुणः
सूर्योदयेऽपगतावरणश्चक्षुषेव यथावस्थितान् जीवादीन् पदार्थान् पश्यति, इदमुक्तं भवति—यथा हि इन्द्रियार्थसंप-
र्कात्साक्षात्कारितया परिस्फुटा घटपटादयः पदार्थाः प्रतीयन्ते एवं सर्वज्ञप्रणीतागमेनापि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्वर्गापवर्ग-
देवतादयः परिस्फुटा निःशङ्कं प्रतीयन्त इति । अपिच कदाचिच्चक्षुषाऽन्यथाभूतोऽप्यर्थोऽन्यथा परिच्छिद्यते, तद्यथा—
मरुमरीचिकानिचयो जलभ्रान्त्या किंशुकनिचयोऽग्न्याकारेणापीति । न च सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्य क्वचिदपि व्यभिचारः,
तद्व्यभिचारे हि सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गात्, 'तत्संभवस्य चासर्वज्ञेन प्रतिषेद्धमशक्यत्वादिति ॥१३॥

टीकार्थ - जैसे मार्ग को जाननेवाला पुरुष अँधेरी रात में अत्यन्त गहन जङ्गल में मार्ग को नहीं जानता है किन्तु सूर्योदय होने से अन्धकार हट जाने पर मार्ग को जान लेता है, इसी तरह नवीन प्रव्रज्या धारण किया हुआ शिष्य भी सूत्र, अर्थ के ज्ञान में अनिपुण होने के कारण दुर्गति में जाते हुए प्राणियों को दुर्गति से रक्षा करनेवाले श्रुत और चारित्र धर्म को अच्छी तरह से नहीं जानता है । वह गीतार्थ नहीं है, इसलिए सूत्रार्थ न जानने के कारण अबोध है, अतः वह धर्म को अच्छी तरह से नहीं जानता है, परन्तु वही शिष्य गुरुकुल में सर्वज्ञ प्रणीत आगम का अभ्यास करते हुए धर्म में निपुण होकर जीवादि पदार्थों को इस प्रकार देखता है, जैसे सूर्योदय होने पर नेत्र के द्वारा पदार्थों को देखता है । भाव यह है कि जैसे इन्द्रिय और पदार्थों के संयोग से घटपटादि पदार्थ साफ-साफ दीखाई देते हैं, इसी तरह सर्वज्ञ प्रणीत आगम के द्वारा भी सूक्ष्म, व्यवहित, और दूरवर्ती स्वर्ग, मोक्ष तथा देवता आदि पदार्थ साफ-साफ निःशङ्क प्रतीत होते हैं । यद्यपि कभी-कभी नेत्र के द्वारा दूसरे प्रकार का पदार्थ दूसरे तरह का प्रतीत होता है जैसे मरुमरीचिका (मरु देश में सूर्य की किरणें) जल रूप से प्रतीत होती है और पलाश की पुष्प राशि अग्नि रूप में जानने में आती है तथापि सर्वज्ञ प्रणीत आगम में कहीं भी फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि फर्क पड़ने पर सर्वज्ञता नहीं रहती है । सर्वज्ञ के कहे हुए पदार्थों को असर्वज्ञ पुरुष निषेध नहीं कर सकता ॥१३॥



- शिक्षको हि गुरुकुलवासितया जिनवचनाभिज्ञो भवति, तत्कोविदश्च सम्यग् मूलोत्तरगुणान् जानाति, तत्र मूलगुणानधिकृत्याह -

- शिष्य गुरुकुल में निवास करके जिनवचनों का ज्ञाता हो जाता है और जिन वचनों का ज्ञाता होकर मूल और उत्तरगुणों को अच्छी तरह से जान लेता है, उनमें मूलगुणों के विषय में शास्त्रकार कहते हैं -

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा ।

सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकंपमाणे

॥१४॥

छाया - ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यदिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।

सदा यतस्तेषु परिव्रजेत् मनाक् प्रद्वेषमविकम्पमात्मः ॥

अन्वयार्थ - (उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु) ऊपर, नीचे और तिरिछी दिशाओं में (तसा य जे थावरा जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं (तेसु सया जए परिव्वएज्जा) उनमें सदा यत्नपूर्वक संयम पालन करे (मणप्पओसं अविकंपमाणे) तथा उनमें थोड़ा भी द्वेष न करता हुआ संयम में निश्चल रहे ।

भावार्थ - ऊपर-नीचे तथा तिरिछी दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते हैं, उनकी हिंसा जिसमें न हो ऐसा यत्न करता हुआ साधु संयम पालन करे तथा मन से भी उनके प्रति द्वेष न करता हुआ संयम में दृढ़ रहे ।

टीका - ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु विदिक्षु चेत्यनेन क्षेत्रमङ्गीकृत्य प्राणातिपातविरतिरभिहिता, द्रव्यतस्तु दर्शयति—
त्रस्यन्तीति त्रसाः—तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च, तथा ये च स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयवर्तिनः पृथिव्यव्यवृत्ततयः, तथा

1. सर्वज्ञप्रणीतागमोक्तपदार्थसंभवस्य, सर्वज्ञसंभवस्येति वा ।

ये चैतद्देदाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तिकापर्याप्तिकरूपा दशविधप्राणधारणात्प्राणिनस्तेषु, 'सदा' सर्वकालम्, अनेन तु कालमधिकृत्य विरतिरभिहिता, यतः परिव्रजेत्-परिसमन्ताद् व्रजेत् संयमानुष्ठायी भवेत्, भावप्राणातिपातविरतिं दर्शयति-स्थावरजङ्गमेषु प्राणिषु तदपकारे 'उपकारे वा मनागपि मनसा प्रद्वेषं न गच्छेद् आस्तां तावदुर्वचनदण्डप्रहारादिकं, तेष्वपकारिष्वपि मनसाऽपि न मङ्गुलं चिन्तयेद्, 'अविकम्पमानः' संयमादचलन् सदाचारमनुपालयेदिति, तदेवं योगत्रिककरणत्रिकेण द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपां प्राणातिपातविरतिं सम्यगरक्तद्विष्टतयाऽनुपालयेद्, एवं शेषाण्यपि महाव्रतान्युत्तरगुणांश्च ग्रहणा-सेवनाशिक्षासमन्वितः सम्यगनुपालयेदिति ॥१४॥

टीकार्थ - इस गाथा में ऊपर, नीचे तथा तिरछी दिशा और विदिशाओं में रहनेवाले प्राणियों की हिंसा का निषेध करके क्षेत्र प्राणातिपात से विरत होने का उपदेश किया है, अब द्रव्य प्राणातिपात से विरत होने का उपदेश करते हैं। जो भय पाते हैं, वे त्रस कहलाते हैं, वे तेज, वायु और द्वीन्द्रिय आदि हैं तथा जो स्थावरनाम कर्म के उदय में वर्तमान हैं, ऐसे पृथिवी, जल और वनस्पति तथा उनके भेद सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त स्थावर कहलाते हैं। जो दश प्रकार के प्राणों को धारण करते हैं, इसलिए वे प्राणी कहलाते हैं, इन स्थावर एवं त्रस प्राणियों की सब काल में रक्षा करता हुआ साधु यत्नपूर्वक संयम का अनुष्ठान करे। यहाँ सब काल में प्राणियों की रक्षा का उपदेश देकर शास्त्रकार ने काल प्राणातिपात से विरति का कथन किया है, अब भाव प्राणातिपात से विरति का उपदेश करते हैं- स्थावर या जङ्गम प्राणी अपना उपकार करें अथवा अपकार करें परन्तु साधु को उन पर थोड़ा भी मन में द्वेष न लाना चाहिए फिर उन्हें दुर्वचन कहना तथा डंडे से मारने आदि की तो बात ही कहाँ है ? वे यदि अपकार करें तो भी उनके अमङ्गल की कामना मन से भी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार संयम से विचलित न होता हुआ साधु सदाचार का पालन करे तथा पूर्वोक्त प्रकार से तीन योग और तीन करणों से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप प्राणातिपात विरति को साधु रागद्वेष रहित होकर पालन करे एवं ग्रहण तथा आसेवना शिक्षा से युक्त होकर शेष महाव्रत तथा उत्तरगुणों का साधु अच्छी तरह से पालन करे ॥१४॥



- गुरोरन्तिके वसतो विनयमाह -

- अब शास्त्रकार गुरु के निकट निवास करनेवाले शिष्य को विनय की शिक्षा देते हैं -

कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।

तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं

॥१५॥

छाया - कालेण पुच्छेत्समितं प्रजासु, आचक्षमाणो द्रव्यस्य वित्तम् ।

तच्छ्रोत्रकारी पृथक् प्रवेशयेत्, संख्यायेमं कैवलिकं समाधिम् ॥

अन्वयार्थ - (कालेण पयासु समियं पुच्छे) साधु अवसर देखकर सदाचारी आचार्य से प्रजाओं के विषय में पूछे (दवियस्स वित्तं आइक्खमाणो) सर्वज्ञ के आगम को बतानेवाले आचार्य की साधु पूजा करे। (तं सोयकारी पुढो पवेसे) तथा आचार्य की आज्ञा मानता हुआ उसके उपदेश को हृदय में स्थापित करे। (इमं केवलियं समाहिं संखा) तथा आगे कहे जानेवाले केवली के सन्मार्ग को अच्छी तरह समझकर उसे हृदय में धारण करे।

भावार्थ - साधु अवसर देखकर सदाचारी आचार्य से प्राणियों के सम्बन्ध में प्रश्न करे और सर्वज्ञ के आगम का उपदेश करनेवाले आचार्य का सन्मान करे तथा आचार्य की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता हुआ साधु आचार्य के द्वारा कहे हुए केवली सम्बन्धी ज्ञान को सुनकर उसे हृदय में धारण करे।

टीका - सूत्रमर्थं तदुभयं वा विशिष्टेन-प्रष्टव्यकालेनाचार्यादेरवसरं ज्ञात्वा प्रजायन्त इति प्रजा-जन्तवस्तासु प्रजासु-जन्तुविषये चतुर्दशभूतग्रामसंबद्धं कञ्चिदाचार्यादिकं सम्यगितं-सदाचारानुष्ठायिनं सम्यग् वा समन्ताद्वा जन्तुगतं पृच्छेदिति । स च तेन पृष्ट आचार्यादिराचक्षाणः शुश्रूषयितव्यो भवति, यदाचक्षाणस्तद्दर्शयति- मुक्तिगमनयोग्यो भव्यो

1. शत्रोरुपकारे बाह्ये वा दुरायतिके स्वस्य, अन्यथोपकारे द्वेषासंभवात् ।

द्रव्यं रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यं तस्य द्रव्यस्य-वीतरागस्य तीर्थङ्करस्य वा वृत्तम्-अनुष्ठानं संयमं ज्ञानं वा तत्प्रणीतमागमं वा सम्यगाचक्षणः सपर्ययाऽयं माननीयो भवति । कथमित्याह- 'तद्' आचार्यादिना कथितं श्रोत्रे-कर्णे कर्तुं शीलमस्य श्रोत्रकारी-यथोपदेशकारी आज्ञाविधायी सन् पृथक् पृथगुपन्यस्तमादरेण हृदये प्रवेशयेत्-चेतसि व्यवस्थापयेत्, व्यवस्थापनीयं दर्शयति-'संख्याय' सम्यग् ज्ञात्वा 'इम' मिति वक्ष्यमाणं केवलिन इदं कैवलिकं-केवलिना कथितं समाधि-सन्मार्गं सम्यग्ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमाचार्यादिना कथितं यथोपदेशं प्रवर्तकः पृथग् विविक्तं हृदये पृथग्व्यवस्थापयेदिति ॥१५॥

टीकार्थ - गुरुकुल में निवास करनेवाला शिष्य, प्रश्न करने योग्य काल को देखकर सदाचार का अनुष्ठान करनेवाले गुरु से जन्म धारण करनेवाली प्रजाओं के विषय में अर्थात् चौदह प्रकार के जीवों के सम्बन्ध में सूत्र अर्थ अथवा दोनों ही पूछे । शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य का शिष्य सम्मान करे । जो शिक्षा आचार्य देते हैं, उसे शास्त्रकार दिखाते हैं- मुक्ति जाने योग्य भव्य पुरुष को द्रव्य कहते हैं अथवा जो पुरुष रागद्वेष रहित है, उसे द्रव्य कहते हैं, वह वीतराग अथवा तीर्थङ्कर हैं, उनके अनुष्ठान यानी संयम, ज्ञान अथवा उनके आगम की शिक्षा देनेवाले आचार्य का वह शिष्य पूजा के द्वारा सत्कार करे । किस प्रकार सत्कार करे ? सो बताते हैं- आचार्य के द्वारा किये हुए उपदेश को वह शिष्य अपने कानों में धरे अर्थात् वह आचार्य के उपदेश का अनुष्ठान करता हुआ उनकी आज्ञा पालन करे तथा उनके उपदेश को अपने हृदय में स्थापित करे । अब शास्त्रकार हृदय में स्थापन करने योग्य विषय का उपदेश करते हैं- आगे कहा जानेवाला जो केवली सम्बन्धी मोक्ष मार्ग रूप सम्यग्ज्ञान आदि सन्मार्ग है, उसे आचार्य के द्वारा सुनकर तथा समझकर उस उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करता हुआ साधु उसे अपने हृदय में पवित्रता के साथ स्थापित करे ॥१५॥



- किञ्चान्यत् -

- और दूसरे रूप से शिक्षा-

अस्मिं सुठिच्चा तिविहेण तायी, एस्सु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी, ण भुज्जमेयंति पमायसंगं

॥१६॥

छाया - अस्मिन् सुस्थाय त्रिविधेण त्रायी, एतेषु च शान्तिं निरोधमाहुः ।

त एवमाचक्षते त्रिलोकदर्शिनः न भूय एतन्तु प्रमादसङ्गम् ॥

अन्वयार्थ - (अस्मिं सुठिच्चा तिविहेण तायी) गुरु ने जो उपदेश दिया है, उसमें अच्छी तरह निवास करता हुआ साधु मन, वचन और काया से सब प्राणियों की रक्षा करे (एस्सु या संति निरोहमाहु) समिति और गुप्ति के पालन से ही शान्ति और कर्मों का क्षय होना सर्वज्ञों ने कहा है । (तिलोगदंसी ते एवमक्खंति) त्रिलोकदर्शी वे पुरुष यह कहते हैं कि (ण भुज्जमेयंति पमायसंगं) साधु को फिर कभी प्रमाद का सङ्ग न करना चाहिए ।

भावार्थ - गुरु के उपदेश में अच्छी तरह निवास करता हुआ साधु मन, वचन और काया से प्राणियों की रक्षा करे, इस प्रकार समिति और गुप्ति के पालन से ही सर्वज्ञों ने शान्ति लाभ और कर्मों का क्षय होना बताया है । वे त्रिलोकदर्शी पुरुष कहते हैं कि साधु फिर कभी प्रमाद का सङ्ग न करे ।

- 'अस्मिन्' गुरुकुलवासे निवसता यच्छ्रुतं श्रुत्वा च सम्यग् हृदयव्यवस्थापनद्वारेणावधारितं तस्मिन् समाधिभुते मोक्षमार्गे सुष्ठु स्थित्वा 'त्रिविधेने'ति मनोवाक्कायकर्मभिः कृतकारितानुमतिभिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा तस्य स्वपरत्रायिणः, एतेषु च समितिगुप्त्यादिषु समाधिमार्गेषु स्थितस्य शान्तिर्भवति-अशेषद्वन्द्वोपरमो भवति तथा निरोधम्-अशेषकर्मक्षयरूपम् 'आहुः' तद्विदः प्रतिपादितवन्तः, क एवमाहुरि-त्याह-त्रिलोकम्-ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः-तीर्थकृतः सर्वज्ञास्ते 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या सर्वभावान् केवलालोकेन दृष्ट्वा 'आचक्षते' प्रतिपादयन्तीति । एतदेव समितिगुप्त्यादिकं संसारोत्तारणसमर्थं ते त्रिलोकदर्शिनः कथितवन्तो न पुनर्भूय एतं (नं) 'प्रमादसङ्गं' मद्यविषयादिकं संबन्धं विधेयत्वेन प्रतिपादितवन्तः ॥१६॥

टीकार्थ - गुरुकुल में निवास करते हुए शिष्य ने जो उपदेश गुरु से सुना है और सुनकर अपने हृदय में अच्छी तरह निश्चित किया है, उस समाधि रूप मोक्ष मार्ग में अच्छी तरह रहकर मन, वचन और काया से तथा करने, कराने और अनुमति देने रूप तीनों करणों से अपनी रक्षा करे अथवा सदुपदेश देकर दूसरे प्राणियों की रक्षा करे। इस प्रकार जो साधु अपनी तथा दूसरे की रक्षा करता है तथा इन समिति और गुप्ति आदि समाधि मार्ग में अच्छी तरह स्थित रहता है, उसे शान्ति प्राप्त होती है, उसके सब द्वन्द्व निवृत्त हो जाते हैं, एवं उसके सम्पूर्ण दुःखों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार इन बातों को जाननेवाले पुरुष कहते हैं। इन बातों को बतानेवाले कौन हैं ? सो शास्त्रकार कहते हैं- जो पुरुष ऊपर-नीचे और तिरछे रहनेवाले पदार्थों को देखते हैं, वे त्रिलोकदर्शी सर्वज्ञ तीर्थङ्कर केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देखकर पूर्वोक्त बातों का उपदेश करते हैं। उन सर्वज्ञ पुरुषों ने समिति, गुप्ति आदि को ही संसार से पार करने में समर्थ बताया है, परन्तु मद्य और विषय सेवन आदि को नहीं॥१६॥



- किञ्चान्यत् -

- और दूसरे रूप से शिक्षा-

निसम्म से भिक्खु समीहियट्ठं, पडिभाणवं होइ विसारए य ।

आयाणअट्ठी वोदाणमोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं

॥१७॥

छाया - निशम्य स भिक्षुः समीहितार्थं, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।

आदानार्थं व्यवदानमौनमुपेत्य शुद्धेणोपैति मोक्षम् ॥

अन्वयार्थ - (से भिक्खु) गुरुकुल में निवास करनेवाला वह साधु (निसम्म समीहियट्ठं) साधु के आचार को सुनकर तथा मोक्षरूपी इष्ट अर्थ को जानकर (पडिभाणवं विसारए होइ) बुद्धिमान् और अपने सिद्धान्त का वक्ता हो जाता है (आयाणअट्ठी) सम्यग्ज्ञान आदि अथवा मोक्ष से प्रयोजन रखनेवाला वह साधु (वोदाणमोणं उवेच्च) तप और संयम को प्राप्त करके (सुद्धेण मोक्खं उवेति) शुद्ध आहार के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है ।

भावार्थ - गुरुकुल में निवास करनेवाला साधु उत्तम साधु के आचार को सुनकर और अपने इष्ट अर्थ मोक्ष को जानकर बुद्धिमान् और अपने सिद्धान्त का वक्ता हो जाता है । तथा सम्यग्ज्ञान आदि से ही प्रयोजन रखता हुआ वह तप और संयम को प्राप्त करके शुद्ध आहार के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है ।

टीका - स गुरुकुलवासी भिक्षुः द्रव्यस्य वृत्तं 'निशम्य' अवगम्य स्वतः समीहितं चार्थं-मोक्षार्थं बुद्ध्वा हेयोपादेयं सम्यक् परिज्ञाय नित्यं गुरुकुलवासतः 'प्रतिभानवान्' उत्पन्नप्रतिभो भवति । तथा सम्यक् स्वसिद्धान्त-परिज्ञानाच्छ्रोतॄणां यथावस्थितार्थानां 'विशारदो भवति' प्रतिपादको भवति । मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानं-सम्यग्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एव वाऽर्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी, स एवंभूतो ज्ञानादिप्रयोजनवान् व्यवदानं-द्वादशप्रकारं तपो मौनं-संयम आश्रवनिरोधरूपस्तदेवमेतौ तपःसंयमावुपेत्य-प्राप्य ग्रहणासेवनरूपया द्विविधयापि शिक्षया समन्वितः सर्वत्र प्रमादरहितः प्रतिभानवान् विशारदश्च 'शुद्धेन' निरुपाधिना उद्गमादिदोषशुद्धेन चाहारेणात्मानं यापयन्नशेषकर्म-क्षयलक्षणं मोक्षमुपैति 'न उवेइ मारं'ति क्वचित्पाठः बहुशो प्रियन्ते स्वकर्मपरवशाः प्राणिनो यस्मिन् स मारः संसारस्तं जातिजराभरणरोगशोकाकुलं शुद्धेन मार्गेणात्मानं वर्तयन् न उपैति, यदिवा मरणं-प्राणत्यागलक्षणं मारस्तं बहुशो नोपैति, तथाहि-अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टतः 'सप्ताष्टौ वा भवान् प्रियते नोर्ध्वमिति ॥१७॥

टीकार्थ - गुरुकुल में निवास करनेवाला साधु मोक्ष जाने योग्य साधु के आचार को सुनकर तथा अपने इष्ट अर्थ मोक्ष को समझकर एवं त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों को अच्छी तरह जानकर सदा गुरुकुल में रहने के कारण प्रतिभा से सम्पन्न हो जाता है । तथा वह साधु अपने सिद्धान्त का अच्छा ज्ञाता होकर

1. अट्ठमवा उ चरित्ते इति वचनाच्चारित्रयुतं सम्यक्त्वं परं प्रतिपाति तदिति अप्रतिपतितसम्यक्त्वं इति, जघन्याराधनया वा जन्मभिरष्टत्र्येकैः इति वचनात्, सप्ताष्टाविति मनुष्यकायस्थित्यपेक्षं, सम्यक्त्वमवास्तु पत्योपमासंख्यभागमिताः ।

श्रोताओं को वस्तुस्वरूप बताने में निपुण हो जाता है। एवं मोक्षार्थी पुरुष जिसे ग्रहण करते हैं, उसको आदान कहते हैं, वह सम्यग् ज्ञान आदि है, उस सम्यग्ज्ञान आदि से प्रयोजन रखता हुआ, वह साधु बारह प्रकार के तप और आश्रवों के निरोधरूप संयम को प्राप्त करके अर्थात् ग्रहण और आसेवना शिक्षा के द्वारा तप और संयम से युक्त होकर तथा उदगमादि दोष रहित आहार से अपना निर्वाह करता हुआ समस्त कर्मों का क्षय स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। कहीं-कहीं “न उवेइ मारं” यह पाठ मिलता है, इसका अर्थ यह है- शुद्ध मार्ग से अपना निर्वाह करता हुआ साधु जिसमें प्राणिवर्ग अपने कर्म के आधीन होकर बार-बार मरते हैं, उस शोक से पूर्ण संसार को प्राप्त नहीं करता है अथवा प्राणत्याग को मार कहते हैं, उसको वह बार-बार प्राप्त नहीं करता है क्योंकि सम्यक्त्व को न त्यागनेवाला वह पुरुष उत्कृष्ट सात आठ भव तक ही मृत्यु को प्राप्त होता है, उसके बाद नहीं ॥१७॥



- तदेवं गुरुकुलनिवासितया धर्मे सुस्थिता बहुश्रुताः प्रतिभानवन्तोऽर्थविशारदाश्च सन्तो यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह-

- पूर्वोक्त प्रकार से गुरुकुल में निवास करने के कारण साधु धर्म में दृढ़, बहुश्रुत प्रतिभाशाली और पदार्थ के ज्ञान में निपुण होकर जो कार्य करते हैं, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

संखाइ धम्मं च वियागरंति, बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति ।

ते पारगा दोण्हवि मोयणाए, संसोधितं पण्हमुदाहरंति

॥१८॥

छाया - संख्यया धर्मं व्यागृणन्ति, बुद्धा हि तेऽन्तकरा भवन्ति ।

ते पारगा द्वयोरपि मोचनया, संशोधितं प्रश्नमुदाहरन्ति ॥

अन्वयार्थ - (धम्मं च संखाइ वियागरंति) गुरुकुल में निवास करनेवाले पुरुष सद्बुद्धि से स्वयं धर्म को जानकर दूसरे को उपदेश करते हैं (ते बुद्धा हु अंतकरा भवंति) तीनों काल को जाननेवाले वे पुरुष कर्मों का अन्त करनेवाले होते हैं (दोण्हवि मोयणाए ते पारगा) वे अपने और दूसरे के कर्म पाश को छुड़ाकर संसार से पार हो जाते हैं (संसोधितं पण्हमुदाहरंति) वे सोच विचारकर प्रश्नों का उत्तर देते हैं ।

भावार्थ - गुरुकुल में निवास करनेवाले पुरुष सद्बुद्धि से धर्म को समझकर, दूसरे को उसका उपदेश करते हैं। तथा तीनों कालों को जाननेवाले वे पुरुष, पूर्वसंचित कर्मों का अन्त करते हैं। वे पुरुष अपने और दूसरे को कर्म पाश से मुक्त करके संसार से पार हो जाते हैं। वे पुरुष सोच-विचारकर प्रश्न का उत्तर देते हैं ।

टीका - सम्यक् ख्यायते-परिज्ञायते यया सा संख्या-सद्बुद्धिस्तया स्वतो धर्मं परिज्ञायापरेषां यथावस्थितं 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'व्यागृणन्ति' प्रतिपादयन्ति, यदिवा स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्यं चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति । ते चैवंविधा बुद्धाः-कालत्रयवेदिनो जन्मान्तरसंचितानां कर्मणामन्तकरा भवन्ति अन्येषां च कर्मापनयनसमर्था भवन्तीति दर्शयति-ते यथावस्थितधर्मप्ररूपका 'द्वयोरपि' परात्मनोः कर्मपाशविमोचनया स्नेहा-दिनिगडविमोचनया वा करणभूतया संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति, ते चैवंभूताः ? सम्यक्शोधितं पूर्वोत्तराविरुद्धं 'प्रश्नं' शब्दमुदाहरन्ति तथाहि-पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थस्य ग्रहणसमर्थोऽहं किंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्यादिति, अथवा परेण कश्चिदर्थं पृष्टस्तं प्रश्नं सम्यग् परीक्ष्योदाहरेत्-सम्यगुत्तरं दद्यादिति, तथा चोक्तम्-

“आयदियसयात्ता व धारिण अत्थेण झरियमुणिणं । तो संघमज्झयारे ववहरिउं जे सुहं होति॥१॥”

तदेवं ते गीतार्था यथावस्थितं धर्मं कथयन्तः स्वपरतारका भवन्तीति ॥१८॥

टीकार्थ - जिसके द्वारा अच्छी तरह से पदार्थ जाना जाता है, उसे संख्या कहते हैं। वह उत्तम बुद्धि है। उस उत्तम बुद्धि के द्वारा वह साधु चारित्ररूप धर्म के यथार्थ स्वरूप को बताता है। अथवा गुरुकुल में निवास करनेवाले साधु अपनी और दूसरे की शक्ति को जानकर अथवा सभा और प्रतिपादन करने योग्य अर्थ को अच्छी

तरह समझकर तब धर्म का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार के पुरुष तीनों कालों का ज्ञाता होकर जन्मान्तर के संचित कर्मों का अन्त करते हैं और दूसरे के कर्मों को दूर करने में भी समर्थ होते हैं, यही शास्त्रकार दिखलाते हैं- धर्म के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या करनेवाले वे पुरुष, अपने और दूसरे दोनों के कर्म रूपी पाश को छुड़ाकर अथवा स्नेहरूपी बेड़ी से मुक्त होकर संसार समुद्र के पारगामी होते हैं। ऐसे पुरुष अच्छी तरह से शोधन करके पूर्व और पर से अविरुद्ध शब्दों को बोलते हैं। वे अपनी बुद्धि से पहले यह सोच लेते हैं कि- "यह पुरुष कौन है और यह किस पदार्थ को समझ सकता है तथा मैं कैसे अर्थ को प्रतिपादन करने में समर्थ हूँ।" इन बातों की अच्छी तरह परीक्षा करके वे प्रश्न की व्याख्या करते हैं। अथवा साधु से यदि कोई पुरुष किसी पदार्थ के विषय में प्रश्न करे तो साधु उस प्रश्न को अच्छी तरह समझकर तब उसका उचित उत्तर देवे, जैसा कि कहा है-

आचार्य के पास पदार्थ का निश्चय किया हुआ और स्मरण करने में निपुण विज्ञ पुरुष संघ के मध्य में सुखपूर्वक पदार्थ की व्याख्या कर सकता है।

इस प्रकार धर्म के यथार्थ स्वरूप को बताते हुए गीतार्थ पुरुष अपने और दूसरे को संसार सागर से पार करते हैं ॥१८॥



- स च प्रश्नमुदाहरन् कदाचिदन्यथापि ब्रूयादतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह -

- प्रश्न का उत्तर देता हुआ वह साधु कदाचित् अन्यथा उत्तर न दे इसलिए उसका प्रतिषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं -

णो छायेण णोऽविय लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।

ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा

॥१९॥

छाया - णो छादयेज्जापि च लूसयेज्जामं न सेवेत प्रकाशनञ्च ।

न चाऽपि प्राहः परिहासं कुर्व्यान्न चाप्याशीर्वादं व्यागृणीयात् ॥

अन्वयार्थ - (णो छायेण) प्रश्न का उत्तर देता हुआ साधु शास्त्र के अर्थ को न छिपावे (णोविय लूसएज्जा) तथा अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्र की व्याख्या न करे (माणं ण सेवेज्ज) तथा मैं ही सर्व शास्त्र का ज्ञाता हूँ, ऐसा मान न करे (पगासणं च) तथा मैं बड़ा विद्वान् हूँ तथा तपस्वी हूँ ऐसा प्रकाश न करे (पन्ने ण यावि परिहासं कुज्जा) बुद्धिमान् पुरुष श्रोता की हैंसी न करे (ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा) तथा वह साधु किसी को आशीर्वाद न दे ।

भावार्थ - प्रश्न का उत्तर देता हुआ साधु शास्त्र के अर्थ को न छिपावे तथा अपसिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्र की व्याख्या न करे एवं मैं बड़ा विद्वान् तथा बड़ा तपस्वी हूँ ऐसा अभिमान न करे तथा अपने गुण का प्रकाश भी न करे। किसी कारणवश श्रोता यदि पदार्थ को न समझे तो उसकी हैंसी न करे तथा साधु किसी को आशीर्वाद न दे ।

टीका - 'स' प्रश्नस्योदाहर्ता सर्वार्थाश्रयत्वाद्वत्तल्लक्षणः कुत्रिकापणकल्पो वा चतुर्दशपूर्विणामन्यतरो वा कश्चिदाचार्यादिभिः प्रतिभानवान्-अर्थविशारदस्तदेवंभूतः कुतश्चिन्निमित्तात् श्रोतुः कुपितोऽपि सूत्रार्थं 'न छादयेत्' नान्यथा व्याख्यानयेत् स्वाचार्यं वा नापलपेत् धर्मकथां वा कुर्वन्नार्थं छादयेद् आत्मगुणोत्कर्षाभिप्रायेण वा परगुणान्न छादयेत् तथा परगुणान्न लूषयेत्-न विडम्बयेत् शास्त्रार्थं वा नापसिद्धान्तेन व्याख्यानयेत् तथा समस्तशास्त्रवेत्ताऽहं सर्वलोकविदितः समस्तसंशयापनेता न मत्तुल्यो हेतुयुक्तिभिरर्थप्रतिपादयितेत्येवमात्मकं मानम्-अभिमानं गर्वं न सेवेत, नाप्यात्मनो बहुश्रुतत्वेन तपस्वित्वेन वा प्रकाशनं कुर्यात्, चशब्दादन्यदपि पूजासत्कारादिकं परिहरेत्, तथा न चापि 'प्रज्ञावान्' सश्रुतिकः 'परिहासं' केलिप्रायं ब्रूयाद्, यदिवा कथञ्चिदबुध्यमाने श्रोतरि तदुपहासप्रायं परिहासं न विदध्यात् तथा नापि चाशीर्वादं बहुपुत्रो बहुधनो [बहुधर्मो] दीर्घायुस्त्वं भूया इत्यादि व्यागृणीयात्, भाषासमितियुक्तेन भाव्यमिति ॥१९॥

टीकार्थ - प्रश्न का उत्तर देनेवाला वह साधु समस्त पदार्थों का आश्रय होने के कारण चाहे रत्न की पेटी के समान हो अथवा जिस बाजार में तीनों लोकों की वस्तु मिलती है [कुत्रिकापण], उसके समान सर्ववेत्ता हो अथवा

चौदह पूर्वधारियों में से कोई एक हो तथा आचार्य्य से शिक्षा पाकर प्रतिभा सम्पन्न और पदार्थ ज्ञान में प्रवीण हो, ऐसा साधु किसी कारण वश यदि श्रोता कुपित हो तो भी वह सूत्रार्थ को न छिपावे अर्थात् वह सूत्र की अन्यथा व्याख्या न करे अथवा वह अपने आचार्य्य को न छिपावे अथवा धर्म कथा कहता हुआ साधु वस्तुतत्त्व को न छिपावे अथवा वह अपने गुणों की उत्कृष्टता बताने के अभिप्राय से दूसरे के गुणों को न छिपावे एवं वह दूसरे के गुणों को दूषित न करे तथा अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्र के अर्थ की व्याख्या न करे एवं "मैं समस्त शास्त्रों को जाननेवाला हूँ तथा मैं सब लोक में प्रसिद्ध और समस्त संशयों को दूर करनेवाला हूँ, मेरे समान हेतु और युक्तियों के द्वारा पदार्थ की व्याख्या करनेवाला कोई नहीं है।" ऐसा मान यानी गर्व साधु न करे। तथा वह साधु अपने को बहुश्रुत और तपस्वी रूप से प्रकाशित न करे और च शब्द से दूसरे पूजा और सत्कार आदि का त्याग करे। तथा शास्त्रवेत्ता साधु हास्यमय वचन न बोले अथवा किसी कारण वश श्रोता यदि पदार्थ को न समझे तो उसकी हँसी न करे तथा "तुम पुत्रवान्, धनवान् [धर्मवान्] और दीर्घायु हो" इत्यादि आशीर्वाद का वाक्य किसी को न कहे किन्तु भाषा समिति से युक्त होकर रहे ॥१९॥



- किंनिमित्तमाशीर्वादो न विधेय इत्याह -

- साधु को किस कारण से आशीर्वाद नहीं देना चाहिए सो शास्त्रकार बताते हैं -

भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणे, ण णिव्वहे मंतपदेण गोयं।

ण किंचि मिच्छे मणुए पयासुं, असाहुधम्माणि ण संवएज्जा

॥२०॥

छाया - भूताभिशङ्कया जुगुप्समानो, न निर्वहेष्मन्त्रपदेन गोत्रम् ।

न किञ्चिदिच्छेष्मन्नुजः प्रजासु, असाधुधर्माश्च संवदेत् ॥

अन्वयार्थ - (भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणे) साधु प्राणियों के विनाश की शंका से तथा पाप से घृणा करता हुआ किसी को आशीर्वाद न देवे (मंतपदेण गोयं ण णिव्वहे) तथा साधु मन्त्र आदि के द्वारा वाक्संयम को निःसार न बनावे (मणुए पयासु ण किंचि मिच्छे) साधु पुरुष प्रजाओं से किसी वस्तु की इच्छा न करे (असाहुधम्माणि ण संवएज्जा) एवं वह असाधु के धर्म का उपदेश न करे ।

भावार्थ - पाप से घृणा करता हुआ साधु, प्राणियों के विनाश की शङ्का से किसी को आशीर्वाद न देवे तथा मन्त्रविद्या का प्रयोग करके अपने संयम को निःसार न बनावे एवं वह प्रजाओं से किसी वस्तु की इच्छा न करे तथा वह असाधुओं के धर्म का उपदेश न करे ।

टीका - भूतेषु-जन्तुषूपमर्दशङ्का भूताभिशङ्का तथाऽऽशीर्वादं 'सावद्यं' सपापं जुगुप्समानो न ब्रूयात् तथा गास्त्रायत इति गोत्रं-मौनं वाक्संयमस्तं 'मन्त्रपदेन' विद्यापमार्जनविधिना 'न निर्वाहयेत्' न निःसारं कुर्यात् । यदिवा गोत्रं-जन्तुनां जीवितं 'मन्त्रपदेन' राजादिगुप्तभाषणपदेन राजादीनामुपदेशदानतो 'न निर्वाहयेत्' नापनयेत्, एतदुक्तं भवति-न राजादिना सार्धं जन्तुजीवितोपमर्दकं मन्त्रं कुर्यात्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः-जन्तवस्तासु प्रजासु 'मनुजो' मनुष्यो व्याख्यानं कुर्वन् धर्मकथां वा न किमपि लाभपूजासत्कारादिकम् 'इच्छेद्' अभिलषेत्, तथा कुत्सितानाम्-असाधूनां धर्मान्-वस्तुदानतर्पणादिकान् 'न संवदेत्' न ब्रूयाद् यदिवा नासाधुधर्मान् ब्रुवन् संवादयेद् अथवा धर्मकथां व्याख्यानं वा कुर्वन् प्रजास्वात्मश्लाघारूपां कीर्तिं नेच्छेदिति ॥२०॥

टीकार्थ - पाप सहित वस्तु में घृणा करता हुआ साधु प्राणियों के विनाश की आशङ्का से किसी को आशीर्वाद वाक्य न कहे । जो वाणी की रक्षा करता है, उसे गोत्र कहते हैं, वह मौन अर्थात् वाक्संयम है । उस वाक्संयम को साधु मन्त्र का प्रयोग करके निःसार न बनावे । अथवा प्राणियों के जीवन को गोत्र कहते हैं, उस जीवन को साधु राजा आदि के साथ गुप्त भाषण करके अर्थात् उपदेश देकर नाश न करे । आशय यह है कि- साधु, जिससे प्राणियों का नाश हो ऐसा मन्त्र [ऐसी विचारणा] राजा आदि के साथ न करे । जन्तुओं को प्रजा कहते हैं, उनके मध्य में धर्म की कथा कहता हुआ साधु उनसे लाभ, पूजा और सत्कार आदि की इच्छा न करे तथा असाधुओं

का धर्म जो वस्तुदान तथा तर्पण आदि हैं, उनका उपदेश साधु न करे । अथवा असाधुओं के धर्म का उपदेश करनेवाले को साधु अच्छा न कहे अथवा धर्मकथा या व्याख्यान करता हुआ साधु प्रजाओं में अपनी कीर्ति की इच्छा न करे ॥२०॥



- किञ्चान्यत् -

- और दूसरे रूप से शिक्षा-

हासं पि णो संधति पावधम्मे, ओए तहीयं फरुसं वियाणे ।

णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू

॥२१॥

छाया - हासमपि न संधयेत्पापधर्मान्, ओजस्तथ्यं परुषं विजानीयात् ।

न तुच्छो न च विकथयेदनाकुलोवाऽकषायी भिक्षुः ॥

अन्वयार्थ - (हासं पि णो संधति) जिससे हैसी उत्पन्न हो ऐसा कोई शब्द तथा शरीरादि व्यापार साधु न करे (पावधम्मे) तथा पापमय धर्म को हास्य से भी न कहे (ओए तहीयं फरुसं वियाणे) राग द्वेष रहित साधु जो सत्य वचन दूसरे के चित्त को दुःखित करनेवाला है उसे न कहे। (णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा) साधु पूजा सत्कार को पाकर मान न करे तथा अपनी प्रशंसा न करे (अणाइले या अकसाइ भिक्खू) तथा साधु सदा लोभादि कषायों से रहित होकर रहे ।

भावार्थ - जिससे हास्य उत्पन्न होता हो ऐसा शब्द तथा शरीर आदि का व्यापार साधु न करे तथा साधु हास्य से भी पापमय धर्म को न कहे । रागद्वेष रहित साधु जो वचन दूसरे को दुःखित करता है, वह सत्य हो तो भी न कहे। एवं साधु पूजा सत्कार आदि को पाकर मान न करे और अपनी प्रशंसा न करे । तथा साधु सदा लोभ आदि और कषायों से रहित होकर रहे ।

टीका - यथा परात्मनोर्हास्यमुत्पद्यते तथा शब्दादिकं शरीरावयवमन्यान् वा पापधर्मान् सावधान्मनोवाक्कायव्यापारान् 'न संधयेत्' न विदध्यात्, तद्यथा-इदं छिन्धि भिन्धि, तथा कुप्रावचनिकान् हास्यप्रायं नोत्प्रासयेत्, तद्यथा-शोभनं भवदीयं व्रतं, तद्यथा-

“मृद्धी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे ।

द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षधान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥”

इत्यादिकं परदोषोद्धावनप्रायं पापबन्धकमितिकृत्वा हास्येनापि न वक्तव्यं । तथा 'ओजो' रागद्वेषरहितः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थत्यागाद्वा निष्किञ्चनः सन् 'तथ्य' मिति परमार्थतः सत्यमपि परुषं वचोऽपरचेतोविकारि ज्ञपरिज्ञया विजानीयात्प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरेत्, यदिवा रागद्वेषविरहादोजाः 'तथ्यं' परमार्थभूतमकृत्रिमप्रतारकं 'परुषं' कर्मसंश्लेषाभावात्निर्ममत्वादल्पसत्त्वैर्दुरनुष्ठेयत्वाद्वा कर्कशमन्तप्रान्ताहारोपभोगाद्वा परुषं-संयमं 'विजानीयात्' तदनुष्ठानतः सम्यगवगच्छेत्, तथा स्वतः कश्चिदर्थविशेषं परिज्ञाय पूजासत्कारादिकं वाऽवाप्य 'न तुच्छो भवेत्' नोन्मादं गच्छेत्, तथा 'न विकथयेत्' नात्मानं श्लाघयेत् परं वा सम्यगनवबुध्यमानः 'नो विकथयेत्' नात्यन्त चमढयेत्, तथा 'अनाकुलो' व्याख्यानावसरे धर्मकथावसरे वाऽनाविलो लाभादिनिरपेक्षो भवेत्, तथा सर्वदा 'अकषायः' कषायरहितो भवेद् 'भिक्षुः' साधुरिति ॥२१॥

टीकार्थ - जिससे अपने को या दूसरे को हास्य उत्पन्न हो ऐसा कोई शब्द आदि तथा अपने अन्न या और कोई सावद्य मन, वचन और काय का व्यापार साधु न करे । जैसेकि- इसे छेदो, इसे भेदो इत्यादि वाक्य साधु न बोले । एवं साधु कुप्रावचनिकों की हैसी न करे, जैसेकि- “आपका व्रत सुन्दर है क्योंकि-

मुलायम शय्या पर शयन करना और सवेरे उठकर दूध पीना एवं दोपहर के समय भात खाना तथा सार्यकाल में शर्बत पीना और आधीरात में दाख खाना, इन बातों से ही शाक्यपुत्र ने मोक्ष देखा है ।”

इत्यादि बातें जो दूसरे के दोषों को प्रकट करनेवाली हैं तथा पापबन्ध के कारण हैं, उन्हें साधु हँसी में भी न कहे । एवं रागद्वेष रहित अथवा बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि को त्याग देने से निष्किञ्चन साधु जो बात वस्तुतः सत्य होने पर भी दूसरे के चित्त को दुःखित करनेवाली है, उसे ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे । अथवा साधु रागद्वेष रहित होकर ओजस्वी बने और जो वस्तुतः सत्य है यानी बनावटी नहीं है तथा किसी को धोखा देनेवाली नहीं है एवं कर्म के सम्बन्ध न होने के कारण, तथा ममत्व रहित और अल्पपराक्रमी जीव से अनुष्ठान न करने योग्य होने के कारण जो कर्कश है अथवा अन्तर्प्रान्त आहार के उपभोग के कारण जो आचरण करने में कठिन है, ऐसे संयम को अनुष्ठान के द्वारा अच्छी तरह जाने । साधु किसी अर्थविशेष को स्वयं जानकर अथवा पूजा सत्कार आदि को पाकर उन्माद को प्राप्त न हो । तथा साधु आत्मप्रशंसा न करे अथवा अच्छी तरह जाने बिना दूसरे की अत्यन्त प्रशंसा न करे । एवं साधु धर्मकथा के समय लाभ आदि की अपेक्षा न रखे तथा सदा कषाय रहित होकर रहे ॥२१॥



- साम्प्रतं व्याख्यानविधिमधिकृत्याह -

- अब शास्त्रकार व्याख्यान विधि के विषय में कहते हैं -

संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।

भासादुयं धम्मसमुद्धितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने

॥२२॥

छाया - शङ्केत चाशङ्कितभावो भिक्षुः, विभज्यवादश्च व्यागृणीयात् ।

भाषाद्वयं धर्मसमुत्थितैर्व्यागृणीयात्समतया सुप्रज्ञः ॥

अन्वयार्थ - (असंकितभावभिक्षु) सूत्र और अर्थ के विषय में शङ्का रहित भी साधु (संकेज्ज) गर्व न करे । (विभज्जवायं च वियागरेज्जा) तथा स्याद्वादमय वचन बोले (धम्मसमुद्धितेहिं भासादुयं) तथा धर्माचरण करने में प्रवृत्त रहनेवाले साधुओं के साथ विचरता हुआ साधु सत्यभाषा और जो असत्य नहीं तथा मिथ्या नहीं है, ऐसी भाषाओं को बोले (समयासुपन्ने वियागरेज्जा) उत्तमबुद्धि सम्पन्न साधु धनवान् और दरिद्र सब को समभाव से धर्म कहे ।

भावार्थ - सूत्र और अर्थ के विषय में शङ्का रहित भी साधु शङ्कितसा वाक्य बोले । तथा व्याख्यान आदि के समय स्याद्वादमय वचन बोले । एवं धर्माचरण करने में प्रवृत्त रहनेवाले साधुओं के साथ विचरता हुआ साधु सत्यभाषा और जो भाषा सत्य नहीं तथा मिथ्या भी नहीं है, इन दोनों भाषाओं को बोले । तथा धनवान् और दरिद्र दोनों को समभाव से धर्म कहे ।

टीका - 'भिक्षुः' साधुर्व्याख्यानं कुर्वन्नर्वागदर्शित्वादर्थनिर्णयं प्रति अशङ्कितभावोऽपि 'शङ्केत' औद्धत्यं परिहरन्नहमेवार्थस्य वेत्ता नापरः कश्चिदित्येवं गर्वं न कुर्वीत किन्तु विषममर्थं प्ररूपयन् साशङ्कमेव कथयेद्, यदिवा परिस्फुटमप्यशङ्कितभावमप्यर्थं न तथा कथयेत् यथा परः शङ्केत, तथा विभज्यवादं-पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात् यदिवा विभज्यवादः-स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्वलितं लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद्, अथवा सम्यगर्थान् विभज्य-पृथक्कृत्वा तद्वादं वदेत्, तद्यथा-नित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्-

“सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ? । असदेव विपर्ययात्तान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१॥”

इत्यादिकं विभज्यवादं वदेदिति । विभज्यवादमपि भाषाद्वितयेनैव ब्रूयादित्याह-भाषयोः आद्यचरमयोः सत्यासत्या-मृषयोर्द्विकं भाषाद्विकं तद्भाषाद्वयं क्वचित्पृष्टोऽपृष्टो वा धर्मकथावसरेऽन्यदा वा सदा वा 'व्यागृणीयात्' भाषेत, किंभूतः सन् ?-सम्यक्-सत्संयमानुष्ठानेनोत्थिताः समुत्थिताः-सत्साधव उद्युक्तविहारिणो न पुनरुदायिनृपमारकवत्कृत्रिमास्तैः सम्यगुत्थितैः सह विहरन् चक्रवर्तिद्रमकयोः समतया रागद्वेषरहितो वा शोभनप्रज्ञो भाषाद्वयोपेतः सम्यग्धर्मं व्यागृणीयादिति ॥२२॥

टीकार्थ - धर्म की व्याख्या करता हुआ साधु अर्थ के निर्णय करने में अशङ्कित होकर भी अर्वाग्दर्शी (सामने की वस्तु को देखनेवाला) होने के कारण शङ्कितसा ही कहे । वह अपनी उद्धता को त्याग करता हुआ यह गर्व न करे कि- “मैं ही इस अर्थ को जाननेवाला हूँ, दूसरा कोई नहीं है ।” किन्तु कठिन अर्थ की व्याख्या करता हुआ शङ्का के साथ ही कहे । अथवा जो बात अत्यन्त स्फुट है यानी जिसमें शङ्का का स्थान नहीं है, उसे साधु इस प्रकार न कहे जिससे सुननेवाले को शङ्का उत्पन्न हो । एवं पदार्थों को अलग-अलग करके कहे अथवा स्याद्वाद को ‘विभज्यवाद’ कहते हैं, वह स्याद्वाद कहीं भी धोखा नहीं खाता है तथा लोक व्यवहार से मिलता हुआ होने के कारण वह सर्वव्यापी है तथा वह अपने अनुभव से सिद्ध है, अतः उसका आश्रय लेकर साधु बोले । अथवा पदार्थों को अच्छी रीति से पृथक् करके साधु कहे । जैसेकि- द्रव्यार्थ नय से नित्यवाद कहे और पर्यायार्थ नयसे अनित्यवाद कहे । तथा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सभी पदार्थ अपना अस्तित्व रखते हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से अस्तित्व नहीं रखते हैं । अत एव कहा है कि- “सदेव” इत्यादि । अर्थात्-

“सभी पदार्थ स्वरूप आदि चार की अपेक्षा से सत् ही है और पररूप आदि चार की अपेक्षा से असत् ही हैं ऐसा कौन नहीं चाहता है क्योंकि ऐसा नहीं मानने से पदार्थों की व्यवस्था नहीं होती ।”

इस प्रकार साधु अलग-अलग पदार्थों की व्याख्या करे । पदार्थों की अलग-अलग व्याख्या भी साधु दो ही भाषाओं में करे, यह शास्त्रकार बताते हैं- किसी के पूछने पर या न पूछने पर अथवा धर्मकथा के अवसर में अथवा अन्य समय में सदा साधु पहली यानी सत्य भाषा और अन्तिम यानी जो सत्य भी नहीं और मिथ्या भी नहीं, उन दो भाषाओं के द्वारा व्यवहार करे । साधु कैसा होकर ऐसा करे ? सो बताते हैं । जो उत्तम रीति से संयम पालन में प्रवृत्त रहते हैं, ऐसे उत्तमविहारी सत्साधु जो उदायी राजा को मारनेवाले के समान कपटी नहीं हैं, उन मुनियों के साथ विहार करता हुआ, चक्रवर्ती और दरिद्र को समभाव से धर्म का उपदेश करे अथवा रागद्वेष रहित उत्तम प्रज्ञावाला साधु पूर्वोक्त दो भाषाओं का आश्रय लेकर अच्छी रीति से धर्म की व्याख्या करे ॥२२॥



- किञ्चान्यत् -

- और दूसरे रूप से शिक्षा-

अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं ।

ण कत्थई भास विहिंसइज्जा, निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा

॥२३॥

छाया - अनुगच्छन् वितथं विजानीयात्, तथा तथा साधुरकर्कशेन ।

न कथयेद्भाषां विहिंस्याद्विरुद्धं वाऽपि न दीर्घयेत् ॥

अन्वयार्थ - (अणुगच्छमाणे) पूर्वोक्त दो भाषाओं के द्वारा प्रवचन करते हुए साधु के कथन को कोई ठीक ठीक समझ लेते हैं (वितहं विजाणे) और कोई मन्दमति विपरीत समझते हैं । (तहा तहा साहु अकक्कसेणं) जो विपरीत समझते हैं, उन्हें साधु कोमल शब्दों के द्वारा समझाने की चेष्टा करे । (ण कत्थई) जो ठीक नहीं समझता है, उसके मन को साधु अनादर के साथ कहकर न दुखावे (भास विहिंसइज्जा) साधु, प्रश्न करनेवाले की भाषा की निन्दा न करे (निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा) छोटे अर्थ को शब्दाडम्बर के द्वारा न बढ़ावे ।

भावार्थ - पूर्वोक्त दो भाषाओं का आश्रय लेकर धर्म की व्याख्या करते हुए साधु के कथन को कोई बुद्धिमान् पुरुष ठीक-ठीक समझ लेते हैं और कोई मन्दमति पुरुष विपरीत समझते हैं । उन विपरीत समझनेवाले मन्दमतिओं को साधु कोमल शब्दों के द्वारा समझाने की चेष्टा करे परन्तु अनादर के साथ कहकर उसके दिल को न दुखावे तथा उस प्रश्न करनेवाले की भाषा की निन्दा न करे और जो अर्थ छोटा है, उसे व्यर्थ शब्दाडम्बरों से विस्तृत न करे ।

टीका - तस्यैवं भाषाद्वयेन कथयतः कश्चिन्मेधावितया तथैव तमर्थमाचार्यादिना कथितमनुगच्छन् सम्यगवबुध्यते, अपरस्तु मन्दमेधावितया वितथम्-अन्यथैवाभिजानीयात्, तं च सम्यगवबुध्यमानं तथा तथा-तेन तेन हेतूदाहरणसद्बु-क्तिप्रकटनप्रकारेण मूर्खस्त्वमसि तथा दुर्दुरुद्धः खसूचिरित्यादिना कर्कशवचनेनानिर्भर्त्सयन् यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा

तथा 'साधुः' सुष्ठु बोधयेत् न कुत्रचित्कुद्धमुखहस्तौष्ठनेत्रविकारैरनादरेण कथयन् मनःपीडामुत्पादयेत्, तथा प्रश्नयतस्त-
द्भाषामपशब्दादिदोषदुष्टामपि धिग् मूर्खासंस्कृतमते ! किं तवानेन संस्कृतेन पूर्वोत्तरव्याहतेन वोच्चारितेनेत्येवं 'न
विहिंस्यात्' न तिरस्कुर्याद् असंबद्धोद्धटनतस्तं प्रश्नयितारं न विडम्बयेदिति । तथा निरुद्धम्-अर्थस्तोकं दीर्घवाक्यै-
र्महता शब्ददर्दुरेणार्कविटपिकाष्टिकान्यायेन न कथयेत् निरुद्धं वा-स्तोककालीनं व्याख्यानं व्याकरणतर्कादिप्रवेशनद्वारेण
प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या 'न दीर्घयेत्' न दीर्घकालिकं कुर्यात्, तथा चोक्तम्-

“सी अत्थो वत्तव्वो जी मण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं । जी पुण थोवो बहुअक्खरेहिं सी होइ निरुत्तारो॥१॥”

तथा किञ्चित्सूत्रमल्पाक्षरमल्पार्थं वा इत्यादि चतुर्भञ्जिका, तत्र यदल्पाक्षरं महार्थं तदिह प्रशस्यत इति ॥२३॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त दो भाषाओं से शास्त्र का अर्थ कहते हुए आचार्य आदि के कथन को कोई मेधावी
शिष्य ठीक-ठीक उसी तरह समझ लेते हैं परन्तु दूसरा मन्दमति पुरुष उसे विपरीत समझता है । उक्त प्रकार से
विपरीत समझनेवाले मन्दमति पुरुष को वह साधु उचित हेतु, उदाहरण और समीचीन युक्तियों के द्वारा उस तरह
समझावे जैसे कि - वह समझ जाय, परन्तु “तू मूर्ख है, तू लण्ठ है, तू आकाश को देखनेवाला है” इत्यादि
कटु वाक्यों के द्वारा उसे झिटके नहीं । तथा क्रोधित मुख, हाथ, ओष्ठ और नेत्र के विकार से अनादर के साथ
कहता हुआ साधु उस मन्दमति पुरुष के मन को पीड़ित न करे । एवं प्रश्न करनेवाले पुरुष की भाषा यदि अशुद्ध
हो तो उसे धिक्कार देता हुआ साधु यह न कहे कि- “हे मूर्ख ! हे असंस्कृतमते ! तुझ को धिक्कार है, तुम्हारे
इस पूर्वापर विरुद्ध उच्चारण से क्या सिद्ध हो सकता है ? इत्यादि कहकर उसकी भाषा की निन्दा न करे तथा
उस प्रश्न करनेवाले पर असम्बद्ध भाषण का दोष लगाकर उसका अपमान न करे । तथा जो अर्थ छोटा है, उसे
व्यर्थ के शब्दाडम्बरों से न बढ़ावे जैसे आकड़े की लकड़ी कहने के स्थान में कोई “अर्कविटपिकाष्टिका” कहकर
व्यर्थ शब्दाडम्बर रचता है, वैसा साधु न करे । अथवा जो व्याख्यान थोड़े काल में पूरा किया जा सकता है, उसे
व्याकरण और तर्क का प्रपञ्च लगाकर प्राप्ति और अनुप्राप्ति के द्वारा दीर्घकालिक न कर डाले । जैसाकि कहा है-

साधु वही अर्थ कहे जो अल्प अक्षरों में कहा जाय । जो अर्थ थोड़ा होकर बहुत अक्षरों में
कहा जाता है, वह निःसार समझना चाहिए ।

कोई सूत्र अल्प अक्षरवाला और अल्प अर्थवाला होता है, इस विषय में एक चौभङ्गी कहनी चाहिए । उसमें
जो सूत्र अल्प अक्षरवाला और महान् अर्थवाला है, उसी की यहाँ प्रशंसा की जाती है ॥२३॥



- अपि च -

- और भी

समालवेज्जा पडिपुन्नभासी, निसामिया समियाअट्टदंसी ।

आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे, अभिसंधए पावविवेग भिक्खू

॥२४॥

छाया - समालपेत्प्रतिपूर्णभाषी, मिश्रम्य सम्यगर्थदर्शी ।

आज्ञाशुद्धं वचनमभियुक्तीत, अभिसन्धयेत्पापविवेकं भिक्षुः ॥

अन्वयार्थ - (पडिपुन्नभासी समालवेज्जा) जो अर्थ थोड़े अक्षरों में न कहा जा सके, उसे विस्तृत शब्दों के द्वारा साधु प्रतिपादन करे
(निसामिया समियाअट्टदंसी) गुरु से सुनकर अच्छी तरह पदार्थ को जाननेवाला साधु (आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे) आज्ञा से शुद्ध वचन बोले (भिक्खू
पावविवेग अभिसंधए) साधु पाप का विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले ।

भावार्थ - जो अर्थ थोड़े शब्दों में कहने योग्य नहीं है, उसे साधु विस्तृत शब्दों में कहकर समझावे । तथा साधु
गुरु से पदार्थ को सुनकर उसे अच्छी तरह समझकर आज्ञा से शुद्ध वचन बोले । साधु पाप का विवेक रखता हुआ, निर्दोष
वचन बोले ।

1. सोऽर्थो वक्तव्यो यो भण्यतेऽक्षरैः स्तोकैः । यः पुनः स्तोको बहुभिरक्षरैः स भवति निस्सारः ॥१॥

टीका - यत्पुनरतिविषमत्वादल्पाक्षरैर्न सम्यगवबुध्यते तत्सम्यग्-शोभनेन प्रकारेण समन्तात्पर्यायशब्दोच्चारणतो भावार्थकथनतश्चालपेद्-भाषेत समालपेत्, नाल्पैरेवाक्षरैरुक्त्वा कृतार्थो भवेद्, अपितु ज्ञेयगहनार्थभाषणे सद्भेतुयुक्त्यादिभिः श्रोतारमपेक्ष्य प्रतिपूर्णभाषी स्याद्-अस्खलितामिलिताहीनाक्षरार्थवादी भवेदिति । तथाऽऽचार्यादेः सकाशाद्यथावदर्थं श्रुत्वा निशम्य अवगम्य च सम्यग्-यथावस्थितमर्थं यथा गुरुसकाशादवधारितमर्थं-प्रतिपाद्यं द्रष्टुं शीलमस्य स भवति सम्यगर्थदर्शी, स एवंभूतः संस्तीर्थकराज्ञया-सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण 'शुद्धम्' अवदातं पूर्वापराविरुद्धं निरवद्यं वचनमभियुक्तीतोत्सर्गविषये सति उत्सर्गमपवादविषये चापवादं तथा स्वपरसमययोर्यथास्वं वचनमभिवदेत् । एवं चाभियुञ्जन् भिक्षुः पापविवेकं लाभसत्कारादिनिरपेक्षतया काङ्क्षमाणो निर्दोषं वचनमभिसन्धयेदिति ॥२४॥

टीकार्थ - जो पदार्थ अतिकठिन होने के कारण अल्प शब्दों के द्वारा अच्छी तरह नहीं समझने में आता है, उसे अच्छी रीति से अर्थात् पर्याय शब्द का उच्चारण करके अथवा उसका भावार्थ कहकर साधु समझावे । ऐसे अर्थ को थोड़े शब्दों में कहकर साधु अपने को कृतार्थ न मान लेवे । किन्तु श्रोता की योग्यता देखकर समझने में गहन पदार्थ को उत्तम हेतु और युक्तियों को दिखाकर पूर्ण रूप से कथन करे । ऐसे विषय को समझाता हुआ साधु स्पष्ट, अलग-अलग और विस्तृत शब्द तथा अर्थ को स्पष्ट करें । आचार्य से पदार्थ को अच्छी तरह सुनकर जो उसका निश्चय करके ठीक-ठीक वस्तुतत्त्व को जानता है, उस साधु को सम्यगर्थदर्शी कहते हैं । साधु सम्यगर्थदर्शी होकर सर्वज्ञप्रणीत मार्ग के अनुसार पूर्व और पर से अविरुद्ध शुद्ध वचन बोले । साधु उत्सर्ग के स्थान में उत्सर्ग और अपवाद के स्थान में अपवादात्मक वचन बोलता हुआ अपना और दूसरे का सिद्धान्त बताते समय यथायोग्य वचन बोले । इस प्रकार भाषण करनेवाला साधु लाभ और सत्कार की इच्छा न रखता हुआ निर्दोष वचन बोलने की इच्छा करे ॥२४॥



- पुनरपि भाषाविधिमधिकृत्याह -

- फिर से भाषाविधि के विषय में स्पष्टीकरण

अहाबुइयाई सुसिक्खएज्जा, जइज्जया णातिवेलं वदेज्जा ।

से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणई भासिउं तं समाहिं

॥२५॥

छाया - यथोक्तानि सुशिक्षेत, यतेन नातिवेलं वदेत् ।

स दृष्टिमाब् दृष्टिं न लूषयेत्, स जानाति भाषितुं तं समाधिम् ॥

अन्वयार्थ - (अहाबुइयाई सुसिक्खएज्जा) तीर्थङ्कर और गणधर आदि के आगम का अच्छी तरह अभ्यास करे (जइज्जया) और सदा उसमें प्रयत्न करे (णातिवेलं वदेज्जा) मर्यादा को उल्लङ्घन करके अत्यन्त न बोले । (से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा) वह सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शन को दूषित न करे । (से तं समाहिं भासिउं जाणई) वही पुरुष तीर्थङ्करोक्त भाव समाधि को कहना जानता है ।

भावार्थ - साधु तीर्थङ्कर और गणधर के वचनों का सदा अभ्यास किया करे तथा उनके उपदेशानुसार ही वचन बोले । वह मर्यादा का उल्लङ्घन करके अधिक न बोले । सम्यग्दृष्टि साधु सम्यग्दर्शन को दूषित न करे । तो साधु इस प्रकार उपदेश करना जानता है, वही सर्वज्ञोक्त भाव समाधि को जानता है ।

टीका - यथोक्तानि तीर्थकरगणधरादिभिस्तान्यहर्निशं 'सुष्ठु शिक्षेत' ग्रहणशिक्षया सर्वज्ञोक्तमागमं सम्यग् गृह्णीयाद् आसेवनाशिक्षया त्वनवरतमुद्युक्तविहारितयाऽऽसेवेत्, अन्येषां च तथैव प्रतिपादयेद्, अतिप्रसक्तलक्षणनिवृत्तये त्वपदिश्यते, सदा ग्रहणासेवनाशिक्षयोर्देशनायां यतेत, सदा यतमानोऽपि यो यस्य कर्तव्यस्य कालोऽध्ययनकालो वा तां वेलाप्रतिलङ्घ्य नातिवेलं वदेद्-अध्ययनकर्तव्यमर्यादां नातिलङ्घयेत्स (दस) दनुष्ठानं प्रति व्रजेद्वा, यथावसरं परस्पराबाधया सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः । स एवं गुणजातीयो यथाकालवादी यथाकालचारी च 'सम्यग्दृष्टिमान्' यथावस्थितान् पदार्थान् श्रद्धधानो देशनां व्याख्यानं वा कुर्वन् 'दृष्टिं' सम्यग्दर्शनं 'न लूषयेत्' न दूषयेत्, इदमुक्तं

भवति-पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तथा तथा कथनीयमपसिद्धान्तदेशनापरिहारेण यथा यथा श्रोतुः सम्यक्त्वं स्थिरीभवति, न पुनः शङ्कोत्पादनतो दूष्यते, यश्चैवंविधः स 'जानाति' अवबुध्यते 'भाषितुं' प्ररूपयितुं 'समाधिं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सम्यक्चित्तव्यवस्थानाख्यं वा तं सर्वज्ञोक्तं समाधिं सम्यगवगच्छतीति ॥२५॥

टीकार्थ - श्री तीर्थङ्कर और गणधर आदि ने जो वचन कहे हैं, उन्हें साधु रात दिन सीखे । अर्थात् साधु सर्वज्ञोक्त आगम को ग्रहण शिक्षा के द्वारा अच्छी तरह ग्रहण कर और आसेवना शिक्षा के द्वारा उद्युक्त विहारी होकर सेवन करे । साधु दूसरे लोगों को भी सर्वज्ञ के आगम को उसी तरह प्रतिपादन करे । जिस कार्य का जो काल नहीं है उसमें भी साधु वह कार्य न कर बैठे इस लिए शास्त्रकार कहते हैं कि- साधु सदा ग्रहण शिक्षा और आसेवना शिक्षा तथा देशना में प्रयत्न करे परन्तु जो जिस कर्तव्य का काल है अथवा जो अध्ययन का काल है उसे उल्लङ्घन करके न बोले अर्थात् साधु अध्ययन तथा दूसरे कर्तव्य की मर्यादा को उल्लङ्घन न करे किन्तु उत्तम अनुष्ठान में प्रवृत्त रहे । साधु अवसर के अनुसार एक क्रिया से दूसरी क्रिया को बाधा न देता हुआ सभी क्रियायें करे । जो साधु इस प्रकार का है अर्थात् जो काल के अनुसार आचरण करता है वह सम्यग्दृष्टिमान् है अर्थात् वह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप में श्रद्धा रखनेवाला है । वह साधु धर्मोपदेश देता हुआ सम्यग्दर्शन को दूषित न करे, आशय यह है कि- सुननेवाले पुरुष की योग्यता देखकर इस प्रकार धर्म का उपदेश देना चाहिए जिससे वह पुरुष अपसिद्धान्त को त्यागकर सम्यग्धर्म में दृढ़ हो जाय परन्तु इस प्रकार उपदेश न करे जिससे श्रोता के मन में शङ्का उत्पन्न होकर सम्यक्त्व में दोष आये । जो पुरुष इस प्रकार उपदेश करना जानता है वह सम्यग्, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप सर्वज्ञोक्त भाव समाधि को अथवा श्रोता के चित्त को स्थिर करने रूप समाधि को प्रतिपादन करना अच्छी तरह जानता है ॥२५॥



- किञ्चान्यत् -

- और दूसरा भी

अलूसए णो पच्छन्नभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई ।

सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं, सुयं च सम्मं पडिवाययंति

॥२६॥

छाया- अलूसको नो प्रच्छन्नभासी, न सूत्रमर्थज्ञ कुख्यात् प्रायी ।

शास्तृभक्त्याऽणुविचिन्त्ययादं, श्रुतञ्च सम्यक् प्रतिपादयेत् ॥

अन्वयार्थ - (अलूसए) साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे (णो पच्छन्नभासी) सिद्धान्त को न छिपावे (ताई सुत्तमत्थं च णो करेज्ज) प्राणियों की रक्षा करनेवाला पुरुष सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे । (सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं) शिक्षा देनेवाले गुरु की भक्ति का ध्यान रखता हुआ साधु सोच विचारकर कोई बात कहे । (सुयं च सम्मं पडिवाययंति) एवं साधु जिस प्रकार गुरु से सुना है, वैसा ही दूसरे से सूत्र की व्याख्या करे ।

भावार्थ - साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे तथा शास्त्र के सिद्धान्त को न छिपावे । प्राणियों की रक्षा करनेवाला साधु सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे तथा शिक्षा देनेवाले गुरु की भक्ति का ध्यान रखते हुए सोच विचार कर कोई बात कहे । एवं गुरु से जैसा सुना है, वैसा ही दूसरे के प्रति सूत्र की व्याख्या करे ।

टीका - 'अलूसए' इत्यादि, सर्वज्ञोक्तमागमं कथयन् 'नो लूषयेत्' नान्यथाऽपसिद्धान्तव्याख्यानेन दूषयेत्, तथा 'न प्रच्छन्नभाषी भवेत्' सिद्धान्तार्थमविरुद्धमवदातं सार्वजनीनं तत्प्रच्छन्नभाषणेन न गोपयेत्, यदिवा प्रच्छन्नं वाऽर्थमपरिणताय न भाषेत, तद्धि सिद्धान्तरहस्यमपरिणतशिष्यविध्वंसनेन दोषायैव संपद्यते, तथा चौक्तम्

“अप्रशान्तमती शास्त्रज्ञाद्वावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णं, शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥”

इत्यादि,

न च सूत्रमन्यत् स्वमतिविकल्पनतः स्वपरत्रायी कुर्वीतान्यथा वा सूत्रं तदर्थं वा संसारात्रायी-त्राणशीलो जन्तूनां न विदधीत, किमित्यन्यथा सूत्रं न कर्तव्यमित्याह- परहितैकरतः शास्ता तस्मिन् शास्तरि या व्यवस्थिता भक्तिः- बहुमानस्तथा तद्वक्त्या अनुविचिन्त्य-ममानेनोक्तेन न कदाचिदागमबाधा स्यादित्येवं पर्यालोच्य वादं वदेत्, तथा यच्छ्रुतमाचार्यादिभ्यः सकाशात्तत्तथैव सम्यक्त्वााराधनामनुवर्तमानोऽन्येभ्य ऋणमोक्षं प्रतिपद्यमानः 'प्रतिपादयेत्' प्ररूपयेन्न सुखशीलतां मन्यमानो यथाकथञ्चित्तिष्ठेदिति ॥२६॥

टीकार्थ - साधु सर्वज्ञोक्त आगम की व्याख्या करता हुआ अपसिद्धान्त की प्ररूपणा करके सर्वज्ञोक्त आगम को दूषित न करे । एवं जो सिद्धान्त शास्त्र से अविरुद्ध निर्मल तथा सर्वजन प्रसिद्ध है, उसे अस्पष्ट भाषण के द्वारा न छिपावे । अथवा जो सिद्धान्त गुप्त रखने योग्य है, उसे किसी अपरिपक्व व्यक्ति को न बतावे क्योंकि अपरिपक्व व्यक्ति को सिद्धान्त का रहस्य बताने से वह दूषित हो जाता है अत एव कहा है कि- "अप्रशान्तमतौ"

अर्थात् जिसकी मति शान्त नहीं है, उसको शास्त्र का उत्तम भाव कहना दोष के लिए होता है, जैसे नूतनज्वरवाले रोगी को शान्ति की दवा देना हानिकारक होता है ।

अपनी तथा दूसरे की रक्षा करनेवाला अथवा संसार सागर से प्राणियों की रक्षा करनेवाला साधु अपनी कल्पना से सूत्र अथवा उसके अर्थ को न बदले । साधु सूत्र को क्यों नहीं बदले ? इसका कारण शास्त्रकार बतलाते हैं- शिक्षा देनेवाले आचार्य में जो उस साधु की भक्ति है, उस भक्ति को ध्यान में रखते हुए वह पहले यह सोच ले कि- "मेरे इस बात के कहने से आगम में कोई बाधा तो नहीं आती है ।" पश्चात् वह कोई बात कहे । एवं सम्यक्त्व की आराधना की अपेक्षा रखता हुआ साधु गुरु ऋण से मुक्त होने के लिए जैसा अर्थ गुरु से सुना है वैसा ही दूसरे को कहे परन्तु अपने को सुखी मानकर जिस किसी प्रकार से न कहे ॥२७॥



- अध्ययनोपसंहारार्थमाह -

- अब शास्त्रकार इस अध्ययन को समाप्त करते हुए कहते हैं कि -

से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च, धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ ।

आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, स अरिहइ भासिउं तं समाहिं ॥२७॥ त्ति बेमि ॥

इति ग्रन्थनामयं चउदसमज्झयणं समत्तं (गाथाग्रं ५१८)

छाया - स शुद्धसूत्र उपधानपांश्च, धर्मञ्च यो विन्दति तत्र तत्र ।

आदेयवाक्यः कुशलो व्यक्तः सोऽर्हति भाषितुं तं समाधिम् ॥

अन्वयार्थ - (से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च) शुद्धता के साथ सूत्र का उच्चारण करनेवाला तथा शास्त्रोक्त तप का आचरण करनेवाला (जे तत्थ तत्थ धम्मं विंदति) जो साधु उत्सर्ग की जगह उत्सर्गरूप धर्म को अङ्गीकार करता है (आदेज्जवक्के) वह ग्रहण करने योग्य वाक्यवाला (कुसले वियत्ते) तथा शास्त्र के अर्थ में कुशल और बिना विचारे कार्य न करनेवाला पुरुष (तं समाहिं भासिउं अरिहइ) सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है ।

भावार्थ - जो साधु शुद्धता के साथ सूत्र का उच्चारण करता है तथा शास्त्रोक्त तप का अनुष्ठान करता है एवं जो उत्सर्ग के स्थान में उत्सर्ग रूप धर्म को और अपवाद के स्थान में अपवाद रूप धर्म को स्थापित करता है, वही पुरुष ग्राह्यवाक्य है अर्थात् उसी की बात मानने योग्य है । इस प्रकार अर्थ करने में निपुण तथा बिना विचारे कार्य न करनेवाला पुरुष ही सर्वज्ञोक्त भाव समाधि का प्रतिपादन कर सकता है ।

टीका - 'स' सम्यग्दर्शनस्यालूषको यथावस्थितागमस्य प्रणेताऽनुविचिन्त्यभाषकः शुद्धम्-अवदातं यथावस्थित-वस्तुप्ररूपणतोऽध्ययनतश्च सूत्रं-प्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः, तथोपधानं-तपश्चरणं यद्यस्य सूत्रस्याभिहितमागमे तद्विद्यते यस्यासावुपधानवान्, तथा 'धर्म' श्रुतचारित्राख्यं यः सम्यक् वेत्ति विन्दते वा-सम्यक् लभते 'तत्र तत्रे'ति य

आज्ञाग्राह्योऽर्थः स आज्ञयैव प्रतिपत्तव्यो हेतुकस्तु सम्यग्हेतुना यदिवा स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये व्यवस्थापनीयः पर (समय) सिद्धश्च परस्मिन् अथवोत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्यः, एतद्गुणसंपन्नश्च 'आदेयवाक्यो' ग्राह्यवाक्यो भवति, तथा 'कुशलो' निपुणः आगमप्रतिपादने सदनुष्ठाने च 'व्यक्तः' परिस्फुटो नासमीक्ष्यकारी, यश्चैतद्गुणसमन्वितः सोऽर्हति-योग्यो भवति 'तं' सर्वज्ञोक्तं ज्ञानादिकं वा भावसमाधिं 'भाषितुं' प्रतिपादयितुं, नापरः कश्चिदिति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, गतोऽनुगमा, नयाः प्राग्वद्व्याख्येयाः ॥२७॥

॥ समाप्तं चतुर्दशं ग्रन्थाख्यमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ - जो साधु सम्यग्दर्शन को दूषित नहीं करता है किन्तु आगम के यथार्थस्वरूप को प्रकट करता है एवं विचारकर वाक्य बोलता है तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को कहकर और यथार्थ उच्चारण करके जो शुद्ध सूत्रवाला है एवं जो आगमोक्त तप का अनुष्ठान करता है तथा जो श्रुत और चारित्ररूप धर्म को अच्छी तरह से प्राप्त करता है, आशय यह है कि जो अर्थ शास्त्र की आज्ञामात्र से ग्रहण करने योग्य है, उसे आज्ञामात्र से ग्रहण करना चाहिए और जो अर्थ हेतु से ग्रहण करने योग्य है, उसे हेतु के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए । अतः जो ऐसा करता है अथवा स्वसिद्धान्त में सिद्ध जो अर्थ है, उसे स्वसिद्धान्त में ही स्थापन करना चाहिए और परसिद्धान्त में सिद्ध अर्थ को परसिद्धान्त में ही स्थापन करना चाहिए अथवा उत्सर्गरूप अर्थ को उत्सर्गरूप में और अपवादरूप अर्थ को अपवादरूप में स्थापन करना चाहिए, जो पुरुष ऐसे गुणों से युक्त है उसी की बात माननी चाहिए अतः जो पुरुष उत्तमगुणों से सम्पन्न है तथा आगम के प्रतिपादन और उत्तम अनुष्ठान करने में कुशल है एवं जो बिना विचारे कार्य नहीं करता है, वही पुरुष सर्वज्ञोक्त भावसमाधि अथवा ज्ञान आदि का भाषण कर सकता है दूसरा नहीं । इति शब्द समाप्ति अर्थ का बोधक है । ब्रवीमि पूर्ववत् है, अनुगम समाप्त हुआ । नयों की व्याख्या पूर्ववत् करनी चाहिए ।

यह चौदहवाँ ग्रन्थाध्ययन समाप्त हुआ ।



॥ अथ आदाननामकं पञ्चदशमध्ययनं प्रारभ्यते ॥

अथ चतुर्दशाध्ययनानन्तरं पञ्चदशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तराध्ययने सबाह्याभ्यन्तरस्य ग्रन्थस्य परित्यागो विधेय इत्यभिहितं, ग्रन्थपरित्यागाच्चायतचारित्रो भवति साधुः ततो यादृगसौ यथा च संपूर्णमायतचारित्रतां प्रतिपाद्यते तदनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते, तदनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—आयतचारित्रेण साधुना भाव्यं । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आदानीयमिति नाम, मोक्षार्थिनाऽशेषकर्मक्षयार्थं यज्ज्ञानादिकमादीयते तदत्र प्रतिपाद्यत इतिकृत्वा आदानीयमिति नाम संवृतं । पर्यायद्वारेण च प्रतिपादितं सुग्रहं भवतीत्यत आदानशब्दस्य तत्पर्यायस्य च ग्रहणशब्दस्य निक्षेपं कर्तुकामो निर्युक्तिकृदाह -

चौदहवाँ अध्ययन कहने के पश्चात् पन्द्रहवाँ आरम्भ किया जाता है । इस अध्ययन का पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है— पूर्व अध्ययन में कहा है कि— साधु को बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ग्रन्थों का त्याग करना चाहिए । ग्रन्थ के त्याग करने से साधु आयतचारित्र यानी महान् चारित्रवाला होता है इसलिए जैसा साधु जिस प्रकार से सम्पूर्ण आयतचारित्रता को प्राप्त करता है, सो इस अध्ययन के द्वारा बताया जाता है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार हैं, उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार यह है कि— साधु को आयत चारित्र होना चाहिए ।

नामनिष्पन्न निक्षेप में इस अध्ययन का आदानीय नाम है । मोक्षार्थी पुरुष समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए जिस ज्ञान आदि को ग्रहण करते हैं, सो इस अध्ययन में बताया जाता है इसलिए इस अध्ययन का आदानीय नाम है । पर्याय के द्वारा कहा हुआ अर्थ सुख से ग्रहण करने योग्य होता है, इसलिए आदान शब्द का और उसके पर्याय ग्रहण शब्द का निक्षेप करने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं ।

आदाने ग्रहणमि य णिक्खेवो होति दोण्हयि चउक्को । एगट्ठं नाणट्ठं च होज्ज पगयं तु आदाने ॥१३२॥ नि०
जं पढमस्संतिमए बितियस्स उ तं हयेज्ज आदिमि । एतेणादणिज्जं एसो अन्नोऽपि पज्जाओ ॥१३३॥ नि०
णामादी ठवणादी दव्वादी चेव होति भावादी । दव्वादी पुण दव्वस्स जो सभावो सए ठाणे ॥१३४॥ नि०
आगमणोआगमओ भावादी तं बुहा उवदिसंती । णोआगमओ भावो पंचयिहो होइ णायव्वो ॥१३५॥ नि०
आगमओ पुण आदी गणिपिडगं होइ बारसंगं तु । गंथसिलोगो पदपादअक्खराइं च तत्थादी ॥१३६॥ नि०

टीका - अथवा 'जमतीयं'ति अस्याध्ययनस्य नाम, तच्चादानपदेन, आदावादीयते इत्यादानं, तच्च ग्रहणमित्युच्यते, तत आदानग्रहणयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह— 'आदाने' इत्यादि, आदीयते कार्यार्थिना तदित्यादानं, कर्मणि ल्युट् प्रत्ययः, करणे वा, आदीयते—गृह्यते स्वीक्रियते विवक्षितमनेनेतिकृत्वा, आदानं च पर्यायतो ग्रहणमित्युच्यते, तत आदानग्रहणयोर्निक्षेपो(पे) भवति द्वौ चतुष्कौ, तद्यथा—नामादानं स्थापनादानं द्रव्यादानं भावादानं च, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यादानं वित्तं, यस्माल्लौकिकैः परित्यक्तान्यकर्तव्यैर्महता क्लेशेन तदादीयते, तेन वाऽपरं द्विपदचतुष्पदादिकमादीयत इतिकृत्वा, भावादानं तु द्विधा—प्रशस्तमप्रशस्तं च, तत्राप्रशस्तं क्रोधाद्युदयो मिथ्यात्वाविरत्यादिकं वा, प्रशस्तं तूत्तरोत्तरगुणश्रेण्या विशुद्धाध्यवसायकण्डकोपादानं सम्यग्ज्ञानादिकं वेत्येतदर्थप्रतिपादनपरमेतदेव वाऽध्ययनं द्रष्टव्यमिति, एवं ग्रहणेऽपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो द्रष्टव्यः, भावार्थोऽप्यादानपदस्येव द्रष्टव्यः, तत्पर्यायत्वादस्येति । एतच्च ग्रहणं नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रार्थनयाभिप्रायेणादानपदेन सहालोच्यमानं शक्रेन्द्रादिवदेकार्थम्—अभिन्नार्थं भवेत्, शब्दसमभिरूढे—त्थंभूतशब्दनयाभिप्रायेण च 'नानार्थं भवेत् । इह तु 'प्रकृतं' प्रस्ताव 'आदाने' आदानविषये यत आदानपदमाश्रित्यास्या—भिधानमकारि, आदानीयं वा ज्ञानादिकमाश्रित्य नाम कृतमिति ॥ आदानीयाभिधानस्यान्यथा वा प्रवृत्तिनिमित्तमाह—यत् पदं प्रथमश्लोकस्य तदर्धस्य च अन्ते—पर्यन्ते तदेव पदं शब्दतोऽर्थत उभयतश्च द्वितीयश्लोकस्यादौ तदर्धस्य वाऽऽदौ भवति एतेन प्रकारेण—आद्यन्तपदसदृशत्वेनादानीयं भवति, एष आदानीयाभिधानप्रवृत्तेः 'पर्यायः' अभिप्रायः अन्यो वा

विशिष्टज्ञानादि आदानीयोपादानादिति । केचित्तु पुनरस्याध्ययनस्यान्तादिपदयोः संकलनात्संकलिकेति नाम कुर्वते, तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो विधेयः, तत्रापि द्रव्यसंकलिका निगडादौ भावसंकलना तूत्तरोत्तरविशिष्टाध्यवसायसंकलनम्, इदमेव वाऽध्ययनम्, आद्यन्तपदयोः संकलनादिति । येषामादानपदेनाभिधानं तन्मतेनादौ यत्पदं तदादानपदम्, अत आदेर्निक्षेपं कर्तुकाम आह— आदेर्नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः, नामस्थापने सुगमत्वादानादृत्य द्रव्यादिं दर्शयति—द्रव्यादिः पुनः 'द्रव्यस्य' परमाण्वादेर्यः 'स्वभावः' परिणतिविशेषः 'स्वके स्थाने' स्वकीये पर्याये प्रथमम्—आदौ भवति स द्रव्यादिः द्रव्यस्य दध्यादेर्य आद्यः परिणतिविशेषः क्षीरस्य विनाशकालसमकालीनः, एवमन्यस्यापि परमाण्वादे—द्रव्यस्य यो यः परिणतिविशेषः प्रथममुत्पद्यते स सर्वोऽपि द्रव्यादिर्भवति । ननु च कथं क्षीरविनाशसमय एव दध्युत्पादः?, तथाहि— उत्पादविनाशौ भावाभावरूपौ वस्तुधर्मौ वर्तते, न च धर्मो धर्मिणमन्तरेण भवितुमर्हति, अत एकस्मिन्नेव क्षणे तद्धर्मिणोर्दधि-क्षीरयोः सत्ताऽवाप्नोति, एतच्च दृष्टेष्टबाधितमिति, नैष दोषः, यस्य हि वादिनः क्षणमात्रं वस्तु तस्यायं दोषो, यस्य तु पूर्वोत्तरक्षणानुगतमन्वयि द्रव्यमस्ति तस्यायं दोष एव न भवति, तथाहि—तत्परिणामिद्रव्यमेकस्मिन्नेव क्षणे एकेन स्वभावेनोत्पद्यते परेण विनश्यति, अनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुन इति यत्किञ्चिदेतत् । तदेवं द्रव्यस्य विवक्षितपरिणामेन परिणमतो य आद्यः समयः स द्रव्यादिरिति स्थितं, द्रव्यस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति ॥ साम्प्रतं भावादिमधिकृत्याह— भावः अन्तःकरणस्य परिणतिविशेषस्तं 'बुद्धाः' तीर्थकरगणधरादयो 'व्यपदिशन्ति' प्रतिपादयन्ति, तद्यथा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र नोआगमतः प्रधानपुरुषार्थतया चिन्त्यमानत्वात् 'पञ्चविधः' पञ्चप्रकारो भवति, तद्यथा—प्राणातिपातविरमणादीनां पञ्चानामपि महाव्रतानामाद्यः प्रतिपत्तिसमय इति, तथा 'आगमओ' इत्यादि, आगममाश्रित्य पुनरादिरेवं द्रष्टव्यः, तद्यथा— यदेतद्गणिनः—आचार्यस्य पिटकं—सर्वस्वमाधारो वा तद्द्वादशाङ्गं भवति, तुशब्दादन्यदप्युपाङ्गादिकं द्रष्टव्यं, तस्य च प्रवचनस्यादिभूतो यो ग्रन्थस्तस्याप्याद्यः श्लोकस्तत्राप्याद्यं पदं तस्यापि प्रथममक्षरम्, एवंविधो बहु प्रकारो भावादिर्द्रष्टव्य इति । तत्र सर्वस्यापि प्रवचनस्य सामायिकमादिस्तस्यापि करोमीति पदं तस्यापि ककारो, द्वादशानां त्वज्ञानामाचाराङ्गमादिस्तस्यापि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमस्यापि च जीवोद्देशकस्तस्यापि 'सुयं'ति पदं तस्यापि सुकार इति, अस्य च प्रकृताङ्गस्य समयाध्ययनमादिस्तस्यापि आद्युद्देशकश्लोकपादपद—वर्णादिर्द्रष्टव्य इति ॥१३२-१३६॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरमस्त्रलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम् —

टीकार्थ - अथवा इस अध्ययन का 'जमतीय' नाम है परन्तु यह नाम आदानपद की अपेक्षा से है । आदि में जो पद ग्रहण किया जाता है, उसे 'आदान' कहते हैं और उसी को ग्रहण भी कहते हैं, अतः आदान और ग्रहण का निक्षेप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं— "आदाणे" इत्यादि । कार्यार्थी पुरुष जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसे 'आदान' कहते हैं, आदान शब्द में कर्म अर्थ में ल्युट् प्रत्यय हुआ है अथवा करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय है, इस प्रकार जिसके द्वारा इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, उसे 'आदान' कहते हैं । आदान का पर्याय ग्रहण है इसलिए आदान और ग्रहण के निक्षेप में दो चतुष्क (चौक) होते हैं । जैसा कि— नामादान, स्थापनादान, द्रव्यादान और भावादान । इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं, इसलिए इन्हें छोड़कर शेष आदान बताये जाते हैं । द्रव्यादान धन का नाम है क्योंकि संसारी मनुष्य दूसरे कर्तव्यों को छोड़कर महान् क्लेश से धन को ग्रहण करते हैं अथवा उस धन के द्वारा दूसरे द्विपद और चतुष्पद आदि को ग्रहण करते हैं, इसलिए धन को द्रव्यादान कहते हैं । 'भावादान' दो प्रकार का है— प्रशस्त और अप्रशस्त । इनमें क्रोध आदि का उदय होना अथवा मिथ्यात्व और अविरति आदि अप्रशस्त भावादान हैं, तथा उत्तरोत्तर गुणश्रेणि के द्वारा विशुद्ध अध्यवसाय को ग्रहण करना अथवा सम्यग् ज्ञान आदि को ग्रहण करना प्रशस्त भावादान है । इसी प्रशस्त भावादान का यह अध्ययन प्रतिपादन करता है । इसी प्रकार ग्रहण में भी नाम आदि चार निक्षेप समझने चाहिए और भावार्थ भी आदान पद के समान ही समझना चाहिए क्योंकि ग्रहण पद आदान पद का पर्याय है । नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र रूप अर्थनय के अभिप्राय से विचार करने पर जैसे शक्र और इन्द्र शब्द एकार्थक हैं, इसी तरह आदान और ग्रहण शब्द भी एकार्थक हैं, परन्तु शब्द, समभिरूढ और इत्थंभूत नय के हिसाब से आदान और ग्रहण शब्द भिन्न-भिन्न अर्थवाले हैं, परन्तु यहाँ आदान के विषय का ही प्रकरण है क्योंकि आदान पद को लेकर इस अध्ययन का नाम किया गया है । अथवा ग्रहण करने योग्य

ज्ञान आदि को लेकर इसका नाम रखा है ।

अब निर्युक्तिकार 'आदानीय' नाम का प्रवृत्ति निमित्त दूसरे प्रकार से बताते हैं- जो पद प्रथम श्लोक के अन्त में हो अथवा प्रथम श्लोक के अर्धभाग के अन्त में हो वही पद यदि शब्द अर्थ और उभय के द्वारा द्वितीय श्लोक के आदि में हो अथवा द्वितीय श्लोक के अर्धभाग के आदि में हो तो वह पद आदि और अन्त के सदृश होने से आदानीय कहलाता है । इस अध्ययन में ऐसा ही हुआ है, इसलिए इसका आदानीय नाम है अथवा विशिष्ट ज्ञान आदि का इसमें प्रतिपादन हुआ है, इसलिए इसका नाम आदानीय रखा है ।

कोई कहते हैं कि- इस अध्ययन के अन्त और आदि पद का संकलन हुआ है इसलिए इसका नाम 'संकलिका' है । संकलिका के भी नाम आदि चार निक्षेप करने चाहिए । उनमें द्रव्य संकलिका बेड़ी आदि में होती है और भाव संकलिका उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणों को संग्रह करना समझना चाहिए । अथवा आदि और अन्तपद के संकलन होने से यही अध्ययन भाव संकलिका है । जिनका मत यह है कि आदान पद को लेकर अध्ययन का नाम होता है, उनके मत में अध्ययन के आदि में जो पद होता है उसको आदानपद कहते हैं, इसलिए आदि शब्द का निक्षेप बताने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं- आदि शब्द के नाम आदि चार निक्षेप होते हैं, उनमें सुगम होने के कारण नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्य आदि बताते हैं- परमाणु आदि द्रव्य का अपने पर्याय में जो पहले पहल परिणाम होता है, उसे द्रव्य आदि कहते हैं तथा दूध के नाश के समय दधि आदि का जो पहला परिणाम होता है, उसे द्रव्यादि कहते हैं । इसी तरह दूसरे परमाणु आदि का जो पहले पहल परिणाम उत्पन्न होता है, वह सभी द्रव्यादि कहलाता है ।

कहते हैं कि- जिस समय दूध का नाश होता है उसी समय दधि की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि उत्पत्ति और विनाश, भाव तथा अभावरूप होने से वस्तु के धर्म हैं । धर्म, धर्मी के बिना नहीं होता है इसलिए उत्पत्ति के धर्मी दधि और विनाश के धर्मी दूध की एक क्षण में सत्ता (रहना) प्राप्त होती है, परन्तु यह देखा नहीं जाता है तथा इष्ट भी नहीं है । कहते हैं कि- यह दोष नहीं है, जो वादी क्षणमात्र वस्तु की सत्ता मानता है, उसके मत में यह दोष हो सकता है (अर्थात् दधि के समय में भी दूध की सत्ता सिद्ध होने से उसका क्षणिक सिद्धान्त नष्ट हो जाता है) परन्तु जो अन्वयी द्रव्य को पूर्व और उत्तर दोनों क्षणों में रहना मानते हैं, उनके मत में दधि के समय में दूध का रहना दोष नहीं किन्तु इष्ट है क्योंकि वह परिणामी द्रव्य, एक ही समय में एक स्वभाव से उत्पन्न होता है और दूसरे स्वभाव से नष्ट होता है क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है इसलिए उक्त शंका सार रहित है । इस प्रकार अपने इष्ट परिणाम से परिणत होते हुए पदार्थ का जो प्रथम समय है, उसे द्रव्यादि कहते हैं । यहाँ द्रव्य की प्रधानता की विवक्षा करके प्रथम समय को द्रव्यादि कहते हैं । अब निर्युक्तिकार भाव आदि के विषय में कहते हैं- तीर्थङ्कर और गणधर आदि अन्तःकरण के परिणाम विशेष को भाव कहते हैं, वह आगम से और नोआगम से होने के कारण दो प्रकार का है । उनमें नोआगम से भाव, प्रधान पुरुषार्थ रूप से माने जाने के कारण पाँच प्रकार का है, जैसे कि- प्राणातिपात विरमण आदि, उन पाँच महाव्रतों को ग्रहण करने का जो प्रथम समय है वह नोआगम से भावादि है । तथा आगम से भावादि इस प्रकार समझना चाहिए-आचार्य की पेटी अथवा सर्वस्व आधार जो यह द्वादशाङ्ग है तथा तु शब्द से जो दूसरे उपाङ्ग आदि हैं, उन प्रवचनों का जो पहला ग्रन्थ है और उस ग्रन्थ का जो पहला श्लोक है एवं उसका भी जो पहला पद है और उसका भी जो प्रथम अक्षर है ये सब भावादि हैं । इस प्रकार भावादि अनेक प्रकार का होता है । उसमें भी समस्त प्रवचनों का आदि सामायिक है और उसका आदि 'करोमि' पद है और उस पद का भी आदि ककार है इसलिए वह भावादि है । इसी तरह बारह अङ्गों में आचाराङ्ग सूत्र आदि है और उसमें भी शस्त्रपरिज्ञाध्ययन आदि है । शस्त्रपरिज्ञा-ध्ययन में भी जोवोदेशक आदि है उसमें भी 'सुयं' पद आदि है और उसमें भी 'सु' आदि है (इसलिए वह भावादि है ।) इस सूत्रकृताङ्ग सूत्र का समयाध्ययन आदि है और उसका भी पहला उद्देशक पहला श्लोक पहला पद, और पहला वर्ण आदि समझना चाहिए ॥१३२-१३६॥ नाम निक्षेप समाप्त हुआ । इसके पश्चात् शुद्धता के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है-



जमतीतं पडुपन्नं, आगमिस्सं च णायओ ।

सव्वं मन्नति तं ताई, दंसणावरणंतए

॥१॥

छाया - यदतीतं प्रत्युत्पन्नमागमिष्यच्च नायकः । सर्वं मव्यते तत् प्रायी दर्शनावरणाव्तकः ॥

अन्वयार्थ - (जमतीतं) जो पदार्थ हो चुके हैं (पडुपन्नं) और जो वर्तमान में विद्यमान है (आगमिस्सं च) एवं जो भविष्य में होनेवाले हैं (तं सव्वं) उन सबको (दंसणावरणंतए) दर्शनावरणीय कर्म को अन्त करनेवाला (ताई) जीवों की रक्षा करनेवाला (णायओ) नेता पुरुष (मन्नति) जानता है ।

भावार्थ - जो पदार्थ उत्पन्न हो चुके हैं और जो वर्तमानकाल में विद्यमान हैं तथा जो भविष्यकाल में होंगे उन सब पदार्थों को, दर्शनावरणीय कर्म को अन्त करनेवाला जीव रक्षक नेता पुरुष जानता है ।

टीका - अस्य चान्तरसूत्रेण संबन्धो वक्तव्यः, स चायं, तद्यथा- आदेयवाक्यः कुशलो व्यक्तोऽर्हति तथोक्तं समाधिं भाषितुं, यश्च यदतीतं प्रत्युत्पन्नमागमि च सर्वमवगच्छति स एव भाषितुमर्हति नान्य इति । परम्परसूत्रसंबन्धस्तु य एवातीतानागतवर्तमानकालत्रयवेदी स एवाशेषबन्धनानां परिज्ञाता त्रोटयिता वेत्येतद्बुध्येतेत्यादिकः संबन्धोऽपर-सूत्रैरपि स्वबुद्ध्या लगनीय इति । तदेवं प्रतिपादितसंबन्धस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या प्रस्तूयते-यत्किमपि द्रव्यजातमतीतं यच्च प्रत्युत्पन्नं यच्चानागतम्-एष्यत्कालभावि तस्यासौ सर्वस्यापि यथावस्थितस्वरूपनिरूपणतो 'नायकः' प्रणेता, यथावस्थितवस्तुस्वरूपप्रणेतृत्वं च परिज्ञाने सति भवत्यतस्तदुपदिश्यते-'सर्वम्' अतीतानागतवर्तमानकालत्रयभावतो द्रव्यादिचतुष्कस्वरूपतो द्रव्यपर्यायनिरूपणतश्च मनुते-असौ जानाति सम्यक् परिच्छिनत्ति तत्सर्वमवबुध्यते, जानानश्च विशिष्टोपदेशदानेन संसारोत्तारणतः सर्वप्राणिनां त्राय्यसौ-त्राणकरणशीलः, यदिवा- 'अयवयपयमयचयतयणय गता' वित्यस्य धातोर्घञ्प्रत्ययः, तयनं तायः स विद्यते यस्यासौ तायी, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इतिकृत्वा सामान्यस्य परिच्छेदको, मनुते इत्यनेन विशेषस्य, तदनेन सर्वज्ञः सर्वदर्शी चेत्युक्तं भवति, न च कारणमन्तरेण कार्यं भवतीत्यत इदमपदिश्यते-दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽन्तकः, मध्यग्रहणे (न) तु घातिचतुष्टयस्यान्तकृद् द्रष्टव्य इति ॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र का पूर्व सूत्र के साथ सम्बन्ध कहना चाहिए, वह सम्बन्ध यह है- पूर्व सूत्र में कहा है कि- "जो पुरुष ग्रहण करने योग्य वाक्य बोलता है तथा कुशल और विचारकर कार्य करनेवाला है, वही शास्त्रीय समाधि का भाषण कर सकता है ।" अब यहाँ बताते हैं कि- जो पुरुष भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के पदार्थों को जानता है, वही समाधि का भाषण कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता है । परस्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है- जो पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के पदार्थों को जानता है, वही समस्त बन्धनों को जाननेवाला और तोड़नेवाला है, यह जानना चाहिए, इस प्रकार दूसरे सूत्रों के साथ भी अपनी बुद्धि से सम्बन्ध मिला लेना चाहिए । इस प्रकार जिसका सम्बन्ध बता दिया गया है, ऐसे इस सूत्र की अब व्याख्या आरम्भ की जाती है ।

जो कोई पदार्थ भूतकाल में हो चुके हैं और जो वर्तमान काल में विद्यमान हैं तथा जो भविष्य काल में होने वाले हैं, उन सबों के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने के कारण वह पुरुष नायक यानी प्रणेता है । वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करना, उनका ज्ञान होने पर होता है, इसलिए शास्त्रकार उसका उपदेश करते हैं- वह पुरुष भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के पदार्थों को द्रव्यादि चार स्वरूप से तथा द्रव्य और पर्याय के निरूपण से जानता है और जानता हुआ वह विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियों को संसार सागर से पार उतारकर सब जीवों की रक्षा करता है । अथवा "अय वय पय मय चय तय णय गतौ" इस गत्यर्थक अय् धातु से घञ् प्रत्यय होकर 'ताय' पद बनता है और ताय पद से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करके 'तायी' पद बना है, इसलिए जो सामान्य अर्थ को जानता है, उसे तायी कहते हैं, क्योंकि- सभी गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक हैं । तथा मनुते पद से वह विशेष अर्थ का ज्ञाता है, यह बताया जाता है । इस प्रकार वह पुरुष सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, यह यहाँ कहा है । कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि वह पुरुष दर्शनावरणीय कर्म का नाश करनेवाला है । दर्शनावरणीय कर्म मध्यम है इसलिए उसके ग्रहण से चार प्रकार के घाती कर्मों का अन्त

करने वाला वह पुरुष है, यह जानना चाहिए ॥१॥



- यश्च घातिचतुष्टयान्तकृत्स ईदृग्भवतीत्याह -

- जो पुरुष चार प्रकार के घाती कर्मों को नाश करनेवाला है, वह इस प्रकार का होता है, यह शास्त्रकार बताते हैं -

अंतए वितिगिच्छाए, से जाणति अणेलिसं ।

अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं

॥२॥

छाया - अन्तको विचिकित्सायाः स ज्ञानात्यन्तीदृशम् । अनीदृशस्याख्याता, स न भवति तत्र तत्र ॥

अन्वयार्थ - (वितिगिच्छाए अंतए) जो संशय को दूर करनेवाला है (से अणेलिसं जाणति) वह पुरुष सबसे ज्यादा पदार्थ को जानता है। (अणेलिसस्स अक्खाया) जो पुरुष सब से बढ़कर वस्तुतत्त्व को बतानेवाला है (से तहिं तहिं ण होइ) वह बौद्धादि दर्शनों में नहीं है।

भावार्थ - संशय को दूर करनेवाला पुरुष सब से बढ़कर पदार्थ को जानता है । जो पुरुष सब से बढ़कर वस्तुतत्त्व का निरूपण करनेवाला है, वह बौद्धादि दर्शनों में नहीं है ।

टीका - विचिकित्सा-चित्तविप्लुतिः संशयज्ञानं तस्यासौ तदावरणक्षयादन्तकृत् संशयविपर्ययमिथ्याज्ञाना-
नामविपरीतार्थपरिच्छेदादन्ते वर्तते, इदमुक्तं भवति-तत्र दर्शनावरणक्षयप्रतिपादनात् ज्ञानाद् भिन्नं दर्शनमित्युक्तं भवति,
ततश्च येषामेकमेव सर्वज्ञस्य ज्ञानं वस्तुगतयोः सामान्यविशेषयोरचिन्त्यशक्त्युपेतत्वात्परिच्छेदकमित्येषोऽभ्युपगमः सोऽनेन
पृथगावरणक्षयप्रतिपादनेन निरस्तो भवतीति, यश्च घातिकर्मान्तकृदतिक्रान्तसंशयादिज्ञानः सः 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशं
जानीते न तत्तुल्यो वस्तुगतसामान्यविशेषांशपरिच्छेदक उभयरूपेणैव विज्ञानेन विद्यत इति, इदमुक्तं भवति-न
तज्ज्ञानमितरजनज्ञानतुल्यम्, अतो यदुक्तं मीमांसकैः- सर्वज्ञस्य सर्वपदार्थपरिच्छेदकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा
स्पर्शरूपरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदादनभिमतद्रव्यरसास्वादनमपि प्राप्नोति, तदनेन व्युदस्तं द्रष्टव्यं, यदप्युच्यते-सामान्येन
सर्वज्ञसद्भावेऽपि शेषहेतोरभावादहृत्येव संप्रत्ययो नोपपद्यते, तथा चोक्तम्-

“अर्हं(रुह)न् यदि सर्वज्ञो, बुद्धो नेत्यत्र का प्रमा ? । अथोभावपि सर्वज्ञी, मतमेदस्तयोः कथम् ? ॥१॥”

इत्यादि, एतत्परिहारार्थमाह- 'अनीदृशस्य' अनन्यसदृशस्य यः परिच्छेदक आख्याता च नासौ 'तत्र तत्र' दर्शने
बौद्धादिके भवति, तेषां द्रव्यपर्याययोरनभ्युपगमादिति, तथाहि-शाक्यमुनिः सर्वं क्षणिकमिच्छन् पर्यायानेवेच्छति न द्रव्यं,
द्रव्यमन्तरेण च निर्बीजत्वात् पर्यायाणामप्यभावः प्राप्नोत्यतः पर्यायानिच्छताऽवश्यमकामेनापि तदाधारभूतं परिणामि
द्रव्यमेष्टव्यं, तदनभ्युपगमाच्च नासौ सर्वज्ञ इति, तथा अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावस्य द्रव्यस्यैवैकस्याभ्युपग-
मादध्यक्षाध्यवसीयमानानामर्थक्रियासमर्थानां पर्यायाणामनभ्युपगमान्निष्पर्यायस्य द्रव्यस्याप्यभावात्कपिलोऽपि न सर्वज्ञ
इति, तथा क्षीरोदकवदभिन्नयोर्द्रव्यपर्याययोर्भेदेनाभ्युपगमादलूकस्यापि न सर्वज्ञत्वम् । असर्वज्ञत्वाच्च तीर्थान्तरीयाणां
मध्ये न कश्चिदप्यनीदृशस्य-अनन्यसदृशस्यार्थस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपस्याख्याता भवतीत्यहन्नेवातीतानागत-वर्तमानत्रिकालवर्तिनोऽर्थस्य
स्वाख्यातेति न तत्र तत्रेति स्थितम् ॥२॥

टीकार्थ - चित्त की अस्थिरता यानी संशयज्ञान को विचिकित्सा कहते हैं, उसके आवरणीय कर्म के क्षय करने के कारण जो पुरुष संशय का अन्त करनेवाला है, वह संशय का अन्त करनेवाला है, वह संशय विपर्यय और मिथ्याज्ञान को ठीक-ठीक जानने के कारण इनके अन्त में निवास करता है । यहाँ दर्शनावरणीय कर्म के क्षय का कथन किया है, इसलिए दर्शन को ज्ञान से भिन्न जानना चाहिए अतः जिन का सिद्धान्त यह है कि- “सर्वज्ञ पुरुष का एक ही ज्ञान अचिन्त्यशक्ति से युक्त होने के कारण वस्तु के सामान्य और विशेष दोनों का निश्चय करता है ।” सो यहाँ अलग दर्शनावरणीय के क्षय कहने से खण्डित समझना चाहिए । जो पुरुष चार प्रकार के घाती कर्मों का नाश करनेवाला और संशयादि ज्ञान को उल्लंघन किया हुआ है, वह अनन्यसदृश पदार्थ का ज्ञाता है,

उसके समान दोनों ही विज्ञानों से वस्तु के सामान्य और विशेष अंश को जाननेवाला दूसरा नहीं है। कहने का आशय यह है कि- उस पुरुष का ज्ञान दूसरे पुरुषों के ज्ञान के समान नहीं है, इसलिए मीमांसकों ने जो यह कहा है कि- सर्वज्ञ यदि सब पदार्थों के ज्ञाता है तो उनको सदा स्पर्श आदि का ज्ञान बना रहने से अनभिमत वस्तु के रसास्वाद का ज्ञान भी होना चाहिए, सो इन कथन से खण्डित समझना चाहिए तथा वे जो यह कहते हैं कि- सामान्यरूप से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर भी अरिहन्त ही सर्वज्ञ हैं, इसमें कोई हेतु नहीं है इसलिए अरिहन्त ही सर्वज्ञ हैं, यह बात नहीं बन सकती है। जैसा कि उन्होंने कहा है -

“यदि अरिहन्त सर्वज्ञ हैं तो बुद्ध सर्वज्ञ नहीं हैं इसमें क्या प्रमाण है ? । यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो इन दोनों में मतभेद क्यों ? ।”

इस आक्षेप का परिहार करने के लिए कहते हैं कि- “अनीदृशस्य” अर्थात् जो पुरुष अनन्यसदृश पदार्थ को कहनेवाला है, वह बौद्ध आदि दर्शनों में नहीं है क्योंकि वे द्रव्य और पर्याय दोनों को स्वीकार नहीं करते हैं। शाक्य मुनि सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हुए केवल पर्याय को ही मानते हैं, द्रव्य को नहीं मानते, परन्तु द्रव्य के बिना निर्बीज होने के कारण पर्याय भी नहीं हो सकते हैं। इसलिए पर्याय माननेवाले को पर्यायों का आधार स्वरूप परिणामी द्रव्य अवश्य मानना चाहिए परन्तु शाक्य मुनि परिणामी द्रव्य नहीं मानते हैं, इसलिए वे सर्वज्ञ नहीं हैं। तथा कपिल उत्पत्ति विनाश रहित स्थिर एक स्वभाववाला एकमात्र द्रव्य को ही मानते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव किये जानेवाले कार्य करने में समर्थ पर्यायों को नहीं मानते हैं, लेकिन पर्याय रहित द्रव्य होता नहीं है, इसलिए कपिल भी सर्वज्ञ नहीं हैं। तथा दूध और पानी की तरह द्रव्य और पर्याय अभिन्न हैं, तथापि उनको अत्यन्त भिन्न माननेवाले उलूक भी सर्वज्ञ नहीं हैं। इस प्रकार असर्वज्ञ होने के कारण दूसरे दर्शनवालों में कोई भी द्रव्य और पर्याय रूप अनन्यसदृश उभयविध पदार्थ का वक्ता नहीं है, इसलिए एकमात्र अरिहन्त ही भूत वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों के पदार्थों को ठीक-ठीक कहनेवाले हैं, दूसरे दर्शनवाले नहीं, यह बात सिद्ध हुई ॥२॥



- साम्प्रतमेतदेव कुतीर्थिकानामसर्वज्ञत्वमर्हतश्च सर्वज्ञत्वं यथा भवति तथा सोपपत्तिकं दर्शयितुमाह -

- कुतीर्थिक सर्वज्ञ नहीं है किन्तु अरिहन्त सर्वज्ञ हैं, यह जिस प्रकार हो सकता है, उसे शास्त्रकार युक्ति सहित बताते हैं -

तर्हि तर्हि सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए ।

सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिं कप्पए

॥३॥

छाया - तत्र तत्र स्वाख्यातं, तच्च सत्यं स्वाख्यातम् । सदा सत्येन सम्पन्नो मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥

अन्वयार्थ - (तर्हि तर्हि सुयक्खायं) श्री तीर्थङ्कर देव ने भिन्न-भिन्न स्थानों में जो जीवादि पदार्थों का भली भाँति कथन किया है (से य सच्चे सुआहिए) वही सत्य है और वही सुभाषित है। (सया सच्चेण संपन्ने) अतः सदा सत्य से युक्त होकर (भूएहिं मित्तिं कप्पए) जीवों के साथ मैत्री करनी चाहिए।

भावार्थ - श्री तीर्थङ्कर देव ने भिन्न-भिन्न स्थलों में जो जीवादि तत्त्वों का अच्छी तरह उपदेश किया है, वही सत्य है और वही सुभाषित है, इसलिए मनुष्य को सदा सत्य से युक्त होकर जीवों में मैत्री भाव रखना चाहिए।

टीका - तत्र तत्रेति वीप्सापदं यद्यत्तेनाहता जीवाजीवादिकं पदार्थजातं तथा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इतिकृत्वा संसारकारणत्वेन तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति मोक्षाङ्गतयेत्येतत्सर्वं पूर्वोत्तरा-विरोधितया युक्तिभिरुपपन्नतया च सुष्ठ्वाख्यातं-स्वाख्यातं, तीर्थिकवचनं तु ‘न हिंस्याद्भूतानी’ति भणित्वा तदुपमर्द-कारम्भाभ्यनुज्ञानात्पूर्वोत्तरविरोधितया तत्र तत्र चिन्त्यमानं निर्युक्तिकत्वान्न स्वाख्यातं भवति, स चाविरुद्धार्थस्याख्याता रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामसंभवात् सद्भ्यो हितत्वाच्च सत्यः ‘स्वाख्यातः’ तत्स्वरूपविद्धिः प्रतिपादितः। रागादयो ह्यनृतकारणं ते च तस्य न सन्ति अतः कारणाभावात्कार्याभाव इतिकृत्वा तद्वचो भूतार्थप्रतिपादकं, तथा चोक्तम्-

“वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वचः । यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, 'तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥१॥”

ननु च सर्वज्ञत्वमन्तरेणापि हेयोपादेयमात्रपरिज्ञानादपि सत्यता भवत्येव, तथा चोक्तम् -

“सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥१॥”

इत्याशङ्क्याह- ‘सदा’ सर्वकालं ‘सत्येन’ अवितथभाषणत्वेन संपन्नोऽसौ अवितथभाषणत्वं च सर्वज्ञत्वे सति भवति, नान्यथा, तथाहि- कीटसंख्यापरिज्ञानासंभवे सर्वत्रापरिज्ञानमाशङ्क्येत, तथा चोक्तम्- “सदृशे बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्याद्” इति सर्वत्रानाश्वासः, तस्मात्सर्वज्ञत्वं तस्य भगवत एष्टव्यम्, अन्यथा तद्वचसः सदा सत्यता न स्यात्, सत्यो वा संयमः सन्तः-प्राणिनस्तेभ्यो हितत्वाद् अतस्तेन तपःप्रधानेन संयमेन भूतार्थहितकारिणा ‘सदा’ सर्वकालं ‘संपन्नो’ युक्तः, एतद्गुणसंपन्नश्चासौ ‘भूतेषु’ जन्तुषु ‘मैत्रीं’ तद्रक्षणपरतया भूतदयां ‘कल्पयेत्’ कुर्यात्, इदमुक्तं भवति-परमार्थतः स सर्वज्ञस्तत्त्वदर्शितया यो भूतेषु मैत्रीं कल्पयेत्, तथा चोक्तम्-

“²[मातृवत्परदार्याणि, परद्रव्याणि लोष्टवत् ।] आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ॥१॥” ॥३॥

टीकार्थ - इस गाथा में “तत्र तत्र” पद वीप्सा अर्थ में आया है, इसलिए श्री तीर्थङ्कर देव ने जीव और अजीव आदि जो-जो पदार्थ बताये हैं तथा उन्होंने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्ध का कारण कहकर जो इन्हें संसार का कारण कहा है, एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को जो मोक्ष का मार्ग बताया है सो सब मोक्ष के कारण और पूर्वापर से अविरुद्ध एवं युक्ति से युक्त होने के कारण स्वाख्यात यानी सम्यक्कथन हैं परन्तु अन्य तीर्थियों का कथन स्वाख्यात नहीं है क्योंकि पहले तो अन्यतीर्थियों ने “किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए” ऐसी आज्ञा देकर फिर स्थल स्थल में जीवों के विनाशक आरम्भ की आज्ञा दी है, इसलिए उनके ग्रन्थ पूर्वापर विरुद्ध हैं, अतः विचार करने पर युक्ति रहित होने के कारण अन्य तीर्थिकों का कथन स्वाख्यात नहीं है । श्री तीर्थङ्कर देव, अविरुद्ध अर्थ को बतानेवाले हैं क्योंकि मिथ्या भाषण के कारण रागद्वेष और मोह उनमें नहीं हैं, अत एव उनका स्वरूप जाननेवाले पुरुष कहते हैं कि- सत्पुरुषों के हितकारी होने के कारण श्री तीर्थङ्कर देव सत्य हैं । राग आदि, मिथ्या भाषण के कारण हैं, वे श्री तीर्थङ्कर देव में नहीं हैं इसलिए कारण के अभाव से कार्य का अभाव होना स्वाभाविक ही है, अतः तीर्थङ्कर देव का वचन सत्य अर्थ का प्रतिपादक है । अत एव कहा है कि-

सर्वज्ञ पुरुष वीतराग होते हैं, वे मिथ्यावचन नहीं बोलते, इसलिए सर्वज्ञ पुरुषों का वचन सत्य अर्थ का प्रतिपादक है ।

यहाँ शङ्का होती है कि- सर्वज्ञता न होने पर भी त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तु के ज्ञानमात्र से सत्यवादिता हो सकती है, अत एव कहा है कि- (सर्वम्)

अर्थात् मार्गदर्शक पुरुष सर्वज्ञ हो या न हो परन्तु इष्ट अर्थ का दर्शक होना चाहिए, क्योंकि कीड़ों की संख्या का ज्ञान हमारे किस प्रयोजन को सिद्ध कर सकता है ।

इस शङ्का का समाधान करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं कि- वह तीर्थङ्कर सदा सत्य भाषण से युक्त हैं परन्तु सर्वज्ञता होने पर ही सदा सत्य भाषण किया जा सकता है अन्यथा नहीं क्योंकि उनको जैसे कीड़ों की संख्या का ज्ञान नहीं है, इसी तरह दूसरे पदार्थों का ज्ञान न होना भी सम्भव है, अत एव कहा है कि जैसे एक स्थल में उस पुरुष का ज्ञान बाधित और असम्भव है, इसी तरह दूसरी जगह भी हो सकता है, इस प्रकार उसकी सत्यवादिता दूषित हो जाती है, अतः उसके किसी भी वाक्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता, अतः श्री तीर्थङ्कर भगवान् को अवश्य सर्वज्ञ मानना चाहिए । अन्यथा उनका वचन सदा सत्य नहीं हो सकता है । अथवा प्राणियों को सत् कहते हैं और उनका जो हितकर है, उसे सत्य कहते हैं, वह संयम है क्योंकि वह प्राणियों का हितकर है, उस भूतहितकारी तपः प्रधान संयम से सदा युक्त होकर वह तीर्थङ्कर देव प्राणियों में मैत्री की स्थापना करते हैं, अर्थात् वे जीवों की रक्षा का उपदेश देकर भूतदया की स्थापना करते हैं । आशय यह है कि- वस्तुतः वही

पुरुष सर्वज्ञ है, जो तत्त्वदर्शी होकर प्राणियों में मैत्री की स्थापना करता है। अतः एव कहा है कि-

[जो पुरुष दूसरे की स्त्री को माता के समान और दूसरे के द्रव्य को पाषाण के समान तथा] सब प्राणियों को अपने समान देखता है, वही तत्त्वदर्शी है ॥३॥



- यथा भूतेषु मैत्री संपूर्णभावमनुभवति तथा दर्शयितुमाह -

- प्राणियों के साथ जिस प्रकार पूर्ण मैत्री हो सकती है सो बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे बुसीमओ ।

बुसिमं जगं परित्राय, अस्सिं जीवितभावणा

॥४॥

छाया - भूतेर्न विरुद्धेतेष धर्मः साधोः । साधुर्जगत्परित्रायास्मिन् जीवितभावणा ॥

अन्वयार्थ - (भूएहिं न विरुज्झेज्जा) प्राणियों के साथ वैर न करे (एस बुसीमओ धम्मे) यह साधुओं का धर्म है । (बुसिमं जगं परित्राय) साधु जगत् के स्वरूप को जानकर (अस्सिं जीवितभावणा) शुद्ध धर्म की भावना करे ।

भावार्थ - प्राणियों के साथ विरोध न करना साधु का धर्म है । इसलिए जगत् के स्वरूप को जानकर साधु धर्म की भावना करे ।

टीका - 'भूतैः' स्थावरजङ्गमैः सह 'विरोधं न कुर्यात्' तदुपघातकारिणमारम्भं तद्विरोधकारणं दूरतः परिवर्जयेदित्यर्थः स 'एषः' अनन्तरोक्तो भूताविरोधकारी 'धर्मः' स्वभावः पुण्याख्यो वा 'बुसीमओ'ति तीर्थकृतोऽयं सत्संयमवतो वेति । तथा सत्संयमवान् साधुस्तीर्थकृद् वा 'जगत्' चराचरभूतग्राभाख्यं केवलालोकेन सर्वज्ञप्रणीतागमपरिज्ञानेन वा 'परिज्ञाय' सम्यगवबुध्य 'अस्मिन्' जगति मौनीन्द्रे वा धर्मे भावनाः पञ्चविंशतिरूपा द्वादशप्रकारा वा या अभिमतास्ता 'जीवितभावना' जीवसमाधानकारिणीः सत्संयमाङ्गतया मोक्षकारिणीर्भावयेदिति ॥४॥

टीकार्थ - साधु, स्थावर और जङ्गम सब प्रकार के प्राणियों के साथ विरोध न करे । प्राणियों का विघात करनेवाला आरम्भ है और वही उनके साथ विरोध का कारण है, इसलिए साधु उसे दूर से ही त्याग करे । भूतों के साथ विरोध न करनेवाला यह पूर्वोक्त धर्म यानी स्वभाव अथवा पुण्यकार्य तीर्थङ्कर का है, अथवा उत्तम संयम पालन साधु का है, इसी तरह उत्तम संयमवान् साधु अथवा तीर्थंकर चराचर जगत् को सर्वज्ञ प्रणीत आगम के द्वारा अथवा केवलज्ञान के द्वारा अच्छी तरह जानकर अपने आत्मा को शान्ति देनेवाली, उत्तम संयम के अङ्गभूत तथा मोक्ष के कारण और सत्पुरुषों के इष्ट जो इस जगत् में अथवा मुनीन्द्र सम्बन्धी धर्म में २५ प्रकार की या द्वादश भावनायें हैं, उनकी भावना करे ॥४॥



- सद्भावनाभावितस्य यद्वति तद्दर्शयितुमाह -

- उत्तम भावना करनेवाले पुरुष की जो गति होती है, उसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।

नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ

॥५॥

छाया - भावनायोगशुद्धात्मा, जले गौरिवाहितः । गौरिव तीरसम्पन्नाः सर्वदुःखात् नृत्त्यति ॥

अन्वयार्थ - (भावणाजोगसुद्धप्पा) भावनारूपी योग से शुद्ध आत्मावाला पुरुष (जले णावा व आहिया) जल में नाव के समान कहा गया है । (नावा व तीरसंपन्ना) तीर को प्राप्त करके जैसे नाव विश्राम करती है (सव्वदुक्खा तिउट्टइ) इसी तरह उक्त पुरुष सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

भावार्थ - पूर्वोक्त पच्चीस प्रकार की अथवा बारह प्रकार की भावना से जिसका आत्मा शुद्ध हो गया है, वह

पुरुष जल में नाव के समान कहा गया है। जैसे तीर भूमि को पाकर नाव विश्राम करती है, इसी तरह वह पुरुष सब दुखों से छुट जाता है।

टीका - भावनाभिर्योगः-सम्यक्प्रणिधानलक्षणो भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा-अन्तरात्मा यस्य स तथा, स च भावनायोगशुद्धात्मा सन् परित्यक्तसंसारस्वभावो नौरिव जलोपर्यवतिष्ठते संसारोदन्वत इति, नौरिव- यथा जलेऽनिमज्जनत्वेन प्रख्याता एवमसावपि संसारोदन्वति न निमज्जतीति। यथा चासौ निर्यामकाधिष्ठिताऽनुकूलवातेरिता समस्तद्वन्द्वापगमात्तीरमास्कन्दत्येवमायतचारित्रवान् जीवपोतः सदागमकर्णधाराधिष्ठितस्तपोमारुतवशात्सर्व-दुःखात्मकात्संसारान् 'नुटयति' अपगच्छति मोक्षाख्यं तीरं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपमवाप्नोतीति ॥५॥

टीकार्थ - उत्तम भावना के योग से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वह पुरुष संसार के स्वभाव को छोड़कर जल में नाव की तरह संसार सागर के ऊपर रहता है। जैसे नाव जल में नहीं डूबती है, इसी तरह वह पुरुष भी संसार सागर में नहीं डूबता है। जैसे उत्तम कर्णधार से युक्त और अनुकूल पवन से प्रेरित नाव सब द्वन्द्वों से मुक्त होकर तीर पर प्राप्त होती है, इसी तरह उत्तम चारित्रवान् जीवरूपी नाव उत्तम आगमरूप कर्णधार से युक्त तथा तपरूपी पवन से प्रेरित होकर दुःखात्मक संसार से छुटकर समस्त दुःखों का अभावरूप मोक्ष को प्राप्त करती है ॥५॥



- अपि च -

- और भी

तिउट्टई उ मेधावी, जाणं लोगंसि पावगं ।

तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ

॥६॥

छाया - नुटयति तु मेधावी जानन् लोके पापकम् । नुटयन्ति पापकर्माणि नवं कर्माकुर्वतः ॥

अन्वयार्थ - (लोगंसि पावगं जाणं) लोक में पापकर्म को जाननेवाला (मेधावी उ तिउट्टई) बुद्धिमान् पुरुष सब बन्धनों से छुट जाता है। (नवं कम्ममकुव्वओ) नूतन कर्म न करते हुए पुरुष के (पावकम्माणि तुट्टंति) सभी पाप कर्म छुट जाते हैं।

भावार्थ - लोक में पाप कर्म को जाननेवाला पुरुष सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है तथा नूतन कर्म न करनेवाले पुरुष के सभी पापकर्म छुट जाते हैं।

टीका - स हि भावनायोगशुद्धात्मा नौरिव जले संसारे परिवर्तमानस्त्रिभ्योमनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यस्नुटयति, यदिवा अतीव सर्वबन्धनेभ्यस्नुटयति-मुच्यते अतिनुटयति-संसारादतिवर्तते 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वाऽस्मिन् 'लोके' चतुर्दशरज्ज्वात्मके भूतग्रामलोके वा यत्किमपि 'पापकं' कर्म सावद्यानुष्ठानरूपं तत्कार्यं वा अष्टप्रकारं कर्म तत् ज्ञपरिज्ञया जानन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तदुपादानं परिहरन् ततस्नुटयति, तस्यैवं लोकं कर्म वा जानतो नवानि कर्माण्यकुर्वतो निरुद्धाश्रवद्वारस्य विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वसंचितानि कर्माणि नुटयन्ति निवर्तन्ते वा नवं च कर्माकुर्वतोऽशेषकर्मक्षयो भवतीति ॥६॥

टीकार्थ - भावनायोग से शुद्ध आत्मावाला पुरुष जल में नाव की तरह संसार में वर्तमान रहता हुआ मन, वचन और काय तीनों के द्वारा अशुभ यानी पाप से छुट जाता है। अथवा वह सब प्रकार के बन्धनों से अत्यन्त मुक्त हो जाता है। वह संसार सागर का उल्लङ्घन कर जाता है। शास्त्रोक्त मर्यादा में स्थित अथवा सत् और असत् का विवेकी पुरुष चौदह रज्जुस्वरूप तथा जीवों से पूर्ण इस लोक में सावद्यानुष्ठानरूप पाप कर्म को अथवा उसके कार्यरूप आठ प्रकार के कर्मों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनके कारणों को त्यागता हुआ उनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार लोक अथवा कर्म को जानते हुए तथा नवीन कर्म न करते हुए एवं आश्रवद्वारों को रोके हुए और उत्कृष्ट तप करते हुए पुरुष के पूर्वसंचित पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष नूतन कर्म नहीं करता है, उसके समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है ॥६॥

- केषाञ्चित्सत्यामपि कर्मक्षयानन्तरं मोक्षावासौ [तथापि] स्वतीर्थनिकारदर्शनतः पुनरपि संसाराभिगमनं भवती(ती) दमाशङ्कयाह -

- कुछ दार्शनिकों की मान्यता यह है कि- “कर्मक्षय हो जाने के पश्चात् जिनको मुक्ति मिल चुकी है, वे भी अपने तीर्थ का अपमान देखकर फिर संसार में आते हैं” यह शङ्का करके शास्त्रकार कहते हैं -

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।

विज्ञाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई

॥७॥

छाया - अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्म नाम विजानाति । विज्ञाय स महावीरो, येन याति न म्रियते ॥

अन्वयार्थ - (अकुव्वओ णवं णत्थि) जो पुरुष कर्म नहीं करता है, उसको नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है (कम्मं नाम विजाणइ) वह पुरुष आठ प्रकार के कर्मों को जानता है (से महावीरे विज्ञाय) वह महावीर पुरुष कर्मों को जानकर (जेण जाई ण मिज्जई) ऐसा कार्य करता है, जिससे वह संसार में न उत्पन्न होता है और न मरता है ।

भावार्थ - जो पुरुष कर्म नहीं करता है, उसको नूतन कर्मबन्ध नहीं होता है । वह पुरुष अष्टविध कर्मों को जानता है । वह महावीर पुरुष आठ प्रकार के कर्मों को जानकर ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे वह संसार सागर में न तो कभी उत्पन्न होता है और न मरता है ।

टीका - तस्याशेषक्रियारहितस्य योगप्रत्ययाभावात्किमप्यकुर्वतोऽपि ‘नवं’ प्रत्यग्रं कर्म ज्ञानावरणीयादिकं ‘नास्ति’ न भवति, कारणाभावात्कार्याभाव इतिकृत्वा, कर्माभावे च कुतः संसाराभिगमनं ?, कर्मकार्यत्वात्संसारस्य, तस्य चोपरताशेषद्वन्द्वस्य स्वपरकल्पनाऽभावाद्वागद्वेषरहिततया स्वदर्शननिकाराभिनिवेशोऽपि न भवत्येव, स चैतद्गुणोपेतः कर्माष्टप्रकारमपि कारणतस्तद्विपाकतश्च जानाति, नमनं नाम-कर्मनिर्जरणं तच्च सम्यग् जानाति, यदिवा कर्म जानाति तन्नाम च, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्तद्देहांश्च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपान् सम्यगवबुध्यते, संभावनायां वा नामशब्दः, संभाव्यते चास्य भगवतः कर्मपरिज्ञानं विज्ञाय च कर्मबन्धं तत्संवरणनिर्जरणोपायं चासौ ‘महावीरः’ कर्मदारणसहिष्णुस्तत्करोति येन कृतेनास्मिन् संसारोदरे न पुनर्जायते तदभावाच्च नापि म्रियते, यदिवा-जात्या नारकोऽयं तिर्यग्योनिकोऽयमित्येवं न मीयते-न परिच्छिद्यते, अनेन च कारणाभावात्संसाराभावाविर्भावेन यत्कैश्चिदुच्यते-

“ज्ञानमप्रतिघं यस्त्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥२॥”

इत्येतदपि व्युदस्तं भवति, संसारस्वरूपं विज्ञाय तदभावः क्रियते, न पुनः सांसिद्धिकः कश्चिदनादिसिद्धोऽस्ति, तत्प्रतिपादिकाया युक्तेरसंभवादिति ॥७॥

टीकार्थ - वह मुक्त पुरुष समस्त क्रियाओं से रहित होता है, उसके योगरूप कारण नहीं होते, इसलिए वह कुछ भी कार्य नहीं करता है, इस कारण उसको नवीन ज्ञानावरणीय आदि कर्म का बन्ध नहीं होता । क्योंकि कारण के अभाव होने से कार्य का भी अभाव होता है । इस प्रकार कर्म के अभाव होने पर किस प्रकार मुक्त पुरुष फिर संसार में आ सकता है ? क्योंकि संसार कर्म का ही कार्य है । वस्तुतः मुक्त जीव समस्त द्वन्द्वों से रहित होता है, उसको अपने और पराये की कल्पना भी नहीं होती तथा वह रागद्वेष से रहित होता है, इसलिए उसको अपने तीर्थ के अपमान का ध्यान भी नहीं होता है । इन गुणों से युक्त वह पुरुष आठ प्रकार के कर्मों के कारण को और उनके फल को भी जानता है तथा वह कर्म की निर्जरा को भी अच्छी तरह जानता है । अथवा वह पुरुष कर्मों को और उनके नामों को तथा नाम शब्द उपलक्षण होने से कर्मों के भेद प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेशों को भी अच्छी तरह से जानता है । अथवा नाम शब्द सम्भावना अर्थ में आया है इसलिए उस भगवान् का कर्मपरिज्ञान सम्भव है । तथा उन कर्मों को जानकर उनको रोकने तथा उनकी निर्जरा के उपाय को जानकर कर्म को विदारण करने में समर्थ वह महावीर पुरुष ऐसा कार्य करता है, जिससे वह इस संसार में फिर जन्म नहीं लेता तथा जन्म न लेने के कारण मरता भी नहीं है । अथवा वह जाति को प्राप्त करके “यह नारक है और यह तिर्यञ्च है, इस प्रकार वह नहीं समझा जाता है । यहां कारण के अभाव होने से संसार का अभाव शास्त्रकार ने

दिखलाया है इसलिए जो लोग कहते हैं कि-उस जगत्पति परम पुरुष का अविनाशी ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म ये चारों साथ ही यानी स्वभावसिद्ध हैं' यह खण्डित समझना चाहिए क्योंकि-संसार का स्वरूप जानकर पश्चात् उसका अभाव किया जाता है परन्तु स्वयमेव कोई अनादि सिद्ध पुरुष नहीं है क्योंकि इस बात को सिद्ध करनेवाली कोई युक्ति नहीं है ॥७॥



- किं पुनः कारणमसौ न जात्यादिना मीयते इत्याशङ्क्याह-

- वह पुरुष जाति आदि के द्वारा परिच्छिन्न नहीं होता है, इसका क्या कारण है ? यह शङ्का करके शास्त्रकार कहते हैं कि-

ण मिज्जई महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं ।

वाउव्व जालमच्चेति, प्रिया लोगंसि इत्थिओ

॥८॥

छाया - न म्रियते महावीरो, यस्य नास्ति पुराकृतम् । वायुरिव ज्वालामत्येति, प्रिया लोकेषु स्त्रियः ॥

अन्वयार्थ - (जस्स पुरेकडं नत्थि) जिसका पूर्वकृत कर्म नहीं है (महावीरे ण मिज्जई) वह महावीर पुरुष जन्मता मरता नहीं है (जालं वाउव्व लोगंसि प्रिया इत्थिओ अच्चेति) जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को उल्लङ्घन कर जाता है, उसी तरह इस लोक में वह महावीर पुरुष प्रिय स्त्रियों को उल्लङ्घन कर जाता है ।

भावार्थ - जिसको पूर्वकृत कर्म नहीं है, वह पुरुष जन्मता मरता नहीं है, जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को उल्लङ्घन कर जाता है, इसी तरह वह महावीर पुरुष प्रिय स्त्रियों को उल्लङ्घन कर जाता है अर्थात् वह प्रिय स्त्रियों के वश में नहीं होता ।

टीका - असौ महावीरः परित्यक्ताशेषकर्मा न जात्यादिना 'मीयते' परिच्छिद्यते, न म्रियते वा, जातिजरामरणरोगशोकैर्वा संसारचक्रवाले पर्यटन् न म्रियते-न पूर्यते, किमिति ? यतस्तस्यैव जात्यादिकं भवति यस्य 'पुरस्कृ(राकृ)तं' जन्मशतोपात्तं कर्म विद्यते, यस्य तु भगवतो महावीरस्य निरुद्धाश्रवद्वारस्य 'नास्ति' न विद्यते पुरस्कृ(राकृ)तं, पुरस्कृ(राकृ)तकर्मोपादानाभावाच्च न तस्य जातिजरामरणैर्भरणं संभाव्यते, तदाश्रवद्वारनिरोधाद्, आश्रवाणां च प्रधानः स्त्रीप्रसङ्गस्तमधिकृत्याह-वायुर्यथा सततगतिरप्रतिस्खलिततया 'अग्निज्वालां' दहनात्मिकामप्यत्येति-अतिक्रामति पराभवति, न तथा पराभूयते, एवं 'लोके' मनुष्यलोके हावभावप्रधानत्वात् 'प्रिया' दयितास्तत्प्रियत्वाच्च दुरतिक्रमणीयास्ता अत्येति-अतिक्रामति न ताभिर्जीयते, तत्स्वरूपावगमात् तज्जयविपाकदर्शनाच्चेति, तथा चोक्तम्-

“स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्थकटाक्षवीक्षितैः ।

वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया, समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥१॥

तथा स्त्रीणां कृते भ्रातृयुगस्य भेदः, संबन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम् ।

अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्रा, नाचीभिरुत्सादितराजवंशाः ॥२॥”

इत्येवं तत्स्वरूपं परिज्ञाय तज्जयं विधत्ते, नैताभिर्जीयत इति स्थितम् । अथ किं पुनः कारणं स्त्रीप्रसङ्गाश्रवद्वारेण शेषाश्रवद्वारोपलक्षणं क्रियते न प्राणातिपातादिनेति ? अत्रोच्यते, केषाञ्चिद्दर्शनिनामङ्गनोपभोग आश्रवद्वारमेव न भवति, तथा चोचुः-

“न मांसमक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥”

इत्यादि, तन्मतव्युदासार्थमेवमुपन्यस्तमिति, यदिवा मध्यमतीर्थकृतां चतुर्याम एव धर्मः, इह तु पञ्चयामो धर्म इत्यस्यार्थस्याविर्भावनायानेनोपलक्षणमकारि, अथवा पराणि व्रतानि सापवादानि इदं तु निरपवादमित्यस्यार्थस्य प्रकटनार्थमकारि, अथवा सर्वाण्यपि व्रतानि तुल्यानि, एकखण्डने सर्वविराधनमितिकृत्वा येन केनचिन्निर्देशो न दोषायेति ॥८॥

1. स्त्रीवशताफलस्य नरकादेः दर्शनात् यद्वा स्त्रीणां वशवर्ती न भवतीति प्रागुक्तं, असंभवि चेन्न, तत्स्वरूपेत्यादि, अनर्थकारित्वावगमाद् विरतिः, तत्र प्रमाणं कामजयलभ्यफलदर्शनम् जयोपायस्य भोगजन्यदारुणविपाकस्य च ज्ञानाद्वा । 2. समन्तपाशं प्र० ।

टीकार्थ - जिसने समस्त कर्मों को त्याग दिया है, वह महावीर पुरुष जाति आदि विशेषणों से परिच्छिन्न नहीं होता अथवा वह मरता नहीं है अथवा संसार में भ्रमण करता हुआ वह पुरुष जाति, जरा, मरण, रोग और शोक के द्वारा पूर्ण नहीं होता है क्योंकि जाति, जरा आदि उसी पुरुष को होते हैं, जिसके सैकड़ों जन्मों के उपार्जित कर्म शेष होते हैं परन्तु जिस महावीर पुरुष ने अपने आश्रवद्वारों को रोक दिया है तथा पहले के किये हुए कर्म भी उसके शेष नहीं हैं, उसको जाति, जरा और मरण के द्वारा पूर्ण होना सम्भव नहीं है क्योंकि उसने उसके आश्रवों को बन्द कर दिया है। आश्रवों में प्रधान स्त्रीप्रसङ्ग है इसलिए शास्त्रकार स्त्रीप्रसङ्ग के विषय में कहते हैं-जैसे अग्नि की ज्वाला जलानेवाली है और उल्लङ्घन करने के योग्य नहीं है तथापि कहीं भी नहीं रूकनेवाला और निरन्तर चलनेवाला वायु उसको अतिक्रमण कर जाता है, वह उससे जलाया नहीं जा सकता, इसी तरह वह महावीर पुरुष इस लोक में हाव भाव और कटाक्ष जिनमें प्रधान है तथा जो बहुत ही प्रिय और दुःख से त्यागी जाती है, उन स्त्रियों को भी उल्लङ्घन कर जाता है, वह उनसे जीता नहीं जाता है क्योंकि वह उनका स्वरूप जानता है और स्त्री के जय करने का फल भी जानता है। अत एव कहा है कि-

(स्मितेन) अर्थात् स्त्रियाँ मुस्करा कर हाव, भाव दिखाकर, मद से, लज्जा से, पराङ्मुख होकर, अर्धकटाक्ष से देखकर, वाणी से, ईर्ष्याकलह से, लीला से अर्थात् सब प्रकार से पुरुषों को प्रेम में बाँध लेती हैं। (१)

तथा स्त्री के लिए भाई-भाई की फूट हो जाती है तथा सम्बन्धियों की भी परस्पर फूट होने में स्त्रियाँ ही कारण हैं एवं बहुत से राजाओं ने स्त्रियों के निमित्त युद्ध करके राजवंशों का संहार किया है (२)

इस प्रकार स्त्रियों का स्वरूप जानकर महावीर पुरुष उनको जीत लेते हैं, परन्तु उनके द्वारा वे जीते नहीं जाते हैं।

यहां शङ्का होती है कि-इस गाथा में स्त्रीप्रसङ्गरूप आश्रवद्वार को बताकर उसके द्वारा शेष आश्रवों को भी समझाया है परन्तु प्राणातिपात आदि को कहकर उनके द्वारा शेष आश्रवों को उपलक्षित क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि कोई दार्शनिक स्त्रीप्रसङ्ग को आश्रवद्वार ही नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि-

(न मांसभक्षणे) अर्थात् 'मांसभक्षण, मद्यपान और मैथुनसेवन में दोष नहीं है क्योंकि यह प्राणियों की प्रवृत्ति ही है परन्तु इनकी निवृत्ति महाफल के लिए होती है।'

ऐसी मान्यतावालों के मत का खण्डन करने के लिए यहां स्त्रीप्रसङ्ग को ही मुख्यरूप से ग्रहण किया है। अथवा मध्यम तीर्थङ्कर का धर्म चार याम का ही होता है परन्तु इस तीर्थङ्कर के शासन में पाँच यामवाला धर्म है, यह बताने के लिए यहां स्त्रीप्रसङ्ग को ही कहकर उसके द्वारा शेष आश्रवों को उपलक्षित किया है। अथवा दूसरे व्रत अपवाद के सहित हैं परन्तु इस चौथे व्रत में अपवाद नहीं है, इस बात को बताने के लिए यहां चौथे आश्रव का ग्रहण किया है। अथवा निश्चय नय से सभी व्रत तुल्य हैं, यदि एक की भी विराधना हो तो सभी की विराधना होती है, इसलिए चाहे किसी का भी निर्देश किया जाय कोई दोष नहीं है ॥८॥



- अधुना स्त्रीप्रसङ्गाश्रवनिरोधफलमाविर्भावयन्नाह-

- अब शास्त्रकार स्त्रीप्रसङ्गरूप के निरोध का फल बताने के लिए कहते हैं-

इत्थिओ जे ण सेवन्ति, आइमोक्खा हु ते जणा ।

ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखन्ति जीवियं

॥९॥

छाया - स्त्रिया ये न सेवन्ते, आदिमोक्षा हि ते जनाः । ते जनाः बन्धनोन्मुक्ताः नावकाङ्क्षन्ति जीवितम् ॥

अन्वयार्थ - (जे इत्थिओ ण सेवन्ति) जो स्त्री का सेवन नहीं करते हैं (ते जणा आइमोक्खाहु) वे मनुष्य सबसे प्रथम मोक्षगामी होते हैं (बंधणुम्मुक्का ते जणा जीवियं नावकंखन्ति) तथा बन्धन से मुक्त वे जीव, असंयम जीवन की इच्छा नहीं करते हैं।

भावार्थ - जो स्त्री का सेवन नहीं करते हैं, वे पुरुष सबसे प्रथम मोक्षगामी होते हैं। तथा बन्धन से मुक्त वे पुरुष

असंयम जीवन की इच्छा नहीं करते हैं ।

टीका - ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारणात्। स्त्रियः सुगतिमार्गर्गलाः संसारवीथीभूताः सर्वाविनयराजधान्यः कपटजालशताकुला महामोहनशक्तयो 'न सेवन्ते' न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति त एवंभूता जना इतरजनातीताः साधव आदौ-प्रथमं मोक्षः-अशेषद्वन्द्वोपरमरूपो येषां ते आदिमोक्षाः, हुरवधारणे, आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः, इदमुक्तं भवति-सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसङ्गो यैः परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः-प्रधानभूतमोक्षाख्य-पुरुषार्थोद्यताः, आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वात्, न केवलमुद्यतास्ते जनाः स्त्रीपाशबन्धनोन्मुक्ततयाऽशेषकर्मबन्धनोन्मुक्ताः सन्तो 'नावकाङ्क्षन्ति' नाभिलषन्ति असंयमजीवितम् अपरमपि परिग्रहादिकं नाभिलषन्ते, यदिवा परित्यक्तविषयेच्छाः सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना 'जीवितं' दीर्घकालजीवितं नाभिकाङ्क्षन्तीति ॥९॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो पुरुष महापराक्रमी हैं, वे समझते हैं कि-"स्त्री के प्रसङ्ग का फल कटु होता है तथा स्त्रियाँ सुगतिमार्ग की अर्गला रूप हैं एवं संसार में उतरने के मार्ग हैं तथा अविनयों की राजधानी हैं, और सैकड़ों कपटजालों से भरी हुई हैं एवं वे महामोहन शक्ति हैं" अतः वे उनके प्रसङ्ग की इच्छा नहीं करते हैं, ऐसे पुरुष दूसरे पुरुषों से उत्कृष्ट हैं और वे साधु हैं, वे पुरुष सबसे प्रथम समस्त द्वन्द्वों की निवृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं । यहां "हु" शब्द अवधारण अर्थ में है इसलिए उन पुरुषों को सबसे प्रधान मोक्षगामी समझना चाहिए । आशय यह है कि जिन पुरुषों ने समस्त अविनयों के स्थानस्वरूप स्त्रीप्रसङ्ग को त्याग दिया है, वे ही पुरुष आदि मोक्ष हैं अर्थात् वे प्रधानभूत मोक्षनामक पुरुषार्थ में उद्यत हैं (यहां आदि शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है) वे पुरुष मोक्षरूप पुरुषार्थ में केवल उद्यत ही नहीं अपितु स्त्रीरूपी पाशबन्धन से मुक्त हो जाने के कारण समस्त पाशबन्धनों से मुक्त हैं, इस कारण वे असंयम जीवन की कामना नहीं करते हैं तथा दूसरे भी परिग्रह आदि की इच्छा नहीं करते हैं । अथवा विषयभोग की इच्छा को त्यागकर उत्तम अनुष्ठान में तत्पर तथा मोक्ष में एकाग्र वे पुरुष दीर्घकाल तक जीने की इच्छा नहीं करते हैं ॥९॥



जीवितं पिड्डओ किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणं ।

कम्मुणा संमुहीभूता, जे मग्गमणुसासई

॥१०॥

छाया - जीवितं पृष्ठतः कृत्वाऽब्तं प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् । कर्मणा सम्मुखीभूता, ये मार्गमनुशासति ॥

अन्वयार्थ - (जीवितं पिड्डओ किच्चा) जीवन को पीछे करके (कम्मुणं अंतं पावंति) साधु कर्म के अन्त को प्राप्त करते हैं (कम्मुणा संमुहीभूता) वे पुरुष विशिष्ट कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष के संमुखीभूत हैं (जे मग्गमणुसासई) जो मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं ।

भावार्थ - साधु पुरुष जीवन से निरपेक्ष होकर ज्ञानावरणीयादि कर्मों के अन्त को प्राप्त करते हैं । वे पुरुष उत्तम अनुष्ठान के द्वारा मोक्ष के सम्मुख हैं, जो मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं ।

टीका - 'जीवितम्' असंयमजीवितं 'पृष्ठतः' कृत्वा अनादृत्य प्राणधारणलक्षणं वा जीवितमनादृत्य सदनुष्ठानपरायणाः 'कर्मणां' ज्ञानवरणादीनाम् 'अन्तं' पर्यवसानं प्राप्नुवन्ति, अथवा 'कर्मणा' सदनुष्ठानेन जीवितनिरपेक्षाः संसारोदन्वतोऽन्तं-सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं मोक्षाख्यमाप्नुवन्ति, सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षमप्राप्ता अपि कर्मणा-विशिष्टानुष्ठानेन मोक्षस्य संमुखीभूता-घातिचतुष्टयक्षयक्रियया उत्पन्नदिव्यज्ञानाः शाश्वतपदस्याभिमुखीभूताः, क एवंभूता इत्याह-ये विपच्यमानतीर्थकृन्नामकर्माणः समासादितदिव्यज्ञाना 'मार्गं' मोक्षमार्गं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपम् 'अनुशासन्ति' सत्त्वहिताय प्राणिनां प्रतिपादयन्ति स्वतश्चानुतिष्ठन्तीति ॥१०॥

टीकार्थ - असंयम जीवन अथवा प्राणधारणरूप जीवन का अनादर कर उत्तम अनुष्ठान में रत रहनेवाले पुरुष ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का अन्त (नाश) करते हैं । अथवा जीवन से निरपेक्ष होकर उत्तम अनुष्ठान में रत पुरुष संसार सागर के अन्त स्वरूप सब द्वन्द्वों का अभावरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं । यद्यपि वे पुरुष समस्त दुःखों की निवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त नहीं हैं तथापि वे विशिष्ट क्रिया के द्वारा मोक्ष के सम्मुख हैं, वे पुरुष चार प्रकार

के घाती कर्मों का क्षय करके दिव्यज्ञान की उत्पत्ति से युक्त और मोक्षपद के अभिमुख हैं । वे पुरुष कौन हैं? यह शास्त्रकार बताते हैं— जिनका तीर्थङ्कर नाम कर्म परिपाक को प्राप्त हो रहा है तथा जिनको दिव्यज्ञान उत्पन्न हो गया है तथा जो प्राणियों के हित के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग का उपदेश करते हैं और स्वयं भी उसका आचरण करते हैं, वे पुरुष मोक्ष के अभिमुख हैं ॥१०॥



— अनुशासनप्रकारमधिकृत्याह—

— अब शास्त्रकार धर्मोपदेश का भेद बताने के लिए कहते हैं—

अणुसासनं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासु(स)ते ।

अणासए जते दंते, दढे आरयमेहुणे

॥११॥

छाया - अनुशासनं पृथक् प्राणिषु, वसुमान् पूजनास्वादकः । अनाशयो यतो दान्तो दृढ आरतमैथुनः ॥

अन्वयार्थ - (अणुसासनं पुढो पाणी) धर्मोपदेश भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न भिन्न रूप में परिणत होता है (वसुमं पूयणासु (स) ते) संयमधारी तथा देवादिकृत पूजा को प्राप्त करनेवाला (अणासए जते दंते) परंतु पूजा में रुचि न रखनेवाला, संयमपरायण, जितेन्द्रिय (दढे आरयमेहुणे) दृढ़ और मैथुनरहित पुरुष मोक्ष के सम्मुख है ।

भावार्थ - धर्मोपदेश भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होता है । संयमधारी, देवादिकृत पूजा को प्राप्त करनेवाला परन्तु उस पूजा में रुचि न रखनेवाला, संयमपरायण जितेन्द्रिय, संयम में दृढ़ और मैथुनरहित पुरुष मोक्ष के सम्मुख है ।

टीका - अनुशास्यन्ते-सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनं-धर्मदेशनया सन्मार्गावतारणं तत्पृथक् पृथक् भव्याभव्यादिषु प्राणिषु क्षित्युदकवत् स्वाशयवशादनेकधा भवति, यद्यपि च अभव्येषु तदनुशासनं न सम्यक् परिणमति तथापि सर्वोपायज्ञस्यापि न सर्वज्ञस्य दोषः, तेषामेव स्वभावपरिणतिरियं यथा तद्वाक्यममृतभूतमेकान्तपथ्यं समस्तद्वन्द्वोपघातकारि न यथावत् परिणमति, तथा चोक्तम्—

“सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।

तस्माद्भूतं खगकुलैष्विह तामसेषु, सूर्याश्वो मधुकरीचरणवदाताः ॥११॥”

किंभूतोऽसावनुशासक इत्याह-वसु-द्रव्यं स च मोक्षं प्रति प्रवृत्तस्य संयमः तद्विद्यते यस्यासौ वसुमान्, पूजनं-देवादिकृतमशोकादिकमास्वादयति-उपभुङ्क्त इति पूजनास्वादकः, ननु चाघाकर्मणो देवादिकृतस्य समवसरणादेरुप-भोगात्कथमसौ सत्संयमवानित्याशङ्क्याह-न विद्यते आशयः-पूजाभिप्रायो यस्यासावनाशयः, यदिवा द्रव्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके भावतोऽनास्वादकोऽसौ, तद्गतगार्ध्याभावात्, सत्यप्युपभोगे ‘यतः’ प्रयतः सत्संयमवानेवासावेकान्तेन संयमपरायणत्वात्, कुतो ? यत इन्द्रियनोन्द्रियाभ्यां दान्तः, एतद्गुणोऽपि कथमित्याह-दृढः संयमे, आरतम्-उपरतमपगतं मैथुनं यस्य स आरतमैथुनः-अपगतेच्छामदनकामः, इच्छामदनकामाभावाच्च संयमे दृढोऽसौ भवति, आयतचारित्रत्वाच्च दान्तोऽसौ भवति, इन्द्रियनोन्द्रियदमाच्च प्रयतः, प्रयत्नवत्त्वाच्च देवादिपूजनानास्वादकः, तदनास्वादानाच्च सत्यपि द्रव्यतः परिभोगे सत्संयमवानेवासाविति ॥११॥

टीकार्थ - जिस शिक्षा से प्राणी, सत् और असत् के विवेकी बनाये जाकर सन्मार्ग में उतारे जाते हैं, उसे अनुशासन कहते हैं । वह धर्म की शिक्षा है क्योंकि उसी के द्वारा प्राणी सन्मार्ग में लाये जाते हैं । परन्तु उस सन्मार्ग में उतरना भव्य और अभव्य आदि प्राणियों के अभिप्राय के भेद से अनेक प्रकार का होता है, जैसे पृथिवी के भेद से एक ही जल के अनेक भेद हो जाते हैं । यद्यपि अभव्य प्राणियों में सर्वज्ञ का उपदेश उचितरूप में परिणत नहीं होता है तो भी सभी उपायों को जाननेवाले सर्वज्ञ का दोष नहीं है क्योंकि अभव्य प्राणियों के स्वभाव का ऐसा परिणाम ही है, जिससे सर्वज्ञ का वाक्य अमृतस्वरूप, एकान्तपथ्य और समस्त द्वन्द्वों का विनाशक होकर भी अभव्यों में यथावत् परिणत नहीं होता है । अत एव कहा है कि—

(सद्धर्म०) अर्थात् हे लोक के बान्धव! उत्तम धर्मरूपी बीज बोने में यद्यपि विलक्षण आप का कौशल है तथापि आप का प्रयास जो कहीं निष्फल हुआ सो कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि उलूक आदि तामस पक्षियों को सूर्य की किरणें भ्रमरी के चरण की तरह काली प्रतीत होती हैं ।

धर्म की शिक्षा देनेवाला वह पुरुष कैसा है ? सो शास्त्रकार बतलाते हैं—धन को वसु कहते हैं, जो पुरुष मोक्ष के प्रति तत्पर है, उसके लिए संयम ही धन है, वह संयम जिसमें विद्यमान है, उसे वसुमान कहते हैं। तथा देव आदि के द्वारा की हुई अशोक आदि पूजा का जो उपभोग करता है, उसे पूजनास्वादक कहते हैं । प्रश्न किया कि— देवादिकृत आधाकर्मरूप समवसरण का उपभोग करनेवाले तीर्थङ्कर सत्संयमी कैसे ? समाधान यह है कि— देवादिकृत पूजा में उनकी रुचि नहीं है इसलिए वे सत्संयमी हैं अथवा द्रव्य से समवसरण आदि होने पर भी भगवान् भाव से उसके आस्वादक नहीं हैं क्योंकि उसमें उनकी गृद्धि नहीं है । तथा उक्त पूजा का उपभोगी होने पर भी भगवान् एकान्तरूप से संयम में परायण रहने के कारण सत्संयमी ही हैं । यह कैसे ? क्योंकि भगवान् इन्द्रिय और नो इन्द्रिय को वश किये हुए हैं । यह गुण भी उनमें कैसे ? वह संयम में दृढ़ हैं तथा मैथुन से वर्जित हैं, उनको इच्छा, मदन, काम नहीं है और इसके न होने से वे संयम में दृढ़ हैं । भगवान् का चारित्र दीर्घ है, इसलिए वे दान्त हैं, उन्होंने इन्द्रिय और नो इन्द्रिय को वश कर लिया है, इस कारण वे देवादिकृत पूजा के आस्वादक नहीं हैं । भगवान् देवादिकृत पूजा के आस्वादक नहीं हैं इसलिए द्रव्यरूप से देवादिकृत पूजा के भोग करने पर भी वे सत्संयमी ही हैं ॥११॥



— किमित्यसावुपरतमैथुन इत्याशङ्क्याह—

— वे पुरुष मैथुन का त्याग क्यों करते हैं ? यह शङ्का करके शास्त्रकार कहते हैं—

णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले ।

अणाइले सया दंते, संधि पत्ते अणेलिसं

॥१२॥

छाया - नीवार इव न लीयेत, छिन्नस्रोता अनाविलः । अनाविलः सदा दान्तः सन्धिं प्राप्नोऽनीदृशम् ॥

अन्वयार्थ - (णीवारे व ण लीएज्जा) सुअर आदि प्राणी को प्रलोभित करके मृत्यु के स्थान पर पहुँचानेवाले चावल के दाने के समान स्त्री प्रसंग है, अतः स्त्री, प्रसङ्ग न करे (छिन्नसोए) विषयभोग में इन्द्रियों की प्रवृत्ति संसार में आने के द्वार है, इसलिए जिसने विषयभोगरूप आश्रवद्वार का छेदन कर डाला है (अणाविले) तथा जो रागद्वेषरूप मल से रहित है (अणाइले) एवं विषय भोग में प्रवृत्ति न करता हुआ जो स्थिरचित्त है (सया दंते) वही पुरुष इन्द्रिय और मन को वश किया हुआ (अणेलिसं संधि पत्ते) अनुपम भावसन्धि को प्राप्त करता है ।

भावार्थ - जैसे चावल के दानों को खाने के लोभ से सुअर आदि प्राणी वध्यस्थानपर पहुँच जाते हैं, इसी तरह स्त्रीसेवन के लोभ में पड़कर जीव संसार भ्रमण करता है, अतः सुअर आदि को वध्यस्थान में पहुँचानेवाले चावल के दाने के समान स्त्री प्रसङ्ग जीव के नाश का कारण है, इसलिए विद्वान् पुरुष स्त्री प्रसङ्ग कदापि न करे । जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को विषयभोग में प्रवृत्त नहीं करता है तथा रागद्वेष को जीतकर प्रसन्नचित्त हो गया है, वह इन्द्रिय और मन को वश किया हुआ पुरुष अनुपम भावसन्धि को प्राप्त करता है ।

टीका - नीवारः—सूकरादीनां पशूनां वध्यस्थानप्रवेशनभूतो भक्ष्यविशेषस्तत्कल्पमेतन्मैथुनं, यथा हि असौ पशुर्नीवारेण प्रलोभ्य वध्यस्थानमभिनीय नानाप्रकारा वेदनाः प्राप्यते एवमसावप्यसुमान् नीवारकल्पेनानेन स्त्रीप्रसङ्गेन वशीकृतो बहुप्रकारा यातनाः प्राप्नोति, अतो नीवारप्रायमेतन्मैथुनमवगम्य स तस्मिन् ज्ञाततत्त्वो 'न लीयेत' न स्त्रीप्रसङ्गं कुर्यात्, किंभूतः सन्नित्याह—छिन्नानि—अपनीतानि स्रोतांसि—संसारवतरण—द्वाराणि यथाविषयमिन्द्रियप्रवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन स छिन्नस्रोताः, तथा 'अनाविलः' अकलुषो रागद्वेषासंपृक्ततया मलरहितोऽनाकुलो वा—विषयाप्रवृत्तेः स्वस्थचेता एवंभूतश्चानाविलोऽनाकुलो वा 'सदा' सर्वकालमिन्द्रियनोऽन्द्रियाभ्यां दान्तो भवति, ईदृग्विधश्च कर्मविवरलक्षणं भावसंधिम् 'अनीदृशम्' अनन्यतुल्यं प्राप्नो भवतीति ॥१२॥ किञ्च—

टीकार्थ - सुअर आदि प्राणियों को वध्यस्थान में प्रवेश करवानेवाले चावल के दाने आदि भक्ष्यविशेष को नीवार कहते हैं, उस नीवार के समान ही यह स्त्री प्रसङ्ग है। जैसे व्याघ्र आदि प्राणी, सुअर आदि पशु को चावल के दानों का लोभ देकर वध्यस्थान में ले जाकर अनेक प्रकार की पीड़ाएँ देते हैं इसी तरह प्राणधारी पुरुष स्त्री प्रसङ्ग के वश में होकर नाना प्रकार की यातनाएँ भोगता है। अतः तत्त्व दर्शी पुरुष सुअर को लोभित करनेवाले चावल के दाने के समान मैथुन को जानकर स्त्री प्रसङ्ग में प्रवृत्त न हो अर्थात् वह स्त्री प्रसङ्ग न करे। वह पुरुष किस तरह हो ? सो शास्त्रकार कहते हैं-अपने-अपने विषयों में इन्द्रियों की जो प्रवृत्ति है अथवा प्राणातिपात आदि जो आश्रवद्वार हैं, वे संसार में उतरने के द्वार हैं इसलिए जिसने इनका छेदन कर दिया है, उसे 'छिन्नस्रोता' कहते हैं। जो पुरुष 'छिन्नस्रोता' है तथा जो रागद्वेष से रहित होने के कारण मल रहित है अथवा विषय सेवन में व्यग्र नहीं है अथवा विषय सेवन में प्रवृत्ति न करने के कारण जिसका चित्त स्वस्थ है, ऐसा मल रहित अथवा आकुलता रहित पुरुष सदा इन्द्रिय और मन को वश किया हुआ है और ऐसा ही पुरुष कर्म के विवररूप अनुपम भाव सन्धि को प्राप्त होता है ॥१२॥



अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झिज्ज केणइ ।

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुमं

॥१३॥

छाया - अणीदृशस्य खेदहो न विरुज्जेत केनाऽपि । मणसा वयसा चैव कायेन चैव चक्षुष्मान् ॥

अन्वयार्थ - (अणेलिसस्स खेयन्ने) जिसके समान उत्तम दूसरा पदार्थ नहीं है, उसको अनीदृश कहते हैं, वह संयम है अथवा तीर्थङ्करोक्त धर्म है। उस संयम में अथवा तीर्थङ्करोक्त धर्म में जो पुरुष निपुण है वह (मणसा वयसा कायसा चेव केणइ ण विरुज्झिज्ज) मन, वचन और काय से किसी प्राणी के साथ विरोध न करे (चक्खुमं) जो पुरुष ऐसा है, वही परमार्थदर्शी है।

भावार्थ - जो पुरुष संयम पालन करने में तथा तीर्थङ्करोक्त धर्म के सेवन करने में निपुण है, वह मन, वचन और काय से किसी प्राणी के साथ विरोध न करे। जो पुरुष ऐसा है, वही परमार्थदर्शी है।

टीका - 'अनीदृशः' अनन्यसदृशः संयमो मौनीन्द्रधर्मो वा तस्य तस्मिन् वा 'खेदज्ञो' निपुणः, अनीदृशखेदज्ञश्च केनचित्सार्धं न विरोधं कुर्वीत, सर्वेषु प्राणिषु मैत्रीं भावयेदित्यर्थः, योगत्रिककरणत्रिकेणेति दर्शयति-'मनसा' अन्तःकरणेन प्रशान्तमनाः, तथा 'वाचा' हितमिंतभाषी तथा कायेन निरुद्धदुष्प्रणिहितसर्वकायचेष्टो दृष्टिपूतपादचारी सन् परमार्थतत्त्वक्षुष्मान् भवतीति ॥१३॥ अपि च

टीकार्थ - जिसके समान उत्तम दूसरा पदार्थ नहीं है, उसे अनन्यसदृश कहते हैं। वह संयम है अथवा तीर्थङ्करोक्त धर्म है। उस संयम या तीर्थङ्करोक्त धर्म में जो पुरुष निपुण है, वह किसी प्राणी के साथ विरोध न करे किन्तु सब के साथ मैत्री की भावना करे यह अर्थ है। उक्त पुरुष तीन योग और तीन करणों से किसी के साथ वैर न करे, यह शास्त्रकार दिखलाते हैं-उक्त पुरुष मन यानी अन्तःकरण से किसी के साथ विरोध न करे किन्तु चित्त को शान्त कर रहे, तथा वाणी से वह प्रजाओं का हितकारक और परिमित शब्द बोले एवं शरीर से वह सभी प्रकार की संयम विरोधी चेष्टाओं का त्याग करे। इस प्रकार पृथिवी को देखकर उस पर चलनेवाले जीवों को बचाकर पैर रखनेवाले पुरुष परमार्थतः तत्त्वदर्शी हैं ॥१३॥



से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए ।

अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोड्ढती

॥१४॥

छाया - स हि चक्षुर्मनुष्याणां, यः काङ्क्षायाश्चान्तकः । अन्तेन क्षुरो वहति चक्रमन्तेन लुठति ॥

अन्वयार्थ - (से हु मणुस्साणं चक्खू) वही पुरुष मनुष्यों का नेत्र है (जे कंखाए अंतए) जो भोग की इच्छा के अन्त में है (खुरो अंतेण वहति) अस्तुरा अन्तिम भाग से ही वहता है (चक्कं अंतेण लोड्ढति) तथा रथ का चक्र अन्तिम भाग से ही चलता है।

भावार्थ - जिस पुरुष को भोग की तृष्णा नहीं है, वही सब मनुष्यों को नेत्र के समान उत्तम मार्ग दिखानेवाला है। जैसे उस्तरे का अंतिम भाग और चक्र का अन्तिम भाग ही चलता है, इसी तरह मोहनीय कर्म का अन्त ही संसार को क्षय करता है।

टीका - हुरवधारणे, स एव प्राप्तकर्मविवरोऽनीदृशस्य खेदज्ञो भव्यमनुष्याणां चक्षुः-सदसत्पदार्थाविर्भावान्नेत्रभूतो वर्तते, किंभूतोऽसौ ?, यः 'काङ्क्षायाः' भोगेच्छाया अन्तको विषयतृष्णायाः पर्यन्तवर्ती। किमन्तवर्तीति विवक्षितमर्थं साधयति ?, साधयत्येवेत्यमुमर्थं दृष्टान्तेन साधयन्नाह-'अन्तेन' पर्यन्तेन 'क्षुरो' नापितोपकरणं तदन्तेन वहति, तथा चक्रमपि-रथाङ्गमन्तेनैव मार्गे प्रवर्तते, इदमुक्तं भवति-यथा क्षुरादीनां पर्यन्त एवार्थक्रियाकारी एवं विषयकषायात्मकमोहनीयान्त एवापसदसंसारक्षयकारीति ॥१४॥

टीकार्थ - 'हु' शब्द अवधारण अर्थ में आया है। जिसने कर्म के विवर को प्राप्त किया है तथा जो सर्वोत्तम संयम अथवा तीर्थङ्करोक्त धर्म में निपुण है, वही पुरुष भव्य जीवों का नेत्र है। वह भले और बुरे पदार्थों को प्रकट करने के कारण भव्य जीवों के नेत्र के समान है। वह पुरुष कैसा है? सो शास्त्रकार बतलाते हैं-जो पुरुष भोग की इच्छा के अन्त में है अर्थात् जो विषयतृष्णा के पर्यन्त में स्थित है, वही नेत्र के सदृश है। विषय तृष्णा के अन्त में रहनेवाला पुरुष क्या इष्ट वस्तु की सिद्धि कर लेता है? हाँ, अवश्य कर लेता है, यह दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं। जिसके द्वारा नाई बाल काटता है, वह उस्तरे अंतिम भाग से ही अपना कार्य करता है तथा रथ का चक्का भी अन्तिम भाग से ही मार्ग में चलता है। आशय यह है कि-जैसे उस्तरे आदि का अन्तिम भाग ही कार्य का साधक है, इसी तरह विषय और कषाय स्वरूप मोहनीय कर्म का अन्त ही इस दुःखरूप संसार का क्षय करनेवाला है ॥१४॥



- अमुमेवार्थमाविर्भावयन्नाह-

- पूर्व गाथा में वर्णित अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

अंताणि धीरा सेवन्ति, तेण अंतकरा इह।

इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं णरा

॥१५॥

छाया - अन्तान् धीराः सेवन्ते तेनान्तकरा इह। इह मनुष्यके स्थाने, धर्ममाराधयितुं णराः ॥

अन्वयार्थ - (धीरा अंताणि सेवन्ति) विषय सुख की इच्छा रहित पुरुष अन्तप्रान्त आहार का सेवन करते हैं (तेण इह अंतकरा) इस कारण वे संसार का अन्त करते हैं (इह माणुस्सए ठाणे णरा धम्ममाराहिउं) इस मनुष्य लोक में दूसरे मनुष्य भी धर्म की आराधना करके संसार का अन्त करते हैं।

भावार्थ - विषय सुख की इच्छा रहित पुरुष अन्तप्रान्त आहार का सेवन करके संसार का अन्त करते हैं। इस मनुष्य लोक में धर्म का सेवन करके जीव संसार सागर से पार हो जाते हैं।

टीका - 'अन्तान्' पर्यन्तान् विषयकषायतृष्णायास्तत्परिकर्मणार्थमुद्यानादीनामाहारस्य वाऽन्तप्रान्तादीनि 'धीराः' महासत्त्वा विषयसुखनिःस्पृहाः 'सेवन्ते' अभ्यस्यन्ति, तेन चान्तप्रान्ताभ्यसनेन 'अन्तकराः' संसारस्य तत्कारणस्य वा कर्मणः क्षयकारिणो भवन्ति, 'इहे'ति मनुष्यलोके आर्यक्षेत्रे वा, न केवलं त एव तीर्थङ्करादयः अन्येऽपीह मनुष्यलोके स्थाने प्राप्ताः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं धर्ममाराध्य 'नराः' मनुष्याः कर्मभूमिर्गर्भव्युत्क्रान्तिज-संख्येयवर्षायुषः सन्तः सद्नुष्ठानसामग्रीमवाप्य 'निष्ठितार्था' उपरतसर्वद्वन्द्वा भवन्ति ॥१५॥

टीकार्थ - विषय सुख की स्पृहा से रहित पुरुष, विषय और कषाय की तृष्णा के अन्त का सेवन करते हैं अथवा विषय और कषाय की तृष्णा की शुद्धि के लिए बगीचे आदि के प्रान्त भाग को अथवा अन्त प्रान्त आहार का सेवन करते हैं। उस अन्त प्रान्त के अभ्यास से वे संसार का अन्त करते हैं अथवा संसार का कारण जो कर्म है, उसका क्षय करते हैं। इस मनुष्य लोक में अथवा आर्य क्षेत्र में केवल तीर्थङ्कर आदि ही नहीं किन्तु

दूसरे जीव भी मनुष्य लोक को प्राप्त कर के सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप धर्म की आराधना कर कर्मभूमि में संख्यात वर्ष की आयुवाले गर्भज जीव होकर उत्तम अनुष्ठान की सामग्री पाकर सब बन्धों से रहित हो जाते हैं ॥१५॥



- इदमेवाह-

- मनुष्य मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसी बात को कहते हैं-

णिष्ठियद्वा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं ।

सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा

॥१६॥

छाया - निष्ठितार्थाश्च देवा वा, उत्तरीये इदं श्रुतम् । श्रुतञ्च मे इदमेकेषाममनुष्येषु णो तथा ॥

अन्वयार्थ - (उत्तरीए इयं सुयं) लोकोत्तर प्रवचन में यह आगम का कहना है कि (णिष्ठियद्वा व देवा वा) मनुष्य ही कर्मक्षय करके सिद्धि गति को प्राप्त करता है अथवा देवता होता है (मेय मेगेसिं सुयं च) मैंने तीर्थङ्कर से सुना है कि (अमणुस्सेसु णो तहा) मनुष्य से भिन्न गतिवाले सिद्धि को प्राप्त नहीं करते हैं ।

भावार्थ - मैंने तीर्थङ्कर से सुना है कि-मनुष्य ही कर्मक्षय करके सिद्धि को प्राप्त होता है अथवा देवता होता है परन्तु दूसरी गतिवाले जीवों की ऐसी योग्यता नहीं होती है ।

टीका - 'निष्ठितार्थाः' कृतकृत्या भवन्ति, केचन प्रचुरकर्मतया सत्यामपि सम्यक्त्वादिकायां सामग्र्यां न तद्वत् एव मोक्षमास्कन्दन्ति अपितु सौधर्माद्याः पञ्चो(ज्ञानु)त्तरविमानावसाना देवा भवन्तीति, एतल्लोकोत्तरीये प्रवचने श्रुतम्-आगमः एवंभूतः सुधर्मस्वामी वा जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैवमाह-यथा मयैतल्लोकोत्तरीये भगवत्यर्हत्युपलब्धं, तद्यथा-अवाप्तसम्यक्त्वादिसामग्रीकः सिध्यति वैमानिको वा भवतीति । मनुष्यगतावेवैतन्नान्यत्रेति दर्शयितुमाह-'सुयं मे' इत्यादि पश्चार्धं, तच्च मया तीर्थकरान्तिके 'श्रुतम्' अवगतं, गणधरः स्वशिष्याणामेकेषामिदमाह-यथा मनुष्य एवाशेषकर्मक्षयात्सिद्धिगतिभाग्यभवति नामनुष्य इति, एतेन यच्छाक्यैरभिहितं, तद्यथा-देव एवाशेषकर्मप्रहाणं कृत्वा मोक्षभाग्यभवति, तदपास्तं भवति, न ह्यमनुष्येषु गतित्रयवर्तिषु सच्चारित्रपरिणामाभावाद्यथा मनुष्याणां तथा मोक्षा-वासिरिति ॥१६॥

टीकार्थ - मनुष्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं परन्तु कोई कोई अधिक कर्म होने के कारण सम्यक्त्व आदि सामग्री होने पर भी उसी भव में मोक्ष को नहीं पाते किन्तु सौधर्म आदिक पञ्चानुत्तर विमानवासी तक देवता होते हैं, यह लोकोत्तर प्रवचन में आगम का कथन है । अथवा सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि-यह मैंने लोकोत्तर भगवान् अरिहन्त से सुना है कि सम्यक्त्व आदि सामग्री को पाकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है अथवा वैमानिक होता है । मनुष्य गति में ही सिद्धि प्राप्त होती है, दूसरी गति में नहीं यह शास्त्रकार दिखलाते हैं-गणधर अपने शिष्यों से कहते हैं कि-मैंने यह तीर्थङ्कर से सुना है कि-मनुष्य ही समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त करता है, जो मनुष्य नहीं है, वह नहीं । इस कथन से, शाक्यों ने जो यह कहा है कि देवता ही समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति करता है, वह खण्डित समझना चाहिए क्योंकि मनुष्य से भिन्न जो तीन गतियां हैं, उनमें सम्यक्त्वचारित्र का परिणाम न होने से मनुष्य की तरह मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१६॥



- इदमेव स्वनामग्राहमाह-

- यही स्व नाम लेकर कहते हैं-

1. इष्टितोऽवधारणविधेर्भवतीत्यस्याग्रतो योजनैवकारस्य, तथा चासंभवव्यवच्छेदायैवकारोऽत्र, अन्यथा बुद्धस्यापि मनुष्यत्वादिनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।

अंतं करंति दुःखाणां, इहमेगेसि आहियं ।

आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥

॥१७॥

छाया - अब्बं कुर्वन्ति दुःखानामिहैकेषामारख्यातम् । आरख्यातं पुनरेकेषां दुर्लभोऽयं समुच्छ्रयः ॥

अन्वयार्थ - (इह मेगेसि आहियं) इस आर्हत प्रवचन में गणधर आदि का कथन है कि (दुःखाणां अंतं करंति) मनुष्य ही समस्त दुःखों का नाश कर सकते हैं (पुण एगेसिं आघायं) फिर किन्हीं का कथन है कि (अयं समुस्सए दुल्लभे) यह मनुष्यभवा पाना बड़ा कठिन है ।

भावार्थ - गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही समस्त दुःखों का नाश कर सकते हैं दूसरे प्राणी नहीं । तथा किन्हीं का कथन है कि मनुष्यभवा प्राप्त करना बड़ा कठिन है ।

टीका - न ह्यमनुष्य अशेषदुःखानामन्तं कुर्वन्ति, तथाविधसामग्र्यभावात्, यथैकेषां वादिनामाख्यातं, तद्यथा- देवा एवोत्तरोत्तरं स्थानमास्कन्दन्तोऽशेषक्लेशप्रहाणं कुर्वन्ति, न तथेह-आर्हते प्रवचने इति । इदमन्यत् पुनरेकेषां गणधरादीनां स्वशिष्याणां वा गणधरादिभिराख्यातं, तद्यथा-युगसमिलादिन्यायावाप्तकथञ्चित्कर्मविवरात् योऽयं शरीर-समुच्छ्रयः सोऽकृतधर्मोपायैरसुमद्भिर्महासमुद्रप्रभृत्तत्त्वत्पुनर्दुर्लभो भवति, तथा चोक्तम्-

“ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविग्रष्टम् । मनुष्यं खद्योतकतडिलताविलसितप्रतिमम् ॥१८॥”

इत्यादि ॥१७॥ अपि च

टीकार्थ - जो प्राणी मनुष्य नहीं हैं, वे अपने समस्त दुःखों का नाश नहीं कर सकते क्योंकि उनके पास वैसी सामग्री नहीं होती । इस विषय में किन्हीं मतवादियों का यह कहना है कि देवता ही उत्तरोत्तर उत्तम स्थानों को प्राप्त करते हुए समस्त दुःखों का नाश कर सकते हैं परन्तु यह आर्हत प्रवचन ऐसा नहीं कहता है । गणधरों ने अपने शिष्यों से कहा है कि-यह मनुष्य शरीर युग समिलादि न्याय से जीव को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है । जिसने धर्म सञ्चय नहीं किया है, उसको यह शरीर पुनः प्राप्त नहीं होता है, जैसे महा समुद्र में गिरा हुआ रत्न फिर से नहीं मिलता है, इसी तरह यह भी दुर्लभ है । विद्वानों ने कहा है कि-यह मनुष्य शरीर खद्योत का प्रकाश और बिजली के विलास के समान अत्यन्त चञ्चल है, इसलिए यह यदि अगाध संसार सागर में गिर गया तो फिर इसका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है ॥१७॥



इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा ।

दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे

॥१८॥

छाया - इतो विद्धंसमाणस्य, पुनः सम्बोधिर्दुर्लभा । दुर्लभा तथार्चा, ये धर्मार्थं व्यावृणान्ति ॥

अन्वयार्थ - (इओ विद्धंसमाणस्स) जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसको (पुणो संबोहि दुल्लभा) फिर बोध प्राप्त होना दुर्लभ है (तहच्चाओ दुल्लहाओ) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति योग्य हृदय का परिणाम दुर्लभ है (जे धम्मट्ठं वियागरे) जो जीव धर्म की व्याख्या करते हैं अथवा धर्म को प्राप्त करने योग्य हैं, उनकी लेश्या प्राप्त करना कठिन है ।

भावार्थ - जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसको फिर बोध प्राप्त होना दुर्लभ है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण का परिणाम होना बड़ा कठिन है । जो जीव धर्म की व्याख्या करते हैं तथा धर्म की प्राप्ति के योग्य हैं, उनकी लेश्या प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है ।

टीका - इतः 'अमुष्मात् मनुष्यभावात्सद्धर्मतो वा विद्धंसमाणस्याकृतपुण्यस्य पुनरस्मिन् संसारे पर्यटतो 'बोधिः' सम्यग्दर्शनावितिः सुदुर्लभा, उत्कृष्टतः अपार्थपुद्गलपरावर्तकालेन^२ यतो भवति, तथा 'दुर्लभा' दुरापा तथाभूता-सम्यग्दर्शनप्राप्तियोग्या 'अर्चा' लेश्याऽन्तःकरणपरिणतिरकृतधर्माणामिति, यदिवाऽर्चा-मनुष्यशरीरं तदप्यकृत-

1. शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वात्समुच्छ्रयः 'उस्सय समुस्सए वा' इति वचनात् समुच्छ्रय एव वा देहवाचकः शरीरशब्दस्तु विशेषण ।

2. वान्तसम्यक्त्वधर्मस्यैतावताऽवश्यं सम्यक्त्वस्य पुनः प्राप्तिः ।

धर्मबीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूपं दुर्लभं भवति, जन्तूनां ये धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति, ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः तेषां तथाभूतार्चा सुदुर्लभा भवतीति ॥१८॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - पुण्य का सञ्चय नहीं किया हुआ जो जीव इस मनुष्य शरीर से अथवा इस उत्तम धर्म से भ्रष्टहोकर इस संसार में भ्रमण करता है, उसको फिर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि सम्यक्त्व से पतित पुरुष को उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्तकाल के पश्चात् फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । तथा धर्माचरण नहीं किये हुए पुरुष को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण का परिणाम प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है । अथवा मनुष्य शरीर को अर्चा कहते हैं, वह भी जिसने धर्मरूपी बीज नहीं बोया है, उसको प्राप्त नहीं होता है । आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल में उत्पत्ति और समस्त इन्द्रियों की पूर्णता इत्यादि सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है । अर्थात् जो धर्म प्राप्ति करने योग्य जीव हैं, उनके समान लेश्या प्राप्त करना जीवों के लिए अत्यन्त कठिन है ॥१८॥



जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं ।

अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ ?

॥१९॥

छाया - ये धर्म शुद्धमाख्यान्ति, प्रतिपूर्णमणीदृशम् । अनीदृशस्य यत् स्थानं, तस्य जन्मकथा कुतः ॥

अन्वयार्थ - (जे) जो महापुरुष (पडिपुन्नमणेलिसं सुद्धं धम्मं अक्खंति) प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम, शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं (अणेलिसस्स जं ठाणं) वे सर्वोत्तम पुरुष के स्थान को प्राप्त करते हैं (तस्स जम्मकहा कओ) फिर उनके लिए जन्म लेने की बात भी कहाँ है ?

भावार्थ - जो पुरुष प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम और शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं और स्वयं आचरण करते हैं, वे सर्वोत्तम पुरुष का जो सब दुःखों से रहित स्थान है, उसको प्राप्त करते हैं । उनके जन्म लेने और मरने की बात भी नहीं है ।

टीका - ये महापुरुषा वीतरागाः करतलामलकवत्सकलजगद्द्रष्टारः त एवंभूताः परहितैकरताः 'शुद्धम्' अवदातं सर्वोपाधिविशुद्धं धर्मम् 'आख्यान्ति' प्रतिपादयन्ति स्वतः समाचरन्ति च 'प्रतिपूर्णम्' आयतचारित्र-सद्भावात्संपूर्णं यथाख्यातचारित्ररूपं वा 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशं धर्मम् आख्यान्ति अनुतिष्ठन्ति (च) । तदेवम् 'अनीदृशस्य' अनन्यसदृशस्य ज्ञानचारित्रोपेतस्य यत् स्थानं-सर्व-द्वन्द्वोपरमरूपं तदवाप्तस्य तस्य कुतो जन्मकथा ?, जातो मृतो वेत्येवंरूपो कथा स्वप्नान्तरेऽपि तस्य कर्मबीजाभावात् कुतो विद्यत ? इति, तथोक्तम्-

“दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्मवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति मवाङ्कुरः ॥१९॥”

इत्यादि ॥१९॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - जो महापुरुष, राग रहित हैं तथा हाथ में रखे हुए औंले की तरह समस्त जगत् को देखनेवाले हैं और सदा दूसरे के हित करने में लगे रहते हैं, जो सब उपाधियों से वर्जित शुद्ध धर्म का उपदेश करते हैं, (आशय यह है कि) आयत चारित्र होने से जो धर्म परिपूर्ण है अथवा यथाख्यात चारित्र रूप है एवं जो सबसे उत्तम है, उसका जो प्रतिपादन करते हैं और स्वयं आचरण करते हैं, वे पुरुष ज्ञान और चारित्र से युक्त पुरुष का जो सब द्वन्द्वों से रहित स्थान है, उसको प्राप्त करते हैं । उनके विषय में जन्म लेने की बात भी कहाँ है ? वे जन्म लेते हैं या मरते हैं, यह स्वप्न में भी नहीं होता क्योंकि उनके कर्म बीज नष्ट हो गये हैं, अत एव कहा है कि जैसे-

बीज जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, इसी तरह कर्म रूपी बीज जल जाने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है ॥१९॥



कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया ।

तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सणुत्तरा

॥२०॥

छाया - कुतः कदाचिब्बेधावी, उत्पद्यन्ते तथागताः । तथागता अप्रतिज्ञा श्वक्षु लोकेऽस्यानुत्तराः ॥

अन्वयार्थ - (तहागया) इस जगत् में फिर नहीं आने के लिए गये हुए (मेहावी) ज्ञानी पुरुष (कओ कयाइ उपज्जति) कभी किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? (अण्डिना तहागया) निदानरहित तीर्थङ्कर और गणधर आदि (लोगस्सणुत्तरा चक्खु) प्राणियों के लिए सर्वोत्तम नेत्र के समान हैं ।

भावार्थ - इस जगत् में फिर नहीं आने के लिए मोक्ष में गये हुए ज्ञानी पुरुष कभी भी किस प्रकार इस जगत् में उत्पन्न हो सकते हैं ? निदान न करनेवाले तीर्थङ्कर और गणधर आदि, प्राणियों के सर्वोत्तम नेत्र हैं ।

टीका - कर्मबीजाभावात् 'कुतः' कस्मात्कदाचिदपि 'मेधाविनो' ज्ञानात्मकाः तथा-अपुनरावृत्त्या गतास्तथागताः पुनरस्मिन् संसारेऽशुचिनि गर्भाधाने समुत्पद्यन्ते ?, न कथञ्चित्कदाचित्कर्मोपादानाभावादुत्पद्यन्त इत्यर्थः, तथा 'तथागताः' तीर्थकृद्गणधरादयो, न विद्यते प्रतिज्ञा-निदानबन्धनरूपा येषां तेऽप्रतिज्ञा-अनिदाना निराशंसाः सत्त्वहितकरणोद्यता अनुत्तरज्ञानत्वादानुत्तरा 'लोकस्य' जन्तुगणस्य सदसदर्थनिरूपणकारणतश्चक्षुर्भूता हिताहितप्राप्ति-परिहारं कुर्वन्तः सकललोकलोचनभूतास्तथागताः सर्वज्ञा भवन्तीति ॥२०॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - इस जगत् में फिर नहीं आने के लिए मोक्ष में गये हुए ज्ञानी पुरुष अपवित्र गर्भाधानरूप इस संसार में फिर कभी भी किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? । कर्मरूपी बीज न होने के कारण वे कभी किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं होते । निदान रहित अर्थात् सांसारिक पदार्थों की कामना से रहित, प्राणिओं के हित करने में तत्पर तीर्थङ्कर और गणधर आदि सत् और असत् अर्थ को उपदेश देने के कारण प्राणियों के लिए सबसे उत्तम नेत्र के समान हैं । आशय यह है कि-सर्वज्ञ पुरुष, हित की प्राप्ति और अहित का त्याग करते हुए समस्त प्राणियों के नेत्र के समान हैं ॥२०॥



अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेदिते ।

जं किच्चा णिव्वुडा एगे, निट्ठं पावंति पंडिया

॥२१॥

छाया - अनुत्तरं स्थानं तत्, काश्यपेण प्रवेदितम् । यत् कृत्वा निर्वृता एके, निष्ठां प्राप्नुवन्ति पण्डिताः ॥

अन्वयार्थ - (से ठाणे अणुत्तरे य) वह स्थान सबसे प्रधान है (कासवेण पवेदिते) काश्यप गोत्रवाले भगवान् महावीर स्वामी ने जिसका वर्णन किया है (जं किच्चा णिव्वुडा एगे पंडिया निट्ठं पावंति) जिसका पालन करके निर्वाण को प्राप्त कोई पण्डित पुरुष संसार के अन्त को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - काश्यप गोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहा हुआ संयम नामक स्थान सबसे प्रधान है । पंडित पुरुष इसे पालकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं और वे संसार के अन्त को प्राप्त करते हैं ।

टीका - न विद्यते उत्तरं-प्रधानं यस्मादनुत्तरं स्थानं तच्च तत्संयमाख्यं 'काश्यपेन' काश्यपगोत्रेण श्रीमन्महावीर-वर्धमानस्वामिना 'प्रवेदितम्' आख्यातं, तस्य चानुत्तरत्वमाविर्भावयन्नाह-'यद्' अनुत्तरं संयमस्थानं 'एके' महासत्त्वाः सद्गुणायिनः 'कृत्वा' अनुपाल्य 'निर्वृताः' निर्वाणमनुप्राप्ताः, निर्वृताश्च सन्तः संसारचक्रवालस्य 'निष्ठां' पर्यवसानं 'पण्डिताः' पापाङ्गीनाः प्राप्नुवन्ति, तदेवंभूतं संयमस्थानं काश्यपेन प्रवेदितं यद्गुणायिनः सन्तः सिद्धिं प्राप्नुवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥२१॥ अपि च -

टीकार्थ - जिससे बढ़कर दूसरा स्थान नहीं है, उसे अनुत्तर कहते हैं, वह संयमनामक स्थान है । काश्यप गोत्र में उत्पन्न श्री महावीर स्वामी ने इसका वर्णन किया है । इस स्थान की सर्वोत्तमता प्रकट करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-पाप से हटे हुए और शुभ कर्म में आसक्त कोई धीर पुरुष जिस सर्वोत्तम संयमस्थान का पालन करके निर्वाण को प्राप्त करता है और निर्वाण को प्राप्त करके संसाररूपी चक्र के अन्त को प्राप्त करता है, भगवान् महावीर स्वामी ने उस संयम स्थान को बताया है ॥२१॥



पण्डिए वीरियं लब्धुं, निग्घायाय पवत्तगं ।

धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वाऽवि ण कुव्वती

॥२२॥

छाया - पण्डितः वीर्यं लब्ध्वा, निर्घाताय प्रवर्तकम् । धुनीयात् पूर्वकृतं कर्म नवं वाऽपि न करोति ॥

अन्वयार्थ - (पण्डिए निग्घायाय पवत्तगं वीरियं लब्धुं) पण्डित पुरुष, कर्म को विनाश करने में समर्थ वीर्य को पाकर (पुव्वकडं कम्मं धुणे) पूर्वकृत कर्म का नाश करे (णवं वाऽवि ण कुव्वती) और नवीन कर्म न करे ।

भावार्थ - पण्डित पुरुष, कर्म को विदारण करने में समर्थ वीर्य को प्राप्त करके पूर्वकृत कर्म का नाश करे और नवीन कर्म न करे ।

टीका - 'पण्डितः' सदसद्विवेकज्ञो 'वीर्यं' कर्मोद्दलनसमर्थं सत्संयमवीर्यं तपोवीर्यं वा 'लब्ध्वा' अवाप्य, तदेव वीर्यं विशिनष्टि-निशेषकर्मणो 'निर्घाताय' निर्जरणाय प्रवर्तकं पण्डितवीर्यं, तच्च बहुभवशतदुर्लभं कथञ्चित्कर्म-विवरादवाप्य 'धुनीयाद्' अपनयेत् पूर्वभवेष्णनेकेषु यत्कृतम्-उपात्तं कर्माष्टप्रकारं तत्पण्डितवीर्येण धुनीयात् 'नवं च' अभिनवं चाश्रवनिरोधान्न करोत्यसाविति ॥२२॥ किञ्च-

टीकार्थ - सत् और असत् के विवेक का ज्ञाता जीव संपूर्ण कर्मों के नाश में समर्थ अनेक-सैंकड़ों भवों में अति दुर्लभ पण्डित वीर्य को कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त कर उस पण्डित वीर्य के प्रयोग द्वारा पूर्व के अनेक भवों में संचित अष्ट कर्म का नाश करे एवं नवीन कर्म आश्रव के निरोध से न बांधे ॥२२॥



ण कुव्वती महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं ।

रयसा संमुहीभूता, कम्मं हेच्चाण जं मयं

॥२३॥

छाया - न करोति महावीरः, भानुपूर्व्या कृतं रयः । रजसा सम्मुखीभूताः कर्म हित्वा यन्मतम् ॥

अन्वयार्थ - (महावीरे) कर्म को विदारण करने में समर्थ पुरुष, (अणुपुव्वकडं रयं) दूसरे प्राणी जो क्रमशः पाप करते हैं (ण कुव्वती) उसे नहीं करता है (रयसा) क्योंकि वह पाप कर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किया जाता है (जं मयं कम्मं हेच्चाण संमुहीभूता) परन्तु वह पुरुष आठ प्रकार के कर्मों को छोड़कर मोक्ष के सम्मुख हुआ है ।

भावार्थ - दूसरे प्राणी मिथ्यात्व आदि क्रम से जो पाप करते हैं, उस कर्म का विदारण करने में समर्थ पुरुष नहीं करता है । पूर्वभवों में किये हुए पाप के द्वारा ही नूतन पाप किये जाते हैं परन्तु उस पुरुष ने पूर्वकृत पापों का नाश कर दिया है और आठ प्रकार के कर्मों को त्यागकर वह मोक्ष के सम्मुख हुआ है ।

टीका - 'महावीरः' कर्मविदारणसहिष्णुः सन्नानुपूर्व्येण मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैर्यत्कृतं रजोऽपर-जन्तुभिस्तदसौ 'न करोति' न विधत्ते, यतस्तत्प्राक्तनोपात्तरजसैवोपादीयते, स च तत्प्राक्तनं कर्मावष्टभ्य सत्संयमात्सं-मुखीभूतः, तदभिमुखीभूतश्च यन्मतमष्टप्रकारं कर्म तत्सर्वं 'हित्वा' त्यक्त्वा मोक्षस्य सत्संयमस्य वा सम्मुखी-भूतोऽसाविति ॥२३॥ अन्यच्च-

टीकार्थ - कर्म को विदारण करने में समर्थ पुरुष, दूसरे जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगक्रम से जो पाप कर्म करते हैं, उसे वह नहीं करता क्योंकि वह पाप कर्म पूर्वभव में किये हुए पाप के द्वारा ही किया जाता है परन्तु उक्त वीर पुरुष ने सत् संयम का आश्रय लेकर अपने पूर्वकृत कर्म का नाश कर दिया है और अज्ञ जीवों के द्वारा माननीय जो आठ प्रकार के कर्म हैं, उन सभी का त्याग कर वह मोक्ष या सत्संयम के सम्मुख हुआ है ॥२३॥



जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं ।
साहइत्ताण तं तिन्ना, देवा वा अभविंसु ते

॥२४॥

छाया - यत्कृतं सर्वसाधूनां तत्कृतं शल्यकर्तव्यम् । साधयित्वा तत्तीर्णाः देवा वा अभवृस्ते ॥

अन्वयार्थ - (जं सव्वसाहूणं मयं) जो सब साधुओं को मान्य है (सल्लगत्तणं तं साहइत्ताण) उस, पाप या पाप से उत्पन्न कर्म को नाश करनेवाले संयम की आराधना करके (तिन्ना) बहुत जीव संसार सागर से पार हुए हैं (देवा वा अभविंसु) अथवा देवता हुए हैं ।

भावार्थ - सब साधुओं को मान्य जो संयम है, वह पाप का नाश करनेवाला है, इसलिए बहुत जीवों ने उसकी आराधना करके संसार सागर को पार किया है अथवा देवलोक को प्राप्त किया है ।

टीका - 'जम्मय' मित्यादि, सर्वसाधूनां यत् 'मतम्' अभिप्रेतं तदेतत्सत्संयमस्थानं, तद्विशिनष्टि-शल्यं-पापानुष्ठानं तज्जनितं वा कर्म तत्कर्तयति-छिनत्ति यत्तच्छल्यकर्तनं तच्च सदनुष्ठानं उद्युक्तविहारिणः 'साधयित्वा' सम्यगाराध्य बहवः संसारकान्तरं तीर्णाः, अपरे तु सर्वकर्मक्षयाभावात् देवा अभवन्, ते चासम्यक्त्वाः सच्चारित्रिणो वैमानिकत्वमवापुः प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति चेति ॥२४॥

टीकार्थ - सब साधुओं को जो मान्य है, वह यह संयम स्थान है, उस संयम स्थान की विशिष्टता बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि-वह संयम स्थान पाप अथवा पापजनित कर्म का नाश करनेवाला है, इसलिए बहुत से शास्त्रानुकूल विचरनेवाले पुरुष उस उत्तम अनुष्ठान का अच्छी तरह आराधन करके संसार से पार हुए हैं तथा जिनके समस्त कर्मक्षय नहीं हुए वे देवता हुए हैं । सम्यक्त्व को प्राप्त किये हुए सच्चारित्री पुरुष वैमानिक हुए हैं और होते हैं तथा आगे चलकर होंगे ॥२४॥



- सर्वोपसंहारार्थमाह-

- इस अध्ययन को समाप्त करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि-

अभविंसु पुरा धी(वी)रा, आगमिस्सावि सुव्वता ।

दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिन्ने

॥ ति बेमि ॥२५॥

इति पनरसमं जंमइयं नामज्झयणं समत्तं गाथाग्रं ६४३

छाया - अभूवन् पुरा धीरा, आगामिष्यन्ति सुव्रताः । दुर्निबोधस्य मार्गस्यान्तं, प्रादुष्करास्तीर्णाः ॥

अन्वयार्थ - (पुरा धीरा अभविंसु) पूर्व समय में धीर पुरुष हो चुके हैं (आगमिस्सावि सुव्वता) और भविष्यकाल में भी सुव्रत पुरुष होंगे । (दुन्निबोहस्य मग्गस्स अंतं) जो, दुर्निबोध मार्ग यानी दुःख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यरूप मार्ग के अन्त को पाकर तथा (पाउकरा) उस मार्ग को प्रकट करके (तिन्ने) संसार से पार हुए हैं (ति बेमि) यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - पूर्व समय में बहुत से धीर पुरुष हुए हैं और भविष्य में भी होंगे । वे दुःख से प्राप्त करने योग्य सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का अनुष्ठान करके तथा इनका प्रकाश करके संसार से पार हुए हैं ।

टीका - 'पुरा' पूर्वस्मिन्ननादिके काले बहवो 'महावीरा' कर्मविदारणसहिष्णवः 'अभूवन्' भूताः, तथा वर्तमाने च काले कर्मभूमौ तथाभूता भवन्ति तथाऽऽगामिनी चानन्ते काले तथाभूताः सत्संयमानुष्ठायिनो भविष्यन्ति, ये किं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्याह-यस्य दुर्निबोधस्य-अतीव दुष्प्रापस्य (मार्गस्य) ज्ञानदर्शन-चारित्र्याख्यस्य 'अन्तं' परमकाष्ठमवाप्य तस्यैव मार्गस्य 'प्रादुः' प्राकाश्यं तत्करणशीलाः प्रादुष्कराः स्वतः सन्मार्गानुष्ठायिनोऽन्येषां च प्रादुर्भावकाः सन्तः संसारार्णवं तीर्णास्तरन्ति तरिष्यन्ति चेति । गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च प्राग्वत् द्रष्टव्याः । इतिरध्ययनपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२५॥ ॥ इति आदानीयाख्यं पञ्चदशमाध्ययनं समाप्तम् ॥

टीकार्थ - कर्म को विदारण करने में समर्थ बहुत से वीर पुरुष पूर्व के अनादिकाल में हो चुके हैं तथा वर्तमान समय में भी कर्मभूमि में बहुत से धीर पुरुष होते हैं एवं आगामी अनन्तकाल में उत्तम संयम का अनुष्ठान करनेवाले बहुत से धीर पुरुष होंगे । उक्त पुरुषों ने क्या किया है और क्या करते हैं तथा क्या करेंगे ? सो शास्त्रकार बतलाते हैं । वे पुरुष दुःख से प्राप्त करने योग्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की अन्तिम सीमा पर पहुँचकर दूसरों के प्रति उसी मार्ग को प्रकट करके तथा स्वयं उसका आचरण करते हुए संसार से पार हुए हैं तथा हो रहे हैं और होंगे । अनुगम समाप्त हुआ । अब नय बताने चाहिए । वे भी पूर्ववत् हैं । इति शब्द अध्ययन की समाप्ति का द्योतक है, ब्रवीमि पूर्ववत् है ।

यह आदानीय नामक पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ॥२५॥



॥ अथ षोडशं श्रीगाथाध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं पञ्चदशमध्ययनं, साम्प्रतं षोडशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तरोक्तेषु पञ्चदशस्वप्यध्ययननेषु येऽर्था अभिहिता विधिप्रतिषेधद्वारेण तान् तथैवाचरन् साधुर्भवतीत्येतदनेनोपदिश्यते, ते चामी अर्थाः, तद्यथा—प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयपरिज्ञानेन सम्यक्त्वगुणावस्थितो भवति, द्वितीयाध्ययने ज्ञानादिभिः कर्मविदारणहेतुभिरष्टप्रकारं कर्म विदारयन् साधुर्भवति तथा तृतीयाध्ययने यथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गान् सम्यक् सहमानः साधुर्भवति, चतुर्थे तु स्त्रीपरीषहस्य दुर्जयत्वात्तज्जयकारीति, पञ्चमे तु नरकवेदनाभ्यः समुद्विजमानस्तत्प्रायोग्यकर्मणो विरतः सन्साधुत्वमवाप्नुयात्, षष्ठे तु यथा श्रीवीरवर्धमानस्वामिना कर्मक्षयोद्यतेन चतुर्ज्ञानिनाऽपि संयमं प्रति प्रयत्नः कृतस्तथाऽन्येनापि छद्मस्थेन विधेय इति, सप्तमे तु कुशीलदोषान् ज्ञात्वा तत्परिहारोद्यतेन सुशीलावस्थितेन भाव्यम्, अष्टमे तु बालवीर्यपरिहारेण पण्डितवीर्योद्यतेन सदा मोक्षाभिलाषिणा भाव्यं, नवमे तु यथोक्तं क्षान्त्यादिकं धर्ममनुचरन् संसारान्मुच्यत इति, दशमे तु संपूर्णसमाधियुक्तः सुगतिभागभवति, एकादशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सन्मार्गं प्रतिपन्नोऽशेषक्लेशप्राणं विद्यते, द्वादशे तु तीर्थिकदर्शनानि सम्यग्गुणदोषविचारणतो विजानन्न तेषु श्रद्धानं विद्यते, त्रयोदशे तु शिष्यगुणदोषविज्ञः सद्गुणेषु वर्तमानः कल्याणभागभवति, चतुर्दशे तु प्रशस्तभावग्रन्थभावितात्मा विस्त्रोतसिकारहितो भवति, पञ्चदशे तु यथावदायतचारित्रो भवति भिक्षुस्तदुपदिश्यत इति । तदेवमनन्तरोक्तेषु पञ्चदशस्वप्यध्ययनेषु येऽर्थाः प्रतिपादितास्तेऽत्र संक्षेपतः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्रोपक्रमान्तर्गतो-
ऽर्थाधिकारोऽनन्तरमेव संबन्धप्रतिपादनेनैवाभिहितः । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे गाथाषोडशकमिति नाम । तत्र गाथानिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

पन्द्रहवाँ अध्ययन कहा जा चुका अब सोलहवाँ आरम्भ किया जाता है । इसका पूर्व अध्ययनों के साथ सम्बन्ध यह है—पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में विधि निषेध के द्वारा जो अर्थ कहे गये हैं, उनका उसी तरह आचरण करता हुआ पुरुष साधु होता है, यह इस अध्ययन के द्वारा उपदेश किया जाता है, पूर्वोक्त अध्ययनों में कहे हुए अर्थ ये हैं—प्रथम अध्ययन में कहे हुए स्वसमय और पर समय के ज्ञान से जीव सम्यक्त्वगुण में स्थिर होता है तथा दूसरे अध्ययन में कहे हुए कर्म को विदारण करनेवाले ज्ञान आदि के द्वारा आठ प्रकार के कर्मों को विदारण करता हुआ जीव, साधु होता है एवं तृतीयाध्ययन में कहे हुए अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करता हुआ पुरुष साधु होता है । चौथे अध्ययन में कहा है कि—स्त्रीपरीषह दुःख से सहन करने योग्य है इसलिए जिसने स्त्रीपरीषह को सहन कर लिया है, वही साधु है । पञ्चम अध्ययन में कही हुई नरक की पीड़ा को सुनकर उससे डरता हुआ पुरुष नरक देनेवाले कर्मों का त्याग कर साधुता को प्राप्त कर सकता है । छठे अध्ययन में कहा है कि—चार ज्ञान के धनी होते हुए भी श्रीमहावीर वर्धमान स्वामी ने कर्मों को क्षय करने के लिए उद्यत होकर जो संयमपालन में प्रयत्न किया है, वह दूसरे छद्मस्थों को भी करना चाहिए । सप्तम अध्ययन में कहा है कि—कुशील के दोषों को जानकर उनके त्याग के लिए उद्यत पुरुष को सुशील के पास स्थित होना चाहिए । अष्टम अध्ययन में कहा है कि—मोक्षार्थी पुरुष को बालवीर्य त्यागकर पण्डित वीर्य में प्रवृत्त होना चाहिए । नवम अध्ययन में कहा है कि—शास्त्रोक्त क्षान्ति आदि धर्मों को यथावत् पालन करता हुआ जीव संसार से मुक्त होता है । दशम अध्ययन में कहा है—सम्पूर्ण समाधि से युक्त पुरुष मोक्ष का भाजन होता है । ग्यारहवें अध्ययन में कहा है कि—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी उत्तम मार्ग को प्राप्त किया हुआ पुरुष क्लेशों का नाश करता है, बारहवें अध्ययन में कहा है कि—अन्यतीर्थिकों के दर्शनों के गुण और दोष के विचार के साथ अच्छी तरह जानता हुआ पुरुष उनमें श्रद्धा नहीं करता है । तेरहवें अध्ययन में कहा है कि—शिष्य के गुणदोष को जाननेवाला और सद्गुण में वर्तमान पुरुष कल्याण का भाजन होता है । चौदहवें अध्ययन में कहा है कि—प्रशस्त भाव से जिसका हृदय वासित है, वह मनुष्य अशान्ति से रहित होता है । पन्द्रहवें अध्ययन में उपदेश किया है कि शास्त्रोक्त चारित्र का पालन

करनेवाला भिक्षु होता है। इस प्रकार पूर्व के अध्ययनों में जो अर्थ कहे गये हैं, वे इस अध्ययन में संक्षेप से कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार हैं। उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार सम्बन्ध कहकर अभी बता दिये गये हैं। नाम निष्पन्न निक्षेप में इस अध्ययन का नाम गाथा षोडशक है। यहां गाथा का निक्षेप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

णामंठवणागाहा दव्यगाहा य भावगाहा य । पोत्थगपतगलिहिया सा होई दव्यगाहा उ ॥१३७॥ नि०।
होति पुण भावगाहा सागारुयओगभावणिप्फन्ना । महुराभिहाणजुत्ता तेणं गाहति णं बिंति ॥१३८॥ नि०।
गाहीकया य अत्था अहव ण सामुदण्ण छंदेणं । एण्ण होति गाहा एसो अन्नोऽयि पज्जाओ ॥१३९॥ नि०।
पण्णरससु अज्झयणेसु पिण्डितत्थेसु जो अयितहति । पिण्डियवयणेणत्थं गहेति तम्हा ततो गाहा ॥१४०॥ नि०।
सोलसमे अज्झयणे अणगारगुणाण वण्णणा भणिया । गाहासोलसणामं अज्झयणमिणं वदिसंति ॥१४१॥ नि०।

टीका - तत्र गाथाया नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यगाथामाह-तत्र ज्ञशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यगाथा पत्रकपुस्तकादिन्यस्ता, तद्यथा-

'जयति, णवणलिणकुवलयवियसियसयवत्तपत्तलदलच्छो । वीरो गइंदमयगलसुललितगयविक्रमो भगवां ॥१॥

अथवेयमेव गाथाषोडशाध्ययनरूपा पत्रकपुस्तकन्यस्ता द्रव्यगाथेति । भावगाथामधिकृत्याह-भावगाथा पुनरियं भवति, तद्यथा-योऽसौ साकारोपयोगः क्षायोपशमिकभावनिष्पन्नो गाथां प्रति व्यवस्थितः सा भावगाथेत्युच्यते, समस्तस्यापि च श्रुतस्य क्षायोपशमिकभावे व्यवस्थितत्वात्, तत्र चानाकारोपयोगस्यासंभवादेवमभिधीयते इति । पुनरपि तामेव विशिनष्टि-मधुरं-श्रुतिपेशलमभिधानम्-उच्चारणं यस्याः सा मधुराभिधानयुक्ता, गाथाछन्दसोपनिबद्धस्य प्राकृतस्य मधुरत्वादित्यभिप्रायः, गीयते-पठ्यते मधुराक्षरप्रवृत्त्या गायन्ति वा तामिति गाथा, यत एवमतस्तेन कारणेन गाथामिति तां ब्रुवते । णमिति वाक्यालङ्कारे एनां वा गाथामिति । अन्यथा वा निरुक्तिमधिकृत्याह-'गाथीकृताः' पिण्डीकृता विक्षिप्ताः सन्त एकत्र मीलिता अर्था यस्यां सा गाथेति, अथवा सामुद्रेण छन्दसा वा निबद्धा सा गाथेत्युच्यते, तच्चेदं छन्दः-'अनिबद्धं च यल्लोके, गाथेति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्' । 'एषः' अनन्तरोक्तो गाथाशब्दस्य 'पर्यायो' निरुक्तं तात्पर्यार्थो द्रष्टव्यः, तद्यथा-गीयतेऽसौ गायन्ति वा तामिति गाथीकृता वाऽर्थाः सामुद्रेण वा छन्दसेति गाथेत्युच्यते, अन्यो वा स्वयमभ्यूह्य निरुक्तविधिना विधेय इति । पिण्डितार्थग्राहित्वमधिकृत्याह-पञ्चदशस्वप्यध्ययनेषु अनन्तरोक्तेषु 'पिण्डितः' एकीकृतोऽर्थो येषां तानि पिण्डितार्थानि तेषु सर्वेष्वपि य एव व्यवस्थितोऽर्थस्तम् 'अवितथं' यथावस्थितं पिण्डितार्थवचनेन यस्माद् ग्रन्थात्येतदध्ययनं षोडशं 'ततः' पिण्डितार्थग्रथनाद्गाथेत्युच्यत इति । 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'-तिकृत्वा तत्त्वार्थमधिकृत्याह-षोडशाध्ययने अनगाराः-साधवस्तेषां गुणाः-क्षान्त्यादयस्तेषामनगारगुणानां पञ्चदश-स्वप्यध्ययनेष्वभिहितानामिहाध्ययने पिण्डितार्थवचनेन यतो वर्णनाऽभिहिता उक्ताऽतो गाथाषोडशाभिधानमध्ययनमिदं 'व्यपदिशन्ति' प्रतिपादयन्ति ॥१३७-१४१॥ उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः, तदनन्तरं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, असावप्यवसरप्राप्त एवातोऽस्वल्लितादिगुणोपेतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

टीकार्थ - गाथा के नाम आदि चार निक्षेप होते हैं। इनमें सरल होने के कारण नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्यगाथा बतलाते हैं। ज्ञशरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यगाथा वह है जो पत्रे और पुस्तकों पर लिखी हुई है। जैसे "जयति" इत्यादि। अथवा पुस्तक और पन्नेपर लिखी हुई यह सोलह अध्ययनरूपा गाथा ही द्रव्यगाथा है। अब निर्युक्तिकार भावगाथा के विषय में कहते हैं, क्षायोपशमिक भाव से निष्पन्न जो गाथा के प्रति साकारोपयोग है, वह भाव गाथा है क्योंकि सम्पूर्ण श्रुत क्षायोपशमिक भाव में ही माना जाता है। श्रुतरूप शास्त्र में अनाकारोपयोग संभव नहीं है, इसलिए साकारोपयोग को ही द्रव्यगाथा कहा है। फिर निर्युक्तिकार गाथा का विशेषण बतलाते हैं-गाथा का उच्चारण कानों को प्रिय लगता है क्योंकि वह मधुर शब्दों से बनी होती है।

1. जयति नवनलिनीकुवलयविकसितशतपत्रपत्रलदलाक्षः । वीरो गलन्मदगजेन्द्रसुललितगतिविक्रमो भगवान् ॥१॥

गाथा छन्द से रचा हुआ प्राकृत मधुर होता है, इसलिए गाथा को मधुर कहा है। जिसे मधुर अक्षरों में गाते हैं, उसे 'गाथा' कहते हैं। गाथा मधुर अक्षरों में गाई जाती है, इसलिए उसे गाथा कहते हैं। अब निर्युक्तिकार गाथा शब्द की दूसरी तरह से व्याख्या करने के लिए कहते हैं—अलग-अलग स्थित अर्थ जिसमें एकत्र मिले होते हैं, उसे गाथा कहते हैं। अथवा जो सामुद्र छन्द में रची गई है, उसे गाथा कहते हैं। वह सामुद्र छन्द यह है—“अनिबद्धं च” इत्यादि। यह पूर्वोक्त गाथा शब्द का निर्वचन यानी तात्पर्यार्थ समझना चाहिए। जो गाई जाती है अथवा जिसे लोग गाया करते हैं अथवा जिसमें अर्थ एकत्र किये रहते हैं अथवा जो सामुद्र छन्द में रची गई है, उसे गाथा कहते हैं। अथवा स्वयं विचारकर गाथा शब्द की दूसरी व्याख्या भी कर लेनी चाहिए। एकत्र किये हुए अर्थ को ग्रहण करनेवाली गाथा के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं—पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में जो अर्थ कहे गये हैं, उन सबों को एकत्र करके यह सोलहवाँ अध्ययन बतलाता है, इस कारण इसे गाथाध्ययन कहते हैं। तत्त्व भेद और पर्यायों के द्वारा व्याख्या की जाती है, इसलिए तत्त्व अर्थ के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं, पन्द्रह अध्ययनों में साधुओं के जो क्षान्ति आदि गुण कहे गये हैं, वे इस सोलहवें अध्ययन में एकत्र कहे जाते हैं, इसलिए इस अध्ययन को गाथाध्ययन कहते हैं ॥१३७-१४१॥ नामनिष्पन्न निक्षेप की व्याख्या कर दी गई, अब सूत्र को स्पर्श करनेवाली निर्युक्ति का अवसर है। वह सूत्र होने पर होता है और सूत्र सूत्रानुगम होने पर होता है, इसलिए सूत्रानुगम भी अवसर प्राप्त है, इसलिए अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है।



अहाह भगवं-एवं से दंते दविए वोसड्डकाए त्ति वच्चे माहणे त्ति वा १ समणे त्ति वा २ भिक्खू त्ति वा ३ णिगंथे त्ति वा ४ पडिआह-भंते ! कहं नु दंते दविए वोसड्डकाए त्ति वच्चे माहणे त्ति वा समणे त्ति वा भिक्खू त्ति वा णिगंथे त्ति वा ? तं नो बूहि महामुणी!।इतिविरए सव्वपावकम्मेहिं पिज्जदोसकलह० अब्भक्खाण० पेसुन्न० परपरिवाय० अरतिरति० मायामोस० मिच्छादंसणसल्लविरए समिए सहिए सया जए णो कुज्जे णो माणी माहणेत्ति वच्चे ॥१॥

छाया - अहाह भगवान्-एवं स दान्तो द्रव्यः व्युत्सृष्टकाय, इति वाच्यः माहन इति वा श्रमण इति वा भिक्षुरिति वा णिगव्य इति वा। प्रत्याह भदन्त। कथं नु दान्तो द्रव्यः व्युत्सृष्टकाय इति वाच्यः माहन इति वा श्रमण इति वा भिक्षुरिति वा णिगव्य इति वा १ तस्मै बूहि महामुने ॥ इतिविरतः सर्वपापकर्मेभ्यः प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्याण-पेशूभ्यपरपरिवादरतिरतिमायामृषामिध्यादर्शनशल्यविरतः समितः सहितः सदा यतः न कुप्येन्नो मानी माहन इति वाच्यः।

अन्वयार्थ - (अह भगवं आह) पन्द्रह अध्ययन कहने के पश्चात् भगवान् ने कहा कि (एवं से दंते दविए वोसड्डकाए माहणेत्ति वा समणेत्ति वा भिक्खूत्ति वा णिगंथे त्ति वा वच्चे) पन्द्रह अध्ययनों में कहे हुए अर्थ से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को वश किया हुआ मुक्ति जाने योग्य तथा शरीर को व्युत्सर्ग किया हुआ है, उसे महान, श्रमण, भिक्षु, अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए (पडिआह) शिष्य ने पूछा (भंते ! कहं नु दंते दविए वोसड्डकाएत्ति माहणेत्ति वा समणेत्ति वा भिक्खूत्ति वा णिगंथेत्ति वा वच्चे) हे भदन्त ! पन्द्रह अध्ययनों में कहे हुए अर्थ से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को जीता हुआ मुक्ति जाने योग्य तथा कायव्युत्सर्ग किया हुआ है, वह क्यों माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहने योग्य है ? (तं नो बूहि महामुणी) हे महामुने ! यह मुझको आप बताईए ? (इति सव्वपावकम्मेहिं विरए) पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में जो उपदेश किया है, उसके अनुसार आचरण करनेवाला जो पुरुष सब पापों से हटा हुआ है (पिज्जदोसकलहअब्भक्खाण पेसुन्न परपरिवाय अरतिरति मायामोस मिच्छादंसणसल्लविरए) तथा किसी से रागद्वेष नहीं करता है, किसी से कलह नहीं करता है, किसी पर झूठा दोष नहीं लगाता है, किसी की चुगुली नहीं करता है, किसी की निन्दा नहीं करता है एवं संयम में अप्रेम और असंयम में प्रेम नहीं करता है, कपट नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मिथ्यादर्शनशल्य से अलग रहता है (समिए सहिए सया जए णो कुज्जे णो माणी माहणेत्ति वच्चे) पाँच गुणों से गुप्त और ज्ञानादि गुणों से सहित, सदा इन्द्रियों को जीतनेवाला किसी पर क्रोध नहीं करता है, मान नहीं करता है वह, माहन कहने योग्य है।

भावार्थ - पन्द्रह अध्ययन कहने के पश्चात् भगवान् ने कहा कि-पन्द्रह अध्यायों में कहे हुए अर्थ से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को वश किया हुआ मुक्ति जाने योग्य शरीर को व्युत्सर्ग किया हुआ है, उसे महान्, श्रमण, भिक्षु, अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए । शिष्य ने पूछा हे भदन्त ! पन्द्रह अध्ययनों में कहे हुए अर्थ से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को जीता हुआ मुक्ति जाने योग्य तथा कायव्युत्सर्ग किया हुआ है, वह क्यों माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहने योग्य है ? हे महामुने ! यह मुझ को आप बताईए ? । पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में जो उपदेश किया है, उसके अनुसार आचरण करनेवाला जो पुरुष सब पापों से हटा हुआ है तथा किसी से रागद्वेष नहीं करता है, किसी से कलह नहीं करता है, किसी पर झूठा दोष नहीं लगाता है, किसी की चुगुली नहीं करता है, किसी की निन्दा नहीं करता है एवं संयम में अप्रेम और असंयम में प्रेम नहीं करता है, कपट नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मिथ्यादर्शन शाल्य से अलग रहता है पाँच गुप्तिओं से गुप्त और ज्ञानादि गुणों से सहित, सदा इन्द्रियों को जीतनेवाला किसी पर क्रोध नहीं करता है मान नहीं करता है, वह माहन कहने योग्य है ।

टीका - 'अथे' त्ययं शब्दोऽवसानमङ्गलार्थः, आदिमङ्गलं तु बुध्येतेत्यनेनाभिहितं, अत आद्यन्तयोर्मङ्गलत्वात्सर्वोऽपि श्रुतस्कन्धो मङ्गलमित्येतदनेनावेदितं भवति । आनन्तर्ये वाऽथशब्दः, पञ्चदशाध्ययनानन्तरं तदर्थसंग्राहीदं षोडशमध्ययनं प्रारभ्यते । अथानन्तरमाह- 'भगवान्' उत्पन्नदिव्यज्ञानः सदेवमनुजायां पर्वदीदं वक्ष्यमाणमाह, तद्यथा- एवमसौ पञ्चदशाध्ययनोक्तार्थयुक्तः स साधुर्दान्त इन्द्रियनोऽन्द्रियदमनेन, द्रव्यभूतो मुक्तिगमनयोग्यत्वात् 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात् रागद्वेष-कालिकापद्रव्यरहितत्वाद्वाजात्यसुवर्णवत् शुद्धद्रव्यभूतस्तथा व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीरतया कायः शरीरं येन स भवति व्युत्सृष्टकायः, तदेवंभूतः सन् पूर्वोक्ताध्ययनार्थेषु वर्तमानः प्राणिनः स्थावरजङ्गमसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् मा हणति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्तो ब्रह्मचर्यधारणाद्वा ब्राह्मण इत्यनन्तरोक्तगुण-कदम्बकयुक्तः साधुर्माहनो ब्राह्मण [ग्रन्थाग्रम् ८०००] इति वा वाच्यः, तथा श्राम्यति तपसा खिद्यत इतिकृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं-तुल्यं मित्रादिषु मनः अन्तःकरणं यस्य स सममनाः सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः, तथा चोक्तम्- '११' 'णत्थि य सि कोइ वेसो' इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तगुणकलितः श्रमणः सन् सममना वा इत्येवं वाच्यः साधुरिति । तथा भिक्षणशीलो भिक्षुर्भिनत्ति वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भिक्षुः स साधुर्दान्तादिगुणोपेतो भिक्षुरिति वाच्यः । तथा सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थाभावान्निर्ग्रन्थः । तदेवमनन्तरोक्तपञ्चदशाध्ययनोक्तार्थानुष्ठायी दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायश्च [स] निर्ग्रन्थ इति वाच्य इति । एवं भगवतोक्ते सति प्रत्याह तच्छिष्यः- भगवन् ! भदन्त ! भयान्त ! भवान्त ! इति वा योऽसौ दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायः सन् ब्राह्मणः श्रमणो भिक्षुर्निर्ग्रन्थ इति वाच्यः तदेतत्कथं ? यद्भगवतोक्तं ब्राह्मणादिशब्दवाच्यत्वं साधोरिति, एतन्नः-अस्माकं 'ब्रूहि' आवेदय 'महामुने !' यथावस्थितत्रिकालवेदिन् ॥१॥ इत्येवं पृष्ठो भगवान् ब्राह्मणादीनां चतुर्णामप्यभिधानानां कथञ्चिद्भेदाद्विन्नानां यथाक्रमं प्रवृत्तिनिमित्तमाह- 'इति' एवं पूर्वोक्ताध्ययनार्थवृत्तिः सन् 'विरतो' निवृत्तः सर्वेभ्यः पापकर्मभ्यः-सावद्यानुष्ठानरूपेभ्यः स तथा, तथा प्रेम-रागाभिष्वङ्गलक्षणं द्वेषः-अप्रीतिलक्षणः कलहो-द्वन्द्वाधिकरणमभ्याख्यानम् असदभियोगः पैशुन्यं (कर्णेजपत्वं) परगुणासहनतया तद्दोषोद्घटनमितियावत् परस्य परिवादः काक्वा परदोषापादनं अरतिः-चित्तोद्वेगलक्षणा संयमे तथा रतिः-विषयाभिष्वङ्गो माया-परवञ्चना तथा कुटिलमतेर्मृषावादः-असदर्थभिधानं गामश्वं ब्रुवतो भवति, मिथ्यादर्शनम्-अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशस्तत्त्वे वाऽतत्त्वमिति, यथा-

^२णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कयं ण वेइइ णत्थि णिव्वाणं । णत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥१॥

इत्यादि, एतदेव शल्यं तस्मिन्स्ततो वा विरत इति, तथा सम्यगितः समितः-ईर्यासमित्यादिभिः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यर्थः, तथा सह हितेन-परमार्थभूतेन वर्तत इति सहितः, यदिवा सहितो-युक्तो ज्ञानादिभिः तथा 'सदा' सर्वकालं 'यतः' प्रयतः सत्संयमानुष्ठाने, तदनुष्ठानमपि न कषायैर्निःसारीकुर्यादित्याह-कस्यचिदप्यपकारिणोऽपि न कुध्येत-आकुष्ठः सन्न क्रोधवशगो भूयात्, नापि मानी भवेदुत्कृष्टतपोयुक्तोऽपि न गर्वं विदध्यात्, तथा चोक्तम्-

^३जइ सोऽपि निज्जटमओ पडिस्सिब्दी अट्टमाणमहणेहिं । अवसेसमयट्ठाणा परिहरियत्वा पयत्तेणं ॥१॥

अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद्वागोऽपि मायालोभात्मको न विधेय इत्यादिगुणकलितः साधुर्माहन इति निःशङ्कं वाच्य इति

१. नास्ति तस्य कोऽपि द्वेषः । २. नास्ति न नित्यो न करोति न कृतं वेदयति नास्ति निर्वाणं । नास्ति च मोक्षोपायः षण्मिथ्यात्वस्य स्थानानि ॥१॥

३. यदि सोऽपि निर्जरामदः प्रतिषिद्धोऽष्टमानमथनैः । अवशेषाणि मदस्थानानि परिहर्त्तव्यानि प्रयत्नेन ॥१॥

टीकार्थ - अथ शब्द ग्रन्थ के अन्त में मङ्गल के लिए है । आदि मङ्गल तो “बुध्येत” इस शब्द के द्वारा कहा गया है । इस प्रकार आदि और अन्त के मङ्गल होने से समस्त श्रुतस्कन्ध मङ्गल है, यह सूचित होता है । अथवा ‘अथ’ शब्द आनन्तर्य्य अर्थ में आया है । पन्द्रह अध्ययन के पश्चात् उनके अर्थों को संग्रह करनेवाला यह सोलहवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है । इसके पश्चात् उत्पन्न दिव्य ज्ञानवाले भगवान् देवता और मनुष्यों से भरी हुई सभा में आगे कही जानेवाली बात कहते हैं-पन्द्रह अध्ययनों में जो उपदेश किया गया है, उसके अनुसार आचरण करता हुआ जो साधु इन्द्रिय और मन को दमन करने के कारण दान्त है तथा मुक्ति जाने के योग्य होने से द्रव्यभूत है अथवा भव्य अर्थ में द्रव्य शब्द का प्रयोग होता है, इस वचन के अनुसार उत्तम जाति के सुवर्ण की तरह रागद्वेष के समय होनेवाले अपद्रव्य यानी बुराईयों से रहित होने के कारण जो शुद्ध द्रव्यभूत है तथा शरीर का प्रतिकर्म न करने के कारण जो शरीर को व्युत्सर्ग किया हुआ है, इस प्रकार जो पूर्वोक्त अध्ययनों में कहे हुए अर्थों में वर्तमान होकर स्थावर, जङ्गम, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त भेदवाले प्राणियों को हनन नहीं करता है, उस साधु को माहन कहना चाहिए । अथवा ब्रह्मचर्य की नवगुणियों से गुप्त जो साधु पूर्वोक्त गुण समूह से युक्त है, उसे माहन या ब्राह्मण कहना चाहिए । तथा तपस्या में वह परिश्रम करता है, इसलिए उसे श्रमण कहना चाहिए अथवा उसका मन मित्र आदि में सर्वत्र समान होता है इसलिए उसे सममना कहना चाहिए । वह वासी चन्दन के समान है, अत एव कहा है कि उसका कोई भी शत्रु नहीं है । इस प्रकार पूर्वोक्त गुणों से युक्त पुरुष को श्रमण या सममना कहना चाहिए । तथा जो भिक्षणशील है अथवा आठ प्रकार के कर्मों को भेदन करता है, वह भिक्षु है, अतः इन्द्रिय दमन आदि गुणों से युक्त उस साधु को भिक्षु कहना चाहिए । उस साधु की बाह्य तथा आभ्यन्तर की ग्रन्थियाँ नष्ट हो गयी हैं इसलिए उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए । इस प्रकार जो साधु पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में कहे हुए अर्थों का अनुष्ठान करता हुआ दान्त द्रव्यभूत और व्युत्सृष्टकाय है, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए । इस प्रकार भगवान् के कहने पर उनका शिष्य पूछता है-हे भगवन् ! अथवा हे कल्याणकारिन् ! अथवा हे भय के नाशक ! अथवा हे संसार का नाश करनेवाले ! जो वह पुरुष दान्त, द्रव्यभूत और व्युत्सृष्टकाय होकर ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहने योग्य है सो यह कैसे ? आपने जो ऐसे साधु को ब्राह्मण आदि शब्दों से कहने योग्य कहा है, सो कैसे ? यह हम को आप बतावें । हे महामुने ! आप त्रिकालदर्शी हैं । इस प्रकार शिष्य के पूछने पर भगवान् कथंचित् भेद रखनेवाले ब्राह्मण आदि चार शब्दों का अर्थ क्रमशः कहने लगे । जो साधु पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में कहे हुए अर्थ के अनुसार आचरण करता हुआ सावधानुष्ठानरूप सभी पापकर्मों से निवृत्त रहता है, तथा प्रियवस्तु में प्रेमरूप राग और अप्रिय में अप्रीतिरूप द्वेष, परस्पर अधिकरणरूप कलह, दूसरे पर झूठा कलङ्क लगानेरूप अभ्याख्यान, दूसरे के गुणों को नहीं सहन कर सकते हुए उसकी चुगुली करनेरूप पैशुन्य, तथा दूसरे की निन्दा करनेरूप परपरिवाद एवं संयम से उद्धिग्न होने रूप अरति तथा विषय में स्नेहरूप रति और परवञ्चनरूप माया एवं अतत्त्व को तत्त्व अथवा तत्त्व को अतत्त्व समझनेरूप मिथ्यादर्शन जैसे कि-जगत् में कोई पदार्थ नहीं है तथा कोई भी नित्य नहीं है, न कोई कर्म करता है और न कोई कर्म का फल भोगता है, मोक्ष कोई पदार्थ नहीं है और उसकी प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है, ये छः मिथ्यात्व के स्थान हैं इत्यादि, ये सब शल्य के समान हैं इसलिए इनसे जो निवृत्त है तथा पाँच प्रकार की समितियों से युक्त रहता हुआ जो परमार्थभूत वस्तु के सहित है अथवा ज्ञानादिगुणों से युक्त है एवं जो सदा सत्संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त है, उसे अपने अनुष्ठान को कषायों के द्वारा मलिन नहीं करना चाहिए, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि जो अपकारी के ऊपर भी क्रोध नहीं करता है, किसी के गाली आदि देने पर भी क्रोध के वश नहीं होता है तथा उत्कृष्ट तपस्या करता हुआ भी अभिमान नहीं करता है, जैसा कि कहा है-

आठ प्रकार के मानों को मथन करनेवाले पुरुष जब कि निर्जरा का मद भी नहीं करते हैं, तब फिर दूसरे मदस्थानों के त्याग की तो बात ही क्या है ? वे तो प्रयत्नपूर्वक छोड़ देने चाहिए ।

ये पूर्वोक्त गुण उपलक्षण मात्र हैं, इसलिए माया और लोभस्वरूप राग भी नहीं करना चाहिए, इस प्रकार पूर्वोक्त गुणों से युक्त जो साधु है, उसको निःशंक माहन कहना चाहिए ॥१॥



- साम्प्रतं श्रमणशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमुद्गावयन्नाह-

- अब शास्त्रकार श्रमण शब्द का अर्थ बताते हुए कहते हैं-

एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआदंते दविए वोसड्ढकाए समणेत्ति वच्चे ॥२॥

छाया - अत्रापि श्रमणोऽनिश्रितोऽनिदानः आदानज्ञातिपातश्च मृषावादश्च बहिद्धश्च क्रोधश्च मानश्च मायाश्च लोभश्च प्रेमं च इत्येव यतो यत आदानमात्मनः प्रद्वेषहेतून् ततस्तत आदानात् पूर्वं प्रतिविरतः प्राणातिपातात् स्याद् दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः श्रमण इति वाच्यः ।

अन्वयार्थ - (एत्थवि समणे) जो साधु पूर्वोक्त गुण समूह में वर्तमान है, उसे श्रमण भी कहना चाहिए (अणिस्सिए अणियाणे) जो शरीर आदि में आसक्त नहीं है तथा जो किसी भी सांसारिक फल की कामना नहीं करता है (अतिवायं च मुसावायं च) एवं किसी प्राणी का घात नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है (बहिद्धं च) मैथुन और परिग्रह नहीं करता है (कोहं च मायं च माणं च लोहं च पिज्जं च दोसं च) क्रोध, मान, माया और लोभ तथा प्रेम और द्वेष नहीं करता है (इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ) इसी प्रकार जिन जिन बातों से इस लोक और परलोक में अपनी हानी दीखती है तथा जो जो अपने आत्मा के द्वेष के कारण हैं (तओ तओ पाणाइवाया आदाणातो पुव्वं पडिविरते) उन-उन प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारणों से पहले ही जो निवृत्त है (दंते दविए वोसड्ढकाए समणेत्ति वच्चे सिया) तथा जो इन्द्रियजयी, मुक्ति जाने योग्य और शरीर के परिशोधन से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए ।

भावार्थ - जो साधु पूर्वोक्त गुणों से युक्त होकर शरीर आदि में आसक्त न रहता हुआ अपने तप आदि का सांसारिक सुख आदि फल की कामना नहीं करता है एवं प्राणातिपात नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह नहीं करता है क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम और द्वेष नहीं करता है तथा जिन-जिन कार्यों से कर्म बन्ध होता है अथवा आत्मा द्वेष का पात्र बनता है उन-उनसे निवृत्त होकर इन्द्रियों का विजय करता है एवं मुक्ति जाने की योग्यता प्राप्त करके शरीर का परिशोधन नहीं करता है, उसे श्रमण कहना चाहिए ।

टीका - अत्राप्यनन्तरोक्ते विरत्यादिके गुणसमूहे वर्तमानः श्रमणोऽपि वाच्यः, एतद्गुणयुक्तेनापि भाव्यमित्याह- निश्चयेनाधिक्येन वा 'श्रितो' निश्रितः न निश्रितोऽनिश्रितः-क्वचिच्छरीरादावप्यप्रतिबद्धः, तथा न विद्यते निदानमस्येत्य- निदानो-निराकाङ्क्षोऽशेषकर्मक्षयार्थी संयमानुष्ठाने प्रवर्तते, तथाऽऽदीयते-स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं- कषायाः परिग्रहः सावधानुष्ठानं वा, तथाऽतिपातनमतिपातः, प्राणातिपात इत्यर्थः, तं च प्राणातिपातं जपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेद्, एवमन्यत्रापि क्रिया योजनीया । तथा मृषा-अलीको वादो मृषावादस्तं च, तथा 'बहिद्धं'ति मैथुनपरिग्रहौ तौ च सम्यक् परिज्ञाय परिहरेत् । उक्ता मूलगुणाः, उत्तरगुणानधिकृत्याह-क्रोधम्-अप्रीतिलक्षणं मानं-स्तम्भात्मकं मायां च-परवञ्चनात्मिकां लोभं-मूर्च्छास्वभावं तथा प्रेम-अभिष्वङ्गलक्षणं तथा द्वेषस्वपरात्मनोर्बाधारूपमित्यादिकं संसारावतरणमार्गं मोक्षाध्वनोऽपध्वंसकं सम्यक् परिज्ञाय परिहरेदिति । एवमन्यस्मादपि यतो यतः कर्मोपादानाद्-इहामुत्र चानर्थहेतोरात्मनोऽपायं पश्यति प्रद्वेषहेतुंश्च ततस्ततः प्राणातिपातादिकादनर्थदण्डादादानात् पूर्वमेव-अनागतमेवात्महितमिच्छन् प्रतिविरतो भवेत्-सर्वस्मादनर्थहेतुभूतादुभयलोकविरुद्धाद्वा सावधानुष्ठानान्मुमुक्षुर्विरतिं कुर्यात् । यश्चैवंभूतो दान्तः शुद्धो द्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया व्युत्सृष्टकायः स श्रमणो वाच्यः ॥२॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त विरति आदि गुणसमूह में वर्तमान साधु को श्रमण भी कहना चाहिए । श्रमण बनने के लिए आगे कहे जानेवाले गुण भी होने चाहिए, यह शास्त्रकार कहते हैं-जो पुरुष शरीर आदि किसी पदार्थ में बहुत अधिक आसक्त रहता है, उसे निश्रित कहते हैं परन्तु ऐसा न होकर जो शरीर आदि किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं है, उसे अनिश्रित कहते हैं । तथा जो निदान नहीं करता है अर्थात् जो दूसरे पदार्थ की इच्छा को छोड़कर कर्मक्षय के लिए संयम का अनुष्ठान करता है (उसे श्रमण कहना चाहिए) जिससे आठ प्रकार के कर्म बाँधे जाते

हैं, उसे 'आदान' कहते हैं। कषाय, परिग्रह अथवा सावधानुष्ठान निदान हैं। (वह नहीं करना चाहिए) एवं प्राणियों की हिंसा को प्राणातिपात कहते हैं, उसे जपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग देना चाहिए। इसी तरह सर्वत्र क्रिया जोड़ लेनी चाहिए। तथा झूठ बोलना मृषावाद है, वह नहीं बोलना चाहिए, मैथुन तथा परिग्रह को बहिर्द्व कहते हैं, इन्हें जपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग देना चाहिए। मूलगुण बता दिये गये अब शास्त्रकार उत्तरगुणों के विषय में कहते हैं-अप्रीति को क्रोध कहते हैं, गर्व को मान कहते हैं, दूसरे को ठगना माया है, मूर्च्छा का नाम लोभ है, अनुराग को प्रेम कहते हैं तथा अपने और दूसरे को बाधा जिससे होती है, उसे द्वेष कहते हैं। ये पूर्वोक्त क्रोध आदि संसार में उतरने के मार्ग हैं और मोक्ष को नष्ट करनेवाले हैं, इसलिए इन्हें अच्छी तरह जानकर त्याग देना चाहिए। इसी तरह दूसरे भी जो-जो कर्मबन्ध के कारण हैं, जिनसे इस लोक और परलोक में अपनी हानि दीख पड़ती हो, तथा जिनसे आत्मा द्वेष का पात्र होता हो, उन प्राणातिपात आदि सभी अनर्थदण्डों से अपनी भलाई चाहनेवाला पुरुष पहले ही निवृत्त हो जाय। मोक्ष की इच्छा रखनेवाला जीव सावधानुष्ठानरूप जितने अनर्थ के कारण कर्म हैं अथवा जो बातें दोनों लोकों से विरुद्ध हैं, उसको त्याग देवे। जो पुरुष इन गुणों से युक्त शुद्धात्मा, द्रव्यभूत और शरीर का परिशोधन न करने के कारण व्युत्सृष्टकाय है, उसे श्रमण कहना चाहिए ॥२॥



- साम्प्रतं भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमधिकृत्याह-

- अब भिक्षुशब्द के प्रवृत्ति निमित्त को कहते हैं -

एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खूत्ति वच्चे ॥३॥

छाया - अत्रापि भिक्षुरनुन्नतो विनीतो नामको दाब्तो द्रव्यो व्युत्सृष्टकायः संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अध्यात्मयोगशुद्धादान् उपस्थितः स्थितात्मा संख्याय परदत्तभोजी भिक्षुरिति वाच्यः।

अन्वयार्थ - (एत्थवि) माहन शब्द के अर्थ में जितने गुण पूर्व सूत्र में वर्णित हैं, वे सभी गुण भिक्षु शब्द के अर्थ में भी होने चाहिए (अणुन्नए) इसके सिवाय जो अनुन्नत यानी अभिमानी नहीं है (विणीए) गुरु आदि के प्रति विनय करता है (नामए) तथा उनके प्रति नम्रता के साथ व्यवहार करता है (दंते) इन्द्रिय और मन को बश रखता है (दविए) मुक्ति जाने के योग्य गुणों से युक्त रहता है (वोसट्ठकाए) शरीर का शोधन आदि शृंगार नहीं करता है (विरूवरूवे परीसहोवसग्गे संविधुणीय) तथा नाना प्रकार के परिषह और उपसर्गों को सहन करता है (अज्झप्पजोगसुद्धादाणे) अध्यात्म योग से जिसका शुद्ध चरित्र है (उवट्ठिए) जो सच्चारित्र को लेकर खड़ा है (ठिअप्पा) जो मोक्षमार्ग में स्थित है (संखाए परदत्तभोई) जो संसार को असार जानकर दूसरे के द्वारा दिये हुए आहार को खाकर अपना निर्वाह करता है (भिक्खूत्ति वच्चे) उस साधु को भिक्षु कहना चाहिए।

भावार्थ - माहन पुरुष के सूत्र में जो गुण सूत्रकार ने बताये हैं, उन सभी गुणों से युक्त जो पुरुष अभिमान नहीं करता है, गुरु आदि के प्रति विनय और नम्रता से व्यवहार करता है, जो इन्द्रिय और मन को बश में रखता हुआ मुक्ति के योग्य गुणों से युक्त है, एवं शरीर का शृंगार न करता हुआ नाना प्रकार के परिषह और उपसर्गों को सहन करता है, एवं जिसका चरित्र अध्यात्म योग के प्रभाव से निर्मल है, जो उत्तम चरित्र को हाथ में लेकर उपस्थित है और मोक्षमार्ग में स्थित है, तथा जो संसार को सार रहित जानकर दूसरे के द्वारा दिये हुए भिक्षात्र मात्र से अपना निर्वाह करता है, उसे भिक्षु कहना चाहिए।

टीका - 'अत्रापि'ति, ये ते पूर्वमुक्ताः पापकर्मविरत्यादयो माहनशब्दप्रवृत्तिहेतवोऽत्रापि भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्ते त एवावगन्तव्याः, अमी चान्ये, तद्यथा-न उन्नतोऽनुन्नतः तत्र द्रव्योन्नतः शरीरेणोच्छ्रितः भावोन्नतस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः, तत्प्रतिषेधात्तपोनिर्जरामदमपि न विधत्ते। विनीतात्मतया प्रश्रयवान् यतः, एतदेवाह-विनयालङ्कृतो गुर्वादावादेशदानोद्यतोऽन्यदा वाऽऽत्मानं नामयतीति नामकः-सदा गुर्वादौ प्रह्वो भवति, विनयेन वाऽष्टप्रकारं कर्म नामयति, वैयावृत्योद्यतोऽशेषं

पापमपनयतीत्यर्थः । तथा 'दान्तः' इन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां, तथा 'शुद्धात्मा' शुद्धद्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया 'व्युत्सृष्टकायश्च' परित्यक्तदेहश्च यत्करोति तदर्शयति-सम्यग् 'विधूय' अपनीय 'विरूपरूपान्' नानारूपाननुकूलप्रतिकूलान्-उच्चावचान् द्वाविंशतिपरीषहान् तथा दिव्यादिकानुपसर्गाश्चेति, तद्विधूननं तु यत्तेषां सम्यक् सहनं-तैरपराजितता, परीषहोपसर्गाश्च विधूयाध्यात्मयोगेन-सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धम्-अवदातमादानं चारित्रं यस्य स शुद्धादानो भवति । तथा सम्यगुत्थानेन-सच्चारित्रोद्यमेनोत्थितः तथा स्थितो-मोक्षाध्वनि व्यवस्थितः परीषहोपसर्गैरप्यधृष्य आत्मा यस्य स स्थितात्मा, तथा 'संख्याय' परिज्ञायासारतां संसारस्य दुष्प्रापतां कर्मभूमेर्बोधेः सुदुर्लभत्वं चावाप्य च सकलां संसारोत्तरणसामग्रीं सत्संयमकरणोद्यतः परैः-गृहस्थैरात्मार्यं निर्वर्तितमाहारजातं तैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी, स एवगुणकलितो भिक्षुरिति वाच्यः ॥३॥

टीकार्थ - पापकर्म से विरति आदि गुण जो पूर्वसूत्र में माहन शब्द की प्रवृत्ति के कारण कहे गये हैं, वे सभी भिक्षु शब्द की प्रवृत्ति के कारण भी जानने चाहिए । तथा इनसे भिन्न दूसरे गुण भी भिक्षु में होने चाहिए वे ये हैं-जो पुरुष उन्नत यानी उद्धत होकर नहीं रहता है (वह भिक्षु कहलाने योग्य है) यहाँ उन्नत दो प्रकार का समझना चाहिए, एक द्रव्योन्नत और दूसरा भावोन्नत । जो शरीर से उद्धत होता है, वह द्रव्योन्नत है और जो भाव से उन्नत है यानी अभिमानरूपी ग्रह से ग्रस्त है, वह भावोन्नत है । उन्नत होकर रहने का निषेध है इसलिए जो तप और निर्जरा का मद भी नहीं करता है तथा विनयवान् है, वही भिक्षु है । यह शास्त्रकार कहते हैं कि- विनय से अलङ्कृत पुरुष गुरु के आदेश देते समय अथवा दूसरे समय अपने को नम्र रखता हुआ सदा गुरु के आधीन होकर रहता है । अथवा विनय के द्वारा वह अपने आठ प्रकार के कर्मों को नम्र कर देता है । गुरु आदि की वैयावच्च करने में तत्पर पुरुष समस्त पापों को निवृत्त करता है, यह अर्थ है । तथा जो इन्द्रिय और मन को वश में रखता है, जो शुद्ध द्रव्यभूत है, जो शरीर का प्रतिकर्म न करता हुआ शरीर को व्युत्सर्ग किया हुआ है, वह भिक्षु है । वह पुरुष जो कार्य करता है सो शास्त्रकार दिखलाते हैं-जो नाना प्रकार के छोटे और बड़े अनुकूल और प्रतिकूल बाईस परिषह तथा दिव्य आदि उपसर्गों को झटक देता है, वह भिक्षु है । इनको झटकना यह है कि इन्हें सहन करना, इनसे पराजित न होना । इस प्रकार जो परीषह और उपसर्गों को झटकाकर मन को अच्छे ध्यान में प्रवृत्त कर अध्यात्म योग यानी धर्मध्यान से शुद्ध चारित्रवाला है तथा जो सच्चारित्र के उद्योग को लेकर खड़ा है, जो मोक्ष मार्ग में स्थित है, जिसका मन परीषह और उपसर्गों से दबाया नहीं जाता है, तथा संसार को असार और कर्मभूमि की प्राप्ति की दुर्लभता एवं बोध की प्राप्ति की कठिनता समझकर जो संसार से पार होने की समस्त सामग्री को पाकर उत्तम संयम के अनुष्ठान में तत्पर है तथा गृहस्थों के द्वारा अपने वास्ते बनाये हुए आहार को उनके द्वारा पाकर खाता है, वह उक्त गुणयुक्त पुरुष भिक्षु कहलाने योग्य है ॥३॥



- तथाऽत्रापि गुणगणे वर्तमानो निग्रन्थ इति वाच्यः, अमी चान्ये अपदिश्यन्ते, तद्यथा-

- तथा उक्त गुणों में वर्तमान साधु निग्रन्थ भी कहा जाता है, परन्तु उसमें दूसरे गुण भी बताये जाते हैं वे ये हैं-

एत्थवि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजते सुसमिते सुसामाइए
आयवायपत्ते विऊ दुहओवि सोयपलिच्छिन्ने णो पूयासक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ
णियागपडिवन्ने समि(म)यं चरे दंते दविए वोसड्डकाए निग्गंथेत्ति वच्चे ॥४॥ से
एवमेव जाणह जमहं भयंतारो ॥ तिबेमि ॥ इति सोलसमं गाहानामज्झयणं समत्तं ॥
पढमो सुअक्खंधो समत्तो ॥१॥

छाया - अत्रापि निग्रन्थः एकः एकविद् बुद्धः संछिन्नस्रोताः सुसंयमः सुसमितः सुसामाधिकः आत्मवादप्राप्तः

विद्वान् द्विधाऽपि स्रोतः परिच्छिन्नः नो पूजासत्कारलाभार्थी धर्मविद् गियागप्रतिपन्नः समतां चरेद् दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः निगूढ इति वाच्यः । १४ तदेवमेव जानीत यदहं भयप्रातारः । इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ - (एतद्वि) भिक्षु के गुण भी निर्ग्रन्थ में होने चाहिए तथा (एने) जो रागद्वेष से रहित होकर रहता है (एगविऊ) यह आत्मा अकेला ही परलोक में जाता है, यह जो जानता है (बुद्धे) जो वस्तुस्वरूप को जानता है (संच्छिन्नसोए) जिसने आश्रव द्वारों को रोक दिया है (सुसंजते) जो बिना प्रयोजन अपने शरीर की क्रिया नहीं करता है अथवा जो अपनी इन्द्रिय और मन को वश में रखता है (सुसमिते) जो पांच प्रकार की समितियों से युक्त है (सुसामाहए) जो शत्रु और मित्र में समभाव रखता है (आयवायपत्ते) जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता है (विऊ) जो समस्त पदार्थों के स्वभाव को जानता है (दुहओवि सोयपलिच्छिन्ने) जो द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार से संसार में जाने के स्रोत यानी मार्ग को छेदन किया हुआ है (नो पूयासत्कारलाभट्टी) जो पूजा, सत्कार और लाभ की इच्छा नहीं रखता है (धम्मट्टी) किन्तु धर्म की इच्छा रखता है (धम्मविऊ) जो धर्म को जानता है (गियागपडिवत्ते) जो मोक्ष मार्ग को प्राप्त है (समियं चरे) वह समभाव से विचरे (दंते दविए वोसट्टकाए गिगंथेत्ति वच्चे) उक्त गुणों से युक्त जो पुरुष जितेन्द्रिय, मुक्ति जाने योग्य तथा शरीर का व्युत्सर्ग किया हुआ है, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए (से एव मेव जाणह जमहं) सो आप लोग इसी तरह समझें जैसा हमने कहा है (भयंतारो) क्योंकि भय से जीवों की रक्षा करनेवाले सर्वज्ञ अन्यथा नहीं कहते हैं ।

भावार्थ - पूर्वसूत्र में भिक्षु के जितने गुण बताये हैं, वे सभी निर्ग्रन्थ में भी होने चाहिए । इसके सिवाय ये गुण भी निर्ग्रन्थ में आवश्यक हैं-जो पुरुष रागद्वेष रहित है और "यह आत्मा परलोक में अकेली ही जाती है" यह जानता है तथा जो पदार्थों के स्वभाव को जाननेवाला और आश्रवद्वारों को रोककर रखनेवाला है, जो प्रयोजन के बिना अपने शरीर की कोई क्रिया नहीं करता है अथवा इन्द्रिय और मन को वश में रखता है, जो पांच प्रकार की समितियों से युक्त रहकर शत्रु और मित्र में समभाव रखता है, तथा जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता है, जो समस्त पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाला विद्वान् है, एवं जिसने संसार में उतरने के मार्ग को द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार से छेदन किया है, तथा पूजा, सत्कार और लाभ की इच्छा न रखता हुआ केवल धर्म की इच्छा रखता है, जो धर्म के तत्त्व को जाननेवाला और मोक्षमार्ग को प्राप्त है, उसे समभाव से विचरना चाहिए । इस प्रकार जो जितेन्द्रिय, मुक्ति जाने योग्य और शरीर का व्युत्सर्ग किया हुआ है, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से कहते हैं कि- यह मैंने तीर्थङ्कर देव से सुनकर आप लोगों से जो कहा है सो आप सत्य समझें क्योंकि जगत् की भय से रक्षा करनेवाले श्री तीर्थङ्कर देव अन्यथा उपदेश नहीं करते हैं ।

टीका - 'एको' रागद्वेषरहिततया ओजाः, यदिवाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यटनसुमान् स्वकृतसुखदुःखफल-भाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया सदैकक एव भवति । तत्रोद्यतविहारी द्रव्यतोऽप्येकको भावतोऽपि, गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावतस्त्वेकक एव भवति । तथैवमेवात्मानं परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित्, न मे कश्चिददुःख-परित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित्, यदिवैकान्तविद्-एकान्तेन विदितसंसारस्वभावतया मौनीन्द्रमेव शासनं तथ्यं नान्यदित्येवं वेत्तीत्येकान्तवित्, अथवैको-मोक्षः संयमो वा तं वेत्तीति, तथा बुद्धः-अवगततत्त्वः सम्यक् छिन्नानि-अपनीतानि भावस्रोतांसि-संवृतत्वात्कर्माश्रवद्वाराणि येन स तथा, सुष्ठु संयतः-कूर्मवत्संयतगात्रो निरर्थककायक्रियारहितः सुसंयतः, तथा सुष्ठु पञ्चभिः समितिभिः सम्यगितः-प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ सुसमितः, तथा सुष्ठु समभावतया सामायिकं-समशत्रुमित्रभावो यस्य स सुसामायिकः । तथाऽऽत्मनः-उपयोगलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाशभाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येकसाधारणशरीरतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनन्त-धर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः, सम्यग्यथावस्थितात्मस्वतत्त्ववेदीत्यर्थः । तथा 'विद्वान्' अवगतसर्वपदार्थस्वभावो न व्यत्ययेन पदार्थानवगच्छति । ततो यत् कैश्चिदभिधीयते, तद्यथा-एक एवात्मा सर्वपदार्थस्वभावतया विश्वव्यापी श्यामाकतण्डुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वपरिमाणो वेत्यादिकोऽसद्भूताभ्युपगमः परिहृतो भवति, तथाविधात्मसद्भावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याभावादित्यभिप्रायः । तथा 'द्विधाऽपी'ति द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यस्रोतांसि यथास्वं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तयः भावस्रोतांसि तु शब्दादिष्वेवानुकूलप्रतिकूलेषु रागद्वेषोद्भवास्तान्युभयरूपाण्यपि स्रोतांसि संवृतेन्द्रियतया रागद्वेषाभावाच्च परिच्छिन्नानि येन स परिच्छिन्नस्रोताः, तथा नो पूजासत्कारलाभार्थी किन्तु निर्जरापेक्षी सर्वास्तपश्चरणादिकाः क्रिया विदधाति, एतदेव दर्शयति-धर्मः-श्रुतचारित्राख्यस्तेनार्थः स एव वाऽर्थो धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थीति, इदमुक्तं भवति-न पूजाद्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते अपितु धर्मार्थीति । किमिति ? यतो धर्मं यथावत्तत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि

सम्यग् वेत्ति, धर्मं च सम्यग् जानानो यत्करोति तद्दर्शयति-न्यागो-मोक्षमार्गः सत्संयमो वा तं सर्वात्मना भावतः प्रतिपन्नः न्यागपडिवन्नोत्ति, तथाविधश्च यत्कुर्यात् तदाह-‘समि(म)यं’ति समतां समभावरूपां वासीचन्दनकल्पां ‘चरेत्’ सततमनुतिष्ठेत् । किंभूतः सन् ?, आह-दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायश्च, एतद्गुणसमन्वितः सन् पूर्वोक्तमाहनश्रमण-भिक्षुशब्दानां यत् प्रवृत्तिनिमित्तं तत्समन्वितश्च निर्ग्रन्थ इति वाच्यः । तेऽपि माहनादयः शब्दा निर्ग्रन्थशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताविनाभाविनो भवन्ति, सर्वेऽप्येते भिन्नव्यञ्जना अपि कथञ्चिदेकार्था इति ॥४॥

साम्प्रतमुपसंहारार्थमाह-सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतीनुद्दिश्येदमाह-‘से’ इति तद्यन्मया कथितमेवमेव जानीत यूयं, नान्यो मद्वचसि विकल्पो विधेयः, यस्मादहं सर्वज्ञाज्ञया ब्रवीमि । न च सर्वज्ञा भगवन्तः परहितैकरता भयात्प्रातारो रागद्वेषमोहान्यतरकारणाभावादप्यथा ब्रुवते, अतो यन्मयाऽऽदीतः प्रभृति कथितं तदेवमेवावगच्छतेति । इतिः परिसमाप्त्यर्थो ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च नैगमादयः सप्त, नैगमस्य सामान्यविशेषात्मकतया संग्रहव्यवहार-प्रवेशात्संग्रहादयः षट्, समभिरूढेत्यंभूतयोः शब्दनयप्रवेशानैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दाः पञ्च, नैगमस्या-प्यन्तर्भावाच्चत्वारो, व्यवहारस्यापि सामान्यविशेषरूपतया सामान्यविशेषात्मनोः संग्रहजुसूत्रयोरन्तर्भावात्संग्रहजु-सूत्रशब्दास्त्रयः ते च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकान्तर्भावाद्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाभिधानौ द्वौ नयौ, यदिवा सर्वेषामेव ज्ञानक्रिययोरन्तर्भावात् ज्ञानक्रियाभिधानौ द्वौ, तत्रापि ज्ञाननयो ज्ञानमेव प्रधानमाह, क्रियानयश्च क्रियामिति । नयानां च प्रत्येकं मिथ्यादृष्टित्वाज्ज्ञानक्रिययोश्च परस्परापेक्षिततया मोक्षाङ्गत्वादुभयमत्र प्रधानं, तच्चोभयं सत्क्रियोपेते साधौ भवतीति, तथा चोक्तम्-

‘‘णायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइयव्वमेव इति जो उवएसो सो नओ नाम ॥१॥
सव्वेसिंपि णयाणं बहुविहवत्तव्वयं णिसामेत्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहु ॥२॥’’

त्ति, समाप्तं च गाथाख्यं षोडशमध्ययनं, तत्समाप्तौ च समाप्तः प्रथमः श्रुतस्कन्ध इति ॥ [ग्रन्थाग्रम् ८१०६]

टीकार्थ - जो पुरुष एक है यानी रागद्वेष रहित होने के कारण अकेला है अथवा इस संसार रूपी चक्र में प्राणी अकेले ही अपने पुण्य-पाप का फल भोगते हुए घूमते हैं, वे अकेले ही परलोक में जाते हैं, इसलिए वे अकेले ही हैं । साधु उत्कृष्ट विहारी हैं, वे द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार से अकेले रहते हैं परन्तु गच्छ में रहनेवाले साधु कारण पाकर द्रव्य से अकेले भी रह सकता है । परन्तु वे भी भाव से तो अकेले ही हैं । तथा “यह आत्मा अकेला ही परलोक में जाता है” यह जो जानता है तथा “मुझे कोई भी दुःख से रक्षा करनेवाला सहायक नहीं है” ऐसा जो जानता है अथवा संसार का सच्चा स्वरूप एकान्तरूप से जानने के कारण जिनेन्द्र का शासन ही सत्य है, दूसरे शासन सत्य नहीं, यह जो जानता है, अथवा संयम या मोक्ष को एक कहते हैं, उसे जो जानता है, जो वस्तुस्वरूप को जाननेवाला है तथा जिसने कर्म के आश्रव द्वारों को रोककर अपने भावस्रोतों का छेदन किया है तथा कछुए के समान जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को खींचकर वश कर रखा है तथा निरर्थक शरीर की क्रिया नहीं करता है एवं जो पाँच समितियों से युक्त रहकर ज्ञान आदि मोक्षमार्ग को प्राप्त है, जो शत्रु और मित्र में समभाव रखता है, तथा “यह जीव उपयोगरूप है और इसके असंख्यात प्रदेश हैं, यह संकोच और विकाश से युक्त है, वह अपने किये हुए कर्म का फल भोगता है, वह प्रत्येक और साधारण शरीर में अलग-अलग स्थित है, वह द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य है, वह अनन्तधर्मवाला है” ऐसी व्याख्या को आत्मवाद कहते हैं, उसको जिसने प्राप्त किया है अर्थात् जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, तथा जो समस्त पदार्थों के स्वभाव को ठीक ठीक जानता हुआ, उन्हें विपरीतरूप से नहीं जानता है, (इन गुणों के कहने से, जो लोग यह कहते हैं कि-“एक ही आत्मा सब पदार्थों का स्वभाववाला होने के कारण विश्वव्यापी है । वह श्यामाक के दाने के बराबर है अथवा अँगूठे के पर्व के बराबर है” इत्यादि उनकी मिथ्याअर्थ की मान्यता हटाई गई है क्योंकि एक ही आत्मा विश्वव्यापी

1. तेऽपि च । 2. फलसाधकं, अन्यथा प्रमाणवाक्यतापातात् । 3. ज्ञातो ग्रीहीतव्येऽग्रीहीतव्ये चैवार्थे यतितव्यमेवेति य उपदेशः स नयो नाम ॥१॥
4. सर्वेषामपि नयानां बहुविधां वक्तव्यतां निशम्य तत्सर्वनयविशुद्धं यच्चरणगुणस्थितः साधुः ॥१॥

है, इसका साधक कोई प्रमाण नहीं है, यह अभिप्राय है) तथा द्रव्य और भावभेद से दो स्रोत होते हैं। उनमें अपने-अपने विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति द्रव्यस्रोत है और अनुकूल शब्दादि विषयों में राग होना तथा प्रतिकूल शब्दादि में द्वेष होना भावस्रोत है, जो साधु विषयों से इन्द्रियों को हटाकर तथा रागद्वेष को त्यागकर इन दोनों स्रोतों का छेदन किया हुआ है, जो पूजा, सत्कार और लाभ की कामना न करता हुआ केवल निर्जरा के लिए तप आदि समस्त क्रियायें करता है, (यही शास्त्रकार दिखाते हैं) जो श्रुत और चारित्ररूप धर्म की कामना करता है, आशय यह है कि वह पूजा आदि के लिए नहीं किन्तु धर्म के लिए क्रिया में प्रवृत्ति करता है, कारण यह है कि वह धर्म को और स्वर्गादिप्राप्तिरूप उसके फल को अच्छी तरह से जानता है (धर्म को अच्छी तरह से जाननेवाला पुरुष जो कार्य करता है, उसे शास्त्रकार दिखलाते हैं) नियाग, मोक्षमार्ग अथवा सत्संयम को कहते हैं, उसको वह पुरुष सब प्रकार से प्राप्त करता है। ऐसे पुरुष को जो करना चाहिए, वह शास्त्रकार दिखलाते हैं, उस पुरुष को सब के प्रति समभाव से व्यवहार करना चाहिए, जैसे चन्दन कुठार चलानेवाले और लगानेवाले दोनों में समभाव रखता है। अर्थात् वह सबको समानरूप से गन्ध देता है, उसी तरह साधु को भी समभाव से रहना चाहिए। कैसा होकर साधु यह करे सो शास्त्रकार कहते हैं-जितेन्द्रिय, मुक्ति जाने योग्य और काय का व्युत्सर्ग करनेवाला होकर साधु पूर्वोक्त कार्य करे। जो साधु इन गुणों से युक्त होकर पूर्वोक्त माहन, श्रमण और भिक्षु शब्द के अर्थों से युक्त है, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए। पूर्वोक्त माहन आदि शब्द भी निर्ग्रन्थ शब्द के प्रवृत्ति निमित्त (अर्थ) के बिना नहीं होते इसलिए माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ शब्द भिन्न भिन्न वर्णों से युक्त होकर भी कथञ्चित् एक ही अर्थ के वाचक हैं ॥४॥

अब शास्त्रकार इस अध्ययन को समाप्त करते हुए कहते हैं-श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यवर्ग से कहते हैं-मैंने आप लोगों से जो कुछ कहा है, उसे आप सत्य समझें, मेरे वचन में किसी प्रकार की शङ्का न करें क्योंकि मैंने सर्वज्ञ की आज्ञा से ये बातें कही हैं। सर्वज्ञ भगवान् दूसरे जीवों के हित करने में तत्पर रहते हैं वे सबको भय से बचानेवाले हैं, उनमें रागद्वेष और मोहरूप कारण नहीं है, इसलिए वे अन्यथा उपदेश नहीं करते हैं, इसलिए मैंने आदि से जो कुछ कहा है, उसको आप उसी तरह से समझें। इति शब्द समाप्ति अर्थ का द्योतक है। ब्रवीमि पूर्ववत् है। अनुगम कह दिया गया अब नय कहने का अवसर है, वे नय नैगम आदि सात हैं। नैगम नय सामान्य और विशेषरूप होने से संग्रह और व्यवहार में गतार्थ होता है इसलिए संग्रह आदि छः नय हैं। समभिरूढ और इत्थंभूत नय का शब्द नय में प्रवेश हो जाने से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, और शब्द ये पाँच नय हैं। नैगमनय भी व्यवहारनय में अन्तर्भूत हो जाता है इसलिए चार ही नय हैं। व्यवहार भी सामान्य और विशेषरूप है, इसलिए सामान्य विशेषरूप संग्रह और ऋजु सूत्र में उसका अन्तर्भाव हो जाता है, इस कारण संग्रह, ऋजुसूत्र, और शब्द ये तीन नय हैं। ये तीन नय भी द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक में अन्तर्भूत होते हैं इसलिए द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दो नय हैं। अथवा सभी नयों का ज्ञान और क्रिया में अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए ज्ञान और क्रिया नामक दो नय हैं। उनमें ज्ञाननय ज्ञान को ही प्रधान कहता है और क्रिया नय क्रिया को प्रधान बताता है। वस्तुतः अलग-अलग सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं और ज्ञान तथा क्रिया ये दोनों परस्पर की अपेक्षा से मोक्ष के अङ्ग हैं, इसलिए इस दर्शन में ये दोनों ही प्रधान हैं। ये दोनों ही उत्तम क्रिया करनेवाले साधु में रहते हैं। ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य वस्तु को जानकर, उनको ग्रहण करने और त्याग करने के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए, इस उपदेश को नय कहते हैं। सब नयों के अनेक कारण प्रकार के वक्तव्यों को सुनकर उसी को सब नय से विशुद्ध समझना चाहिए, जो उत्तम चारित्र में स्थित साधु आचरण करता है।

इस प्रकार गाथानामक सोलहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ और उसके समाप्त होने से प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।



॥ इति श्रीमच्छीलाङ्गाचार्यविरचितविवरणयुतः
सूत्रकृताङ्गीयः प्रथमः श्रुतस्कन्धः ॥

परिशिष्ट-१

मूल श्लोकों की अनुक्रमणिका

मूलश्लोक	पृष्ठ	मूलश्लोक	पृष्ठ	मूलश्लोक	पृष्ठ
प्रथममध्ययनम्		जहा अस्साविणि णावं	७५	सव्वप्पगं विउक्कस्सं	५८
अगारमावसंतावि आरणा	४२	जहा य पुढवीधूमे	१८	सिद्धा य ते अरोगा य	१४
अणंते निइए लोए	१०३	जाणं कारणऽणाउट्टी	६८	सुद्धे अपावए आया	११
अन्नाणियाणं वीमंसा	६१	जे एवं नाभिजाणंति	५९	संति पंच महब्भूया	७
अपरिमाणं वियाणाई	१०४	जे केइ तसा पाणा	१०५	संति पंच महब्भूया	३०
अमणुजसमुप्पायं	९०	जे ते उ वाइणो एवं	२५	संतिमे तउ आयाणा	७०
असंबुडा अणादीयं	९५	जं किंचि उ पूइकडं	७७	द्वितीयमध्ययनम्	
अह तं पवेज्ज बज्झं	५५	तमेव अवियाणंता	७८	अगं वणिएहिं	१६२
अहावरं पुरक्खायं	६७	ते णावि संधिं णच्चा णं	४३	अणिहे सहिए सुसंबुडे	१५७
अहिअप्पाऽहियपण्णाणे	५६	ते णावि संधिं णच्चा णं	४४	अदक्खुव ! दक्खुवाहियं	१६८
आघायं पुण एगेसिं	४७	ते णावि संधिं णच्चा णं	४४	अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया	१३०
इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं	७४	ते णावि संधिं णच्चा णं	४५	अब्भागमितंमि वा दुहे	१७३
इणमत्रं तु अन्नाणं	८०	ते णावि संधिं णच्चा णं	४५	अभविंसु पुरावि भिक्खुवा	१७६
इह संबुडे मुणी जाए	९१	तं च भिक्खू परित्राय	९८	अह पास विवेगमुट्ठिए	१२०
ईसरेण कडे लोए	८१	दुहओ [ते] ण विणस्संति	३१	अहिगरणकडस्स भिक्खुणो	१४८
उच्चावयाणि गच्छंता	४६	धम्मपण्णवणा जा सा	५७	इणमेव खणं वियाणिया	१७५
उदगस्स पभावेण	७८	नत्थि पुण्णे व पावे वा	२२	इह जीवियमेव पासहा	१६५
उरालं जगतो जोगं	१०७	न तं सयं कडं दुक्खं	४९	इहलोगदुहावहं विऊ	१४१
ए गंधे विउक्कम्म	६	नाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोति	४५	उट्ठियमण्णारमेसणं	१२७
ए पंच महब्भूया	९	पत्तेअं कसिणे आया	२०	उत्तर मणुयाण आहिया	१५३
एताणुवीति मेधावी	९२	परियाणिआणि संकंता	५४	उवणीयतरस्स ताइणो	१४७
एते उ तउ आयाणा	७१	पुढवी आउ तेऊ य	३७	उसिणोदगततभोइणो	१४८
एते जिया भो ! न सरणं	९७	पुत्तं पिया समारब्भ	७१	एगे चरे (२) ठाणमासणे	१४३
एतेहिं तिहिं ठाणेहिं	१०९	पंच खंधे वयंतेगे	३३	एवं कामेसणं विऊ [दु]	१६४
एयं खु नाणिणो सारं	१०८	बुज्झिज्जत्ति तिउट्ठिज्जा	१	एवं मत्ता महंतरं धम्ममिणं	१५९
एवमन्नाणिया नाणं	६०	मणसा जे पउस्संति	७२	एवं लोगमि ताइणा	१५२
एवमेगे उ पासत्था	५३	माहणा समणा एगे	५९	एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी	१७७
एवमेगे गियायड्डी	६४	माहणा समणा एगे	८३	कामेहि संधवेहि गिद्धा	११९
एवमेगेति जप्पंति	१९	मिलक्खू अमिलक्खूस्स	६०	कुजए अपराजिए जहा	१५१
एवमेगे वियक्काहिं	६५	लोगकायं गिसामिज्जा	१०२	गारंपिअ आवसे नरे	१७०
एवमेयाणि जंपंता	५१	वणे मूडे जहा जंतू	६३	छन्नं च पसंस णो करे	१५६
एवं तक्काइ साहिंता	६६	वित्तं सोयरिया चेव	५	छंदेण पले इमा पया	१५०
एवं तु समणा एगे	५७	वुसिए य विगयगेही	१०८	जइ कालुणियाणि कासिया	१२८
एवं तु समणा एगे	७६	सए सए उवट्ठाणे	९३	जइ वि य कामेहि	१२९
एवं तु समणा एगे	७९	सएहिं परियाएहिं	८४	जइ वि य णगिणे किसे चरे	१२१
अंधो अंधं पंहं णितो	६३	सपरिगहा य सारंभा	९९	जत्थऽत्थमिए अणाउले	१४५
कडेसु घासमेसेज्जा	१००	समिए उ सया साहु	११०	जमिणं जगती पुढो जगा	११८
कुव्वं च कारयं चेव	२४	सयं कडं न अण्णेहिं	४९	जययं विहराहि जोगवं	१२३
चित्तमंतमचित्तं वा	२	सयं तिवायए पाणे	३	जे इह आरंभनिस्सिया	१६६
जस्सिं कुले समुप्पन्ने	४	सयंभुणा कडे लोए	८३	जे इह सायाणुगा नरा	१६२
जविणो मिगा जहा संता	५४	सयं सयं पसंसंता	६७	जे एय चरंति आहियं	१५४

मूलश्लोक	पृष्ठ	मूलगाथाङ्ग	पृष्ठ	मूलगाथाङ्ग	पृष्ठ
जे यावि अणायगे सिया	१३५	अप्पेगे नायओ दिस्स	१९६	जो तुमे नियमो चिण्णो	२०४
जे यावि बहुस्सुए सिया	१२०	अप्पेगे पडिभासंति	१८८	जं किंचि अणगं तात !	१९९
जे विन्नवणाहिऽजोसिया	१६१	अप्पेगे पलियंते सिं	१९२	तत्थ दंडेण संवीते	१९२
जो परिभवई परं जणं	१३४	अप्पेगे वइ जुंजंति	१८९	तत्थ मंदा विसीअंति	२२७
डहरा बुद्धा य पासह	११६	अभुंजिया नमी विदेही	२२६	तत्तेण अणुसिद्धा ते	२१८
ण य संखयमाहु जीवितं	१६७	अह ते परिभासेज्जा	२१५	तमेगे परिभासंति	२१३
ण य संखयमाहु जीवियं	१५०	अहिमे सुहुमा संग्गा	१९५	तुब्भे भुंजह पाएसु	२१६
णवि ता अहमेव लुप्पए	१२५	अहिमे संति आवट्ठा	२०२	तं च भिक्खु परिण्णाय	२४०
ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं	१५८	आयदंडसमायारे	१९१	तं च भिक्खु परित्राय	२०२
णो अभिकंखेज्ज जीवियं	१४६	आसिले देविले चेव	२२६	धम्मपन्नवणा जा सा	२१९
णो काहिंए होज्ज संजए	१५५	आहंसु महापुरिसा	२२५	पयाता सूर रणसीसे	१८३
णो पीहे ण यावर्पणुणे	१४४	इच्चेव णं सुसेहंति	१९९	पाणाइवाते वट्ठंता	२३१
तम्हा दवि इक्ख पंडिए	१३१	इच्चेव पडिलेहंति	२११	पिया ते थेरओ तात !	१९६
तयसं व जहाइ से रयं	१३३	इमं च धम्ममादाय	२२३	पुट्टे गिम्हाहितावेणं	१८५
तिरिया मणुया य दिव्वगा	१४५	इमं च धम्ममादाय	२४२	पुट्टो य दंसमसएहिं	१९०
तिविहेण वि पाण मा हणे	१७६	इहमेगे उ भासंति	२२९	बहुगुणप्पगप्पाइ	२२२
दुक्खी मोहे पुणो पुणो	१६९	उट्ठमहे तिरियं वा	२४१	मा एयं अवमग्रंता	२३१
दूरं अणुपस्सिया मुणी	१३६	उत्तरा महुरल्लावा	१९७	मायरं पियरं पोस	१९७
देवा गंधर्व्वरक्खसा	१९८	एते ओघं तरिस्संति	२४०	मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स	२०९
धम्मस्स य पारए मुणी	१४०	एते पुक्खं महापुरिसा	२२७	रागदोसाभिभूयप्पा	२२१
धूणिगा कुलियं व	१२६	एते भो कसिणा फासा	१९३	रायाणो रायऽमच्चा य	२०३
पण्णसमते सया जए	१३७	एते सइ अचायंता	१८७	लिता तिक्वाभितावेणं	२१७
पुरिसो रम पावकम्पुणा	१२२	एते संग्गा मणूसाणं	२०१	वत्थगन्धमलंकारं	२०४
बहवे पाणा पुट्टो सिया	१४०	एरिसा जा वई एसा	२१९	विबद्धो नातिसंगेहिं	२००
बहुजणमणमंमि संवुडो	१३८	एवमेगे उ पासत्था	२३२	सदा दत्तेसणा दुक्खा	१८६
महयं पलिगेव जाणिगा	१४२	एवमेगे उ पासत्था	२३६	सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं	२२०
मा पच्छ असाधुता भवे	१६५	एवं तुब्भे सरागत्था	२१५	सूरं मण्णइ अप्पाणं	१८२
मा पेह पुरा पणामए	१५४	एवं तु समणा एगे	२०९	संखाय पेसलं धम्मं	२२४
मायाहिं पियाहिं लुप्पइ	११७	एवं निमंतणं लद्धं	२०७	संखाय पेसलं धम्मं	२४२
वाहेण जहा व विच्छए	१६३	एवं विप्पडिवन्नेगे	१८९	संतत्ता केसलोएणं	१९१
वित्तं पसवो य नाइओ	१७२	एवं समुट्ठिए भिक्खु	२१३	संबद्धसमकप्पा उ	२१४
विरया वीरा समुट्ठिया	१२४	एवं सेहेवि अप्पुट्टे	१८४	हत्थऽस्सरहजाणेहिं	२०३
वेयालियमग्गमागओ	१३२	एहिं ताय ! घरं जामो	१९८		
सउणी जह पंसुगुडिया	१२७	को जाणइ विक्कवातं	२१०		
सम अन्नयरंमि संजमे	१३६	गन्तुं ताय ! पुणाऽऽगच्छे	१९८		
सव्वे सयकम्मकप्पिया	१७४	चिरं दुइज्जमाणस्स	२०५		
सव्वं नच्चा अहिट्ठए	१७१	चोइया भिक्खुचरियाए	२०५		
सीओदगपडिदुगुळिणो	१४९	जया हेमंतमासंमि	१८४		
सेहंति य णं ममाइणो माय	१२९	जहा गंडं पिलागं वा	२३३		
सोच्चा भगवानुसासणं	१७१	जहा नई वेयरणी	२३८		
संबुज्झह किं न बुज्झह ?	११४	जहा मंधादए नाम	२३४		
संवुडकम्मस्स भिक्खुणो	१६०	जहा रुक्खं वणे जायं	२००		
		जहा विहंगमा पिंगा	२३४		
		जहा संगामकालमि	२०८		
		जे उ संगामकालमि	२१२		
		जेहिं काले परिक्रंतं	२३८		
		जेहिं नारीण संजोगा	२३९		

तृतीयमध्ययनम्

अचयंता व लूहेणं	२०६
अणाययमपस्संता	२३७
अप्पेगे खुधियं भिक्खुं	१८७

चतुर्थमध्ययनम्

अदु अंजणि अलंकारं	२८१
अदु कण्णणासच्छेदं	२६९
अदु णाइणं च सुहीणं वा	२६१
अदु साविथापवाएणं	२७२
अन्नं मणेण चित्तेति	२७०
अवि धूयराहि सुण्हाहिं	२६०
अवि हत्थपादछेदाए	२६८
अह णं से होई उवलद्धो	२७९
अह तत्थ पुणो णमयंती	२५७
अह तं तु भेदमावन्नं	२७७
अह सेऽणुतप्पई पच्छा	२५७
आमंति य उस्सविद्या	२५४
आसंदियं च नवसुत्तं	२८५

मूलश्लोक	पृष्ठ	मूलगाथा	पृष्ठ	मूलगाथा	पृष्ठ
इच्छेवमाहु से वीरे.....	२९१	आसूरियं नाम महाभितावं.....	३०९	हत्थेहि पाएहि य बंधिरुणं.....	३२२
एयं भयं ण सेयाय.....	२९०	ईगालरासिं जलियं सजोतिं.....	३०७	षष्ठमध्ययनम्	
एवं खु तासु विप्रप्यं.....	२८९	एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे.....	३३५	अणुत्तरगं परमं महेसी.....	३५१
एवं बहुहिं कयपुव्वं.....	२८८	एयाई फासाई फुसंति बालं.....	३३३	अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं.....	३४५
ओए सया ण रज्जेज्जा.....	२७६	एवं तिरिक्खे मणुयासु (म)रेसुं.....	३३६	अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता.....	३५१
ओसियावि इत्थिपोसेसु.....	२६६	एवं मए पुट्टे महाणुभावे.....	३०९	उहुं अहेयं तिरियं दिसासु.....	३४२
कुडं तगरं च अगहं.....	२८१	कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा.....	३०८	कहं च णाणं कह दंसणं से.....	३४०
कुव्वंति पावगं कम्मं.....	२७३	केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ.....	३०९	किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं.....	३५८
कुव्वंति संधवं ताहिं.....	२६३	कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं.....	३२४	कोहं च माणं च तहेव मायं.....	३५८
घडिगं च सडिडिमयं च.....	२८५	चत्तारि अगणीओ समारभित्ता.....	३११	खेयन्नए से कुसलासुपुत्ते (ले महेसी)..	३४१
चंदालगं च करगं च.....	२८४	चिया महंतीउ समारभित्ता.....	३२७	गिरीवरे वा निसहाऽऽययाणं.....	३५०
णीवारमेवं बुज्जेज्जा.....	२७५	छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं.....	३१६	जहा सयंभू उदहीण सेट्टे.....	३५३
जइ केसिआ णं मए भिक्खू.....	२७८	जइ ते सुता लोहितपूअपाई.....	३१७	जोहेसु णाए जह वीससेणे.....	३५४
जतुकुंभे जोइउवगूढे.....	२७३	जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा.....	३०७	ठिईण सेट्टा लवसत्तमा वा.....	३५६
जाए फले समुप्पत्ते.....	२८६	जे केइ बाला इह जीवियड्डी.....	३०३	धणियं व सद्धान अणुत्तरं उ.....	३५२
जुवती समणं बूया.....	२७१	जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं.....	३३४	दाणाण सेट्टं अभयप्पयाणं.....	३५५
जे एयं उंछं अणुगिद्धा.....	२६०	जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे.....	३१०	पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य.....	३३९
जे मायरं च पियरं च.....	२५०	तहिं च ते लोलणसंपगाढे.....	३१३	पुट्टे णभे चिड्डइ भूमिबड्डिए.....	३४७
तम्हा उ वज्जए इत्थी.....	२५८	तिक्खाहिं सूलाहि निवाययंति.....	३२६	पुढोवमे धुणइ विगयगेही.....	३५७
दारुणि सागपागाए.....	२८०	तिव्वं तसे पाणिणो धावरे य.....	३०४	महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे.....	३४९
नो तासु चक्खु संधेज्जा.....	२५३	ते तिप्पमाणा तलसंपुडंव.....	३१७	रक्खेसु णाते जह सामली वा.....	३५२
नंदीचुण्णगाई पाहराहि.....	२८२	ते संपगाढंसि पवज्जमाणा.....	३२४	सयं सहस्साण उ जोयणाणं.....	३४७
पासे भिसं णिसीयंति.....	२५२	ते हम्ममाणा णरगे पडंति.....	३१५	सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स.....	३४९
पूयफलं तंजोलयं.....	२८३	नो चेव ते तत्थ मसीभवन्ति.....	३१२	से पन्नया अक्खयसागरे वा.....	३४५
बहवे गिहाई अवहट्ठु.....	२६४	पक्खिप्प तासुं पययंति बाले.....	३१८	से पव्वए सद्दमहप्पगासे.....	३४८
बालस्स मंदयं बीयं.....	२७४	पागब्भि पाणे बहुणं तिवाति.....	३०५	से भूइपण्णे अणिएअचारी.....	३४४
मणबंधणेहिं गेगेहिं.....	२५५	पाणेहि णं पाव विओजयंति.....	३१४	से वारिया इत्थी सराइभत्तं.....	३५९
राओवि उड्डिया संता.....	२८७	पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं.....	३०१	'से' वीरिएणं पडिपुत्रवीरिए.....	३४६
वत्थाणि य मे पडिलेहेहि.....	२८०	बाला बला भूमिमणुक्कमंता.....	३२३	से सव्वदंसी अभिभूयनाणी.....	३४३
समणं पि दद्दुदासीणं.....	२६२	बाला बला भूमिमणुक्कमंता.....	३३०	सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं.....	३६१
सयणासणेहिं जोगेहिं.....	२५२	बाहु पकत्तंति य मूलतो से.....	३२२	हत्थीसु एरावणमाहु णाए.....	३५३
सयं दुक्कडं च न वदति.....	२६६	भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं.....	३३१	सप्तममध्ययनम्	
सीहं जहा व कुणिमेणं.....	२५६	भंजंति बालस्स वहेण पुट्टी.....	३२८	अण्णातपिण्डेणऽहियासएज्जा.....	३८६
सुतमेतमेवमेगेसिं.....	२६९	रुहारे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे.....	३१२	अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स.....	३८५
सुद्धं रवति परिसाए.....	२६५	वेतालिए नाम महाभितावे.....	३३०	अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धि.....	३८०
सुफणिं च सागपागाए.....	२८२	सदा कसिणं पुण घम्मठाणं.....	३२८	अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी.....	३८८
सुविसुद्धलेसे मेहावी.....	२९०	समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा.....	३२०	अस्सिं च लोए अदुवा परत्था.....	३६६
सुहुमेणं तं परिक्कम्म.....	२५१	समूसिया तत्थ विसुणियंणा.....	३२५	इहेग मूढा पवयंति मोक्खं.....	३७४
संडासगं च फणिहं च.....	२८३	समूसियं नाम विधूमठाणं.....	३२५	उज्जालओ पाण निवातएज्जा.....	३६८
संलोकणिज्जमणगारं.....	२७४	सया कसिणं पुण घम्मठाणं.....	३१६	उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति.....	३७६
षष्ठमध्ययनम्		सयाजला नाम नदी भिदुग्गा.....	३३२	उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा.....	३७८
अणासिया नाम महासियाला.....	३३२	सया जलं नाम निहं महंतं.....	३२७	एयाई कायाई पवेदिताई.....	३६४
अप्पेण अप्यं इह वंचइत्ता.....	३१९	से सुच्चई नगरवहे व सदे.....	३१४	कम्मं परित्राय दगंसि धीरे.....	३८२
अभिजुजिया रुद्ध असाहुकम्मा.....	३२९	संतच्छणं नाम महाहितावं.....	३११	कुलाई जे धावइ साउगाई.....	३८४
अयं व तत्तं जलियं सजोइ.....	३२३	संबाहिया दुक्कडिणो थणंति.....	३३१	गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा.....	३७२
अहावरं सासयदुक्खधम्मं.....	३२१	हण छिंदह भिंदह णं दहेति.....	३०६	जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे.....	३६५

मूलश्लोक	पृष्ठ	मूलगाथाद्वयं	पृष्ठ	मूलगाथाद्वयं	पृष्ठ
जातिं च वृद्धिं च विणासयन्ते	३७१	अग्निदे सदपासेसु	४४०	गुतो वईय य समाहिपतो	४५७
जे धम्मलङ्घं विणिहाय भुंजे	३८१	अद्वावयं न सिक्खिज्जा	४२८	जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं	४६१
जे मायरं च पियरं च हिच्चा	३८३	अणुस्सओ उरालेसु	४३६	जे केइ लोगंमि उ अकिरियआया	४५८
जे मायरं वा पियरं च हिच्चा	३६७	आघायकिच्चमाहेउं	४२०	निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी	४६५
णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि	३८४	आसूणिमक्खिरागं च	४२७	पुढो य छंदा इह माणवा उ	४५८
थणंति लुप्पंति तस्संति कम्मी	३८१	आसंदी पलियंके य	४३०	मुसं न बूया मुणि अत्तगामी	४६३
पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो	३७५	उच्चारं पासवणं	४२९	वेराणुगिद्धे णिचयं करेति	४५३
पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि	३७८	उद्देसियं कीयगडं	४२६	सव्वं जगं तू समयानुपेही	४५१
पुढवी य आऊ अगणीय य वाऊ	३६४	एतेहिं छहिं काएहिं	४२३	सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु	४४८
पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा	३६९	एयमडं सपेहाए	४२१	सीहं जहा खुब्भमिगा चरंता	४६१
भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा	३८८	एवं उदाहु निगंथे	४३२	सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा	४६३
मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य	३७७	कयरे धम्मे अक्खाए	४१८	सुयक्खायधम्मे वित्तिगिच्छतिण्णे	४४७
सव्वाइं संग्गाइं अइच्च धीरे	३८७	गिहे दीवमपासंता	४३९	संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं	४६२
संबुज्झहा जंतवो ! माणुसत्तं	३७२	गंधमल्लसिणाणं च	४२६	एकादशमध्यायनम्	
हरियाणि भूताणि विलंबगाणि	३७०	चिच्चा वित्तं च पुते य	४२२	अइमाणं च मायं च	४९१
हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति	३७९	जसं कित्तिं सलोयं च	४३१	अणुपुव्वेण महाघोरं	४७३
अष्टममध्यायनम्		जेणेहं णिव्वहे भिक्खू	४३१	अतरिंसु तरंतेगे	४७४
अणु माणं च मायं च	४०७	तत्थिमा तइया भासा जं	४३३	अह णं वयमावन्नं	४९४
अतिक्कम्पंति वायाए	४०९	धोयणं रयणं चेव	४२५	अहावरा तसा पाणा	४७५
अप्पपिंडासि पाणासि	४१३	नन्नत्थ अंतराएणं	४३६	आयगुते सया दंते	४८५
एयं सकम्मवीरियं	४०१	परमते अन्नपाणं	४२९	इमं च धम्ममादाय	४९०
एवमादाय मेहाव	४०४	परिगहनिविट्ठाणं	४१८	उद्धं अहे य तिरियं	४७८
कडं च कज्जमाणं च	४१०	पलितंचणं च भयणं च	४२४	एयं खु णाणिणो सारं	४७७
कम्ममेगे पवेदंति	३९६	पाणहाओ य छत्तं च	४२८	एवं तु समणा एगे	४८८
जहा कुम्मे सअंगाइं	४०६	पुढवी उ अगणी वाऊ	४२२	एवं तु समणा एगे	४९०
जे याबुद्धा महाभागा	४११	भासमाणो न भासेज्जा	४३२	कयरे मग्गे अक्खाए	४७०
जे य बुद्धा महाभागा	४१२	माया पिया ण्हुसा भाया	४२०	जइ णो केइ पुच्छिज्जा	४७२
जं किंचुवक्कमं जाणे	४०६	माहणा खत्तिया वेस्सा	४१८	जइ वो केइ पुच्छिज्जा	४७२
झाणजोगं समाहट्टु	४१४	मुसावायं बहिद्धं च	४२४	जहा आसाविणिं नावं	४८९
ठाणी विविहठाणाणि	४०३	लद्धे कामे ण पत्थेज्जा	४३७	जहा ढंका य कंका य	४८८
तेसिंपि तवो ण सुद्धो	४१२	सुस्सुसाणो उवासेज्जा	४३८	जे य दाणं पसंसंति	४८३
दव्विए बंधणमुम्मे	४०२	संपसारी कयकिरिए	४२७	जे य बुद्धा अतिकंता	४९३
दुहा वेयं सुयक्खायं	३९५	हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज	४३७	जेसिं तं उवकप्पंति	४८२
नेयाउयं सुयक्खायं	४०३	होलावायं, सहीवायं	४३४	तमेव अविजाणंता	४८६
पमायं कम्ममाहंसु	३९७	दशममध्यायनम्		तहा गिरं समारब्भ	४८१
पाणे य णाइवाएज्जा	४०९	अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू	४५६	ते य बीओदगं चेव	४८६
मणसा वयसा चेव	३९९	आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे	४५९	तं मगं गुतरं सुद्धं	४७१
माइणो कट्टु माया य	३९९	आधं मईमं मणुवीय धम्मं	४४४	दाण्डया य जे पाणा	४८२
वेराइं कुव्वईं वैरी	४००	आदीणवित्तीव करेति पावं	४५०	दुहओवि ते ण भासंति	४८३
सत्थमेगे तु सिक्खंता	३९७	आयं ण कुज्जा इह जीवियड्डी	४५४	निव्वाणं परमं बुद्धा	४८४
सह संमइए णच्चा	४०५	आहाकडं चेव निकाममीणे	४५२	पभू दोसे निराकिच्चा	४७८
साहरे हत्थपाए य	४०७	आहाकडं वा ण णिकामएज्जा	४५४	पुढवीजीवा पुढो सत्ता	४७४
संपरायं णियच्छंति	४००	इत्थीसु या आरय मेहुणाओ	४५६	पूईकम्मं न सेविज्जा	४८०
नवममध्यायनम्		उद्धं अहे यं तिरियं दिसासु	४४६	भूयाइं च समारंभ	४८०
अइमाणं च मायं च	४४१	एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा	४५५	विरए गामधम्मैहिं	४९१
अकुसीले सया भिक्खू	४३५	एतेसु बाले य पकुव्वमाणे	४४९	बुज्झमाणे पाणाणं	४८५

मूलश्लोक	पृष्ठ	मूलगाथा	पृष्ठ	मूलगाथा	पृष्ठ
सच्चाहिं अणुजुत्तीहिं	४७६	न तस्स जाई व कुलं व ताणं	५६०	कओ कयाइ मेधावी	६१९
सुद्धं मगं विराहिता	४८९	न पूयणं चेव सिलोयकामी	५७०	जमतीतं पडुपत्रं	६०३
संधए साहुधम्मं च	४९२	पन्नामयं चेव तवोमयं च	५६३	जीवितं पिडुओ किच्चा	६१२
संवुडे से महापत्रे	४७९	भिक्षू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मं	५६५	जे धम्मं सुद्धमक्खंति	६१९
संवुडे से महापत्रे	४९४	विसोहियं ते अणुकाहयंते	५५२	जं मयं सच्चसाहूणं	६२२
हणंतं पाणुजाणेज्जा	४८१	सयं समेच्चा अदुवाऽवि सोच्चा	५६७	ण कुव्वती महावीरे	६२१
द्वादशमध्ययनम्		से पेसले सुहुमे पुरिसजाए	५५६	ण मिज्जई महावीरे	६१०
अण्णाणिया ता कुसलावि संता	५०५	चतुर्दशमध्ययनम्		णिट्ठियडा व देवा वा	६१७
अणोवसंखा इति ते उदाहू	५१०	अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे	५९४	णीवारे व ण लीएज्जा	६१४
अत्ताण जो जाणति जो य लोगं	५३३	अलूसए णो पच्छन्नभास	५९७	तहिं तहिं सुयक्खायं	६०५
अहोऽवि सत्ताण विउट्ठणं च	५३४	अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी	५८७	तिउट्ठई उ मेधावी	६०८
केई निमित्ता तहिया भवंति	५२१	अह तेण मूढेण अमूढगस्स	५८३	पंडिए वीरियं लद्धं	६२१
चत्तारि समोसरणाणिमाणि	५०४	अहाबुइयाई सुसिक्खएज्जा	५९६	भावणाजोगसुद्धप्पा	६०७
जमाहु ओहं सलिलं अपारगं	५२७	उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु	५८५	भूणहिं न विरुज्जेज्जा	६०७
जहाहिं अंधे सह जोतिणावि	५१८	एवं तु सेहेवि अपुट्ठधम्मं	५८४	से हु चक्खू मणुस्साणं	६१५
जे आयओ परओ वावि णच्चा	५३२	एवं तु सेहंपि अपुट्ठधम्मं	५७५	षोडशमध्ययनम्	
जे रक्खसा वा जमलोइया वा	५२६	ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं	५७६	अहाह भगवं-एवं से दंते	६२६
डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे	५३१	कालेण पुच्छे समियं पयासु	५८६	एत्थवि गिगंथे एगे एगविऊ	६३१
णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति	५१७	गंधं विहाय इह सिक्खमाणो	५७३	एत्थवि भिक्षू अणुत्तए विणीए	६३०
ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा	५१६	जहा दियापोतमपत्तजातं	५७४	एत्थवि समणे अणित्थिए	६२९
ते एवमक्खंति समिच्च लोगं	५२२	जे ठाणओ य सयणासणे य	५७७		
ते चक्खु लोगंसिह गायगा उ	५२५	डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए उ	५७९		
ते णेव कुव्वंति ण कारवंति	५२९	ण तेसु कुज्जे ण य पव्वहेज्जा	५८१		
ते तीयउप्पन्नमाणगयाई	५२९	णेता जहा अंधकारंसि राओ	५८४		
न कम्मुणा कम्म खर्वेति बाला	५२७	णो छाये णोऽविय लूसएज्जा	५९०		
सच्चं असच्चं इति चिंतयंता	५०९	निसम्म से भिक्षू समीहियडं	५८८		
सदेसु रूवेसु असज्जमाणो	५४६	भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणे	५९१		
सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए	५१२	वणंसि मूढस्स जहा अमूढा	५८२		
संवच्छरं सुविणं लक्खणं च	५२०	विउट्ठितेणं समयाणुसिडे	५८०		
त्रयोदशमध्ययनम्		सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि	५७८		
अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्षू	५६६	समालवेज्जा पडिपुन्नभासी	५९५		
अहो य राओ अ समुड्डिएहिं	५५९	से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च	५९८		
आहतहीयं तु पवेयइस्सं	५५०	संकेज्ज याऽसंकिताभाव भिक्षू	५९३		
आहतहीयं समुपेहमाणे सच्चेहिं	५७१	संखाइ धम्मं च वियागरंति	५८९		
एगंतकूडेण उ से पलेइ	५५८	हासं पि णो संघति पावधम्मं	५९२		
एयाई मयाई विगिंच धीरा	५६४	पञ्चदशमध्ययनम्			
एवं ण से होइ समाहिपत्ते	५६२	अकुव्वओ णवं णत्थि	६०९		
कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे	५६९	अणुत्तरे य ठाणे से	६२०		
केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं	५६८	अणुसासणं पुढो पाणी	६१३		
जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता	५५७	अणेसिसस्स खेयत्ते	६१५		
जे कोहणे होइ जगड्ढास	५५४	अभविंसु पुरा धी(वी)रा	६२२		
जे भासवं भिक्षू सुसाहुवादी	५६१	इओ विद्धंसमाणस्स	६१८		
जे माहणो खत्तियजायए वा	५५९	इत्थिओ जे ण सेवंति	६११		
जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति	५५३	अंतए वितिगिच्चाए	६०४		
जे विग्गहीए अन्नायभासी	५५५	अंताणि धीरा सेवंति	६१६		
णिक्किंचणे भिक्षू सुलूहजीवी	५६०	अंतं करंति दुक्खाणं	६१८		

परिशिष्ट-२ नियुक्तिकार के श्लोकों की अनुक्रमणिका

नियुक्तिश्लोक	पृष्ठ	नियुक्तिश्लोक	पृष्ठ	नियुक्तिश्लोक	पृष्ठ
प्रस्तावना के पेज नंबर					
अक्खरगुणमतिसंघायणाए	२३	आसेवणाय दुविहो	५७२	दव्वाभिलावचिंधे वेदे भावे	२४४
आदाणिय संकलिया	२६	इद्धिरससायगुरुया	४६७	दव्वं च परसुमादी	११२
उवसग्गभीरुणो थीवसस्स	२६	उज्जमधितिधीरत्तं सौंडीरत्तं	३९१	दुग्गइफलवादीणं तिन्नि	४६६
करणं च कारओ य कडं	१५	उद्देसंमि य तइए	११४	दुविहंमि वि तिगभेदो	४६६
कालो जो जावइओ जं	१९	उवक्कमिओ संजमविग्घकरे	१८०	धम्मो पुव्वुद्धिओ भावधम्मणे	४१६
खंधेसु दुप्पएसविएसु	१७	उवसग्गम्मि य छक्कं	१७९	धम्मंमि जो दढा मई सो	२४९
चाउद्धसिरत्तीए सउणी	२०	एक्केक्को य चउव्विहो	१८०	धाडोति य हाडोति	२९५
ठिइअणुभावे बंधणनिकाय-	२२	एते चेव य दोषा	२४९	पढमे संथवसंलवमाइहि	२४६
ण विणा आगासेणं कीरइ	१९	ओहयहये य तहियं	२९५	पढमे संबोहो अनिच्चया य	११४
णामं ठवणा दविए	३९	ओहे सीलं विरती	३६२	पढमंमि य पडिलोमा	१८०
तइए आहाकम्मं कडवाई	३२	अंतगयफिफिसाणि	२९५	पण्णरससु अज्झयणेसु	६२५
तानि चामुनि- 'बवं च बालवं'	२०	अंबे अंबरिसी चेव	२९५	परिभासिया कुसीला	३६२
तित्थयरे य जिणवरे सुत्तकरे	११	कण्णोड्ढासकरचरणदसणड्ढण	२९६	पासत्थोसण्णकुशीलसंघवो	४१६
दव्वं तु पोण्डयादी भावे	१४	कप्पेति करकएहिं	२९६	पाहन्ने महसहो दव्वे	३३७
दव्वं पओगवीसस	१६	कप्पंति काणिणीमंसगाणि	२९६	पुढवीफासं अण्णाणुवक्कमं	२९५
दो चेव सुयक्खंधा	२५	कामं तु सासयमिणं	११३	पूच्छिसु जंबुणामो अज्ज	३३८
धम्मो समाहि मग्गो	२६	कुम्भीसु य पयणेसु	२९६	पूयुरुहिरकेसड्ढिवाहिणी	२९६
निक्खेवो गाहाए चउव्विहो	२५	को वेएई अकयं ? कयनासो	२६	पञ्चण्हं संजोए अण्णगुणाण	१०
परिचत्तिसीलकुसील-	२६	खेत्तं बहुओघपयं	१७९	पञ्चसु विसएसु सुभेसु	४४२
बीए नियईवाओ अण्णाणिय	३२	खेत्तंमि जंमि खेत्ते	४६६	पंथो मग्गो णाओ	४६७
भावे पओगवीसस	२०	गाहावित्तो तिविहो सुत्ते	५७२	फलगलयंदोलणवित्त-	४६६
महपंचभूय एकप्पए य	३२	गाहीकया व अत्था	६२५	भावतहं पुण नियमा	५४७
मूलकरणं पुण सुत्ते तिविहे	२१	गंधो पुव्वुद्धिओ दुविहो	५७२	भावसमाहि चउव्विह	४४२
मूलकरणं सरीराणि पंच तिस	१६	जइ ताव निज्जरमओ	१३३	भावसमोसरणं पुण	४९६
वइजोमेण पभासियम-	२३	जह णाम गोयमा	३६३	भावे उ णिरयजीवा कम्मुदओ	२९३
वण्णादिया य वण्णादिएसु	२१	जह णाम मंडलग्गेण	२३५	भावो जीवस्स सवीरियस्स	३९१
सउणि चउप्पयं नायं	२०	जह वा विसगंडूसं	२३५	भीए य पलायंते समंततो	२९६
ससमयपरसमयपरुवणा य	२६	जह सुत्तं तह अत्थो	५४७	भंजंति अंगमंगाणि	२९६
सुत्तेण सुत्तिया चिय अत्था	२४	जहा नाम सिरिधराओ	२३५	मणवइकाया आणापाणू	३९१
सूयगडं अंगाणं बित्तिं तस्स	१४	जं पढमस्संतिमए बित्तिस्स	६००	मीरासु सुंठएसु य	२९६
सोरुण जिणवरमतं गणहारी	२२	ण करोति दुक्खमोक्खं	५४७	लोइयलोउत्तरिओ दुविहो	४१६
संघायणे य परिसाडणा य	१७	ण हू अफलथोवज्जिच्छि-	२६	विरिए छक्कं दव्वे	३९०
मूल सूत्र के पेज नंबर		णामतहं ठवणतहं	५४७	वेयालियं इह देसियंति	११३
अच्चित्तं पुण विरियं	३९०	णामादी ठवणादी दव्वादी	६००	वेयालियंमि वेयालगो य	११२
अत्थित्ति किरियवादी	४९६	णामं ठवणागाहा दव्वगाहा	६२५	सत्थं असिमादयं विज्जामंते	३९९
अफासुयपडिसेविय णामं	३६३	णामं ठवणा दविए खेत्ते	२४५	सम्मदिडी किरियावादी	४९७
असिपत्ते धणुं कुंभी	२९५	णामं ठवणादविए खेत्ते	२९४	सम्मप्पणिओ मग्गो	४६७
असियसयं किरियाणं	४९७	णामं ठवणादविए खेत्ते	४४२	समवसरणेज्जि छक्कं	४९६
असिसत्तिकोततोमरसूलतिसूलेसु	२९६	णामं ठवणा दविए खेत्ते	४६६	सव्वंपिय तं तिविहं	३९२
आगमओ पुण आदी	६००	णामं ठवणाधम्मो दव्वधम्मो	४१६	साडणपाडणतोदण	२९५
आगमणोआगमओ भावादी	६००	णिरए छक्कं दव्वं णिरया	२९३	सीले चउक्क दव्वे	३६२
आदाणे गहणंमि य	६००	तडतडतडस्स भज्जंति	२९६	सुसमत्थाज्जिज्जसमत्था	२४७
आयरिओज्जिय दुविहो	५७२	तम्हा ण उ वीसंभो	२४७	सूरा मो मन्न्ता	२४६
आयरियपरंपरण	५४७	तवसंजमणाणेसुवि, जइ	१३३	सोलसमे अज्झयणे	६२५
आयाण पदेणाज्जि	४४२	तवसंजमप्पहाणा गुणधारी	४६७	सो सिक्खगो य दुविहो	५७२
आवरणे कवयादी	३९०	तेसि मताणुमएणं	४९७	हत्थे पाए ऊरू	२९६
		थुइणिक्खेवो चउहा	३३८	हेउसरिसेहिं अहेउएहिं	१८०
				होति पुण भावगाहा	६२५

परिशिष्ट-३

टीका के श्लोको की अनुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
प्रस्तावना के पेज नंबर		अपेक्षेत परं कश्चिद्यदि..... ३४		कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं २२	
अक्खरलंभेण समा २४		अमितो मित्तवेसेणं २००		कलानि वाक्यानि विलासिनीनां ४४८	
उक्तार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं ११		अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां १४२		कषाया यस्य नोच्छिन्ना ४१३	
एणेणवि से पुण्णे दोहिवि ३१		अवाप्य मानुषं जन्म १३८		काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य २५१	
एमेव य परिणामो १८		असियसयं किरियाणं ४६७		कार्यद्रव्यमनादिः स्यात् ३९	
एवं पंचवि वण्णा १८		अशाश्वतानि स्थानानि ४०४		कार्येषूपीषन्मतिमात्रिरीक्षते २५४	
खंडेहि खंडभेयं पयरब्भेयं १७		असयारं भाण तहा २४८		कालयहच्छनियतिस्वभावेष्व ४९७	
गणितेऽन्त्यविभक्ते तु २७		अहं(रुह)न् यदि सर्वज्ञो ६०४		कालो सहाव गियई ४९९	
गाहासोलसगाणं पिंडत्थो २७		अह एयाणं पगई २७०		कार्यं क्षुत्प्रभवं कदम्बमशनं १२५	
छाया य आयवो वा १८		अहवा को जुवईणं २४८		क्रियैव फलदा पुंसां ४५९	
जइ कालगमेगगुणं १८		अज्ञानिकवादितं नव ४९८		किं ताए पदियाए ? ४७७	
जइ सुक्कं एकगुणं १८		आकारैरिज्जितै र्गत्या ६२		किं सक्का वोचुं जे ४०२	
जइ सुक्किलमेगगुणं १८		आकुल्लेन मतिमता तत्त्वार्थगवेषणे ३९१		कुक्कुटसाध्यो लोको १५१	
दव्वस्स चलण पप्फंदणा १८		आकुल्लेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे ५८१		कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि ३८	
दुंदुभिसमारोहे भेए १७		आग्रही बत निनीषति युक्तिं ९५		कृशः काणः खड्गः श्रवणरहितः २७६	
नवि सीओ नवि उण्हो १८		आयरियसयासा व धारिण ५८९		केकय किराय हयमुह २९५	
पण्णवणिज्जा भावा २४		आसीदिदं तमोभूतम ८४		को एयाणं णाहिइ २४७	
पुव्वाणुपुव्वि हेडा समयाभेएण २७		इत एकनवते कल्पे ३८		कोद्धयओ को समचित्तु २५८	
मूढनइयं सुयं कालियं तु २८		इदं तत्त्वेनहसर्वस्वं २८६		को वीससेज्ज तासि २४७	
ये मय्यवशां व्यधुरिद्धबोधाः ११		इय भीसणंमि णिरए ३०३		कोहं माणं च मायं च २१३	
व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि ११		उच्चालियंमि पाए ७३		कोहं माणं च मायं च ३३८	
वर्षासु लवणममृतं शरदि ३१		उड्डमहे तिरियं वा जे ४०८		खिज्जइ मुहलावणं १८६	
शास्त्रं प्रयोजनञ्चेति ११		उण्हे करेइ सीयं सीए ५४७		गइलक्खणओ धम्मो ४१६	
स्वपरसमयार्थसूचकमनन्त ११		उद्यमाच्चरुचित्राणि ! ४९८		गतिप्रंशो मुखे दैन्यं १८६	
सीया णाइपगासा, छाया १८		उपभोगोपायपरो वाञ्छति ११९		गन्ता च नास्ति कश्चिद्रतयः ५१३	
मूल सूत्र के पेज नंबर		उपशमफलादिद्याबीजात्फलं २१०		गभीरश्चसिरा एते ४३०	
अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण २२२		उब्भेउ अंगुली सो २७०		गान्धर्वनगरतुल्या मायास्वप्नो ५१३	
अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण ३९१		एक एव हि भूतात्मा १८		ग्रामक्षेत्रगृहादीनां ४८७	
अच्छन्नियविसयसुहो पडइ ३०३		एकस्य जन्ममरणे १७३		ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां ३९०	
अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि ३१०		एकः प्रकुरुते कर्म ५६७		गिद्धमुहणिद्धउक्खितबन्ध- ३०३	
अच्छेद्योऽयमभेद्यो- ३१		एकः करेइ कम्मं फलमवि १७४		गुरवो यत्र पूज्यन्ते १९७	
अजरामरवद्दालः, क्लिश्यते ४६०		एकः परिभमउ जए ३३८		गेहंमि अग्निजालाउलंमि ५८३	
अण्णं भणन्ति पुरओ २४७		एकः सच्चक्खुगो जह २२१		गंगाए वालुया सागरे २४८	
अणुहूयदिद्धचिंतियसुय ५१९		एकं हि चक्षुरमलं सहजो १९०		गंधेसुय भद्दयपावएसु ३८६	
अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा ५३०		एगो मे सासओ अप्पा ४५५		चल्लुच्छलेइ जं होइ ३९२	
अन्नं पानं च वस्त्रं च ४१६		एतत्पूर्वश्चायं समासतो १५७		चित्तमेव हि संसारो ७३	
अन्यथाऽनुपपन्नत्वं ५३५		एतावानेव पुरुषो ६		चिंतिति कज्जमण्णं २४८	
अन्यथा कुम्भकारेण ८५		एतावानेव पुरुषो १६८		छलिया अवयवखंता ४२२	
अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् ५६२		एता हसन्ति च रुदन्ति च २६७		छिन्नपादभुजस्कन्धा- २९७	
अनेन व्रतभङ्गेन १३८		एरण्डकड्ढरासी जहा य २२१		जइ पविससि पायालं ३६७	
अपकारसमेन कर्मणा न ४०१		एवं बहुगावि मूढा ण २२१		जइ सोऽवि निज्जरमओ पडिसिद्धो ६२७	
अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भाव ५९७		अंबं वा निंबं वा अब्भासगुणेण २५३		जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं ३७३	
		कर्मगुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न ३२		जयति, णवणलणकुवलय ६२५	

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
जस्स धिई तस्स तवो	४३९	दुविलयलवोस बोक्स	२९४	ब्रुवाणोऽपि न्याय्यं	३६०
जह गेगलक्खणगुणा	४९९	देशे कुलं प्रधानं कुले	१५७	बायालीसेसणसंकडंमि	४६४
जह जह सुयमवगाहइ	४४३	दंडकलियं करिन्ता वच्चंति	१६७	बारवई य सुरद्धा मिहिल	२९४
जह पुण ते चेव मणी	४९९	धण्णा ते वरपुरिसा	२४८	भक्खेसु य भइयपावएसु	३८६
जह मम ण पियं दुक्खं	४४८	धर्मार्थं पुत्रकामस्य	२३५	भवकोटिभिरसुलभं	१९५
जह वा विससंजुतं भतं	५८३	न दैवमिति सञ्चिन्त्य	५९	भवति बले चायुष्कं	१५७
जातिरेव हि भावानां	३१	न दैवमिति संचिन्त्य	४९८	भुत्तभोगो पुरा जोऽवि	४६४
जातिरेव हि भावानां विनाशे	३४	न नरः सिंहरूपत्वात्	५३७	भूतेषु जङ्गमत्वं तस्मिन्	१५७
जीवे णं भंते ! हसमाणे	४३६	ननु पुनरिदमतिदुर्लभम्-	६१८	भोगे अवयवखंता पडंति	४२२
जो सहस्सं सहस्साणं	३३८	न पुनरिदमतिदुर्लभम्	१५७	मज्जं विसयकसाया णिद्दा	३९७
जं अज्जियं समीखल्लएहि	१४९	न मांसभक्षणे दोषो	३०५	मणुण्णं भोयणं भोच्चा	२२९
जं इच्छसि घेतुं जे	२५३	न मांसभक्षणे दोषो	६१०	मतिविभव ! नमस्ते	७३
जंतंतरभिज्जंतुच्छलंत-	३०३	न य लोणं लोणिज्जइ	२६५	ममाहमिति चैष	२
णायम्मि गिण्हयव्वे	६३३	न हि कालादीहिंतो	४९९	मया परिजनस्यार्थे	२५८
णवि रक्खंते सुकयं	२४७	न हि भवति निर्विगोपकम	५७६	मया परिजनस्यार्थे	३३४
णाह पिय कन्त सामिय	१२८	नाणस्स होइ भागी	४३८	महिला य रत्तमेत्ता	२४७
णाह पिय कंत सामिय	२५६	नाणस्स होइ भागी	५३२	महुरा य सूरसेणा पावा	२९४
णय तस्स तन्निमित्तो	७३	नान्वयः स हि भेदत्वात्	३२	माणुस्सखेतजाई	३७३
तज्ज्ञानं, तच्च विज्ञानं	२७२	नान्वयः स हि भेदत्वात्	५३७	माणुस्सखेतजाईकुल-	४७०
तणसंथारणिसन्नोऽवि	४४३	नित्यं सत्त्वमसत्त्वं	५३८	मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे	५९३
तणसंथारनिविण्णोवि	२२९	निर्वाणादिसुखप्रदे नरभवे	११५	मातापितृसहस्राणि	१७२
तण्हाइयस्स पाणं कूरो	३७३	नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि	३१	मातृवत्परदाराणि	६०६
तत्कुरुतोद्यममधुना	१५७	नैवास्ति राजराजस्य	४४३	मारेइ जियंतं पिहु	२४८
ततस्तेनाजितैर्द्रव्यैरक्षि	४२०	नोदकविलग्नगात्रो हि	३७७	मा वीसंभह ताणं	२४७
तत्त्वान्युपप्लुतानीति	५१६	पदमं नाणं तओ दया	५२३	मा होहि रे विसन्नो	३६७
तथा स्त्रीणां कृते प्रातृयुगस्य	६१०	पदमं नाणं तयो दया	३८०	मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा	२५४
तपांसि यातनाश्चित्राः	४२	पलिमंथ महं वियाणिया	१४३	मितमहुररिभियजं पुल्लएहि	२५६
तप्प्हा मिच्छद्दिड्डी सव्वेवि	४९९	पायकंतोरत्थलमुह-	३०३	मुक्ककंदकडाहुक्कदंत-	३०३
तह णिययवादसुविणिच्छियावि	४९९	पावा य चंडदंडा अणारिया	२९५	मुण्डं शिरो वदनमेत	२६२
तहवि गणणातिरेगो जह	२२१	पावं काऊण सयं अप्पाणं	५५४	मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्यं	३९८
तह सव्वे णयवाया	४९९	प्रमाणवदकविज्ञातो, यत्राऽर्थो	१२	मूलं दुच्चरियाणं हवइ	२४८
तहेव काणं काणत्ति	३५५	प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे	२३५	मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय	२२९
तावद्गजः प्रसृतदानगण्डः	१८२	प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं	६९	मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया	५९२
तिक्खं कुसग्गकङ्किय-	३०३	प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण	५०	मोहस्यायतनं धृतेरपचयः	४८७
तित्थयरो चउनाण	३६०	प्रियादर्शनमेवास्तु	२३२	मंसनिवर्ति काउं सेवइ	४८७
थोवाहारो थोवमणिओ अ	४९३	परं लोकाधिकं धाम	३८६	यत्तच्छपनिकेत्युक्तं	२८६
दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं	९२	पिब खाद च साधु	६	यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते	५११
दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं	६१९	पिब खाद च साधु शोभने !	१६८	यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः	४९८
ददाति प्रार्थितः प्राणान्	२८६	पियपुत्तभाइक्किङगा	२५१	यथा परेषां कथका विदग्धाः	३५९
ददाति शौचपानीयं	२८६	पिंडस्स जा विसोही समिईओ	५७२	यथाप्रकारा यावन्तः	५३४
दव्वं निद्दावेओ दंसणणा-	११५	पुप्फफलाणं च रसं	१६१	यदि शून्यस्तव पक्षो	५१३
द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः	२	पुराणं मानवो धर्मः	२२०	यदेव रोचते मह्यं	२८६
दानेन महाभोगाश्च देहिनां	५१६	पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो	२६	यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः	४५१
दीयते प्रियमाणस्य	३५५	पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो	३५९	यस्मिन्नेव हि सन्ताने	३८
दुःखं दुष्कृतसंक्षयाय	२२९	पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं	४	या गतिः क्लेशादग्धानां	१३०
दुःखात्मकेषु विषयेषु	२२९	फासेसु य भइयपावएसु	३८६	रायगिह मगह चंपा	२९४
दुर्गाहं हृदयं यथैव वदनं	२६९	बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते	५११	रिद्धी सहावतरला	१७२

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
रुवेसु य भद्रयपावएसु	३८६	सव्वेवि य कालाई इह	४९९		
रेवापयः किसलयानि च	१४२	सव्वेसिपि णयाणं	६३३		
रोवावंति रुवंति य	२४८	सव्वेसि पि नयाणं	१११		
लज्जागुणौघजननीं जननी	१३८	साकेय कोसला गयपुरं	२९४		
लङ्घेल्लियं च बोहिं अकरेतो	१७५	सामण्णमणुचरंतस्स	४९२		
लवणविहूणा य रसा	३७४	स्मितेन भावेन मदेन	६१०		
लुक्खमणुण्हमणिययं	२१०	सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः	४०४		
लोकेऽपि श्रूयते वादो	३५५	सुदुवि जियासु सुदुवि	२६९		
वइराड मच्छ वरणा अच्छा	२९४	सुस्सुसइ पडिपुच्छइ सुणेइ	५५२		
वयणविहत्तीकुसलो वओगयं	४३३	से ऐसो जस्स गुणा	३८५		
व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिंहा	२७८	सेणी गामो गोड्डी	१२८		
वर्षासु लवणमभूतं शरदि	३९०	सेयवियाविय णयरि	२९४		
वरि विस खइयं न	२५९	सो अत्थो वत्तव्वो जो भण्णइ	५९५		
वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं	१३८	संसड्डमसंसड्डा उद्धड तह	५६५		
विशारुभिरविनश्चरमपि	२१२	संसारदपलायनप्रतिभुवो	४९२		
विशाला जननी यस्य	१७८	हतं मुष्टिभिराकाशं	२३७		
विषस्य विषयाणां च	२५९	हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोऽथ	२६७		
विहवावलेवनडिण्हिं जाई	२३७	हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे	१०		
विहितमलोहमहोम-	११७	हा मातर्भ्रियत इति त्राता	१६५		
विज्ञानघन एवैतेभ्यो	२०	हे जं व तं व आसीय	४१३		
वीतरागा हि सर्वज्ञा	६०६	क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं	१२५		
वैतालीयं लंगनैर्धनाः	११३	ज्ञानमप्रतिघं यस्य	६०९		
वैनयिकमतं विनयश्चेतो	४९८	ज्ञानं मददर्पहरं माद्यति	५४८		
शरीरं धर्मसंयुक्तं	४३५				
शस्त्रीषधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य	८५				
शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि	४११				
षट् शतानि नियुज्यन्ते	३९८				
सग जवण सबर बब्बर	२९४				
सद्देसु य भद्रयपावएसु	३८६				
सद्दंधयारदुग्धबंध-	३०३				
सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति	२३९				
स्नानं मददर्पकरं	३७६				
सत्यं वप्रेषु शीतं शशिकरधवलं	४८४				
सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य	६१३				
सदेव सर्व को नेच्छेत्स्वरूपा	५९३				
सम्भाव्यमानपापोऽहमपापेनापि	२६६				
समुद्रवीचीव चलस्वभावाः	२६७				
सयणस्सवि मज्झगओ	१७३				
सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे	३२				
सर्वं पश्यतु वा मा वा	१०४				
सर्वं पश्यतु वा मा वा	६०६				
सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्कालेऽपि	५०६				
स्वकर्मणा युक्त एव	४९८				
स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत्सत्तया	५३७				
सव्वणईणं जा होज्ज	३९२				
सव्वसमुद्दाण जलं	३९२				
सर्वाणि सत्त्वानि सुखे	२२८				





सूत्रकृतम्

सूत्रानुसारेण
तत्त्वावबोधः
क्रियते
यस्मिन्सूत्र
के अनुसार
जिससे तत्त्व का
अवबोध
किया जाता है।



सूचाकृतम्

स्वपरसमयार्थसूचनं

=

सूचा सा अस्मिन्
कृता-स्वपर
समय के अर्थ को
कहना उसे
सूचा कहते हैं।
वह सूचा जिसमें
दर्शायी गयी है,
वह सूचाकृतम्।



श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र का शुद्धिकारक एवं वृद्धिकारक यह ग्रन्थ है। स्वपरसमयवक्तव्यता, स्त्री-अधिकार, नरक-विभक्ति जैसे अध्ययन इसके अत्यन्त मननीय है। संयम जीवन के लिए अत्यन्त उपकारी होने से सबके लिए यह ग्रन्थ उपादेय बन जाता है। इसलिए योग्य को इस ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन अवश्य करना-कराना चाहिए।

अब हमारा यह कर्तव्य बनता है कि इसका पान कर अपनी आत्मा को निर्मल बनाए तो ही हमने इन पूर्व पुरुषों के इस पुरुषार्थ को सफल बनाया है ऐसा माना जाएगा।

तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष मार्ग में अग्रेसरता अशक्य है। अतः ज्ञान-दीप हृदय-घट में प्रकट करने के लिए इस ग्रन्थ का परिशीलन करे।